Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व इतिहास की झलक

जवाहर लाल नेहरू

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

15.3
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व-इतिहास की झलक

पहला खण्ड

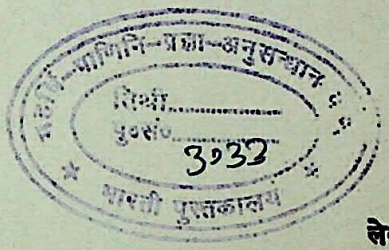

लेखक
जवाहरलाल नेहरू

अनुवादक
चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

१९८६

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

सातवीं बार : १९८६
मूल्य : दोनों खण्डों का : साठ रुपये

मुद्रक
अग्रवाल प्रिंटर्स
नई दिल्ली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

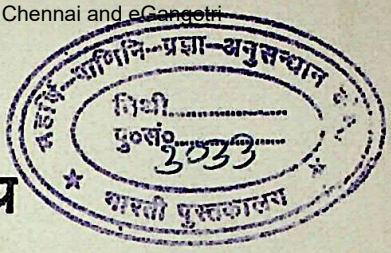

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में नेहरूजी के विभिन्न जेलों से अपनी पुत्री इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे पत्रों का संग्रह है। इन पत्रों में विद्वान् लेखक ने दुनिया के इतिहास और साम्राज्यों के उत्थान एवं पतन की कहानी बड़ी खूबी के साथ लिखी है। उन्होंने बहुत दिन पहले कुछ पत्र इन्दिरा के नाम लिखे थे, जो 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से सन् १९२९ में प्रकाशित हुए। उन पत्रों में सृष्टि के आरम्भ से प्राणी की उत्पत्ति और इतिहास-काल के आरम्भ तक का हाल था। 'झलक' की कहानी उसके बाद से शुरू होती है। दोनों पुस्तकें एक-दूसरे की पूरक हैं, फिर भी अपने-आपमें स्वतन्त्र हैं।

अंग्रेज़ी पुस्तक के नये संस्करण के अन्त में लेखक ने जो उपोद्घात तथा नई टिप्पणियाँ जोड़ी थीं वे इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में बढ़ा दी गई थीं। अन्त में निर्देशिका भी दे दी गई है।

प्रस्तुत संस्करण में सारे ग्रन्थ की भाषा में फिर से संशोधन करके उसे अधिक प्रवाहपूर्ण बना दिया गया है। साथ ही लगभग पचास नक़्शे इस पुस्तक में दे दिये गए हैं, जिससे विषय के समझने में सुगमता होती है।

नेहरूजी की यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसमें उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का मानों सागर भर दिया है।

पुस्तक का यह नया संस्करण है। हम आशा करते हैं कि इस संस्करण का भी पूर्ववत् स्वागत होगा।

—मन्त्री

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

चार बरस हुए मैंने इस किताब का लिखना देहरादून-जेल में ख़त्म किया था। उसके कुछ दिन बाद यह अंग्रेज़ी में छपी थी। मेरी इच्छा थी कि यह हिन्दी और उर्दू में भी निकले। उसका कुछ प्रबन्ध किया भी, लेकिन दुर्भाग्य से उसमें उस समय कामयाबी नहीं हुई। मैं फिर जेल चला गया।

अब मुझे ख़ुशी है कि ये मेरे पत्र इन्दिरा के नाम देश की पोशाक में निकल रहे हैं। क़सूर तो मेरा है कि मैंने इनको शुरू में विदेशी लिबास पहनाया। मुझे कुछ आसानी हुई अंग्रेज़ी में लिखने में, क्योंकि उसमें लिखने का अभ्यास अधिक था और विषय भी ऐसा था, जिसमें ज़्यादातर किताबें यूरोप की भाषाओं में हैं और उन्हींको मैंने पढ़ा था।

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। मेरे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योंकि मैं न लेखक हूँ और न इतिहास के जाननेवालों में गिना जाता हूँ। कोई बड़ी पुस्तक लिखने का तो मेरा ख़याल भी नहीं था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता था और मेरा ध्यान आजकल की दुनिया और उसके कठिन सवालों से भटककर पुराने ज़माने में दौड़ता और फिरता था। क्या-क्या सबक़ यह पुराना इतिहास हमें सिखाता है? क्या रोशनी आजकल के अँधेरे में डालता है? क्या यह सब कोई सिलसिला है, कोई माने रखता है, या यह एक बेमानी खेल है, जिसमें कोई क़ायदा-क़ानून नहीं, कोई मतलब नहीं, और सब बातें यों ही इत्तफ़ाक से होती हैं? ये ख़याल मेरे दिमाग़ को परेशान करते थे, और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास को मैंने पढ़ा और आजकल की हालत को मैंने समझने की कोशिश की। दिमाग़ में बहते हुए विचारों को पकड़कर काग़ज़ पर लिखने से सोचने में भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते हैं। इसलिए मैंने लिखना शुरू किया। फिर इन्दिरा की याद ने मुझे उसकी तरफ़ खींचा और इस लिखने ने उसके नाम पत्रों का रूप धारण किया।

महीने गुज़रे। कुछ दिनों के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का मौसम ख़त्म हुआ, वसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, दूसरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, वसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखने का सिलसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रों का एक पहाड़-सा हो गया। उसको देखकर मैं भी हैरान हो गया। इस तरह से, क़रीब-क़रीब इत्तफ़ाक़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से, यह मोटी पुस्तक बनी। इसमें हज़ार ऐब हैं, हज़ार कमियाँ, लेकिन फिर भी मैं समझता हूँ कि इससे कुछ फ़ायदा भी हो सकता है। अंग्रेज़ों ने या यूरोप के लोगों ने जो ऐसी पुस्तकें लिखी हैं, उनमें यूरोपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया और पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि एशिया का हाल ज्यादा दूं। दोनों को सामने रखकर ही पूरी तसवीर सामने आती है। वह तसवीर चाहे कितनी ही अधूरी हो और उसमें ऐब और ख़ामियाँ हों, फिर भी वह पूरी तसवीर है। मुझे इस बात का विश्वास है कि हम किसी एक देश का हाल नहीं समझ सकते, जबतक कि और देशों का हाल नहीं जानते। कोई एक देश औरों से अलग होकर न रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया में तो यह बात बिलकुल ज़ाहिर है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं या गिरते हैं।

यूरोप की भाषाओं में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर हैं, लेकिन हमारे देश की भाषाओं में इनकी बहुत कमी है। इसलिए मैं खासतौर से यह चाहता था कि यह मेरी पुस्तक हिन्दी और उर्दू में निकले। गोकि इसमें ऐब और ख़ामियाँ हैं, और वे बहुत हैं, फिर भी यह इस कमी को कुछ पूरा करती है। हिन्दी में अब यह निकल रही है और मैं आशा करता हूँ कि जल्दी ही उर्दू में भी निकलेगी।

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बरस क्या चीज़ है? लेकिन हम एक ऐसे अजीब ज़माने में पैदा हुए, जबकि दुनिया की रफ़्तार तेज़ है और हम सब उसकी धारा में बहते जाते हैं। कोई कह नहीं सकता कि यहाँ कह पहुँचायगी। इन बरसों में क्रान्ति और इन्क़िलाब कितने देशों में हो गये। अबीसीनिया की हत्या हुई। स्पेन में बढ़ती हुई आज़ादी को एक भयानक मुक़ाबला करना पड़ा और अभीतक ज़िन्दगी और मौत की कुश्ती जारी है। फ़िलस्तीन में हमारे अरब भाइयों का गला घोंटा जा रहा है। चीन के मशहूर शहर, जहाँ लाखों लोग रहते थे, मिट्टी के ढेर हो गये, और उस मिट्टी में बेशुमार पुरुष और स्त्री, लड़के और लड़कियाँ और बच्चे दबे पड़े हैं। साम्राज्यवाद और फ़ासिस्ट-वाद हर जगह हमला कर रहे हैं और दुनिया की नई उमंगों को कुचलने की कोशिश कर रहे हैं। उसीके साथ समाजवाद और राष्ट्रीयता के विचार फैलते जाते हैं और वे इस मुक़ाबिले से हटते नहीं।

इस पुस्तक के आखिर में मैंने लड़ाई के साये का ज़िक्र किया है। इन चार बरसों में यह साया सारे देश में फैल गया है और एक भयानक घटा हमें घेरे हुए है। दिन और रात इस लड़ाई की तैयारी सब देश कर रहे हैं और एक सवाल हरेक की ज़बान पर और चेहरे पर है। यह तूफ़ान कब दुनिया पर छायगा और क्या-क्या मुसीबतें लायगा? क्या इसका नतीजा होगा—हमें लाभ या हानि?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं चाहता था कि इन चार बरसों का कुछ हाल लिखकर इस किताब के अन्त में जोड़ दूँ। लेकिन और कामों में इतना फँसा हूँ कि समय नहीं मिलता।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना कठिन काम है। कभी पूरा मतलब इस तरह से अदा नहीं हो सकता। फिर भी यह काम तो करना ही होता है। इस अनुवाद में एक और कठिनाई हुई। हम सबकी इच्छा थी कि यह बीच की हिन्दुस्तानी भाषा में हो, जो न कठिन हिन्दी हो, न कठिन उर्दू। हमें अपने देश में ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा को चाल करना है। शुरू-शुरू में इसमें काफ़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ता है और दोनों तरफ़ के साहित्यकार नाराज़ हो जाते हैं। ऐतराज़ होता है कि यह क्या दोगली चीज़ है—न हिन्दी, न उर्दू। साहित्य के प्रेमियों से मैं माफ़ी माँगता हूँ, लेकिन मैं समझता हूँ कि बीच के रास्ते पर चलकर हम एक मज़बूत और जानदार साहित्य बना सकेंगे। इस कोशिश में ग़लतियाँ होंगी और कभी-कभी आँखों को और कानों को चोट लगेगी। लेकिन जल्दी ही समय आयगा जब हम इस नई चीज़ की, जो आम जनता से पैदा हो और उसीकी तरफ़ देखे, शक्ति पहचानेंगे और उसके बढ़ाने में लगेंगे।

रेल में
२१-११-३७

जवाहरलाल नेहरू

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

पहला खण्ड

	सालगिरह की चिट्ठी	३
१.	नये साल की भेंट	८
२.	इतिहास से शिक्षा	११
३.	'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'	१४
४.	एशिया और यूरोप	१६
५.	पुरानी सभ्यताएँ और हमारी विरासत	१९
६.	यूनानी	२४
७.	यूनान के नगर-राज्य	२९
८.	पश्चिमी एशिया के साम्राज्य	३१
९.	पुरानी परम्परा का बोझ	३५
१०.	प्राचीन भारत के ग्राम-गणराज्य	३९
११.	चीन के हज़ार वर्ष	४३
१२.	पुरातन की पुकार	४७
१३.	धन कहाँ जाता है ?	५१
१४.	ईसा के पूर्व छठी सदी और मज़हब	५५
१५.	ईरान और यूनान	६१
१६.	यूनान का वैभव	६७
१७.	मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक	७२
१८.	चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिल्य का अर्थशास्त्र	७७
१९.	तीन महीने !	८२
२०.	अरब सागर	८४
२१.	छुट्टी के दिन और स्वप्न-यात्रा	८६
२२.	जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष	८८
२३.	सिंहावलोकन	९२
२४.	'देवानां प्रिय' अशोक	९४
२५.	अशोक के ज़माने की दुनिया	१००
२६.	चिन् और हन्	१०३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२७.	रोम बनाम कार्थेज	१०७
२८.	रोमन गणराज्य साम्राज्य बन गया	१११
२९.	दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना	११७
३०.	कुषाणों का सीमावर्ती साम्राज्य	१२१
३१.	ईसा और ईसाइयत	१२५
३२.	रोमन साम्राज्य	१३१
३३.	रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छायामात्र रह जाता है	१३५
३४.	विश्व-राज्य की भावना	१४०
३५.	पार्थव और सासानी	१४४
३६.	दक्षिण भारत के उपनिवेश	१४६
३७.	गुप्त सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद	१५१
३८.	हूणों का भारत में आना	१५५
३९.	विदेशी मण्डियों पर भारत का क़ब्ज़ा	१५७
४०.	देशों और सभ्यताओं के चढ़ाव-उतार	१५९
४१.	तांङ-वंश के शासन में चीन की उन्नति	१६५
४२.	चोसेन और दाई निप्पौन	१६९
४३.	हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांङ	१७५
४४.	दक्षिण भारत के अनेक राजा और योद्धा और एक महापुरुष	१८२
४५.	मध्य युगों का भारत	१८७
४६.	शानदार अंकोर और श्रीविजय	१९१
४७.	रोम फिर अन्धकार में गिरता है	१९६
४८.	इस्लाम का उदय	२०३
४९.	स्पेन से मंगोलिया तक अरबों की विजय	२०८
५०.	बग़दाद और हारूँ-अल-रशीद	२१३
५१.	उत्तर भारत में—हर्ष से महमूद तक	२१८
५२.	यूरोप के देशों का रूप लेना	२२४
५३.	सामन्त-प्रथा	२३०
५४.	चीन घुमक्कड़ क़बीलों को पश्चिम में खदेड़ देता है	२३५
५५.	जापान में शोगुन का शासन	२४०
५६.	मनुष्य की खोज	२४३
५७.	ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष	२४७
५८.	एशिया और यूरोप पर एक और नज़र	२५३
५९.	अमेरिका की मयसभ्यता	२५८
६०.	मोहेन-जो-दड़ो की तरफ़ वापस छलाँग	२६३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६१.	कुर्तुबा (कॉरडोबा) और ग्रैनैडा	२६६
६२.	'क्रूसेड' या सलीब के युद्ध	२७२
६३.	क्रूसेडों के समय का यूरोप	२७८
६४.	यूरोप के नगरों का अभ्युदय	२८६
६५.	अफ़ग़ानों का भारत पर हमला	२९२
६६.	दिल्ली के ग़ुलाम-वंशी बादशाह	२९८
६७.	चंगेज़खाँ एशिया और यूरोप को हिला डालता है	३०३
६८.	मंगोलों का दुनिया पर छा जाना	३१०
६९.	महान् यात्री मार्को पोलो	३१५
७०.	रोमन चर्च की सरज़ोरी	३२०
७१.	सत्तावाद के ख़िलाफ़ लड़ाई	३२५
७२.	मध्य-युग का अन्त	३२८
७३.	समुद्री रास्तों की खोज	३३५
७४.	मंगोल साम्राज्यों का बिखरना	३४२
७५.	भारत एक कठिन समस्या से जूझता है	३४८
७६.	दक्षिण भारत के राज्य	३५४
७७.	विजयनगर	३५९
७८.	मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य	३६३
७९.	यूरोप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है	३६९
८०.	चीन में शान्ति और समृद्धि का युग	३७२
८१.	जापान अपने को बन्द कर लेता है	३७८
८२.	यूरोप में खलबली	३८३
८३.	'रिनेसाँ' या पुनर्जागरण	३८८
८४.	प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह और किसानों का युद्ध	३९२
८५.	सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के यूरोप में निरंकुशता	३९८
८६.	नीदरलैण्ड की आज़ादी की लड़ाई	४०५
८७.	इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया	४१२
८८.	बाबर	४२०
८९.	अकबर	४२६
९०.	भारत में मुग़ल-साम्राज्य का पतन और अन्त	४३६
९१.	सिक्ख और मराठे	४४२
९२.	भारत में अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर अंग्रेज़ों की विजय	४४८
९३.	चीन का एक महान् मंचू-शासक	४५६
९४.	चीनी सम्राट् का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र	४६१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९५. अठारहवीं सदी के यूरोप में विचारों की लड़ाई ४६६
९६. महान् परिवर्तनों के पहले का यूरोप ४७३
९७. बड़ी मशीन का आगमन ४८०
९८. इंग्लैण्ड में उद्योगी क्रान्ति की शुरुआत ४८६
९९. अमेरिका का इंग्लैण्ड से नाता तोड़ना ४९३
१००. बास्तील का पतन ५०२
१०१. फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति ५०९
१०२. क्रान्ति और उलट-क्रान्ति ५१७
१०३. हुकूमतों के ढंग ५२५
१०४. नेपोलियन ५३०
१०५. नेपोलियन का कुछ और हाल ५३८
१०६. संसार का सिंहावलोकन ५४७
१०७. महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष ५५३
१०८. उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें ५६०
१०९. भारत में युद्ध और विद्रोह ५६९
११०. भारतीय कारीगर की रोज़ी छिन जाती है ५७९
१११. भारत के गाँव, किसान और ज़मींदार ५८६
११२. ब्रिटेन ने भारत पर राज कैसे किया ? ५९६
११३. भारत की नई चेतना ६०५
११४. ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना ६१६
११५. चीन पर मुसीबतें ६२५
११६. जापान तेज़ी से आगे दौड़ता है ६३०
११७. जापान रूस को हराता है ६३९
११८. चीन गणराज्य बन जाता है ६४६
११९. भारत के पूर्ववर्ती देश ६५१
१२०. नया साल फिर आया ६६०
१२१. फ़िलीपाइन और संयुक्त राज्य अमेरिका ६६३
१२२. तीन महाद्वीपों का संगम ६६९
१२३. पीछे की तरफ़ एक निगाह ६७४
१२४. ईरान की अटूट पुरानी परम्पराएँ ६८०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानचित्र

१.	पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी यूरोप की प्राचीन सभ्यताएँ	२५
२.	चीनी सभ्यता की शुरुआत	४४
३.	ईरानी और यूनानी राज्य	६२
४.	सिकन्दर का साम्राज्य	७३
५.	अशोक का साम्राज्य	९७
६.	रोम एक साम्राज्य बन जाता है	११२
७.	कुषाण-साम्राज्य के समय का भारत	१२२
८.	भारत का उपनिवेशीकरण तथा चीन का तांङ साम्राज्य	१६४
९.	अरबों की विजय-यात्रा	२०९
१०.	नवीं सदी का यूरोप	२२५
११.	एशिया तथा यूरोप—१००० ई०	२४८
१२.	मध्य अमरीका की मय सभ्यता	२५९
१३.	तेरहवीं सदी का यूरोप	२७९
१४.	चंगेज़खाँ—'ख़ुदा का क़हर'	३०४
१५.	समुद्री रास्तों की खोज	३३६
१६.	रोम के विरुद्ध बग़ावत	३९३
१७.	अकबर का साम्राज्य	४२७
१८.	भारत में अंग्रेज़ों और फ़्रान्सीसियों की लड़ाइयाँ	४४९
१९.	चिनलुंङ का साम्राज्य—१७९६ ई०	४६२
२०.	अमेरिका द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद	४९४
२१.	यूरोप पर नेपोलियन की छाया	५३१
२२.	भारत १८५७ ई० की क्रान्ति के समय	५७०
२३.	ब्रिटेन और चीन	६१७
२४.	जापान का उत्कर्ष	६३१
२५.	भारत के पूर्ववर्ती देश	६५२
२६.	उस्मानी साम्राज्य—१६वीं और १७वीं सदी में	६७०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व-इतिहास की झलक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जेल के लंबे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता था। इंदिरा की याद ने मुझे उसकी ओर खींचा, इसलिए मैंने लिखना शुरू किया और इस लिखने ने उसके नाम पत्रों का रूप धारण किया।"

—जवाहरलाल नेहरू

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सालगिरह की चिट्ठी

सेन्ट्रल जेल, नैनी
२६ अक्तूबर, १९३०[1]

इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम
उसके तेरहवें जन्मदिन पर—

अपनी सालगिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभ-कामनाएँ पाती रही हो। शुभ-कामनाएँ तो तुम्हें अब भी बहुत-सी मिलेंगी। लेकिन नैनी-जेल से मैं तुम्हारे लिए कौन-सा उपहार भेज सकता हूँ? फिर मेरे उपहार वास्तविक या बहुत ठोस शक्ल के नहीं हो सकते। वे तो हवा के समान सूक्ष्म ही होंगे, जिनका मन और आत्मा से सम्बन्ध हो—ऐसे उपहार शायद तुम्हें नेक परियाँ ही दे सकें और इन्हें जेल की ऊँची दीवारें भी नहीं रोक सकतीं।

प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे कितना नापसन्द है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी चाहता भी है तो मुझे हमेशा एक 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैंने एक बार पढ़ी थी। कभी शायद तुम खुद उस पुस्तक को पढ़ोगी, जिसमें यह कहानी लिखी है। तेरह सौ बरस हुए एक मशहूर यात्री अनुभव और ज्ञान की खोज में चीन से भारत आया था। उसका नाम ह्यूएनत्सांङ[2] था। उसकी ज्ञान की प्यास इतनी तेज़ थी कि वह अनेक खतरों का सामना करता, अनेक मुसीबतों और बाधाओं को झेलता और जीतता हुआ, उत्तर के रेगिस्तानों और पहाड़ों को पार करके

---

[1] इन्दिरा का जन्मदिन अंग्रेज़ी तारीख़ के हिसाब से १९ नवम्बर को पड़ता है, लेकिन विक्रमी संवत् के अनुसार २६ अक्तूबर को मनाया गया था।

[2] ह्यूएनत्सांङ एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका समय सन् ६०५ से ६६४ ई० के लगभग माना जाता है। ६२९ में यह हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ। उन दिनों चीन में शाही हुक्म के अनुसार विदेश-यात्रा करना मना था, इसलिए इसकी रवानगी का पता लगने पर इसकी गिरफ़्तारी की बड़ी कोशिश की गई; लेकिन बड़ी कठिनाइयों से यह वहाँ से निकल भागा और रास्ते में भी बहुत मुसीबतें झेलीं, मगर घबराया नहीं और हिन्दुस्तान आ पहुँचा। इसने यहाँ से लौटने के बाद चीन, मध्य-एशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन लिखा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस देश में आया था। यहाँ नालन्दा[1] के महान् विश्व-विद्यालय में, जो उस समय के पाटलिपुत्र[2] और आज के पटना के नज़दीक था, इसने खुद पढ़ने और दूसरों को पढ़ाने में कई वर्ष बिताये। ह्यूएनत्सांङ बहुत बड़ा विद्वान् हो गया और उसे त्रिपिटकाचार्य यानी बौद्ध-धर्म के आचार्य की उपाधि दी गई। फिर वह सारे भारत में घूमा और इस महान् देश के उस ज़माने के लोगों का और उनके रस्म-रिवाजों का अध्ययन करता रहा। बाद को इसने अपनी यात्रा के बारे में एक पुस्तक लिखी। और जो कहानी मुझे याद आई वह इसी पुस्तक में है। कहानी यों है कि दक्षिण-भारत का रहनेवाला एक आदमी कर्णसुवर्ण नाम के नगर में गया। यह शहर उस ज़माने में बिहार के आजकल के भागलपुर शहर के आसपास कहीं बसा हुआ था। इस पुस्तक में लिखा है कि वह आदमी अपने पेट और कमर के चारों ओर ताँबे के पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती हुई मशाल बाँधकर चलता था। इस विचित्र भेष में, हाथ में डण्डा लिये और अकड़ के साथ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ यह शख्स इधर-उधर घूमा करता था। जब कोई उससे पूछता कि तुमने यह अजीब स्वांग क्यों बना रक्खा है, तो वह जवाब देता, "मुझमें इतनी ज़्यादा अक़्ल है कि अगर मैं अपने पेट के चारों तरफ़ ताँबे की चादरें न बाँधे रहूँ तो डर है कि कहीं मेरा पेट फट न जाय। और क्योंकि मुझे सब तरफ़ दिखाई देनेवाले अज्ञानी आदमियों पर, जो अँधेरे में भटक रहे हैं, दया आती है, इसलिए मैं अपने सिर पर मशाल लेकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक़्ल की ज़्यादती के कारण मेरे पेट के फट जाने का कोई अन्देशा नहीं है; इसलिए मुझे ताँबे की चादरें या ज़िरह-बख्तर पहनने की ज़रूरत नहीं है। बहरहाल, मुझे उम्मीद है कि मुझमें जो-कुछ भी अक़्ल है, वह मेरे पेट में नहीं रहती। मेरी अक़्ल चाहे जहाँ रहती हो, वहाँ और ज़्यादा के लिए अब भी काफ़ी जगह बाक़ी है, और इस बात का कोई अन्देशा नहीं कि अधिक के लिए वहाँ जगह ही न बचे। फिर जब मेरी अक़्ल इतनी सीमित है तो मैं दूसरों के सामने अक़्लमन्द होने की शान कैसे गाँठ सकता हूँ और सबको नेक सलाहें कैसे बाँट सकता हूँ? इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि यह जानने

---

[1] नालन्दा—यह मगध, आजकल के बिहार, के अन्तर्गत एक पुराना बौद्ध मठ और मशहूर विद्यापीठ था। ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यहाँ १०० विद्वान् बौद्ध पण्डित रहते थे। उनके अलावा लगभग दस हज़ार से ज़्यादा याजक और शिष्य यहाँ पर रहा करते थे। इसके जोड़ का विश्व-विद्यालय उस वक़्त दुनिया में दूसरा न था।

[2] पाटलिपुत्र—पटना का पुराना नाम। यह मगध और गुप्त साम्राज्यों की राजधानी था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए कि क्या सही है और क्या नहीं, क्या करना चाहिए, और क्या न करना चाहिए, सबसे अच्छा तरीक़ा यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय; बल्कि यह है कि बातचीत और चर्चा की जाय, क्योंकि अक्सर ऐसी चर्चाओं में से कुछ-न-कुछ सचाई निकल आती है। मुझे तो तुमसे बातचीत करना ही पसन्द रहा है और हमने आपस में बहुत-सी बातों पर चर्चाएं की भी हैं। लेकिन दुनिया बहुत लम्बी-चौड़ी है और हमारी इस दुनिया के परे भी बहुत-सी आश्चर्यजनक और रहस्य-भरी दुनिया है। इसलिए हममें से किसी को भी ह्यू एनत्सांङ की कहानी में बताये हुए बेवक़ूफ़ और घमण्डी आदमी की तरह कभी उकताना नहीं चाहिए और न यह ख़याल ही करना चाहिए कि जितना सीखने लायक था वह सब हमने सीख लिया और अब हम बहुत अक़्लमन्द हो गए। और शायद इसी बात में अपनी भलाई है कि हम बहुत अक़्लमन्द नहीं बन जाते, क्योंकि 'बहुत ही अ लमन्द लोग', अगर इस क़िस्म के लोग कहीं पाये भी जाते हों, ज़रूर इस बात को सोचकर उदास हो जाते होंगे कि अब सीखने को कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। नई बातों के सीखने और नई चीज़ों के खोज निकालने के आनन्द से—उस महान् साहसपूर्ण कार्य के आनन्द से, जिसे हममें से जो चाहे प्राप्त कर सकता है—वे ज़रूर वंचित रह जाते होंगे।

इसलिए उपदेश देना तो मेरा काम नहीं। तब फिर मैं करूँ क्या? चिट्ठी से बातचीत का काम तो निकल नहीं सकता। ज़्यादा-से-ज़्यादा उससे एक तरफ़ की बात ही प्रकट की जा सकती है। इसलिए अगर मेरी कोई बात तुम्हें उपदेश-सी जान पड़े, तो उसे कड़वा घूंट न समझना। तुम यही समझना कि मानों हम दोनों सचमुच बातचीत ही कर रहे हैं, और इस बातचीत में मैंने तुम्हारे सामने विचार करने को कोई तजवीज़ रक्खी है।

इतिहास की किताबों में हम राष्ट्रों के जीवन में बीतनेवाले बड़े-बड़े ज़मानों का और उनके महान् पुरुषों और महिलाओं का हाल और उनके शानदार कार-नामों की कहानियाँ पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी हम सोचते-सोचते और सपने देखते-देखते यह ख़याल करने लगते हैं कि मानों हम भी उसी पुराने ज़माने में चले गए हैं और पुराने ज़माने के उन वीरों और वीरांगनाओं के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे हैं। क्या तुम्हें याद है कि जब तुमने पहले-पहल 'जीन द आर्क' की कहानी पढ़ी थी, तो तुम कितनी मुग्ध हो गई थीं और तुम्हारे दिल में कितना

[1] जीन द आर्क—इसका जन्म सन् १४१२ ई० में फ्रांस देश के एक किसान-ज़मींदार के घर में हुआ था। कहते हैं कि बचपन से ही इसके हृदय में 'दैवी-सन्देश' आया करते थे और इसे विश्वास हो गया था कि फ्रांस का उद्धार इसीके हाथों होगा। उस वक्त फ्रांस अंग्रेज़ों के अधीन था। एक बार जीन फ्रांस के बादशाह चार्ल्स के पास जा पहुँची और उसे प्रभावित करके चार-पाँच हज़ार सेना के साथ मदनि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हौसला पैदा हुआ था कि तुम भी उसीकी तरह कुछ काम करो ? साधारण मर्दों और औरतों में आमतौर पर साहस की भावना नहीं होती। वे तो अपनी रोज़ाना की दाल-रोटी की, अपने बाल-बच्चों की, घर-गिरस्ती की झंझटों की और इसी तरह की दूसरी बातों की चिन्ता में फँसे रहते हैं। लेकिन एक समय आता है जब किसी बड़े उद्देश्य के लिए सारी जनता में उत्साह भर जाता है और उस वक़्त सीधे-सादे मामूली स्त्री और पुरुष वीर बन जाते हैं, और इतिहास दिल को थर्रा देनेवाला और नया युग पैदा करनेवाला बन जाता है। महान् नेताओं में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो सारी जाति के लोगों में जान पैदा कर देती हैं और उनसे बड़े-बड़े काम करवा देती हैं।

वह वर्ष, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ, अर्थात् सन् १९१७, इतिहास का एक बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी वर्ष एक महान् नेता ने, जिसके हृदय में ग़रीबों और दुखियों के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी क़ौम से इतिहास के एक शानदार और अमर अध्याय की रचना करवा दी। उसी महीने में, जिसमें तुम पैदा हुईं, लेनिन ने उस महान् क्रान्ति को शुरू किया था, जिससे रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। और आज भारत में एक दूसरे महान् नेता ने, जिसके हृदय में मुसीबत के मारे और दुखी लोगों के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारे राष्ट्र में महान् प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है कि जिससे हमारा राष्ट्र फिर आज़ाद हो जाय, और भूखे, ग़रीब और पीड़ित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जायं। बापूजी[1] जेल में पड़े हैं, लेकिन हिन्दुस्तान की करोड़ों जनता के दिलों में उनके सन्देश का जादू पैठ गया है और मर्द और औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक अपने-अपने छोटे-छोटे और तंग दायरों से निकलकर भारत की आज़ादी के सिपाही बन रहे हैं। भारत में आज हम इतिहास निर्माण कर रहे हैं। हम और तुम आज बड़े खुशक़िस्मत हैं कि ये सब बातें हमारी आँखों के सामने हो रही हैं, और इस महान् नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे हैं।

लिबास में अंग्रेज़ों से लड़ने चल पड़ी। आर्लियंस की लड़ाई में इसने अंग्रेज़ों को मार भगाया और चार्ल्स को फ्रांस की गद्दी पर बिठाया। पर चार्ल्स ने इसका साथ न दिया और बर्गण्डी के ड्यूक ने इसे युद्ध में पकड़कर अंग्रेज़ों के हाथ बेच दिया। अंग्रेज़ों ने इसे इक्वीज़िशन (देखो फुटनोट पृष्ठ १४५) के हवाले कर दिया और इन्क्वीज़िशन ने इसे काफ़िर और जादूगरनी क़रार देकर रूअन नगर में ज़िन्दा जलवा डाला। उस वक़्त इसकी उम्र २० साल की थी। इसके २५ वर्ष बाद पोप ने इसे बेक़सूर बतलाया और बाद को यह जादूगरनी के बजाय साध्वी क़रार दी गई।

[1] महात्मा गांधी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस महान् आन्दोलन में हमारा व्यवहार कैसा रहेगा ? इसमें हम क्या भाग लेंगे ? मैं नहीं कह सकता कि हम लोगों के ज़िम्मे कौन-सा काम आयेगा। लेकिन हमारे ज़िम्मे चाहे जो काम आ पड़े, हमें यह याद रखना चाहिए कि हम कोई ऐसी बात नहीं करेंगे, जिससे हमारे उद्देश्यों पर धब्बा लगे और हमारे राष्ट्र की बदनामी हो। अगर हमें भारत के सिपाही होना है, तो हमको उसके गौरव का रक्षक बनना होगा और यह गौरव हमारे लिए एक पवित्र धरोहर होगी।

कभी-कभी हमें यह दुविधा हो सकती है कि इस समय हमें क्या करना चाहिए ? सही क्या है और ग़लत क्या है, यह तय करना आसान काम नहीं होता। इसलिए जब कभी तुम्हें शक हो तो ऐसे समय के लिए मैं एक छोटी-सी कसौटी तुम्हें बताता हूं। शायद इससे तुम्हें मदद मिलेगी। वह यह है कि कोई काम ख़ुफ़िया तौर पर न करो, कोई काम ऐसा न करो जिसे तुम्हें दूसरों से छिपाने की इच्छा हो। क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब यह होता है कि तुम डरती हो; और डरना बुरी बात है और तुम्हारी शान के ख़िलाफ़ है। तुम बहादुर बनो और बाक़ी चीज़ें तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायँगी। अगर तुम बहादुर हो तो तुम डरोगी नहीं, और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरों के सामने तुम्हें शर्म मालूम हो। तुम्हें मालूम है कि हमारी आज़ादी के आन्दोलन में, जो बापूजी की रहनुमाई में चल रहा है, गुप्त तरीक़ों या लुक-छिपकर काम करने के लिए कोई स्थान नहीं है। हमें तो कोई चीज़ छिपानी ही नहीं है। जो कुछ हम कहते या करते हैं, उससे हम डरते नहीं। हम तो उजाले में और दिन-दहाड़े काम करते हैं। इसी तरह अपनी निजी ज़िन्दगी में भी हमें सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए और रोशनी में काम करना चाहिए। कोई बात छिपाकर या आँख बचाकर नहीं करनी चाहिए। एकान्त तो अलबत्ता हमें चाहिए और वह स्वाभाविक भी है, लेकिन एकान्त और चीज़ है और पोशीदगी दूसरी चीज़ है। इसलिए, प्यारी बेटी, अगर तुम इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो प्रकाश की सन्तान होकर बढ़ोगी और चाहे जो घटनाएँ तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त रहोगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयगी।

मैंने तुम्हें एक बड़ी लम्बी चिट्ठी लिख डाली। फिर भी बहुत-सी बातें रह गईं, जो मैं तुमसे कहना चाहता हूँ। एक पत्र में इतनी सब बातें कहाँ समा सकती हैं ?

मैंने तुम्हें बताया है कि तुम बड़ी ख़ुशक़िस्मत हो कि आज़ादी की बड़ी लड़ाई, जो हमारे देश में इस वक़्त चल रही है, तुम्हारी आँखों के सामने हो रही है। तुम्हारी एक बड़ी ख़ुशक़िस्मती यह भी है कि तुम्हें एक बहुत बहादुर और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिलेर स्त्री 'मम्मी'[1] के रूप में मिली है। जब कभी तुम्हें कोई शक-शुबह हो, या कोई परेशानी सामने आये, तो उनसे बढ़कर मित्र तुम्हें दूसरा नहीं मिल सकता।

प्यारी नन्हीं, अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ, और मेरी यह कामना है कि तुम बड़ी होकर भारत की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो। मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हें पहुँचे।

: १ :

नये साल की भेंट

१ जनवरी, १९३१

क्या तुम्हें उन पत्रों[2] की याद है, जो दो साल से ज्यादा हुए मैंने तुम्हें लिखे थे, जबकि तुम मसूरी में थीं और मैं इलाहाबाद में था? उस समय तुमने मुझे बताया था कि मेरे वे पत्र तुम्हें पसन्द आये थे। इसलिए, मैं अक्सर यह सोचता रहता हूँ कि पत्रों के इस सिलसिले को मैं क्यों न जारी रक्खूँ और अपनी इस दुनिया के बारे में तुम्हें कुछ और बातें क्यों न बताऊँ? लेकिन मैं हिचकता रहा। संसार के बीते हुए ज़माने की कहानी और उसके महान् पुरुषों और स्त्रियों और उनके महान् कार्यों का चिन्तन करना बहुत दिलचस्प चीज़ है। इतिहास का पढ़ना अच्छा है, लेकिन उससे ज्यादा दिलचस्प और दिल लुभानेवाली बात इतिहास के निर्माण में मदद देना है। और तुम जानती हो कि हमारे देश में आज इतिहास का निर्माण हो रहा है। भारत का पिछला इतिहास बहुत ही पुराना है और प्राचीनता के कुहरे में खो गया है। इसमें अनेक दुःखद और अप्रिय युग भी हैं, जिनकी याद करके हमें शर्म आती है और ग्लानि होती है। लेकिन सभी बातों का लिहाज़ करते हुए हमारा पिछला ज़माना बहुत शानदार है, जिसपर हम सही तौर पर गर्व कर सकते हैं और जिसका खयाल करके हम खुशी हासिल कर सकते हैं। लेकिन आज हमें इतनी फ़ुरसत नहीं कि हम अतीत की याद करने बैठें। हमारे दिमाग़ में तो वह भविष्य, जिसका हम निर्माण कर रहे हैं, भरा पड़ा है, और वह वर्तमान है, जिसमें हमारा पूरा समय और हमारी पूरी शक्ति लग रही है।

यहाँ नैनी-जेल में मुझे इस बात का काफ़ी समय मिल गया है कि मैं जो कुछ चाहूँ लिख-पढ़ सकूँ। लेकिन मेरा मन भटकता रहता है और मैं उस महान् संघर्ष के बारे में सोचता रहता हूँ, जो बाहर चल रहा। मैं यह सोचता रहता हूँ कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं, और अगर मैं उनके बीच में होता तो क्या करता? वर्तमान

---

[1] इन्दिरा की मा श्रीमती कमला नेहरू। [2] ये पत्र 'पिता के पत्र पुत्री के नाम', नाम से पुस्तक रूप में छप चुके हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भविष्य के विचारों में मैं इतना डूबा रहता हूँ कि बीते हुए ज़माने पर ध्यान देने की फ़ुरसत ही नहीं होती। लेकिन, साथ-ही-साथ मैं यह भी महसूस करता रहा हूँ कि ऐसा सोचना मेरे लिए मुनासिब नहीं है। जब मैं बाहर के कामों में कोई हिस्सा ले नहीं सकता, तो उसकी फ़िक्र क्यों करूँ?

लेकिन असल वजह, जिससे मैं तुम्हें पत्र लिखना टालता रहा हूँ, दूसरी ही है। क्या चुपके से तुम्हारे कान में कह दूँ? मुझे यह शक होने लगा है कि मैं इतना जानता भी हूँ या नहीं कि जो तुम्हें पढ़ा सकूँ। तुम इतनी तेज़ी से बढ़ रही हो और इतनी अक़्लमन्द लड़की साबित हो रही हो कि जो कुछ मैंने स्कूल या कॉलेज में और उसके बाद पढ़ा-लिखा है, सम्भव है, वह तुम्हारे लिए काफ़ी न हो और इसमें तो कोई शक नहीं कि वह कुछ बासी है। यह भी हो सकता है कि कुछ दिन बाद तुम शिक्षक का स्थान ले लो और मुझे कई नई-नई बातें सिखाओ। जैसा मैंने तुम्हारे जन्मदिनवाले पिछले पत्र में तुम्हें लिखा था, मैं उस 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की तरह बिलकुल नहीं हूँ जो अपने शरीर के चारों तरफ़ ताँबे की चादरें बाँधे फिरता था, ताकि कहीं अक़्ल की ज्यादती से उसका पेट न फट जाय!

जब तुम मसूरी में थीं तब दुनिया की शुरुआत के दिनों के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए आसान था। उस ज़माने के सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी पाई जाती है वह अनिश्चित और धुंधली-सी है। लेकिन जब हम उस बहुत पुराने ज़माने से इस पार निकल आते हैं, तो इतिहास धीरे-धीरे शुरू होने लगने लगता है और मनुष्य-जाति दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में अपना विचित्र जीवन शुरू करती दिखाई देने लगती है। पर मनुष्य-जाति के इस जीवन को, जो कभी-कभी अक़्लमन्दी लिये हुए लेकिन ज़्यादातर पागलपन और बेवक़ूफ़ी से भरा है, सिलसिलेवार पकड़ना आसान काम नहीं है। किताबों की मदद से कोशिश-भर की जा सकती है। लेकिन नैनी-जेल में कोई पुस्तकालय नहीं है। इसलिए मेरे बहुत चाहने पर भी, मुझे अन्देशा है कि मैं तुम्हें शायद दुनिया के इतिहास का सिलसिलेवार हाल न बता सकूँगा।

मुझे यह बहुत नापसन्द है कि लड़के और लड़कियाँ सिर्फ़ एक देश का इतिहास जानें, और वह भी सिर्फ़ कुछ तारीखें और चन्द घटनाएँ रटकर। इतिहास तो एक सिलसिलेवार मुकम्मिल चीज़ है, और जबतक तुम्हें यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हुआ, तुम किसी एक देश का इतिहास समझ ही नहीं सकतीं। मुझे उम्मीद है कि इस भद्दे तरीक़े से, तुम इतिहास को एक या दो देशों तक ही सीमित रहकर न पढ़ोगी, बल्कि सारी दुनिया पर नज़र दौड़ाओगी। हमेशा याद रक्खो कि अलग-अलग देशों के लोगों में इतना ज़्यादा अन्तर नहीं होता जितना लोग समझते हैं। नक़्शों और नक़्शों की किताबों में मुल्क अलग-अलग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगों में दिखाये जाते हैं। इसमें शक नहीं कि अलग-अलग देशों के रहनेवालों में कुछ भेद ज़रूर होता है, लेकिन उनमें समानता भी बहुत ज़्यादा पाई जाती है। इसलिए हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए और नक़शों के रंग या राष्ट्रों की सीमा-रेखाएँ देखकर भुलावे में नहीं पड़ना चाहिए।

मैं तुम्हारे लिए अपनी पसन्द का इतिहास नहीं लिख सकता। इसके लिए तुम्हें दूसरी पुस्तकें पढ़नी होंगी। लेकिन मैं तुम्हें बीते हुए ज़माने के बारे में, और उस ज़माने के लोगों के बारे में कि जिन्होंने दुनिया के रंगमंच पर बड़े-बड़े काम किये हैं, समय-समय पर थोड़ा-बहुत लिखता रहूँगा।

मैं नहीं कह सकता कि मेरी चिट्ठियाँ तुम्हारे लिए रोचक होंगी और तुम्हारे दिल में कुतूहल पैदा करेंगी या नहीं। सच तो यह है कि मैं यह भी नहीं जानता कि ये चिट्ठियाँ तुम्हें कब मिलेंगी या कभी मिलेंगी भी या नहीं। कितनी विचित्र बात है कि हम एक-दूसरे से इतने नज़दीक होते हुए भी इतनी दूर हैं! मसूरी में तुम मुझसे कई सौ मील के फ़ासले पर थीं; लेकिन तब मैं जितनी दफ़ा चाहता तुम्हें पत्र लिख सकता था, और जब कभी तुम्हें देखने को बहुत तबीयत चाहती तब जाकर मिल सकता था। लेकिन आजकल तुम जमना नदी के उस पार हो, और मैं इस पार हूँ; एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं। फिर भी नैनी-जेल की ऊँची दीवारों ने हमें एक-दूसरे से एकदम अलग कर रक्खा है, पन्द्रह दिन में मैं एक पत्र लिख सकता हूँ और एक पा सकता हूँ; और पन्द्रह दिन में बीस मिनट की मुलाकात भी मुझे मिल सकती है। फिर भी मैं इन बन्दिशों को अच्छा समझता हूँ। क्योंकि जो चीज़ हमें सस्ती मिल जाती है, हम अक्सर उसकी क़द्र नहीं करते, और मैं यह विश्वास करने लग गया हूँ कि कुछ दिन जेल में बिताना आदमी की शिक्षा का बहुत वांछनीय हिस्सा है। खुशक़िस्मती की बात है कि हमारे देश के बीसों हज़ार आदमी आज इस तरह की शिक्षा पा रहे हैं!

मैं नहीं जानता कि जब तुम्हें मेरे ये पत्र मिलेंगे तुम इन्हें पसन्द करोगी या नहीं। लेकिन मैंने अपनी ही खुशी के लिए इनका लिखना तय कर लिया है। इन पत्रों से तुम मेरे बहुत नज़दीक आ जाती हो और मैं तो यहाँ तक महसूस करने लगता हूँ कि मानों मैंने तुमसे बातें कर लीं। वैसे तो मैं तुम्हें अक्सर याद करता रहता हूँ, लेकिन आज तो सारे दिन तुम शायद ही मेरे चित्त से हटी होगी। आज नये साल का पहला दिन है। आज बड़े सबेरे जब मैं बिस्तर पर लेटे-लेटे तारों को देख रहा था, तो मेरे दिल में पिछले महत्वपूर्ण वर्ष का खयाल हो आया। और साथ ही खयाल में आईं उस साल की वे सब उम्मीदें, टीसें और खुशियाँ और वे सारे महान् और वीरता के काम जो इस साल में किये गए। मुझे बापूजी का भी खयाल आया, जिन्होंने यरवदा-जेल की कोठरी में बैठे-बैठे अपने जादूभरे स्पर्श से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे बूढ़े देश को जवान और ताक़तवर बना दिया। और मुझे दादू[1] की भी याद आई, और दूसरों की भी। मुझे ख़ास तौर से तुम्हारी मम्मी का और तुम्हारा ख़याल आया। इसके बाद सुबह होने पर ख़बर आई कि तुम्हारी मम्मी गिरफ़्तार करली गईं और जेल पहुँचा दी गईं। मेरे लिए यह नये साल की एक सुन्दर भेंट है। इसकी उम्मीद तो बहुत दिन से की जा रही थी और मुझे इसमें कोई शक नहीं कि मम्मी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होंगी।

लेकिन तुम अपने-आपको अकेली अनुभव कर रही होगी। पन्द्रह दिन में तुम एक दफ़ा मुझसे और एक दफ़ा अपनी मम्मी से मिल सकोगी और हम दोनों के संदेसे एक-दूसरे को पहुँचा दिया करोगी। लेकिन मैं तो क़लम और काग़ज़ लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा ध्यान किया करूँगा। तब तुम चुपके-से मेरे पास आ बैठोगी और हम एक-दूसरे से बहुत-सी चीज़ों के बारे में बातचीत करेंगे। हम गुज़रे हुए ज़माने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए ज़माने से ज़्यादा शानदार बनाने की तरकीबें सोचेंगे। इसलिए आओ, आज नये साल के दिन हम लोग इस बात का पक्का इरादा करें कि, इससे पहले कि यह वर्ष भी बूढ़ा होकर चल बसे, हम अपने उज्ज्वल भविष्य के सपनों को वर्तमान के नज़दीक ले आयेंगे, और भारत के प्राचीन इतिहास में एक शानदार पृष्ठ और बढ़ा लेंगे।

: २ :

इतिहास से शिक्षा

५ जनवरी, १९३१

प्यारी बेटी, मैं तुम्हें क्या लिखूँ और किस जगह से शुरू करूँ? जब मैं पुराने ज़माने का ख़याल करता हूँ तो मेरी आँखों के सामने बहुत-सी तसवीरें तेज़ी के साथ घूम जाती हैं। कुछ तसवीरें ज़्यादा देर तक ठहरती हैं, तो कुछ थोड़ी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीज़ें हैं, और उनके बारे में विचार करते-करते मैं उन्हीं में डूब जाता हूँ। बिलकुल अनजान में ही मैं पिछली घटनाओं से आजकल की घटनाओं का मुक़ाबला करने लगता हूँ, और उनसे आगे के लिए नसीहत लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचड़ी है, जिसमें ऐसे विचार भरे रहते हैं कि जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता और ऐसी तसवीरें मौजूद रहती हैं, जिनमें कोई तरतीब नहीं पाई जाती—जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो, जहाँ तसवीरों की सजावट में कोई व्यवस्था न रक्खी गई हो। लेकिन शायद इसमें हमीं लोगों का सारा दोष नहीं है। हममें बहुत-से आदमी अपने

[1] इन्दिरा के दादा पंडित मोतीलाल नेहरू।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिमाग़ में घटनाओं के क्रम को ज़रूर बेहतर तरीक़े से जमा सकते हैं। लेकिन कभी-कभी खुद घटनाएँ इतनी अजीब होती हैं कि उन्हें किसी भी योजना के ढाँचे में ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

मुझे खयाल पड़ता है कि मैंने तुम्हें एक बार लिखा था कि इतिहास पढ़कर हमें यह सीखना चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्क़ी की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवों की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आ गये और कैसे सबसे अख़ीर में जीवों का सिरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के ज़ोर पर उसने कैसे दूसरों पर विजय पाई। बर्बरता से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल इतिहास का विषय माना गया है। मैंने अपने कुछ पत्रों में तुम्हें यह बताने की कोशिश की है कि सहयोग यानी मिल-जुलकर काम करने की भावना कैसे बढ़ी और सबकी भलाई के लिए मिल-जुलकर काम करना हमारा आदर्श क्यों होना चाहिए? लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास के लम्बे ज़मानों पर नज़र डालते हैं, तो यह विश्वास करना मुश्किल होता है कि इस आदर्श ने बहुत ज्यादा तरक्क़ी की है या हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत हो गये हैं। सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफ़ी पाया जाता है। एक मुल्क या राष्ट्र दूसरे मुल्क और दूसरे राष्ट्र पर ख़ुदग़रज़ी से आक्रमण कर रहा है या उसे सता रहा है; एक आदमी दूसरे आदमी से बेजा फ़ायदा उठा रहा है। अगर करोड़ों वर्षों की प्रगति के बाद भी हम इतने पिछड़े और अपूर्ण हैं, तो न जाने समझदार और वाजिब बात करनेवाले आदमियों की तरह व्यवहार करना सीखने में हमें और कितने दिन लग जायँगे! कभी-कभी हम इतिहास के उन बीते हुए ज़मानों के बारे में पढ़ते हैं, जो हमारे ज़माने से बेहतर मालूम होते हैं और अधिक संस्कृत और सभ्य भी जान पड़ते हैं। इससे हमें यह शक होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ़ रही है या पीछे हट रही है। गुज़रे हुए ज़माने में खुद हमारे देश में ही ऐसे उज्ज्वल युग ज़रूर बीते हैं जो हर बात में वर्तमान से बहुत अच्छे थे।

यह सच है कि भारत, मिस्र, चीन, यूनान, वग़ैरा बहुत-से देशों के पुराने इतिहास में उज्ज्वल युग हुए हैं और इन देशों में से बहुत-से बाद में पिछड़ गये और गिर गये हैं। लेकिन फिर भी हमें हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत बड़ी जगह है, और थोड़ी देर के लिए किसी मुल्क के चढ़ाव और उतार का सारी दुनिया पर कोई ज्यादा असर नहीं पड़ता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्कारों की डींग मारते रहते हैं। इसमें शक नहीं कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दिया है, और बड़े-बड़े वैज्ञानिक पूरी इज़्ज़त के योग्य हैं। लेकिन जो डींग मारते हैं वे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्सर बड़े नहीं हुआ करते। दूसरे, यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातों में आदमी ने दूसरे जीवों की बनिस्बत कुछ बहुत ज़्यादा प्रगति नहीं की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ बातों में कुछ जीव आदमी से अब भी श्रेष्ठ हैं। यह बात बेवक़ूफ़ी की-सी मालूम पड़ सकती है और जो लोग ज़्यादा नहीं जानते, वे इसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं। लेकिन तुमने अभी मैटरलिंक की लिखी हुई 'शहद की मक्खी, दीमक और चींटी की ज़िन्दगी'[1] नामक किताब पढ़ी ही है और इन जन्तुओं के सामाजिक संगठन का हाल पढ़कर तुम्हें ज़रूर ताज्जुब हुआ होगा। हम लोग इन जन्तुओं को सबसे नीचे दर्जे के जीव समझकर हिक़ारत की नज़र से देखते हैं। लेकिन इन छोटे-छोटे जन्तुओं ने सहयोग और सार्वजनिक हित के लिए त्याग की कला आदमी की अपेक्षा कहीं ज़्यादा सीख रक्खी है। जबसे मैंने दीमक का और अपने साथियों के लिए उसके त्याग का हाल पढ़ा तो मेरे दिल में इस जन्तु के लिए आदर का भाव पैदा हो गया है। अगर आपसी सहयोग को और समाज की भलाई के लिए त्याग को सभ्यता की कसौटी मानें, तो हम कह सकते हैं कि इस लिहाज़ से दीमक और चींटियाँ मनुष्य जाति से ऊँची हैं।

संस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक में एक श्लोक[2] है, जिसका अर्थ है, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को त्याग देना चाहिए।" आत्मा क्या चीज़ है, इसे हममें से न कोई समझता है और न बता सकता है और हरेक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने ख़याल के अनुसार अलग-अलग किया करता है। लेकिन संस्कृत का यह श्लोक हमें सहयोग की और सार्वजनिक हित के लिए त्याग करने की वही शिक्षा देता है। हम भारत के लोग असली महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनों तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमें उसकी झलक दिखाई देने लगी है और सारे देश में जागृति की लहर दौड़ रही है। यह देखकर कितना आश्चर्य होता है कि मर्द और औरतें, लड़के और लड़कियाँ, हँसते-हँसते भारत के हित के लिए आगे बढ़ रहे हैं और कष्ट या यातना की ज़रा भी परवा नहीं करते! उनका हँसना और ख़ुश होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक महान् उद्देश्य के लिए यत्न करने का आनन्द उनको मिला है, और जो ख़ुशक़िस्मत हैं, उन्हें बलिदान होने का भी आनन्द प्राप्त होता है। आज हम भारत को आज़ाद करने की कोशिश कर रहे हैं। यह एक बड़ी बात है। लेकिन मनुष्य-मात्र का हित इससे भी बड़ी चीज़ है। और क्योंकि हम यह महसूस करते

---

[1] 'Life of the Bee, the white Ant and the Ant'

[2] त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥—पञ्चतंत्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं कि हमारा संग्राम मनुष्य-मात्र की तकलीफ़ों और मुसीबतों को मिटाने के महान् संग्राम का एक हिस्सा है, हम भी इस बात पर खुशी मना सकते हैं कि हम दुनिया की प्रगति में मदद करके अपना कुछ फ़र्ज़ अदा कर रहे हैं।

इस बीच तुम आनन्द-भवन में बैठी हो, मम्मी मलाका-जेल में बैठी हैं, और मैं नैनी-जेल में हूँ। हमें कभी-कभी एक-दूसरे की याद बुरी तरह सताती है। क्यों, सताती है या नहीं? लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनों फिर मिलेंगे। मैं उस दिन का इन्तज़ार करूँगा और उसका ख़याल मेरे दिल को हलका करेगा और उसे उम्मीद से भर देगा।

: ३ :

'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'

७ जनवरी, १९३१

प्रियदर्शिनी, आँखों को प्यारी, लेकिन जब आँखों से ओझल हो तो और भी प्यारी! आज, जब मैं यहाँ तुम्हें पत्र लिखने बैठा तो दूर के बादल की गरज जैसा कुछ हलका-सा शोर मुझे सुनाई दिया। पहले तो मुझे पता न चला कि यह आवाज़ कैसी है, लेकिन यह कुछ परिचित-सी जान पड़ी और ऐसा मालूम हुआ कि उसके जवाब में मेरे हृदय से गूँज उठ रही है। धीरे-धीरे यह आवाज़ नज़दीक आती हुई और बढ़ती हुई मालूम देने लगी और थोड़ी ही देर में वह क्या है उसके बारे में कोई शक नहीं रहा। 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'! 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!' इस जोशभरी ललकार से जेलखाना गूँज उठा; और इसे सुनकर हम सबके दिल हरे हो गए। मैं नहीं जानता कि ये कौन लोग थे—जो हमारे इस जंगी नारे को हमसे इतना नज़दीक जेल के बाहर बुलन्द कर रहे थे—शहर के मर्द और औरतें थीं या गाँवों के किसान लोग? और न मैं यह जानता हूँ कि आज इसका कौन-सा मौक़ा था? लेकिन ये लोग चाहे जो हों, इन्होंने हमारे दिलों के हौसले बढ़ा दिये और इनके अभिवादन का हम लोगों ने ख़ामोश जवाब भेज दिया, जिसके साथ-साथ हमारी सारी शुभकामनाएं भी थीं।

सवाल यह होता है कि हम 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद' क्यों पुकारते हैं? हम क्रान्ति और परिवर्तन किसलिए चाहते हैं? इसमें शक नहीं कि भारत में आज बहुत परिवर्तन की ज़रूरत है। लेकिन वे सारे बड़े परिवर्तन, जो हम चाहते हैं, हो भी जायँ, और भारत को आज़ादी भी मिल जाय, तो भी हम निश्चल नहीं बैठ सकते। दुनिया की कोई भी चीज़, जिसमें जान है, बिना परिवर्तन के नहीं रहती। सारी कुदरत रोज़-ब-रोज़ और मिनट-मिनट पर बदलती रहती है। केवल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुर्दों की ही बढ़ोतरी रुक जाती है, और वे निश्चल हो जाते हैं। ताज़ा पानी बहता रहता है और अगर कोई उसे रोक दे तो वह बँधकर गन्दा हो जाता है। मनुष्य-जाति की और राष्ट्र की ज़िन्दगी का भी यही हाल होता है। हम चाहें या न चाहें, बूढ़े होते जाते हैं। बच्चियाँ छोटी लड़कियाँ हो जाती हैं; छोटी लड़कियाँ बड़ी लड़कियाँ हो जाती हैं; वे ही बाद में युवतियाँ और फिर बूढ़ियाँ हो जाती हैं। हमें इन सब परिवर्तनों को बर्दाश्त करना पड़ता है। लेकिन बहुत-से लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं कि दुनिया बदलती रहती है। वे अपने दिमाग़ को बन्द रखते हैं और उस पर ताला डाल देते हैं और उसमें किसी नये ख़याल को घुसने नहीं देते। सोच-विचार करने की भावना से उन्हें जितना डर लगता है, उतना किसी दूसरी चीज़ से नहीं। नतीजा क्या होता है? दुनिया तो फिर भी आगे-आगे बढ़ती ही जाती है, और चूँकि वे और उन्हीं के ख़यालों के दूसरे लोग बदलती हुई परिस्थितियों के मुताबिक़ अपने को नहीं ढालते, इसलिए समय-समय पर बड़े-बड़े विस्फोट होते हैं; बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हो जाती हैं—जैसी कि १४० वर्ष पहले फ्रान्स में और आज से १३ वर्ष पहले रूस में हुई थी। इसी तरह अपने देश में हम भी आज एक क्रान्ति के बीच से गुज़र रहे हैं। बेशक हम आज़ादी चाहते हैं; लेकिन हम इससे भी कुछ और ज़्यादा चाहते हैं। हम तमाम बदबूदार गड्ढों को साफ़ कर डालना चाहते हैं और हरेक जगह ताज़ा और साफ पानी की धार पहुँचा देना चाहते हैं। हमारा फ़र्ज़ है कि हम अपने देश की गन्दगी, ग़रीबी और मुसीबतों को निकाल फेंकें और जहाँतक हो सके बहुत-से आदमियों के दिमाग़ों में भरे हुए जालों को भी साफ़ कर दें जिनकी वजह से कि वे लोग विचार नहीं कर पाते और उस महान् काम में, जो हमारे सामने है, सहयोग नहीं देते। यह एक बड़ा काम है और सम्भव है इसके पूरा होने में देर लगे। आओ, कम-से-कम एक धक्का लगाकर इसे आगे तो बढ़ा दें! इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!

हम अपनी क्रान्ति के दरवाज़े पर खड़े हैं और यह नहीं जानते कि भविष्य में क्या होनेवाला है। लेकिन हमारी मेहनतों का फल बहुत काफ़ी मात्रा में वर्तमान ने ही हमारे सामने ला रक्खा है। भारत की स्त्रियों को देखो कि वे कितने अभिमान के साथ लड़ाई में सबसे आगे बढ़ती जा रही हैं! नम्र, लेकिन बहादुर और किसीसे न दबनेवाली स्त्रियाँ, देखो किस तरह दूसरों को आगे बढ़ने का रास्ता बता रही हैं? और कहाँ गया आज वह परदा, जिसने हमारी बहादुर और सुन्दर स्त्रियों को छिपा रक्खा था, और जो उनके और उनके देश के लिए एक अभिशाप था? क्या वह तेज़ी के साथ हट नहीं रहा कि अजायबघरों की आलमारियों में, जहाँ कि बीते ज़माने की निशानियाँ रक्खी जाती रहती हैं, जाकर अपनी जगह ले।

बच्चों को—लड़के और लड़कियों को—वानर-सेना और बाल-बालिका-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभाओं को भी देखो। इनमें से बहुत-से बच्चों के माता-पिता ऐसे होंगे, जो शायद पहले कायरों और ग़ुलामों की तरह आचरण करते रहे हों। लेकिन क्या अब कोई यह शक करने की हिम्मत कर सकता है कि हमारी पीढ़ी के बच्चे ग़ुलामी या कायरता को कभी भी बरदाश्त करेंगे?

और इस तरह परिवर्तन का चक्र चल रहा है और जो नीचे थे वे ऊपर आ रहे हैं और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे हैं। हमारे देश में भी इस चक्र के चलने का समय आ गया है। लेकिन इस बार हम लोगों ने इसे ऐसा धक्का दिया है कि अब कोई भी इसे रोक नहीं सकता।

इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!

: ४ :

एशिया और यूरोप

८ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में बताया था कि हरेक चीज़ बराबर बदलती रहती है। इन परिवर्तनों के अभिलेखों के सिवा वास्तव में इतिहास और है भी क्या? अगर पुराने ज़माने में बहुत कम परिवर्तन हुए होते, तो इतिहास लिखने के लिए कुछ मसाला ही न मिलता।

स्कूलों और कॉलेजों में जो इतिहास पढ़ाया जाता है, उसमें आमतौर पर कुछ ठीक बातें नहीं होतीं। दूसरों की बाबत तो मैं जानता नहीं, अपने बारे में यह ज़रूर कह सकता हूँ कि स्कूल में मुझे बहुत कम ज्ञान हासिल हुआ। मैंने भारत के इतिहास के बारे में बहुत ही कम और इंग्लैण्ड के इतिहास के बारे में कुछ थोड़ी-सी बातें स्कूल में पढ़ीं। भारत का इतिहास भी जो-कुछ मैंने पढ़ा, वह ज़्यादातर ग़लत या तोड़ा-मरोड़ा हुआ और ऐसे लोगों का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफ़रत की नज़र से देखते थे। दूसरे देशों के इतिहास के बारे में तो मेरा ज्ञान बहुत ही धुँधला था। कॉलेज छोड़ने के बाद ही मैंने कुछ असली इतिहास पढ़ा। ख़ुशक़िस्मती से जेल की यात्राओं ने मुझे अपना ज्ञान बढ़ाने का ख़ासा मौक़ा दिया।

अपनी पिछली चिट्ठियों में मैं तुम्हें भारत की प्राचीन सभ्यता, द्रविड़ों और आर्यों के आगमन के बारे में लिख चुका हूँ। मैंने आर्यों के आने के पहले के ज़माने का कोई हाल इन पत्रों में नहीं लिखा था, क्योंकि मुझे उसके बारे में ज़्यादा मालूम नहीं है। लेकिन तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि भारत में इन पिछले वर्षों में एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिह्न खोज निकाले गये हैं। ये चिह्न उत्तर-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चिम भारत में मोहेन-जो-दड़ो[1] नाम की जगह के आस-पास पाये गए हैं। क़रीब पाँच हज़ार वर्ष पुराने इन खण्डहरों को लोगों ने खोदा और वहाँ प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई[2] भी मिली हैं। ये सब बातें हज़ारों वर्ष पुरानी, आर्यों के आने से बहुत पहले की हैं। यूरोप उस समय वीरान रहा होगा।

आज यूरोप मज़बूत और ताक़तवर है और वहाँ के रहनेवाले अपनेको दुनियाभर में सबसे ज़्यादा सभ्य और सुसंस्कृत समझते हैं। वे एशिया और उसके निवासियों को नफ़रत की नज़र से देखते हैं, और एशिया के देशों में आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते हैं। ज़माना कितना बदल गया है! आओ, हम एशिया और यूरोप पर ज़रा ग़ौर से नज़र डालें। नक़्शों की किताब खोलो और देखो कि छोटा-सा यूरोप एशिया के विशाल महाद्वीप में किस तरह चिपका हुआ है। यह एशिया की ही एक छोटी-सी टाँग मालूम देती है। जब तुम इतिहास पढ़ोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि लम्बे युगों और वर्षों तक उसपर एशिया का प्रभुत्व रह चुका है। एशिया के लोग बार-बार बाढ़ की तरह यूरोप में गये और विजयी हुए। इन लोगों ने यूरोप को उजाड़ा भी और सभ्य भी बनाया। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क, ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से से आये, और एशिया और यूरोप के सब हिस्सों में फैल गये। मालूम होता था कि एशिया इन्हें टिड्डी-दल की तरह बेशुमार संख्या में पैदा कर रहा है। सच तो यह है कि यूरोप बहुत दिनों तक एशिया का उपनिवेश रहा और आज के यूरोप की बहुत-सी जातियाँ एशिया से गये हुए इन हमला करनेवालों की वंशज हैं।

एशिया एक बड़े और भारी-भरकम देव की तरह नक़्शे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला पड़ा है। यूरोप छोटा-सा है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि एशिया अपने विस्तार के कारण बड़ा है, या यह कि यूरोप ज़्यादा ध्यान दिये जाने के योग्य नहीं है। किसी आदमी या देश का आकार उसकी महानता की सबसे तुच्छ कसौटी है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि यूरोप सब महाद्वीपों से छोटा होने पर भी आज महान् बना हुआ है। हम यह भी जानते हैं कि यूरोप के अनेक देशों के इतिहास में शानदार युग हुए हैं। इन देशों ने विज्ञान के बड़े-बड़े पंडित पैदा किये, जिन्होंने अपनी खोजों और आविष्कारों से मानवी सभ्यता को बहुत आगे बढ़ाया और करोड़ों आदमियों और औरतों के लिए ज़िन्दगी आसान बना दी। इन देशों में बड़े-बड़े लेखक, विचारक, कलाकार, संगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए हैं। यूरोप की महानता को स्वीकार न करना बेवक़ूफ़ी होगी।

---

[1] मोहेन-जो-दड़ो—यह स्थान सिंध नदी की घाटी में है और अब पाकिस्तान में है।
[2] मोमियाई या ममी—मसाला लगाकर रक्खा गया मुर्दा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन एशिया की महानता को भुला देना भी उसी तरह की बेवक़ूफ़ी होगी। कभी-कभी हम यूरोप की तड़क-भड़क से प्रभावित होने लगते हैं और पुरानी बातों को भूल जाते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही बड़े-बड़े मौलिक विचारक पैदा किये हैं जिन्होंने दुनिया पर इतना प्रभाव डाला कि शायद ही किसी दूसरी जगह के किसी आदमी या किसी चीज़ ने डाला हो। ये हैं संसार के मुख्य धर्मों के महान् प्रवर्त्तक। हिन्दू-धर्म, जो आजकल के बड़े मज़हबों से सबसे पुराना है, भारत की ही देन है। ऐसा ही उसका महान् भाई बौद्ध धर्म भी है, जो आज तमाम चीन, जापान, बरमा, तिब्बत और लंका में फैला हुआ है। यहूदियों और ईसाइयों के मज़हब भी एशियाई ही हैं, क्योंकि उनका जन्म एशिया के पश्चिम किनारे पर फ़िलस्तीन[1] में हुआ था। ज़ोरास्ट्रियन मज़हब जो पारसियों का मज़हब है, ईरान[2] में शुरू हुआ। और तुम यह तो जानती ही हो कि इस्लाम के पैग़म्बर मुहम्मद अरब के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त,[3] ईसा, मुहम्मद,

---

[1] फ़िलस्तीन—इसे पैलस्टाइन भी कहते हैं। यह एशिया का एक प्राचीन देश है और यहूदियों, ईसाइयों व मुसलमानों, तीनों की पवित्र भूमि है। पश्चिम देश के अधीन रहने के बाद ईसा से ११०० वर्ष पूर्व यह फ़िलस्तीन जाति के अधिकार में आया। ईसा से पहले की नवीं सदी से छठी सदी तक अशर और बाबुल के साम्राज्य इसे जीतते और फिर इससे हारते रहे। एक ज़माने में यहूदियों ने यहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया था। कभी यह मुसलमानों के भी अधीन रहा। १९१७-१८ से १९४८ ई० तक यह अंग्रेज़ों के अधिकार में रहा। अब इसके दो भाग कर दिये गए हैं। एक भाग इज़राईल है, जिसे यहूदियों ने अपना राष्ट्रीय वतन बना लिया है। दूसरा जार्डन है जहाँ अरब लोगों का प्रभुत्व है।

[2] ईरान—एशिया का एक स्वतन्त्र देश है। ईसा से पूर्व ५५९ से ३३१ तक ईरानी सभ्यता बहुत उन्नत दशा में थी और सम्राट् डेरियस या दारा के ज़माने से इसका साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली हो गया था कि यूनानियों को इसके डर के मारे नींद नहीं आती थी और यूरोप, अफ़्रीका और एशिया ईरानी सम्राट् के नाम से काँपते थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इसका पतन होने लगा, और यूनानी विजेता सिकन्दर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्टकर डाला।

[3] जरथुस्त—यह प्राचीन ईरानी मज़हब के प्रवर्त्तक या पैग़म्बर थे। यह किस ज़माने में हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं लगता। लेकिन कुछ लोगों के ख़याल में इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शाहंशाह कुरुश के ज़माने में इनका धर्म ईरान का ख़ास धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। भारत के पारसी अब भी इसी धर्म को मानते हैं। इनके सिवा इस धर्म का माननेवाला दुनिया में अब कोई नहीं है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक ज़ेन्दावस्ता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चीन के महान् दार्शनिक कनफ़्यूशस[1] और लाओ-त्से[2], वग़ैरा एशिया के बड़े-बड़े विचारकों के नामों से पृष्ठ-के-पृष्ठ भरे जा सकते हैं। इसी तरह एशिया के कर्मवीरों के नामों से भी पन्ने-के-पन्ने रँगे जा सकते हैं। कई और तरीक़ों से भी मैं तुम्हें बता सकता हूँ कि हमारा यह बूढ़ा महाद्वीप प्राचीन काल में कितना महान् और महत्वपूर्ण रहा है!

देखो, ज़माना कितना बदल गया है! लेकिन अब भी वह हमारी आँखों के सामने ही फिर बदलता जा रहा है। इतिहास आमतौर पर धीरे-धीरे सदियों में अपना प्रभाव दिखाता है, हालाँकि उसमें कभी-कभी भगदड़ और विस्फोटों के काल भी होते हैं। आज तो एशिया में ज़माना बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रहा है और यह बूढ़ा महाद्वीप अपनी लम्बी नींद के बाद जाग उठा है। दुनिया की आँखें इस पर लगी हैं, क्योंकि सभी जानते हैं कि भविष्य के निर्माण में एशिया बहुत बड़ा हिस्सा लेनेवाला है।

: ५ :

पुरानी सभ्यताएं और हमारी विरासत

९ जनवरी, १९३१

हिन्दी अख़बार 'भारत' में, जो हमें हफ़्ते में दो बार बाहरी दुनिया की कुछ ख़बरें पहुँचाता रहता है, कल मैंने पढ़ा कि तुम्हारी मम्मी के साथ मलाका-जेल में ठीक व्यवहार नहीं किया जा रहा है और वह लखनऊ-जेल भेजी जानेवाली हैं। इससे मुझे कुछ धक्का-सा लगा और मैं परेशान होने लगा। फिर सोचा कि शायद 'भारत' में छपी अफ़वाह सही न हो। लेकिन इस सम्बन्ध में शक भी दुःख देनेवाला है। अपनी तकलीफ़ों और मुसीबतों को सहना काफ़ी आसान है। इससे हरेक को फ़ायदा होता है, वरना हम लोग बहुत नाज़ुक बन जायँ। लेकिन दूसरे लोगों की, जो हमें प्रिय हैं, मुसीबतों के बारे में सोचना कोई बहुत आसान या तसल्ली देनेवाली बात नहीं है। इसलिए उस सन्देह के कारण, जो 'भारत' ने

---

[1]कनफ़्यूशस—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक या पैग़म्बर था। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इसका जन्म हुआ था और इसने अपना सारा जीवन अपने देश की प्राचीन पुस्तकों के इकट्ठा करने, सम्पादन करने और छपाने में बिताया। ईसा से ४५८ वर्ष पहले इसकी मृत्यु हुई। चीन में अब भी इसका मज़हब माननेवाले बहुत पाये जाते हैं। इसका चीनी नाम कुंग-फू-त्से है।

[2]लाओ-त्से—मशहूर चीनी वेदान्ती और पैग़म्बर था। यह कनफ़्यूशस के ज़माने में ही हुआ और उसका विरोधी था। इसके माननेवाले भी चीन में बहुत हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे मन में पैदा कर दिया था, मैं मम्मी के बारे में चिन्ता करने लगा। वह बहादुर है और शेरनी का-सा उसका दिल है; लेकिन वह शरीर से कमज़ोर है, और मैं नहीं चाहता कि उसका शरीर और कमज़ोर हो जाय। हम दिल के चाहे कितने ही मज़बूत क्यों न हों, अगर हमारे शरीर हमें जवाब दे बैठें तो हम क्या कर सकते हैं? अगर हम कोई काम अच्छी तरह करना चाहते हैं तो हमारे लिए तन्दुरुस्ती, ताक़त और शरीर का तगड़ापन ज़रूरी है।

शायद यह अच्छा ही है कि मम्मी लखनऊ भेजी जा रही है। सम्भव है वह वहाँ ज़्यादा आराम से और खुश रहे। लखनऊ-जेल में उसे कुछ साथिनें भी मिल जायँगी। मलाका-जेल में वह शायद अकेली ही हो। फिर भी यहाँ इतना सन्तोष ज़रूर था कि वह दूर नहीं है; हमारी जेल से सिर्फ़ चार-पाँच मील पर ही है। लेकिन यह बेवक़ूफ़ी का-सा ख़याल है। जब दो जेलों की ऊँची-ऊँची दीवारें बीच में खड़ी हैं तो क्या पाँच मील और क्या एक सौ पचास मील, दोनों बराबर हैं।

आज यह जानकर बेहद खुशी हुई कि दादू इलाहाबाद वापस आ गये हैं, और पहले से अच्छे हैं। यह जानकर और भी ख़शी हुई कि वह मम्मी से मिलने मकाका-जेल गये थे। मुमकिन है, तक़दीर से कल तुम सब लोगों से मेरी मुलाक़ात हो जाय, क्योंकि कल मेरा 'मुलाक़ात का दिन' है और जेल में यह दिन एक बड़ा दिन माना जाता है। क़रीब दो महीने से मैंने दादू को नहीं देखा है। उम्मीद है, कल उनसे मुलाक़ात होगी और मैं तसल्ली कर सकूँगा कि वास्तव में वह अब पहले से अच्छे हैं। तुमसे तो मैं एक बड़े लम्बे पखवाड़े के बाद मिलूँगा, और तुम मुझे अपना और अपनी मम्मी का हाल सुनाओगी।

क्या खूब! लिखने तो बैठा था पुराने इतिहास पर, लेकिन लिख रहा हूँ बेवक़ूफ़ी की बातें। अच्छा, अब थोड़ी देर के लिए हम वर्तमान को भूल जायँ और दो-तीन हज़ार वर्ष पीछे लौट चलें।

मिस्र में और क्रीट[1] के प्राचीन नगर नोसास[2] के बारे में मैंने तुम्हें अपनी पहली चिट्ठियों में कुछ लिखा था, और तुम्हें बताया था कि प्राचीन सभ्यता ने

---

[1]क्रीट—यह भूमध्यसागर के सबसे बड़े टापुओं में से एक है। प्राचीन सभ्यता में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। कला-कौशल में कुशलता पानेवाला यह सबसे पहला यूरोपीय देश है। यहाँ का राजा माइनास बड़ा मशहूर शासक था और इतिहास का सबसे पहला राजा था, जिसके पास अपनी जल-सेना थी।

[2]नोसास—राजा माइनास के वक्त में भूमध्यसागर के क्रीट नामक टापू की राजधानी था। यह बड़ा सम्पन्न और ख़ुशहाल शहर था। मिट्टी का काम तो यहाँ ख़ास तौर पर सुन्दर होता ही था, सोने-चाँदी का काम भी बहुत अच्छा होता था। यहाँ के हथियार भी बहुत मशहूर होते थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दोनों देशों में और उस मुल्क़ में जो आज इराक़[1] या मैसोपोटामिया कहलाता है, तथा चीन, भारत और यूनान में पहले-पहल जन्म लिया। यूनान शायद औरों से कुछ देर में सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज़ से भारत की सभ्यता मिस्र, चीन और इराक़ की सभ्यताओं की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की सभ्यता भी इनके मुक़ाबले में कम उम्र की है। इन पुरानी सभ्यताओं का क्या हाल हुआ ? नोसास ख़त्म हो गया। सच तो यह है कि क़रीब तीन हज़ार वर्षों से उसका कोई नाम-निशान भी नहीं है। यूनान की बाद की सभ्यता के लोग यहाँ पहुँचे और उन्होंने इसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी सभ्यता कई हज़ार वर्षों के शानदार इतिहास के बाद समाप्त हो गई, और अल-अहराम[2], स्फिन्क्स[3], बड़े-बड़े मन्दिरों के खण्डहरों, मोमियाइयों और इसी तरह की दूसरी चीज़ों के अलावा वह अपना कोई निशान नहीं छोड़ गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले की तरह अब भी उसमें होकर बहती है, और दूसरे देशों की तरह वहाँ भी स्त्री और पुरुष रहते हैं, लेकिन इन नये आदमियों को इनके देश की पुरानी सभ्यता से जोड़नेवाली कोई कड़ी नज़र नहीं आती।

इराक़ और ईरान—इन देशों में कितने साम्राज्य फूले-फले और एक-दूसरे के बाद विस्मृति के गर्भ में समाते गये। इनमें सबसे पुराने साम्राज्यों के ही कुछ नाम लिये जायँ तो वे हैं बाबुल[4],

---

[1] इराक़—फ़रात और दजला नदियों के बीच के पूरे प्रान्त का नाम इराक़ है। यह देश प्राचीन सभ्यताओं में से कई यों का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है।

[2] अल-अहराम या पिरेमिड—मिस्र देश के पत्थर के विशाल स्तूप या मीनार जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटों की क़ब्रें हैं। सबसे बड़ा पिरेमिड गिज़ेह नामक स्थान पर है। इसमें पत्थर की तेईस लाख चट्टानें लगी हैं, और एक-एक चट्टान का वज़न ढाई-ढाई टन है। जिस ज़माने में मशीनों का नाम तक न था, उस ज़माने में लोगों ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुनकर रख दिये, इस बात के समझने में बुद्धि चकरा जाती है।

[3] स्फिन्क्स—यूनान की कहानियों के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका सिर स्त्री का-सा और धड़ पर-दार शेर का-सा है। गिज़ेह नामक जगह पर पिरेमिडों के पास इसकी एक बड़ी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्बाई १८७ फुट और ऊँचाई ६६ फुट है। उसका केवल सिर ही ३० फुट लम्बा है, और मुँह की चौड़ाई १४ फुट है।

[4] बाबुल—इराक़ के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम बाबुली राजवंश की स्थापना ईसा से क़रीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका उत्थान और पतन हुआ। ईसा से क़रीब ६२५ साल पहले, नाबोपोलासार के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशर[1] और ख़ाल्दिया[2]। बाबुल और निनीवे[3] इनके विशाल नगर थे। इंजील या बाइबिल का पुराना हिस्सा तौरात[4] यहाँ के लोगों के वर्णनों से भरा पड़ा है। इसके बाद भी प्राचीन इतिहास की इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फूले-फले और मुरझा गये। अलिफ़लैला की मायानगरी बग़दाद यहीं है। लेकिन साम्राज्य बनते और बिगड़ते रहते हैं और बड़े-से-बड़े और अभिमानी-से-अभिमानी राजा और सम्राट् दुनिया के रंग-मंच पर सिर्फ़ थोड़ी ही अरसे के लिए अकड़ के साथ चल पाते हैं। पर सभ्यताएँ क़ायम रह जाती हैं। लेकिन इराक़ और ईरान की पुरानी सभ्यताएँ मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिलकुल ही ख़त्म हो गईं।

अपने प्राचीन दिनों में यूनान सचमुच महान् था और आज भी लोग उसकी

ख़ाल्दिया के सम्राट् होने पर यह फिर आगे बढ़ने लगा, और उसके उत्तराधिकारी दूसरे नेबूख़ुदनज़र ने ईसा से पूर्व क़रीब ६०४ और ५६५ साल के बीच इस साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन उसके बाद फिर उसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा। इसकी राजधानी बाबुल एशिया का बहुत पुराना शहर था। आजकल के बग़दाद से क़रीब ६० मील दक्षिण की तरफ़, फ़ुरात नदी के दोनों किनारों पर यह आबाद था। यहीं पर अशर और ईरानी साम्राज्यों की राजधानियाँ भी थीं। यहाँ के 'लटकते हुए उद्यान' संसार का एक आश्चर्य माने जाते थे।

[1]अशर—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। इसका विशाल साम्राज्य उन सबसे पहले साम्राज्यों में से एक है, जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते हैं। अपने गौरव-काल में यह मिस्र में ईरान तक फैला हुआ था।

[2]ख़ाल्दिया—एक अर्थ में यह बैबीलोनिया का एक प्रान्त था। ईरान की खाड़ी के ऊपर की तरफ़ अरब के रेगिस्तान से मिला हुआ फ़ुरात नदी के निचले हिस्से के किनारों पर आबाद था। यहाँ का निवासी नाबोपोलासार मीड़ जाति की मदद से बैबीलोनिया का सम्राट् हुआ और उसीके उत्तराधिकारियों के ज़माने में बैबीलोनियन साम्राज्य अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचा। इसलिए वह ज़माना ख़ाल्दियन बैबीलोनियन ज़माना कहलाता है।

[3]निनीवे—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने ज़माने का एक मशहूर शहर है और असीरियन साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट् सेनकेरिब के ज़माने में इस शहर ने बड़ी तरक्क़ी की थी और क़रीब दो सौ साल तक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँ का पुस्तकालय अपने ज़माने में दुनियाभर में मशहूर था। ईसा से पहले ६१२ में मीड़ों और बैबीलोनियनों ने मिलकर हमला किया और इस फूलते-फलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

[4]Old Testament of the Bible.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान-शौकत का हाल अचरज के साथ पढ़ते हैं। आज भी हम उसकी संगमरमर की खूबसूरत मूर्त्तिकला देखकर स्तम्भित और चकित हो जाते हैं, और उसके पुराने साहित्य के उस अंश को, जो बच गया है, श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढ़ते हैं। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा यूरोप कई दृष्टि से यूनान का बच्चा है क्योंकि यूरोप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीक़ों का गहरा असर पड़ा है। लेकिन वह शान जो यूनान की थी, अब कहाँ है? इस पुरानी सभ्यता को ग़ायब हुए अनेक युग बीत गये। उसकी जगह दूसरी तरह के तौर-तरीक़ों ने ले ली और यूनान आज यूरोप के दक्षिण-पूरब में एक छोटा-सा मुल्क भर रह गया है।

मिस्र, नोसास, इराक़ और यूनान—ये सब ख़त्म हो गये। इनकी सभ्यता की हस्ती भी बाबुल और निनीवे की तरह मिट गई। तो फिर इन पुरानी सभ्यताओं के साथी बाक़ी दो, चीन और भारत, का क्या हुआ? और देशों या मुल्कों की तरह इन दोनों देशों में भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य क़ायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहों के वंश सैकड़ों वर्षों तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आ गये। भारत और चीन में ये सब बातें वैसे ही हुईं जैसे दूसरे देशों में। लेकिन सिवाय चीन और भारत के, किसी भी दूसरे देश में सभ्यता का असली सिलसिला क़ायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनों, लड़ाइयों और हमलों के बावजूद इन देशों में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट बहती आई है। यह सच है कि ये दोनों अपने पुराने गौरव से बहुत नीचे गिर गये हैं और इनकी प्राचीन संस्कृतियों के ऊपर ढेर-की-ढेर गर्द और कहीं-कहीं गन्दगी, लम्बे अर्से से जमा होती गई है। लेकिन ये संस्कृतियाँ अभी तक क़ायम हैं और आज भी वही भारतीय सभ्यता और भारतीय जीवन का आधार है। अब दुनिया में नई हालतें पैदा हो गई हैं; भाप से चलनेवाले जहाज़ों, रेलों और बड़े-बड़े कारखानों ने दुनिया की सूरत ही बदल दी है। हो सकता है, बल्कि वास्तव में सम्भव है, कि वे भारत की भी काया-पलट कर दें, जैसा कि वे कर भी रही हैं। लेकिन भारतीय संस्कृति और सभ्यता, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे युगों को पार करती हुई वर्तमान काल तक चली आई हैं, के इस लम्बे विस्तार और सिलसिले का ख़याल दिलचस्प और बहुत-कुछ आश्चर्यजनक है। एक अर्थ में भारत के हम लोग इन हज़ारों वर्षों के उत्तराधिकारी हैं। यह हो सकता है कि हम लोग उन प्राचीन लोगों के ठेठ वंशज हों जो उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों से होकर उस लहलहाते हुए मैदान में आये, जो ब्रह्मावर्त्त, आर्यावर्त्त, भारतवर्ष और बाद में हिन्दुस्तान कहलाया। क्या तुम अपनी कल्पना में इन लोगों को पहाड़ी दर्रों से होकर नीचे के अनजान मुल्क में उतरते हुए नहीं देख सकतीं? बहादुरी और साहस की भावना से भरे हुए ये लोग, परिणामों की परवा न करते हुए हिम्मत के साथ आगे बढ़ते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होंने उसकी परवा नहीं की। हँसते-हँसते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे गले लगाया। लेकिन उन्हें जीवन से प्रेम था और वे जानते थे कि जीवन का सुख भोगने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि आदमी निडर हो जाय, और हार और आफ़तों से परेशान न हो। क्योंकि हार और आफ़त में एक बात यह होती है कि वे निडर लोगों के पास नहीं फटकतीं। अपने उन प्राचीन पूर्वजों का ख़याल तो करो जो आगे बढ़ते-बढ़ते एकदम समुद्र की ओर शान के साथ बहती हुई पवित्र गंगा के किनारे आ पहुँचे। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित हुआ होगा! और इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है कि इन लोगों ने गंगा के सामने आदर से अपना सिर झुका दिया हो और अपनी समृद्ध और मधुर भाषा में उसकी स्तुति की हो?

यह सोचकर सचमुच कुतूहल होता है कि हम इन सब युगों के उत्तराधिकारी हैं। लेकिन हमें घमंड से फूल न जाना चाहिए क्योंकि अगर हम युग-युगान्तरों के उत्तराधिकारी हैं तो उसकी अच्छाई और बुराई दोनों के हैं। और भारत में हमें मौजूदा विरासत में जो कुछ मिला है, उसमें बहुत-सी बुराइयाँ हैं; बहुत-कुछ ऐसा है, जिसने हमें दुनिया में नीचा गिराये रक्खा और हमारे महान् देश को सख्त ग़रीबी में डाल दिया और उसे दूसरों के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन क्या हमने यह निश्चय नहीं कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे?

: ६ :

यूनानी

१० जनवरी, १९३१

तुममें से कोई भी आज हमसे मिलने नहीं आया और 'मुलाक़ात का दिन' बिलकुल कोरा ही रहा। इससे निराशा हुई। मुलाक़ात टलने की जो वजह बताई गई, वह और भी निराशाजनक थी। हमें बताया गया कि दादू की तबीयत अच्छी नहीं है। इससे ज्यादा हमें कुछ और पता न चला। खैर, जब मुझे यह मालूम हुआ कि आज मुलाक़ात न होगी, तो मैंने अपना चरखा उठाया और कुछ सूत काता। मेरा अनुभव है कि चरखा कातने और निवाड़ बुनने में दिल को मज़ेदार राहत मिलती है। इसलिए जब कभी असमंजस में हो, तो कातने लगो!

अपने पिछले पत्र में हमने यह देखा था कि यूरोप और एशिया, इन दोनों में कितनी बातें एक-दूसरे से भिन्न हैं और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। आओ, अब हम प्राचीन यूरोप पर, जैसा कि वह बतलाया जाता है, थोड़ी-सी नज़र डालें। बहुत दिनों तक भूमध्यसागर के चारों तरफ़ के देश ही यूरोप समझे जाते थे। हमें उस ज़माने के यूरोप के उत्तरी देशों का कोई हाल नहीं मिलता। भूमध्यसागर के देशों के रहनेवाले लोगों का ख़याल था कि जर्मनी, इंग्लैण्ड और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

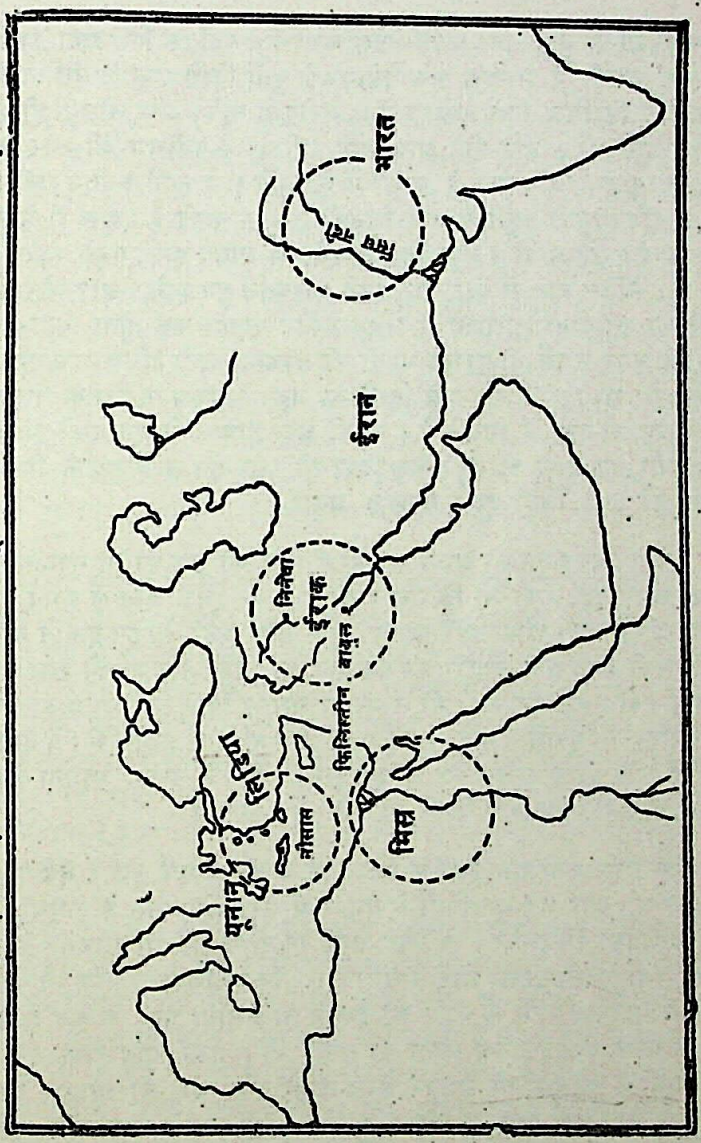

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ्रान्स में जंगली और बर्बर कबीले रहा करते हैं। यहाँतक कि लोगों का खयाल है कि शुरू ज़माने में सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वी हिस्से तक ही सीमित थी। तुम जानती हो कि मिस्र (जो अफ्रीका में है, यूरोप में नहीं) और नोसास ही पहले देश थे, जो आगे बढ़े। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और यूनान तथा आस-पास के मुल्कों में फैल गये। ये आर्य वही यूनानी हैं, जिन्हें हम प्राचीन यूनानी कहते हैं और जिनकी तारीफ़ करते हैं। शुरू में मेरा खयाल है कि ये लोग उन आर्यों से बहुत भिन्न नहीं थे, जो शायद इसके पहले भारत में उतर चुके थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इनमें परिवर्तन हुए होंगे, और धीरे-धीरे आर्य जाति की इन दोनों शाखाओं में दिन-पर-दिन ज्यादा फ़र्क़ होता गया। भारतीय आर्यों के ऊपर उससे भी पुरानी भारत की सभ्यता, यानी द्रविड़ सभ्यता का और शायद उस सभ्यता के बचे-खुचे हिस्से का बहुत असर पड़ा, जिसके खण्डहर आज हमें मोहेन-जो-दड़ो में मिलते हैं। आर्यों और द्रविड़ों ने एक-दूसरे से बहुत-कुछ लिया और एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया भी, और इस तरह इन्होंने मिल-जुलकर भारत की एक मिली-जुली संस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यों पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का बहुत ज्यादा असर पड़ा होगा जो कि यूनान की भूमि पर इनके आने के समय खूब ज़ोरों से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर ज़रूर पड़ा, लेकिन इन्होंने नोसास को और उसकी सभ्यता के बाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी राख पर अपनी सभ्यता रची। हमें यह कभी भी न भूलना चाहिए कि यूनानी आर्य और भारतीय आर्य, दोनों उस पुराने ज़माने में बड़े सख्त और जाँ-बाज़ लड़ाके थे। ये बड़ी जीवट-वाले थे और जिन नाजुक या अधिक सभ्य लोगों से इनका सामना हुआ, उन्हें या तो इन्होंने हज़म कर लिया या नष्ट कर डाला।

इस तरह नोसास ईसा के पैदा होने के क़रीब एक हज़ार वर्ष पहले नष्ट हो चुका था, और नये यूनानियों ने यूनान में और आस-पास के टापुओं में अपना अधिकार जमा लिया था। ये लोग समुद्र के रास्ते एशिया कोचक[1] के पश्चिमी किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ्रान्स तक भी जा पहुँचे। फ्रान्स में मारसाई नाम के शहर को इन्होंने ही बसाया था। लेकिन शायद इनके जाने के पहले वहाँ फ़िनिश लोगों की बस्ती थी। तुम्हें याद होगा कि फ़िनिश जाति एशिया कोचक की मशहूर समुद्र-यात्री क़ौम थी, जो व्यापार की तलाश में दूर-दूर तक धावे मारा करती थी। उस पुराने ज़माने में ये लोग इंग्लैण्ड तक

---

[1] एशिया कोचक या एशिया माइनर—एशिया महाद्वीप के पश्चिम में एक प्रायद्वीप। यहाँ तुर्की का राज्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुँच गये थे, जिन दिनों वह बिलकुल जंगली देश था, और जब जिब्राल्टर के जल-डमरूमध्य का जहाज़ी सफ़र ज़रूर ख़तरनाक रहा होगा।

यूनान की मुख्य भूमि में एथेन्स, स्पार्टा, थीब्स और कोरिन्थ जैसे मशहूर शहर आबाद हो गये। यूनानियों के, जो उस वक्त हेलेन्स कहलाते थे, पुराने ज़माने का हाल 'ईलियद' और 'औदेसी' नाम के दो महाकाव्यों में बयान किया गया है। तुम्हें इन दोनों प्रसिद्ध महाकाव्यों का कुछ हाल मालूम ही है। ये दोनों महाकाव्य, हमारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ हैं। कहते हैं कि होमर ने जो अन्धा था, ये काव्य लिखे हैं। 'ईलियद' में यह क़िस्सा बयान किया गया है कि किस तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर त्राय में भगा ले गया और किस तरह यूनान के राजाओं और सरदारों ने उसे छुड़ाने के लिए त्राय के चारों तरफ़ घेरा डाला। और 'औदेसी' त्राय के घेरे से लौटते वक़्त औदेसियस या यूलीसस के भ्रमण की कहानी है। एशिया कोचक में, समुद्र-तट से बहुत नजदीक, त्रायका यह छोटा शहर बसा था। आज इसका कोई निशान नहीं हैं और उसकी हस्ती मिटे बहुत ज़माना हो गया; लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर बना दिया है।

इधर तो हेलेन्स या यूनानी क़ौम तेजी के साथ, थोड़े दिन की लेकिन शानदार जवानी पर पहुँच रही थी। उधर एक दूसरी शक्ति का, जो आगे जाकर यूनान को जीतनेवाली और उसकी जगह लेनेवाली थी, चुपचाप उदय होना, दिलचस्पी की बात है। कहा जाता है कि इसी ज़माने में रोम की बुनियाद पड़ी। कई सौ वर्षों तक इसने दुनिया के रंगमंच पर कोई महत्व का काम करके नहीं दिखाया। लेकिन ऐसे महान् शहर की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियों तक यूरोपीय संसार पर हावी रहा और जो 'संसार की स्वामिनी' और 'अमरपुरी' के नाम से मशहूर हुआ। रोम की स्थापना के बारे में अजीब-अजीब क़िस्से कहे जाते हैं। कहते हैं कि 'रेमस' और 'रोमुलस'[1] को, जिन्होंने इस शहर की बुनियाद

---

[1] रोमुलस—रोम का संस्थापक और पहला सम्राट् था। रोमुलस और रेमस दो जुड़वाँ भाई थे। इन दोनों को उनके नाना एम्यूलियस ने एक डोंगी में रखकर टाइबर नदी में बहा दिया। डोंगी उस दलदल में जाकर रुक गई, जहाँ कि बाद को रोम आबाद हुआ। कहा जाता है कि यहाँ से एक मादा भेड़िया इनको उठाकर ले गई और इन्हें अपना दूध पिलाया और बाद को फोस्च्यूलस नामक गड़रिये की स्त्री ने इनका पालन-पोषण किया। बड़े होकर ये फ़िलस्तीन के युद्ध-प्रिय गड़रियों के एक गिरोह के सरदार बन गये। कुछ समय बीतने पर इनके बाबा ने इन्हें पहचान लिया, जिसने अन्यायी एम्यूलियस को क़त्ल कर अल्बस की राजगद्दी पर इनको वापस बैठा दिया था। इन्होंने अब इस भूमि पर, जहाँकि इनक-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाली थी, एक मादा भेड़िया उठा ले गई थी और उसी ने उन्हें पाला था। शायद तुम्हें यह क़िस्सा मालूम है।

जिस ज़माने में रोम की बुनियाद पड़ी, उसी ज़माने में या कुछ समय पहले, प्राचीन दुनिया का एक दूसरा बड़ा शहर भी बसाया गया। इसका नाम कारथेज था और इसे अफ्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर फ़िनिश लोगों ने बसाया था। यह शहर बढ़ते-बढ़ते एक बड़ी समुद्री शक्ति बन गया। रोम के साथ इसकी भयंकर प्रतिस्पर्धा चली और बहुत-सी लड़ाइयाँ हुईं। अन्त में रोम ने विजय पाई और कारथेज बिलकुल नष्ट कर दिया गया।

आज की कहानी समाप्त करने से पहले फ़िलस्तीन के ऊपर अगर सरसरी नज़र डाल लें तो अच्छा होगा। फ़िलस्तीन यूरोप में नहीं है और न इसका कोई ख़ास ऐतिहासिक महत्व ही है। लेकिन बहुत-से लोग इसके प्राचीन इतिहास में दिलचस्पी रखते हैं, क्योंकि इसका ज़िक्र तौरात में पाया जाता है। इस कहानी का सम्बन्ध यहूदियों के कुछ कबीलों से है, जो इस छोटे-से देश में रहते थे, और इसमें बताया गया है कि यहूदियों को अपने दोनों तरफ़ बसे हुए शक्तिशाली पड़ोसियों, बाबुल, अशर और मिस्र से कितने झगड़े करने पड़े। अगर यह कहानी यहूदी और ईसाई मज़हबों का हिस्सा न बन गई होती तो शायद ही किसीको इसका पता चलता।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, फ़िलस्तीन के इज़राईल भाग का बादशाह सालूस[1] था। इसके बाद दाऊद[2] और फिर

पालन-पोषण हुआ था, एक शहर बनाने का इरादा किया, लेकिन कौन पहले शुरू करे इसपर झगड़ा हो गया, जिसमें रेमस मारा गया। रोमुलस ने रोम आबाद किया और अपनी शक्ति बढ़ाकर और अपने शत्रुओं को हराकर एक-छत्र राज्य करने लगा। बाद में वह एकाएक एक तूफ़ान में ग़ायब हो गया और अन्त में एक देवता की तरह से पूजा जाने लगा।

[1] सालूस—यहूदियों के देश इज़राईल का पहला बादशाह था। इसका समय ईसा से क़रीब १०१० साल पहले है। इसने फ़िलस्तीन जाति को हराया और अमालेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त में फिर फ़िलस्तीनों से हार गया और इसलिए आत्मग्लानि से अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म-हत्या कर ली।

[2] दाऊद—इसे डेविड भी कहते हैं। यह इज़राईल का दूसरा बादशाह था। इसका समय ईसा से १०३० से लगाकर ९९० साल पहले तक है। जब बादशाह सालूस ने ख़ुदकुशी कर ली और फ़िलस्तीनों ने राजकुमार को मार डाला, तब यह राजा बनाया गया। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराने अहदनामे का बहुत-सा हिस्सा इसीका लिखा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुलेमान[1] हुआ जो अपनी अ.लमन्दी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामों का इसलिए ज़िक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे में ज़रूर पढ़ा या सुना होगा।

: ७ :

यूनान के नगर-राज्य

११ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में यूनानियों या हेलेन्स का कुछ हाल लिखा था। आओ, हम फिर इनपर एक नज़र डालें और इस बात को समझने की कोशिश करें कि ये लोग किस तरह के थे। जिन लोगों को या जिन चीज़ों को हमने कभी नहीं देखा उनके बारे में सही और सच्चा ख़याल बनाना बहुत मुश्किल होता है। हम लोग अपनी आजकल की हालत और रहन-सहन के इतने आदी हो गये हैं कि एक बिलकुल दूसरी तरह की दुनिया की कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन प्राचीन दुनिया, चाहे वह भारत की हो, चीन की हो, या मिस्र की, आजकल की दुनिया से बिलकुल निराली थी। ज़्यादा-से-ज़्यादा हम यही कर सकते हैं कि उनकी पुस्तकों, इमारतों और बचे हुए दूसरे निशानों की मदद से अन्दाज़ा लगायें कि उस ज़माने के लोग किस तरह के थे।

यूनान के बारे में एक बात बड़ी दिलचस्प है। ऐसा लगता है कि यूनानी लोग बड़ी-बड़ी बादशाहतें या साम्राज्य पसन्द नहीं करते थे। उन्हें छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे, यानी उनका हरेक शहर एक स्वतन्त्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे गणराज्य होते थे। बीच में शहर होता था और चारों तरफ़ कुछ खेत होते थे, जिनसे लोगों के लिए खाने की सामग्री मिला करती थी। तुम जानती ही हो कि गणराज्य में कोई राजा नहीं होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, लेकिन धनी नागरिक इनका शासन चलाते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलों में बोलने का कोई हक़ नहीं था। बहुत-से ग़ुलाम थे, जिन्हें शासन में कोई अधिकार नहीं होता था, और औरतों को भी इस प्रकार का कोई हक़ नहीं था। इस तरह आबादी के सिर्फ़ एक हिस्से का इन नगर-राज्यों में नागरिकता का अधिकार मिला हुआ था, और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलों पर राय दे सकता

---

[1] सुलेमान—इसे सालोमन भी कहते हैं। इज़राईल का यह तीसरा बादशाह था। इसके पास बहुत धन था, इसलिए पुराने इतिहास में इसका राज्य शानशौकत के लिए मशहूर है। इसके गीत और कविताएँ भी प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि यह बड़ा बुद्धिमान और इन्साफ़-पसन्द बादशाह था। इसकी अ.लमन्दी की बहुत-सी कहानियाँ मशहूर हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। इन नागरिकों के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नहीं था, क्योंकि सब-के-सब एक ही जगह पर इकट्ठे किये जा सकते थे। यह इसलिए होना सम्भव था कि ये छोटे-छोटे नगर-राज्य थे, किसी एक सरकार की मातहती में कोई बड़ा देश नहीं था। भारतभर के, या बंगाल या उत्तर प्रदेश जैसे सिर्फ़ एक प्रदेश के ही वोटरों के एक जगह जमा होने की ज़रा कल्पना तो करो! ऐसा करना बिलकुल असम्भव है। बाद को दूसरे देशों को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। तब इसके लिए 'प्रतिनिधि सरकार' का हल ढूँढ़ निकाला गया। इसका मतलब यह हुआ कि किसी मामले का फ़ैसला करने के लिए देशभर के सारे वोटरों को इकट्ठा करने के बजाय लोग अपने 'प्रतिनिधि' चुन देते हैं, जो इकट्ठे होकर देश से सम्बन्ध रखनेवाले सार्वजनिक मामलों पर विचार करते हैं और देश के लिए क़ानून बनाते हैं। यह समझा जाता है कि साधारण वोटर इस तरह अपने देश के शासन में परोक्ष रूप से सहायता देता है।

लेकिन इस चीज़ का यूनान से कोई ताल्लुक़ नहीं। यूनान ने कभी नगर-राज्य से बड़ी कोई राजनीतिक इकाई बनाई ही नहीं। और इस तरह वह इस मुश्किल सवाल को टाल गया। हालाँकि यूनानी लोग, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, यूनान भर में, और दक्षिण-इटली, सिसली और भूमध्यसागर के दूसरे किनारों पर फैल गये थे, लेकिन इन लोगों ने अपने अधीन इन सब देशों में कोई साम्राज्य या एक सरकार बनाने की कोशिश नहीं की। जहाँ कहीं ये गये, वहीं इन्होंने अपना अलग नगर-राज्य क़ायम कर लिया।

तुम देखोगी कि शुरू के ज़माने में भारत में भी, यूनान के नगर-राज्यों की तरह के ही, छोटे-छोटे गणराज्य या छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। लेकिन मालूम होता है कि वे बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहे और बड़े राज्यों में समा गये। इस पर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवों की पंचायतों के हाथों में बहुत बड़ी ताक़त रही। शायद पुराने आर्यों की पहली प्रेरणा यही होती थी, कि जहाँ-जहाँ जायँ वहीं छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें। लेकिन भौगोलिक परिस्थितियों और अपने से पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने इन्हें अपने इन विचारों को, उन देशों में, जहाँ जाकर ये बसे, धीरे-धीरे छोड़ने पर मजबूर कर दिया। ईरान में ख़ासतौर से हम देखते हैं कि बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य क़ायम हुए। भारत में भी बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित करने की ओर झुकाव रहा। लेकिन यूनान में नगर-राज्य बहुत दिनों तक क़ायम रहे, और उस समय तक बने रहे, जबतक कि एक इतिहास-प्रसिद्ध यूनानी ने दुनिया को जीतने की सबसे पहली बार कोशिश की। इसका नाम था अलेक्सान्दर या सिकन्दर महान्। इसके बारे में बाद को कुछ कहूँगा।

इस तरह यूनानी लोगों ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यों को मिलाकर कोई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ा राज्य, सल्तनत या गणराज्य बनाना पसन्द नहीं किया। यही नहीं कि ये लोग एक-दूसरे से अलग और स्वतन्त्र रहे हों, बल्कि ये लोग क़रीब-क़रीब हमेशा आपस में लड़ते भी रहे। इनमें आपस में बड़ी प्रतिस्पर्धा रहा करती थी, जिसका नतीजा अक्सर लड़ाई होता था।

फिर भी इन नगर-राज्यों को आपस में जोड़नेवाली बहुत-सी समान कड़ियाँ थीं। इनकी भाषा एक थी, संस्कृति एक थी और मज़हब एक था। इनके धर्म में अनेक देवी और देवता माने जाते थे और इनकी पौराणिक गाथाएँ हिन्दुओं की पुरानी पौराणिक गाथाओं की तरह बड़ी सुन्दर और प्रचुर थीं। ये लोग सौन्दर्य के पुजारी थे। आज भी इनकी बनाई हुई संगमरमर और पत्थर की कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं, जिनकी सुन्दरता आश्चर्यजनक है। स्वस्थ और सुन्दर शरीर में इनकी बहुत रुचि थी और इसके लिए ये लोग खेल-कूद और दौड़ों की व्यवस्था करते रहते थे। यूनान के ओलिम्पिया नामक स्थान पर समय-समय पर इस तरह के खेल बड़े पैमाने पर हुआ करते थे और यूनान भर के लोग वहाँ जमा होते थे। तुमने सुना होगा कि ओलिम्पिक खेल आजकल भी होते हैं। यह नाम ओलिम्पिया में होनेवाले पुराने यूनानी खेलों से लिया हुआ है, और अब उन खेलों के लिए इस्तेमाल किया जाता है, जो भिन्न-भिन्न देशों के बीच होते हैं और जितमें सर्वोत्तम खिलाड़ी चुने जाते हैं।

इस तरह यूनान के नगर-राज्य अलग-अलग रहते थे, जो खेलों में आपस में मिला करते थे लेकिन अक्सर आपस में लड़ा भी करते थे। मगर जब बाहर से कोई बड़ा खतरा आता दिखाई देता तो उसका मुक़ाबला करने के लिए वे सब एक हो जाते। ऐसा एक ख़तरा ईरानियों का हमला था, जिसके बारे में आगे लिखूंगा।

: ८ :

पश्चिमी एशिया के साम्राज्य

१३ जनवरी, १९३१

कल तुम सब लोगों से मुलाक़ात हो गई, यह अच्छा हुआ। लेकिन दादू को देखकर मुझे सदमा पहुँचा। वह बहुत कमज़ोर और बीमार मालूम पड़ते थे। उनकी देखभाल अच्छी तरह करना और उन्हें फिर तन्दुरुस्त और तगड़ा बना देना। कल मैं तुमसे बात ही न कर सका। थोड़ी देर की मुलाक़ात में कोई क्या कर सकता है? बहुत अर्से से जो मुलाक़ातें और बातचीतें नहीं हुईं उनकी कमी मैं इन पत्रों को लिख कर पूरी करने की कोशिश करता हूँ। लेकिन ये पत्र उनकी जगह नहीं ले सकते और यह दिल-बहलावा ज्यादा देर नहीं टिकता। फिर भी, कभी-कभी दिल को फुसलाने का खेल भी फ़ायदेमन्द होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा, तो अब प्राचीन काल के लोगों की चर्चा फिर शुरू की जाय। हाल में हम पुराने यूनानियों का ज़िक्र कर रहे थे। उस समय दूसरे देशों की क्या हालत थी? हमें यूरोप के दूसरे देशों के लिए परेशान होने की ज़रूरत नहीं। हमें, कम-से-कम मुझको, इन देशों के बारे में कोई दिलचस्प बात नहीं मालूम। उस समय उत्तरी यूरोप की जलवायु शायद बदल रही थी, जिसकी वजह से नई परिस्थिति ज़रूर पैदा हो गई होगी। शायद तुम्हें याद हो, लाखों-करोड़ों वर्ष पहले उत्तरी यूरोप और उत्तरी एशिया में बहुत कड़ी सरदी पड़ती थी। इस ज़माने को 'हिमयुग'[1] कहते हैं, जब बर्फ़ की विशाल नदियाँ मध्य-यूरोप तक फैली हुई थीं। उस वक़्त आदमी तो शायद पैदा ही नहीं हुआ था और अगर उसका अस्तित्व हो भी तो वह मानव की वनिस्बत जानवर जैसा ज़्यादा रहा होगा। तुम्हें आश्चर्य होगा कि आज हम यह कैसे कह सकते हैं कि उस ज़माने में वहाँ हिम-नदियाँ हुआ करती थीं। पुस्तकों में तो उनका कोई ज़िक्र हो ही नहीं सकता, क्योंकि उस ज़माने में न तो पुस्तकें थीं और न उनके लिखनेवाले। लेकिन मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम यह न भूली होगी कि प्रकृति की भी एक पुस्तक होती है। वह अपना इतिहास अपने तरीक़े से चट्टानों और पत्थरों में लिखा करती है और इसे वहाँ जिसकी इच्छा हो वह पढ़ सकता है। इसे एक तरह की आत्म-कथा यानी खुद अपनी कहानी कहना चाहिए। बर्फ़ की नदियों में एक बात यह होती है कि वे अपनी हस्ती के खास निशान छोड़ जाती हैं। एक बार तुम इन निशानों को पहचानने लगो, तो फिर बहुत जल्दी इन्हें समझ सकती हो। अगर तुम इन निशानों का अध्ययन करना चाहती हो, तो सिर्फ़ यह करना पड़ेगा कि आजकल की किसी हिम-नदी को, हिमालय में, आल्प्स पर या दूसरी जगह जाकर, देख आओ। आल्प्स पर तुमने माउण्ट ब्लांक[2] के आसपास बहुत-सी हिम-नदियाँ देखी होंगी। लेकिन उस समय तुम्हें शायद किसीने इनके खास निशान नहीं बतलाये। कश्मीर में और हिमालय के दूसरे हिस्सों में भी बहुत-सी सुन्दर हिम-नदियाँ हैं। हम लोगों के लिए सबसे नज़दीक पिंडारी हिम-नदी है, जो अल्मोड़े से हफ़्ते भर की मंज़िल पर है। जब मैं छोटा था—जितनी बड़ी तुम आज हो, उससे भी छोटा—तो मैं एक बार इस हिम-नदी को देखने गया था और आज भी मुझे उसकी स्पष्ट याद बनी है।

---

[1] हिम-युग—हिम का मतलब बर्फ़ है, इसलिए इसे बर्फ़-युग भी कह सकते हैं। सृष्टि का यह सबसे पुराना युग है, और बर्फ़-युग इसलिए कहलाता है कि उस समय दुनिया के बहुत-से हिस्से बर्फ़ से ढंके हुए थे। इस युग के चार काल हुए हैं, और चौथा काल ईसा से पचास हज़ार साल पहले का है।

[2] माउण्ट ब्लांक—यह स्विट्ज़रलैण्ड में आल्प्स पहाड़ों की सबसे ऊँची चोटी है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास और गुज़रे ज़माने को छोड़कर मैं हिम-नदियों और पिंडारी की चर्चा में वह गया। मन को फुसलाने के खेल का यही नतीजा होता है। मैं यह चाहता हूँ कि सम्भव हो तो तुमसे इस ढंग से बात करूँ, मानों तुम यहीं हो। और ऐसा करने के लिए हमें कभी-कभी हिम-नदियों और इसी तरह की दूसरी जगहों की कुछ खयाली सैर ज़रूर करनी चाहिए।

मैंने हिम-नदियों की चर्चा इसलिए शुरू कर दी कि बीच में हिम-युग का ज़िक्र आ गया था। हम कह सकते हैं कि हिम-नदियाँ मध्य यूरोप और इंग्लैण्ड तक उतर आई थीं, क्योंकि इन देशों में अभी तक इनके खास निशान पाये जाते हैं। पुरानी चट्टानों पर ये निशान आज भी मिलते हैं और इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय मध्य और उत्तर यूरोप में बहुत ज़्यादा सर्दी रही होगी। बाद को जलवायु कुछ गर्म हुई और हिम-नदियाँ धीरे-धीरे पीछे खिसकती गईं। भूगर्भ-शास्त्री, यानी पृथ्वी की रचना के इतिहास का अध्ययन करनेवाले हमें बताते हैं कि सर्दी की इस लहर के बाद गर्मी की लहर आई और तब यूरोप आज से भी ज़्यादा गर्म हो गया था। इस गर्मी की वजह से यूरोप में घने जंगल पैदा हो गये।

आर्य लोग घूमते-घामते मध्य यूरोप तक जा पहुँचे। मालूम होता है, उस समय उन्होंने वहाँ कोई खास उल्लेखनीय काम नहीं किया। इसीलिए हम फ़िलहाल उन्हें छोड़ सकते हैं। यूनान और भूमध्यसागर के सभ्य लोग शायद उत्तर और मध्य यूरोप के इन लोगों को बर्बर ही समझते रहे। लेकिन ये बर्बर लोग अपने जंगलों और गाँवों में स्वस्थ और योद्धाओं की ज़िन्दगी गुज़ारते थे, और अनजान में अपने को उस दिन के लिए तैयार कर रहे थे, जब इन्हें दक्षिण की अधिक सभ्य जातियों पर टूट पड़ना था और उनकी सरकारों को ढहा देना था। लेकिन यह बात बहुत समय बाद हुई और हमें आगे की बात का ज़िक्र अभी नहीं करना चाहिए।

अगर हमें उत्तरी यूरोप के बारे में कुछ नहीं मालूम है, तो विशाल महा-द्वीपों और ज़मीन के लम्बे-चौड़े खण्डों के बारे में तो हम बिलकुल ही नहीं जानते। कहते हैं कि कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की, लेकिन इसका यह मतलब नहीं, जैसा कि अब हमें पता लगता जा रहा है, कि कोलम्बस के वहाँ पहुँचने से पहले इस देश में सभ्य लोग थे ही नहीं। कुछ भी हो, जिस ज़माने की हम बात कर रहे हैं, उस समय के अमेरिका के बारे में हम कुछ नहीं जानते। अफ़्रीका के महाद्वीप के बारे में भी हम कुछ नहीं जानते, लेकिन मिस्र का और भूमध्यसागर के किनारों का इसमें अपवाद करना होगा। इस ज़माने में शायद मिस्र की महान् और प्राचीन सभ्यता पतन की तरफ़ जा रही थी। लेकिन, फिर भी यह उस ज़माने में बहुत उन्नत देश था।

अब हमें यह देखना है कि एशिया में क्या हो रहा था। इस महाद्वीप में, जैसा कि तुम जानती होगी, प्राचीन सभ्यता के तीन केन्द्र थे, इराक़, भारत और चीन।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस प्राचीन काल में भी इराक़, ईरान और एशिया कोचक में कितने ही साम्राज्य एक के बाद एक बनते और बिगड़ते रहे। यहाँ अशर, मीदिया,[1] बाबुल और बाद में ईरानी साम्राज्य बने। हमें इस विवरण में जाने की ज़रूरत नहीं कि ये साम्राज्य आपस में कैसे लड़ते थे या कुछ दिन शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे रहते थे, या इन्होंने एक-दूसरे को कैसे नष्ट किया। पश्चिमी एशिया के साम्राज्यों और यूनान के नगर-राज्यों के अन्तर पर तुमने ग़ौर किया होगा। एशिया में बहुत शुरू के ज़माने से ही बड़े राज्य या साम्राज्य के लिए ज़बर्दस्त लगन पाई जाती थी। शायद इसका कारण इसकी पुरानी सभ्यता थी, या शायद कोई दूसरी वजह भी हो सकती है।

एक नाम सुनकर तुम्हें ज़रूर दिलचस्पी होगी। यह नाम क़ारूँ का है जो तुमने सुना होगा। 'क़ारूँ का ख़ज़ाना' एक मशहूर कहावत है। तुमने इस क़ारूँ के क़िस्से भी पढ़े होंगे कि यह कितना धनवान और घमण्डी था और उसे किस तरह नीचा देखना पड़ा। क़ारूँ लिदिया का राजा था। यह देश एशिया के पश्चिमी तट पर था, जहाँ आज एशिया कोचक है। समुद्र के किनारे होने की वजह से यहाँ का व्यापार शायद खूब बढ़ा हुआ था। उसके ज़माने में क़ुरुष[2] की मातहती में ईरानी साम्राज्य तरक़्क़ी कर रहा था और ताक़तवर होता जाता था। क़ुरुष और क़ारूँ में मुठभेड़ हो गई और क़ुरुष ने क़ारूँ को हरा दिया। यूनानी इतिहास-लेखक हिरोदोत[3] ने इस पराजय की कहानी लिखी है और बताया है कि किस तरह मुसीबत पड़ने पर घमण्डी क़ारूँ को अक़्ल और समझ आई।

क़ुरुष के पास बहुत बड़ा साम्राज्य था, जो शायद पूर्व में भारत तक फैला हुआ था। लेकिन उसके एक उत्तराधिकारी दारा के पास इससे भी बड़ा साम्राज्य था, जिसमें मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास का भारत का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था। कहा जाता है कि उसके इस भारतीय प्रान्त

---

[1] मीदिया—ईसा के ७०० बरस पहले का एशिया का एक पुराना साम्राज्य, जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर था। ई० पू० ३३१ में सिकन्दर ने इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। बाद में यूनानियों के पतन के बाद ईरानी साम्राज्य में मिला लिया गया और उसके बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

[2] क़ुरुष या साइरस—यह ईरानी साम्राज्य का प्रवर्त्तक सम्राट् था। इसका समय ईसा से ६०० से लगाकर क़रीब ५२९ साल पहले तक है। यह बड़ा प्रतापी सम्राट् था, इसीलिए इसे 'महान्' की उपाधि मिली थी।

[3] हिरोदोत या हेरोडोटस—मशहूर यूनानी इतिहास-लेखक। इसका समय ईसा से क़रीब ४८४ से ४२४ साल पहले था। इसके इतिहास का मुख्य विषय

CC-0:Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सैकड़ों मन सुनहली रेत[1] उसे खिराज के तौर पर भेजी जाती थी। उस ज़माने में सिन्ध नदी के किनारे सुनहली रेत पाई जाती होगी। आजकल वहाँ इसका निशान भी नहीं मिलता। सच तो यह है कि इस प्रान्त का ज़्यादातर हिस्सा आजकल ऊसर है। इससे ज़ाहिर होता है कि यहाँ की जलवायु कितनी बदल गई है।

जब तुम इतिहास पढ़ोगी और पुराने ज़माने की हालत की आजकल की हालत से तुलना करोगी, तो एक बात जो तुम्हें सबसे ज़्यादा दिलचस्प मालूम होगी वह है मध्य-एशिया में होनेवाला परिवर्त्तन। वह वही प्रदेश है जहाँ से अनगिनती क़बीले—स्त्री और पुरुषों के दल-के दल—बाहर निकले और फैलते-फैलते दूर-दूर तक के महाद्वीपों में पहुँच गये। यही जगह है जहाँ पुराने ज़माने में बड़े-बड़े और शक्तिशाली शहर थे—खूब घने बसे हुए और मालामाल—जिनकी तुलना आजकल की यूरोपीय राजधानियों से की जा सकती है और जो आजकल के कलकत्ते और बम्बई से कहीं बड़े थे। हर जगह बग़ीचे और हरियाली थी—और जलवायु सुखद और सम थी, यानी न बहुत गर्म और न बहुत सर्द। यह प्रदेश ऐसा ही था। लेकिन अब हज़ारों वर्षों से यह बंजर और क़रीब-क़रीब रेगिस्तान हो गया है, जहाँ आदमियों को रहने में बड़ी तकलीफ़ होती है। उस ज़माने के विशाल नगरों में से कुछ नगर—जैसे समरक़न्द[2] और बुख़ारा—जिनके नाम से ही अनेक स्मृतियाँ जग उठती हैं, अब भी अपने दिन गिन रहे हैं। लेकिन अब तो ये अपने पुराने रूप की छाया-मात्र रह गये हैं।

पर मैं फिर आगे की बात कहने लगा। उस पुराने ज़माने में, जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं, न समरक़न्द था न बुख़ारा। ये सब बाद में होनेवाली बातें थीं। उस वक़्त तो ये भविष्य के गर्भ में छिपे थे और मध्य-एशिया की महानता और उसका पतन भी तबतक भविष्य की बात थी।

: ९ :

पुरानी परम्परा का बोझ

१४ जनवरी, १९३१

जेल में मैंने अजीब आदतें पैदा कर ली हैं। उनमें से एक है बहुत सुबह, पौ

ईरान और यूनान की लड़ाई थी, और उसमें उस ज़माने का अच्छा वर्णन है। इसे इतिहास का जन्मदाता अथवा पिता कहा जाता है।

[1] सुनहली रेत—कई नदियों के किनारे पाई जानेवाली रेत, जिसमें से सोना निकाला जाता है।

[2] समरक़न्द—मध्य-एशिया का एक मशहूर शहर है। इसका पुराना नाम माराकण्डा है। चौदहवीं सदी में यह मुस्लिम एशिया का सांस्कृतिक केन्द्र था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फटने से भी पहले, उठना। यह आदत मैंने पिछली गर्मियों से शुरू की, क्योंकि मुझे यह देखना भला मालूम होता था कि उषा कैसे आती है और किस तरह धीरे-धीरे तारों की रोशनी को बुझा देती है। क्या तुमने कभी पौ फटने से पहले की चाँदनी देखी है और यह देखा है कि धीरे-धीरे यह तड़का दिन के रूप में कैसे बदल जाता है? मैंने चाँदनी और उषा की इस प्रतियोगिता को अक्सर देखा है, जिसमें उषा की हमेशा जीत रहती है। इस विचित्र और मन्द रोशनी में कभी-कभी यह बताना मुश्किल हो जाता है कि यह चाँदनी है या आनेवाले दिन की रोशनी है। थोड़ी ही देर के बाद कोई सन्देह बाक़ी नहीं रह जाता; दिन हो जाता है और फीका चन्द्रमा प्रतियोगिता में हार कर पीछे हट जाता है।

अपनी आदत के अनुसार मैं आज जब उठा तो तारे चमक रहे थे और तड़के से पहले हवा में जो अजीब ताज़गी होती है उससे कोई भी अन्दाज़ लगा सकता था कि सुबह होनेवाली है। और ज्योंही मैं पढ़ने बैठा कि दूर से आनेवाली आवाज़ों और मरमराहटों ने, जो बढ़ती ही जाती थीं, सवेरे की शान्ति को भंग कर दिया। मुझे याद आ गया कि आज संक्रांति यानी माघ मेले का पहला पर्व है,और यात्री लोग हज़ारों की तादाद में संगम में—जहाँ गंगा, यमुना और गुप्त सरस्वती मिलती हैं—स्नान करने जा रहे हैं। ये चलते-चलते गाते जाते थे, और कभी-कभी गंगा माता की जय पुकारते थे। 'गंगा माई की जय!' इनकी यह आवाज़ नैनी-जेल की दीवारों को लाँघकर मेरे कानों में पहुँच रही थी। इन्हें सुनकर मुझे यह ख़याल आ गया कि देखो श्रद्धा में कितनी शक्ति है कि वह इन असंख्य लोगों को नदी के किनारे खींच लाई है और ये लोग थोड़ी देर के लिए अपनी ग़रीबी और मुसीबतों को भूल गये हैं! और मैं यह सोचने लगा कि देखो सैकड़ों और हज़ारों वर्षों से हर साल यात्री लोग किस तरह त्रिवेणी की यात्रा को आते हैं। आदमी पैदा हों और मर जायँ, सरकारें और साम्राज्य कुछ दिनों के लिए शान जमा लें और फिर अतीत में ग़ायब हो जायँ, लेकिन पुरानी परम्परा बराबर जारी रहती है और पीढ़ी के बाद पीढ़ी, उसके सामने सिर झुकाती रहती है। परम्परा में बहुत-कुछ अच्छाई होती है; लेकिन कभी-कभी वह एक भयंकर बोझ बन जाती है, जिसकी वजह से हमारी प्रगति मुश्किल हो जाती है। जो अटूट ज़ंजीर धुँधले और प्राचीन अतीत से हमारा सम्बन्ध जोड़ती है, उसकी कल्पना करने से और तेरह सौ वर्ष पहले के लिखे हुए इन मेलों के, जो उस समय भी पुरानी परम्परा से चले आ रहे थे, हाल-चाल पढ़ने से चित्त मोहित हो जाता है। लेकिन इस ज़ंजीर में एक आदत यह है कि जब हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो यह हमारे पैरों में लिपट जाती है और हमें इस परम्परा के शिकंजे में कसकर क़ैदी-जैसा बना देती है। यह सच है कि अपने अतीत से जोड़नेवाली बहुत-सी लड़ियों को हमें क़ायम रखना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ेगा। लेकिन अगर यह परम्परा हमें आगे बढ़ने से रोकने लगे तो हमें उसके कैदखाने को तोड़कर बाहर भी निकलना होगा।

पिछले तीन पत्रों में हमने यह कोशिश की है कि तीन हज़ार से लगाकर ढाई हज़ार वर्ष पहले के बीच के ज़माने की दुनिया किस तरह की थी, इसकी एक तसवीर हमारे सामने खिंच जाय। मैंने तारीखों का कोई ज़िक्र नहीं किया है। मुझे तारीखें पसन्द नहीं हैं और न मैं यह चाहता हूँ कि इनके पचड़े में तुम ज्यादा पड़ो। अलावा इसके, इस पुराने ज़माने की घटनाओं की सही तारीखें जानना आसान भी नहीं है। बाद को कभी-कभी यह ज़रूरी हो सकता है कि कुछ तारीखें भी दे दी जायँ और उन्हें याद रक्खा जाय, ताकि हमें घटनाओं को ठीक सिलसिलेवार याद रखने में मदद मिल सके। अभी तो हम प्राचीन संसार की रूपरेखा ही खींचने की कोशिश कर रहे हैं।

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया कोचक और ईरान की एक झलक हम देख चुके हैं। अब हम अपने देश की तरफ़ आते हैं। भारत के प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने में हमारे सामने एक बड़ी कठिनाई आ जाती है। आदि आर्यों ने, जिन्हें अंग्रेज़ी में इण्डो-एरियन कहते हैं, इतिहास लिखने की तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया। हम अपने पिछले पत्रों में देख चुके हैं कि ये लोग बहुत-सी बातों में कितने बढ़े-चढ़े थे। इन लोगों के रचे हुए ग्रन्थ—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, वग़ैरा—ऐसे हैं जिन्हें महान् पुरुष ही लिख सकते थे। इन ग्रन्थों से और दूसरी सामग्री की मदद से हमें पुराने इतिहास का अध्ययन करने में सहायता मिलती है। इनसे हमें पूर्वजों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और विचार करने के ढंग का पता लग जाता है। लेकिन ये वास्तव में इतिहास नहीं हैं। संस्कृत में वास्तविक इतिहास की अकेली पुस्तक कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन वह बहुत बाद के ज़माने की है। उसका नाम है 'राजतरंगिणी'। उसमें कश्मीर के राजाओं का सिलसिलेवार हाल है और यह कल्हण की लिखी हुई है। तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि जिस तरह मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ, उसी तरह तुम्हारे रणजीत फूफा[1] कश्मीर के इस महान् इतिहास का संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे हैं। वह क़रीब आधा खत्म कर चुके हैं। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है। जब इसका पूरा अनुवाद प्रकाशित होगा तब हम सब बड़े चाव के साथ इसे पढ़ेंगे, क्योंकि दुर्भाग्य से हममें से बहुत-से लोग इतनी संस्कृत नहीं जानते कि मूल ग्रन्थ को पढ़ सकें। हम इस पुस्तक को सिर्फ़ इसलिए नहीं पढ़ेंगे कि यह बहुत सुन्दर है, बल्कि

[1] स्वर्गीय श्री रणजीत एस० पण्डित, श्रीमती विजयलक्ष्मी के पति तथा लेखक के बहनोई। ये भी उस समय जेल में थे। 'राजतरंगिणी' का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए भी कि इससे हमें पुराने ज़माने का बहुत-कुछ हाल मालूम होगा—ख़ासकर कश्मीर का, जो कि तुम जानती हो, अपना पुराना वतन है।

जब आर्यों ने भारत में क़दम रक्खा, यह देश पहले ही सभ्य हो चुका था। वास्तव में उत्तर-पश्चिम में मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहरों से अब यह सही तौर पर मालूम पड़ता है कि आर्यों के आने के बहुत दिन पहले से इस देश में एक महान् सभ्यता मौजूद थी। लेकिन इसके बारे में अभी तक हम कुछ ज़्यादा नहीं जानते। सम्भव है, कुछ वर्षों के अन्दर ही जब हमारे पुरातत्त्ववेत्ता[1] वहाँ जो कुछ मिल सकता है, उसे खोज निकालेंगे, तब हम उसके बारे में कुछ ज़्यादा जान सकेंगे।

बहरहाल इसके अलावा भी यह प्रकट होता है कि उस समय दक्षिण भारत में, और शायद उत्तर भारत में भी, द्रविड़ों की एक समृद्ध सभ्यता थी। इनकी भाषाएँ, जो आर्यों की संस्कृत से निकली हुई नहीं हैं, बहुत पुरानी हैं और इनमें बड़ा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओं के नाम हैं तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम। ये भाषाएँ दक्षिण भारत में आजकल भी फूल-फल रही हैं। शायद तुम्हें मालूम होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) ने भारत के प्रान्त भाषाओं के आधार पर बनाये हैं, हालाँकि अंग्रेज़ सरकार ने ऐसा नहीं किया है। यह तरीक़ा बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे एक तरफ़ के लोग, जो एक ही भाषा बोलते हैं, और जिनके रस्म-रिवाज आमतौर से एक ही तरह के हैं, एक प्रान्तीय क्षेत्र में आ जाते हैं। दक्षिण में काँग्रेस के माने हुए प्रान्त ये हैं—उत्तरी मद्रास में आन्ध्र देश, जहाँ तेलुगू बोली जाती है; दक्षिणी मद्रास में तमिलनाड़, जहाँ तमिल भाषा बोली जाती है; बम्बई प्रान्त के दक्षिण में कर्नाटक, जहाँ कन्नड़ भाषा बोली जाती है; और केरल, जो क़रीब-क़रीब मलाबार ही है, जहाँ मलयालम भाषा बोली जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि भारत आगे चलकर जब प्रान्तों में बाँटा जायगा, तो क्षेत्रीय भाषा पर बहुत ध्यान दिया जायगा।

यहाँ पर मैं भारत की भाषाओं के बारे में ज़रा कुछ और कह दूं। यूरोप और दूसरे मुल्कों के कुछ लोग समझते हैं कि भारत में सैकड़ों भाषाएँ बोली जाती हैं। यह बिलकुल बेहूदा बात है और ऐसा करनेवाला ख़ुद अपना ही अज्ञान ज़ाहिर करता है। यह सच है कि भारत-जैसे बड़े देश में बहुत-सी बोलियाँ हैं, जो स्थान-भेद के अनुसार किसी एक भाषा के अलग-अलग रूप हैं। यहाँ के पहाड़ी और दूसरे हिस्सों में भी कितनी ही छोटी-मोटी जातियाँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी ख़ास बोलियाँ हैं। लेकिन अगर सारे भारत को एक साथ लिया जाय तो इन सबका कोई महत्व नहीं रह जाता। उनका महत्व सिर्फ़ मर्दुमशुमारी के ख़याल से ही है। जैसा कि

---

[1] पुरातत्त्ववेत्ता—पुराने ज़माने के खण्डहरों और बाक़ी बचे निशानों का ख़ास अध्ययन करनेवाले विद्वान्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा ख़याल है, मैंने अपने एक पिछले पत्र में लिखा है कि भारत की असली भाषाएँ दो परिवारों में बाँटी जा सकती हैं—पहला परिवार द्रविड़ भाषा का है, जिसका ऊपर ज़िक्र आ चुका है, और दूसरा भारतीय आर्य-जाति की भाषा का है। भारतीय आर्यों की मुख्य भाषा संस्कृत थी और भारत की सारी आर्य-भाषाएँ—हिन्दी, बँगला, गुजराती और मराठी—संस्कृत से निकली हैं। इसके अलावा कुछ और भेद भी हैं। असम में असमी है, उड़ीसा या उत्कल में उड़िया बोली जाती है। उर्दू भी हिन्दी का ही एक भेद है। हिन्दुस्तानी शब्द का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनों से है। इस तरह भारत की मुख्य भाषाएँ सिर्फ़ दस हैं—हिन्दुस्तानी, बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया और असमी। इनमें से हिन्दुस्तानी, जो अपनी मातृभाषा है, सारे उत्तर भारत में—पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और मध्यभारत में—बोली जाती है। यह बहुत बड़ा हिस्सा है, जिसमें करीब पन्द्रह करोड़ आदमी बसते हैं। इस प्रकार तुम देखोगी कि अभी भी पन्द्रह करोड़ आदमी कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ हिन्दुस्तानी बोलते हैं और तुम यह अच्छी तरह जानती ही हो कि भारत के ज़्यादातर हिस्सों के लोग हिन्दुस्तानी समझते हैं। भारत के सब लोगों की भाषा शायद यही बनेगी। लेकिन इसका यह मतलब कभी भी नहीं है कि दूसरी मुख्य भाषाएँ, जिनका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, ख़त्म हो जायँ। बेशक ये प्रान्तीय भाषाओं की हैसियत से बनी रहेंगी, क्योंकि इनमें सुन्दर साहित्य पाया जाता है और किसी जाति की समुन्नत भाषा को छीन लेने की कोशिश किसी भी हालत में नहीं की जानी चाहिए। किसी क़ौम के विकास और उसके बच्चों की शिक्षा का एकमात्र साधन उसकी अपनी भाषा ही है। भारत में आज हरेक चीज़ उलट-पुलट हो रही है और हम आपस में भी अंग्रेज़ी बहुत ज़्यादा इस्तेमाल करते हैं। तुम्हें अंग्रेज़ी में पत्र लिखना मेरे लिए एक भद्दी बात है—फिर भी मैं ऐसा कर रहा हूँ। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हम लोग जल्दी ही इस आदत से छुटकारा पा जायँगे।

: १० :

प्राचीन भारत के ग्राम-गणराज्य

१५ जनवरी, १९३१

प्राचीन इतिहास का अपना निरीक्षण हम कैसे आगे बढ़ावें? मैं हमेशा सीधा रास्ता छोड़ देता हूँ और इधर-उधर की पगडण्डियों पर भटक जाता हूँ। पिछले पत्र में मैं इस विषय पर पहुँच ही रहा था कि मैंने भारत की भाषाओं की बात छेड़ दी।

अच्छा, अब फिर प्राचीन भारत की चर्चा करें। तुम जानती हो कि जो देश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है वह उस समय, और बाद में भी बहुत वर्षों तक, भारत का एक हिस्सा था। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता था। सारे उत्तर में, सिन्ध और गंगा के मैदान में, आर्यों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। बाहर से आये हुए ये आर्य लोग शायद इमारतें बनाने की कला अच्छी तरह जानते थे, क्योंकि इनमें-से बहुत-से ईरान और इराक़ की आर्यों की बस्तियों से आये हुए होंगे, जहाँ उस समय भी बड़े-बड़े शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियों के बीच बहुत-से जंगल थे, ख़ासकर उत्तर और दक्षिण भारत के बीच में तो एक बहुत बड़ा जंगल था। यह सम्भव नहीं मालूम होता कि आर्य लोगों की कोई बड़ी संख्या इन जंगलों को पार करके दक्षिण में बसने गई हो। हाँ, बहुत-से व्यक्ति खोज और व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और संस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण ज़रूर गये होंगे। पौराणिक कथा है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे, जो दक्षिण गये और आर्य-धर्म तथा आर्य-संस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय भारत और विदेशों के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। विदेशी व्यापारी दक्षिण की काली मिर्च, मोती और सोने के लालच से समुद्र पार करके यहाँ आते थे। यहाँ से शायद चावल भी बाहर जाता था। बाबुल के पुराने राज-महलों में मलाबार का सागवान मिला है।

आर्यों ने भारत में धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण प्रणाली का विकास किया। इस प्रणाली में कुछ पुरानी द्रविड़-ग्राम-प्रथा का और कुछ आर्य-विचारों का मेल-जोल था। ये गाँव क़रीब-क़रीब स्वतन्त्र होते थे और चुनी हुई पंचायतें इन पर शासन करती थीं। कई गाँवों या छोटे क़स्बों को मिलाकर उनपर एक राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवों के अनेक समुदाय एक-दूसरे से सहयोग करके सड़कें, धर्मशालाएँ, सिंचाई के लिए नहरें, या इस प्रकार की सामुदायिक चीज़ें, जो सब लोगों के फ़ायदे की होती थीं, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था, लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे आर्यों के क़ानूनों और प्रथाओं के अनुसार चलना पड़ता था। उसकी प्रजा उसपर जुर्माना कर सकती थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धान्त, जिसका मैंने अपने पहले पत्रों में ज़िक्र किया था, यहाँ नहीं माना जाता था। इस तरह आर्य-बस्तियों में एक प्रकार का लोकतन्त्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रख सकती थी।

इन भारतीय आर्यों का यूनानी आर्यों से मुक़ाबिला करो। इन दोनों में बहुत-से अन्तर थे, लेकिन कितनी ही बातों में समानता भी थी। दोनों देशों में किसी-न किसी रूप में लोकतन्त्र था। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यह लोकतन्त्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिर्फ़ आर्य-वंश के लोगों के लिए ही था। इनके गुलामों या उन लोगों के लिए, जिन्हें इन्होंने नीच जाति का ठहरा दिया था, न लोकतन्त्र था, न आज़ादी। जात-पाँत की प्रणाली और उसके आजकल जैसे अनगिनती भेद उस ज़माने में नहीं थे। उस समय तो भारतीय आर्यों में समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, यानी विद्वान्, पुरोहित और ऋषि-मुनि; क्षत्रिय यानी राज करनेवाले; वैश्य, यानी वाणिज्य और व्यापार करनेवाले; और शूद्र, यानी मेहनत-मज़दूरी करनेवाले और कामगर। इस तरह यह जातिभेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जात-पाँत की प्रणाली एक हद तक इसीलिए रक्खी गई हो कि आर्य लोग विजित जाति से अपने को अलग रखना चाहते थे। आर्य लोग इतने अभिमानी और घमण्डी थे कि दूसरी जातियों को नीची निगाह से देखते थे और यह नहीं चाहते थे कि उनकी जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से घुल-मिल जायँ। जाति के लिए संस्कृत में वर्ण शब्द आता है, जिसका अर्थ रंग है। इससे यह भी प्रकट होता है कि बाहर से आनेवाले आर्य भारत के मूल निवासियों से गोरे थे।

इस प्रकार हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि एक तरफ़ तो आर्य लोगों ने श्रमिक वर्ग को दबा रक्खा था और उसे अपने लोकतन्त्र में कोई हिस्सा नहीं देते थे; दूसरी तरफ़ उन्होंने अपने लिए बहुत ज्यादा आज़ादी रक्खी थी। ये लोग इस बात को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे कि उनके राजा या शासक अनुचित व्यवहार करें। अगर कोई शासक अनुचित व्यवहार करता था तो हटा दिया जाता था। आमतौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लड़ाइयों या अन्य संकटों के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर इतना योग्य होता, तो राजगद्दी पा सकता था। इसके बाद आर्य लोगों का पतन हो गया और उनकी जाति-प्रणाली जड़ हो गई। बहुत-से विभाग हो जाने की वजह से देश कमज़ोर पड़ गया और नीचे गिर गया। ये लोग आज़ादी की पुरानी भावना को भी भूल गये, क्योंकि पुराने ज़माने में यह कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलंकित करने के बजाय उसके लिए मर जाना कहीं ज्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यों की बस्तियाँ, क़स्बे और गाँव ऊटपटाँग तरीके से नहीं बस गये थे। वे नक़शों के अनुसार बसाये जाते थे, और तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इन नक़शों के तैयार करने में रेखागणित से बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओं में भी रेखागणित की शकलें काम में आती थीं। आज भी अनेक हिन्दू घरों में बहुत-सी पूजाओं में ये शकलें काम आती हैं। बात यह है कि मकानों और शहरों की रचना से रेखागणित का बहुत निकट का सम्बन्ध है?

सम्भव है, शुरू में पुराने आर्यों के गाँव क़िलेबन्द छावनी के समान हुआ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते थे, क्योंकि उस ज़माने में हमलों का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्मनों के हमलों का डर नहीं रहा तब भी वही नक़शा जारी रहा। यह नक़शा चतुर्भुज आकार का होता था, जिसमें चारों तरफ़ परकोटा होता था और इसमें चार बड़े फाटक और चार छोटे दरवाज़े रक्खे जाते थे। परकोटे के अन्दर एक ख़ास तरतीब में सड़कें और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच में पंचायत-घर होता था, जहाँ गाँव के बड़े-बूढ़े इकट्ठे होते थे। छोटे गाँवों में पंचायत-घर के बजाय कोई एक बड़ा पेड़ ही हुआ करता था। हर साल गाँव के सब नागरिक इकट्ठे होकर अपनी पंचायत चुनते थे।

बहुत से विद्वान् लोग सादा जीवन बिताने और शान्ति के साथ अध्ययन या कार्य करने के लिए क़स्बों या गाँवों के आस-पास के जंगलों में चले जाते थे। इनके पास शिष्य इकट्ठे हो जाते थे और धीरे-धीरे इन गुरुओं और विद्यार्थियों की नई बस्तियाँ बनती गईं। हम इन बस्तियों को आजकल के विश्वविद्यालय कह सकते हैं। इन जगहों पर कोई शानदार इमारतें नहीं हुआ करती थीं, लेकिन जिनको ज्ञान की तलाश होती थी वे बड़ी-बड़ी दूर से विद्याध्ययन के इन केन्द्रों में आया करते थे।

आनन्द भवन[1] के सामने भारद्वाज आश्रम है। तुम इसे अच्छी तरह जानती हो। शायद तुम्हें यह भी मालूम है कि भारद्वाज रामायण के पुराने ज़माने के बहुत विद्वान् ऋषि माने गये हैं। कहा जाता है कि रामचन्द्र अपने वनवास के समय में इनके यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि भारद्वाज के आश्रम में हज़ारों शिष्य और विद्यार्थी रहा करते थे। यहाँ एक अच्छा-ख़ासा विश्वविद्यालय रहा होगा और भारद्वाज उसके आचार्य रहे होंगे। उस ज़माने में यह आश्रम गंगा के किनारे था। यह बहुत सम्भव है, हालाँकि अब गंगा यहाँ से क़रीब एक मील दूर चली गई हैं। हमारे बग़ीचे की मिट्टी कहीं-कहीं बहुत रेतीली है और सम्भव है कि यह हिस्सा उस ज़माने में गंगा की तलहटी में रहा हो।

ये प्रारम्भकाल के दिन भारत में आर्यों का एक महान् काल था। दुर्भाग्य से इस काल का हमें कोई इतिहास नहीं मिलता और उस समय की जो बातें हमें मालूम हैं, उनके लिए हमें अनैतिहासिक ग्रन्थों पर ही भरोसा करना पड़ता है। उस ज़माने के राज्य और गणराज्य ये थे—दक्षिण बिहार में मगध; उत्तर बिहार में विदेह, काशी, कोशल—जिसकी राजधानी अयोध्या थी; और पांचाल, जो गंगा और यमुना के बीच में था। पांचालों के देश में मथुरा और कान्यकुब्ज दो मुख्य शहर थे। ये शहर बाद के इतिहास में भी मशहूर रहे हैं और आज भी मौजूद हैं। कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के निकट है। उज्जैन भी प्राचीन

[1] प्रयाग में लेखक का मकान।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शहर है, लेकिन आजकल यह ग्वालियर रियासत का एक छोटा-सा नगर है। पाटलिपुत्र या पटना के निकट वैशाली का नगर था। यह लिच्छवी वंश के लोगों की राजधानी थी, जो भारत के शुरू-शुरू के इतिहास का एक मशहूर वंश है। यह राज्य गणराज्य था। इसमें प्रमुख व्यक्तियों की एक सभा शासन करती थी। इसका एक चुना हुआ सभापति होता था, जिसे नायक कहते थे।

ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा, बड़े-बड़े क़स्बे और शहर बनते गये। व्यापार बढ़ा और कारीगरों की कला और दस्तकारी ने भी उन्नति की। शहर बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र हो गये। जंगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यों के साथ रहा करते थे, बढ़कर बड़े-बड़े विश्वविद्यालय बन गये। विद्या के इन केन्द्रों में वे सब विषय पढ़ाये जाते थे, जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान था। ब्राह्मण युद्धकला भी सिखाते थे। तुम्हें याद होगा कि महाभारत में पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, जो उन्हें अन्य विषयों के साथ-साथ युद्धकला की भी शिक्षा देते थे।

: ११ :

चीन के हज़ार वर्ष

१६ जनवरी, १९३१

बाहरी दुनिया से एक ऐसी खबर मिली है, जिससे परेशानी और दुःख होता है, लेकिन फिर भी ऐसी है कि उससे हृदय गर्व और आनन्द से फूल उठता है। हम लोगों ने शोलापुरवालों की क़िस्मत का फ़ैसला सुन लिया। इस खेदजनक समाचार के फैलने पर देशभर में जो-कुछ हुआ उसका भी थोड़ा-बहुत हाल हमें मालूम हो गया। जबकि हमारे नौजवान अपनी जानों पर खेल रहे हैं और हज़ारों पुरुष और स्त्रियाँ निर्दय लाठी का मुक़ाबला कर रहे हैं, मेरे लिए यहाँ चुपचाप बैठे रहना मुश्किल हो गया है। लेकिन इससे हमें अच्छी ट्रेनिंग मिल रही है। मेरा खयाल है कि हममें से हरेक स्त्री और पुरुष को अपने-आपको कठिन-से-कठिन परीक्षा में डालने के बहुत मौक़े मिलेंगे। इस समय तो यह जानकर दिल को खुशी होती है कि हमारे लोग तक़लीफ़ों और मुसीबतों का सामना करने के लिए कैसी हिम्मत से आगे बढ़ रहे हैं और कैसे दुश्मन का हरेक नया हथियार और प्रहार इन लोगों को ज्यादा मज़बूत और प्रतिरोध के लिए ज्यादा दृढ़-संकल्प बना रहा है।

जब किसी का दिमाग़ इस तरह के ताज़ा समाचारों से भरा हो, तो दूसरी बातों का खयाल करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन कोरी उधेड़बुन से भी कोई खास फ़ायदा नहीं होता, इसलिए अगर कोई ठोस काम करना हो तो हमें अपने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

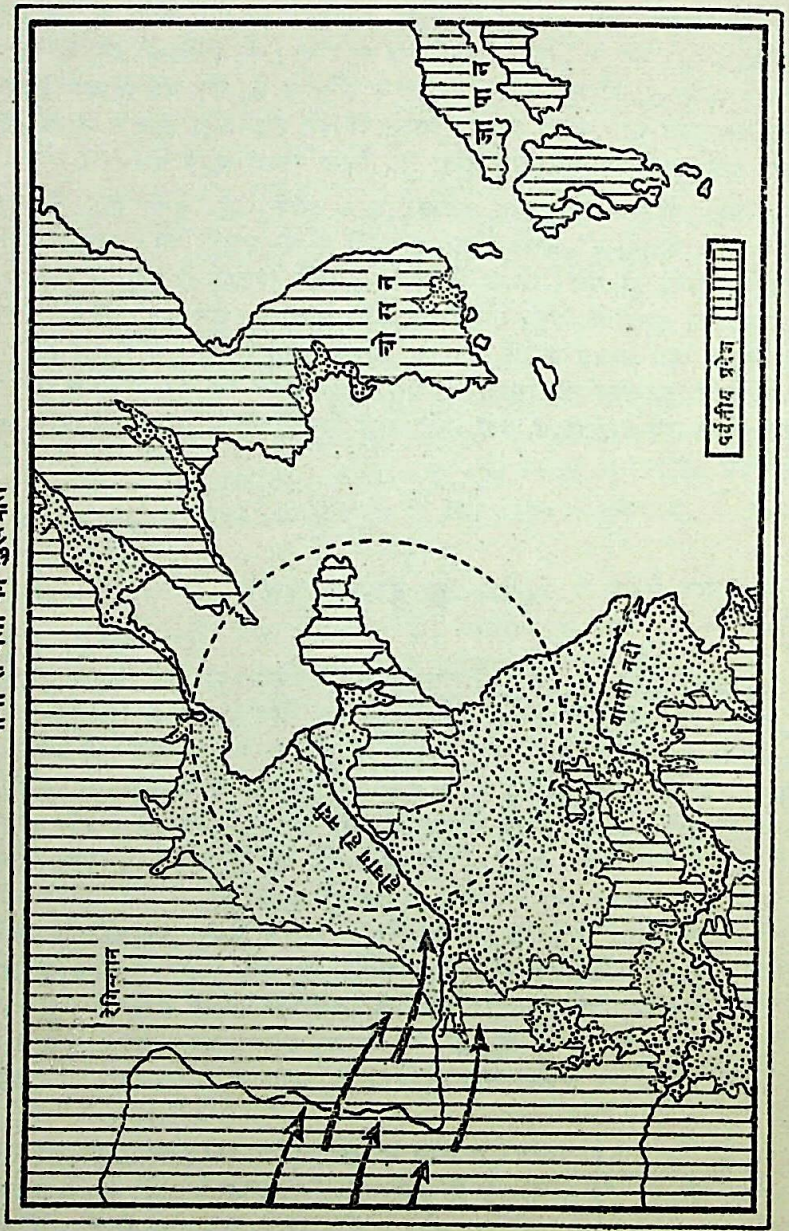

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन को क़ाबू में रखना चाहिए। इसलिए आओ, हम पुराने ज़माने को लौट चलें और थोड़ी देर के लिए अपनी मौजूदा परेशानियों से बहुत दूर चलकर रहें।

आओ, अब हम प्राचीन इतिहास में भारत के भाई चीन की चर्चा करें। चीन में और पूर्वी एशिया के जापान, कोरिया, हिन्द-चीन, स्याम, बरमा, वग़ैरा देशों में आर्य-जाति से हमें काम नहीं पड़ेगा। यहाँ तो उसके बजाय मंगोली नस्लों से परिचय करना है।

पाँच हज़ार या कुछ ज़्यादा वर्ष गुज़रे होंगे जब पश्चिम से चीन पर एक हमला हुआ था। हमला करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया से आई थीं और अपनी सभ्यता में ये अच्छी-खासी आगे बढ़ी हुई थीं। ये लोग खेती करना जानते थे और भेड़-बकरियों के बड़े-बड़े रेवड़ और मवेशियों के बड़े-बड़े झुण्ड पाला करते थे। ये लोग अच्छे-अच्छे मकान बनाना जानते थे और इनका समाज खूब विकसित था। ये लोग ह्वांगहो नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते हैं, बस गये और यहाँ इन्होंने अपने राज्य का संगठन किया। सैकड़ों वर्षों तक ये सारे चीन में फैलते रहे और अपने कला-कौशल और कारीगरी की उन्नति करते रहे। चीनी लोग ज़्यादातर किसान थे और उनके सरदार असल में उसी तरह के कुलपति थे, जिनका मैं अपने पुराने पत्रों में ज़िक्र कर चुका हूँ। छः या सात सौ वर्ष बाद, यानी अब से चार हज़ार से भी अधिक वर्ष पहले, याओ नामक एक व्यक्ति हुआ, जिसने अपने को सम्राट् कहना शुरू किया। लेकिन उस उपाधि के बावजूद उसकी स्थिति अधिकतर कुलपति की-सी ही थी, मिस्र या इराक़ के सम्राटों की-सी नहीं। चीनी लोग किसानों की तरह ही रहते थे, और वहाँ कोई ख़ास केन्द्रीय सरकार नहीं बन पाई।

मैंने तुम्हें बताया है कि पहले किस तरह लोग अपने कुलपति चुना करते थे और आगे चलकर किस तरह यह पद मौरूसी अधिकार बन गया। चीन में हम इसकी शुरुआत होती हुई देखते हैं। याओ का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नहीं हुआ, बल्कि उसने एक दूसरे व्यक्ति को नामज़द कर दिया, जो उस समय देश में सबसे ज़्यादा योग्य समझा जाता था।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी हो गया, और कहा जाता है कि चार सौ वर्ष से ज़्यादा तक हिस्या नामक राजवंश ने चीन पर हुकूमत की। हिस्या वंश का आख़िरी राजा बहुत ज़ालिम था। नतीजा यह हुआ कि एक क्रान्ति हुई, जिसने उसे उखाड़ फेंका। इसके बाद शैङ या चिङ नामक दूसरे राजवंश के हाथों में सत्ता आई और यह क़रीब ६५० वर्षों तक चली।

एक छोटे-से पैरे में, दो या तीन छोटे-छोटे वाक्यों में, मैंने चीन का एक हज़ार वर्षों से ज़्यादा का इतिहास ख़त्म कर दिया। क्या यह ताज्जुब की बात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है कि इतिहास के इतने विस्तारों को कोई इस तरह निबटा दे? लेकिन तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि मेरे छोटे-से पैरे की वजह से इन हज़ार या ग्यारह सौ वर्षों की लम्बाई कम नहीं होती। हम दिनों, महीनों और सालों के ख़याल के आदी हो गये हैं। तुम्हारे लिए तो सौ साल की भी स्पष्ट कल्पना कर सकना मुश्किल है। तुम्हें तो अपने तेरह वर्ष ही बहुत मालूम होते होंगे! है न यह बात सच? और हर साल तुम और भी बड़ी होती जाती हो। तब फिर तुम अपने दिमाग़ में इतिहास के एक हज़ार वर्षों की कल्पना किस तरह कर सकती हो? यह एक बहुत लम्बा ज़माना है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी आती है और चली जाती है। क़स्बे बढ़कर बड़े-बड़े शहर हो जाते हैं और फिर उजड़कर मिट्टी में मिल जाते हैं और उनकी जगह दूसरे शहर बस जाते हैं। इतिहास के पिछले एक हज़ार वर्षों का ख़याल करो, तब शायद तुम्हें इस तरह का कुछ बोध हो सके। पिछले एक हज़ार वर्षों में इस दुनिया में कितने आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गये हैं!

चीन का इतिहास, उसकी प्राचीन संस्कृति की लम्बी परम्परा और उसके एक-एक राजवंश, जो पाँच सौ से लेकर आठ-आठ सौ वर्ष तक राज करते रहे, कितनी अद्भुत चीज़ें हैं!

इन ग्यारह सौ वर्षों में चीन की धीमी उन्नति और विकास पर, जिन्हें मैंने एक पैरे में ही निबटा दिया है, ज़रा ग़ौर तो करो! धीरे-धीरे कुलपति की प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केन्द्रीय सरकार स्थापित हो गई और एक सुसंगठित राज्य सामने आ गया। उस पुराने ज़माने में भी चीन के लोग लिखने की कला जानते थे। लेकिन, जैसा कि तुम जानती ही हो, चीनी लिपि हमारी नागरी या अंग्रेज़ी या फ्रान्सीसी लिपि से बिलकुल भिन्न है। इस लिपि में अक्षर नहीं हैं। यह संकेतों या चित्रों द्वारा लिखी जाती है।

शैङ राजवंश को, ६४० वर्ष शासन करने के बाद, एक क्रान्ति ने उखाड़ फेंका और चाऊ नामक एक नये राजवंश का अधिकार हुआ। इसने शैङों से ज़्यादा दिनों तक सत्ता भोगी। यह ८३७ वर्ष तक बना रहा। चाऊ-वंश के ज़माने में ही चीन का राज्य अच्छी तरह से संगठित हुआ, और इसी ज़माने में चीन में दो महान् दार्शनिक कनफ़्यूशस और लाओ-त्से पैदा हुए। इनकी कुछ चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

जब शैङ राजवंश निकाल फेंका गया, तब इसके कि-त्से नामक एक उच्च अधिकारी ने चाऊ लोगों की नौकरी करने की बनिस्बत देश छोड़ कर चले जाना अच्छा समझा। इसलिए वह अपने पाँच हज़ार अनुयायियों को साथ लेकर चीन से बाहर कोरिया को कूच कर गया। उसने इस देश का नाम 'चोसन' यानी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सुबह की शान्ति का देश' रक्खा। कोरिया या चोसन चीन के पूर्व में है, इसलिए कि-त्से पूर्व दिशा में उगते हुए सूर्य की ओर गया। शायद उसने यह समझा हो कि वह पूर्व दिशा के अन्तिम छोरवाले देश में पहुँच गया है और इसीलिए उसने इसे यह नाम दिया। ईसा से ग्यारह सौ वर्ष पहले से इसी कि-त्से के साथ कोरिया का इतिहास शुरू होता है। कि-त्से के साथ ही इस नये देश में चीनी कला-कौशल, मकान बनाने की कला, कृषि और रेशम की कारीगरी आई। कि-त्से के पीछे-पीछे और भी बहुत-से चीनी प्रवासी यहाँ आ गये। कि-त्से के वंशजों ने चोसन पर नौ सौ से ज़्यादा वर्षों तक राज किया।

लेकिन चोसन पूर्व दिशा का सबसे आख़िरी देश नहीं था। उसके पूर्व में, जैसा कि हम जानते हैं, जापान है। लेकिन हमें इस बात का कोई पता नहीं कि जब कि-त्से चोसन गया तो जापान में क्या हो रहा था। जापान का इतिहास इतना पुराना नहीं है जितना चीन का या कोरिया यानी चोसन का। जापानी लोगों का कहना है कि उनके पहले सम्राट् का नाम जिम्मूतिन्नू था और उसने ईसा से छः-सात सौ वर्ष पहले राज किया। इन लोगों का यह विश्वास है कि वह सूर्यदेवी से उत्पन्न हुआ था, क्योंकि सूर्य जापान में देवी माना जाता था। जापान के मौजूदा सम्राट् जिम्मूतिन्नू के असली वंशज माने जाते हैं। इसीलिए बहुत-से जापानी इन्हें भी सूर्यवंशी मानते हैं।

तुम जानती हो कि हमारे देश में भी राजपूत लोग इसी तरह से सूर्य और चन्द्र से अपना नाता जोड़ते हैं। उनके सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी दो मुख्य राजघराने प्रसिद्ध हैं। उदयपुर के महाराणा सूर्यवंशियों के प्रमुख हैं और वह अपनी वंशावली बहुत पुराने ज़माने से शुरू करते हैं। हमारे राजपूत लोग भी बहुत तारीफ़ के योग्य हैं! इनकी वीरता की और वीरोचित सुजनता की कहानियों का कोई अन्त नहीं है।

: १२ :

पुरातन की पुकार

१७ जनवरी, १९३१

क़रीब ढाई हज़ार वर्ष पहले तक प्राचीन दुनिया की शायद जो हालत थी उस पर हम एक सरसरी नज़र डाल चुके। हमारा निरीक्षण बहुत संक्षिप्त और परिमित रहा। हमने सिर्फ़ ऐसे ही देशों की चर्चा की, जो अच्छी उन्नति कर चुके थे या जिनका थोड़ा-बहुत निश्चित इतिहास पाया जाता है। मिस्र की उस महान् सभ्यता का हम अभी ज़िक्र कर चुके हैं, जिसने अल-अहराम और स्फिन्क्स बनाये और बहुत-सी दूसरी ऐसी चीज़ें बनाईं, जिनकी चर्चा का यहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसर नहीं है। जिस शुरू ज़माने की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें भी यह महान् सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और पतन की ओर जा रही थी। नोसास भी अपनी आख़िरी घड़ियाँ गिन रहा था। चीन के उन लम्बे युगों की खोज भी हम कर चुके हैं, जिनमें कि वह बढ़ते-बढ़ते एक विशाल केन्द्रीय साम्राज्य बन गया और वहाँ लिखने, रेशम बनाने और बहुत-सी दूसरी सुन्दर-सुन्दर कलाओं का विकास हुआ। कोरिया और जापान की भी हमने एक झलक देख ली। भारत की उस पुरानी सभ्यता की ओर अभी हमने संकेत किया ही है, जिसे दर्शाने वाले चिह्न सिन्ध नदी की घाटी के मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहरों में मिलते हैं। साथ ही विदेशों से व्यापार करनेवाली द्रविड़ सभ्यता और अन्त में आर्यों की ओर भी हम संकेत कर चुके हैं। उस ज़माने के आर्यों के रचे हुए वेद और उपनिषद् और रामायण और महाभारत की वीर-गाथाओं का उल्लेख भी हम कर चुके हैं। यह भी हम बता चुके कि आर्य लोग उत्तर भारत में कैसे फैल गये, दक्षिण में उनका प्रवेश कैसे हुआ और पुराने द्रविड़ों के सम्पर्क में आकर किस तरह उन्होंने एक नई सभ्यता और संस्कृति बनाई, जिसमें कुछ तो द्रविड़ बातें मिल गईं लेकिन जिसका अधिकतर हिस्सा उनका अपना था। ख़ासतौर से हमने इनके ग्राम-संघों को लोकतन्त्री आधार पर विकास करते और क़स्बों और शहरों के रूप में बढ़ते देखा और जंगल के आश्रमों को विश्वविद्यालय बनते भी देखा। इराक़ और ईरान में हमने संक्षेप में सिर्फ़ यह देखा कि किस तरह एक के बाद एक साम्राज्य उन्नति करता गया। इनमें सबसे पिछला, दारा का साम्राज्य भारत में सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। फ़िलस्तीन में हमने यहूदियों की एक झलक देखी। ये लोग, हालांकि संख्या में बहुत कम थे और दुनिया के एक छोटे-से कोने में आबाद थे, फिर भी इन्होंने बहुत काफ़ी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। दूसरे देशों के बड़े-बड़े राजाओं के नाम मिट गये, लेकिन इनके राजा दाऊद और सुलेमान के नाम आज तक लिये जाते हैं, क्योंकि उनका ज़िक्र बाइबिल में आया है। फिर हमने यूनान में नोसास की पुरानी सभ्यता की राख पर आर्यों की नई सभ्यता को फूलते-फलते देखा। नगर-राज्य पैदा हुए और भूमध्यसागर के किनारों पर यूनानी उपनिवेश बन गये। रोम, जो आगे चलकर महान् होनेवाला था, और कार्थेज, जो उसका कट्टर विरोधी था, इस समय इतिहास के क्षितिज पर उदय हो रहे थे।

इन सबकी हमने मामूली-सी झलक देखी है। उत्तरी यूरोप और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों का भी थोड़ा-बहुत हाल मैं तुम्हें बतला सकता था, लेकिन मैं उन्हें छोड़ गया हूँ। उस शुरू के ज़माने में भी दक्षिण भारत के मल्लाह बंगाल की खाड़ी के उस पार मलय प्रायःद्वीप और उसके दक्षिण के टापुओं तक बेधड़क

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आया-जाया करते थे। लेकिन हमें अपने विषय की कोई सीमा तय कर लेनी चाहिए वरना, हम कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

जिन देशों की हमने चर्चा की है, वे प्राचीन दुनिया के माने जाते हैं। लेकिन याद रहे कि उन दिनों दूर-दूर के देशों में आपस में यादा आवागमन नहीं था। व्यापार या दूसरे मतलब से साहसी मल्लाह समुद्र के ज़रिये और दूसरे लोग ज़मीन के रास्ते लम्बे-लम्बे सफ़र किया करते थे। लेकिन ऐसा बहुत कम होता था, क्योंकि उस समय की यात्राओं में ख़तरा बहुत रहता था। लोगों को भूगोल की जानकारी बहुत कम थी। ज़मीन गोल नहीं बल्कि चपटी मानी जाती थी। मतलब यह कि निकट के देशों के सिवा दूसरे देशों के बारे में लोग बहुत कम जानते थे। यूनान के रहनेवाले चीन और भारत से लगभग अपरिचित थे और चीन और भारतवालों को भूमध्यसागर के देशों का बहुत कम पता था।

अगर तुम्हें प्राचीन दुनिया का नक़शा मिल सके तो उसे एक नज़र देखो। पुराने ज़माने के लेखकों ने दुनिया के जो वर्णन लिखे और नक़शे बनाये उनमें कुछ तो बड़े मज़ेदार हैं। उन नक़शों में कई देशों की अजीब शकलें दी गई हैं। प्राचीन काल के जो नक़शे आजकल बनाये गए हैं वे कहीं ज्यादा काम के हैं। इसलिए उस ज़माने के बारे में पढ़ते समय इन्हें अक्सर देख लिया करना। नक़शे से बहुत मदद मिलती है। बिना इसके इतिहास का असली चित्र हमारी कल्पना में नहीं आ सकता। सच तो यह है कि अगर किसी को इतिहास पढ़ना है, तो जितने भी ज्यादा-से-ज्यादा नक़शे, या पुरानी इमारतों, खण्डहरों और उस ज़माने की दूसरी निशानियों के जितने भी चित्र मिल सकें, अपने पास रखने चाहिए। इन चित्रों से इतिहास की सूखी ठटरी पर माँस और चमड़ा चढ़ जाता है, और वह हमारे लिए एक ज़िन्दा चीज़ बन जाता है। इतिहास से अगर हम कुछ सीखना चाहते हैं तो यह ज़रूरी है कि घटनाओं का एक स्पष्ट और सिलसिलेवार कल्पना-चित्र हमारे दिमाग़ में हो जिससे कि उसे पढ़ते समय ऐसा लगे मानो वे घटनाएँ हमारी आँखों के सामने ही हो रही हैं। इतिहास को तो एक चित्ताकर्षक नाटक समझना चाहिए जो हमारे दिल को मोह लेता है—ऐसा नाटक, जो कभी-कभी सुखान्त, लेकिन ज्यादातर दुःखान्त रहा है और दुनिया जिसका रंगमंच और गुज़रे ज़माने के महान् पुरुष और स्त्रियाँ जिसके पात्र हैं।

तसवीरों और नक़शों की सहायता से इतिहास के इस तमाशे की एक झलक हमारी आँखों के सामने आ जाती है, इसलिए ऐसा इन्तज़ाम होना चाहिए कि हरेक लड़के और लड़की को ये आसानी से मिल सकें। लेकिन तसवीरों और नक़शों से भी ज्यादा अच्छी चीज़ यह है कि पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले खण्डहरों और चिह्नों को खुद जाकर देखा जाय। इन सबको जाकर देख सकना सम्भव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं क्योंकि ये सारी दुनिया में फैले हुए हैं। लेकिन अगर हम अपनी आँखें खुली रखें तो प्राचीन समय के कोई-न-कोई चिह्न ऐसे ज़रूर होंगे जिन्हें हम आसानी से देख सकें। बड़े-बड़े अजायबघरों में पुराने ज़माने की ये छोटी-छोटी निशानियाँ और यादगारें संग्रह करके रक्खी जाती हैं। भारत में पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत काफ़ी निशानियाँ पाई जाती हैं, लेकिन बहुत प्राचीन काल की निशानियाँ बहुत ही कम हैं। मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा[1] ही शायद ऐसे दो उदाहरण हैं, जो अभी तक मिले हैं। सम्भव है कि पुराने ज़माने की बहुत-सी इमारतें गर्म जलवायु की वजह से धीरे-धीरे ढह गई हों। लेकिन यह और भी ज्यादा सम्भव है कि उनमें से बहुत-सी अब भी ज़मीन के नीचे दबी पड़ी हों, और उन्हें खोद निकालने की ज़रूरत हो। जैसे-जैसे हम इन्हें खोदते जायँगे, और पुराने चिह्न और शिलालेख हमें मिलते जायँगे, वैसे-वैसे हमारे देश के पुराने इतिहास के पृष्ठ धीरे-धीरे हमारे सामने खुलते जायँगे और पत्थर, ईंट और चूने के इन पृष्ठों में हम अत्यन्त प्राचीन काल के पूर्वजों के कारनामों का हाल पढ़ सकेंगे।

तुम दिल्ली गई हो और मौजूदा शहर के आस-पास कुछ पुरानी इमारतें और खण्डहर तुमने देखे हैं। जब कभी फिर तुम्हें इन इमारतों और खण्डहरों को देखने का मौक़ा मिले, तुम पुराने ज़माने की कल्पना करना तो ये तुम्हें पुराने ज़माने में पहुँचा देंगी और तुम्हें इतना ज्यादा इतिहास बता देंगी कि जितना कोई पुस्तक नहीं बता सकती। महाभारत के ज़माने से लेकर आज तक लोग दिल्ली शहर में या इसके आस-पास रहते आये हैं। उन्होंने इसके बहुत-से नाम रक्खे, जैसे इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुग़लकाबाद और शाहजहाँनाबाद। मुझे तो सब नाम मालूम भी नहीं। पुराने ज़माने से यह कहावत चली आ रही है कि दिल्ली का शहर सात बार, सात अलग-अलग जगहों पर आबाद हुआ और जमना नदी के मनमौजी बहाव की वजह से हमेशा अपनी जगह बदलता रहा। और अब हम इस देश के मौजूदा शासकों के हुक्म से रायसीना या नई दिल्ली नामक आठवाँ शहर तैयार होते देख रहे हैं। दिल्ली में एक के बाद एक साम्राज्य फूलते-फलते और ख़त्म होते रहे हैं।

या फिर तुम एक सबसे प्राचीन शहर बनारस या काशी चली जाओ और कान लगाकर उसकी गुनगुनाहट सुनो। वह तुम्हें अपने कल्पनातीत युग की कथा

---

[1] हड़प्पा—माण्टगोमरी ज़िले (प० पाकिस्तान) का एक बहुत प्राचीन गाँव है, जो रावी नदी के दक्षिण किनारे पर कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण-पूर्व में है। यहाँ से बहुत पुराने ज़माने के खण्डहर खोदकर निकाले गये हैं, जिनसे पता चलता है कि उस पुराने ज़माने में भी भारत की सभ्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनायेगा और बतायेगा कि किस तरह साम्राज्यों का पतन होता रहा पर वह बना रहा; किस तरह गौतम बुद्ध अपना नया दैवी सन्देश लेकर वहाँ आये और किस तरह युगों से करोड़ों नर-नारी शान्ति और सन्तोष पाने के लिए इसकी शरण में आते रहे! प्राचीन और बूढ़ा, जर्जर, गन्दा, बदबूदार और फिर भी बहुत सजीव और युगों की शक्ति से भरपूर यह बनारस है। काशी की यह नगरी अद्भुत और दिल को लुभानेवाली है, क्योंकि इसकी आँखों में तुम भारत के अतीत को देख सकती हो और इसकी जलधारा की कलकल में सुदूर बीते युगों की आवाज़ें सुन सकती हो।

या इससे भी निकट अपने ही शहर इलाहाबाद या प्रयाग के पुराने अशोक-स्तम्भ को देखने जाओ। अशोक की आज्ञा से उस पर खुदे हुए लेख को देखो तो तुम्हें मानो दो हज़ार वर्षों की दूरी को पार करके आती हुई आवाज़ सुनाई देने लगेगी।

: १३ :

धन कहाँ जाता है ?

१८ जनवरी, १९३१

मैंने जो पत्र तुम्हें मसूरी भेजे थे, उनमें यह बताने की कोशिश की थी कि किस तरह मनुष्य-समाज की उन्नति के साथ-साथ उसमें जुदा-जुदा वर्ग बन गये। शुरू में मनुष्यों को भोजन-सामग्री तक तलाश करने में बड़ी मुसीबत होती थी। वे हररोज़ शिकार करते, गिरीदार और दूसरे फल जमा करते और खाने-पीने की चीज़ों की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह भटकते फिरते थे। धीरे-धीरे इनके क़बीले बनने लगे। असल में ये बड़े-बड़े कुटुम्ब थे, जो साथ रहते और साथ-साथ शिकार करने जाते थे, क्योंकि अकेले रहने से एक साथ रहने में खतरा कम रहता था। इसके बाद एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ—खेती का आविष्कार। इसके कारण मनुष्य जीवन में बड़ा ज़बर्दस्त अन्तर हो गया। लोगों को हमेशा शिकार करते रहने की बनिस्बत ज़मीन पर खेती करके खाने का सामान पैदा कर लेना कहीं ज्यादा आसान मालूम हुआ। जोतने, बोने और फ़सल काटने के लिए एक जगह बने रहना ज़रूरी था, इसलिए पहले की तरह वे इधर-उधर भटकते हुए नहीं रह सकते थे, उन्हें अपने खेतों के पास बसने को मज़बूर होना पड़ता था। इस तरह गाँवों और क़स्बों की बुनियाद पड़ी।

खेती की वजह से और भी परिवर्तन हुए। खेती से जो अनाज पैदा होता था, वह तुरन्त की ज़रूरत से कहीं ज्यादा होता था। इसलिए बचा हुआ या फ़ालतू अनाज जमा किया जाने लगा। पुराने ज़माने की शिकारी ज़िन्दगी की तुलना में लोगों की ज़िन्दगी ज्यादा पेचीदा हो गई। एक वर्ग तो खेतों पर तथा दूसरी जगह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेती-बाड़ी और मेहनत-मज़दूरी करने लगा, और दूसरे ने प्रबन्ध और संगठन का काम अपने जिम्मे ले लिया। प्रबन्ध करनेवाले और संगठनकर्त्ता लोग धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली हो गये और कुलपति, शासक, राजा और सरदार बन बैठे। और क्योंकि उनके हाथ में शक्ति आ गई, इसलिए वे बाक़ी बचे हुए या फ़ालतू अनाज में से अधिकतर हिस्सा अपने लिए रख लेने लगे। इस तरह ये लोग धनवान् होते गये और खेतों में काम करनेवाले सिर्फ़ गुज़ारे भर के लिए पाने लगे। बाद में ऐसा भी समय आया जब प्रबन्धक और संगठनकर्त्ता इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि संगठन का भी काम नहीं कर सके। ये लोग कुछ भी काम नहीं करते थे, लेकिन इस बात की पूरी सावधानी रखते थे कि काम करनेवाले ने जो कुछ अनाज पैदा किया है, उसका बहुत काफ़ी हिस्सा अपने लिए ले लें। इन्होंने यह अपनी धारणा बना ली कि बिना ख़ुद कुछ काम-काज किये इस तरीक़े से दूसरों की मेहनत पर रहने का इन्हें पूरा-पूरा अधिकार है।

इस प्रकार तुम देखोगी कि खेती के आने से मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा फ़र्क़ आ गया। भोजन-प्राप्ति के साधनों में तरक़्क़ी करके, और उसका पाना आसान बनाकर, खेती ने समाज की सारी बुनियाद ही बदल दी। लोगों को इसकी वजह से फ़ुरसत मिलने लगी। अनेक वर्ग पैदा हो गये। पर चूंकि सभी अन्न उपजाने में नहीं लगे रहते थे, इसलिए कुछ लोग दूसरे काम भी कर सकते थे। इससे कई प्रकार की दस्तकारियाँ पैदा हो गईं और नये-नये पेशे बन गये। लेकिन शक्ति फिर भी संगठन करनेवाले वर्ग के हाथों में ही रही।

बाद के ज़मानों के इतिहास में भी तुम्हें यही बात मिलेगी कि खाद्य पदार्थ और दूसरी ज़रूरी चीज़ें पैदा करने के नये तरीक़ों ने कितने बड़े-बड़े परिवर्तन कर दिये हैं। आदमियों को दूसरी बहुत-सी चीज़ों की भी उतनी ही ज़रूरत पड़ने लगी जितनी खाने की चीज़ों की। इसलिए जब-जब पैदावार के तरीक़ों में कोई बड़ा परिवर्तन हुआ, समाज में भी उसके फलस्वरूप बड़ा परिवर्तन हुआ। सिर्फ़ एक उदाहरण देता हूँ। जब कारख़ानों, रेलों और जहाज़ों को चलाने में भाप का इस्तेमाल होने लगा तो पैदावार और वितरण के तरीक़ों में भी बहुत बड़ा फ़र्क़ पड़ गया। भाप के कारख़ानों में चीज़ें इतनी तेज़ी से बन सकती हैं कि कारीगर या दस्तकार अपने हाथों से या सादा औज़ारों से उसकी बराबरी कर ही नहीं सकते। बड़ी मशीन को असल में बड़ा-सा औज़ार समझना चाहिए। रेलों और भाप के जहाज़ों से अनाज और कारख़ानों में बनी हुई चीज़ों को दूर देशों तक जल्दी पहुँचाने में मदद मिलती है। तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी वजह से सारी दुनिया में कितना परिवर्तन हो गया होगा!

खाने की और दूसरी चीज़ें पैदा करने के नये और तेज़ तरीक़े इतिहास में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय-समय पर ईजाद होते रहे हैं। इससे तुम ज़रूर यह ख़याल करोगी कि अगर पैदावार के लिए अच्छे-अच्छे तरीक़े काम में लाये जाते हैं तो माल भी उतना ही ज़्यादा पैदा होता होगा। दुनिया में धन बढ़ता होगा और हरेक आदमी का हिस्सा भी बढ़ जाता होगा। तुम्हारा ऐसा ख़याल करना कुछ हद तक ठीक होगा और कुछ हद तक ग़लत। पैदावार के बढ़िया तरीक़ों ने संसार की दौलत ज़रूर बढ़ा दी है, लेकिन सवाल यह है कि दौलत बढ़ी तो संसार के कौन-से हिस्से की बढ़ी ? यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे देश में अभी तक भी काफ़ी ग़रीबी और मुसीबत ही है, लेकिन इंग्लैण्ड जैसे धनवान् देश में भी यही हाल है। इसकी क्या वजह है ? दौलत आख़िर जाती कहाँ है ? यह अजीब-सी बात है कि दौलत तो दिन-पर-दिन ज़्यादा पैदा की जाती रही है, लेकिन ग़रीब लोग ग़रीब ही बने हुए हैं। कुछ देशों में इन ग़रीब लोगों ने थोड़ी-सी उन्नति की है, लेकिन जो नई दौलत पैदा हो रही है उसके मुक़ाबले में यह न-कुछ के बराबर है। बहरहाल हम आसानी से पता लगा सकते हैं कि यह दौलत ज़्यादातर किसके पास जाती है। यह उन लोगों के पास जाती है जो आम तौर पर प्रबन्धकर्त्ता या संगठनकर्त्ता होने के नाते इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि हरेक अच्छी चीज़ का बड़ा भाग इनके पल्ले पड़ता रहे। और इससे भी ज़्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज में ऐसे वर्ग पैदा हो गये हैं जो दिखावे तक के लिए कोई काम नहीं करते, लेकिन फिर भी दूसरों की मेहनत के फल का बड़ा भाग हड़प कर जाते हैं ! और क्या तुम इसपर विश्वास करोगी कि इज़्ज़त इन्हीं वर्गों की होती है; और कुछ बेवक़ूफ़ लोग समझते हैं कि अपनी रोज़ी के लिए मेहनत करना अपमानजनक है ! ऐसी उलटी-पलटी दशा है हमारी दुनिया की ! फिर क्या ताज्जुब है कि खेत में मेहनत करनेवाला किसान और कारख़ाने में मज़दूरी करनेवाला मज़दूर ग़रीब है, हालाँकि दुनिया भर के खाद्य पदार्थ और सम्पत्ति ये ही लोग पैदा करते हैं ! हम अपने देश की आज़ादी की बातें करते हैं, लेकिन जब तक इस उलटे-पलटेपन का अन्त नहीं होता और मेहनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल नहीं मिलता, इस आज़ादी की क्या क़ीमत हो सकती है ! राजनीति और शासनकला पर, अर्थशास्त्र और राष्ट्रीय सम्पत्ति के बँटवारे पर बड़ी मोटी-मोटी पुस्तकें लिखी गई हैं। विद्वान् प्रोफ़ेसर इन विषयों पर व्याख्यान देते रहते हैं। लेकिन इधर तो लोग बातचीत और चर्चाओं में उलझ रहे हैं और उधर मेहनत करनेवाले तकलीफ़ें पा रहे हैं ! दो सौ वर्ष हुए वाल्तेयर नाम के एक प्रसिद्ध फ्रान्सीसी ने राजनीतिकों और इसी तरह के दूसरे लोगों के बारे में कहा था—"इन लोगों ने अपनी सुन्दर राजनीति में यह कला खोज निकाली है कि जो लोग ज़मीन जोतकर दूसरों को ज़िन्दा रखने के साधन पैदा करते हैं, उन्हें भूखों मार दिया जाय।"

फिर भी प्राचीनकाल का मनुष्य उन्नति करता गया और धीरे-धीरे जंगली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काटे, मकान बनाये और ज़मीन जोती। कहा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति पर विजय पाई है। लोग प्रकृति को वश में करने की बातें करते हैं। यह तो बे-सर-पैर की बात है और सही नहीं है। यह कहना ज़्यादा सही है कि आदमी ने प्रकृति को समझना शुरू किया और जितना वह उसे समझता जाता है, उतना ही वह उससे सहयोग करने के योग्य बन गया है और उसे अपने हित के लिए उपयोग में ला सका है। पुराने ज़माने में आदमी प्रकृति से और उसकी विचित्र घटनाओं से डरता था। इसको समझने के बजाय वह उनकी पूजा करता था और शान्ति के लिए उन पर चढ़ावा चढ़ाता था; मानो प्रकृति कोई जंगली जानवर है, जिसे सन्तुष्ट करने और बहलाने की ज़रूरत हो। इसलिए बादल की गरज, बिजली की कड़कड़ाहट और महामारियाँ उन्हें भयभीत कर देती थीं और वे समझते थे कि ये उत्पात सिर्फ़ पूजा से ही रुक सकते हैं। बहुत-से सीधे-सादे लोग समझते हैं कि चन्द्रमा या सूर्य का ग्रहण कोई भयंकर आफ़त है। यह समझने की कोशिश करने के बजाय कि यह एक सीधी-सादी प्राकृतिक घटना है, लोग इसके बारे में फ़िज़ूल परेशान होते हैं, और सूरज या चाँद की रक्षा के लिए उपवास व स्नान करते हैं। लेकिन सूरज और चाँद अपनी रक्षा के लिए काफ़ी समर्थ हैं। हमें उनके बारे में परेशान होने की कोई ज़रूरत नहीं।

हमने सभ्यता और संस्कृति की उन्नति की भी कुछ चर्चा की है, और देखा है कि इसकी शुरुआत उस समय से हुई, जब लोग गाँवों और क़स्बों में रहने के लिए बस गये। खाने का काफ़ी सामान पा जाने की वजह से लोगों को कुछ फ़ुरसत मिल गई और इस तरह खाने और शिकार करने के अलावा उन्हें दूसरी बातों पर भी ध्यान देने का मौक़ा मिल गया। विचार की उन्नति के साथ आमतौर पर कला-कौशल और संस्कृति का भी विकास हुआ। जब आबादी बढ़ने लगी तो लोग पास-पास भी रहने लगे। ये एक-दूसरे से बराबर मिलते-जुलते थे और इनका आपस में व्यापार-व्यवहार चलने लगा। जब लोग आस-पास रहते हैं तो उन्हें एक-दूसरे का लिहाज़ भी रखना पड़ता है। उनके लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि कोई बात ऐसी न करें जो साथियों या पड़ोसियों को बुरी लगे; वरना सामाजिक जीवन ही असम्भव हो जाय। किसी कुटुम्ब का उदाहरण ले लो। कुटुम्ब समाज का छोटा-सा टुकड़ा है। इसके व्यक्ति आनन्द से तभी रह सकते हैं, जब कुटुम्ब के सदस्य आपस में एक-दूसरे का लिहाज़ रक्खें। आमतौर पर यह कोई मुश्किल बात नहीं होती, क्योंकि कुटुम्ब के लोगों में प्रेम का बन्धन होता है। फिर भी कभी-कभी हम एक-दूसरे का लिहाज़ करना भूल जाते हैं और यह प्रकट कर देते हैं कि कुछ भी हो हम अभी तक बहुत सुसंस्कृत या सभ्य नहीं हो पाये हैं। कुटुम्ब से आगे बढ़कर बड़े समुदाय में भी ठीक यही हाल होता है; चाहे हम अपने पड़ोसियों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लें, या अपने शहर के रहनेवालों को, या देशवासियों को या दूसरे देशों के लोगों को। इस तरह आबादी बढ़ जाने से सामाजिक जीवन बढ़ा, और दूसरों का लिहाज़ करने और अपने पर संयम रखने की भावना भी बढ़ी। संस्कृति और सभ्यता की परिभाषा मुश्किल है और मैं इसकी परिभाषा करने की कोशिश भी नहीं करूँगा। लेकिन संस्कृति की परिभाषा के भीतर आनेवाली अनेक बातों में अपने ऊपर संयम, और दूसरों की सुविधा का ख़याल भी निस्सन्देह एक बात है। अगर किसी आदमी में संयम नहीं पाया जाता और वह दूसरों की सुविधा का कोई ख़याल नहीं करता तो हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह आदमी असंस्कृत है।

: १४ :

ईसा के पूर्व छठी सदी और मज़हब

२० जनवरी, १९३१

आओ, अब हम इतिहास की लम्बी सड़क पर आगे बढ़ें। आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले, यानी दूसरे शब्दों में, ईसा से क़रीब छः सौ वर्ष पहले तक की एक बड़ी मंज़िल हम तय कर चुके हैं। लेकिन यह न समझना कि यह कोई निश्चित तारीख है। मैं तो तुम्हें समय का एक मोटा अन्दाज़ा दे रहा हूँ। हम देखते हैं कि भारत और चीन से लेकर ईरान और यूनान तक भिन्न-भिन्न देशों में अनेक महापुरुष, बड़े-बड़े विचारक और धर्म-प्रवर्तक इसी युग में मिलते हैं। वे सब बिलकुल एक ही समय में नहीं हुए, लेकिन उनका समय एक-दूसरे से इतना निकट था कि ईसा से पहले की छठी सदी का यह ज़माना एक बड़ा रोचक युग बन गया है। ऐसा मालूम होता है कि उस समय सारी दुनिया में विचारों की एक लहर उठ रही थी—लोगों के दिलों में ज़माने की परिस्थिति से असन्तोष और कोई बेहतर चीज़ प्राप्त करने की आशा व लालसा उमड़ रही थी। याद रक्खो कि धर्मों के संस्थापक हमेशा किसी बेहतर चीज़ की खोज में रहते थे और अपने देश की जनता को सुधारने और ऊँचा उठाने और उसकी मुसीबतों को कम करने की कोशिश करते रहते थे। ऐसे लोग हमेशा क्रान्तिकारी रहे हैं और उस समय की बुराइयों पर हमला करने में ज़रा भी नहीं डरे हैं। जहाँ कहीं पुरानी परम्परा ग़लत रास्ते पर जाती हुई दिखाई दी, या उसके कारण आगे की उन्नति रुकती हुई मालूम पड़ी, कि उन्होंने निडर होकर उस पर हमला किया और उसे मिटा दिया। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने उच्च जीवन का एक नमूना पेश किया, जो असंख्य लोगों के लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक आदर्श और प्रेरणा बन गया।

भारत में, ईसा से पहले की उस छठी सदी में, बुद्ध और महावीर पैदा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए; चीन में कनफ़्यूशस और लाओ-त्से; ईरान में ज़रथुस्त या ज़ोरास्टर; और सामोस के यूनानी टापू में पाइथागोर। तुमने पहले भी ये नाम सुने होंगे, पर शायद किसी दूसरे सिलसिले में। स्कूल के साधारण लड़के-लड़की पाइथागोर को एक झंझटी समझते हैं, जिसने रेखागणित का एक प्रमेय सिद्ध किया, जो अब इन बेचारों को सीखना पड़ता है! इस प्रमेय का सम्बन्ध एक समकोण त्रिभुज की भुजाओं पर के वर्ग-चतुर्भुजों से है। रेखागणित की किसी भी पुस्तक में यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित की खोजें करने के अलावा पाइथागोर एक महान् विचारक भी माना जाता है। हमें उसके बारे में बहुत कम मालूम है। कुछ लोगों को तो शक है कि इस नाम का कोई व्यक्ति हुआ भी था या नहीं!

ईरान का ज़रथुस्त ज़ोरास्टर धर्म का संस्थापक कहा जाता है। लेकिन मुझे यह निश्चय नहीं है कि उसे इस धर्म का संस्थापक कहना कहाँ तक ठीक है। शायद यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने विचारों और मज़हब को नई दिशा की ओर मोड़ा और उन्हें नया रूप दिया। एक लम्बे अर्से से यह मज़हब ईरान से बिलकुल उठ-सा गया है। जो पारसी लोग बहुत वर्ष पहले ईरान से भारत चले आये, वे अपने साथ इस मज़हब को भी लेते आये और तब से बराबर उसी को मानते आ रहे हैं।

चीन में इसी ज़माने में दो महापुरुष हुए—कनफ़्यूशस और लाओ-त्से। कनफ़्यूशस का नाम ज़्यादा सही तरीक़े से कुंग-फ़ू-त्से लिखा जाता है। साधारण अर्थों में इन दोनों में से किसी को भी धर्म-संस्थापक नहीं कह सकते। इन्होंने नीति और सामाजिक व्यवहार के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीन में इनकी यादगार में बहुत-से मन्दिर बनाये गए और इनके ग्रन्थों का चीनी लोग वैसा ही आदर करते हैं, जैसा हिन्दू वेदों का और ईसाई बाइबिल का। कनफ़्यूशस की शिक्षा का एक परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियों को संसार में सबसे ज़्यादा विनयशील, पूरे शिष्टाचारी और सुसंस्कृत बना दिया।

भारत में महावीर और बुद्ध हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो उन्हें दी गई महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज़्यादातर पश्चिमी भारत और काठियावाड़ में रहते हैं और आजकल इनकी गिनती हिन्दुओं में की जाती है। काठियावाड़ में और राजस्थान में आबू पहाड़ पर इनके बड़े सुन्दर मन्दिर पाये जाते हैं। अहिंसा में इनकी बड़ी श्रद्धा है और ये ऐसे कामों के बिलकुल विरुद्ध हैं जिनसे किसी भी जीव को तकलीफ़ पहुँचे। हाँ, इसी सिलसिले में तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि पाइथागोर कट्टर शाकाहारी था। उसने अपने शिष्यों और चेलों के लिए भी यह नियम बना दिया था कि कोई माँस न खाय।

अब गौतम बुद्ध का हाल सुनो। जैसा कि तुम जानती हो, गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक राजवंश के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था। प्राचीन जातक-कथा में लिखा है कि महारानी माया "दूज के चन्द्रमा की तरह उल्लास के साथ पूजनीय, पृथ्वी के समान दृढ़ और स्थिर-निश्चयवाली और कमल के समान पवित्र हृदयवाली थी।"

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के सुखों में रक्खा, और यह कोशिश की कि दुःख-दर्द और रोग-शोक के दृश्यों से वह बिलकुल दूर रहें। लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका, और कहा जाता है कि उन्होंने एक कंगाल, एक रोगी, एक मुर्दा देखा, जिसका उनके हृदय पर बहुत असर हुआ। इसके बाद राजमहल में उन्हें ज़रा भी शान्ति नहीं रही और भोग-विलास के सारे साधन, जिनसे वह घिरे रहते थे, यहाँ तक कि उनकी सुन्दर युवा पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, सन्तप्त मानवता की ओर से उनका चित्त न हटा सके। उनके हृदय की यह चिन्ता और इन दुःखों को दूर करने के उपाय खोजने की इच्छा दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि वह इस हालत को सहन न कर सके और अन्त में एक रात वह चुपचाप अपने राजमहल और प्रियजनों को छोड़कर, जिन प्रश्नों ने उन्हें परेशान कर रक्खा था उनके समाधान की खोज में, इस लम्बी-चौड़ी दुनिया में, अकेले निकल पड़े। इस समाधान की खोज उनके लिए बहुत लम्बी और थकानेवाली सिद्ध हुई। आख़िर बहुत वर्षों बाद, गया में एक बट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हें 'बोध' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड़ के नीचे वह बैठे थे वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया में बसे हुए सारनाथ के, जो उस ज़माने में इसिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, 'मृगदाव' में बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार शुरू किया। उन्होंने 'अष्टांग मार्ग' का उपदेश दिया। देवताओं के नाम पर सब तरह की बलि की उन्होंने निन्दा की और इस बात पर ज़ोर दिया कि उन बलिदानों के बजाय मनुष्य को अपने क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे विचारों की बलि देनी चाहिए।

बुद्ध के जन्म के समय, भारत में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था। लेकिन वह बहुत बदल गया था और अपने ऊँचे आदर्शों से नीचे गिर चुका था। ब्राह्मण पुरोहितों ने तरह-तरह के कर्म-काण्ड, पूजा-पाठ और अन्ध-विश्वास जारी कर दिये थे, क्योंकि पूजाएँ जितनी ज़्यादा बढ़ें पुरोहितों को उतना ही अधिक फ़ायदा पहुँचता है। जाति का बन्धन बहुत कड़ा होता जा रहा था और आम लोग शकुन, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने और धूर्तों से डरते थे। इन तरीक़ों से पुरोहितों ने जनता को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था और क्षत्रिय राजाओं की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रियों और ब्राह्मणों में संघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बहुत बड़े लोकप्रिय सुधारक के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने पुरोहितों के इन अत्याचारों पर, और पुराने वैदिक धर्म में जो बुराइयाँ घुस आई थीं उन सब पर, हमला बोल दिया। उन्होंने सदाचारी जीवन बिताने और भले काम करने पर ज़ोर दिया और पूजा-पाठ वग़ैरा का निषेध किया। उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षु और भिक्षुणियों की संस्था 'बौद्ध-संघ' का भी संगठन किया।

कुछ दिनों तक सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत में बहुत नहीं हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला और फिर भारत में एक अलग सम्प्रदाय के रूप में यह क़रीब-क़रीब मिट-सा गया। जहाँ लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्कों में यह धर्म सर्वोपरि हो गया, वहाँ अपनी जन्मभूमि भारत में यह फिर ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म में समा गया। लेकिन ब्राह्मण-धर्म पर इसका बहुत बड़ा असर पड़ा और इसने हिन्दू-धर्म में से बहुत-से अन्ध-विश्वास और पाखण्ड हटा दिये।

आजकल दुनिया में बौद्ध-धर्म के माननेवालों की संख्या सबसे ज़्यादा है। ईसाइयत, इस्लाम और हिन्दू-धर्म भी ऐसे मज़हब हैं जिनके माननेवाले दुनिया में दूसरों से ज़्यादा हैं। इनके अलावा यहूदी, सिख, पारसी, वग़ैरा दूसरे मज़हब भी हैं। तमाम मज़हबों और उनके संस्थापकों ने दुनिया के इतिहास में बहुत बड़ा हिस्सा लिया है, इसलिए इतिहास पर ग़ौर करते समय इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन मज़हबों के बारे में लिखने में मुझे कुछ दिक़्क़त होती है। इसमें शक नहीं कि बड़े-बड़े मज़हबों के संस्थापक दुनिया के महान्-से-महान् और ऊँचे-से-ऊँचे व्यक्ति हुए हैं। लेकिन उनके शिष्य और बाद के अनुयायी न तो महान् ही निकले और न नेक ही। इतिहास में हम अक्सर देखते हैं जिस धर्म का उद्देश्य हमें ऊँचा उठाना और बेहतर और नेक बनाना है, उसी ने लोगों से जानवरों जैसा व्यवहार कराया है। लोगों में ज्ञान की रोशनी फैलाने के बजाय धर्म ने उन्हें अक्सर अँधेरे में रखने की कोशिश की, उदार-हृदय बनाने के बजाय अक्सर लोगों को तंग दिल और दूसरों के प्रति असहिष्णु बना दिया। धर्म की ख़ातिर बड़े-बड़े महान् और शानदार काम किये गए हैं, लेकिन धर्म के ही नाम पर लाखों हत्याएँ हुई हैं और हर तरह के सम्भव कुकर्म भी किये गए हैं।

ऐसी हालत में यह सवाल उठता है कि धर्म के मामले में कोई क्या रुख अपनाये? कुछ लोगों के लिए धर्म का मतलब है परलोक; फिर उसे स्वर्ग, वैकुण्ठ या बहिश्त चाहे जो कुछ कहा जाय। स्वर्ग में जाने की लालसा से लोग धर्म का पालन करते हैं या कुछ दूसरी बातें करते हैं। यह देखकर मुझे ऐसे बालक का ख़याल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आता है जो इनाम में जलेबी पाने के लालच से ऊधम नहीं मचाता। अगर कोई बच्चा हमेशा जलेबी की ही बात सोचा करे, तो तुम यह कभी न मानोगी कि उसकी शिक्षा ठीक ढंग से हुई है। और उन लड़कों या लड़कियोंको तो तुम और भी कम पसन्द करोगी जो जलेबी की ख़ातिर सब कुछ करें। तब फिर हम ऐसे बड़े-बूढ़ों के बारे में क्या कहें, जो इस तरह सोचते और काम करते हैं? क्योंकि आख़िर जलेबी और स्वर्ग के ख़याल में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है। हम सब थोड़े-बहुत स्वार्थी होते हैं; लेकिन फिर भी हम अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देने की कोशिश करते हैं कि वे जहां तक हो सके निस्वार्थ बनें। कुछ भी हो, हमारे आदर्श बिलकुल स्वार्थ-हीन होने चाहिए ताकि हम अपने जीवन में उन तक पहुँचने की कोशिश करते रहें।

हम सब सफलता चाहते हैं और अपने कर्मों का फल देखना चाहते हैं। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है? क्या हमें सिर्फ़ अपनी ही फ़िक्र करनी चाहिए, या सार्वजनिक हित की—यानी देश, समाज और मनुष्य-जाति की भलाई की? आख़िर इस सार्वजनिक हित में ही हमारी अपनी भलाई भी शामिल है। मेरा ख़याल है कि कुछ दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में संस्कृत के एक श्लोक का ज़िक्र किया था। इसका मतलब यह था कि व्यक्ति को कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब को जाति के लिए और जाति को देश के लिए क़ुर्बान कर देना चाहिए। यहां मैं संस्कृत के एक और श्लोक का भी अर्थ तुमको बताना चाहता हूँ, जो भागवत में आया है। उसका अर्थ यह है—

> "मुझे न तो अष्टसिद्धियों[1] के साथ स्वर्ग की इच्छा है और न जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने की ही कामना है। मेरी इच्छा तो यह है कि दुःखी जनों के दिलों में पैठ जाऊँ और उनका दुःख-दर्द अपने ऊपर ले लूं, जिससे वे पीड़ा से मुक्त हो जायँ।"[2]

---

[1] सिद्धियाँ—आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

[2] इस सम्बन्ध में भागवत के ये श्लोक ध्यान में रखने योग्य हैं—

कोनु सस्य दुपायोऽत्र येनाहम् दुःखितात्मनाम्
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा।
अपहृत्यार्त्तिमार्तानाम् सुखं यदुपजायते
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नार्हंति षोडशीम्। —च्यवन ऋषि

× × ×

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्। —रन्तिदेव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक मज़हबवाला एक बात कहता है, दूसरे मज़हबवाला दूसरी। और बहुत करके हरेक दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझता है। इनमें सच्चा कौन है? चूँकि ये लोग ऐसी चीज़ों की बात करते हैं, जो न आँख से देखी जा सकती हैं और न सिद्ध की जा सकती हैं, इसलिए दलीलों से ऐसे मामलों को तय करना मुश्किल हो जाता है। दोनों के लिए यह हिमाक़त मालूम होती है कि ऐसे मामलों पर पक्की बातें करें और उनपर एक-दूसरे का सिर फोड़ें। हममें से ज़्यादातर तंग विचारों के होते हैं और ज़्यादा बुद्धिमान् नहीं होते। तब हम यह सोचने का साहस कैसे कर सकते हैं कि हमें सारे सत्य का ज्ञान है और उसे हम अपने पड़ौसी के गले में ज़बर्दस्ती उतार सकते हैं? सम्भव है कि हम सचाई पर हों, और यह भी सम्भव है कि हमारा पड़ौसी भी सचाई पर हो। अगर तुम किसी पेड़ पर एक फूल देखो, तो उस फूल को तो पेड़ नहीं कहोगी। उसी तरह दूसरे आदमी ने उस दूसरे पेड़ की पत्तियाँ ही देखीं और तीसरे ने सिर्फ़ उसका तना ही देखा; तो हरेक ने उस पेड़ का सिर्फ़ एक-एक हिस्सा ही देखा है। लेकिन उनमें से हरेक के लिए यह कितनी बेवक़ूफ़ी की बात होगी, कि वह यह दावा करने लगे कि सिर्फ़ फूल, पत्ती या तना ही पेड़ है, और इसी बात पर लड़ने लगें!

मुझे तो परलोक में कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरा दिमाग़ तो इन बातों से भरा हुआ है कि मैं इस दुनिया में क्या करूँ। और अगर इसमें मुझे अपना रास्ता साफ़ दिखाई दे जाय तो मेरे लिए काफ़ी है। अगर इस लोक में मुझे अपना कर्त्तव्य साफ़-साफ़ दीख जाता है, तो मुझे किसी दूसरे लोक की बिलकुल चिन्ता नहीं है।

ज्यों-ज्यों तुम बड़ी होती जाओगी, तुम्हें हर तरह के लोग मिलेंगे; धर्मात्मा लोग, धर्म का विरोध करनेवाले लोग और ऐसे लोग जिन्हें न धर्म की परवाह है और न अधर्म की। बड़े-बड़े गिरजे और धार्मिक संस्थाएँ पड़ी हैं, जिनके पास बहुत धन और शक्ति है? वे उनका कभी अच्छा उपयोग करते हैं और कभी बुरा। तुम्हें बहुत नेक और उदार व्यक्ति मिलेंगे जो धर्मात्मा हैं और ऐसे धूर्त और बदमाश मिलेंगे जो धर्म की आड़ में लोगों को लूटते हैं और धोखा देते हैं। तुम्हें इन सब बातों पर खुद सोचना होगा और अपने लिए खुद ही निर्णय करना होगा। आदमी दूसरों से बहुत-कुछ सीख सकता है, लेकिन हर ज़रूरी बात उसे अपनी ही खोज और अपने ही अनुभव से प्राप्त करनी पड़ती है। कुछ सवाल ऐसे हैं जिनके उत्तर हर स्त्री-पुरुष को खुद अपने ही आप तलाश करने पड़ते हैं।

लेकिन निर्णय करने में जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। किसी भी बड़े या महत्वपूर्ण निश्चय पर पहुँचने से पहले तुम्हें अपने-आपको अभ्यास और शिक्षा के ज़रिये इस योग्य बनाना होगा। यह ठीक है कि आदमी को खुद ही सोचना चाहिए और निश्चय करना चाहिए; लेकिन इसके लिए उसमें उतनी ही योग्यता भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होनी चाहिए। तुम किसी दुधमुँहे बच्चे से किसी बात का निर्णय करने के लिए कभी नहीं कहोगी! इसी तरह बहुत-से आदमी ऐसे हैं जो उम्र में तो बड़े हो गये हैं, लेकिन जहाँतक उनके मानसिक विकास का सवाल है वे क़रीब-क़रीब दुधमुँहे बच्चों के समान हैं।

मेरा पत्र आज साधारण से कुछ ज्यादा लम्बा हो गया। सम्भव है, तुम्हें यह नीरस लगे। लेकिन इस विषय में मैं कुछ कहना ही चाहता था। अगर आज कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तो कोई बात नहीं, जल्दी ही तुम सब बातें समझने लगोगी।

: १५ :

ईरान और यूनान

२१ जनवरी, १९३१

आज तुम्हारा पत्र आया और यह जानकर खुशी हुई कि मम्मी और तुम अच्छी तरह हो। मैं मनाता हूँ कि दादू का बुखार उतर जाय और उनकी परेशानियाँ दूर हो जायँ। उन्होंने सारी ज़िन्दगी बहुत कड़ी मेहनत की है और आज भी उन्हें आराम और शान्ति नहीं मिल पाती है।

मालूम होता है, तुमने पुस्तकालय से लेकर कई पुस्तकें पढ़ डाली हैं और चाहती हो कि मैं दो-चार नाम और सुझा दूं। लेकिन तुमने यह नहीं बताया कि तुमने कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ी हैं। पढ़ने की आदत बहुत अच्छी है, लेकिन जो लोग बहुत-सी पुस्तकें जल्द-जल्द पढ़ डालते हैं उन्हें मैं ज़रा सन्देह की नज़र से देखता हूँ। मुझे शक होने लगता है कि ये लोग पुस्तकें ठीक तौर से नहीं पढ़ते। सिर्फ़ उन पर सरसरी नज़र डाल जाते हैं और फिर दूसरे दिन सब कुछ भूल जाते हैं। अगर कोई पुस्तक पढ़ने के योग्य है तो उसे सावधानी से और अच्छी तरह पूरी-पूरी पढ़नी चाहिए। लेकिन बहुत-सी पुस्तकें ऐसी हैं जो पढ़ने के लायक ही नहीं हैं। अच्छी पुस्तकों का चुनना कोई आसान काम नहीं है। तुम कह सकती हो कि तुमने जब हमारी अपनी लाइब्रेरी से पुस्तकें चुनी हैं तो वे ज़रूर अच्छी होंगी, वरना हम उन्हें मँगाते ही क्यों? ख़ैर, अभी तो पढ़ती रहो। नैनी-जेल से जो कुछ मदद मैं कर सकता हूँ, करता रहूँगा। कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि तुम्हारा शारीरिक और मानसिक विकास कितनी तेज़ी के साथ हो रहा है। मेरी कितनी इच्छा है कि मैं तुम्हारे पास होता! शायद जबतक ये चिट्ठियां तुम्हारे पास तक पहुँचेंगी, तुम इतनी आगे बढ़ जाओगी कि तुम्हें इनकी ज़रूरत ही न रहे। मैं समझता हूँ कि उस वक़्त तक चाँद[1] इनको पढ़ने के योग्य हो जायगी और इस

[1] इन्दिरा की छोटी फुफेरी बहन चन्द्रलेखा पण्डित।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईरानी और यूनानी राज्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह कोई-न-कोई तो ऐसा रहेगा ही जो इनकी क़द्र करे।

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान को लौट चलें और थोड़ी देर के लिए उनकी आपस की लड़ाइयों पर विचार करें। अपने पिछले एक पत्र में हमने यूनान के नगर-राज्यों और ईरान के उस बड़े साम्राज्य का ज़िक्र किया था, जिसके सम्राट् दारा को यूनानी लोग दारयवहु (डेरियस) कहते हैं। दारा का यह साम्राज्य बहुत बड़ा था—खाली विस्तार में ही नहीं बल्कि संगठन में भी। ठेठ एशिया कोचक से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया कोचक के कुछ यूनानी शहर भी इसमें शामिल थे। इस लम्बे-चौड़े साम्राज्य में एक छोर से दूसरे छोर तक अच्छी-अच्छी सड़कें बनी हुई थीं, जिनपर शाही डाक बराबर चलती रहती थी। दारा ने किसी-न-किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यों को जीतने का निश्चय किया और इस महायुद्ध की कई लड़ाइयाँ इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हैं। इन लड़ाइयों का जो कुछ वर्णन हमें मिलता है, वह यूनान के इतिहास-लेखक हिरोदोत का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओं के थोड़े ही दिन बाद पैदा हुआ था। उसने यूनानियों के साथ पक्षपात ज़रूर किया है, लेकिन उसका विवरण बहुत दिलचस्प है और इन पत्रों में मैं तुम्हारे लिए उसके लिखे इतिहास के कुछ हिस्से ज़रूर देना चाहूँगा।

यूनान पर ईरानियों का पहला हमला असफल रहा, क्योंकि ईरानियों की फ़ौज को, कूच के रास्ते में बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत-सी मुसीबतें उठानी पड़ीं। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पड़ा। इसके बाद ईसा से ४९० वर्ष पहले ईरानियों का दूसरा हमला हुआ। इस बार ईरानी सेना खुश्की का रास्ता छोड़कर समुद्री रास्ते से आई और एथेन्स के नज़दीक मैरैथन पर उसने अपना लंगर डाल दिया। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबरा गये, क्योंकि ईरानी साम्राज्य की ताक़त उन दिनों बहुत ज़्यादा बढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने डरकर अपने पुराने दुश्मन स्पार्तावालों से सुलह करनी चाही और दोनों के दुश्मन के विरुद्ध उनसे मदद माँगी। लेकिन स्पार्तावालों के पहुँचने के पहले ही एथेन्सवालों ने ईरानी सेना को मार भगाया। यही मैरैथन की प्रसिद्ध लड़ाई है जो कि ईसा से ४९० वर्ष पहले हुई थी।

यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है कि एक छोटा-सा यूनानी नगर-राज्य एक बड़े साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन यह जितनी आश्चर्यजनक मालूम पड़ती है उतनी है नहीं। यूनानी लोग जहाँ अपने घर के निकट अपने वतन के लिए लड़ रहे थे, वहाँ ईरानी सेना अपने वतन से बहुत दूर थी और फिर वह साम्राज्य-भर के दूर-दूर के हिस्सों के सैनिकों से बनी हुई थी। वे लोग लड़ते ज़रूर थे, लेकिन इसलिए कि उन्हें तनख्वाहें मिलती थीं। यूनान को जीतने में उनको

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ एथेन्सवाले अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आज़ादी खो देने से मर जाना कहीं ज़्यादा पसन्द था। और जो लोग किसी उद्देश्य के लिए मरने को तैयार रहते हैं, वे शायद ही कभी हराये जा सकते हैं।

इस तरह दारा मैरैथन में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया और उसकी जगह अहस्युर तख़्त पर बैठा। उसे भी यूनान फ़तह करने की धुन सवार थी और उसने वहं भेजने के लिए एक सेना तैयार की। यहाँ मैं तुम्हें हिरोदोत का बयान किया हुआ दिलचस्प हाल सुनाऊँगा।

अर्तवानुस अहस्युर का चाचा था। उसका ख़याल था कि ईरानी सेना को यूनान ले जाने में ख़तरा है, इसलिए उसने अपने भतीजे अहस्युर को यह समझाने की कोशिश की कि वह यूनान से लड़ाई न छेड़े। हिरोदोत का कहना है कि अहस्युर ने उसे नीचे लिखा जवाब दिया—

"जो कुछ आप कहते हैं उसमें कुछ सचाई तो है, लेकिन आपको हर जगह ख़तरे का डर न करना चाहिए और न हरेक जोख़िम का ख़याल ही करना चाहिए। अगर हर हालत में आप हरेक बात को एक ही तराजू से तौलेंगे तो कुछ भी न कर पावेंगे। भावी आशंकाओं में डूबे रहने और कभी कोई तकलीफ़ न उठाने के बजाय आशावादी होकर आधी आपदाओं को सह लेना कहीं अच्छा है। आप पेश की गई हर तजवीज़ पर एतराज़ तो करेंगे, लेकिन यह न बतलायेंगे कि कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए, तो आपको उतना ही ज़्यादा नुकसान उठाना होगा, जितना कि उन लोगों को, जिनका आप विरोध कर रहे हैं। तराजू के दोनों पलड़े बराबर हैं। कोई मानव निश्चयपूर्वक यह कैसे जान सकता है कि कौन-सा पलड़ा झुकेगा? वह नहीं जान सकता। लेकिन सफलता आमतौर पर उन्हीं लोगों के साथ रहती है जो कुछ कर दिखाना चाहते हैं; उनके साथ नहीं जो डरपोक होते हैं और हर बात को तौलते हैं। ईरान की सल्तनत कितनी बड़ी और ताक़तवर हो गई है यह आप देखते हैं। अगर राजगद्दी पर मेरे पूर्वाधिकारी आप ही की राय के होते या उस राय को न मानते हुए भी आप जैसे उनके सलाहकार होते, तो आज हमारी सल्तनत को आप इतनी बढ़ी-चढ़ी कभी न देख पाते। जोख़िम में उठाकर ही उन लोगों ने हम लोगों की आज यह शान बना दी है। बड़ी चीज़ बड़े ख़तरे उठाकर ही हासिल की जा सकती है।"

मैंने यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया है कि उससे इस ईरानी बादशाह का चरित्र जितना स्पष्ट हमारे सामने आ जाता है, उतना किसी दूसरे वर्णन से नहीं। लेकिन बाद की घटनाओं ने अर्तवानुस की सलाह ठीक सिद्ध कर दी और ईरानी सेना यूनान में हार गई। अहस्युर हार ज़रूर गया, लेकिन उसके शब्दों में जो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सचाई थी उसकी गूंज अभी तक सुनाई देती है और उससे हम सबको शिक्षा मिलती है। आज जब हम बड़ी-बड़ी चीज़ें प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं तो हमें यह याद रखना चाहिए कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हमको भी बड़े-बड़े ख़तरों के बीच से गुज़रना पड़ेगा।

शहंशाह अहस्युर अपनी बड़ी सेना लेकर एशिया-कोचक पार कर गया और दर्रे-दानियाल से, जो उस वक़्त हैलैस्पोण्ट कहलाता था, उतरकर यूरोप पहुँचा। कहते हैं, रास्ते में अहस्युर त्राय नगर के उन खण्डहरों को देखने गया था, जहाँ यूनान के शूरवीरों ने पुराने ज़माने में हेलन के लिए लड़ाई लड़ी थी। फ़ौज को उस पार भेजने के लिए दर्रे-दानियाल के ऊपर एक बड़ा पुल बनाया गया और जब ईरान की सेना पार उतर रही थी तो पास की एक पहाड़ी की चोटी पर संगमरमर के तख़्त पर बैठकर अहस्युर ने उसपर नज़र डाली।

"और", हिरोदोत ने लिखा है, "सारे दर्रे को जहाज़ों से भरा हुआ देखकर और एबीदोस के समुद्री किनारों और मैदानों को आदमियों से खचाखच भरा पाकर पहले तो अहस्युर ने अपने को धन्य माना और फिर वह रोने लगा। उसके चाचा अर्तबानुस ने, जिसने कि पहले यूनानियों पर चढ़ाई करने का खुला विरोध किया था, जब अहस्युर को रोता हुआ देखा तो उसने पूछा, 'बादशाह, तू जो कुछ अभी कर रहा है और जो कुछ कर चुका, इन दोनों में कितना फ़र्क़ है! अभी तो तूने अपने को धन्य माना था और अब तू आंसू गिरा रहा है।' अहस्युर ने जवाब दिया, 'तुम्हारा कहना ठीक है, लेकिन जब मैं हिसाब लगा चुका तो, यह देखकर कि इस भारी भीड़ में से सौ साल के बाद एक भी ज़िन्दा न रहेगा, मेरा हृदय इस विचार पर करुणा से भर गया कि इन्सान की ज़िन्दगी कितनी थोड़े दिनों की होती है'।"

इस तरह यह बड़ी सेना ख़ुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाज़ी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियों का साथ दिया और एक बड़े तूफ़ान ने ईरानियों के बहुत-से जहाज़ नष्ट कर दिये। यूनानी लोग ईरान की बड़ी भारी फ़ौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होंने फ़ौरन अपने आपसी झगड़ों को भुला दिया और हमला करनेवालों के विरुद्ध एक हो गये। यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापोली नामक जगह पर उन्होंने ईरानियों को रोकने की कोशिश की। थर्मापोली एक बहुत तंग रास्ता था, उसके एक तरफ़ पहाड़ था और दूसरी तरफ़ समुद्र, जिससे यहाँ थोड़े-से आदमी भी दुश्मन की बड़ी फ़ौज से मोरचा ले सकते थे। तीन सौ स्पार्ता-निवासियों के साथ लियोनीद को मरते दम तक इस दर्रे की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया। मैरैथन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद, भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरों ने अपने देश की बड़ी ख़ूबी से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा की। उन्होंने ईरानियों की फ़ौज को रोक दिया और यूनान की बाक़ी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक के बाद दूसरा योद्धा काम आता था, लेकिन जैसे ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नहीं बढ़ सकी। लियोनीद और उसके तीन सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापोली में काम आ चुके तब कहीं ईरानी सेना आगे बढ़ पाई। यह बात ईसा के ४८० वर्ष पूर्व की है। यानी आज से २४१० वर्ष पहले की। मगर आज भी इन लोगों के अदम्य साहस की याद से हृदय में बिजली की-सी लहर दौड़ जाती है। आज भी थर्मापोली की यात्रा करनेवाले डबडबाती हुई आँखों से लियोनीद और उसके साथियों के सन्देश को पत्थर पर खुदा हुआ पढ़ सकते हैं। सन्देश यह है—

"ओ राहगीर! स्पार्ता को जाकर बताना कि उसकी आज्ञा का पालन करनेवाले हम लोगों ने यहाँ अपने प्राण दे दिये।"[१]

मौत पर विजय पानेवाली हिम्मत अद्भुत होती है! लियोनीद और थर्मापोली अमर हो गये, और उससे दूर भारत में भी जब हम लोग इनकी याद करते हैं तो रोमांच हो आता है। तब फिर यह कहना कठिन है कि हमारी भावनाएँ अपने उन देशवासियों, अपने पूर्वजों यानी भारत के उन नर-नारियों के प्रति क्या हैं जिनसे हमारा लम्बा इतिहास भरा पड़ा है कि जिन्होंने मुस्कराते हुए मौत का सामना किया और उसकी खिल्ली उड़ाई; मौत को अपमान और ग़ुलामी से ज़्यादा अच्छा समझा और ज़ुल्म के सामने सिर झुकाने के बजाय उसको मिटाने के प्रयत्न में मर जाना ज़्यादा अच्छा माना। चित्तौड़ और उसकी अनुपम कहानी का, राजपूत वीरों और वीरांगनाओं की आश्चर्यजनक बहादुरी का ज़रा विचार तो करो! फिर आजकल के ज़माने पर भी नज़र डालो और हमारे उन साथियों का विचार करो जिनका ख़ून हमारे ख़ून की ही तरह गर्म है और जिन्होंने भारत की आज़ादी के लिए मौत का सामना करने से भी मुँह नहीं मोड़ा है।

थर्मापोली ने ईरानी सेना को थोड़ी देर के लिए रोक ज़रूर लिया, लेकिन बहुत दिन तक नहीं। यूनानी लोग ईरानी सेना के मुक़ाबले में पीछे हटते गये और कुछ यूनानी शहरों ने उनके आगे हथियार भी डाल दिये? लेकिन गर्वीले एथेन्स-वासियों ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायँ। इसलिए सारी जनता शहर को ख़ाली करके चली गई और ज़्यादातर लोग जहाज़ों में बैठकर गये। ईरानी लोगों ने इस उजड़े हुए नगर में घुस कर उसे आग लगा दी। मगर यूनानी जल-सेना

---

[१] "Go tell to Sparta thou that passest by,
That here obedient to their words we lie"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी तक हारी नहीं थी। इसलिए 'सैलेमिस'[1] टापू के पास बहुत बड़ी लड़ाई हुई। ईरानी जहाज़ नष्ट कर दिये गए और इस तबाही से बिलकुल हिम्मत हारकर अहस्युर ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ दिनों तक एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरैथन और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरुआत हो गई थी। यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे। उस ज़माने में जो लोग रहे होंगे, उन्हें इस बड़े साम्राज्य को लड़खड़ाकर गिरते देखकर ज़रूर ताज्जुब हुआ होगा। हिरोदोत ने इस पर विचार किया और उससे एक नसीहत निकाली। उसका कहना है कि किसी भी राष्ट्र के इतिहास की तीन मंज़िलें होती हैं: पहले सफलता; फिर उस सफलता के फलस्वरूप अन्याय और उद्दण्डता; और अन्त में इन बुराइयों के फलस्वरूप पतन।

: १६ :

यूनान का वैभव

२३ जनवरी, १९३१

ईरानियों पर यूनानियों की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कमज़ोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगों ने अपने इतिहास के शानदार युग में क़दम रक्खा। राष्ट्र के जीवन में यह शान बहुत थोड़े दिन तक ही रही। कुल मिलाकर २०० वर्ष से ज़्यादा नहीं ठहरी। उसका यह वैभव ईरान के या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यों के जैसी नहीं था। बाद में महान् सिकन्दर पैदा हुआ और उसने कुछ दिनों के लिए अपनी देश-विजयों से दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया। लेकिन इस समय हम उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम तो ईरान की लड़ाइयों और सिकन्दर के आगमन के बीच के ज़माने का ज़िक्र कर रहे हैं—उस ज़माने का, जो थर्मापोली और सैलेमिस के बाद १५० वर्ष तक रहा।

ईरान के ख़तरे ने सारे यूनानियों को एक कर दिया था। लेकिन जब यह ख़तरा हट गया तो उनमें फिर फूट पैदा हो गई और कुछ ही दिनों बाद आपस में झगड़ने लगे। ख़ासकर एथेन्स और स्पार्टा के नगर-राज्य एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। लेकिन हम उनके झगड़ों की चर्चा की झंझट में नहीं डालेंगे। उनका

---

[1] सैलेमिस—यूनान का प्रसिद्ध टापू। ५८० ई० पूर्व में इसके पास यूनानी और ईरानी जल-सेना की प्रसिद्ध लड़ाई हुई थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई महत्व नहीं है। हम सिर्फ़ इसलिए उनकी याद करते हैं कि उन दिनों दूसरी बातों में यूनान की महानता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

यूनान के उस ज़माने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ़ थोड़ी-सी पुस्तकें, कुछ मूर्तियाँ और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोड़ी-सी चीज़ें भी ऐसी हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल प्रशंसा से भर जाता है और यूनानी लोगों की अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्तियों और इमारतों को बनानेवाले इनके दिमाग़ कितने धनी और हाथ कितने कुशल रहे होंगे। फीदियास उस ज़माने का मशहूर मूर्त्तिकार था, लेकिन मशहूर और भी बहुत-से थे। इनके दुःखान्त और सुखान्त नाटक, अभी तक इस ढंग के सबसे उत्तम नाटकों में गिने जाते हैं। इस वक़्त तो तुम्हारे लिए सोफोक्ले,[1] एस्किल,[2] यूरिपिदे,[3] एरिस्तोफेन,[4] मैनेन्दर,[5] पिन्दार,[6]

---

[1] सोफ़ोक्ले—यूनान का प्रसिद्ध दुःखान्त नाटककार और कवि। इसका समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० में इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी एस्किल को हराकर इनाम पाया। तब से ४९१ ई० पू० तक वह यूनान का कवि-सम्राट् रहा।

[2] एस्किल—एक प्रसिद्ध यूनानी नाटककार। इसका जन्म ईसा से ५२५ साल पहले हुआ था। मैरथन, सैलेमिस और लिटिपो की लड़ाइयों में इसने हिस्सा लिया और दो बार इसे अपने दो नाटकों पर, दुःखान्त नाटक पर दिया जानेवाला सर्वोत्तम पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुःखान्त नाटक लिखे, जिनमें ७ अब भी मौजूद हैं। क़रीब ७० बरस की उम्र में उसकी मृत्यु हुई।

[3] यूरिपिदे—यूनान का प्रसिद्ध दुःखान्त नाटककार और कवि। इसका जन्म ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटकों में आदर्श के बजाय वास्तविकता के वर्णन पर ज़ोर देता था। इसे अपने नाटकों पर इनाम मिला था। इसकी कविता बड़ी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मज़ाक उड़ाया करता था।

[4] एरिस्तोफ़ेन—यह एथेन्स का प्रसिद्ध हँसोड़ कवि और नाटककार था। इसका समय क़रीब ४४५ से ३८० ईसा से पहले तक का है। इसके सुखान्त नाटकों से उस ज़माने की बहुत-सी बातों का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यंग चित्रों से उस समय के प्रधान व्यक्तियों का व्यक्तित्व आँखों के सामने खिंच जाता है।

[5] मैनेन्दर—यूनान के एथेन्स नगर-राज्य का सुखान्त नाटकों का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ में इसका जन्म हुआ और २९१ ई० पू० में पाइरियस के बन्दरगाह के पास के समुद्र में तैरता हुआ डूब गया।

[6] पिन्दार—यूनान के गीत-काव्य का सर्वोत्तम कवि। क़रीब ई० पू० ५५२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैफ़ो,[1] और कुछ दूसरों के सिर्फ़ नाम ही दिये जा सकते हैं। लेकिन बड़ी होने पर तुम उनकी रचनाएँ पढ़ोगी और मुझे आशा है कि तब तुम उस वैभव का, जो उस समय यूनान का था, कुछ अन्दाज़ लगा सकोगी।

यूनानी इतिहास का यह काल हमें यह चेतावनी देता है कि किसी देश के इतिहास को हमें किस तरह पढ़ना चाहिए। अगर हम यूनानी राज्यों में होनेवाली टुच्ची लड़ाइयों और ओछेपन की दूसरी बातों पर ही ध्यान देते रहें तो हमें यूनानियों के बारे में क्या मालूम हो सकता है? अगर हम उनको समझना चाहते हैं, तो हमें उनके विचारों की तह तक पहुँचना पड़ेगा और समझना होगा कि वे क्या महसूस करते थे और उन्होंने क्या-क्या किया है? असली महत्व की चीज़ तो किसी देश का आन्तरिक इतिहास होता है और यही वह चीज़ है, जिसने मौजूदा यूरोप को बहुत-सी बातों में पुरानी यूनानी संस्कृति की सन्तान बना दिया है।

यह बात भी अजीब और दिल को लुभानेवाली है कि किस तरह राष्ट्रों की ज़िन्दगी में ऐसे शानदार युग आते हैं और चले जाते हैं। थोड़ी देर के लिए वे हरेक चीज़ को चमका देते हैं और उस ज़माने और उस देश के पुरुषों और स्त्रियों में कलापूर्ण वस्तुएँ रचने की योग्यता पैदा कर देते हैं। लोगों में नई प्रेरणा-सी दिखाई देने लगती है। हमारे देश में भी ऐसे युग हुए हैं। हमारे यहाँ इस तरह का सबसे पुराना युग, हमारी जानकारी में वह था, जब वेदों, उपनिषदों और दूसरे ग्रन्थों की रचना हुई। दुर्भाग्य से हमारे पास उस प्राचीन काल का कोई लिखित इतिहास नहीं है। सम्भव है, बहुत-सी सुन्दर और महान् रचनाएँ नष्ट हो गई हों या खोजकर निकाले जाने की राह देख रही हों। लेकिन फिर भी हमारे पास यह बतलाने-योग्य काफ़ी सामग्री है, कि उस पुराने ज़माने के भारतवासी बुद्धि और विचार के कितने धनी थे। बाद के भारतीय इतिहास में भी ऐसे ही शानदार युग पाये जाते हैं और सम्भव है युग-युगान्तर में घूमते-घामते हमारी इनसे भी भेंट हो जाय।

एथेन्स उस ज़माने में खास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक महान् राजनीतिज्ञ था। इसका नाम पैरिक्ले था और यह ३० वर्ष तक एथेन्स में हुकूमत करता रहा। उस ज़माने में एथेन्स बहुत शानदार शहर बन गया था। सुन्दर-सुन्दर इमारतों से वह भरपूर था और बड़े-बड़े कलाकार और विचारक

में इसका जन्म हुआ था। यूनानी राष्ट्रों और राजाओं में इसकी कविता की बड़ी माँग रहती थी। इसकी इपिस्सिया नामक कविता ही अब बाक़ी बची है, जो चार जिल्दों में है।

[1] सैफ़ो—यूनान की प्रसिद्ध कवियित्री। यह ई० पू० ५८० में हुई। कविता, फ़ैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ रहते थे। आज भी वह पैरिक्ले का एथेन्स कहा जाता है और हम 'पैरिक्ले युग' की बात किया करते हैं।

हमारे इतिहासकार मित्र हिरोदोत ने, जो इन्हीं दिनों एथेन्स में रहता था, एथेन्स की इस उन्नति पर ग़ौर किया था और चूंकि उसे नसीहत देने का शौक़ था, इसलिए उसने इसमें से एक नसीहत निकाली। अपने इतिहास में वह लिखता है—

"एथेन्स की शक्ति बढ़ी और यह इस बात का प्रमाण है—और ऐसे प्रमाण सब जगह मिल सकते हैं—कि स्वतन्त्रता एक अच्छी चीज़ है। जबतक एथेन्स-वासियों पर निरंकुश शासन होता था, वे युद्ध में अपने किसी भी पड़ौसी को मात नहीं दे सके। लेकिन जब उन्होंने अपने यहाँ के निरंकुश शासक को ख़त्म कर डाला, तब उन्होंने अपने पड़ौसियों को मात दे दी। इससे ज़ाहिर होता है कि अधीनता में वे मन लगाकर कोशिश नहीं करते थे, बल्कि मालिक का काम करते थे। लेकिन जब वे आज़ाद हो गये तो हरेक व्यक्ति अपने-आप बड़ी लगन के साथ भरसक काम करने लगा।"

मैंने उस समय के कुछ महान् व्यक्तियों के नाम गिनाये हैं। लेकिन मैंने अभी तक वह नाम नहीं बताया, जो उस युग के ही नहीं, बल्कि किसी भी युग के सबसे महान् व्यक्तियों की गिनती में आता है। उसका नाम है सुकरात[1]। यह तत्वज्ञानी था और हमेशा सत्य की खोज में लगा रहता था। उसके लिए सच्चा ज्ञान ही ऐसी चीज़ थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने मित्रों और जान-पहचान के लोगों से अक्सर कठिन समस्याओं पर चर्चाएँ किया करता था, ताकि वाद-विवाद में शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई शिष्य थे, जिनमें सबसे बड़ा अफ़लातून[2] था। अफ़लातून ने कई ग्रन्थ लिखे हैं, जो आज

---

[1] सुकरात—इसे सॉक्रेटीज भी कहते हैं। यह यूनान् देश के एथेन्स नगर-राज्य का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ई० पू० ४७९ में हुआ था। ई० पू० ३९९ में उसपर नौजवानों को बिगाड़ने और दूसरे देवताओं में विश्वास करने का जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था, असली कारण तो राजनीतिक था। उसे मौत की सज़ा दी गई, और ज़हर का प्याला उसके पास भेजा गया, जिसे वह ख़ुशी से पी गया। आख़िरी दम तक वह अफ़लातून और अपने दूसरे शिष्यों से आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बड़ा विद्वान् था।

[2] अफ़लातून या प्लेटो—सुकरात का भक्त और शिष्य था। वह ई० पू० ४२७ में पैदा हुआ था और ई० पू० ३४७ में मर गया। उसने एथेन्स में एक विद्यालय स्थापित किया था जहाँ दर्शन और अध्यात्म की शिक्षा दी जाती थी। उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'रिपब्लिक' बहुत प्रसिद्ध है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी मिलते हैं। इन्हीं ग्रन्थों से हमें उसके गुरु सुकरात का बहुत-कुछ हाल मालूम होता है। यह तो साफ़ है कि सरकारें ऐसे आदमियों को पसन्द नहीं किया करतीं, जो हमेशा नई-नई खोजों में लगे रहते हों—वे सत्य की तलाश पसन्द नहीं करतीं। एथेन्स की सरकार को—यह पैरिक्ले के ज़माने में थोड़े दिन बाद की बात है—सुकरात का रंग-ढंग पसन्द नहीं आया। उसने सुकरात पर मुक़दमा चलाया और उसे मौत की सज़ा दे दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगों से वाद-विवाद करना छोड़ दे और अपना तरीक़ा बदल दे तो उसे छोड़ दिया जायगा। लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और जिस बात को अपना कर्त्तव्य समझता था, उसे छोड़ने के बजाय उसने ज़हर के प्याले को अच्छा समझा, जिसे पीकर वह मर गया। मरते समय उसने अपने ऊपर अभियोग लगानेवालों, न्यायाधीशों और एथेन्सवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा—

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हों कि मैं सत्य की अपनी खोज को छोड़ दूँ, तो मैं कहूँगा कि ऐ एथेन्सवासियों! मैं आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ, पर मैं आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूंगा, जिसने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है, और जबतक मेरे दम-में-दम है, मैं अपनी दार्शनिक लगन को नहीं छोड़ूंगा। मैं अपना यह व्यवहार बराबर जारी रक्खूंगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उसे रोककर मैं यही पूछूँगा—'क्या तुम्हें इस बात में शर्म नहीं लगती कि तुमने अपना मन धन और प्रतिष्ठा के पीछे लगा रक्खा है और ज्ञान या सत्य की या अपनी आत्मा को सुधारने की तुम्हें कोई चिन्ता नहीं है?' मैं नहीं जानता कि मौत क्या चीज़ है। वह अच्छी चीज़ हो सकती है, पर मैं उससे नहीं डरता। लेकिन मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि अपनी ज़िम्मेदारी की जगह छोड़कर भाग जाना बुरा काम है। और इसलिए मैं जिस चीज़ को बुरी मानता हूँ, उससे उस चीज़ को ज़्यादा पसन्द करता हूँ, जो अच्छी हो।"

अपने जीवन में सुकरात ने सत्य और ज्ञान के पक्ष का समर्थन किया। लेकिन अपनी मौत के द्वारा उसने और भी अच्छी तरह यह काम कर दिखाया।

आजकल तुम अक्सर समाजवाद और पूंजीवाद और अनेक दूसरी समस्याओं के बारे में होनेवाली चर्चाओं और विवादों को पढ़ा या सुना करती होगी। दुनिया में बहुत मुसीबतें और अन्याय पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इस दशा से पूरी तरह असन्तुष्ट हैं और इसे बदलना चाहते हैं। अफ़लातून ने भी शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया था और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार उस ज़माने में भी लोग विचार किया करते थे कि किसी देश के समाज को या सरकार को कैसे ढाला जाय जिससे चारों ओर ज़्यादा सुख-शान्ति हो।

जब अफ़लातून बूढ़ा होने लगा, तो एक दूसरा यूनानी, जो बाद में बहुत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मशहूर हो गया, आगे आया। उसका नाम था अरस्तू[1]। वह महान् सिकन्दर का निजी शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद की थी। सुकरात और अफ़लातून की तरह अरस्तू तत्वज्ञान की समस्याओं में नहीं उलझता था। वह ज़्यादातर प्रकृति की चीज़ों के निरीक्षण और उसके तौर-तरीक़ों को समझने में लगा रहता था। इसको प्रकृति-दर्शन या आजकल ज़्यादातर विज्ञान कहते हैं। इस तरह अरस्तू को शुरू का एक वैज्ञानिक मान सकते हैं।

अब हमें अरस्तू के शिष्य महान् सिकन्दर पर आ जाना चाहिए और उसके तेज़ी से दौड़नेवाले जीवन पर नज़र डालनी चाहिए। लेकिन यह कल होगा। आज मैंने बहुत काफ़ी लिख डाला है।

आज बसन्त पंचमी है—बसन्त की शुरुआत है। सर्दी का बहुत थोड़े दिन वाला मौसम बीत चुका है और हवा का तीखापन जाता रहा है। चिड़ियाँ अब ज़्यादा संख्या में आने लगी हैं और अपने गीतों से सारे दिन को गुंजान रखती हैं। और आज से ठीक पन्द्रह वर्ष पहले, आज ही के दिन, दिल्ली शहर में, तुम्हारी मम्मी के साथ मेरी शादी हुई थी।

: १७ :

मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक

२४ जनवरी, १९३१

अपने पिछले पत्र में, और उसके पहले भी मैंने तुम्हें अलक्सान्दर या सिकन्दर महान् के बारे में कुछ लिखा था। मेरा ख़याल है कि मैंने उसे यूनानी बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल में वह मक़दूनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। मक़दूनियावाले कई बातों में यूनानियों जैसे थे। उन्हें तुम यूनानियों के चचेरे भाई कह सकती हो। सिकन्दर का पिता फ़िलिप मक़दूनिया का बादशाह था। वह बहुत क़ाबिल था। उसने अपने छोटे-से राज्य को बहुत मज़बूत बना लिया था और एक बहुत होशियार सेना संगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान्' कहलाता है और इतिहास में बहुत

---

[1] अरस्तू—यह अरिस्टाटल भी कहलाता है। यह एक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्व-वेत्ता था। इसका जन्म ईसा से ३८४ साल पहले हुआ था। यह प्रसिद्ध दार्शनिक अफ़लातून का शिष्य और सिकन्दर महान् का गुरु था। इसमें असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को उसके ग्रन्थ अब भी लाज़मी तौर पर पढ़ने पड़ते हैं। उसका 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

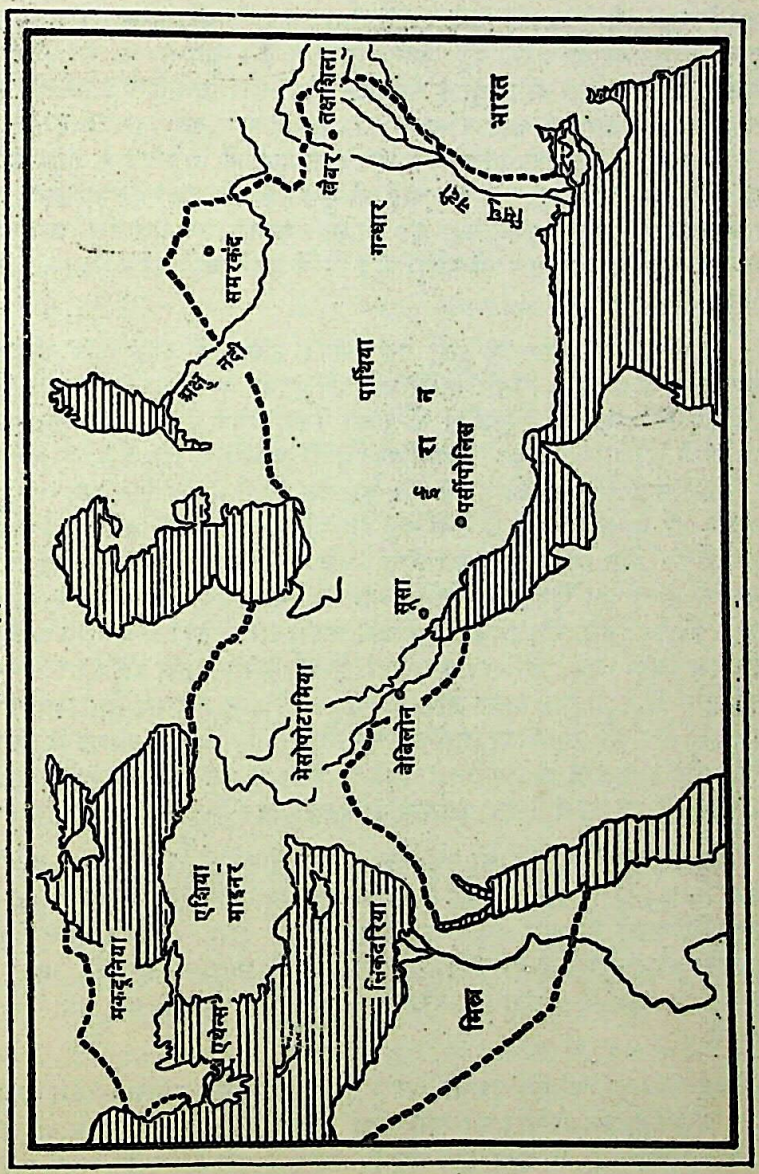

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मशहूर है। लेकिन उसने जो किया वह बहुत-कुछ इसलिए सम्भव हुआ कि उसके पिता ने पहले ही से उसके लिए ज़मीन तैयार कर दी थी। सिकन्दर वास्तव में महान् व्यक्ति था या नहीं, यह कहना मुश्किल है। कम-से-कम मेरे लिए वह अनुकरण करने लायक़ वीर नहीं है। लेकिन थोड़ी-सी ज़िन्दगी में उसने दो महाद्वीपों पर अपने नाम की छाप डाल दी और इतिहास में वह पहला विश्व-विजयी माना जाता है। दूर मध्य-एशिया के भीतर के देशों में सिकन्दर के नाम से वह अभी तक मशहूर है। असल में वह चाहे जो कुछ रहा हो, पर इतिहास उसके नाम को चमकदार बनाने में सफल रहा है। बीसियों शहर उसके नाम पर बसाये गए, जिनमें से बहुत-से आज तक भी मौजूद हैं। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र का इस्कन्दरिया है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ तब उसकी उम्र सिर्फ़ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले से उसका दिल इतना भरा हुआ था कि वह अपने पिता की तैयार की हुई सुसंगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए बेताब था। यूनानी लोग न तो फ़िलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को, लेकिन उनके बल को देखकर वे लोग कुछ दब-से गये थे। इसलिए सब यूनानियों ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति पहले फ़िलिप को, और बाद में सिकन्दर को, मान लिया था। इस तरह उन्होंने उदय होनेवाली इस नई शक्ति के सामने सिर झुका दिया था। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर के ख़िलाफ़ विद्रोह किया और सिकन्दर ने बड़ी क्रूरता और निर्दयता के साथ आक्रमण करके उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहुत-से नगर-निवासियों की हत्या कर डाली और हज़ारों को ग़ुलाम बनाकर बेच दिया। इस क्रूर बर्ताव से उसने यूनान को आतंकित कर दिया। सिकन्दर के जीवन में बर्बरता की यह और इसी तरह की दूसरी घटनाओं की वजह से वह हमारी नज़रों में प्रशंसा के योग्य नहीं रह जाता। इन घटनाओं से हमको विरक्ति और घृणा होती है।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक़्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो अहस्युर का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। बाद में उसने ईरान पर फिर हमला किया और दारा को दूसरी बार हराया। शहंशाह दारा के विशाल महल को उसने यह कहकर तहस-नहस कर दिया कि अहस्युर ने एथेन्स को जलाया था, उसी का यह बदला है।

फ़ारसी भाषा की एक पुरानी किताब है जो फ़िरदौसी नामक कवि ने लगभग एक हज़ार वर्ष हुए लिखी थी। इसे 'शाहनामा' कहते हैं और यह ईरान के बादशाहों का एक सिलसिलेवार इतिहास है। इसमें दारा और सिकन्दर की लड़ाइयों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Foundation Chennai and eGangotri

बहुत काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने भारत से मदद माँगी। 'हवा जैसी तेज़ गति से चलनेवाला एक ऊँट-सवार' उसने फ़ूर या पुरु के पास भेजा, जो उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम में एक राजा था। लेकिन पुरु उसकी ज़रा भी मदद न कर सका। थोड़े दिनों बाद पुरु को ही सिकन्दर के हमले का सामना करना पड़ा। फ़िरदौसी के इस शाहनामे में दिलचस्प बात यह है कि उसमें भारत की तलवारों और कटारों का ईरान के बादशाह और सरदारों द्वारा इस्तेमाल किये जाने के बहुत प्रसंग पाये जाते हैं। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के ज़माने में भी भारत में बढ़िया फ़ौलाद की तलवारें बनती थीं, जिनकी विदेशों में बड़ी माँग थी।

सिकन्दर ईरान से आगे चलता गया। उस इलाके को, जहाँ आज हिरात, काबुल और समरक़न्द हैं, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी के उत्तरी काँठे तक पहुँच गया। वहीं पर उसकी उस भारतीय राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका मुक़ाबला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम यूनानी ढंग से पोरस बताते हैं। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम नहीं जानते कि वह क्या था।[1] कहते हैं कि पुरु ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए आसान नहीं हुआ। कहते हैं कि वह बहुत लम्बा और बड़ा शूरवीर था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि उसे हराने के बाद भी उसने पुरु को अपनी रियासत का अधिकारी बना रहने दिया। लेकिन अब वह राजा पुरु के बजाय यूनानियों के अधीन एक क्षत्रप यानी गवर्नर रह गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम में खैबर दर्रे को पार करके रावलपिण्डी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला[2] होकर भारत में घुसा। आज भी तुम्हें इस प्राचीन शहर के खण्डहर देखने को मिल सकते हैं। पुरु को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गंगा की तरफ़ बढ़ने का इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं

---

[1] इतिहासवेत्ताओं का मत है कि इस राजा का नाम पुरु था। पोरस उसका यूनानी रूपान्तर है।

[2] तक्षशिला—जिला रावलपिण्डी का एक अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर। रामायण के ज़माने में यह गन्धर्वों की राजधानी थी और महाभारत के अनुसार यहीं जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। पहली सदी में यह नगर अमन्त्र नाम से भी मशहूर था। इस शहर के खण्डहर छः वर्गमील में फैले हुए हैं और उनमें बहुत-से बौद्ध मन्दिर और स्तूप देखने में आते हैं। वहाँ का विश्वविद्यालय प्राचीन इतिहास में बड़ा मशहूर रहा है। उसमें शिक्षा पाने के लिए मध्य-एशिया और चीन तक से विद्यार्थी आया करते थे। अब यह पश्चिमी पाकिस्तान में है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, और सिन्ध नदी के काँठे में होकर वह वापस चला गया। वह एक दिलचस्प विचार है कि अगर सिकन्दर भारत के भीतरी भाग की तरफ़ बढ़ा होता तो क्या हुआ होता। क्या वह जीतता चला जाता? या भारतीय सेनाओं ने उसे हरा दिया होता? पुरु जैसे एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत सम्भव था कि मध्य भारत के बड़े-बड़े राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफ़ी बलवान साबित होते। लेकिन सिकन्दर की इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो, उसकी सेना ने उसे एक निश्चय पर पहुँचने को मजबूर कर दिया। वर्षों से घूमते-घामते उसके सिपाही बहुत थक गये थे और उकता गये थे। शायद भारतीय सिपाहियों के रणकौशल का भी उन पर असर पड़ा और वे हार की जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की हठ की और सिकन्दर को राज़ी होना पड़ा। लेकिन वापसी का सफ़र बहुत विनाशकारी साबित हुआ। भोजन और पानी की कमी से फ़ौज को बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ी। इसके बाद ही, ईसा से २३२ वर्ष पूर्व सिकन्दर बाबुल पहुँचकर मर गया। ईरान पर धावे के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृभूमि मक़दूनिया को फिर नहीं देख पाया।

इस तरह सिकन्दर तेंतीस साल की उम्र में मर गया। इस 'महान्' व्यक्ति ने अपनी थोड़ी-सी ज़िन्दगी में क्या किया? इसने कुछ शानदार लड़ाइयाँ जीतीं। निस्सन्देह वह बहुत बड़ा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमण्डी भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उग्र हो जाता था। अपने को वह देवता के समान समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसने अपने कई सच्चे दोस्तों को मरवा डाला और बड़े-बड़े शहरों को, उनके निवासियों समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में वह अपने पीछे कोई भी ठोस चीज़—यहाँ तक कि अच्छी सड़कें भी—नहीं छोड़ गया। आकाश के टूटनेवाले उल्का की तरह वह एकदम चमका और ग़ायब हो गया और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद, उसके कुटुम्ब के लोगों ने एक-दूसरे को मार डाला और उसका महान् साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। सिकन्दर को संसार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में कुछ बाक़ी नहीं बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोड़कर वह भारत को ही नहीं जीत सका था। चीन उस समय भी बहुत बड़ा राज्य था और सिकन्दर उसके पास तक भी नहीं पहुँच पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियों ने उसकी सल्तनत को आपस में बाँट लिया। मिस्र तालमी[1] के हिस्से में पड़ा। उसने वहाँ एक मज़बूत राज्य की

[1] तालमी—सिकन्दर का एक सेनापति था, जो उसकी मृत्यु के पश्चात्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नींव डाली और एक राज-वंश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी इस्कन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। इस्कन्दरिया बहुत बड़ा शहर था और अपने विज्ञान, दर्शन और विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक़ और एशिया-कोचक[1] का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेलेउक (सेल्युकस) के हिस्से में आया। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह भारत के हिस्से पर अपना अधिकार क़ायम नहीं रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहाँ से भगा दी गई।

सिकन्दर भारत में ईसा से पहले ३२६वें साल में आया था। इसका आना क्या था, एक तरह का धावा था जिसका भारत पर कोई असर नहीं पड़ा। कुछ लोगों का विचार है कि इस धावे ने भारतीयों और यूनानियों में रब्त-ज़ब्त शुरू करने में मदद दी। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशों में आपसी आवागमन था और भारत का ईरान और यूनान तक से बराबर सम्पर्क जारी था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढ़ा ज़रूर होगा और भारतीय और यूनानी दोनों सभ्यताएँ कुछ ज्यादा हद तक एक-दूसरे से मिल-जुल गई होंगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की उत्पत्ति 'इण्डस' अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई है।

सिकन्दर के धावे और उसकी मृत्यु से भारत में एक बहुत बड़े साम्राज्य—मौर्य्य साम्राज्य—की नींव पड़ी। भारत के इतिहास का यह एक बहुत शानदार युग है और इसके लिए हमें कुछ समय देना चाहिए।

: १८ :

चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिल्य का अर्थशास्त्र

२५ जनवरी, १९३१

अपने एक पत्र में मैंने मगध का ज़िक्र किया था। यह एक बहुत पुराना राज्य था और उस जगह बसा हुआ था, जहाँ आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना है। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं, उस समय मगध-देश पर नन्दवंश राज करता था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर धावा किया था उस समय पाटलिपुत्र में नन्दवंश का एक

ई० पू० ३०५ में मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसीने तालमी राजवंश चलाया, जो ई० पू० ३० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ई० पू० ३८३ से ई० पू० ३६७ तक है। इसने उत्तरी मिस्र में टालेमाय नामक एक प्रसिद्ध और शानदार शहर बसाया और एक पुस्तकालय और अजायबघर की योजना की।

[1] एशिया कोचक—आजकल यह तुर्की का एशियाई भाग है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा राज करता था। उसी समय वहाँ चन्द्रगुप्त नामक एक नवयुवक भी था जो शायद इस राजा का रिश्तेदार था। मालूम होता है, वह बड़ा चतुर, उत्साही और महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। नन्द राजा ने उसे बहुत ज़्यादा चालाक समझकर, या उसके किसी काम से नाराज़ होकर, उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियों की कहानियों से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण था, जिसे चाणक्य भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही नर्म और दब्बू न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग़ों में बड़ी-बड़ी और हौसले-भरी योजनाएँ थीं, और वे आगे बढ़ना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। चन्द्रगुप्त शायद सिकन्दर के वैभव से चकित और आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण के पीछे चलना चाहता था। अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए चाणक्य के रूप में उसे एक आदर्श मित्र और सलाहकार मिल गया था। ये दोनों ही सजग रहते थे और ग़ौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में क्या हो रहा है। वे अपने अवसर की तलाश में थे।

जल्दी ही उनको अवसर मिल गया। ज्योंही सिकन्दर के मरने की ख़बर तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आ गया। उसने आसपास के लोगों को उभाड़ा और उनकी मदद से यूनानियों की फ़ौज पर, जिसे सिकन्दर छोड़ गया था, आक्रमण कर दिया और उसे भगा दिया। तक्षशिला पर क़ब्ज़ा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायकों ने पाटलिपुत्र पर हमला किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पूर्व यानी सिकन्दर की मौत के सिर्फ़ पाँच वर्ष बाद की बात है। इसी समय से मौर्य्यवंश का शासन शुरू होता है। यह साफ़-साफ़ पता नहीं चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य्य' क्यों कहलाया। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी माँ का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया। और कुछ का यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरों का रखवाला था और मोर को संस्कृत में मयूर कहते हैं। इस शब्द का मूल चाहे जो हो, यह चन्द्रगुप्त मौर्य्य के नाम से ही प्रसिद्ध है, ताकि एक दूसरे मशहूर चन्द्रगुप्त से, जो कई सौ वर्ष बाद भारत का बहुत बड़ा राजा हुआ, इसे अलग समझा जा सके।

महाभारत और दूसरी पुरानी पुस्तकों और कथाओं में चक्रवर्ती राजाओं का वर्णन मिलता है, जिन्होंने सारे भारत पर राज किया। लेकिन हमें उस ज़माने का ठीक हाल मालूम नहीं और न हम यही जानते हैं कि भारत या भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह सम्भव है कि उस समय की जो कहानियाँ चली आती हैं, उनमें पुराने राजाओं के बल को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया हो। जो कुछ भी हो, चन्द्रगुप्त मौर्य्य का साम्राज्य इतिहास में भारत के मज़बूत और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लम्बे-चौड़े साम्राज्य की पहली मिसाल है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था। यह भी साफ़ है कि ऐसा शासन और राज्य एकदम से पैदा नहीं हो गया होगा। बहुत दिनों से कई तरह की प्रक्रियाएँ होती चली आई होंगी, छोटे-छोटे राज्य मिलते रहे होंगे और शासन-कला में प्रगति जारी रही होगी।

चन्द्रगुप्त के शासन-काल में, सिकन्दर के सेनापति सेलेउक ने, जिसे उत्तराधिकार में एशिया-कोचक से लेकर भारत तक के देशों का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पार कर भारत पर हमला किया। पर अपनी इस जल्दबाज़ी के लिए उसे बहुत जल्दी पछताना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था उसी रास्ते उसे अपना-सा मुँह लेकर लौट जाना पड़ा। यहाँ से कुछ हासिल करने के बजाय उलटा उसे काबुल और हिरात तक गान्धार या अफ़ग़ानिस्तान का एक बहुत बड़ा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने सेलेउक की पुत्री से शादी भी कर ली। उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत में, अफ़ग़ानिस्तान के एक हिस्से में, काबुल से बंगाल तक और अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक फैल गया। सिर्फ़ दक्षिण भारत उसके अधीन नहीं था। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सेलेउक ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थेने को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। मेगस्थेने हमारे लिए उस ज़माने का एक बड़ा दिलचस्प वर्णन छोड़ गया है। लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमें मिलता है, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा तफ़सीलवार हाल मिलता है। इस ग्रन्थ का नाम है 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' यानी कौटिल्य का अर्थशास्त्र। यह कौटिल्य और कोई नहीं, हमारा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है 'सम्पत्ति का शास्त्र'।

इस अर्थशास्त्र में इतने विषय हैं, और इतनी विभिन्न बातों पर इसमें चर्चा की गई है कि तुमको उसके बारे में ज्यादा बता सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। उसमें राजा के धर्म का, उसके मन्त्रियों और सलाहकारों के कर्त्तव्यों का, राजपरिषद् का, शासन-विभागों का, वाणिज्य और व्यापार का, गाँवों और क़स्बों के शासन का, क़ानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाजों का, स्त्रियों के अधिकार का, बूढ़े और असहाय लोगों के पोषण का, विवाह और तलाक़ का, टैक्सों का, थलसेना और जलसेना का, युद्ध और सन्धि का, कूटनीति का, खेती-बाड़ी का, कातने और बुनने का, कारीगरों का, पासपोर्टों का, और जेलों तक का ज़िक्र है! मैं इस सूची को और भी बढ़ा सकता हूँ, लेकिन इस पत्र को कौटिल्य के अध्यायों के शीर्षकों से नहीं भरना चाहता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब राजा राजतिलक के समय जनता के हाथों से राज्यसत्ता पाता था, तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पड़ती थी। उसे प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, "अगर मैं तुम्हें सताऊँ तो स्वर्ग से, जीवन से और सन्तान से वंचित रहूँ।" इस ग्रन्थ में राजा की दिनचर्या दी हुई है। उसके अनुसार राजा को ज़रूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए, क्योंकि जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तज़ार कर सकता है। "अगर राजा मुस्तैद होगा तो उसकी प्रजा भी उतनी ही मुस्तैद होगी।" "अपनी प्रजा की खुशी में उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण है; जो बात उसे अच्छी लगे उसीको वह अच्छी न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे उसीको वह भी अच्छी समझे।"

हमारी इस दुनिया से अब राजा-महाराजा उठते जा रहे हैं। जो इने-गिने बच गये हैं वे भी बहुत जल्द ग़ायब हो जायँगे। लेकिन यह ध्यान देने लायक़ बात है कि प्राचीन भारत में राजपद का मतलब जनता की सेवा था। उस समय राजाओं का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके हाथों में कोई निरंकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अनुचित व्यवहार करता था तो प्रजा को अधिकार था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा नियुक्त कर दे। उन दिनों यही विचार और सिद्धान्त था। फिर भी उस समय बहुत-से राजा ऐसे हुए जो इस आदर्श से नीचे गिरे और जिन्होंने अपनी बेवक़ूफ़ी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतों में फँसाया।

अर्थशास्त्र में इस पुराने मत पर भी ज़ोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकेगा।'[1] इससे प्रकट होता है कि उस ज़माने में किसी-न-किसी तरह के गुलाम होते थे जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होंगे, या देश के रहनेवाले होंगे।[2] लेकिन जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध था, इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी हालत में गुलाम न बनाये जायँ।

मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बड़ा शानदार शहर था और गंगा के किनारे-किनारे नौ मील तक फैला हुआ था। इसकी चारदीवारी में चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकड़ों छोटे दरवाज़े थे। मकान ज़्यादातर लकड़ी के बने हुए थे, और चूँकि आग लगने का डर रहता था, इसलिए आग बुझाने के लिए पूरी सावधानी से इन्तज़ाम किया जाता था। ख़ास-ख़ास सड़कों पर पानी से भरे हज़ारों घड़े हमेशा रक्खे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने घर में पानी से भरे घड़े, सीढ़ी, काँटा और दूसरी ज़रूरी चीज़ें तैयार रखनी पड़ती थीं ताकि आग लगने पर उनका उपयोग किया जा सके।

---

[1] 'न त्वेवाऽऽर्यस्य दास भावः।'—कौटिल्य

[2] 'म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुंवा'—कौटिल्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय-प्रज्ञा-अनुसन्धान
पुस्तक संख्या 3033

कौटिल्य ने शहरों के बारे में एक नियम का ज़िक्र किया है जो तुम्हें बहुत दिलचस्प मालूम होगा। अगर कोई आदमी सड़क पर कूड़ा फेंकता था तो उसपर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई रास्ते में कीचड़ या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन नियमों पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर और साफ़-सुथरे रहे होंगे। मैं चाहता हूँ कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों में भी इसी तरह के कुछ नियम जारी कर दिये जायँ!

पाटलिपुत्र में व्यवस्था के लिए एक नगर-परिषद् थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमें तीस सदस्य होते थे और पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियाँ बनाई जाती थीं। शहरी उद्योगों और दस्तकारियों का, यात्रियों और तीर्थ-यात्रियों का, टैक्स के लिए मौतों और पैदायशों का, माल तैयार करने का और दूसरी बातों का प्रबन्ध इन्हीं समितियों के हाथ में रहता था। पूरी परिषद् सफ़ाई, आय-व्यय, पानी की व्यवस्था, बाग़-बग़ीचों और सार्वजनिक इमारतों का प्रबन्ध देखती थी।

न्याय के लिए पंचायतें और अपीलों के लिए अदालतें थीं। अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए ख़ास उपाय किये जाते थे। राज्य के सारे भण्डारों का आधा अनाज अकाल के समय के लिए हमेशा जमा रक्खा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ वर्ष पहले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने संगठित किया था। मैंने अभी कौटिल्य और मेगस्थेने की बयान की हुई कुछ बातों का ज़िक्र यहाँ किया है। इनसे ही तुम्हें मोटे तौर पर यह पता लग जायगा कि उत्तरी भारत की उस समय क्या हालत थी। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत-से बड़े-बड़े शहरों और हज़ारों क़स्बों और गाँवों तक सारे देश में ज़िन्दगी की चहल-पहल थी। साम्राज्य के एक भाग से दूसरे भाग तक बड़ी-बड़ी सड़कें थीं। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम की सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरें थीं और उनकी देखभाल के लिए एक ख़ास विभाग भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहों, घाटों, पुलों और एक जगह से दूसरी जगह तक आने-जानेवाले बहुत-से जहाज़ों और नौकाओं की देख-रेख किया करता था। जहाज़ समुद्र-पार चीन और बर्मा तक जाते थे।

इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज किया। ईसा पूर्व २९६वें वर्ष में उसकी मृत्यु हुई। अपने अगले पत्र में हम मौर्य्य-साम्राज्य की कहानी जारी रक्खेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: १९ :

तीन महीने !

क्रेकोविया जहाज़ से—
२१ अप्रैल, १९३१

तुम्हें पत्र लिखे बहुत दिन हो गये। क़रीब तीन महीने—दुःख, परेशानी और मुसीबत के तीन महीने—गुज़र गये। भारत के, और सबसे बढ़कर हमारे कुटुम्ब के परिवर्तन के ये तीन महीने ! भारत ने फ़िलहाल सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा आन्दोलन रोक दिया है, लेकिन जो सवाल हमारे सामने हैं उनके हल करने में कोई आसानी पैदा नहीं हुई। और हमारे कुटुम्ब ने अपना प्यारा बुज़ुर्ग खो दिया, जिसने हमें बल और प्रेरणा दी थी, और जिसकी आश्रय देनेवाली देख-रेख में हम सब बड़े हुए और अपनी सबकी माता भारत के लिए अपना कर्त्तव्य अदा करना सीखा।

नैनी-जेल का वह दिन मुझे कितनी अच्छी तरह याद है ! वह २६ जनवरी का दिन था और मैं हमेशा की तरह पुरानी बातों के बारे में तुम्हें पत्र लिखने बैठा था। उसके एक दिन पहले मैं तुम्हें चन्द्रगुप्त और उसके स्थापित किये हुए मौर्य्य-साम्राज्य के बारे में लिख चुका था। मैंने वादा किया था कि इस वर्णन को मैं जारी रक्खूंगा और उन लोगों का जो चन्द्रगुप्त के बाद हुए, और 'देवानां प्रिय' अशोक महान् का, जो भारतीय आकाश में एक चमकदार सितारे की तरह चमका और अपना नाम अमर करके गुज़र गया, हाल बताऊँगा। और जब मैं अशोक की याद कर रहा था, मेरा मन घूम-फिरकर वर्तमान की ओर—२६ जनवरी पर आ पहुँचा, जिस दिन मैं कलम-दवात लेकर तुम्हें लिखने बैठा था। हम लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ा दिन था, क्योंकि एक साल पहले इसी दिन हमने सारे भारत में, शहरों और गाँवों में, आज़ादी का दिन—पूर्ण स्वराज्य का दिन—मनाया था और हमारे देश के करोड़ों लोगों ने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ली थी। तब से एक साल बीत गया—संघर्ष का, तकलीफ़ों का और विजय का एक साल—और एक बार फिर भारत उसी महान् दिन को मनाने जा रहा था। जब मैं नैनी-जेल की ६ नम्बर की बैरक में बैठा हुआ था, मुझे उस दिन सारे देश में होनेवाली सभाओं, जलूसों, लाठी-प्रहारों और गिरफ़्तारियों का ख़याल हो आया था। गर्व, खुशी और दर्द के साथ मैं इन सब बातों का विचार कर ही रहा था कि मेरी कल्पना की धारा एकदम रुक गई। बाहर से ख़बर मिली कि दादू बहुत बीमार हैं और उनके पास जाने के लिए मैं फ़ौरन ही छोड़ दिया जाऊँगा। चिन्ता से मेरी विचार-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा टूट गई और तुम्हें जो पत्र लिखना शुरू किया था उसे एक ओर रखकर नैनी-जेल से आनन्द-भवन के लिए रवाना हो गया।

दादू की मृत्यु से पहले दस दिन मैं उनके साथ रहा। दस दिन तक हम उनके कष्ट और यातना को और मौत के दूत से उनकी बहादुराना लड़ाई को देखा किये। अपने जीवन में उन्होंने बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और बहुत-सी विजय हासिल कीं। हार मानना तो वह जानते ही न थे, और मौत को अपने सामने खड़ा हुआ देखकर भी वह उसके सामने डटे रहे। जब मैं उनकी इस आख़िरी लड़ाई को देख रहा था, और जिन्हें मैं इतना प्यार करता था उन्हें मदद पहुँचाने में अपनी बेबसी पर व्याकुल हो रहा था, तो मुझे कुछ पंक्तियाँ, जो मैंने बहुत दिन हुए एडगर एलन पो की किसी कहानी में पढ़ी थीं, याद आ गईं, जिनका अर्थ यह है—

"मनुष्य ख़ुद देवदूतों के सामने हार नहीं मानता और न वह मौत के सामने ही पूरी तरह सिर झुकाता है; अगर वह हार मानता है तो, अपनी इच्छा-शक्ति की कमज़ोरी की वजह से ही मानता है।"

६ फ़रवरी को सुबह वह हमें छोड़कर चले गए। जिस झण्डे को वह इतना प्यार करते थे उसी में उनका शरीर लपेटकर हम उन्हें लखनऊ से आनन्द-भवन ले आये। थोड़ी ही देर में वह जलकर मुट्ठी भर राख हो गया और गंगा इस अनमोल विभूति को समुद्र की ओर बहा ले गई।

लाखों आदमियों ने उनके लिए शोक मनाया, लेकिन हम सबपर, जो उनके बच्चे हैं और जो उनके माँस और उनकी हड्डियों से बने हैं, कैसी बीती ! और उस नये आनन्द-भवन का, जो हम लोगों के समान ही उनका बच्चा है, और जिसे उन्होंने इतने प्यार से और इतनी सावधानी से तैयार करवाया था, क्या हुआ ? वह अब सुनसान और वीरान हो गया, मानो उसकी जान ही निकल गई। और हम उसके बरामदों में, उन्हींका बराबर ख़याल करते हुए, जिन्होंने इसे बनाया था, दबे पाँव चलते हैं कि कहीं उनकी शान्ति भंग न हो जाय।

हम उनके लिए शोक करते हैं और क़दम-क़दम पर उनकी कमी को महसूस करते हैं। दिन गुज़रते जाते हैं, लेकिन न तो दुःख कम होता दीखता है और न उनका विछोह सहना आसान होता दीखता है। लेकिन फिर मैं सोचता हूँ कि यह चीज़ उन्हें कभी पसन्द न आयेगी। उन्हें यह कभी पसन्द न होगा कि हम रंज से हार मान लें। वह तो यही चाहेंगे कि जैसे उन्होंने अपनी तकलीफ़ों का मुक़ाबला किया वैसे ही हम अपने रंज का मुक़ाबला करें और उसपर विजय पायें। वह चाहेंगे कि जो काम उन्होंने अधूरा छोड़ा है, उसे हम जारी रक्खें। फिर, जब काम हमें बुला रहा है और भारत की आज़ादी का उद्देश्य हमारी सेवाओं की माँग कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है, तब हम चुप कैसे बैठ सकते हैं, और व्यर्थ के शोक के सामने कैसे सिर झुका सकते हैं? इसी उद्देश्य के लिए उन्होंने जान दी। इसीके लिए हम ज़िन्दा रहेंगे, कोशिश करेंगे और अगर ज़रूरत हुई तो जान भी देंगे। आख़िर हम उनकी सन्तान हैं और हममें उनकी आग, ताक़त और पक्के इरादों का कुछ-न-कुछ अंश मौजूद है।

इस समय, जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, नीले रंग का गहरा अरब सागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है और दूसरी तरफ़ बहुत दूर के फ़ासले पर, भारत का किनारा है, जो हमसे छूटता जा रहा है। मैं इस लम्बे-चौड़े और लगभग अपरिमित विस्तार का ख़याल करता हूँ और उसकी तुलना नैनी-जेल की ऊँची दीवार-वाली छोटी-सी बैरक से करता हूँ, जहाँ से मैंने तुम्हें पिछले पत्र लिखे थे। जहाँ समुद्र आकाश से मिलता-सा मालूम होता है, वहाँ क्षितिज की रेखा साफ़-साफ़ मेरे सामने नज़र आ रही है। लेकिन जेल में क़ैदी का क्षितिज तो उस दीवार की चोटी है जिससे वह घिरा रहता है। हममें से बहुत-से, जो कल जेलों में थे, आज बाहर हैं और बाहर की आज़ाद हवा में साँस ले सकते हैं। लेकिन हमारे बहुत-से साथी अभी तक अपनी तंग कोठरियों में बन्द हैं और समुद्र, ज़मीन या क्षितिज के दर्शन से वंचित हैं। ख़ुद भारत अभी तक जेल में है और उसे अभी आज़ादी मिलनी बाक़ी है। और अगर भारत आज़ाद नहीं है तो हमारी आज़ादी की क्या क़ीमत है?

: २० :

अरब सागर

क्रेकोविया जहाज़,
२२ अप्रैल, १९३१

यह कैसे संयोग की बात है कि हम इस क्रेकोविया जहाज़ पर बम्बई से लंका जा रहे हैं! मुझे अच्छी तरह याद है कि क़रीब चार वर्ष पहले मैं किस तरह वेनिस में इसके आने का इन्तज़ार कर रहा था। दादू इसी जहाज़ से आ रहे थे और मैं स्वीज़रलैण्ड के बेक्स स्कूल में तुम्हें छोड़कर उनसे मिलने के लिए वेनिस गया था। फिर कुछ महीने बाद इसी क्रेकोविया जहाज़ से दादू यूरोप से भारत वापस लौटे थे और मैं उनसे बम्बई में मिला था। उस यात्रा के उनके कुछ साथी आज भी हमारे साथ हैं और ये सब दादू के बारे में अपने बहुत-से अनुभव सुनाते रहते हैं।

मैंने तुम्हें कल के पत्र में पिछले तीन महीनों की बदलती हुई घटनाओं का हाल लिखा था। पिछले कुछ हफ़्तों में एक बात ऐसी हुई है, जिसे मैं चाहता हूँ कि तुम याद रक्खो; क्योंकि भारत उसे बहुत वर्षों तक याद रक्खेगा। एक महीने से कम हुआ कानपुर शहर में भारत के एक बहादुर सिपाही, गणेशशंकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यार्थी, चल बसे। वह उस समय मारे गये, जब वह दूसरों को बचाने की कोशिश कर रहे थे।

गणेशजी मेरे प्यारे दोस्त थे। एक बहुत नेक और निःस्वार्थ साथी थे, जिनके साथ काम करना सौभाग्य की बात थी। पिछले महीने जब कानपुर में लोगों के सिर पर पागलपन सवार हुआ, और एक भारतीय दूसरे भारतीय को क़त्ल करने लगा, तो गणेशजी आग में कूद पड़े—अपने किसी देश-भाई से लड़ने के लिए नहीं—बल्कि उन्हें बचाने के लिए। उन्होंने सैकड़ों को बचाया; सिर्फ अपने को वह नहीं बचा सके। अपने बचाव की उन्होंने परवाह भी नहीं की और उनकी मौत उन लोगों के हाथों हुई, जिन्हें वह बचाना चाहते थे। कानपुर का और हमारे प्रान्त का एक हीरा लुट गया और हममें से बहुतेरे अपने एक प्यारे और बुद्धिमान् मित्र से हाथ धो बैठे। लेकिन कितनी शानदार थी उनकी मौत! उन्होंने शान्त मुद्रा और निर्भीकता के साथ गुण्डों के पागलपन का मुक़ाबला किया और खतरे और मौत के बीच भी उन्हें ध्यान था तो सिर्फ़ दूसरों का और उन्हें बचाने का!

परिवर्तनों के ये तीन महीने! समय के सागर में एक बूंद के समान और राष्ट्र की जिन्दगी में एक पल के समान! सिर्फ़ तीन हफ़्ते पहले मैं मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहर देखने गया था, जो सिन्ध में, सिन्ध नदी के काँठे में हैं। उस समय तुम मेरे साथ नहीं थी। मैंने वहाँ एक बहुत बड़ा शहर ज़मीन के अन्दर से निकला हुआ देखा—ऐसा शहर जिसमें मज़बूत ईंटों के मकान और लम्बी-चौड़ी सड़कें थीं और कहा जाता है कि जिसे बने पाँच हज़ार वर्ष हो गये। मैंने इस प्राचीन शहर में मिले हुए सुन्दर-सुन्दर ज़ेवर और मिट्टी के बरतन देखे। इन सबको देखते-देखते मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो चटकीले-भड़कीले कपड़े पहने हुए पुरुष और स्त्रियाँ इसकी सड़कों और गली-कूचों में आ-जा रहे हैं, बच्चे बच्चों के-से खेल खेल रहे हैं, माल से भरे बाज़ार गुलज़ार हो रहे हैं, लोग सौदा ले-दे रहे हैं और मन्दिरों की घण्टियाँ बज रही हैं।

इन पाँच हज़ार वर्षों से भारत अपना जीवन क़ायम रखता आ रहा है और उसने बहुत-से परिवर्तन देखे हैं। मैं कभी-कभी सोचने लगता हूँ कि क्या हमारी यह बूढ़ी भारतमाता, जो इतनी प्राचीन और फिर भी इतनी नौजवान और सुन्दर है, अपने बच्चों के उतावलेपन पर, उनकी छोटी-मोटी परेशानियों पर, उनके हर्ष और शोक पर, जो दिन भर रहते हैं और फिर खत्म हो जाते हैं, मुस्कराती न होगी!

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २१ :

छट्टी के दिन और स्वप्न-यात्रा

२६ मार्च, १९३२

चौदह महीने हो चुके, जब मैंने तुम्हें नैनी-जेल से प्राचीन इतिहास के बारे में पत्र लिखे थे। इसके तीन महीने बाद पत्रों के उसी सिलसिले में मैंने अरब सागर से तुम्हें दो छोटे-छोटे पत्र और लिखे थे। उस समय मैं क्रेकोविया जहाज़ पर लंका की यात्रा पर जा रहा था। जैसा कि मैंने लिखा था, विशाल समुद्र मेरे सामने दूर तक पसरा हुआ था। मेरी भूखी आँखें उसे निहार रही थीं और अघाती नहीं थीं। इसके बाद हम लंका पहुँचे और महीने भर तक बड़े आनन्द से छुट्टियाँ मनाईं और अपनी मुसीबतें और परेशानियाँ भूल जाने की कोशिश की। उस अत्यन्त सुन्दर द्वीप में हम खूब घूमे और उसका अतुलित सौन्दर्य और वहाँ की प्रकृति की प्रचुरता पर चकित हो गये। कैंडी, नुवारा-ईलिया, और प्राचीन वैभव के चिह्नों और खण्डहरों से भरपूर अनुराधपुर—इन सारी जगहों की, जहाँ हम गये, याद करके कितना आनन्द आता है! लेकिन मुझे सबसे ज्यादा आनन्द तो आता है, भूमध्य-प्रदेश के उन ठण्डे जंगलों की याद करके जिनमें जीवन बिखरा पड़ता है, जिनकी हज़ारों आँखें हमें देखती हैं; या पतले और बिलकुल सीधे सुपारी के सुन्दर वृक्षों, नारियल के अनगिनती पेड़ों और ताल-वृक्षों के किनारोंवाले उस तट की याद करके जहाँ इस टापू की पन्ने जैसी हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमाओं से मिलती है और सागर-जल किनारे पर छलकता और हिलोरों से अठखेलियाँ करता है और हवा ताल-वृक्षों के पत्तों में होकर मर्मर आवाज़ करती हुई निकल जाती है।

बहुत दिन हुए तब इस भूमध्य-प्रदेशों में तुमने और मैंने पहली बार यात्रा की थी, जिसकी याद क़रीब-क़रीब जाती रही है, लेकिन वह एक नया अनुभव था। मुझे वहाँ जाने का आकर्षण नहीं था क्योंकि मैं वहाँ की गर्मी से घबराता था। मुझे तो समुद्र, पहाड़ और सबसे ज्यादा बर्फ़ से ढकी हुई ऊँची चोटियाँ और हिम नदियाँ मोहती हैं। लेकिन लंका के इस कुछ दिनों के निवास से मुझे भूमध्य-प्रदेश की मनोहरता और जादू जैसी मोहकता का भी कुछ अनुभव हुआ। और मैं यह लालसा लिये हुए वापस आया कि मौक़ा मिला तो इनसे फिर मिलूंगा।

लंका में छुट्टी का हमारा एक महीना देखते-देखते बीत गया और हम समुद्र का सँकरा भाग पार करके भारत के दक्षिणी नाके पर पहुँचे। क्या तुम्हें हमारी कन्याकुमारी की यात्रा की याद है? कहते हैं कि यहाँ कुमारिका देवी निवास करती हैं और अपने देश की रक्षा करती है, और जिसे, हमारे नामों को तोड़-मरोड़कर भ्रष्ट करने में कुशल पश्चिम-निवासी 'केप कोमोरिन' कहते हैं। उस समय वहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम सचमुच भारतमाता के चरणों में ही बैठे थे, और वहीं हमने अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के समुद्रजलों का संगम देखा था और हमारे मन में यह कल्पना पैदा हुई थी मानो कि ये दोनों भारत की पूजा कर रहे हैं! उस जगह पर अद्‌भुत शान्ति थी और मेरा मन भारत के दूसरे छोर पर कई हज़ार मील दूर दौड़ गया था, जहाँ हिमालय की चोटियाँ कभी न गलनेवाली बर्फ़ का ताज पहने रहती हैं और जहाँ ऐसी ही शान्ति रहती है। लेकिन इन दोनों के बीच में तो काफ़ी रगड़े-झगड़े हैं, ग़रीबी है, और मुसीबतें हैं!

हम कन्याकुमारी से बिदा हुए और उत्तर की तरफ़ चले और तिरुवांकुर और कोचीन होते हुए और मलाबार की समुद्री झीलों को पार करते हुए आगे बढ़े। ये सब स्थान कितने सुन्दर थे और हमारी नाव चाँदनी रात में पेड़ों से छाये हुए किनारों के बीच में होकर कैसी फिलसती चली जाती थी, मानो हम स्वप्न-लोक में विचर रहे हों। इसके बाद हम मैसूर, हैदराबाद और बम्बई होते हुए आख़ीर में इलाहाबाद आ पहुँचे। यह नौ महीने पहले की यानी जून के महीने की बात है।

लेकिन आजकल तो भारत में जितने रास्ते हैं, वे सब हमें, देर-सवेर एक ही जगह पहुँचा देते हैं। सारी यात्राएँ, चाहे वह स्वप्न की हों या असली, जेलख़ाने में ही जाकर खत्म होती हैं! और इसलिए मैं फिर अपनी पुरानी परिचित दीवारों के अन्दर पहुँच गया, जहाँ सोचने के लिए और तुम्हें पत्र लिखने के लिए—चाहे वे तुम्हारे पास पहुँचें न या न पहुँचें—बहुत समय मिलता है। लड़ाई फिर शुरू हो गई है और हमारे देशवासी, स्त्री और पुरुष, लड़के और लड़कियाँ, स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए और इस देश को ग़रीबी की लानत से छुड़ाने के लिए, निकल पड़े हैं। लेकिन स्वतन्त्रता की देवी मुश्किल से खुश होती है; पुराने ज़माने की तरह आज भी यह अपने भक्तों से, नर-बलि चाहती है।

आज मुझे जेल में आये पूरे तीन महीने हो गये। तीन महीने पहले, आज ही के दिन, यानी २६ दिसम्बर को, मैं छठी बार गिरफ़्तार किया गया था। पत्रों के इस सिलसिले को फिर से शुरू करने में मैंने बहुत देर कर दी। लेकिन तुम जानती हो कि जब दिमाग़ वर्तमान से भरा हुआ हो तो सुदूर अतीत के बारे में सोचना कितना मुश्किल हो जाता है। जेल में पहुँचने के बाद जमने-जमाने और बाहर की घटनाओं की चिन्ता से पीछा छुड़ाने में कुछ समय लग जाता है। अब मैं तुम्हें बराबर पत्र लिखने की कोशिश करूँगा। लेकिन अब मैं एक दूसरी जेल में हूँ और यह बदली मेरे पसन्द की नहीं है। इससे मेरे काम में कुछ रुकावट पड़ती है। इस जेल में मेरा क्षितिज इतना ऊँचा हो गया है जितना पहले कभी नहीं रहा। यहाँ मेरे सामने जो दीवार है उसकी तुलना, कम-से-कम ऊँचाई में तो, चीन की दीवार से होनी चाहिए! यह क़रीब २५ फुट ऊँची लगती है और हर रोज़ सुबह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरज की किरणों को इसे पार करके हमारे पास तक पहुँचने में डेढ़ घण्टा ज्यादा लग जाता है।

हमारा क्षितिज थोड़ी देर के लिए सीमित भले ही हो; लेकिन विशाल नीले समुद्र और पहाड़ों और रेगिस्तानों, और दस महीने पहले तुमने, तुम्हारी मम्मी ने और मैंने जो स्वप्नयात्रा की, इन सबकी याद, जो आज कल्पना की-सी बात हो गई है, बहुत भली मालूम होती है।

: २२ :

जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

२८ मार्च, १९३२

आओ, अब हम दुनिया के इतिहास के सिलसिले को, जहाँ से हमने उसे छोड़ा था, फिर शुरू करें और अतीत की कुछ झाँकियाँ देखने की कोशिश करें। यह एक उलझा हुआ जाल है जिसका सुलझाना मुश्किल है और इसके सारे हिस्सों पर एक साथ नज़र डाल सकना और भी ज्यादा मुश्किल है। कभी-कभी हम उसके किसी खास टुकड़े में उलझने लगते हैं और उसे ज़रूरत से ज्यादा महत्व देने लगते हैं। क़रीब-क़रीब सभीकी यह भावना होती है कि अपने देश का, चाहे वह कोई-सा देश हो, इतिहास दूसरे देशों के इतिहास से ज्यादा शानदार है और अध्ययन के ज्यादा योग्य है। इस चीज़ के खिलाफ़ मैं एक बार पहले भी तुम्हें चेतावनी दे चुका हूँ, और आज फिर दह देना चाहता हूँ। इस जाल में फँस जाना बहुत ही आसान है। सच तो यह है कि इसीसे बचाने के लिए मैंने तुम्हें इन पत्रों का लिखना शुरू किया था। लेकिन इसके बावजूद कभी-कभी मैं महसूस करता हूँ कि मैं खुद वही ग़लती कर बैठता हूँ। लेकिन अगर खुद मेरी ही शिक्षा में कसर है और जो इतिहास मुझे पढ़ाया गया, वही ऊट-पटाँग है तो इसमें मेरा क्या क़सूर? इस कमी को पूरा करने के लिए मैंने जेल के एकान्त में आगे अध्ययन करने की कोशिश की और उसमें मुझे शायद कुछ हद तक कामयाबी भी मिली है। लेकिन अपने मन की चित्रशाला में घटनाओं और व्यक्तियों की जिन तसवीरों को मैंने अपने बचपन और जवानी के दिनों में लटकाया था, उन्हें वहाँ से हटा नहीं सकता। इतिहास के बारे में मेरे दृष्टिकोण पर, जो अधूरे ज्ञान की वजह से वैसे ही काफ़ी सीमित है, इन तसवीरों का भी असर पड़ता है। इसलिए जो कुछ मैं लिखूंगा उसमें मुझसे ग़लतियाँ होंगी; बहुत-सी बेमतलब बातें लिख जाऊँगा और कई बार बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों का ज़िक्र तक करना भूल जाऊँगा। लेकिन ये पत्र इसलिए लिखे भी नहीं गये हैं कि वे इतिहास की पुस्तकों की जगह ले लें। ये तो उस आपसी छोटी-छोटी बातचीत की तरह हैं—कम-से-कम मैं तो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्हें ऐसा ही समझकर खुश होता हूँ—जो हम दोनों में होतीं, अगर एक हज़ार मील का फ़ासला और कई ठोस दीवारें हम दोनों को जुदा न किये होतीं।

मैं उन मशहूर आदमियों के बारे में तुम्हें लिखे बिना नहीं रह सकता जिनके शानदार कारनामों से इतिहास के पृष्ठ भरे हुए हैं। अपने ढंग पर उनके खुद के हाल भी दिलचस्प हैं और उनसे हमें उस ज़माने को समझने में मदद मिलती है जिसमें वे हुए थे। लेकिन इतिहास सिर्फ़ बड़े-बड़े आदमियों, बादशाहों, सम्राटों या इसी तरह के दूसरे व्यक्तियों के कारनामों का लेखा ही तो नहीं है। अगर ऐसा होता तो इतिहास का काम अभी तक खत्म हो जाना चाहिए था, क्योंकि बादशाह और शहंशाह दुनिया के रंगमंच पर अब अकड़कर चलते हुए दिखाई नहीं देते। लेकिन वास्तव में महान् स्त्रियों और पुरुषों को अपने प्रदर्शन के लिए किसी ताज या तख्त या हीरे जवाहरात या खिताबों की ज़रूरत नहीं है। सिर्फ़ राजाओं और नवाबों को, जिनके अन्दर सिवाय राजापन या नवाबी के और कुछ भी नहीं होता, अपना नंगापन छिपाने के लिए तरह-तरह की वर्दियाँ और राजसी पोशाकें पहननी पड़ती हैं। बदक़िस्मती से इस ऊपरी दिखावे से हममें से बहुत-से इस असर में आ जाते हैं और लोग धोखे में फँस जाते हैं और सिर पर ताज रखनेवाले नाम-मात्र के राजा को राजा कहने की ग़लती कर लेते हैं।

असली इतिहास में इधर-उधर के कुछ इने-गिने व्यक्तियों का वर्णन नहीं होना चाहिए, बल्कि जनता के लोगों का होना चाहिए, जिनसे राष्ट्र बनता है, जो मेहनत करते हैं और अपने श्रम से जीवन की ज़रूरतों और सुख-सुविधा की चीज़ें पैदा करते हैं, और जो हज़ारों ढंग से एक दूसरे पर असर डालते हैं। मनुष्य-जाति का ऐसा इतिहास सचमुच एक चित्ताकर्षक कहानी होगी। यह कहानी होगी युगों से चले आते हुए मनुष्य के प्रकृति और उसके तत्वों वगैरा से, जंगली जानवरों और जंगलों से, संघर्ष की; और अन्त में उस कठिन संघर्ष की जो उसे अपनी ही जाति के कुछ ऐसे लोगों के खिलाफ़ करना पड़ा, जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए उसे दबाये रखने की और उसका शोषण करने की कोशिश की। इतिहास तो जीविका के लिए मनुष्य के संघर्ष की कहानी है, और चूँकि ज़िन्दा रहने के लिए कुछ चीज़ें, जैसे भोजन, रहने की जगह, और ठण्डे मुल्कों में कपड़े, ज़रूरी हैं, इसलिए जिन लोगों का ज़रूरत के इन सामानों पर नियन्त्रण रहा, उन्होंने अपनी हुकूमत जमा ली। राजाओं और हाकिमों के हाथ में सत्ता इसी वजह से रही है, कि जीविका के कुछ आवश्यक साधनों पर उनका अधिकार या नियन्त्रण था और इस नियन्त्रण ने उन्हें जनता को भूखों मारकर अपने वश में कर लेने की ताक़त दे दी। इसी वजह से हमें यह अजीब दृश्य देखने को मिलता है कि मुट्ठी भर आदमी बहुत बड़े जन-समुदाय को चूस रहे हैं; बहुत-से आदमी बिना कुछ मेहनत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये ही रुपया कमा रहे हैं और बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं, जो मेहनत करते हैं, लेकिन कमाते बहुत कम हैं।

शुरू में अकेले शिकार करनेवाला जंगली आदमी धीरे-धीरे अपना कुटुम्ब बना लेता है और फिर सारा कुनबा मिलकर और एक दूसरे के फ़ायदे के लिए मेहनत करता है। बहुत-से कुनबे आपस में मिलकर गाँव बना लेते हैं; और बाद में कई गाँवों के मज़दूर, व्यापारी और दस्तकार मिलकर कारीगरों के संघ बना लेते हैं। इस तरह धीरे-धीरे सामाजिक इकाई बढ़ती दीखती है। शुरू में व्यक्ति था जो जंगली था। उस समय किसी तरह का कोई समाज नहीं था। उसके बाद कुटुम्ब उससे बड़ी इकाई बनी, और उसके बाद गाँव और फिर गाँवों का समूह बना। इस सामाजिक इकाई का विकास क्यों हुआ? इसलिए कि जीविका के लिए संघर्ष ने मनुष्य को उन्नति और सहयोग करने पर मजबूर कर दिया, क्योंकि सहयोग के साथ समान शत्रु से बचाव करना या उस पर हमला करना ज़्यादा कारगर होता है, बनिस्बत इसके कि सब अलग-अलग अपना बचाव करें या हमला करें। काम करने में सहयोग इससे भी ज़्यादा मददगार साबित हुआ। अकेले काम करने की बनिस्बत मिल-जुलकर काम करने से वे भोजन और दूसरी आवश्यक चीज़ें कहीं ज़्यादा पैदा कर सकते थे। काम में इस सहयोग के फलस्वरूप आर्थिक इकाई का भी विकास होने लगा—जहाँ पहले अकेला जंगली आदमी अपने लिए ही शिकार करता था, वहाँ अब बड़े-बड़े समुदाय बन गये। बहुत मुमकिन है कि मनुष्य की आजीविका के इस संघर्ष की वजह से आर्थिक इकाई का जो विकास हुआ उसीसे समाज और सामाजिक इकाई का विकास हुआ हो। इतिहास के लम्बे विस्तार में हम लगातार संघर्ष और मुसीबतों के बीच भी यह विकास बराबर देखते आये हैं, और कभी-कभी उलटी धारा भी बही है। लेकिन तुम यह न समझ बैठना कि इस विकास का यह मतलब है कि दुनिया बहुत आगे बढ़ गई है, या पहले से ज़्यादा सुखी हो गई है। सम्भव है, पहले से आज उसकी हालत बेहतर हो, लेकिन पूर्णता से अभी वह बहुत दूर है और हर जगह काफ़ी दुःख और दरिद्रता है।

जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक इकाइयाँ विकास करती गईं, ज़िन्दगी भी और ज़्यादा पेचीदा होती गई। वाणिज्य और व्यापार ने तरक्क़ी की। उपहार की जगह चीज़ों की अदला-बदली शुरू हुई। और फिर सिक्के का चलन हुआ, जिसने लेन-देन के सब व्यवहारों में ज़बर्दस्त अन्तर पैदा कर दिया। इससे व्यापार में एकदम तरक्क़ी हुई, क्योंकि सोने और चाँदी के सिक्कों में दाम दिये जाने की वजह से खरीद-बिक्री आसान हो गई। इसके बाद सिक्कों का इस्तेमाल भी हमेशा ज़रूरी नहीं रहा और लोगों ने उनकी जगह प्रतीक इस्तेमाल करने शुरू कर दिये। काग़ज़ का टुकड़ा, जिसपर अदायगी का वादा लिखा हुआ हो, काफ़ी समझा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने लगा। इस प्रकार बैंक-नोटों और चैकों का चलन शुरू हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि व्यापार उधार या साख पर चलने लगा। साख या उधार के तरीक़े से व्यापार और वाणिज्य में और भी ज़्यादा मदद मिलती है। तुम जानती ही हो कि आजकल चैक और बैंक-नोटों का काफ़ी इस्तेमाल होता है और समझदार आदमी अब अपने साथ सोने और चाँदी की थैलियाँ लिये नहीं फिरते।

इस तरह हम यह देखते हैं कि ज्यों-ज्यों धुँधले अतीत में से इतिहास आगे बढ़ता है, लोग माल की उपज बढ़ाते जाते हैं और ख़ास-ख़ास धन्धे अपनाते जाते हैं; आपस में माल की अदला-बदली करते हैं और इस तरह व्यापार की उन्नति करते हैं। हम यह भी देखते हैं कि आवागमन के नये और बेहतर साधनों का विकास हुआ; ख़ासकर पिछले सौ वर्षों में, भाप के इंजन की ईजाद के बाद। ज्यों-ज्यों पैदावार बढ़ी, दुनिया की सम्पत्ति बढ़ी और कम-से-कम कुछ आदमियों को ज़्यादा फ़ुरसत मिल गई। और इस तरह जिसे हम सभ्यता कहते हैं, उसका विकास होता है।

यह सब होता है और लोग आजकल के प्रबुद्ध और प्रगतिशील युग की, अपनी आधुनिक सभ्यता, महान् संस्कृति और विज्ञान के चमत्कारों की डींगें मारते हैं। लेकिन ग़रीब लोग अभी भी ग़रीब और दुखी बने हुए हैं; बड़े-बड़े राष्ट्र एक दूसरे से लड़ते हैं और लाखों आदमियों की हत्या करते हैं; और हमारे देश-जैसे बड़े-बड़े देशों पर विदेशी लोग हुकूमत करते हैं। ऐसी सभ्यता से क्या लाभ अगर हमें अपने ही घर में आज़ादी नसीब नहीं है? लेकिन अब हम जाग चुके हैं, और आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं।

कितने सौभाग्य की बात है कि हम आज के इस हलचल के ज़माने में रह रहे हैं, जबकि हरेक आदमी महान् साहसिक कार्यों में हिस्सा ले सकता है और सिर्फ़ भारत को ही नहीं बल्कि सारी दुनिया को बदलती हुई देख सकता है! तुम बड़ी ख़ुशक़िस्मत लड़की हो, कि तुम उसी साल और महीने में पैदा हुईं जिसमें एक महान् क्रान्ति ने रूस में नया युग शुरू किया। और आज तुम अपने ही देश में एक क्रान्ति देख रही हो और बहुत सम्भव है कि जल्दी ही तुम इसमें हिस्सा भी लो। सारी दुनिया में मुसीबत फैली हुई है और परिवर्तन हो रहा है। सुदूर-पूर्व में जापान चीन का गला घोंट रहा है। पश्चिम में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में पुरानी प्रणाली लड़खड़ा रही है और धड़ाम से गिरने ही वाली है। संसार के राष्ट्र बातें तो निरस्त्रीकरण की करते हैं, लेकिन एक-दूसरे से सन्देह को नज़र से देखते हैं और अपने को पूरी तरह हथियार-बन्द करते रहते हैं। पूँजीवाद की, जो इतने ज़्यादा अर्से से दुनिया के ऊपर हावी रहा है, अब शाम होने आई है। जिस दिन यह ख़त्म होगा, और ख़त्म तो उसे ज़रूर ही होना पड़ेगा, वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयों को भी लेता जायगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २३ :

सिंहावलोकन

२९ मार्च, १९३२

युगों की अपनी यात्रा में हम कहाँ तक आ पहुँचे हैं? हम मिस्र, भारत, चीन और मोसास के गुज़रे दिनों की कुछ चर्चा पहले ही कर चुके हैं। हमने यह देखा कि मिस्र की प्राचीन और अद्भुत सभ्यता, जिसने पिरेमिड बनाये, धीरे-धीरे ज़र्जर हो गई और एक छायामात्र रह गई, जिसमें सिवाय ऊपरी बातों और प्रतीकों के जीवन-तत्व कुछ भी न बचा। हमने यह भी देखा कि नोसास को यूनान की मुख्य भूमि के निवासी उसी के जाति-भाइयों ने नष्ट कर दिया। भारत और चीन के धुँधले और प्राचीन प्रारम्भिक काल पर भी हमने एक नज़र डाली, हालाँकि जानकारी की काफ़ी सामग्री न मिलने की वजह से हम ज़्यादा नहीं जान सके, लेकिन इतना हमने ज़रूर पहचाना कि उस ज़माने में भी इनकी सभ्यता कितनी सम्पन्न थी। हमने ताज्जुब के साथ यह भी देखा कि ये दोनों देश सांस्कृतिक लिहाज़ से अपने हज़ारों वर्ष पुराने अतीत के साथ अटूट कड़ियों से जुड़े हुए हैं। इराक़ में हमें उन साम्राज्यों की ज़रा-सी झलक मिली, जो एक के बाद एक थोड़े दिनों के लिए फूले-फले और बाद में उनका वही हाल हुआ जो साम्राज्यों का हुआ करता है।

हमने जुदा-जुदा देशों के कई महान् विचारकों का भी कुछ ज़िक्र किया है, जो ईसा से पाँच-छः सौ वर्ष पहले हुए थे—भारत में बुद्ध और महावीर, चीन में कनफ़्यूशस और लाओ-त्से, ईरान में ज़रथुस्त और यूनान में पाइथागोर। हमने देखा कि बुद्ध ने भारत के प्राचीन वैदिक धर्म के प्रचलित रूपों पर और पुरोहिताई पर वार किया था, क्योंकि उन्होंने देखा कि तरह-तरह के अन्धविश्वास और पूजा-पाठ से साधारण जनता को ठगा और मूँड़ा जा रहा था। उन्होंने जाति-प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई और समानता का उपदेश दिया।

इसके बाद फिर हम पश्चिम की ओर चले गए, जहाँ एशिया और यूरोप एक-दूसरे से मिलते हैं। ईरान और यूनान के उतार-चढ़ावों पर नज़र डालते हुए हमने देखा कि ईरान में कैसे एक बड़ा साम्राज्य क़ायम हुआ और किस तरह 'शहंशाह' दारा ने, उसे ठेठ भारत में सिन्ध तक बढ़ा दिया; किस तरह इस साम्राज्य ने छोटे-से यूनान को निगल जाने की कोशिश की, लेकिन बड़ी हैरानी से देखा कि इस छोटे-से देश ने उलटकर टक्कर मारी और डटकर अपनी रक्षा की। इसके बाद यूनान के इतिहास का वह थोड़े दिन का लेकिन शानदार ज़माना आया, जिसके बारे में मैं तुम्हें कुछ बता चुका हूँ और जब वहाँ ढेरों प्रतिभाशाली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और महान् पुरुष हुए, जिन्होंने साहित्य और कला की उच्चतम सौन्दर्यमयी रचनाएँ रचीं।

यूनान का यह स्वर्ण युग बहुत दिनों तक टिका नहीं रहा। मक़दूनिया के सिकन्दर ने अपनी देश-विजयों से यूनान का नाम दूर-दूर मशहूर कर दिया; लेकिन उसके साथ ही यूनान की ऊँची संस्कृति धीरे-धीरे मुरझाने लगी। सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया और विजेता बनकर भारत की सीमा को भी पार किया। इसमें शक नहीं कि वह बहुत बड़ा सेनापति था, लेकिन पुरानी परम्परा ने उसके नाम के साथ बेशुमार दन्तकथाएँ गूँथ दी हैं और उससे उसे इतनी शोहरत मिल गई है जितनी का कि वह किसी तरह पात्र नहीं था। सिर्फ़ अच्छे पढ़े-लिखे लोग ही सुकरात या अफ़लातून या फ़ीदियस[1] या सोफ़ोक्ले या यूनान के दूसरे महापुरुषों के बारे में कुछ जानते हैं। लेकिन सिकन्दर का नाम किसने नहीं सुना?

सिकन्दर ने दूसरों के मुक़ाबले में ज़्यादा कुछ नहीं किया। ईरानी साम्राज्य पुराना हो गया था और डगमगा रहा था और उसके बहुत दिनों तक टिके रहने की कोई सम्भावना नहीं थी। भारत में सिकन्दर का क़दम रखना एक मामूली छापा था, जिसका कोई महत्व नहीं था। अगर सिकन्दर ज़्यादा दिन ज़िन्दा रहता तो सम्भव है, कुछ अधिक ठोस काम कर जाता। लेकिन वह जवानी में ही मर गया और तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। लेकिन उसका साम्राज्य भले ही क़ायम न रहा, उसका नाम अभी तक चला आता है।

सिकन्दर के पूर्वी धावे का एक बड़ा असर यह हुआ कि पूर्व और पश्चिम के बीच नये सम्पर्क क़ायम हो गये। बहुत-से यूनानी पूर्व की तरफ़ आये और पुराने शहरों में या अपने बसाये हुए नये उपनिवेशों में बस गये। सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के बीच आपसी सम्पर्क और व्यापार चलता था। लेकिन उसके बाद यह और भी ज़्यादा बढ़ गया।

सिकन्दर के हमलों का शायद दूसरा असर, अगर यह ख़याल सही हो, तो यूनानियों के लिए बड़ी कम्बख्ती का हुआ। कुछ लोगों का मत है कि उसके सैनिक अपने साथ इराक़ के दलदलों से मलेरिया के मच्छर यूनान के निचले प्रान्तों में ले गये। इससे मलेरिया फैला और उसने यूनानी क़ौम को कमज़ोर और क्षीण

---

[1] फ़ीदियस—यूनान देश का एक मशहूर शिल्पकार। इसका समय ईसा से ५ सौ वर्ष पहले बताया जाता है। ओलिम्पस पहाड़ पर इसने यूनानी देवता जुपिटर की एक मूर्ति बनाई थी। यह मूर्ति सोने और हाथी दाँत की थी और उसकी गिनती दुनिया की सात अद्भुत चीज़ों में की जाती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बना दिया। यूनानियों के पतन के कारणों में एक कारण यह भी बताया जाता है। लेकिन यह सिर्फ़ कल्पना है और कोई नहीं जानता कि इसमें सचाई कितनी है।

सिकन्दर का थोड़े दिन की ज़िन्दगीवाला साम्राज्य ख़त्म हो गया। लेकिन उसकी जगह कई छोटे-छोटे साम्राज्य पैदा हो गये। उनमें से एक मिस्र का साम्राज्य था, जो तालमी के अधीन था और दूसरा पश्चिमी एशिया का सेलेउक के मातहत था। तालमी और सेलेउक दोनों सिकन्दर के सेनापति थे। सेलेउक ने भारत पर क़ब्ज़ा करना चाहा लेकिन वह यह देखकर पछताया कि भारत भी ज़ोरदार जवाबी टक्कर दे सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सारे उत्तरी और मध्य भारत पर अपना शक्तिशाली राज्य क़ायम कर लिया था। चन्द्रगुप्त, उसके प्रसिद्ध ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य, और उसकी लिखी हुई पुस्तक अर्थशास्त्र के बारे में मैं अपने पिछले पत्रों में कुछ हाल लिख चुका हूँ। सौभाग्य की बात है कि यह ग्रन्थ आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले के भारत की अच्छी तसवीर हमारे सामने रख देता है।

हमारा सिंहावलोकन पूरा हो गया और अब अगले पत्र में मौर्य्य-साम्राज्य और अशोक के बारे में आगे लिखा जायगा। चौदह महीने से ऊपर हुए २५ जनवरी, सन् १९३१ ई० को, नैनी-जेल से मैंने यह वादा किया था। उस वादे को मुझे अभी पूरा करना बाकी है।

: २४ :

'देवानां प्रिय' अशोक

३० मार्च, १९३२

मुझे लगता है कि शायद मैं राजा-महाराजाओं की बुराई करने का ज़रूरत से ज़्यादा शौक़ीन हो गया हूँ। मुझे इस वर्ग में कोई ऐसा कुछ नहीं दिखाई देता जिसकी तारीफ़ या इज़्ज़त करूँ। लेकिन अब हम एक ऐसे व्यक्ति का ज़िक्र करने-वाले हैं जो बादशाह और सम्राट् होते हुए भी महान् था और मानव-प्रशंसा के लायक था। वह था चन्द्रगुप्त मौर्य्य का पोता अशोक। एच० जी० वेल्स ने (जिनकी कुछ रोमानी रचनाएँ तुमने पढ़ी होंगी) अपनी 'इतिहास की रूप-रेखा'[1] में उसके बारे में लिखा है—"इतिहास के पृष्ठों में संसार के जिन तरह-तरह की उपाधियों-वाले लाखों राजाओं के नाम भरे पड़े हैं, उनमें अकेले अशोक का नाम ही सितारे की तरह चमकता है। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत ने भी—हालाँकि उसने उसके धर्म-

[1] Outline of History—H. G. Wells

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्तों को छोड़ दिया है—उसकी महानता की परम्परा को क़ायम रक्खा है। आज अशोक का नाम श्रद्धा के साथ याद करनेवालों की संख्या उनसे कहीं ज़्यादा है जिन्होंने कॉन्स्तेन्तीन[1] या शार्लमेन[2] के नाम कभी सुने हों।"

यह वास्तव में बहुत ऊँचे दर्जे की प्रशंसा है। लेकिन अशोक इसका पात्र था, और एक भारतवासी का हृदय तो भारत के इतिहास के इस काल का विचार करने में आनन्द से भर जाता है।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ईसाई सन् के शुरू होने के क़रीब ३०० वर्ष पहले हुई। उसके बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा जिसने पच्चीस वर्ष तक शान्ति के साथ शासन किया। यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रक्खा। उसके दरबार में पश्चिम एशिया के सेलेउक के पुत्र अन्तीओक और मिस्र के तालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपड़े भारत के नील से रँगा करते थे। कहते हैं कि ये लोग अपनी मोमियाईयाँ भारत की मलमल में लपेटते थे। बिहार में कुछ पुराने अवशेष मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य्य-युग के पहले भी वहाँ एक तरह का काँच बनाया जाता था।

तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि मैगस्थेने ने, जो चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत होकर आया था, लिखा है कि भारतीय लोग सिंगार और सौन्दर्य के बड़े प्रेमी थे। उसने इस बात का ख़ासतौर से ज़िक्र किया है कि लोग अपना क़द ऊँचा करने के लिए जूते पहनते थे! इससे मालूम होता है कि ऊँची एड़ी का जूता कोई हाल की ईजाद नहीं है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पूर्व अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जिसमें सारा उत्तर और मध्य भारत शामिल था और जो ठेठ मध्य एशिया तक फैला हुआ था। शायद भारत के बाक़ी दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा से उसने अपने राज्य के नवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई की। कलिंग भारत के पूर्वी समुद्रतट पर महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का देश था। कलिंगवाले बड़ी

---

[1] कॉन्स्तेन्तीन या कॉन्स्टेन्टाइन—बिज़ैन्तीन साम्राज्य का पहला बादशाह जो 'महान्' कहलाता है। इसका समय २७३-३३७ ई० है। तुर्की का क़ुस्तुन्तुनिया नगर इसीका बसाया हुआ है। अब इस शहर का नाम इस्तम्बूल है और यह तुर्की की राजधानी है।

[2] शार्लमेन—पवित्र रोमन-सम्राट् और फ्रान्सीसी जाति का राजा था। इसका जन्म सन् ७४२ में हुआ था। इसके साम्राज्य में क़रीब सारा पश्चिमी यूरोप था। ८१४ ई० में इसकी मृत्यु हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहादुरी से लड़े, लेकिन आखिर में बहुत भयंकर मार-काट के बाद वे कुचल दिये गए। इस युद्ध और मार-काट का अशोक के दिल पर इतना गहरा असर हुआ कि उसे युद्ध और युद्ध की सब कार्रवाइयों से घृणा हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह कोई युद्ध नहीं करेगा। दक्षिण के एक छोटे-से सिरे को छोड़कर क़रीब-क़रीब सारा भारत उसके कब्ज़े में था। इस छोटे-से सिरे को जीतकर अपनी विजय पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। एच० जी० वेल्स के अनुसार इतिहास भर में अशोक ही एक ऐसा सैनिक राजा हुआ है, जिसने विजय के बाद युद्ध करना त्याग दिया हो।

सौभाग्य से हमारे पास खुद अशोक के ही शब्द हैं, जिनसे पता लगता है कि उसके क्या विचार थे और उसने क्या-क्या काम किये। पत्थरों या धातु-पत्रों पर खुदवाये हुए अनेक धर्मलेखों में अपनी प्रजा और भावी सन्तति के नाम उसके सन्देश आज भी मिलते हैं। तुम जानती ही हो कि इलाहाबाद के क़िले में अशोक का एक ऐसा ही स्तम्भ है। हमारे प्रान्त में इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन धर्मलेखों में अशोक ने बताया है कि युद्ध और देश-विजय से होनेवाली हत्याओं से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजय हासिल करना ही एकमात्र सच्ची विजय है। मैं तुम्हारे लिए इन धर्मलेखों में से दो-एक यहाँ देता हूँ। उन्हें पढ़कर मन मोहित हो जाता है। उनसे तुम्हें अशोक को समझने में मदद मिलेगी।

एक धर्मलेख में कहा गया है—

"देवानां प्रिय प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद कलिंग को जीता। डेढ़ लाख आदमी वहाँ से क़ैद करके लाये गए, एक लाख वहाँ मारे गए और इससे कई गुना अधिक मर गये।

"कलिंग-विजय के ठीक बाद ही देवानां प्रिय बड़े उत्साह से धर्म की रक्षा, धर्म के पालन और धर्म के प्रचार में जुट गये। उनके हृदय में कलिंग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ, क्योंकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने में लोगों की हत्या, मृत्यु और देश-निष्कासन ज़रूरी हो जाता है। देवानां प्रिय को इस बात पर बहुत गहरा दुःख और खेद होता है।"

आगे चलकर इसी धर्मलेख में लिखा है कि कलिंग में जितने आदमी मारे गए, या क़ैद हुए उसके सौवें या हज़ारवें हिस्से का भी मारा जाना या क़ैद किया जाना अब अशोक को सहन नहीं होगा।

"इसके सिवा अगर कोई देवानां प्रिय का अपकार भी करेगा तो वह उसे, यदि वह क्षमा के योग्य है तो क्षमा कर देंगे। अपने साम्राज्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशोक का साम्राज्य

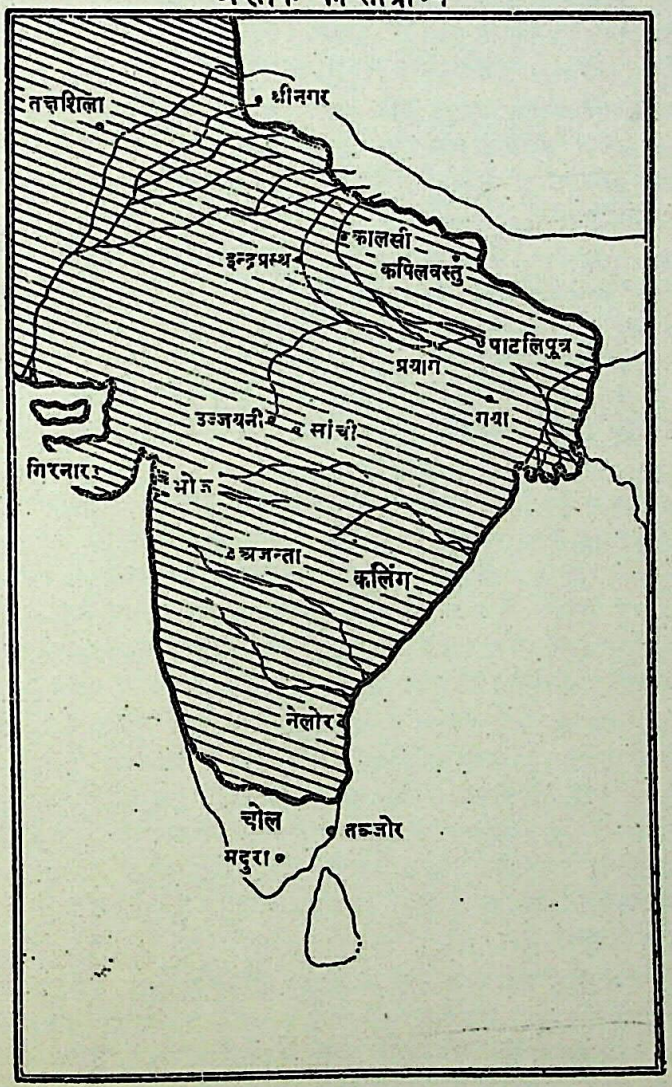

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के वनवासियों को भी देवानां प्रिय सन्तुष्ट रखते हैं और उन्हें धर्म में लाने का यत्न करते हैं, क्योंकि अगर वह ऐसा न करें तो उन्हें पश्चात्ताप होता है। देवानां प्रिय की इच्छा है कि समस्त प्राणियों के साथ अहिंसा, संयम, समानता और मृदुता का व्यवहार किया जाय।"

इसके आगे अशोक बताता है कि 'उपासना' और 'शील' से मनुष्यों का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमें बताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य में नहीं, बल्कि दूर-दूर के राज्यों में भी प्राप्त हुई।

जिस धर्म का इन धर्मलेखों में बार-बार ज़िक्र आया है वह बौद्ध धर्म है। अशोक बड़ा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार की भरसक कोशिश की। लेकिन उसमें किसी तरह की ज़बर्दस्ती या दबाव का नाम-निशान भी नहीं था। वह लोगों के दिलों को जीतकर ही उन्हें बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाना चाहता था। धर्म-प्रचारकों में ऐसे बहुत कम क्या, बिलकुल ही कम हुए हैं जो अशोक की तरह दूसरे धर्मों के प्रति इतने उदार रहे हों। लोगों को अपने धर्म में लाने के लिए धर्म-प्रचारकों ने बल, आतंक और धोखेबाज़ी काम में लाने में आनाकानी नहीं की है। सारा इतिहास मज़हबी अत्याचारों और मज़हबी युद्धों से भरा पड़ा है और मज़हब व ईश्वर के नाम पर जितना खून बहा है उतना शायद ही किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद करके खुशी होती है कि भारत के एक महान् सपूत ने, जो बहुत ही गहरा धार्मिक था और एक शक्तिशाली साम्राज्य का अध्यक्ष भी था, लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए कैसा मार्ग अपनाया। ताज्जुब है कि कोई इतना बेवकूफ़ हो कि यह खयाल करे कि धर्म और विश्वास तलवार या संगीन की नोक पर लोगों के गले उतारे जा सकते हैं!

इस प्रकार देवताओं के प्रिय, या धर्मलेखों के शब्दों में 'देवानां प्रिय', अशोक ने पश्चिम में एशिया, अफ्रीका और यूरोप के राज्यों में अपने सन्देश-वाहक और राजदूत भेजे। तुम्हें याद होगा कि उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन संघमित्रा को लंका भेजा था और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। तुम्हें याद है न कि अनुराधपुर के मन्दिर में हम लोगों ने एक पीपल का पेड़ देखा था? कहते हैं कि यह वही पेड़ है, जो उस प्राचीन टहनी से उगकर बड़ा हुआ है।

भारत में बौद्ध-धर्म बहुत तेज़ी से फैल गया। और चूंकि अशोक के लिए कोरी प्रार्थनाओं और पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड का नाम धर्म न था, बल्कि उसका अर्थ था नेक काम करना और समाज को ऊँचा उठाना, इसलिए सारे देश में सार्वजनिक बाग़-बग़ीचे, अस्पताल, कुएँ और सड़कें बनाये जाने लगे। स्त्रियों की शिक्षा के लिए खास इन्तज़ाम किया गया था। चार बड़े विश्वविद्यालयवाले नगर थे: ठठ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर में पेशावर के पास तक्षशिला, मथुरा, मध्यभारत में उज्जैन, और पटना के पास नालन्दा। यहाँ सिर्फ़ भारत के ही नहीं बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर के देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे और लौटकर अपने देशों को बुद्ध के उपदेशों का सन्देश अपने साथ ले जाते थे। सारे देश में बड़े-बड़े मठ बन गये थे, जो विहार कहलाते थे। मालूम होता है, पाटलिपुत्र या पटना के आसपास इतने ज़्यादा विहार थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसा कि आजकल पुकारा जाता है, बिहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, ये विहार अध्ययन और विचार की साधना थोड़े ही दिनों में खो बैठे, और सिर्फ़ ऐसे स्थान बन गये जहाँ लोग एक ढर्रे पर चलते थे और पूजा-पाठ करते रहते थे।

जीव-रक्षा के लिए अशोक की लगन जानवरों तक के लिए बढ़ गई थी। जानवरों के लिए खासतौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशु-बलि बन्द कर दी गई थी। इन दोनों बातों में अशोक हमारे ज़माने से भी कुछ आगे था। अफ़सोस की बात है कि पशुओं का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है और धर्म का एक ज़रूरी अंग माना जाता है; और जानवरों के इलाज का कोई इन्तज़ाम नहीं है।

अशोक के उदाहरण से और बौद्ध-धर्म के प्रचार से माँस न खाना बहुत अच्छा समझा जाने लगा। उस समय तक भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आमतौर पर माँस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के ज़माने में माँस खाना और मदिरा पीना दोनों ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष राज किया और उसने शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने की भरसक कोशिश की। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था:

> "हर समय और हर जगह पर—चाहे मैं खाता होऊँ या रनिवास में होऊँ, अपने सोने के कमरे में होऊँ या टहलता होऊँ, या सवारी पर होऊं या कूच कर रहा होऊँ, प्रतिवेदकों को चाहिए कि वे प्रजा के हाल-चाल की मुझे बराबर सूचना देते रहें।" अगर कोई कठिनाई उठ खड़ी होती तो "चाहे जो समय या चाहे जो जगह हो" उसकी सूचना तुरन्त उसे दी जानी ज़रूरी थी, क्योंकि उसका कहना था कि "मैं प्रजा का काम सब जगह करता हूँ" और "सब लोगों का हित करना मैं अपना प्रधान कर्त्तव्य समझता हूँ।"

ईसा से २२६ वर्ष पूर्व अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोड़कर बौद्ध-भिक्षु हो गया था।

मौर्य्य-युग के बहुत कम अवशेष पाये जाते हैं। लेकिन जो मिलते हैं, वे ही,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी तक की खोज के अनुसार, भारत में आर्य-सभ्यता के लगभग सबसे पहले अवशेष हैं। अभी हम मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहरों का ज़िक्र नहीं कर रहे हैं। बनारस के पास सारनाथ में तुम अशोक का सुन्दर स्तम्भ देख सकती हो, जिसकी चोटी पर शेर बने हुए हैं।

अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र के विशाल नगर का अब कोई निशान बाक़ी नहीं है। पन्द्रह सौ वर्ष पहले, यानी अशोक के छः सौ वर्ष बाद, फ़ाहियान[1] नामक एक चीनी यात्री ने पाटलिपुत्र वास्तव में देखा था। उस समय यह नगर गुलज़ार था और मालदार और ख़ुशहाल था, लेकिन तबतक अशोक का पत्थर का राजमहल खण्डहर हो चुका था। इन खण्डहरों ने ही फ़ाहियान को बहुत प्रभावित किया और उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि राजमहल मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं मालूम होता था।

बड़े भारी-भारी पत्थरों से बना हुआ राजमहल नष्ट हो गया और अपनी कोई निशानी नहीं छोड़ गया, लेकिन अशोक की कीर्ति एशिया के सारे महाद्वीप में आज भी जीवित है और उसके धर्मलेख आज भी ऐसी भाषा बोलते हैं, जिसे हम समझ सकते हैं और जिसकी क़ीमत हम पहचान सकते हैं। आज भी हम उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। यह पत्र बहुत लम्बा हो गया है और मुमकिन है तुम इससे उकता जाओ। अशोक के एक धर्मलेख से एक उद्धरण देकर मैं इसे खत्म करता हूँ—

> "हर अवस्था में दूसरे सम्प्रदायों का आदर करना लोगों का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से मनुष्य अपने सम्प्रदाय की अधिक उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार करता है।"

: २५ :

अशोक के ज़माने की दुनिया

३१ मार्च, १९३२

हम देख चुके हैं कि अशोक ने दूर-दूर के देशों में धर्म-प्रचारक और राजदूत भेजे थे और इन देशों से भारत का सम्पर्क और व्यापार बराबर जारी था। हाँ, जब मैं उस ज़माने के सम्पर्क का या व्यापार का ज़िक्र करता हूँ तो तुम्हें यह बात ज़रूर ध्यान में रखनी चाहिए कि वह आजकल जैसा बिलकुल नहीं था। अब तो रेल और

---

[1] फ़ाहियान—एक चीनी बौद्ध यात्री था। मगध-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में भारत में आया था और ६ बरस तक यहाँ घूमता रहा। इसने उस ज़माने के भारतवर्ष का बहुत अच्छा वर्णन लिखा है। इसका समय ३७५ ई० है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाज़ और हवाई-जहाज़ से माल और मुसाफ़िरों का एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना बहुत आसान हो गया है। लेकिन दूर अतीत के उस ज़माने में हर सफ़र में खतरा रहता था और दिन भी बहुत लग जाते थे। इसलिए सिर्फ़ साहसी और तगड़े लोग ही सफ़र किया करते थे। इसलिए उस वक़्त के और आज के व्यापार की किसी भी तरह तुलना नहीं हो सकती।

वे कौन-से 'दूर के देश' थे जिनका ज़िक्र अशोक ने किया? उसके समय की दुनिया कैसी थी? मिस्र और भूमध्यसागर के किनारे के देशों के सिवा हम उस वक़्त के अफ्रीका के बारे में कुछ नहीं जानते। हमें उत्तरी, मध्य और पूर्वी यूरोप, या उत्तरी और मध्य एशिया के बारे में भी बहुत कम मालूम है। अमेरिका के बारे में भी हम कुछ नहीं जानते; लेकिन बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं कि अमेरिका के महाद्वीपों में बहुत प्राचीन काल से काफी ऊँची सभ्यता पाई जाती थी। बहुत दिनों बाद, ईसा की १५वीं सदी में, कहते हैं कोलम्बस ने अमेरिका को 'खोज निकाला'। लेकिन हमें पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण अमेरिका के पेरू में और आस-पास के देशों में बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता मौजूद थी। इसलिए यह बहुत सम्भव है कि ईसा के तीन सौ वर्ष पहले, जब भारत में अशोक हुआ, अमेरिका में सुसंस्कृत लोग रहते हों और उन्होंने अपने सुसंगठित समाज बनाये हों। लेकिन इस बारे में कोई तथ्य की बात नहीं मिलती, और अन्दाज़ा लगाने से कोई ख़ास फ़ायदा नहीं। मैं तो उनका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि हम लोग अक्सर यही समझते हैं कि सभ्य लोग दुनिया के सिर्फ़ उन्हीं हिस्सों में रहते थे जिनके बारे में हम सुन चुके हैं या पढ़ चुके हैं। बहुत दिनों तक यूरोपवालों का यह खयाल बना रहा कि प्राचीन इतिहास का मतलब है सिर्फ़ यूनान, रोम और यहूदियों का इतिहास। इनके पुराने ढंग के खयालों के अनुसार बाक़ी की सारी दुनिया उस वक़्त वीरान रही होगी। बाद में जब उन्हीं के विद्वानों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उन्हें चीन, भारत और दूसरे देशों का हाल बताया, तब उन्हें पता चला कि उनका ज्ञान कितना सीमित था। इसलिए हमें सावधान रहना चाहिए और यह न समझ बैठना चाहिए कि जो कुछ हमारी इस दुनिया में हुआ है, वह सब कुछ हमारे सीमित ज्ञान के दायरे में आ जाता है।

इस समय तो हम इतना ही कह सकते हैं कि अशोक के ज़माने के, यानी ईसा पूर्व तीसरी सदी के प्राचीन सभ्य संसार में मुख्यतया यूरोप और अफ्रीका के भूमध्यसागर के तटवर्ती देश, पश्चिमी एशिया, चीन और भारत ही माने जाते थे। शायद पश्चिमी देशों और पश्चिमी एशिया तक से उस समय चीन का कोई सीधा सम्पर्क नहीं था और पश्चिम में चीन या कैथे के बारे में बे-सिर पैर की धारणाएँ फैली हुई थीं। मालूम होता है चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कड़ी का काम भारत करता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम देख चुके हैं कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य को उसके सेनापतियों ने आपस में बाँट लिया था। उसके तीन बड़े-बड़े हिस्से हुए: (१) सेलेउक के अधीन पश्चिम एशिया, ईरान और इराक़; (२) तालमी के अधीन मिस्र; और (३) अन्तीगोने के अधीन मक़दूनिया। पहले दो राज्य बहुत दिनों तक क़ायम रहे। तुम्हें याद होगा कि सेलेउक भारत का पड़ौसी था और उसने लालच में पड़कर भारत का कुछ हिस्सा अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहा था। लेकिन उसका पाला चन्द्रगुप्त जैसे सवा-सेर से पड़ा, जिसने उसे पीछे खदेड़कर उससे वह हिस्सा भी छीन लिया जो आजकल अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है।

मक़दूनिया का भाग्य इनसे कुछ बुरा रहा। गॉल और दूसरी क़ौमों ने उस पर उत्तर से बार-बार हमला किया। उसका सिर्फ़ एक ही हिस्सा ऐसा था जो इन गॉल लोगों का मुक़ाबला कर सका और आज़ाद रह सका। यह हिस्सा एशिया-कोचक में परगेमम था, जहाँ आज तुर्की है। यह छोटा-सा यूनानी राज्य था; लेकिन सौ वर्ष से ज़्यादा तक वह यूनानी संस्कृति और कलाओं का केन्द्र बना रहा जहाँ सुन्दर-सुन्दर इमारतें, पुस्तकालय और अजायबघर बने। कुछ हद तक वह समुद्र के उस पार इस्कन्दरिया से होड़ करने लगा था।

इस्कन्दरिया मिस्र में तालमी-वंश की राजधानी था। यह एक बड़ा शहर हो गया था और प्राचीन दुनिया में मशहूर था। एथेन्स का गौरव बहुत घट चुका था और इस्कन्दरिया ने धीरे-धीरे यूनानियों के संस्कृति-केन्द्र की जगह ले ली। इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकर्षित होकर दूर देशों से बहुत-से विद्यार्थी यहाँ आते थे और दर्शन, गणित, धर्म और दूसरी समस्याओं पर, जिनमें प्राचीन दुनिया के विद्वानों की बहुत रुचि थी, चर्चाएँ करते थे। उंकलेदस[1], जिसका नाम तुमको और स्कूल में पढ़नेवाले हरेक लड़के-लड़की को मालूम है, इस्कन्दरिया का रहनेवाला था और अशोक का समकालीन था।

तालमी-वंश के लोग, जैसा कि तुम जानती हो, यूनानी थे। लेकिन उन्होंने मिस्र के बहुत-से रस्म-रिवाजों को अपना लिया था, यहाँतक कि मिस्र के कुछ पुराने देवताओं तक को वे पूजने लगे थे। पुराने यूनानियों के जुपिटर, अपोलो और दूसरे देवी-देवता, जिनका होमर की वीरगाथाओं में बार-बार वैसा ही उल्लेख है जैसा महाभारत में वैदिक देवी-देवताओं का, या तो छोड़ दिये गए या उनके नाम बदलकर उन्हें दूसरे जामे पहना दिये गए। आइसिस, ओसिरिस, होरस वग़ैरा पुराने मिस्र के देवी-देवताओं और पुराने यूनान के देवी-देवताओं को मिला दिया

[1] उकलेदस या यूक्लिड—इसने रेखागणित के बहुत-से नियम और सिद्धान्त निकाले और उनपर एक ग्रन्थ लिखा। इसका समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया और एक कर दिया गया और जनता के सामने पूजा के लिए नये-नये देवी-देवता रख दिये गए। जबतक लोगों को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिल जाता था, तबतक इस बात से उन्हें क्या मतलब था कि वे किसके सामने सिर झुकाते हैं, किसकी पूजा करते हैं और जिसकी पूजा करते हैं उसका नाम क्या है! इन नये देवताओं में सबसे मशहूर सिरेपिस कहलाता था।

इस्कन्दरिया तिजारत का भी बहुत बड़ा केन्द्र था और सभ्य संसार के दूसरे देशों के व्यापारी वहाँ आते रहते थे। कहते हैं कि इस्कन्दरिया में भारतीय व्यापारियों की भी एक बस्ती थी। हमें यह भी मालूम है कि इस्कन्दरिया के व्यापारियों की एक बस्ती दक्षिण भारत में मलाबार के समुद्री किनारे पर थी।

भूमध्यसागर के उस पार, मिस्र से कुछ ही दूर रोम था जो बहुत महानता को पहुँच चुका था और जो आगे जाकर इससे भी ज्यादा महान् और शक्तिशाली होनेवाला था। उसके बिलकुल सामने अफ्रीका के किनारे पर कार्थेज था जो रोम का प्रतिद्वन्द्वी और दुश्मन था। अगर हम प्राचीन दुनिया के बारे में कुछ जानना चाहते हैं तो हमें इनके इतिहास पर कुछ ज्यादा ग़ौर करना पड़ेगा।

पूर्व में चीन महानता के उसी दर्जे को पहुँच रहा था, जैसा पश्चिम में रोम, और अशोक के ज़माने की दुनिया की सही तसवीर खींचने के लिए हमें इस देश पर भी नज़र डालनी होगी।

: २६ :

चिन् और हन्

३ अप्रैल, १९३२

पिछले साल मैंने नैनी-जेल से जो पत्र तुम्हें लिखे थे, उनमें मैंने तुमको चीन के प्रारम्भ काल का, ह्वाङ्-हो नदी के किनारेवाली बस्तियों का, और हिस्या, शैङ् या इन और चाऊ नामक शुरू के राजवंशों का कुछ हाल लिखा था कि उस लम्बे समय में चीन राज्य धीरे-धीरे कैसे बढ़ा और कैसे वहाँ एक केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा लम्बा ज़माना आया, जिसमें नाम के लिए तो चाऊ राजवंश का ही राज रहा, पर केन्द्रीकरण की यह प्रक्रिया रुक गई और बिखराहट शुरू हो गई। देश के मुकामी क्षेत्रों के छोटे-छोटे हाकिम एक तरह से स्वतन्त्र बन बैठे और आपस में लड़ने लगे। यह बदक़िस्मती की हालत कई सौ वर्ष तक जारी रही। मालूम होता है कि चीन की हरेक बात सैकड़ों या हज़ारों वर्षों ही चला करती है। आखिर में एक स्थानीय हाकिम चिन् के सरदार ने प्राचीन और निकम्मे चाऊ-राजवंश को निकाल बाहर किया। चिन् की सन्तान चिन्-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजवंश कहलाती है और यह एक दिलचस्प बात है कि चीन का नाम इस चिन् शब्द से ही निकला है।

इस तरह चीन में चिन् लोगों का इतिहास, ईसा से २५५ वर्ष पूर्व शुरू हुआ। इससे १३ वर्ष पहले भारत में अशोक का राज्य शुरू हो चुका था। यानी हम अब चीन में अशोक के समकालीन लोगों का ज़िक्र कर रहे हैं। चिन्-राजवंश के पहले तीन सम्राटों ने बहुत थोड़े-थोड़े दिन राज किया। इसके बाद ईसा से २४६ वर्ष पूर्व चौथा सम्राट् हुआ, जो अपने ढंग का एक निराला आदमी था। उसका नाम वांङ-चैङ था, लेकिन बाद में इसने अपना नाम शीह ह्वांङ टी रख लिया और आमतौर पर वह इसी दूसरे नाम से मशहूर है। इसका अर्थ है 'पहला सम्राट्'। ज़ाहिर है कि उसे अपने ऊपर और अपने ज़माने पर बड़ा घमण्ड था और उसके दिल में पुराने ज़माने की ज़रा भी इज़्ज़त न थी। असल में वह तो यह चाहता था कि लोग पुराने ज़माने को भूल जायँ और यह समझने लगें कि इतिहास उसी से शुरू होता है और वही महान् 'पहला सम्राट्' है! उसे इस बात से कुछ मतलब न था कि उससे पहले दो हज़ार वर्ष से ज़्यादा समय में चीन में एक के बाद एक सम्राट् होते चले आये थे। वह तो देश से इन लोगों की याद तक मिटा देना चाहता था। सिर्फ़ पुराने सम्राटों के ही नहीं बल्कि पुराने ज़माने के दूसरे सभी प्रसिद्ध पुरुषों तक के नाम वह भुलवा देना चाहता था। इसलिए यह हुक्म निकाला गया कि तमाम ऐसी पुस्तकें, जिनमें पुराने ज़माने का हाल हो, ख़ासकर इतिहास की पुस्तकें और कनफ़्यूशस की महान् रचनाएँ, जलाकर बिलकुल नष्ट कर दी जायँ। सिर्फ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ पुस्तकों पर यह हुक्म लागू नहीं था। उसने अपने फ़रमान में यह कहा—

> "जो लोग प्राचीनता का उपयोग करके वर्तमान काल को नीचे दरजे का बतायेंगे वे अपने रिश्तेदारों समेत क़त्ल कर दिये जायँगे।"

उसने अपने इस इरादे पर अमल भी किया। सैकड़ों विद्वान्, जिन्होंने अपने प्रिय ग्रन्थों को छिपाने की कोशिश की, ज़िन्दा गाड़ दिये गए। यह 'प्रथम सम्राट्' कितना नेक, दयालु और ख़ुश-मिज़ाज आदमी रहा होगा! जब मैं भारत के अतीत की ज़रूरत से ज़्यादा तारीफ़ सुनता हूँ तो मुझे हमेशा उस सम्राट् की याद आ जाती है और वह भी कुछ हमदर्दी के साथ। हमारे देश के कुछ लोग हमेशा पीछे मुड़कर अतीत को ही देखा करते हैं, उसीकी महिमा गाते रहते हैं और उसीसे प्रेरणा पाने की उम्मीद करते रहते हैं। अगर अतीत हमें बड़े-बड़े कारनामों के लिए प्रेरणा देता है, तो हम ज़रूर उससे प्रेरणा लें। लेकिन मैं समझता हूँ कि अगर कोई आदमी या कोई राष्ट्र हमेशा पीछे की तरफ़ ही देखा करे तो मुझे यह बात उसके लिए लाभकारी नहीं मालूम देती। किसी ने सच कहा है कि अगर आदमी पीछे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलने या हमेशा पीछे देखने के लिए बनाया गया होता तो उसकी आँखें उसके सिर के पीछे होतीं। हम अपने अतीत पर ज़रूर ग़ौर करें और उसमें जो कुछ तारीफ़ के लायक हो उसकी तारीफ़ भी करें, लेकिन हमारी निगाह हमेशा सामने रहनी चाहिए और हमारे क़दम हमेशा आगे बढ़ने चाहिए।

इसमें कोई शक नहीं कि शीह ह्वांङ टी ने पुराने ग्रन्थों को और उनके पढ़नेवालों को जलाकर या गड़वाकर बर्बरता का काम किया। इसका यह नतीजा हुआ कि उसने जो कुछ किया था, वह सब उसीके साथ ख़त्म हो गया। उसका इरादा था कि वह सबसे 'पहला सम्राट्' माना जाय और उसके बाद उसका दूसरा उत्तराधिकारी हो, फिर तीसरा और इस तरह हमेशा तक उसके वंश का सिलसिला बना रहे। लेकिन हुआ यह कि चीन के सब राजवंशों में चिन् का वंश ही सबसे कम दिन क़ायम रहा। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इन राजवंशों में से बहुतों ने सैकड़ों वर्षों तक राज किया और इनमें से एक, जो चिन् के पहले हुआ, ८६७ साल तक क़ायम रहा। लेकिन चिन् का महान् राजवंश बढ़कर, सफलता हासिल करके और शक्तिशाली साम्राज्य पर शासन करके गिरा और नष्ट हो गया और ये सारी बातें पचास वर्ष के थोड़े-से समय में हो गईं। शीह ह्वांङ टी शक्तिशाली सम्राटों की परम्परा में सबसे 'पहला सम्राट्' होना चाहता था। लेकिन ईसा से २०९ वर्ष पूर्व, उसकी मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही, उसके वंश का अन्त हो गया और इसके बाद तुरन्त ही कनफ़्यूशस के ग्रन्थ जो छिपाकर रक्खे गये थे, खोद-कर निकाल लिये गए और उनका फिर पहले की तरह आदर होने लगा।

शासन की हैसियत से शीह ह्वांङ टी चीन के सबसे शक्तिशाली शासकों में हुआ। उसने तमाम स्थानीय राजाओं की हेकड़ी को ख़त्म कर दिया, सामन्त-शाही का अन्त कर डाला और एक मज़बूत केन्द्रीय शासन का निर्माण किया। इसने सारे चीन और अनाम को जीत लिया। इसीने चीन की मशहूर दीवार का निर्माण शुरू किया। यह एक बड़ा ख़र्चीला काम था। लेकिन मालूम होता है कि चीनियों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए एक बड़ी सेना बराबर क़ायम रखने के बजाय इस बड़ी दीवार पर, जो बाहर के दुश्मनों से उसकी सुरक्षा के लिए बनाई जा रही थी, रुपया लगाना ज़्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बड़े हमले को मुश्किल से रोक सकती थी; इसने सिर्फ़ इतना ही काम किया कि छोटे-छोटे छापों को रोक दिया। लेकिन इससे यह ज़ाहिर होता है कि चीनी लोग शान्ति चाहते थे और बलशाली होते हुए भी सैनिक कीर्ति के लोलुप नहीं थे।

'पहला सम्राट्' शीह ह्वांङ टी मर गया और उस राजवंश में कोई दूसरा ऐसा नहीं निकला जो उसकी जगह लेता। लेकिन उसके ज़माने से चीन में हमेशा के लिए एकता की परम्परा बन गई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके बाद एक दूसरा राजवंश, हन्-वंश, सामने आया। यह वंश चार सौ वर्ष से ज़्यादा बना रहा और इस वंश के शुरू के शासकों में एक सम्राज्ञी भी हुई। इसी वंश का छठा सम्राट् वू-ती था, जो कि चीन के बड़े शक्तिशाली और मशहूर शासकों में गिना जाता है। इसने पचास वर्ष से ज़्यादा राज किया। इसने तातारियों को हराया, जो उत्तर में बराबर छापे मारा करते थे। पूर्व में कोरिया से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट् का बोलबाला था और मध्य एशिया की सब जातियाँ उसे अपना अधिपति मानती थीं। अगर तुम एशिया का नक़शा देखो तो उसके प्रभाव के ज़बर्दस्त विस्तार का और ईसा पूर्व पहली और दूसरी सदी में चीन की शक्ति का कुछ अन्दाज़ा लगा सकोगी। हम उस ज़माने के रोम की महानता के बारे में बहुत-कुछ पढ़ते-सुनते हैं और यह समझ बैठे हैं कि उस ज़माने के रोम ने सारी दुनिया को मात कर दिया था। रोम को 'संसार की स्वामिनी' कहा गया है। लेकिन, हालाँकि तब रोम महान् था और ज़्यादा महान् होता जा रहा था, फिर भी चीन का साम्राज्य उससे कहीं ज़्यादा फैला हुआ और शक्तिशाली था।

शायद वू-ती के ज़माने में ही चीन और रोम का आपसी सम्पर्क क़ायम हुआ। पार्थव लोगों के ज़रिये इन दोनों देशों में व्यापार हुआ करता था। ये लोग जिस प्रदेश में रहा करते थे वह आज ईरान और इराक़ कहलाता है। लेकिन जब रोम और पार्थव में लड़ाई छिड़ी तो यह व्यापार अटक गया। रोम ने तब समुद्र के रास्ते से चीन से सीधे व्यापार करने की कोशिश की और एक रोमन जहाज़ चीन पहुँच भी गया। लेकिन यह ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है और अभी तो हम ईसा से पहले के ही ज़माने की बात कर रहे हैं।

हन्-वंश के शासनकाल में ही चीन में बौद्ध-धर्म आया। ईसाई सन् शुरू होने से पहले भी चीन में उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी। लेकिन यह फैला कुछ दिन बाद, जब उस समय के चीनी सम्राट् ने, कहते हैं, एक अद्भुत स्वप्न में एक सोलह फुट लम्बा आदमी देखा, जिसके सिर के चारों ओर चमकदार प्रभा-मण्डल था। चूँकि उसे स्वप्न में यह दृश्य पश्चिम की ओर दिखाई पड़ा था, इसलिए उसने उसी तरफ़ दूत भेजे। ये दूत बुद्ध की मूर्त्ति और बौद्ध ग्रन्थ लेकर वापस आये। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतीय कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा; वहाँ से वह कोरिया में और कोरिया से जापान में फैल गया।

हन्-काल में दो महत्वपूर्ण बातें ऐसी हुईं जिनका ज़िक्र ज़रूरी है। इस समय लकड़ी के ठप्पों से छपाई की कला का आविष्कार हुआ। लेकिन क़रीब एक हज़ार वर्ष तक उसका ज़्यादा उपयोग नहीं हुआ। फिर भी इस बात में चीन यूरोप से पाँच सौ बरस आगे था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी महत्व की बात यह हुई कि इसी ज़माने में चीन में सरकारी नौकरियों के लिए इम्तिहानों की प्रणाली शुरू हुई। लड़के और लड़कियाँ इम्तिहानों से घबराते हैं और मैं उनकी इस बात से हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस ज़माने में सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति का यह तरीक़ा एक मार्के की बात थी। दूसरे देशों में अभी तक यह तरीक़ा रहा है कि सरकारी अफ़सर या तो ज़्यादातर सिफ़ारिश से नियुक्त किये जाते थे या किसी ख़ास वर्ग या जाति के लोगों में से। चीन में जो कोई इम्तिहान पास करता वही नियुक्त किया जा सकता था। यह प्रणाली आदर्श नहीं कही जा सकती; क्योंकि हो सकता है कि कोई कनफ़्यूशयन शास्त्रों के इम्तिहान में पास हो जाय, मगर फिर भी उसमें सरकारी अफ़सर बनने की योग्यता न हो। लेकिन रिआयती और सिफ़ारिशी नियुक्ति से यह तरीक़ा कहीं बेहतर था, और यह चीन में दो हज़ार वर्ष तक जारी रहा। अभी हाल ही में इसका अन्त हुआ है।

: २७ :

रोम बनाम कार्थेज

५ अप्रैल, १९३२

अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम की ओर चलें और रोम की तरक़्क़ी के सिलसिले पर नज़र डालें। कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा पूर्व आठवीं सदी में पड़ी थी। शुरू ज़माने के रोमन लोग, जो शायद आर्यों के वंशज थे, तबरेज़ नदी के पास की सात पहाड़ियों पर कुछ बस्तियाँ बसाये हुए थे। ये बस्तियाँ धीरे-धीरे बढ़कर शहर बन गईं और यह नगर-राज्य बढ़ते-बढ़ते इटली भर में फैल गया। यहाँतक कि यह सिसली के सामनेवाले दक्षिणी सिरे पर मेसीना तक पहुँच गया।

तुम शायद यूनान के नगर-राज्यों को न भूली होगी। जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहाँ वे नगर-राज्य का अपना यह ख़याल भी साथ लेते गये और भूमध्य-सागर के किनारों पर जगह-जगह यूनानी उपनिवेश और नगर-राज्य बस गये। लेकिन इस समय हम रोम की इससे बिलकुल जुदी चीज़ का ज़िक्र कर रहे हैं। शुरू में शायद रोम भी यूनान के नगर-राज्य की तरह का ही रहा हो; लेकिन बहुत जल्द वह अपने पड़ौसी क़बीलों को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य का क्षेत्र बढ़ने लगा और इटली का ज़्यादातर हिस्सा उसमें आ गया। इतना बड़ा क्षेत्र एक नगर-राज्य नहीं रह सकता था। इसका शासन रोम से होता था और ख़ुद रोम में एक अजीब क़िस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बड़ा सम्राट् या राजा था और न आजकल की तरह गणराज्य था। फिर भी वहाँ की सरकार एक तरह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का गणराज्य था, जिसपर ज़मींदार-वर्ग के कुछ अमीर कुटुम्बों का प्रभुत्व था। शासन का अधिकार सिनेट का माना जाता था—और इस सिनेट को दो चुने हुए आदमी नामज़द करते थे, जो 'कौन्सल' कहलाते थे। बहुत दिनों तक तो सिर्फ़ अमीर लोग ही सिनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी; एक तो 'कुलपति' यानी मालदार अमीर, जो आमतौर पर ज़मींदार हुआ करते थे, दूसरे 'जन-वर्ग' जो मामूली नागरिक थे। रोमन राष्ट्र या गणराज्य के कई-सौ वर्षों का इतिहास इन दो वर्गों के आपसी संघर्ष का इतिहास है। कुल-पतियों के हाथ में सारी हुकूमत थी और जहाँ हुकूमत रहती है वहीं रुपया भी जाता है। जन-वर्ग नीचे दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताक़त थी, न पैसा। जन-वर्ग के लोग हुकूमत हासिल करने के लिए लड़ते और संघर्ष करते रहे, और धीरे-धीरे कुछ टुकड़े उन्हें मिले भी। एक दिलचस्प बात यह है कि इस लम्बे संघर्ष में जन-वर्ग के लोगों ने एक क़िस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग किया। वे लोग दल बनाकर रोम शहर को छोड़कर निकल गये और एक नया शहर बसाकर वहाँ रहने लगे। इससे कुलपति लोग डर गये, क्योंकि जन-वर्ग के बिना उनका काम ही नहीं चल सकता था। इसलिए उन्होंने उनके साथ समझौता कर लिया और उन्हें कुछ मामूली रिआयतें दे दीं। धीरे-धीरे वे लोग ऊँचे ओहदों के भी हक़दार समझे जाने लगे और सिनेट के मेम्बर तक होने लगे।

हम कुलपति-वर्ग और जन-वर्ग के संघर्ष की चर्चा करते हैं और यह समझ लेते हैं कि इनके सिवा रोम में किसी दूसरे वर्ग की कोई गिनती ही नहीं थी। लेकिन इन दोनों वर्गों के अलावा वहाँ ग़ुलामों की भी बहुत बड़ी संख्या थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नहीं थे। ये लोग नागरिक नहीं माने जाते थे और इन्हें वोट देने का हक़ नहीं था। ये लोग तो गायों और कुत्तों की तरह अपने मालिकों की व्यक्ति-गत और निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। मालिक अपनी मरज़ी से इनको बेच सकता था और सज़ा दे सकता था। कुछ हालतों में इन्हें मुक्त भी कर दिया जा सकता था। मुक्त हुए ग़ुलामों ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो मुक्त लोगों का वर्ग कहलाता था। प्राचीन काल में, पश्चिम में, ग़ुलामों की हमेशा बड़ी भारी माँग रहती थी और इस माँग को पूरा करने के लिए ग़ुलामों की बड़ी-बड़ी मण्डियाँ बन गई थीं। मर्दों, औरतों और बच्चों तक को पकड़ने और उन्हें ग़ुलाम बनाकर बेचने के लिए लोग दूर-दूर के देशों में धावे मारा करते थे। प्राचीन मिस्र की तरह पुराने यूनान और रोम के वैभव और बादशाही शान की बुनियाद चारों ओर फैली हुई इस ग़ुलामी की प्रथा पर क़ायम थी।

क्या ग़ुलामी की यह प्रथा उस समय भारत में भी इसी तरह प्रचलित थी? बहुत करके नहीं थी। चीन में भी यह प्रथा नहीं थी। इसका यह मतलब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कि प्राचीन भारत या चीन में ग़ुलामी थी ही नहीं। यहाँ जो कुछ ग़ुलामी थी वह बहुत-कुछ घरेलू क़िस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर ग़ुलाम समझे जाते थे। मालूम होता है, भारत और चीन में ग़ुलाम मज़दूर नहीं हुआ करते थे, यानी ऐसे ग़ुलाम नहीं होते थे जिनके झुण्ड-के-झुण्ड खेतों में या दूसरी ज़गहों में काम पर लगाये जाते हों। इस तरह ये दोनों मुल्क़ ग़ुलामी के, आदमी को सबसे ज़्यादा नीचा गिरानेवाले पहलू से बचे रहे।

इस तरह रोम बढ़ा। कुलपतियों ने उससे फ़ायदा उठाया और वे अधिकाधिक धनवान और सम्पन्न होते गये। साथ ही जन-वर्ग के लोग ग़रीब बने रहे और कुलपति इनकी छाती पर सवार रहे; और ये दोनों कुलपति-वर्ग और जन-वर्ग मिलकर ग़रीब ग़ुलामों की छाती पर सवार रहे।

जब रोम की तरक्क़ी हुई तब उसके शासन का ढंग कैसा था? मैं बता चुका हूँ कि हुकूमत सिनेट के हाथ में थी, और दो चुने हुए कौन्सल सिनेट को नामज़द किया करते थे। कौन्सलों को कौन चुनता था? उन्हें नागरिक वोटर चुनते थे। शुरू में रोम जब छोटा-सा नगर-राज्य था, सब नागरिक रोम में या उसके आसपास रहते थे। तब लोगों का एक जगह इकट्ठा होना और वोट देना कोई मुश्किल बात नहीं थी। लेकिन रोम के बढ़ने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर रहने लगे और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नहीं था। उस वक़्त आजकल जैसे 'प्रतिनिधि शासन' का विकास या उस पर अमल नहीं हुआ था। तुम जानती हो कि आजकल हरेक हल्का या निर्वाचन-क्षेत्र राष्ट्रीय असेम्बली या पार्लमेण्ट या कांग्रेस के लिए अपना प्रतिनिधि चुनता है और इस तरह से एक छोटी-सी जमात के ज़रिये सारे राष्ट्र की नुमाइन्दगी हो जाती है। यह बात पुराने रोमन लोगों को नहीं सूझी थी, इसलिए वे लोग रोम में ही वोटें डलवाते रहे; हालाँकि दूर के वोटरों के लिए वहाँ आकर वोट देना क़रीब-क़रीब असम्भव था। सच तो यह है कि दूर के वोटरों को पता ही नहीं रहता था कि कहाँ क्या हो रहा है। उस ज़माने में न अख़बार थे, न और छपी हुई पुस्तकें थीं, और बहुत कम लोग पढ़-लिख सकते थे। इसलिए जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का अधिकार व्यवहार में किसी काम का न था। उनको वोट देने का अधिकार ज़रूर था, लेकिन दूरी ने इस अधिकार को बेकार बना दिया था।

इसलिए तुम देखोगी कि चुनाव का और ख़ास-ख़ास बातों का फ़ैसला करने का असली अधिकार वास्तव में रोम के ही वोटरों के हिस्से में था। वे लोग बिना-छाये बाड़ों में जाकर वोट देते थे। इन वोटरों में बहुत-से ग़रीब जन-वर्ग के लोग होते थे। धनवान कुलपति जो ऊँचा ओहदा और हुकूमत चाहता था, इन ग़रीब लोगों को रिश्वत देकर उनके वोट ख़रीद लेता था। इस तरह रोम के चुनावों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उतनी ही रिश्वत और तिकड़म चला करती थीं, जितनी कि कभी-कभी आजकल के चुनावों में चलती है।

जब इधर रोम इटली में बढ़ रहा था, तब उधर उत्तरी अफ्रीका में कार्थेज की ताक़त बढ़ रही थी। कार्थेज निवासी फ़िनीशियन लोगों के वंशज थे, और उनमें जहाज़ चलाने और व्यापार करने की पुश्तैनी परम्परा थी। उनके यहाँ भी गणराज्य था, लेकिन वह रोम से भी ज़्यादा हद तक अमीरों का गणराज्य था। यह नगर-गणराज्य था, जिसमें ग़ुलामों की आबादी बहुत अधिक थी।

शुरू के दिनों में, रोम और कार्थेज के बीच, दक्षिण इटली और मेसीना में यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज यूनानियों को निकालने के लिए एक हो गये, और इस काम में सफल होने पर कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम बूट की शकलवाले इटली की दक्षिणी नोक तक पहुँच गया। रोम और कार्थेज की दोस्ती और मेल बहुत दिनों तक क़ायम न रह सके। जल्दी ही इन दोनों में टक्करें होने लगीं और कट्टर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी। तंग समुद्र के दोनों ओर आमने-सामने डटी हुई दो मज़बूत शक्तियों के लिए भूमध्यसागर काफ़ी बड़ा न था। दोनों ही के हौसले बढ़े हुए थे। इधर रोम बढ़ रहा था, और उसमें नौजवानी का हौसला और भरोसा था; उधर कार्थेज शुरू में शायद कल के छोकरे रोम को कुछ हिक़ारत की नज़र से देखता था और अपनी समुद्री ताक़त पर पूरा भरोसा रखता था। सौ वर्ष से ज़्यादा तक ये दोनों आपस में लड़ते रहे, हालाँकि बीच-बीच में कुछ दिनों के लिए शान्ति भी हो जाती थी। लेकिन दोनों ही जंगली जानवरों की तरह लड़े, जिससे दोनों के बेशुमार निवासी तबाह हो गये। इनमें तीन युद्ध हुए जो 'प्यूनिक युद्ध' कहलाते हैं। पहला प्यूनिक युद्ध तेईस वर्ष तक यानी २६४ ई० पूर्व से २४१ ई० पूर्व तक चला और इस युद्ध में रोम की जीत हुई। बाईस वर्ष बाद दूसरा प्यूनिक युद्ध हुआ और कार्थेज ने हैनिबाल नामक एक सेनापति भेजा, जो इतिहास में बहुत मशहूर है। पन्द्रह वर्ष तक हैनिबाल ने रोम को सताया और रोमन लोगों को आतंकित किया। उसने भयंकर मारकाट करके रोमन सेनाओं को हराया—खासकर कैनी की लड़ाई में जो २१६ ई० पूर्व में हुई। यह सब उसने कार्थेज की मदद मिले बिना ही कर दिखाया, क्योंकि समुद्र पर रोमन लोगों का क़ब्ज़ा होने की वजह से कार्थेज से उसका सम्बन्ध टूट-सा गया था। लेकिन हार और बर्बादी को सहते हुए और हैनिबाल का खतरा हमेशा सिर पर रहते हुए भी, रोमन क़ौम ने हिम्मत नहीं हारी और अपने अदावती दुश्मन से बराबर लोहा लेते रहे। वे हैनिबाल से खुले मैदान में लड़ने से डरते थे, इसलिए वे खुली लड़ाइयों से बचते थे और सिर्फ़ उसे तंग करने और कार्थेज से आने-जाने का मार्ग काटने की कोशिश में ही रहते थे। फ़ेबी (फ़ेबियस) नामक रोमन सेनापति खासतौर से खुली लड़ाइयों से बचना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पसन्द करता था। दस वर्ष तक वह इसी तरह खुली लड़ाइयों को टालता रहा। मैंने उसका ज़िक्र इसलिए नहीं किया है कि वह कोई बड़ा आदमी था और उसका नाम याद रखने के लायक़ है, बल्कि इसलिए कि अंग्रेज़ी भाषा में उसके नाम पर एक शब्द 'फ़ेबियन' बन गया है। 'फ़ेबियन' चालें वे होती हैं, जिनमें किसी मामले का दो-टूक फ़ैसला टाला जाता है। इस नीति पर चलनेवाले लड़ाई या संकट को टालते रहते हैं और धीरे-धीरे घुला-घुलाकर अपना उद्देश्य हासिल करने की उम्मीद लगाये रहते हैं। इंग्लैण्ड में एक फ़ेबियन सोसाइटी है, जो समाजवाद में तो विश्वास करती है, लेकिन जल्दबाज़ी और एकदम परिवर्तन में विश्वास नहीं रखती।

हैनिबाल ने इटली के बहुत बड़े हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम की अटल कोशिश और अडिग हठ ने अन्त में विजय पाई। ई० पू० २०२ में जामा की लड़ाई में हैनिबाल हार गया। वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहाँ वह गया वहीं रोम की न बुझनेवाली नफ़रत उसका पीछा करती रही और अन्त में वह ज़हर खाकर मर गया।

रोम और कार्थेज में पचास वर्ष तक सुलह रही। कार्थेज को काफ़ी नीचा दिखा दिया गया था और रोम को चुनौती देने की अब उसमें बिलकुल हिम्मत नहीं रही थी। फिर भी रोम को सन्तोष नहीं हुआ और उसने कार्थेज को तीसरे प्यूनिक युद्ध के लिए मजबूर कर दिया। इस लड़ाई में बहुत भारी मारकाट हुई और कार्थेज बिलकुल नष्ट हो गया। सचमुच, जिस ज़माने पर किसी समय कार्थेज की अभिमानिनी नगरी—भूमध्यसागर की रानी—खड़ी थी, उसपर हल चलवा दिये गए।

: २८ :

रोमन गणराज्य साम्राज्य बन गया

९ अप्रैल, १९३२

कार्थेज की आख़िरी हार और बर्बादी के बाद रोम पश्चिमी दुनिया में सर्वोपरि हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। इससे पहले वह यूनानी राज्यों को जीत ही चुका था; अब उसने कार्थेज के प्रदेशों पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह दूसरे प्यूनिक युद्ध के बाद स्पेन रोम की अधीनता में आ गया। फिर भी रोमन राज्य में अभी तक सिर्फ़ भूमध्यसागर के तटवर्ती देश ही शामिल थे। सारा उत्तरी और मध्य-यूरोप रोम के अधीन नहीं था।

दूसरे देशों पर जीत का और लड़ाइयों में विजय का नतीजा यह हुआ कि रोम में धन और विलासिता बढ़ गई। जीते हुए प्रदेशों से सोने और ग़ुलामों के ढेर-के-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोम एक साम्राज्य बन जाता है

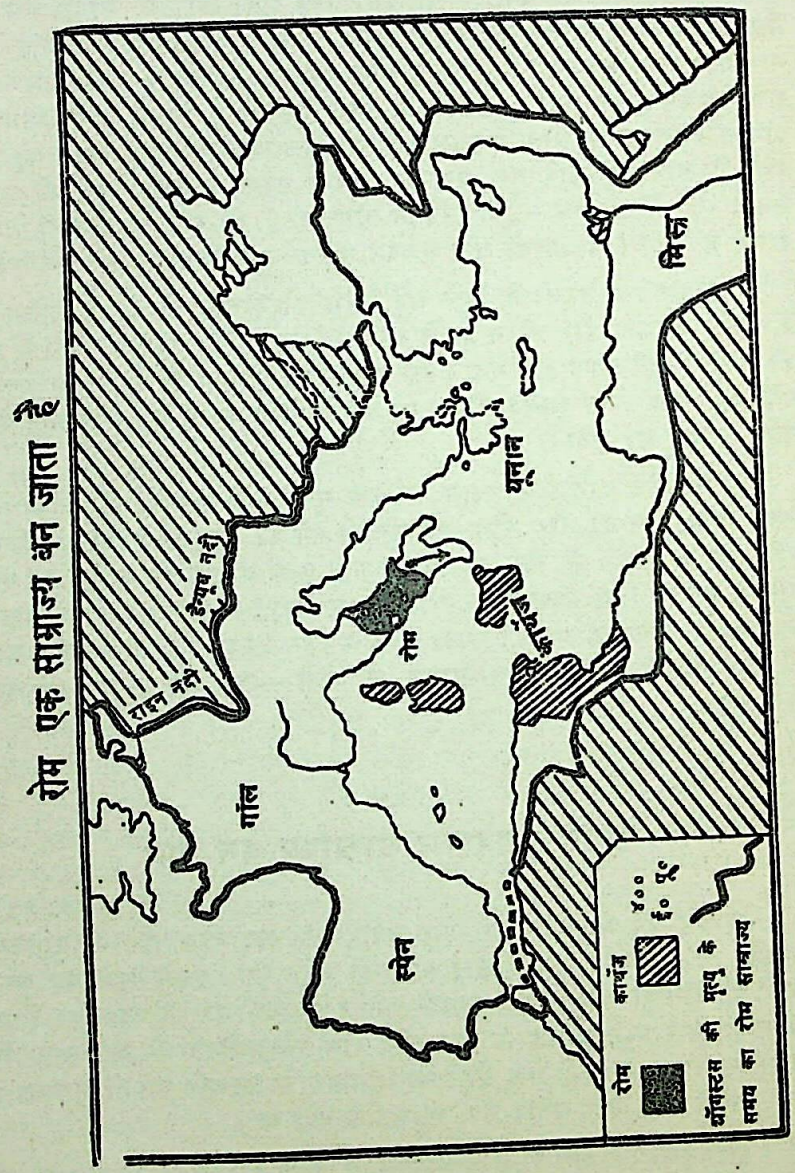

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढेर आने लगे। लेकिन ये चीज़ें जाती कहाँ थीं? मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि रोम का शासन सिनेट के हाथ में था और उसमें धनी अमीर कुटुम्बों के लोग हुआ करते थे। धनवान लोगों की इस जमात के हाथ में रोमन गणराज्य और उसके जीवन की बागडोर थी और रोम की शक्ति और विस्तार में बढ़ोतरी के साथ-साथ इन लोगों की दौलत भी बढ़ती गई; इसलिए जो धनवान थे, वे और भी ज्यादा धनवान होते गये और ग़रीब लोग ग़रीब ही बने रहे, बल्कि वास्तव में और भी ज्यादा ग़रीब हो गये। ग़ुलामों की आबादी बढ़ गई और विलासिता और मुसीबत साथ-साथ बढ़ने लगीं। जब ऐसा होता है, तभी अक्सर गड़बड़ हो जाया करती है। हैरानी की बात है कि इन्सान कहाँतक बर्दाश्त कर लेता है, लेकिन इन्सानी बर्दाश्त की भी हद होती है, और जब हद हो जाती है, तब भड़ाके हो जाते हैं।

धनवान लोगों ने ग़रीबों को खेल-तमाशों और सरकसों के दंगलों से बहलाने की कोशिश की। इनमें ग्लेडियेटर[1] लोग, सिर्फ़ दर्शकों के मनोरंजन के लिए एक-दूसरे से लड़ने और मरने-मारने के लिए मजबूर किये जाते थे। ग़ुलामों और युद्ध-बन्दियों की बहुत बड़ी संख्या इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी और, मेरे ख़याल से, इसे खेल कहा जाता था!

धीरे-धीरे रोम के राज्य में उपद्रव बढ़ने लगे। बलवे और हत्याकाण्ड होने लगे और चुनावों में रिश्वतख़ोरी और भ्रष्टाचार होने लगे। ग़रीब और पद्दलित ग़ुलामों तक ने स्पार्तक नामक एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। लेकिन ये लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गए। कहा जाता है कि रोम में ऐपियन सड़क पर छः हज़ार ग़ुलाम सूली पर चढ़ा दिये गए।

धीरे-धीरे अवसरवादी और सेनापति लोग अधिक प्रभावशाली होते गये और सिनेट पर हावी होने लगे। घरेलू युद्ध छिड़ गया, तबाही होने लगी और प्रतिद्वन्द्वी सेनापति आपस में लड़ने लगे। पूर्व में, पार्थव (इराक़) में ई० पू० ५३ में कैरे की लड़ाई में, रोम के सेना-दलों ने बहुत बुरी हार खाई। पार्थवों से लड़ने के लिए भेजी गई रोमन सेना को उन्होंने नष्ट कर दिया।

रोमन-सेनापतियों की इस भीड़ में दो नाम पाम्पी और जूलियस सीज़र, बहुत मशहूर हैं। तुम जानती हो कि सीज़र ने फ्रान्स को, जो उस समय गॉल कहलाता था, और ब्रिटेन को, जीत लिया था। पाम्पी पूर्व की तरफ़ गया और वहाँ उसे

---

[1] ग्लेडियेटर—प्राचीन रोम के उन पहलवानों का नाम, जो दूसरे योद्धाओं या जंगली जानवरों से अखाड़ों में लड़ते थे और सारा रोम तमाशा देखता था। दूसरों का ख़ून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम-निवासियों को ये खेल बड़े प्रिय थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोड़ी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनों की आपस में बड़ी गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। दोनों ही महत्वाकांक्षी थे और किसी दूसरे प्रतिद्वन्द्वी को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। बेचारे सिनेट की कोई पूछ नहीं रही, हालाँकि दोनों ज़बानी तौर पर उसकी अधीनता स्वीकारते थे। सीज़र ने पाम्पी को हरा दिया और इस तरह वह रोमन संसार का प्रमुख नेता बन गया। लेकिन रोम गणराज्य था, इसलिए सरकारी तौर पर सीज़र हर मामले में अपनी मनमानी नहीं कर सकता था। इसलिए यह कोशिश की गई कि उसको ताज पहनाकर बादशाह या सम्राट् बना दिया जाय। सीज़र इसके लिए बहुत-कुछ राज़ी था। लेकिन रोम की पुरानी गणराज्य-परम्परा के कारण उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, यह परम्परा उसके लिए इतनी ज़ोरदार साबित हुई कि ब्रूत (ब्रूटस) और दूसरे लोगों ने उसे फ़ोरम[1] की सीढ़ियों पर ही छुरे भोंककर मार डाला। तुमने शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' नाटक पढ़ा होगा, जिसमें यह दृश्य दिया हुआ है।

जूलियस सीज़र ई० पू० ४४ में मारा गया, लेकिन उसकी मौत रोम के गणराज्य को न बचा सकी। सीज़र के दत्तक-पुत्र और भाई के पोते आक्तेवियन ने, और मित्र मार्क एन्थनी ने, सीज़र की हत्या का बदला चुका लिया। इसके बाद बादशाहत वापस आई और आक्तेवियन प्रिन्सेप्स यानी राज्य का प्रमुख बना और गणराज्य खत्म हो गया। सिनेट क़ायम रहा, लेकिन उसके हाथ में कोई असली ताक़त नहीं रह गई।

आक्तेवियन जब प्रिन्सेप्स या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम और पद आगस्त सीज़र रक्खा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीज़र कहलाते रहे। सीज़र शब्द का अर्थ ही वास्तव में सम्राट् हो गया है। क़ैसर और ज़ार शब्द इसी 'सीज़र' शब्द से निकले हैं। बहुत दिनों से हिन्दुस्तानी भाषा में भी क़ैसर शब्द इसी अर्थ में चालू हो गया है, जैसे 'क़ैसरे-रूम', 'क़ैसरे-हिन्द'। इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज को 'क़ैसरे-हिन्द' की उपाधि पर नाज़ है।[2] जर्मन-क़ैसर खत्म हो गया, इसी तरह आस्ट्रियन-क़ैसर, तुर्की-क़ैसर और रूसी-ज़ार भी। और यह दिलचस्प और अजीब बात है कि आज अकेला इंग्लैण्ड का बादशाह ही रह गया है जो उस जूलियस सीज़र की उपाधि धारण कर रहा है, जिसने रोम के लिए ब्रिटेन को जीता था।

इस तरह जूलियस सीज़र का नाम बादशाही शान-शौक़त का सूचक शब्द बन गया। अगर पाम्पी ने यूनान में फ़ारसैल की लड़ाई में सीज़र को हरा दिया

---

[1] फ़ोरम—वह इमारत जिसमें सिनेट की बैठकें हुआ करती थीं।

[2] अब इंग्लैण्ड के बादशाह की भी 'क़ैसरे-हिन्द' की उपाधि हटा दी गई है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता तो क्या हुआ होता ? शायद पाम्पी प्रिन्सेप्स या सम्राट् बना होता और पाम्पी का मतलब सम्राट् हो गया होता। तब विलियम द्वितीय अपनेको जर्मन पाम्पी कहते और किंग जार्ज भी शायद पाम्पी-ए-हिन्द कहलाते।

रोमन राज्य के इस परिवर्तन-काल में, जब गणराज्य साम्राज्य बन रहा था, मिस्र में एक ऐसी स्त्री हुई जो अपने सौन्दर्य के लिए इतिहास में मशहूर होने-वाली थी। उसका नाम क्लियोपेत्रा था। उसका चरित्र कुछ ज्यादा पसन्द करने लायक नहीं है, लेकिन वह उन इनी-गिनी स्त्रियों में से है, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपनी खूबसूरती से इतिहास का रुख बदल दिया। जब जूलियस सीज़र मिस्र गया था, तब यह निरी लड़की ही थी। बाद में मार्क एन्थनी से इसकी गहरी दोस्ती हो गई, जिसका नतीजा अच्छा नहीं निकला। वास्तव में क्लियोपेत्रा ने उसके साथ दग़ा किया और एक बड़ी समुद्री लड़ाई के दौरान में वह उसे छोड़कर अपने जहाज़ों को लेकर भाग गई। एक मशहूर फ्रान्सीसी लेखक पैस्कल ने बहुत दिन हुए लिखा था :

"अगर क्लियोपेत्रा की नाक ज़रा छोटी होती तो दुनिया की सूरत बिलकुल बदल गई होती।"

इस बात में कुछ अतिशयोक्ति है। क्लियोपेत्रा की नाक दूसरी तरह की होती तो भी उससे दुनिया की हालत में बहुत ज्यादा फ़र्क़ न पड़ा होता। लेकिन यह सम्भव है कि मिस्र पहुँचने के बाद सीज़र अपनेको बादशाह या सम्राट् या एक देवता जैसा समझने लगा हो। मिस्र में गणराज्य नहीं था, बल्कि एकतन्त्री शासन था और राजा को सिर्फ़ सर्वोपरि ही नहीं बल्कि देवता की तरह माना जाता था। पुराने मिस्रियों की यही धारणा थी और यूनान के तालमी लोगों ने, जो सिकन्दर की मौत के बाद मिस्र के शासक हुए, मिस्र के बहुत-से आचार-विचारों को अपना लिया था। क्लियोपेत्रा इसी तालमी-वंश की थी और इसलिए यूनानी, या यों कहिये कि मक़दूनिया की, राजकुमारी थी।

क्लियोपेत्रा का इस प्रक्रिया में कोई हाथ हो या न हो, लेकिन मिस्रियों की यह धारणा कि राजा देवता है, रोम तक पहुँच गई, और वहाँ घर कर गई। जूलियस सीज़र की ज़िन्दगी में ही, जबकि गणराज्य अपनी तरक़्क़ी पर था, उसकी मूर्तियाँ बनने और पुजने लगी थीं। आगे चलकर हम देखेंगे कि रोम सम्राटों ने अपनी पूजा वाक़ायदा कैसे चालू करवा दी।

अब हम रोम के इतिहास में एक महत्व के मोड़ पर, गणराज्य के अन्त तक, पहुँच गये हैं। सन् २७ ई० में आक्तेवियन, आगस्त सीज़र की पदवी धारण कर प्रिन्सेप्स बना। रोम और उसके सम्राटों की इस कहानी की चर्चा हम आगे फिर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेंगे। तबतक हम गणराज्य के आख़िरी दिनों में रोम के अधीन राज्यों पर एक नज़र दौड़ा लें।

रोम इटली पर तो राज करता ही था; पश्चिम में स्पेन और गॉल (फ्रान्स) पर भी उसका क़ब्ज़ा था। पूर्व में यूनान और एशिया-कोचक, जहाँ तुम्हें याद होगा कि परगैमम का यूनानी राज्य था, उसके क़ब्ज़े में थे। उत्तरी अफ्रीका में मिस्र रोम का मेलवाला और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और भूमध्य-सागर के तटवर्ती देशों के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के अधीन थे। इस तरह उत्तर में राइन नदी के सहारे-सहारे रोमन साम्राज्य की सीमा थी। जर्मनी और रूस की और उत्तरी और मध्य-यूरोप की सारी क़ौमें, रोमन साम्राज्य से बाहर थीं। इराक़ के पूर्व की भी सारी क़ौमें उसके अधीन नहीं थीं।

उस ज़माने में रोम बहुत महान् था। लेकिन यूरोप के बहुत-से लोग, जो दूसरे देशों का इतिहास नहीं जानते थे, यह समझते हैं कि रोम ही सारी दुनिया का सिर-ताज था। यह बात असलियत से बहुत दूर थी। तुम्हें याद होगा कि इसी ज़माने में चीन में महान् हन् वंश राज करता था और वह एशिया के तट से लेकर ठेठ कैस्पियन सागर तक फैले हुए क्षेत्र का सर्वाधिपति था। इराक़ में कैरे की लड़ाई में, जिसमें रोमन लोग बुरी तरह हारे थे, मुमकिन है पार्थवों को चीन के मंगोलियों ने मदद दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, ख़ासकर रोमन गणराज्य का इतिहास, यूरोप-निवासी को बहुत प्यारा है, क्योंकि वह रोम के पुराने राज्य को यूरोप के आज के राष्ट्रों का पूर्वज जैसा मानता है और यह बात किसी हद तक सही भी है। इसलिए इंग्लैण्ड में स्कूलों के विद्यार्थियों को, चाहे वे आधुनिक इतिहास जानें या न जानें, यूनान और रोम का इतिहास ज़रूर पढ़ाया जाता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जूलियस सीज़र का लिखा हुआ, उसकी गॉल की चढ़ाई का हाल, मूल लातीनी भाषा में मुझे पढ़ाया गया था। सीज़र सिर्फ़ योद्धा ही नहीं था, बल्कि एक सुन्दर और प्रभावशाली लेखक भी था और उसका लिखा हुआ गॉल के युद्ध का वर्णन[1] आज भी यूरोप के हज़ारों स्कूलों में पढ़ाया जाता है।

कुछ दिन हुए हमने अशोक के समय की दुनिया पर नज़र डालनी शुरू की थी। हम इस सिंहावलोकन को ख़त्म करके उससे बाहर चीन और यूरोप भी पहुँच गये। अब हम क़रीब-क़रीब ईसाई सन् की शुरुआत तक पहुँच गये हैं। इसलिए अब हमें फिर भारत लौटना पड़ेगा ताकि यहाँ के निवासियों के बारे में अबतक की जानकारी पूरी हो जाय। क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद वहाँ बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ हुईं और उत्तर और दक्षिण में नये-नये साम्राज्य पैदा हो गये।

---

[1] De Bello Gallico

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने कोशिश की है कि तुम सारी दुनिया के इतिहास को एक पूरी सिल-सिलेवार चीज़ समझो। लेकिन मुझे उम्मीद है, तुम्हें यह भी याद होगा कि शुरू के ज़माने में दूर-दूर के देशों का आपसी सम्पर्क बहुत ही सीमित ढंग पर था। रोम, जो कि कई बातों में बहुत आगे बढ़ा हुआ था, भूगोल और नक़शों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, और न इन विषयों को जानने की उसने कोई खास कोशिश ही की। आजकल के स्कूलों के लड़कों और लड़कियों को भूगोल का जितना ज्ञान है, उतना रोम के बड़े-बड़े सेनापतियों और सिनेट के बुद्धिमान् आदमियों को भी नहीं था, हालाँकि वे लोग अपने को दुनिया का स्वामी समझते थे। और जिस तरह ये लोग अपने को दुनिया का स्वामी समझते थे, उसी तरह उनसे कई हज़ार मील दूर, एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपने को संसार का स्वामी समझते थे।

: २९ :

दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना

१० अप्रैल, १९३२

सुदूर पूर्व में चीन और पश्चिम में रोम की लम्बी यात्रा के बाद हम फिर भारत वापस आते हैं।

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य्य-साम्राज्य बहुत दिनों तक नहीं टिका। थोड़े ही वर्षों में वह मुरझा गया। उत्तर के प्रान्त उससे अलग हो गये और दक्षिण में आन्ध्र की एक नई शक्ति पैदा हुई। अशोक के वंशज क़रीब पचास वर्ष तक अपने अस्त होते हुए साम्राज्य पर शासन करते रहे। आखिर में पुष्यमित्र नामक उनके एक ब्राह्मण सेनापति ने बल से उनकी गद्दी छीन ली। यह व्यक्ति खुद सम्राट् बन बैठा और कहते हैं, उसके ज़माने में ब्राह्मण-धर्म[1] में फिर जान पड़ गई। किसी हद तक बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार भी हुए। लेकिन भारत का इतिहास पढ़ने पर तुम देखोगी कि ब्राह्मण-धर्म ने बौद्ध-धर्म पर जिस ढंग से आक्रमण किया वह बड़ा चतुराई भरा था। उसने बौद्ध-धर्म पर ज्यादा अत्याचार करने की कोई भोंड़ी कार्रवाई नहीं की। बौद्धों पर कुछ अत्याचार ज़रूर हुआ, लेकिन वह बहुत करके राजनीतिक था, धार्मिक नहीं। बड़े-बड़े बौद्ध-संघ शक्तिशाली संगठन थे और बहुत-से शासक उनकी राजनीतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होंने उनको कमज़ोर करने की कोशिश की। बौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि से निकाल बाहर करने में ब्राह्मण-धर्म आखिर में क़ामयाब रहा, क्योंकि उसने कुछ हद तक बौद्ध-धर्म

[1] ब्राह्मण-धर्म से मतलब हिन्दू-धर्म से है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पचा लिया, अपने में मिला लिया, और उसे अपने घर में जगह देने की कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, न तो सिर्फ़ पुरानी हालतों को ही फिर से लाने की कोशिश की और न जो कुछ बौद्ध-धर्म ने किया था उसको बिलकुल मटिया-मेट ही किया। ब्राह्मण-धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने ज़माने से उनका यह तरीक़ा चला आया था कि वे दूसरे धर्मों को अपने में मिला लेते और उसे पचा लेते थे। आर्य लोग जब पहले-पहल भारत में आये, तब उन्होंने द्रविड़ों की संस्कृति और रस्म-रिवाजों को बहुत-कुछ पचा लिया और अपने सारे इतिहास में वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आये हैं। बौद्ध-धर्म के साथ भी उन्होंने यही किया और बुद्ध को अवतार[1] और देवता बना दिया; बहुत-से हिन्दू देवताओं में उन्हें भी एक स्थान दे दिया। इस तरह बुद्ध तो क़ायम रहे, लोग उनकी पूजा और उपासना करते रहे; लेकिन उनके विशेष सन्देश को चुपचाप हटा दिया गया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म कुछ छोटी-मोटी तब्दीलियों के बाद अपने मामूली ढर्रे पर फिर चलने लगा। लेकिन बुद्ध को हिन्दू-धर्म का जामा पहनाने की क्रिया बहुत काल तक चलती रही। मगर अभी हम आगे की बातें करने लगे हैं, क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद कई सौ वर्ष तक बौद्ध-धर्म भारत में क़ायम रहा।

हमें इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत नहीं कि मगध में एक के बाद दूसरे कौन-कौन से राजा और राजवंश आये और गये। अशोक के मरने के दो सौ वर्ष बाद तो मगध भारत का सर्वोपरि राज्य भी नहीं रहा। लेकिन तब भी वह बौद्ध-संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र बना रहा।

इसी बीच उत्तर और दक्षिण दोनों में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। उत्तर में मध्य-एशिया की कई क़ौमें, जैसे बाख़्त्री, शक, तुर्क और कुषाण, बराबर हमले कर रही थीं। मेरा ख़याल है मैंने तुम्हें एक बार लिखा था कि कैसे मध्य-एशिया कई घुमक्कड़ क़ौमों के पैदा होने और पनपने की भूमि रहा है और इतिहास में ये लोग बार-बार बाहर निकलकर सारे एशिया में और यूरोप तक में कैसे फैल गये। ईसा के पूर्व २०० वर्ष के समय में भारत पर भी इस तरह के कई हमले हुए। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि ये हमले कोरी देश-विजय या लूटमार के लिए नहीं हुआ करते थे, बल्कि बसने के लिए भूमि की तलाश में हुआ

---

[1] निन्दसि यज्ञ विधे रह रह श्रुतिजातम्
सदय हृदय दर्शित पशुघातम्
केशव धृत बुद्ध शरीर
जय जयदेव हरे —गीतगोविन्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते थे। मध्य-एशिया के इन क़बीलों में बहुत-से घुमक्कड़ थे और जब उनकी संख्या बढ़ जाती थी, तो जिस भूमि पर वे बसे होते थे, वह उनके गुज़ारे के लिए नाकाफ़ी हो जाती थी। इसलिये उन्हें नई भूमि की तलाश में बाहर निकलना पड़ता था। इनके वहाँ से निकलने का इससे भी ज्यादा ज़बर्दस्त एक कारण यह था कि उन्हें पीछे से ढकेला जाता था। एक बड़ा क़बीला या फ़िरक़ा दूसरों पर हमला करके उन्हें वहाँ से निकाल बाहर करता था और इन निकाले हुओं को दूसरे देशों पर हमला करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। इस तरह भारत में जो लोग हमलावर बनकर आये, वे ख़ुद अक्सर अपनी चरागाहों से भगाये हुए शरणार्थी थे। जब कभी चीनी साम्राज्य में काफ़ी ताक़त हो जाती थी, जैसा कि हून्-वंश के दिनों में हुआ, तब वह भी इन घुमक्कड़ों को निकाल बाहर करता था और उन्हें नये घर तलाश करने के लिये मजबूर कर देता था।

तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि मध्य-एशिया के घमक्कड़ क़बीले भारत को बिलकुल ही शत्रु देश नहीं समझते थे। उन्हें 'म्लेच्छ' ज़रूर कहा गया है, और सचमुच उस समय के भारत के मुक़ाबले में वे उतने सभ्य थे भी नहीं। लेकिन उनमें ज़्यादातर कट्टर बौद्ध थे, जो भारत को, जहाँ उनके 'धर्म' का जन्म हुआ था, इज़्ज़त की नज़र से देखते थे।

पुष्यमित्र के ज़माने में भी उत्तर-पश्चिम भारत पर बाख़्त्रिया के मेनेन्द्र ने हमला किया था। मेनेन्द्र बौद्ध-धर्म का भक्त था। भारत की सीमा के ठीक उस पार बाख़्त्रिया का देश था। यह सेलेउक के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद में स्वाधीन हो गया था। मेनेन्द्र का हमला असफल कर दिया गया, लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसने क़ब्ज़ा कर ही लिया।

इसके बाद शकों का हमला हुआ, जो इस देश में बहुत बड़ी संख्या में आये और सारे उत्तर और पश्चिम भारत में फैल गये। यह तुर्की घुमक्कड़ों का एक बड़ा क़बीला था। एक दूसरे बड़े क़बीले कुषाण ने उन्हें अपनी चरागाहों से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बाख़्त्रिया और पार्थव को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत में, ख़ासकर पंजाब, राजपूताना और काठियावाड़ में जम गये। भारत ने उन्हें सभ्य बनाया और उन लोगों ने अपनी घुमक्कड़पन की आदतें छोड़ दीं।

यह एक दिलचस्प बात है कि भारत के कुछ भागों के इन बाख़्त्री और तुर्की शासकों का भारतीय-आर्य समाज पर कुछ ख़ास असर नहीं पड़ा। ख़ुद बौद्ध होने के कारण इन शासकों ने बौद्ध-संघ के संगठन का अनुकरण किया, जिसका आधार लोकतन्त्री ग्राम-समुदायों का पुराना भारतीय-आर्य नक़शा था। इस तरह इन शासकों के अधीन होते हुए भी भारत केन्द्रीय शक्ति के अधीन ग्रामीण गणराज्यों का एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समूह-सा बना रहा। इस ज़माने में भी तक्षशिला और मथुरा बौद्ध-शिक्षा के केन्द्र रहे, जहाँ चीन और पश्चिम-एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार हमलों का, और मौर्य्य-राज्य संगठन के धीरे-धीरे टूट जाने का एक असर ज़रूर हुआ। दक्षिण-भारत के राज्य पुरानी भारतीय आर्य-प्रणाली के ज्यादा सही प्रतिनिधि बन गये। इस तरह भारतीय-आर्य शक्ति का केन्द्र उत्तर से हटकर दक्षिण पहुँच गया। इन हमलों के कारण शायद उत्तर के बहुत-से क़ाबिल आदमी दक्षिण में जा बसे। आगे चलकर तुम देखोगे कि एक हज़ार वर्ष बाद जब मुसलमानों ने भारत पर हमला किया उस समय फिर यही प्रक्रिया हुई। आज भी दक्षिण भारत पर विदेशी हमलों और सम्पर्कों का उत्तर भारत के मुक़ाबले बहुत कम असर पड़ा है। उत्तर भारत के ज्यादातर निवासी एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति में पले हैं जो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का मेल है और जिसमें पश्चिम का भी कुछ पुट है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी, चाहे जो कहो, एक मिली-जुली भाषा है। लेकिन जैसा कि तुमने खुद देखा है, दक्षिण के ज्यादातर निवासी आज भी कट्टर हिन्दू हैं।

दक्षिण भारत सैकड़ों वर्षों से पुरानी आर्य-परम्परा को बचाने और क़ायम रखने की कोशिश करता रहा है और इस कोशिश में उसने अपना इतना कट्टर-पन्थी समाज बना लिया है कि आज भी उसकी असहिष्णुता पर हैरत होती है। दीवारों का साथ ख़तरनाक हुआ करता है। कभी-कभी वे बाहरी मुसीबत से भले ही बचा लें और उत्पाती लोगों को अन्दर आने से रोक दें; लेकिन वे आदमी को क़ैदी और ग़ुलाम बना देती हैं और उसे नामधारी निर्मलता और हिफ़ाज़त की क़ीमत आज़ादी को बेचकर चुकानी पड़ती है। और सबसे भयंकर दीवारें वे हैं, जो आदमी के दिमाग़ में पैदा हो जाती हैं, और जो हमें किसी बुरी परम्परा को सिर्फ़ इसलिए नहीं छोड़ने देतीं कि वह पुरानी है, और किसी नये विचार को इसलिये नहीं स्वीकारने देतीं कि वह नवीन है।

लेकिन दक्षिण भारत ने यह सेवा सचमुच की कि एक हज़ार वर्ष से भी ज्यादा समय तक भारतीय आर्यों की सिर्फ़ धार्मिक परम्परा को ही नहीं बल्कि कला और राजनीति की परम्पराओं को भी क़ायम रखा। अगर तुम्हें पुरानी भारतीय कला के नमूने देखने हों तो दक्षिण भारत जाना होगा। राजनीति के बारे में यूनानी मेगस्थेने ने लिखा है कि दक्षिण में राजाओं के अधिकारों पर लोक-सभाओं का अंकुश रहता था।

जब मगध-देश का पतन हुआ तो सिर्फ़ विद्वान् लोग ही नहीं बल्कि कलाकार, शिल्पकार, कारीगर और दस्तकार लोग भी दक्षिण चले गए। यूरोप और दक्षिण भारत के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। मोती, हाथीदाँत, सोना, चावल, काली-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिर्च, मोर और बन्दर तक भी बाबुल, मिस्र और यूनान को, और बाद में रोम को भेजे जाया करते थे। इसके भी बहुत पहले सागवान की लकड़ी मलाबार के किनारे से खाल्दिया और बाबुल जाती थी। और यह सब व्यापार, या उसका ज़्यादातर हिस्सा, भारतीय जहाज़ों के ज़रिये, जिन्हें द्रविड़ लोग खेते थे, हुआ करता था। इससे तुम्हें पता चल सकता है कि प्राचीन दुनिया में दक्षिण भारत कितनी उन्नत स्थिति पर पहुँचा हुआ था। दक्षिण में रोमन सिक्के काफ़ी संख्या में मिले हैं, और जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, मलाबार के समुद्र-तट पर इस्कन्दरिया निवासियों की बस्तियाँ थीं, और इस्कन्दरिया में भारतीयों की।

अशोक की मृत्यु के बाद ही दक्षिण का आन्ध्र-राज्य स्वाधीन हो गया। जैसा कि शायद तुम जानती हो, आन्ध्र आजकल काँग्रेस का एक प्रान्त है, जो भारत के पूर्वी समुद्र-तट पर मद्रास के उत्तर में है। आन्ध्र-देश की भाषा तेलगू है। आन्ध्र की शक्ति अशोक के बाद तेज़ी से बढ़ती गई और दक्षिण में समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैल गई।

दक्षिण के लोगों ने नई बस्तियाँ बसाने के बड़े-बड़े प्रयत्न किये। लेकिन इनकी चर्चा बाद में करेंगे।

मैं ऊपर शकों और दूसरी जातियों का ज़िक्र कर आया हूँ, जिन्होंने भारत पर हमले किये और जो उत्तर में बस गईं। ये लोग भारत के अंग बन गये, और उत्तरी भारत में रहनेवाले हम लोग उनके भी उतने ही वंशज हैं, जितने कि आर्यों के। खासकर बहादुर और सुडौल राजपूत और काठियावाड़ के तगड़े लोग तो उन्हीं के वंशज हैं।

: ३० :

कुषाणों का सीमावर्ती साम्राज्य

११ अप्रैल, १९३२

मैंने पिछले पत्र में भारत पर शकों और तुर्कों के बार-बार के हमलों का ज़िक्र किया है। मैंने तुम्हें दक्षिण में शक्तिशाली आन्ध्र-राज्य की बढ़ोतरी का भी हाल बताया है, जो बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक फैला हुआ था। शकों को कुषाणों ने आगे खदेड़ दिया था और कुछ दिन बाद कुषाण खुद ही सामने आ गये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगों ने भारत की सीमा पर एक राज्य क़ायम किया और यही राज्य बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा साम्राज्य हो गया। यह कुषाण साम्राज्य दक्षिण में बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर में काशगर, यारक़न्द और खुतन तक, और पश्चिम में पार्थव और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह उत्तर प्रदेश, पंजाब और कश्मीर समेत सारा उत्तर भारत, मध्य-एशिया का काफ़ी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुषाण-साम्राज्य के समय का भारत

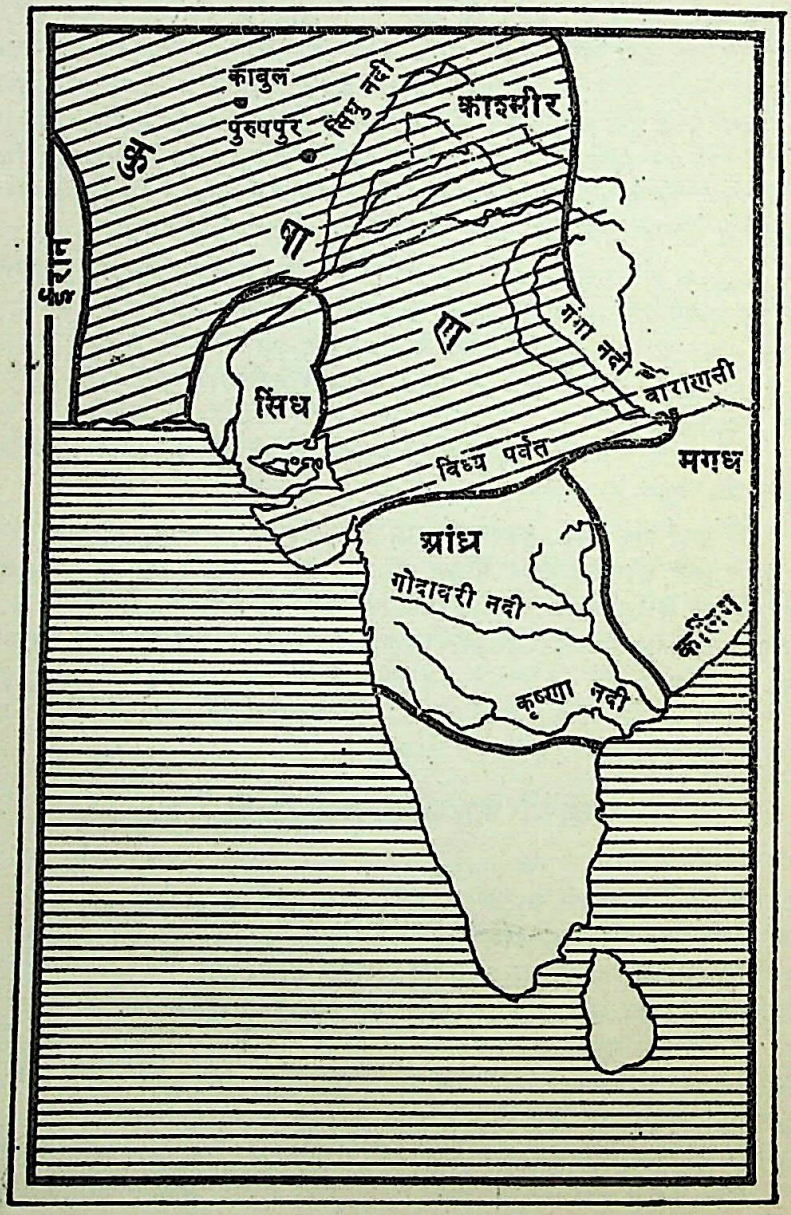

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ा हिस्सा कुषाण राजाओं के अधीन था। क़रीब तीन सौ वर्ष तक, ठीक उन्हीं दिनों जब कि आन्ध्र-राज्य दक्षिण भारत में फूल-फल रहा था, यह साम्राज्य क़ायम रहा। मालूम होता है कि पहले तो कुषाणों की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद में पेशावर ले जायी गई थी, जो उस वक़्त पुरुषपुर कहाता था, और फिर वहीं बनी रही।

इस कुषाण साम्राज्य की कई बातें बड़ी दिलचस्प हैं। यह बौद्ध-साम्राज्य था और उसके मशहूर शासकों में से एक शासक—सम्राट् कनिष्क बौद्ध-धर्म का कट्टर भक्त था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत समय पहले से बौद्ध-संस्कृति का केन्द्र थी। मैं शायद तुम्हें बता चुका हूँ कि कुषाण लोग मंगोली थे या मंगोलियों से मिलते-जुलते थे। कुषाण राजधानी से अपने वतन मंगोलिया को लोगों का आना-जाना बराबर होता रहा होगा और बौद्ध-शिक्षा और बौद्ध-संस्कृति चीन और मंगोलिया पहुँची होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध विचारों से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के ज़माने से ही पश्चिमी एशिया यूनानियों की हुकूमत में था और बहुत-से यूनानी अपने साथ अपनी संस्कृति यहाँ लाये थे। यह यूनानी-एशियाई संस्कृति अब भारतीय-बौद्ध संस्कृति से मिल-जुल गई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर भारत का असर पड़ा। लेकिन उसी तरह भारत पर भी इन देशों का असर पड़ा। पश्चिम में यूनानी-रोमन दुनिया, पूर्व में चीनी दुनिया और दक्षिण में भारतीय दुनिया से घिरा हुआ कुषाण-साम्राज्य एशिया की पीठ पर एक देव की तरह सवारी गाँठे बैठा था। भारत और रोम, तथा भारत और चीन, दोनों के बीच यह अधबर की मंज़िल बना हुआ था।

जैसी कि सम्भावना थी, इस बीच की स्थिति ने भारत और रोम के बीच गहरा आपसी सम्बन्ध पैदा करने में बहुत मदद पहुँचाई। कुषाण-काल रोमन गण-राज्य के आख़िरी दिनों के साथ-साथ, जब जूलियस सीज़र ज़िन्दा था, और रोमन साम्राज्य के शुरू के दो सौ साल के साथ-साथ चलता है। कहा जाता है कि कुषाण सम्राट् ने आगस्त सीज़र के यहाँ बड़ा राजदूत-मण्डल भेजा था। इन दोनों देशों में ख़ुश्की और समुद्री रास्ते ख़ूब व्यापार होता था। भारत से रोम को इत्र, मसाले, रेशम, कमख़्वाब, मलमल, ज़री के कपड़े और जवाहरात भेजे जाते थे। प्लीनी नामक रोमन लेखक ने सचमुच कड़ी शिकायत की थी कि रोम से भारत को सोना खिंचा चला जाता था। उसने कहा था कि विलास की इन चीज़ों पर हर साल रोमन साम्राज्य के दस करोड़ सीस्तरसी[1] ख़र्च हो जाते हैं। यह रक़म क़रीब डेढ़ करोड़ रुपयों के बराबर होगी।

---

[1] सीस्तरसी—एक रोमन सिक्का।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस काल में बौद्ध-विहारों में और बौद्ध-संघों की संगीतियों में बड़े-बड़ वाद-विवाद और शास्त्रार्थ हुआ करते थे। दक्षिण और पश्चिम से नये विचार या नये जामे में पुराने विचार आते रहते थे। और बौद्ध विचारों की सादगी के ऊपर इनका धीरे-धीरे असर पड़ रहा था। परिवर्तन का यह सिलसिला यहाँ तक पहुँचा कि इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म दो सम्प्रदायों—महायान और हीनयान में बँट गया। नई-नई व्याख्याओं और विचारों के साथ जब जीवन और धर्म से सम्बन्ध रखने-वाले नज़रिये में परिवर्तन हुआ, तब कला और शिल्प में इन विचारों का प्रदर्शन भी बदल गया। यह कहना आसान नहीं है कि ये परिवर्तन कैसे आये। बौद्ध विचार-धारा को एक ही दिशा में मोड़नेवाले प्रभावों में शायद दो मुख्य थे, एक ब्राह्मण-धर्म का और दूसरा यूनानी।

जैसा कि मैंने कई बार तुम्हें बताया है, बौद्ध-धर्म जात-पाँत, पुरोहिताई और कर्मकाण्ड के खिलाफ़ एक विद्रोह था। गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा को अच्छा नहीं मानते थे। वह यह दावा नहीं करते थे कि वह ईश्वर हैं और उनकी पूजा की जाय। वह तो केवल बुद्ध[1] थे। इस विचारधारा के मुताबिक उस ज़माने में बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं होती थीं, और उस समय की इमारतों में किसी तरह की मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थीं। लेकिन ब्राह्मण लोग हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के बीच का अन्तर मिटाना चाहते थे, और बौद्ध विचारों में हिन्दू विचार और प्रतीकवाद दाख़िल करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। उधर यूनानी-रोमी दुनिया के कारीगर भी देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के आदी थे। इसलिए धीरे-धीरे बौद्ध मन्दिरों में मूर्तियों का दख़ल हो गया। शुरू की मूर्तियाँ बुद्ध की नहीं बल्कि बोधि-सत्वों की थीं, जो बौद्ध जातक-कथाओं के अनुसार बुद्ध के पूर्व-जन्म माने जाते हैं। यह सिल-सिला जारी रहा, यहाँतक कि अन्त में बुद्ध की मूर्तियाँ भी बना ली गईं और उनकी पूजा होने लगी।

बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय ने इन परिवर्तनों का स्वागत किया। ब्राह्मण विचार-धारा के वह बहुत-कुछ निकट था। कुषाण सम्राटों ने महायान मत स्वीकार कर लिया और उसके प्रचार में मदद की। लेकिन उन्हें हीनयान मत या दूसरे धर्मों से भी कोई द्वेष न था। कहते हैं कि कनिष्क ने ज़रथुस्त मज़हब को भी बढ़ावा दिया था।

महायान और हीनयान में कौन-सा अच्छा है, इस विषय पर बड़े-बड़े विद्वानों में जो शास्त्रार्थ हुआ करते थे, उनके बारे में पढ़ने से बड़ा मनोरंजन होता है। इसके लिए संघ की बड़ी-बड़ी संगीतियाँ हुआ करती थीं। कनिष्क ने कश्मीर में संघ की एक बहुत बड़ी संगीति बुलाई थी। कई सौ वर्ष तक इस सवाल पर शास्त्रार्थ और

[1] बुद्ध का अर्थ है जागा हुआ, यानी जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया हो।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतभेद चलते रहे। महायान उत्तर भारत में जीता और हीनयान दक्षिण में, और आखिर में इन दोनों ही को हिन्दू-धर्म ने हज़म कर लिया। आजकल चीन, जापान और तिब्बत में बौद्धधर्म का महायान मत पाया जाता है, और लंका और बर्मा में हीनयान।

किसी क़ौम की कला उसके भावों का सच्चा दर्पण हुआ करती है। इसलिए जब शुरू के बौद्ध विचारों की सरलता की जगह जटिल प्रतीकों ने ले ली, तब भारतीय कला भी ज़्यादा जटिल और अलंकारपूर्ण होती गई। ख़ासतौर से उत्तर-पश्चिम में गान्धार की महायान मूर्तिकला में मूर्तियों और अलंकारों की भरमार हो गई। हीनयान शिल्प भी इस नई हवा से बिलकुल अछूता न रहा। वह भी धीरे-धीरे अपनी पुरानी शैली की सादगी और संयम खो बैठा और उसने अलंकारपूर्ण खुदाई और प्रतीकवाद अपना लिया।

उस काल की कुछ यादगारें आज भी हमारे पास हैं। अजन्ता की गुफ़ाओं की दीवारों पर बने हुए सुन्दर चित्र इनमें सबसे ज़्यादा दिलचस्प हैं।

अब हम कुषाणों से विदा लेते हैं। लेकिन एक बात याद रखना। शकों और दूसरी तुर्की क़ौमों की तरह कुषाणों का भारत में आना या उसपर शासन करना ऐसा नहीं था जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए देश पर हुकूमत कर रहे हों। ये लोग भारत से और भारत के निवासियों से धर्म के बन्धन में बँधे हुए थे। इसके अलावा उन्होंने भारत के आर्यों की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूँकि उन लोगों ने अपने को बहुत हद तक आर्य-प्रणाली के अनुकूल बना लिया था, इसलिए वे तीन सौ वर्षों तक उत्तर भारत पर राज करने में सफल हुए।

: ३१ :

ईसा और ईसाइयत

१२ अप्रैल, १९३२

उत्तर-पश्चिम भारत के कुषाण-साम्राज्य और चीन के हून्-वंश की चर्चा करते-करते हम इतिहास की एक महत्वपूर्ण मंज़िल से आगे बढ़ आये। इसलिए उसपर वापस लौट चलना चाहिए। अभी तक हम जो तारीखें देते थे, वे ईसा के पूर्व की थीं। अब हम ईसवी सन् में पहुँच गये हैं। यह सन्, जैसा कि इसके नाम से ज़ाहिर है, ईसा के जन्म से या ईसा के माने हुए जन्मदिन से, शुरू होता है। वास्तव में ईसा का जन्म शायद इससे चार वर्ष पहले हुआ था, लेकिन उससे कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता। ईसा के बाद होनेवाली घटनाओं की तारीखों के आगे ईसवी सन् लिखने का रिवाज हो गया है।[1] मैं भी ऐसा ही करूँगा।

---

[1] अंग्रेज़ी में ईसवी सन् के लिए A. D. या A. C. लिखा जाता है। A.D. का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसा, या जैसा कि उनका नाम था यीशु, की कथा बाइबिल के नये अहदनामे[1] में दी हुई है और तुम्हें उसके बारे में कुछ मालूम भी है। ईसा की जीवन-कथाओं[2] के विवरणों में उनकी जवानी के दिनों का कोई हाल नहीं दिया गया है। वह नासरत में पैदा हुए; गैलिली में उन्होंने प्रचार किया और तीस वर्ष से ऊपर की उम्र में वह यरूशलम आये। इसके थोड़े ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉन्तियस पाइलेत की अदालत में उनपर मुक़दमा चला और उसने इनको सज़ा दी। यह साफ़ नहीं मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने से पहले ईसा क्या करते थे या कहाँ गये थे। मध्य एशिया भर में, कश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशों में अभी तक लोगों का यह पक्का विश्वास है कि यीशु या ईसा इन देशों में घूमे थे। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह भारत भी आये थे। पक्के तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन जिन विद्वानों ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे यह नहीं मानते कि ईसा भारत या मध्य एशिया में आये थे। लेकिन अगर आये हों तो यह कोई असम्भव बात भी नहीं कही जा सकती। उस ज़माने में भारत के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय, ख़ासकर उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला का विश्वविद्यालय, दूर-दूर देशों के लगनवाले विद्यार्थियों को आकर्षित करते थे और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहाँ आये हों। बहुत-सी बातों में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तों से इतने ज्यादा मिलते-जुलते हैं कि यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारों की पूरी-पूरी जानकारी थी। लेकिन बौद्ध-धर्म दूसरे देशों में काफ़ी प्रचलित था, और इसलिए ईसा भारत आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि मज़हबों के नाम पर लड़ाई-झगड़े और कड़वे संघर्ष हुए हैं। लेकिन संसार के मज़हबों की शुरूआत पर ग़ौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प है। सब मज़हबों के नज़रियों और उपदेशों में इतनी समानता है कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग छोटी-छोटी और ग़ैर-ज़रूरी बातों के बारे में झगड़ा करने की बेवक़ूफ़ी क्यों करते हैं। लेकिन पुराने उपदेशों में नई-नई बातें जोड़ दी जाती हैं, और उनको इस तरह तोड़-मरोड़ दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। सच्चे धर्म-प्रचारक की जगह तंगदिल और कट्टर हठ-धर्मी लोग आ बैठते हैं। बहुत बार मज़हब ने

अर्थ है Anno Domini यानी ईश्वर का वर्ष, और A. C. का अर्थ है After Christ यानी ईसा के बाद। पुस्तक के लेखक A. C. लिखना पसन्द करते हैं। हिन्दी में सिर्फ़ ई० लिखा जाता है।

[1] New Testament

[2] Gospels

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति और साम्राज्यवाद की दासी-जैसा काम किया है। पुराने रोमन लोगों की तो यह नीति थी कि जनता की भलाई के लिए, या यों कहो कि उसे लूटने के लिए, उसमें अन्ध-विश्वास पैदा किया जाय; क्योंकि अन्ध-विश्वासी लोगों को दबाये रखना ज़्यादा आसान होता है। अमीर-वर्ग के रोमन लोग वैसे तो बड़ी ऊँची-ऊँची फ़िलॉसफ़ी बघारते थे, लेकिन व्यवहार में जिस चीज़ को वे अपने लिए अच्छी समझते थे, उसे जनता के लिए ठीक और हितकर नहीं मानते थे। बाद के ज़माने के एक मशहूर इतालवी लेखक मेकियावेली ने राजनीति पर एक पुस्तक लिखी है। उसका कहना है कि शासन के लिए मज़हब ज़रूरी चीज़ है, और कभी-कभी शासक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे मज़हब की हिमायत करे जिसे वह ख़ुद झूठा समझता हो। इस ज़माने में भी हमारे सामने ऐसी बहुत-सी मिसालें हैं कि साम्राज्यवाद ने मज़हब की आड़ में शिकार खेला है। इसलिए कार्ल मार्क्स का यह लिखना ताज्जुब की बात नहीं है कि "मज़हब जनता की अफ़ीम है"।

ईसा यहूदी थे। यहूदी एक निराली और अजीब-तौर पर उद्यमी क़ौम थी, और अब भी है। दाऊद और सुलेमान के ज़माने में कुछ समय के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आये। यह वैभव भी था तो बहुत थोड़ा, लेकिन अपनी कल्पना में उन्होंने उसे यहाँतक बढ़ा-चढ़ा दिया कि उनके लिए वह अतीत का एक स्वर्णयुग बन गया, और वे विश्वास करने लगे कि वह युग एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा और उस समय यहूदी क़ौम फिर महान् और शक्तिशाली हो जायगी। वे लोग सारे रोमन साम्राज्य में और दूसरे देशों में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस में मज़बूती से बँधे रहे कि उनके वैभव का दिन आनेवाला है और एक मसीहा वह दिन दिखायेगा। बेघर और आश्रयहीन बेहद परेशानियों और अत्याचारों के शिकार और अक्सर मौत के घाट उतारे जानेवाले यहूदियों ने दो हज़ार वर्ष से ज़्यादा तक अपनी हस्ती किस तरह बचाये रक्खी और किस तरह आपस में बँधे रहे, यह इतिहास की एक अद्भुत घटना है।

यहूदी एक मसीहा का इन्तज़ार कर रहे थे, और शायद यीशु से उन्हें इसी तरह की उम्मीदें थीं। लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा चालू तरीक़ों और सामाजिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ विद्रोह की बिलकुल नई बातें करते थे। ख़ास तौर से वह अमीरों और उन पाखण्डियों के ख़िलाफ़ थे, जिन्होंने धर्म को कुछ व्रत-उपवासों और कर्म-काण्डों का मामला बना दिया था। धन-दौलत और कीर्ति की आशा दिलाने के बजाय, वह एक अस्पष्ट और काल्पनिक स्वर्गीय राज्य की ख़ातिर लोगों से अपना सब कुछ त्याग देने को कहते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। उनकी बातें रूपकों और कहानियों के रूप में होती थीं, लेकिन यह बिलकुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही विद्रोही थे, और ज़माने की हालत को सह नहीं सकते थे, और उसे बदलने पर तुले हुए थे। यह वह बात न थी जो यहूदी चाहते थे। इसलिए बहुत-से यहूदी उनके ख़िलाफ़ हो गये और उन्होंने ईसा को पकड़कर रोमन अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया।

मज़हबी मामलों में रोमन लोग असहिष्णु नहीं थे, क्योंकि साम्राज्य में सब मज़हबों को बर्दाश्त किया जाता था; यहाँ तक कि अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा कहता या गाली देता तो उसे सज़ा नहीं दी जाती थी। तब्रेसी नामक एक रोमन सम्राट् ने कहा था, "अगर देवताओं का अपमान किया जाता है तो उन्हें ख़ुद ही निबट लेने दो"। इसलिए जब रोमन गवर्नर पॉन्तियस पाइलेत के सामने यीशु पेश किये गए तो इस मामले के मज़हबी पहलू की उसे ज़रा भी चिन्ता न हुई होगी। यीशु को लोग एक राजनीतिक विद्रोही, और यहूदी लोग सामाजिक विद्रोही समझते थे, और यही जुर्म लगाकर उनपर मुक़दमा चलाया गया, सज़ा दी गई, और गोलगोथा में उन्हें सूली पर लटका दिया गया। यातना की इस घड़ी में उनके चुने हुए शिष्यों तक ने उनका साथ छोड़ दिया और उन्हें मानने से भी इन्कार कर दिया। इस विश्वासघात से उन्होंने ईसा की पीड़ा को इतना असह्य बना दिया कि मरने से पहले उनके मुँह से दिल को हिला देने-वाले ये शब्द निकल पड़े—"मेरे ईश्वर! मेरे ईश्वर! तूने मुझे क्यों त्याग दिया है?"

मृत्यु के समय यीशु जवान ही थे; उनकी उम्र तीस वर्ष से कुछ ही ज़्यादा थी। जब हम बाइबिल की सुन्दर भाषा में उनकी मौत की करुण कहानी पढ़ते हैं तो हमारा दिल पसीज जाता है। बाद के युगों में ईसाई धर्म की जो तरक्क़ी हुई, उसने करोड़ों के मन में यीशु के नाम के लिए श्रद्धा पैदा कर दी; हालाँकि उन लोगों ने उनके उपदेशों पर अमल बहुत कम किया है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढ़ाये गए थे तब उनका नाम फ़िलस्तीन से बाहर के लोग ज़्यादा नहीं जानते थे। रोम के लोग तो उनके बारे में कुछ भी नहीं जानते थे, और पॉन्तियस पाइलेत ने इस घटना को बिलकुल ही महत्व नहीं दिया होगा।

यीशु के नज़दीकी अनुयायियों और शिष्यों ने डर के मारे उन्हें अपना कहने से भी इन्कार कर दिया था। लेकिन यीशु की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद पॉल नामक एक नये अनुयायी ने, जिसने यीशु को ख़ुद नहीं देखा था, अपनी समझ के अनुसार ईसाई मत का प्रचार शुरू कर दिया। बहुत-से लोगों का ख़याल है कि जिस ईसाइयत का पॉल ने प्रचार किया, वह यीशु के उपदेशों से बहुत भिन्न है। पॉल एक योग्य और विद्वान् आदमी था, लेकिन वह यीशु की तरह सामाजिक विद्रोही नहीं था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहरहाल पॉल कामयाब हुआ और ईसाई मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगों ने शुरू में इसे कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंने समझा कि ईसाई भी यहूदियों का ही कोई सम्प्रदाय होगा। लेकिन ईसाइयों का साहस बढ़ने लगा। वे दूसरे तमाम मतों के कट्टर विरोधी बन गये और उन्होंने सम्राट् की मूर्ति की पूजा करने से बिलकुल इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति को, और उनकी निगाह में ईसाइयों की इस तंग-खयाली को, समझ नहीं सके। इसलिए वे ईसाइयों को सनकी, लड़ाकू, असभ्य और मानव-प्रगति का विरोधी समझने लगे। ईसाइयत को वे लोग शायद एक मज़हब की हैसियत से बर्दाश्त करने को तैयार हो जाते, लेकिन सम्राट् की मूर्ति के सामने सर झुकाने से उनका इन्कार करना, राजद्रोह समझा गया, और उसकी सज़ा मौत क़रार दी गई। ईसाई लोग आदमी और जानवर की कुश्तियों की भी बड़ी आलोचना करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि ईसाई सताये जाने लगे। उनकी जायदादें ज़ब्त की जाने लगीं और उन्हें शेरों का भोजन बनाया जाने लगा। तुमने इन ईसाई शहीदों के क़िस्से पढ़े होंगे और शायद तुमने इनके सिनेमा-फिल्म भी देखे होंगे। लेकिन जब कोई व्यक्ति किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है और ऐसी मौत को वास्तव में गौरव समझने लगता है, तो उसे या उसके उसूल को दबाना असम्भव होता है। इसलिए रोमन साम्राज्य ईसाइयों को दबाने में बिलकुल असफल रहा। उलटे इस लड़ाई में ईसाइयत की जीत हुई और ईसा की चौथी सदी के शुरू में एक रोमन सम्राट् खुद ईसाई हो गया और ईसाई मत रोमन-साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया। इस सम्राट् का नाम कॉन्स्तेन्तीन था, जिसने कुंस्तुन्तुनिया नगर बसाया। इसका ज़िक्र हम आगे करेंगे।

ज्यों-ज्यों ईसाई मज़हब फैला, त्यों-त्यों ईसा के देवत्व के बारे में ज़बर्दस्त लड़ाई-झगड़े पैदा हो गये। तुम्हें याद होगा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि गौतम बुद्ध ने कभी देवत्व का दावा नहीं किया था, लेकिन फिर भी वह एक देवता और अवतार की तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह यीशु ने भी खुदाई का कोई दावा नहीं किया था। यीशु ने जो बार-बार कहा है कि वह ईश्वर के पुत्र और मनुष्य के पुत्र हैं, उसका अर्थ यह कभी नहीं है कि उन्होंने खुदाई का या मनुष्यों से ऊपर होने का दावा किया था। लेकिन अपने महान् पुरुषों को देवता का रूप दे देना और देवता के आसन पर बिठाने के बाद उनके उपदेशों को छोड़ देना, मनुष्य-जाति को ज़्यादा पसन्द है। छः सौ साल बाद पैग़म्बर मुहम्मद ने एक और बड़ा मज़हब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणों से फ़ायदा उठाकर उन्होंने साफ़-साफ़ और बार-बार यह कहा कि वह इन्सान हैं, खुदा नहीं।

इस तरह यीशु के उपदेशों को समझने और उनपर अमल करने के बजाय,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई लोग यीशु के देवत्व और ईसाई त्रिपुटी[1] के रूप के बारे में तर्क-वितर्क और झगड़े करने लगे। वे एक-दूसरे को काफ़िर कहने लगे, एक-दूसरे पर अत्याचार करने लगे और एक-दूसरे का गला काटने लगे। एक बार ईसाइयों के अलग-अलग सम्प्रदायों में एक संयुक्त शब्द के ऊपर बहुत ज़ोरदार और भयंकर मतभेद हुआ। एक दल कहता था कि प्रार्थना में होमो-आउज़न[2] शब्द इस्तेमाल किया जाना चाहिए; दूसरा होमोइ-आउज़न[3] इस्तेमाल करना चाहता था। इस मतभेद का यीशु के देवत्व से सम्बन्ध था। इस संयुक्त शब्द के पीछे भयंकर युद्ध हुआ और बहुत-से आदमी मारे गये।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ की ताक़त बढ़ती गई, त्यों-त्यों ये घरेलू झगड़े बढ़ते गये। ईसाई मज़हब के विभिन्न सम्प्रदायों में इसी तरह के झगड़े पश्चिमी देशों में कुछ अर्से पहले तक होते रहे हैं।

तुम्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि इंग्लैण्ड में या पश्चिमी यूरोप में पहुँचने के बहुत पहले, और उस समय जबकि रोम तक में उसे नफ़रत से देखा जाता था और उसपर पाबन्दी लगी हुई थी, ईसाई मज़हब भारत में आ पहुँचा था। यीशु के मरने के बाद क़रीब सौ साल के अन्दर ही ईसाई धर्म-प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत आये थे। उनके साथ शिष्ट बर्त्ताव किया गया, और उन्हें अपने नये मज़हब के प्रचार करने की छूट दे दी गई। उन्होंने बहुत-से लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाया और ये लोग तबसे आज तक दक्षिण भारत में उतार-चढ़ाव के दिन देखते हुए रहते आये हैं। उनमें से बहुत लोग ईसाई मज़हब के पुराने सम्प्रदायों के अनुयायी हैं, जिनकी अब यूरोप में हस्ती तक नहीं है। आजकल इनमें से कुछ के मुख्य स्थान एशिया-कोचक में है।

राजनीतिक दृष्टि से, आजकल ईसाइयत का बोलबाला है, क्योंकि वह यूरोप की प्रमुख क़ौमों का मज़हब है। लेकिन जब हम अहिंसा और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ़ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही यीशु की तुलना उनके आजकल के बकवादी अनुयायियों से करते हैं, जो साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रों, युद्धों और धन की पूजा में विश्वास करते हैं, तो यह खयाल हमें हैरत में डाल देता है। यीशु का 'पर्वत का उपदेश'[4] और आजकल की यूरोप व अमेरिका की ईसाइयत, इन दोनों में कितनी हैरतभरी असमानता है! इसलिए कोई ताज्जुब की बात

---

[1] ईसाई त्रिपुटी (Christian Trinity)—पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा (Father, Son and Holy Ghost)

[2] Homo-ousian

[3] Homoi-ousian

[4] Sermon on the Mount

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं अगर बहुत-से लोग यह सोचने लगें कि आजकल पश्चिम में अपनेको ईसा के अनुयायी कहनेवाले ज्यादातर लोगों के मुक़ाबले में बापू ईसा के उपदेशों के बहुत ज्यादा निकट हैं।

: ३२ :

रोमन साम्राज्य

२३ अप्रैल, १९३२

प्यारी बेटी, मैंने बहुत दिनों से तुम्हें पत्र नहीं लिखा। इलाहाबाद से आने-वाली खबरों ने मुझे बेचैन और रोमांचित कर दिया है। खासतौर से तुम्हारी बूढ़ी दादी-अम्मा की खबर ने। जब दुबली और कमज़ोर माँ को पुलिस की लाठियों का सामना करना पड़ रहा है और उनकी चोट सहनी पड़ रही है तो जेल की अपनी इस कम तकलीफ़ की ज़िन्दगी पर झुंझलाहट होती है। लेकिन मैं नहीं चाहता कि मेरे विचार भावना के साथ बह जायँ और मेरी कहानी के सिलसिले में बाधा डालें।

अब हमें फिर रोम लौट चलना चाहिए, जिसे पुराने संस्कृत ग्रन्थों में रोमक कहा गया है। तुम्हें याद होगा कि हम रोमन गणराज्य के अन्त की और रोमन साम्राज्य के बनने की चर्चा कर रहे थे। जूलियस सीज़र का गोद लिया हुआ पुत्र आक्तेवियन, आगस्त सीज़र के नाम से पहला राजा बन चुका था। वह अपने को बादशाह नहीं कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि वह बादशाह की उपाधि को अपने रुतबे की शान के क़ाबिल नहीं समझता था, और दूसरे वह गणराज्य के ऊपरी रूपों को जारी रखना चाहता था। इसलिए उसने अपनी उपाधि 'इम्परेटर', यानी हुक्म देनेवाला रक्खी थी। इस तरह 'इम्परेटर' की उपाधि सबसे ऊँची समझी जाने लगी, और तुम शायद जानती हो कि अंग्रेजी का 'एम्परर' शब्द इसीसे निकला है। इस तरह रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द ऐसे दिये जिनकी लालसा और जिनका उपयोग क़रीब-क़रीब सारी दुनिया के बादशाह बहुत दिनों तक करते रहे। ये दो शब्द हैं—'एम्परर' और 'सीज़र' या 'क़ैसर' या 'ज़ार'। पहले यह समझा जाता था कि एक वक़्त में एक ही सम्राट् हो सकता है, जो कि एक तरह से सारी दुनिया का मालिक हो। रोम 'संसार की स्वामिनी' कहलाता था और पश्चिम के लोग समझते थे कि सारी दुनिया रोम की छाया में बसती है। यह बात वास्तव में ग़लत थी और भूगोल और इतिहास के बारे में अज्ञान ही ज़ाहिर करती थी। रोमन साम्राज्य ज्यादातर भूमध्यसागर के किनारों के देशों का साम्राज्य था, और इसकी सीमा पूर्व में इराक़ से आगे कभी नहीं बढ़ी। समय-समय पर चीन और भारत में इससे कहीं ज्यादा शक्तिशाली, बड़े और सुसंस्कृत

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य हुए हैं। फिर भी जहाँतक पश्चिमी दुनिया से ताल्लुक़ था, उनके लिए रोम ही अकेला साम्राज्य था, और इसी ख़याल से प्राचीन काल के लोगों की नज़रों में वह सार्वभौम साम्राज्य था। उस समय उसका ज़बर्दस्त दबदबा था।

रोम के बारे में सबसे ज़्यादा दिलचस्प बात यह है कि उसके पीछे दुनिया के ऊपर राज्य करने और दुनिया का सिरताज बनने का भाव था। जब रोम का पतन हुआ तब भी इसी ख़याल ने उसकी रक्षा की और उसे बल दिया। और यह भाव तब भी क़ायम रहा जब रोम से उसका सम्बन्ध बिलकुल टूट गया। यहाँतक कि ख़ुद साम्राज्य भी विलीन हो गया और उसकी छाया भर रह गई; मगर यह भाव तब भी बना ही रहा।

मुझे रोम के बारे में या उसके उत्तराधिकारियों के बारे में लिखते हुए कुछ दिक्क़त मालूम होती है। क्या-क्या बातें तुम्हें बतलाई जायँ, उनका छाँटना और पसन्द करना आसान नहीं है। मुझे डर है कि इस बारे में जो पुरानी किताबें मैंने ज़्यादातर जेल में पढ़ी हैं, उनसे मेरे दिमाग़ में इधर-उधर की तसवीरों का बेतरतीब ढेर बन गया है। सच तो यह है कि अगर मैं जेल न आया होता तो रोम के इतिहास की एक मशहूर पुस्तक शायद कभी न पढ़ पाता। यह पुस्तक इतनी बड़ी है कि दूसरे कामों के होते हुए इसे पूरी पढ़ जाने के लिए वक़्त निकाल सकना, मुश्किल है। इस पुस्तक का नाम 'डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ दि रोमन ऐम्पायर', यानी रोमन साम्राज्य का पतन और अन्त है, और इसका लेखक गिबन नामक एक अंग्रेज़ है। यह पुस्तक क़रीब डेढ़ सौ वर्ष हुए स्वीज़रलैण्ड में लेमन झील के किनारे बैठकर लिखी गई थी। लेकिन आज भी इसके पढ़ने में रस आता है और मुझे तो इसका वर्णन, जो बड़ी लच्छेदार पर सुरीली भाषा में लिखा हुआ है, उपन्यास से भी ज़्यादा मनोरंजक लगा। क़रीब दस वर्ष हुए मैंने इसे लखनऊ ज़िला-जेल में पढ़ा था और क़रीब एक महीने तक गिबन मेरा बड़ा नज़दीकी साथी रहा, और उसकी भाषा ने पुराने ज़माने की जो तसवीरें मेरे सामने खींची, उनमें मैं लीन हो गया। लेकिन पुस्तक ख़त्म होने के कुछ ही दिन पहले मुझे अचानक रिहा कर दिया गया। जादू टूट गया और फिर बचे हुए सौ पृष्ठों को पढ़ने और प्राचीन रोम और कुंस्तुन्तुनिया को लौटने का समय निकालने और दुबारा चित्त लगाने में मुझे कुछ दिक्क़त हुई।

लेकिन यह बात दस वर्ष पुरानी है और वास्तव में मैंने जो कुछ पढ़ा था उसका बहुत कुछ हिस्सा मैं भूल गया हूँ। फिर भी दिमाग़ को भरने और उलझाने के लिए बहुत-कुछ मौजूद है और इस उलझन को तुम्हारे ऊपर नहीं डालना चाहता।

पहले हम युग-युगों के रोमन साम्राज्य या साम्राज्यों पर एक नज़र डाल लें। बाद में शायद इन तसवीरों में कुछ रंग भरने की कोशिश की जायगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई सन् की शुरुआत में आगस्त सीज़र के साथ साम्राज्य शुरू होता है। कुछ दिनों तक सम्राट् लोग सिनेट की इज़्ज़त करते रहे; लेकिन बहुत जल्द ही गणराज्य के लगभग आख़िरी निशान भी मिट गये। सम्राट् ने सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली और वह पूरी तरह एक निरंकुश राजा बन गया, बल्कि देवता जैसा बन गया। ज़िन्दगी में तो वह आधे-देवता की तरह पूजा जाता था और मरने के बाद वह पूरा देवता बना दिया जाता था। उस ज़माने के सभी लेखकों ने शुरू के अधिकतर सम्राटों में, ख़ासकर आगस्त में, सारे गुणों का आरोप कर दिया है। ये लोग आगस्त के युग को स्वर्ण-युग कहते हैं, जब कि सारी नेकियाँ फूल-फल रही थीं और भलों को इनाम व बुरों को सज़ा मिलती थी। ज़ुल्मी शासकों के मुल्क़ों में लेखकों का यही रवैय्या रहता है, क्योंकि ज़ाहिर है कि शासक की तारीफ़ करने में फ़ायदा रहता है। वर्जिल, ओविद, होरेस जैसे कुछ मशहूर लातीनी लेखक, जिनकी रचनाएँ हमें स्कूल में पढ़नी पड़ी थीं, इसी ज़माने में हुए थे। सम्भव है कि गृह-युद्धों और उन फ़िसादों के बाद, जो कि गणराज्य के आख़िरी दिनों में बराबर होते रहे, शान्ति और राहत का ऐसा ज़माना आने से लोगों को तसल्ली मिली हो, जिसमें व्यापार को और कुछ हद तक सभ्यता को फूलने-फलने का मौक़ा मिल सकता था।

लेकिन यह सभ्यता कैसी थी? यह धनवानों की सभ्यता थी। लेकिन ये धनवान लोग प्राचीन यूनान के धनवानों की तरह कला-प्रिय और कुशाग्र-बुद्धि भी नहीं थे; बल्कि बहुत मामूली और मन्द-बुद्धि लोगों का एक जमघट थे, जिनका ख़ास काम मौज की ज़िन्दगी बिताना था। सारी दुनिया से भोग-विलास और खाने-पीने की चीज़ें इनके लिए आती थीं, और बड़ी शान-शौक़त और तड़क-भड़क दिखाई देती थी। ऐसे लोगों की बिरादरी अभी ख़त्म नहीं हुई है। एक तरफ़ तो शान-शौक़त और आडम्बर थे और तड़क-भड़कवाले जुलूसों, सरकस के खेलों और ग्लेडियेटरों के मारे जाने का सिलसिला था तो दूसरी तरफ़ इस शान-शौक़त के पीछे जनता की तबाही छिपी थी। टैक्स बहुत बढ़े हुए थे, जिनका बोझ ख़ास करके मामूली आदमियों पर पड़ता था और काम का बोझ अनगिनती ग़ुलामों की पीठ पर था। रोम के इन बड़े लोगों ने चिकित्सा, दार्शनिक-चर्चा और चिन्तन तक के काम भी ज़्यादातर यूनानी ग़ुलामों के हवाले कर रक्खे थे! ये लोग अपनेको जिस दुनिया का मालिक मानते थे उसके बारे में ठीक बातें जानने की या शिक्षा का प्रचार करने की वे ज़रा भी कोशिश नहीं करते थे।

एक के बाद दूसरा सम्राट् गद्दी पर बैठता गया। इनमें कोई बुरा था तो कोई बहुत ही बुरा। धीरे-धीरे सारी ताक़त फ़ौज के हाथ में आ गई और वह अपने सम्राटों को बना-बिगाड़ सकती थी। हालत यहाँतक बिगड़ी कि फ़ौज की कृपा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त करने के लिए होड़ होने लगी और उसे रिश्वत देने के लिए जनता से या हराये हुए देशों से ज़बर्दस्ती रुपया वसूल किया जाने लगा। आमदनी का एक बहुत बड़ा साधन ग़ुलामों का व्यापार था और रोम की फ़ौजें पूर्व में बाक़ायदा ग़ुलामों को पकड़ने जाया करती थीं। फ़ौज के साथ ग़ुलामों के व्यापारी भी जाते थे, ताकि मौक़े पर ग़ुलामों को ख़रीद सकें। देलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी पवित्र मानते थे, ग़ुलामों की एक बड़ी मण्डी बन गया था, जहाँ कभी-कभी दस-दस हज़ार ग़ुलाम एक दिन में बिक जाते थे! रोम के विशाल कोलोज़ियम[1] में एक लोकप्रिय सम्राट् बारह-बारह सौ ग्लेडियेटरों का एक साथ प्रदर्शन किया करता था। इन अभागे ग़ुलामों का काम था सम्राट् और उसकी प्रजा के मनोरंजन के लिए मरना।

साम्राज्य के दिनों में रोमन सभ्यता इस तरह की थी। फिर भी हमारे मित्र गिबन ने लिखा है—"अगर किसीसे कहा जाय कि तुम दुनिया के इतिहास का वह काल बताओ जब मनुष्य-समाज सबसे ज़्यादा सुखी और ख़ुशहाल रहा हो, तो बिना संकोच के वह उस काल का नाम लेगा जो दोमिशियन की मृत्यु से कोमोद के गद्दी पर बैठने तक गुज़रा था"—यानी सन् ९६ ई० से १८० ई० तक का चौरासी वर्ष का ज़माना। गिबन कितना ही बड़ा विद्वान् रहा हो, पर मेरा ख़याल है कि जो कुछ उसने कहा है, उससे सहमत होने में बहुत लोग ज़रूर संकोच करेंगे। गिबन जब मनुष्य-जाति की बात करता है, तब उसका मतलब भूमध्यसागर के आसपास बसी दुनिया से ही है, क्योंकि भारत या चीन या प्राचीन मिस्र के बारे में उसकी जानकारी नहीं के बराबर थी।

लेकिन शायद मैं रोम के साथ कुछ ज़्यादती कर रहा हूँ। रोम राज्यों में थोड़ा-बहुत अन्दरूनी अमन-चैन होने की वजह से ज़रूर एक सुखदायी परिवर्तन हुआ होगा। सरहदों पर अवसर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। लेकिन कम-से-कम शुरू के दिनों में साम्राज्य के भीतर 'रोमन शान्ति'[2] विराजती थी। जानमाल एक हद तक सुरक्षित थे, इसलिए व्यापार में तरक्क़ी हुई। रोमन नागरिकता के अधिकार सारी रोमन दुनिया को दे दिये गए थे, लेकिन यह याद रक्खो कि बेचारे ग़ुलामों को इस अधिकार से कोई सरोकार नहीं था। यह भी याद रखने की बात है कि सारी शक्ति सम्राट् के हाथों में थी और नागरिकों को कोई अधिकार नहीं थे। राजनीति पर किसी तरह की चर्चा सम्राट् के ख़िलाफ़ ग़द्दारी समझी जाती थी। ऊँचे वर्ग के लोगों के लिए किसी हद तक एक-सी सरकार थी और एक क़ानून था। यह बात

---

[1] कोलोज़ियम—रोम का बहुत बड़ा अखाड़ा, जो उस समय दुनिया में सबसे बड़ा माना जाता था। इसके खण्डहर अब तक मौजूद हैं।

[2] Pax Romana

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन लोगों के लिए बहुत बड़े फ़ायदे की रही होगी, जो पहले इससे भी ज़्यादा ज़ुल्मी हुकूमतों के मातहत मुसीबतें झेल चुके थे।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी या दूसरी तरह से इतने अयोग्य हो गये कि ख़ुद अपनी फ़ौजों में लड़ने लायक़ भी न रहे। गाँव के किसान अपने ऊपर लदे हुए बोझों की वजह से ज़्यादा ग़रीब होते गये और यही हाल शहर के लोगों का भी हुआ। लेकिन सम्राट् शहर के लोगों को राज़ी रखना चाहते थे, जिससे कि वे कोई झगड़ा-बखेड़ा खड़ा न करें। इसके लिए रोम के लोगों को मुफ़्त रोटियाँ दी जाती थीं, और उनके मनोरंजन के लिए सरकसों में खेल-तमाशे भी मुफ़्त में दिखाये जाते थे। इस तरह उनका मिज़ाज ख़ुश रक्खा जाता था। लेकिन ये मुफ़्त की रोटियाँ सिर्फ़ कुछ ही जगहों में बाँटी जा सकती थीं, और इसके लिए भी मिस्र वग़ैरा दूसरे मुल्कों में ग़ुलामों को तबाही और मुसीबत उठानी पड़ती थी; क्योंकि उनसे मुफ़्त का आटा वसूल किया जाता था।

चूँकि रोमन लोग आसानी से फ़ौज में भरती नहीं होते थे, इसलिए साम्राज्य के बाहर के लोग, जिन्हें 'बर्बर' कहा जाता था, सेना में भरती किये जाते थे। इस तरह रोम की सेनाओं में ज़्यादातर वे लोग भर गये जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनों के साथी या रिश्तेदार थे। सरहदों पर ये 'बर्बर' जातियाँ बराबर रोमनों को दबाती और घेरती जाती थीं। ज्यों-ज्यों रोम कमज़ोर होता गया, 'बर्बर' लोग ज़्यादा ताक़तवर और साहसी होते नज़र आने लगे। पूर्व की तरफ़ से ख़ास ख़तरा था। और चूँकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसलिए इसकी रक्षा करना आसान नहीं था। आगस्त सीज़र के तीन सौ वर्ष बाद, कॉन्स्तेन्तीन नामक सम्राट् ने ऐसा महत्वपूर्ण क़दम उठाया, जिसका आगे चलकर बहुत ही दूरवर्ती नतीजा निकलनेवाला था। वह साम्राज्य की राजधानी रोम से हटाकर पूर्व को ले गया। काला सागर और भूमध्यसागर के बीच, दर्रे-दानियाल के किनारे पर बसे हुए बिज़ैन्तिया नामक पुराने शहर के पास, उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम पर क़ुस्तुन्तुनिया[1] रक्खा। क़ुस्तुन्तुनिया, जिसे नया रोम भी कहते थे, रोमन साम्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सों में क़ुस्तुन्तुनिया को रूम कहते हैं।

: ३३ :

रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छायामात्र रह जाता है

२४ अप्रैल, १९३२

आज भी हम रोमन साम्राज्य का सिंहावलोकन जारी रक्खेंगे। ईसवी

[1] अंग्रेज़ी में यह कॉन्स्टेन्टिनोपल कहलाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन् की चौथी सदी के शुरू में, यानी ३२६ ई० में, कॉन्स्तेन्तीन ने पुराने बिज़ैन्तिया के नज़दीक क़ुस्तुन्तुनिया[1] शहर बसाया। और वह अपने साम्राज्य की राजधानी को पुराने रोम से बहुत दूर दर्रे-दानियाल के किनारे पर बसे हुए इस नये रोम में ले आया। नक़शे पर एक नज़र डालो। तुम देखोगी कि क़ुस्तुन्तुनिया का यह नया शहर यूरोप के किनारे खड़ा महान् शक्तिशाली एशिया की ओर झाँक रहा है। यह दो महाद्वीपों को जोड़नेवाली एक कड़ी के समान है। ख़ुश्की के और समुद्र के बहुत-से बड़े-बड़े तिजारती रास्ते इसीसे होकर गुज़रते थे। राजधानी या नगर के लिए यह बहुत अच्छे मौक़े की जगह है। कॉन्स्तेन्तीन ने चुनाव तो अच्छा किया लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे या उसके वारिसों को काफ़ी क़ीमत चुकानी पड़ी। जिस तरह पुराना रोम एशिया-कोचक और पूर्वी हिस्सों से काफ़ी दूर पड़ता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गॉल जैसे पश्चिमी देशों से बहुत दूर पड़ती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक तो दो संयुक्त सम्राट् हुआ करते थे; एक रोम में रहता था और दूसरा क़ुस्तुन्तुनिया में। इसका नतीजा यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनों तक इस धक्के को बर्दाश्त न कर सका। जिन लोगों को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गोथ नाम का एक जर्मन क़बीला आया और उसने रोम को लूट लिया। इसके बाद वाण्डाल और हूण आये और पश्चिमी साम्राज्य ढह गया। तुमने हूण शब्द का प्रयोग सुना होगा। यह बतलाने के लिए कि जर्मन लोग बहुत ज़ालिम और जंगली हैं, पिछले महायुद्ध में अंग्रेज़ लोग जर्मनों के लिए इस शब्द का आमतौर पर इस्तेमाल करते थे। पर सच्ची बात तो यह है कि लड़ाई के ज़माने में हर आदमी का, या कुछके सिवा हर आदमी का, दिमाग़ फिर जाता है। सभ्यता और शराफ़त के बारे में उसने जो कुछ सीखा होता है, वह सब भूल जाता है और निर्दयता व जंगलीपन का व्यवहार करने लगता है। जर्मनों ने इसी तरह का व्यवहार किया और अंग्रेज़ों व फ्रान्सीसियों ने भी। इस मामले में दोनों में कोई फ़र्क़ नहीं था।

हूण शब्द लानत का एक भयंकर शब्द बन गया है। यही हाल वाण्डाल शब्द का भी है। शायद ये हूण और वाण्डाल बहुत असभ्य और निर्दयी थे और इन्होंने बहुत नुक़सान पहुँचाया। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इनके बारे में जो-कुछ हाल हमें मालूम होते हैं, वह इनके दुश्मन रोमन लोगों के लिखे हुए हैं और उनसे निष्पक्षता की उम्मीद नहीं की जा सकती। कुछ भी हो, गोथ, वाण्डाल और हूण लोगों ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की दीवार की तरह ढहा दिया।

---

[1] अब इसका नाम इस्तम्बूल है और यह तुर्की की राजधानी है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन लोगों के इतनी आसानी से कामयाब हो जाने की एक वजह शायद यह थी कि रोमन साम्राज्य का किसान-वर्ग उसकी मातहती में इतना ज्यादा तबाह था और उस पर टैक्सों व क़र्ज़ों का इतना भारी बोझ था, कि वह किसी भी परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार था। जैसे आज का ग़रीब भारतीय किसान अपनी भयंकर ग़रीबी और तबाही में होनेवाला कोई भी परिवर्तन खुशी से क़बूल कर लेगा।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य ढह गया पर कुछ सदियों के बाद यह फिर दूसरी शक्ल में उठा। पूर्वी साम्राज्य किसी तरह क़ायम रहा; हालांकि हूण और दूसरी क़ौमों के हमलों का मुक़ाबला करने में इसे बहुत मुश्किलें उठानी पड़ीं। इन हमलों से अपनी रक्षा करने के अलावा, अरबों और बाद को तुर्कों से बराबर लड़ाइयाँ लड़ते हुए भी यह साम्राज्य सदियों तक चलता रहा। ग्यारह सौ वर्षों के आश्चर्यजनक काल तक यह बचा रहा। आख़िरकार १४५३ ई० में इसका पतन हो गया और क़ुस्तुन्तुनिया पर उस्मानिया तुर्कों ने क़ब्ज़ा कर लिया। उस वक़्त से आज तक क़रीब पाँच सौ वर्षों से क़ुस्तुन्तुनिया या इस्तम्बूल तुर्कों के क़ब्ज़े में है। यहाँ से तुर्कों ने यूरोप पर बार-बार धावे किये और वे ठेठ वियेना की दीवारों तक जा पहुँचे। बाद की सदियों में ये लोग धीरे-धीरे पीछे हटा दिये गए, और बारह वर्ष हुए, महायुद्ध में हारने के बाद, क़ुस्तुन्तुनिया का शहर भी क़रीब-क़रीब तुर्कों के हाथ से निकल गया था। इस शहर पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा था और तुर्की सुलतान उनके हाथ की कठपुतली बन गया था। लेकिन एक महान् नेता, मुस्तफ़ा कमालपाशा अपनी क़ौम को बचाने के लिए आगे आया और एक बहादुराना संघर्ष के बाद वह सफल हुआ। आज तुर्की एक गणराज्य है और सुलतान का पद हमेशा के लिए ख़त्म हो गया है। कमालपाशा इस गणराज्य का राष्ट्रपति है।[1] क़ुस्तुन्तुनिया, जो पन्द्रह सौ वर्षों तक पूर्वी रोमन साम्राज्य की और बाद में तुर्की साम्राज्य की राजधानी रहा है, अब भी तुर्की राज्य का एक हिस्सा है, लेकिन उसकी राजधानी नहीं है। तुर्कों ने इस शहर की साम्राज्य-सम्बन्धी यादगारों से दूर रहना और यहाँ से बहुत दूर एशिया-कोचक में अंगोरा या अंकारा को अपनी राजधानी बनाना ज़्यादा मुनासिब समझा।

हमने क़रीब दो हज़ार वर्षों का ज़माना तेज़ी के साथ पार कर लिया है और क़ुस्तुन्तुनिया की स्थापना, इस नये शहर में रोमन साम्राज्य की राजधानी का जाना, वग़ैरा, एक के बाद एक होनेवाले परिवर्तनों पर सरसरी नज़र डाली है। लेकिन कान्स्तेन्तीन ने एक नई बात और भी की। वह ईसाई हो गया, और चूंकि वह सम्राट् था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई मज़हब साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। ईसाइयत की हैसियत में यह अचानक परिवर्तन होना और

[1] कमालपाशा की मृत्यु १९३९ ई० में हो गई।

CC-0.Ranini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक त्रस्त सम्प्रदाय का साम्राज्य का धर्म बन जाना, अजीब बात हुई होगी। लेकिन इस परिवर्तन से ईसाइयत को उस समय ज़्यादा फ़ायदा नहीं हुआ। ईसाइयों के जुदा-जुदा सम्प्रदायों में आपसी झगड़े शुरू हो गये। आख़िर में लातीनी और यूनानी दो सम्प्रदाय टूट कर अलग हो गये। लातीनी सम्प्रदाय का केन्द्र रोम था और रोम का बिशप इसका प्रमुख समझा जाता था। बाद में यही रोम का पोप हो गया। यूनानी सम्प्रदाय का केन्द्र क़ुस्तुन्तुनिया था। लातीनी चर्च उत्तर और पश्चिम यूरोप में फैल गया और रोमन कैथोलिक चर्च के नाम से मशहूर हुआ। यूनानी चर्च का नाम कट्टर चर्च[1] पड़ गया। पूर्वी रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद रूस ही ऐसा मुल्क़ था, जिसमें कट्टर चर्च ख़ासतौर पर फूला-फला। अब रूस में बोलशेविज़्म के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई सरकारी हैसियत नहीं है।

मैंने पूर्वी रोमन साम्राज्य का ज़िक्र किया है, लेकिन इसका रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस साम्राज्य की भाषा भी लातीनी नहीं बल्कि यूनानी थी। एक अर्थ में इसे बहुत-कुछ सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य का सिलसिला समझ सकते हैं। इस साम्राज्य का पश्चिमी यूरोप से भी कोई सम्पर्क नहीं था; हालाँकि बहुत दिनों तक इसने पश्चिमी देशों के इस हक़ को मंज़ूर नहीं किया कि वे इससे स्वाधीन रहे। फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन शब्द को नहीं छोड़ा, और यहाँ के लोग रोमन कहलाते रहे, मानो इस शब्द में कोई जादू हो। इससे ज़्यादा ताज्जुब की बात यह हुई कि रोम नगर ने, साम्राज्य की राजधानी के पद से गिर जाने पर भी, अपना रौब नहीं खोया; यहाँ तक कि जो बर्बर लोग इसे जीतने के लिए आये, उन्हें भी इस पर हाथ उठाने में झिझक-सी हुई और उन्होंने इसके साथ सम्मान का व्यवहार किया। वास्तव में बड़े नाम में और भावनाओं में ऐसी ही शक्ति होती है!

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नया साम्राज्य बनाना शुरू किया; लेकिन यह बिलकुल दूसरी ही क़िस्म का था। कहा जाता था कि यीशु के शिष्य पीटर रोम आये थे और वह यहाँ के पहले बिशप हुए। इससे बहुत-से ईसाइयों की नज़रों में यह शहर पवित्र बन गया और रोम के बिशप का पद ख़ास महत्व का हो गया। शुरू में रोम का बिशप दूसरे बिशपों की तरह ही होता था, लेकिन सम्राट् के क़ुस्तुन्तुनिया चले जाने के बाद इस पद का महत्व बढ़ता गया। अब रोम में बिशप के ऊपर कोई न रहा और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से रोम के बिशप का ओहदा सबसे ऊँचा माना जाने लगा। बाद को ये पोप कहलाने लगे, और तुम जानती हो कि पोप आज भी बने हुए हैं और रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख होते हैं।

यह अजीब बात है कि रोमन चर्च और यूनानी कट्टर चर्च के अलग होने

[1] Orthodox Church

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by eGangotri

की एक वजह मूर्ति-पूजा थी। रोमन चर्च ईसाई सन्तों की और ख़ासकर ईसा की माता मेरी की मूर्तियों की पूजा को बढ़ावा देता था, लेकिन कट्टर चर्च इसका घोर विरोधी था।

रोम पर उत्तरी क़बीलों के सरदारों का कई पीढ़ियों तक क़ब्ज़ा और शासन रहा, लेकिन वे भी अक्सर क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् को अपना स्वामी मानते रहे। इस बीच रोम के बिशप की ताक़त धर्माध्यक्ष के रूप में बढ़ती गई। यहाँतक कि वह अपनेको इतना ताक़तवर महसूस करने लगा कि क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् को चुनौती देने लगा। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगड़ा हुआ तब पोप ने रोम को पूर्व से बिलकुल अलग कर लिया। इस अर्से में बहुत-सी ऐसी बातें हो गई थीं, जिनका हम आगे ज़िक्र करेंगे। अरब में एक नया मज़हब इस्लाम पैदा हो गया था और अरब लोग सारे उत्तरी अफ्रीका और स्पेन को रौंदकर यूरोप के बीच के भाग पर हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी यूरोप में नये राज्य क़ायम हो रहे थे और पूर्वी रोमन साम्राज्य पर अरबों के भयंकर आक्रमण हो रहे थे।

पोप ने फ्रैंक लोगों के एक बड़े नेता से मदद माँगी। फ्रैंक उत्तर का एक जर्मन क़बीला था। बाद को फ्रैंकों के सरदार कार्ल या चार्ल्स को रोम में सम्राट् की गद्दी पर बिठाया गया। यह एक बिलकुल ही नया साम्राज्य या राज्य था, लेकिन उन लोगों ने इसे रोमन साम्राज्य और बाद में 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के नाम से पुकारा। वे रोमन के सिवाय किसी साम्राज्य की कल्पना ही नहीं कर सकते थे, और हालाँकि शार्लमेन या महान् चार्ल्स का रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी वह इम्परेटर, सीज़र और आगस्त बन गया। इस नये साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का एक सिलसिला समझा गया, लेकिन उसके नाम में एक शब्द और जुड़ गया। अब वह 'पवित्र' हो गया। यह पवित्र इसलिए माना गया कि यह ख़ासतौर से एक ईसाई साम्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

इस जगह भावनाओं की अद्भुत शक्ति का एक और सबूत मिलता है। मध्य-यूरोप का रहनेवाला एक फ्रैंक या जर्मन, रोमन सम्राट् बन जाता है! इस 'पवित्र' साम्राज्य का अगला इतिहास और भी आश्चर्यजनक है। साम्राज्य की हैसियत से यह बिलकुल छाया जैसा रह गया था। पूर्व का रोमन साम्राज्य, जिसकी राजधानी क़ुस्तुन्तुनिया थी, राज्य की तरह चलता रहा; पर पश्चिमी साम्राज्य समय-समय पर बदलता रहा, ग़ायब होता रहा और फिर प्रकट होता रहा। दरअसल यह साम्राज्य छाया और भूत की तरह था, जो सिर्फ़ ईसाई-चर्च और रोमन नाम की प्रतिष्ठा के बल पर ख़याली दुनिया में चल रहा था। अब यह कल्पना का साम्राज्य रह गया था जिसमें असलियत कुछ नहीं थी। किसीने—मेरा ख़याल है शायद वाल्तेयर ने—इस 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की परिभाषा करते हुए कहा था कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ऐसी चीज़ थी, जो न तो पवित्र थी, न रोमन थी और न साम्राज्य थी। जैसे किसी ने एक बार इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में, जिससे हम लोग इस देश में दुर्भाग्य से अभी तक परेशान हैं, कहा था कि न तो यह इण्डियन (भारतीय) है, न सिविल (शिष्ट) है और न सर्विस (सेवा) है!

जो कुछ भी हो, पवित्र रोमन साम्राज्य का यह ढकोसला क़रीब एक हज़ार वर्ष तक नाम को चलता रहा और आज से क़रीब सौ वर्ष से कुछ ही ज़्यादा हुए, नेपोलियन के ज़माने में, इसका हमेशा के लिए अन्त हो गया। यह अन्त भी कुछ मार्के का या नाटकीय नहीं हुआ। इसके अन्त पर किसीका ध्यान ही नहीं गया; क्योंकि वास्तव में बहुत दिनों से इसकी हस्ती ही नहीं थी। अन्त में इस भूत को दफ़न कर दिया गया। लेकिन हमेशा के लिए नहीं, क्योंकि क़ैसर और ज़ार वग़ैरा के रूपों से यह बार-बार प्रकट होता रहा। ये सब भी चौदह वर्ष हुए पिछले महायुद्ध में दफ़ना दिये गए।

३४

विश्व-राज्य की भावना

२५ अप्रैल, १९३२

मुझे लगता है कि मेरी इन चिट्ठियों से तुम बहुत बार उकता जाती होगी और उलझन में पड़ जाती होगी। खासकर रोमन-साम्राज्य सम्बन्धी पिछले दो पत्रों ने तो तुम्हारा इम्तिहान ले डाला होगा। हज़ारों वर्षों और हज़ारों मीलों को पार करते हुए कभी मैं पीछे चला गया हूँ और कभी आगे बढ़ गया हूँ। और इससे अगर तुम्हारे दिमाग़ में कुछ उलझन पैदा हो गई हो तो क़सूर मेरा ही है। पर हिम्मत मत हारो और आगे बढ़ती चलो। अगर कहीं मेरी कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तो तुम परेशान न होना बल्कि आगे बढ़ती चलना। इन पत्रों का उद्देश्य तुम्हें इतिहास पढ़ाना नहीं है बल्कि सिर्फ़ यह है कि तुम्हें उसकी झाँकियाँ मिलती रहें और कुतूहल पैदा हो।

रोमन साम्राज्यों की चर्चा से तुम ज़रूर ऊब गई होगी। मैं मंजूर करता हूँ कि मैं भी थक तो गया हूँ, लेकिन आज थोड़ी देर के लिए हम उन्हें और बर्दाश्त कर लें, और फिर कुछ दिन के लिए इनसे छुट्टी ले लेंगे।

तुम जानती हो कि आजकल राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की बहुत चर्चा होती रहती है। भारत में आजकल हममें से क़रीब-क़रीब सभी गहरे राष्ट्रवादी हैं। इतिहास में यह राष्ट्रीयता एक बिलकुल नई चीज़ है और इन पत्रों में हम इस राष्ट्रीयता के ज़न्म और विकास का शायद कुछ अध्ययन कर सकें। रोमन साम्राज्यों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के ज़माने में इस क़िस्म की कोई भावना नहीं पाई जाती थी। रोमन साम्राज्य सारी दुनिया पर हुकूमत करनेवाला एक महान् राज्य माना जाता था। आज तक कोई साम्राज्य या राज्य ऐसा नहीं हुआ, जिसने सारी दुनिया पर हुकूमत की हो, लेकिन भूगोल के अज्ञान और दूर देशों के लिए सवारी के साधनों में और यात्रा में भारी कठिनाइयाँ होने की वजह से लोग पुराने ज़माने में अक्सर यह समझ लेते थे कि ऐसा राज्य है। इसलिए रोमन राज्य के साम्राज्य बनने के पहले से ही यूरोप में और भूमध्यसागर के आसपास के देशों में, वह इसके सारे राज्यों पर हुकूमत करनेवाला एक सर्वोपरि राज्य माना जाता था। इसका रौब इतना ज़्यादा था कि एशिया-कोचक, यूनानी राज्य के परगैमम और मिस्र को इन दोनों देशों के शासकों ने खुद ही रोमन क़ौम को भेंट कर दिया। ये समझते थे कि रोम सबसे ज़्यादा शक्तिशाली है और कोई उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। लेकिन जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, चाहे गणराज्य की तरह या साम्राज्य की तरह, रोम का राज भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों के अलावा और कहीं नहीं था। उत्तरी यूरोप के 'बर्बर' लोगों ने इसके आगे सिर नहीं झुकाया, और रोम भी इनकी ज़्यादा परवाह नहीं करता था। लेकिन रोम की सत्ता की हद जो भी रही हो, इसके पीछे एक विश्व-राज्य की भावना थी, और इस भावना को पश्चिम में उस ज़माने के अधिकांश लोगों ने स्वीकार कर लिया था। रोमन साम्राज्यों का इतने दिन ज़िन्दा रहने का यही कारण है। यहाँतक कि उसकी असलियत निकल जाने पर भी उसका नाम और प्रताप बहुत बढ़ा हुआ था।

एक बड़े राज्य का सारी दुनिया पर हुकूमत करने का विचार रोम की ही खासियत नहीं थी। यह विचार पुराने ज़माने में चीन और भारत में भी पाया जाता था। जैसा कि तुम्हें मालूम है, कैस्पियन समुद्र तक फैला हुआ चीनी राज्य बहुत बार रोमन साम्राज्य से ज़्यादा लम्बा-चौड़ा रहा है। चीन का सम्राट 'स्वर्ग-पुत्र' कहलाता था और चीनी लोग उसे 'विश्व-सम्राट्' समझते थे। यह सही है कि कुछ जंगली क़ौमें और क़बीले ऐसे थे, जो उत्पात करते रहते थे और सम्राट् का हुक्म नहीं मानते थे। लेकिन वे 'बर्बर' समझे जाते थे, जिस तरह कि रोमन लोग उत्तर यूरोप के रहनेवालों को 'बर्बर' कहते थे।

इसी तरह भारत में भी शुरू के ज़माने से ही 'चक्रवर्ती' कहलानेवाले विश्व-सम्राटों का ज़िक्र मिलता है। दुनिया के बारे में उनकी-कल्पना वास्तव में बहुत सीमित थी। खुद भारत ही इतना बड़ा था कि वे सारी दुनिया इसीको समझते थे और यह ख़याल करते थे कि भारत पर हुकूमत करनेवाला सारी दुनिया का स्वामी है। बाहर के दूसरे लोगों को वे म्लेच्छ कहते थे। पुराने ज़माने से चली आनेवाली कथाओं के अनुसार पौराणिक राजा भरत, जिसके नाम पर हमारा देश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतवर्ष कहलाता है, ऐसा ही एक चक्रवर्ती राजा माना गया है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर और उसके भाइयों में इसी चक्रवर्ती-पद के लिए युद्ध हुआ था। अश्वमेध-यज्ञ संसार के प्रभुत्व के लिए एक चुनौती थी और उसका एक प्रतीक था। अशोक भी शायद शुरू में चक्रवर्ती राजा बनना चाहता था। लेकिन उसका दिल पश्चात्ताप से इतना भर गया कि उसने युद्ध करना ही छोड़ दिया। इसके बाद भी तुम्हें भारत में गुप्तवंश के राजाओं की तरह कई ऐसे साम्राज्यवादी राजा मिलेंगे जिनकी इच्छा चक्रवर्ती बनने की थी।

तुम देखोगी कि पुराने ज़माने में लोग विश्व-सम्राट् और विश्व-राज्य की बात अक्सर सोचा करते थे। इसके बहुत दिनों बाद राष्ट्रीयता आई और एक नये क़िस्म का साम्राज्यवाद पैदा हुआ और इन दोनों ने दुनिया में काफ़ी तबाही मचा दी है। आजकल भी विश्व-राज्य की चर्चा होने लगी है। यह चर्चा किसी महान् साम्राज्य या चक्रवर्ती सम्राट् के बारे में नहीं है, बल्कि एक तरह के ऐसे विश्व गण-राज्य की है जिसमें कोई राष्ट्र या क़ौम या वर्ग किसी दूसरे राष्ट्र या क़ौम या वर्ग का शोषण न कर सके। यह कहना मुश्किल है कि निकट भविष्य में इस क़िस्म की कोई चीज़ बनेगी या नहीं, लेकिन दुनिया की हालत बुरी है और इसकी बुराइयों को मिटाने का कोई दूसरा तरीक़ा दिखाई नहीं देता।

मैंने उत्तर यूरोप के 'बर्बरों' का बार-बार ज़िक्र किया है। यह शब्द मैंने इसलिए इस्तेमाल किया है कि रोमन लोगों ने इनका ज़िक्र इसी नाम से किया है। मध्य-एशिया के घुमक्कड़ों और दूसरे क़बीलों की तरह ये लोग रोम या भारत में रहनेवाले अपने पड़ौसियों से अवश्य ही कम सभ्य थे। लेकिन ताक़त का जोश इन लोगों में ज़्यादा था, क्योंकि ये खुली हवा में रहनेवाले थे। बाद में ये ईसाई हो गये और जब इन्होंने रोम को जीत लिया तब भी ये वहाँ औरों की तरह ख़ूँख़ार दुश्मन बनकर नहीं आये। उत्तरी यूरोप के आजकल के राष्ट्र—गोथ, फ़्रैंक, वंडाल, इन्हीं 'बर्बर' जातियों की सन्तान हैं।

मैंने तुम्हें रोमन सम्राटों के नाम नहीं बताये। वहाँ ढेरों सम्राट हुए; पर कुछको छोड़कर बाक़ी सब बहुत बुरे थे। कुछ तो निरे राक्षस ही थे। तुमने नीरो का नाम तो सुना ही होगा। लेकिन बहुत-से तो नीरो से भी बहुत ज़्यादा बुरे हुए हैं। आइरीन नाम की एक स्त्री ने सम्राज्ञी बनने के लिए ख़ुद अपने पुत्र को, जो कि सम्राट् था, क़त्ल कर दिया था। यह क़ुस्तुन्तुनिया की बात है।

रोम का एक सम्राट् दूसरों के मुक़ाबले बहुत ऊँचा था। उसका नाम मार्क ऑरेली एन्तोनिन था। कहा जाता है कि यह दार्शनिक था और उसकी एक पुस्तक[1],

---

[1] श्री च० राजगोपालाचार्य द्वारा किया गया इसका रूपान्तर 'आत्म-चिन्तन' के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली से प्राप्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसमें उसके विचार और मनन दिये हुए हैं, पढ़ने लायक है। पर मार्क ऑरेली के पुत्र ने, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, अपने पिता का हिसाब बराबर कर दिया। यह रोम के सबसे बदमाश गुण्डों में गिना जाता है।

रोमन साम्राज्य के शुरू के तीन सौ वर्षों तक रोम पश्चिमी दुनिया का केन्द्र रहा। ज़रूर ही यह आलीशान इमारतोंवाला बहुत बड़ा शहर रहा होगा, जहाँ साम्राज्य के कोने-कोने से, और बाहर से भी, लोग आते रहे होंगे। बहुत-से जहाज़ दूर-दूर के देशों से बढ़िया चीज़ें—खाने की दुर्लभ वस्तुएँ और क़ीमती माल यहाँ लाते थे। कहते हैं, हर साल एक सौ बीस जहाज़ों का बेड़ा लाल समुद्र के एक मिस्री बन्दरगाह से भारत जाता था। ये लोग ठीक उसी वक़्त चलते थे जब बरसात की पुरवैया हवाएँ चलती थीं, क्योंकि इनसे इनको बहुत सहारा मिलता था। ये ज़्यादातर दक्षिण भारत जाते थे और क़ीमती माल लादकर फिर मौसमी हवाओं के सहारे मिस्र वापस आ जाते थे। मिस्र से यह माल ख़ुश्की और समुद्र के रास्ते रोम भेज दिया जाता था।

लेकिन यह सारा व्यापार ज़्यादातर अमीरों के फ़ायदे के लिए ही था। थोड़े-से आदमियों के ऐश-आराम के पीछे बहुतों की तबाही थी। तीन सौ से ज़्यादा वर्षों तक रोम पश्चिम में सब शहरों का सरताज बना रहा, और बाद में जब क़ुस्तुन्तुनिया बसा, तो वह भी इसका साझीदार बन गया। अजीब बात यह है कि इस लम्बे काल में भी, रोम ने विचार-जगत् में कोई ऐसी महान् बात पैदा न की जैसी यूनान ने बहुत कम समय में ही कर दिखाई थी। वास्तव में बहुत-सी बातों में रोमन सभ्यता यूनानी सभ्यता की एक हलकी छाया मालूम होती है। कहा जाता है कि एक बात में रोमन लोगों ने बहुत बड़ी पहल की और वह है क़ानून। आज भी पश्चिम देशों में वकीलों को रोमन क़ानून पढ़ना पड़ता है, क्योंकि यह यूरोप में क़ानून के बहुत बड़े हिस्से की बुनियाद माना जाता है।

ब्रिटिश साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से अक्सर तुलना की जाती है। आमतौर पर अंग्रेज़ लोग ऐसा करते हैं, और अपने मन में ख़ुश होते हैं। सारे साम्राज्य, थोड़े या बहुत, एक ही तरह के होते हैं। ये जनता को चूसकर पनपते हैं। लेकिन रोमनों और अंग्रेज़ों में एक बात में बहुत ज़्यादा समानता पाई जाती है, और वह यह कि दोनों में सूझ-बूझ की बिलकुल कमी है! बन-ठनकर और अपने-आपमें मस्त होकर, और यह पक्का विश्वास करते हुए कि सारी दुनिया ख़ासतौर से इन्हींके फ़ायदे के लिए बनाई गई है, ये लोग शंकाओं और कठिनाइयों से परेशान न होते हुए भी ज़िन्दगी गुज़ारते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३५ :

पार्थव और सासानी

२६ अप्रैल, १९३२

अब हमें रोमन साम्राज्य और यूरोप को छोड़कर दुनिया के दूसरे हिस्सों को चलकर देखना चाहिए। हमें यह देखना है कि इस बीच एशिया में क्या हुआ और फिर भारत और चीन की कहानी का सिलसिला जारी रखना है। अब दूसरे देश भी जाने हुए इतिहास के क्षितिज पर नज़र आने लगे हैं। उनके बारे में भी हमें कुछ कहना होगा। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे इतनी ज़्यादा जगहों के बारे में इतना ज़्यादा कहना ज़रूरी होगा कि मैं कहीं घबराकर यह काम ही न छोड़ बैठूं।

मैंने अपने एक पत्र में रोमन गणराज्य की सेनाओं की पार्थव में कैरे की लड़ाई में करारी हार का ज़िक्र किया था। उस वक़्त मैं यह बताने के लिए नहीं रुका था कि पार्थव लोग कौन थे और उन्होंने वहाँ, जहाँ आज ईरान और इराक़ बसे हुए हैं, कैसे एक राज्य क़ायम कर लिया था। तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेलेउक और उसके वंशज एक साम्राज्य पर हुकूमत करते थे, जो भारत से पश्चिम में एशिया-कोचक तक फैला हुआ था। क़रीब तीन सौ वर्षों तक इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य-एशिया के पार्थव नाम के एक क़बीले ने इन्हें मार भगाया। फ़ारस या पार्थव कहलानेवाले देश के इन्हीं पार्थवों ने गणराज्य के आख़िरी दिनों में रोमनों को हराया था और गणराज्य के बाद क़ायम होनेवाला रोमन साम्राज्य इन पार्थवों को पूरी तरह कभी नहीं हरा सका। ये लोग ढाई सौ वर्षों तक पार्थव पर हुकूमत करते रहे, और फिर एक अन्दरूनी क्रान्ति ने इन्हें वहाँ से भगा दिया। ईरानी लोग ख़ुद इन विदेशी शासकों के ख़िलाफ़ बग़ावत कर बैठे और उनकी जगह पर अपनी क़ौम और मज़हब के एक बादशाह को बैठा दिया। इस बादशाह का नाम आर्दशेर प्रथम था और इसके वंश को सासानी वंश कहते हैं। आर्दशेर ज़रथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था और दूसरे मज़हबों को ज़्यादा बर्दाश्त नहीं करता था। तुम्हें याद होगा कि ज़रथुस्त मत पारसियों का मज़हब है। रोमन साम्राज्य और सासानियों में हमेशा युद्ध चलता रहता था। सासानियों ने एक रोमन सम्राट् को गिरफ़्तार भी कर लिया था। कई बार ईरानी फ़ौजें क़ुस्तुन्तुनिया के पास तक पहुँच गई थीं, और एक दफ़ा उन्होंने मिस्र को भी जीत लिया था। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के पक्ष में धार्मिक जोश के लिए ख़ासतौर पर मशहूर है। जब सातवीं सदी में इस्लाम आया, तब उसने सासानी साम्राज्य और उसके राज-धर्म दोनों को ख़त्म कर दिया। ज़रथुस्त मत को मानने-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले बहुत-से लोग इस परिवर्तन की वजह से और सताये जाने के डर से, अपना देश छोड़कर भारत आ गये। भारत ने इनका स्वागत किया, क्योंकि वह आश्रय की तलाश में आनेवाले सब लोगों का इसी तरह स्वागत करता रहा है। भारत के पारसी इन्हीं ज़रथुस्तियों के वंशज हैं।

जुदे-जुदे धर्मों के साथ बर्ताव करने के मामले में अगर हम भारत की दूसरे देशों से तुलना करते हैं तो एक निराली और अद्भुत बात नज़र आती है। तुम देखोगी कि पुराने ज़माने में बहुत-सी जगहों पर, और ख़ासकर यूरोप में, जो लोग राजधर्म को नहीं मानते थे, उन्हें बर्दाश्त नहीं किया जाता था और सताया जाता था। क़रीब-क़रीब हर जगह ज़ोर-ज़बर्दस्ती हुआ करती थी। तुम यूरोप की भयंकर 'इनक्विज़िशन'[1] का और डायनें समझी जानेवाली स्त्रियों के जलाये जाने का हाल पढ़ोगी। लेकिन भारत में पुराने ज़माने में पूरी सहिष्णुता थी। हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म का मामूली झगड़ा पश्चिमी देशों के धार्मिक मत-मतान्तरों के ख़ूनी झगड़ों के मुक़ाबले में कुछ भी नहीं है। यह बात याद रखने लायक़ है, क्योंकि बदक़िस्मती से हाल ही में हमारे यहां मज़हबी और साम्प्रदायिक दंगे हो चुके हैं, और कुछ लोग, जिन्हें इतिहास का ठीक ज्ञान नहीं है, समझते हैं कि भारत में यह दशा युगों से चली आ रही है। यह बात बिलकुल ग़लत है। ये दंगे तो हाल के ज़माने की उपज हैं। तुम्हें पता लगेगा कि इस्लाम शुरू होने के बाद सैकड़ों वर्षों तक मुसलमान लोग भारत के सभी हिस्सों में अपने पड़ौसियों के साथ बिलकुल शान्ति के साथ मिल-जुलकर रहते थे। जब वे व्यापार के लिए आये तो इनका स्वागत किया गया और इनको यहाँ बसने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन यह तो मैं आगे की बात कहने लगा।

इस तरह भारत ने पारसियों का स्वागत किया, जैसे कि कई सौ वर्ष पहले बहुत से यहूदियों का भी स्वागत किया था जो सताये जाने की वजह से ईसाई सन् की पहली सदी में, रोम से भाग कर यहाँ आये थे।

ईरान में सासानी राज के ज़माने में शाम[2] के पामीर में एक छोटा-सा

---

[1] इनक्विज़िशन—ईसाई धर्म के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के संरक्षण में स्थापित धार्मिक अदालत। इसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना और धर्म के सम्बन्ध में नये विचार फैलानेवालों को दण्ड देना था। पहले यह फ्रान्स में स्थापित हुई और बाद को इटली, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी इत्यादि में भी फैल गई। मामूली-से-मामूली स्वतन्त्र विचारों के लिए यह लोगों को ज़िन्दा जलवा देती थी। इसकी रोमांचकारी कथा 'सस्ता-साहित्य मण्डल' द्वारा प्रकाशित 'नर-मेध' नामक पुस्तक में पढ़िए। उन्नीसवीं सदी में इस प्रथा का अन्त हुआ।

[2] शाम—सीरिया का पुराना नाम।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेगिस्तानी राज्य भी फूला-फला और कुछ दिन के लिए इसकी शान भी रही। शाम के रेगिस्तान के बीच में पामीर व्यापार की एक मण्डी था। इसके विशाल खण्डहर, जो आज भी दिखाई देते हैं, इसकी आलीशान इमारतों की याद दिलाते हैं। एक बार ज़ेनब नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई। लेकिन रोमन लोगों ने इसे हरा दिया और उसके साथ ऐसा सलूक किया जो वीरोचित नहीं था। वे उसे ज़ंजीरों में बाँधकर रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू में शाम एक हरा-भरा देश था। बाइबिल के नये अहदनामे से हमें इसके बारे में कुछ बातें मालूम होती हैं। बुरा शासन और जुल्म होते हुए भी यहाँ बड़े-बड़े शहर थे और बहुत घनी आबादी थी; बड़ी-बड़ी नहरें थीं और व्यापार भी खूब फैला हुआ था। लेकिन लगातार लड़ाइयों ने और बुरे शासन ने छः सौ वर्षों के अन्दर ही इसे क़रीब-क़रीब वीरान कर दिया; बड़े शहर उजड़ गये और पुरानी इमारतें खण्डहर हो गईं।

अगर तुम हवाई जहाज़ में बैठकर भारत से यूरोप जाओ तो पामीर और बालबक के खण्डहर तुम्हें रास्ते में पड़ेंगे। तुम्हें वह जगह भी दिखाई देगी जहाँ बाबुल बसा हुआ था, और बहुत-सी दूसरी वे जगहें भी देखोगी, जो इतिहास में मशहूर हैं लेकिन जिनका नामोनिशान भी अब नहीं पाया जाता।

: ३६ :

दक्षिण भारत के उपनिवेश

२८ अप्रैल, १९३२

हम लोग दूर भटक गये। हमें अब फिर भारत की तरफ़ लौट चलना चाहिए और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उस समय इस मुल्क में हमारे पूर्वज क्या कर रहे थे। कुषाणों के सरहदी साम्राज्य की तुम्हें याद होगी। यह एक बहुत बड़ा बौद्ध साम्राज्य था, जिसमें पूरा उत्तरी भारत और मध्य एशिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा भी शामिल था। इसकी राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी। तुम्हें शायद यह भी याद होगा कि उस समय भारत के दक्षिण में एक बहुत बड़ा राज्य और था जो समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैला हुआ था। यह आन्ध्र-राज्य था। क़रीब तीन सौ साल तक कुषाण और आन्ध्र-राज्य खूब फूले-फले। लेकिन ईसा की तीसरी सदी के बीच में ये दोनों साम्राज्य खत्म हो गये और कुछ समय के लिए भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। लेकिन सौ साल के अन्दर ही पाटलिपुत्र में एक दूसरा चन्द्रगुप्त पैदा हुआ, जिसने उग्र हिन्दू साम्राज्यवाद के काल की बुनियाद डाली। पर इन गुप्तों की चर्चा करने के पहले यह उचित मालूम होता है कि हम दक्षिण भारत के उन महान् साहसपूर्ण कारनामों के आरम्भ पर नज़र डालें,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनकी बदौलत पूर्वी दुनिया के सुदूर टापुओं में भारत की कला और सभ्यता जा पहुँची।

हिमालय और दो समुद्रों के बीच में फैले हुए भारत की शक्ल तुम अच्छी तरह जानती हो। इसका उत्तरी हिस्सा समुद्र से बहुत दूर है। पुराने ज़माने में भारत के लोगों को सबसे ज्यादा चिन्ता अपनी उत्तरी सरहद की रही है, क्योंकि इधर होकर दुश्मन और हमला करनेवाले यहाँ आया करते थे। लेकिन भारत के पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र का बहुत लम्बा किनारा है। दक्षिण की ओर भारत सँकरा होता गया है, यहाँतक कि कन्याकुमारी पर जाकर पूर्व और पश्चिम के दोनों किनारे मिल जाते हैं। समुद्र के पास रहनेवाले ये लोग क़ुदरती तौर पर समुद्र से लगाव रखते थे और यह उम्मीद की जा सकती है कि उनमें से बहुत-से समुद्र यात्रा के अभ्यासी रहे होंगे। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत ही प्राचीन ज़माने से दक्षिण भारत का पश्चिमी दुनिया से बड़ा भारी व्यापार होता चला आया था। इसलिए यह जानकर कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि भारत में शुरू से ही जहाज़ तैयार होते थे और यहाँ के रहनेवाले व्यापार के लिए, या शायद साहसिक खोजों के लिए, समुद्र पार जाया करते थे। ख़याल किया जाता है कि गौतम बुद्ध के ज़माने में विजय ने भारत से लंका जाकर उसे जीत लिया। मेरा ख़याल है कि अजन्ता की गुफ़ाओं में एक तसवीर है जिसमें विजय समुद्र पार करके लंका जा रहा है और घोड़े और हाथी जहाज़ों में उस पार पहुँचाये जा रहे हैं। विजय ने लंका को सिंहल-द्वीप का नाम दिया था। सिंहल शब्द सिंह से निकला है और लंका में सिंह की एक पुरानी कहानी भी प्रचलित है, लेकिन मैं उसे भूल गया हूँ। मेरा ख़याल है कि सीलोन नाम सिंहल से बिगड़कर बना है।

दक्षिण भारत से लंका जाने में समुद्र का जो छोटा-सा टुकड़ा पड़ता है, उसे पार करना कोई बहुत जीवट का काम नहीं था। लेकिन हमें इस बात के बहुत काफ़ी सबूत मिलते हैं कि भारत में जहाज़ बनते थे, और बहुत लोग बंगाल से गुजरात तक के समुद्रतट पर छिटके हुए भारतीय बन्दरगाहों से समुद्र पार जाया करते थे। नैनी-जेल से मैंने चन्द्रगुप्त मौर्य्य के मशहूर मन्त्री चाणक्य के अर्थशास्त्र के बारे में तुम्हें लिखा था। इस अर्थशास्त्र में समुद्री सेना का कुछ वर्णन है। चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनानी राजदूत मेगस्थेने ने भी इसका ज़िक्र किया है। इससे पता चलता है कि मौर्य्य-काल के शुरू में भारत में जहाज़ बनाने का उद्योग बहुत बढ़ा-चढ़ा था, और ज़ाहिर है कि जहाज़ इस्तेमाल किये जाने के लिए ही बनाये जाते हैं। इसलिए बहुत लोग उनपर बैठकर समुद्रों को पार किया करते होंगे। इन बातों को सोचकर और फिर यह सोचकर कि हमारे मुल्क़ में आज भी कुछ लोग ऐसे हैं जो समुद्र-यात्रा से डरते हैं और उसे धर्म के विरुद्ध समझते हैं, तो आश्चर्य होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे लोगों को हम प्राचीन के प्रतीक भी नहीं कह सकते, क्योंकि तुम देखोगी कि पुराने ज़माने के लोग कहीं ज़्यादा समझदार थे। ख़ुशक़िस्मती से अब ऐसी अजीब भावनाएँ बहुत-कुछ दूर हो गई हैं और इने-गिने लोगों पर ही अब उनका असर है।

दक्षिण भारत क़ुदरती तौर पर उत्तर भारत की बनिस्बत समुद्र पर ज़्यादा निर्भर था। विदेशी व्यापार ज़्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था और तमिल भाषा की कविताओं में यवन देश के सुरा, कलशों और दीपकों के प्रसंग भरे पड़े हैं। 'यवन' शब्द ख़ासतौर पर यूनान के रहनेवालों के लिए इस्तेमाल होता था, लेकिन मोटे तौर पर शायद यह सब विदेशियों पर लागू था। दूसरी और तीसरी सदियों के आन्ध्र देश के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले बड़े जहाज़ की शक्ल है। इससे यह पता चलता है कि पुराने ज़माने के आन्ध्र लोग जहाज़ बनाने और समुद्री व्यापार में कितनी दिलचस्पी रखते थे।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत ही ने उन साहसिक कारनामों में सबसे आगे क़दम बढ़ाया, जिनके फलस्वरूप पूर्व के तमाम टापुओं में भारतीय नई बस्तियाँ या उपनिवेश क़ायम हुए। इन उपनिवेशी यात्राओं की शुरुआत ईसवी सन् की पहली सदी में हुई और कई सौ वर्षों तक उनका सिलसिला जारी रहा। मलय, जावा, सुमात्रा, कम्बोदिया, बोर्नियो, वग़ैरा सब जगह दक्षिण के लोग जाकर बस गये और अपने साथ भारतीय-कला और संस्कृति ले गये। बरमा, स्याम और हिन्द-चीन में भी भारतीयों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। इन नई बस्तियों और नगरों के बहुत से नाम भी भारत से लिये गए थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गान्धार। अजीब बात है कि इतिहास अपनेको किस तरह दोहराता है! अमेरिका में जाकर बसनेवाले एँग्लो-सैक्सन लोगों ने भी ऐसा ही किया था और संयुक्त राज्य अमेरिका में आज भी इंग्लैण्ड के पुराने शहरों के नामवाले शहर हैं।

इसमें शक नहीं कि ये भारतीय उपनिवेशी जहाँ-जहाँ गये, वहाँ के पुराने निवासियों के साथ इन्होंने बुरा बर्ताव किया, जैसा कि सभी उपनिवेशी किया करते हैं। उन्होंने इन टापुओं के निवासियों को ज़रूर चूसा होगा और उनपर प्रभुत्व जमाया होगा। लेकिन कुछ दिनों बाद उपनिवेशी और पुराने निवासी आपस में मिल-जुल गये होंगे, क्योंकि भारत के साथ बराबर सम्पर्क रखना मुश्किल था। पूर्व के इन टापुओं में हिन्दू राज्य और साम्राज्य क़ायम हुए। बाद में वहाँ बौद्ध राजा पहुँचे और हिन्दुओं और बौद्धों में प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई। विशाल या बृहत्तर भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और आकर्षक कहानी है। बड़े-बड़े खण्डहर हमें अभी तक उन आलीशान इमारतों और मन्दिरों की याद दिलाते हैं, जो इन भार-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीय उपनिवेशों के भूषण थे। काम्बोज, श्रीविजय, अंकोर और मज्जापहित जैसे बड़े-बड़े नगर भारतीय शिल्पियों और कारीगरों ने वहाँ बनाये।

ये हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओं में क़रीब चौदह सौ वर्षों तक क़ायम रहे और प्रभुता के लिए आपस में लड़ते रहे। कभी एक का अधिकार हो जाता तो कभी दूसरे का, और कभी-कभी वे एक दूसरे को नष्ट भी कर देते थे। पन्द्रहवीं सदी में मुसलमानों ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा जमा लिया और उनके थोड़े दिन बाद ही पुर्तगालवासी, स्पेनवासी, हालैण्डवासी और अंग्रेज़ आये। सबके आख़िर में अमेरिकावासी पहुँचे। चीनवासी तो इन टापुओं के हमेशा से ही नज़दीकी पड़ौसी थे। ये कभी-कभी इनके मामलों में दख़ल देकर इन्हें जीत लेते; अक्सर उनके साथ दोस्तों की तरह रहते और भेंटों की अदला-बदली करते; साथ ही अपनी महान् संस्कृति और सभ्यता का असर भी उनपर बराबर डालते रहते।

पूर्व के इन हिन्दू उपनिवेशों में हमारी दिलचस्पी की कितनी ही बातें हैं। सबसे ज़्यादा मार्के की बात यह है कि ज़ाहिरा तौर पर इन उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश उस ज़माने की दक्षिण भारत की एक प्रमुख सरकार ने की थी। शुरू में बहुत-से खोज करनेवाले अलग-अलग वहाँ गये होंगे; फिर जब व्यापार बढ़ा होगा, तब कुटुम्ब-के-कुटुम्ब और लोगों के जत्थे अपने-अपने कामों से वहाँ गये होंगे। कहा जाता है कि शुरू-शुरू में जो लोग जाकर बसे वे कलिंग (उड़ीसा) और पूर्वी समुद्र-तट से गये थे। शायद कुछ लोग बंगाल से भी गये होंगे। एक कहावत यह चली आती है कि कुछ गुजराती अपने घर-बार से निकाले जाने पर इन टापुओं में जाकर बस गये। मगर यह सब अन्दाज़ा है। उपनिवेशियों की मुख्य धारा तमिल भूमि के दक्षिणी हिस्से पल्लव-प्रदेश से, जहाँ एक बड़े पल्लव वंश का शासन था, इन टापुओं में पहुँची। मालूम होता है, इसी पल्लव सरकार ने मलय में उपनिवेश बसाने की संगठित कोशिश की। शायद उत्तर भारत से लोगों के दक्षिण में घुस आने से यहाँ की आबादी पर दबाव पड़ा होगा। वजह कुछ भी हुई हो, भारत से बहुत दूर अलग-अलग बिखरे हुए टापुओं में बस्तियाँ बसाने की योजना समझ-बूझकर बनाई गई थी, और इन सब जगहों में एक साथ उपनिवेश बसने शुरू हुए थे। ये उपनिवेश हिन्द-चीन, मलय प्रायद्वीप, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा, वग़ैरा में थे। ये सब भारतीय नामवाले पल्लव उपनिवेश थे। हिन्द-चीनवाली बस्ती का नाम काम्बोज (जो आजकल कम्बोदिया कहलाता है) था। यह नाम कातुल-काँठे में गान्धार के काम्बोज से चलकर, इतनी दूर पहुँचा था।

चार या पाँच सौ साल तक ये बस्तियाँ हिन्दू-धर्म को मानती रहीं, पर बाद में धीरे-धीरे सब जगह बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत दिन बाद इस्लाम पहुँचा और मलय के एक हिस्से में फैल गया; बाक़ी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मलय में साम्राज्य और राज्य बनते-बिगड़ते रहे। लेकिन दक्षिण भारत के उपनिवेश बसाने के इन हौसलों का असली नतीजा यह हुआ कि दुनिया के इस हिस्से में भारतीय आर्य-सभ्यता की नींव पड़ गई और कुछ हद तक मलय के निवासी आज भी हम लोगों की तरह इसी सभ्यता में पले हुए हैं। उनपर दूसरे असर भी पड़े, जिनमें से चीन का असर उल्लेखनीय है। मलेशिया[1] के जुदा-जुदा देशों पर भारत और चीन के दो शक्तिशाली प्रभावों की मिलावट पर ग़ौर करना बड़ा दिलचस्प है। कुछ पर तो भारतीय सभ्यता का ज़्यादा असर है और कुछ में चीनी असर ज़्यादा दिखाई देता है। मुख्य भूमि पर, जिसमें बरमा, स्याम, हिन्द-चीन वग़ैरा हैं, चीनी असर बहुत ज़्यादा है, लेकिन मलय में नहीं है। जावा, सुमात्रा और दूसरे टापुओं में भारतीय असर ज़्यादा दिखाई देता है, जिसपर इस्लाम की नई क़लई चढ़ी हुई है।

लेकिन चीनी और भारतीय प्रभावों में कोई टक्कर नहीं थी। इन दोनों में बहुत फ़र्क़ था, फिर भी दोनों ही बिना किसी दिक़्क़त के बराबर-बराबर अपना काम करते रहे। हाँ, धर्म के मामले में तो भारत हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनों का ही स्रोत था। धर्म के लिए चीन भी भारत का क़र्ज़दार था। मलेशिया की कला में भी भारत का असर सबसे ज़्यादा था। हिन्द-चीन में भी, जहाँ चीनी असर ज़्यादा था, इमारतें बनाने की कला बिलकुल भारतीय ही थी। चीन ने बरमा वग़ैरा बड़े देशों की शासन-प्रणाली पर और लोगों के साधारण जीवन-दर्शन पर ज़्यादा असर डाला। इसीलिए इण्डो-चीन, बरमा, और स्याम के निवासी आज भारतीयों की बनिस्बत चीनियों के ज़्यादा नज़दीकी रिश्तेदार मालूम देते हैं। इसमें शक नहीं कि नस्ल के लिहाज़ से इनमें मंगोली ख़ून ज़्यादा है और इसी वजह से, कुछ हद तक, वे चीनियों से अधिक मिलते हैं।

जावा के बोरोबुदुर में भारतीय कारीगरों के बनाये हुए बड़े-बड़े बौद्ध-मन्दिरों के खण्डहर अब भी पाये जाते हैं। इन मन्दिरों की दीवारों पर बुद्ध के जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है और ये सिर्फ़ बुद्ध की ही नहीं, बल्कि उस ज़माने की भारतीय कला की अनोखी यादगारें हैं।

भारतीय प्रभाव इससे भी और आगे फैला। वह फ़िलीपाइन और फ़ारमूसा तक जा पहुँचा। ये दोनों कुछ समय तक श्रीविजय के हिन्दू-राज्य सुमात्रा के अंग थे। बहुत समय बाद फ़िलीपाइन पर स्पेन-वासियों की हुकूमत रही, और अब वह अमेरिका के क़ब्ज़े में हैं।[2] फ़िलीपाइन की राजधानी मनीला है। कुछ दिन हुए

---

[1] मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ द्वीप-समूह जिसे ईस्ट इण्डीज या मलय-द्वीप-समूह कहते हैं।

[2] १९४६ ई० में अमेरिका ने फ़िलीपाइन द्वीपों को आज़ाद कर दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ विधान मण्डल की एक नई इमारत बनी थी। इसके मुखड़े पर चार शक्लें खुदी हैं, जो फ़िलीपाइन की संस्कृति के चार स्रोतों को दरसाती हैं। दो मूर्तियाँ प्राचीन भारत के महान् नीतिकार मनु और चीन के फ़िलॉसफ़र लाओ-त्सें की हैं, और दो मूर्तियाँ एँग्लो-सैक्सन क़ानून व न्याय को और स्पेन को अंकित करती हैं।

: ३७ :

गुप्त सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद

२९ अप्रैल, १९३२

इधर जब दक्षिण भारत के लोग विशाल समुद्रों को पार करके दूर-दूर जगहों पर बस्तियाँ और शहर बसा रहे थे, तब उधर उत्तर भारत में अजीब हल-चल हो रही थी। कुषाण साम्राज्य अपनी शक्ति और महानता खो चुका था और दिन-दिन छोटा होते-होते मिटता जा रहा था। सारे उत्तर में छोटे-छोटे राज्य बन गये थे, जिनमें अक़्सर शक या तुर्की वंश के लोग राज करते थे। ये लोग भारत की उत्तर-पश्चिमी सरहद पार करके यहाँ आये थे। मैंने तुम्हें बताया है कि ये लोग बौद्ध थे और भारत में शत्रु के रूप में हमला करने नहीं बल्कि बसने आये थे। मध्य-एशिया के दूसरे क़बीले, जिन्हें चीनी राज्य आगे धकेल रहा था, पीछे से इनको ज़बर्दस्ती खदेड़ रहे थे। भारत आकर इन लोगों ने भारतीय आर्यों के आचार-विचार और रंग-ढंग को बहुत-कुछ अपना लिया। ये लोग भारत को अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। कुषाणों ने भी बहुत हद तक भारतीय-आर्य-परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनों तक भारत में ठहर सके और उसके बड़े-बड़े हिस्सों पर शासन कर सके। वे भारतीय-आर्यों की तरह व्यवहार करने की कोशिश करते थे और चाहते थे कि इस देश के निवासी यह भूल जायँ कि वे विदेशी हैं। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी भी हुई, लेकिन पूरे तौर पर नहीं; क्योंकि क्षत्रियों के दिल में यह बात खासतौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनके ऊपर हुकूमत कर रहे हैं। वे इस विदेशी राज्य की मातहती में तिलमिलाते थे, जिससे असन्तोष बढ़ता गया और लोगों के मन में क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त में इन असन्तुष्ट लोगों को एक सुयोग्य नेता मिल गया और उसके झण्डे के नीचे इन्होंने आर्यावर्त को आज़ाद करने के लिए एक 'धर्मयुद्ध' शुरू कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह पहला चन्द्रगुप्त न समझना, जो अशोक का दादा था। इस व्यक्ति का मौर्य्य वंश से कोई ताल्लुक़ नहीं था। यह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था, लेकिन उस समय तक अशोक के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वंश का नाम मिट चुका था। याद रक्खो कि इस समय हम ईसा के बाद चौथी सदी की शुरुआत में, यानी ३०८ ई० में, पहुँच गये हैं। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ वर्ष बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त एक महत्वाकांक्षी और सुयोग्य व्यक्ति था। वह उत्तर के दूसरे आर्य राजाओं को अपनी तरफ़ मिलाने में और उन सबका एक संघ क़ायम करने में लग गया। उसने मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी वंश की कुमारदेवी से विवाह किया, और इस प्रकार इस जाति की सहायता हासिल कर ली। इस तरह होशियारी के साथ ज़मीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के सारे विदेशी शासकों के खिलाफ़ 'धर्मयुद्ध' की घोषणा कर दी। क्षत्रिय और आर्य-जाति के ऊँचे वर्ग के लोग, जिनके अधिकार और पद विदेशियों ने छीन लिये थे, इस लड़ाई के समर्थक थे। बारह वर्ष की लड़ाई के बाद चन्द्रगुप्त उत्तर भारत के कुछ हिस्से पर क़ब्ज़ा करने में कामयाब हुआ, जिसमें वह हिस्सा भी शामिल था, जो आजकल उत्तरप्रदेश कहलाता है। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी धारण करके सिंहासन पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त-राजवंश की शुरुआत हुई। यह वंश क़रीब दो सौ वर्षों तक चलता रहा, जबकि हूणों ने आकर इसे परेशान करना शुरू किया। कुछ हद तक यह ज़माना ज़बर्दस्त हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। तुर्की, पार्थव वग़ैरा अनार्य विदेशी शासक जड़ से उखाड़ फेंके गये और ज़बर्दस्ती निकाल बाहर किये गए। इस प्रकार यहाँ हम जातीय विद्वेष को काम करता हुआ देखते हैं। उच्चवर्ग के भारतीय-आर्य लोग अपनी क़ौम पर अभिमान करते थे और इन बर्बरों और म्लेच्छों को नफ़रत की निगाह से देखते थे। गुप्तों ने जिन भारतीय आर्य राज्यों और राजाओं को जीता, उनके साथ नरमी का बर्ताव किया; लेकिन अनार्यों के साथ कोई रिआयत नहीं की गई।

चन्द्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त अपने पिता से भी ज्यादा ज़बर्दस्त लड़ाका था। वह बहुत बड़ा सेनापति था, और जब वह सम्राट् हुआ तो उसने सारे देश में, यहाँतक कि दक्षिण में भी, सबको जीतकर अपनी विजय-पताका फहराई। इसने गुप्त साम्राज्य को इतना बढ़ाया कि वह भारत के बहुत बड़े हिस्से में फैल गया। लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसने कुषाणों को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड़ दिया था।

समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक योद्धा राजा था। उसने काठियावाड़ और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनों से एक शक या तुर्की राजवंश के शासन में चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और इसी नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र की तरह, बहुत-से राजाओं की उपाधि बन गया, इसलिए बहुत भ्रम पैदा करता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली में क़ुतुबमीनार के पास एक बहुत भारी लोहे की लाट तुमने देखी थी। क्या उसकी तुम्हें याद है? कहते हैं कि विक्रमादित्य ने यह लाट विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाई थी। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी पर कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का चिह्न था।

गुप्त-काल भारत में हिन्दू साम्राज्यवाद का ज़माना था। इस काल में पुरानी आर्य-संस्कृति और संस्कृत विद्या का खूब पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और मंगोलियन संस्कारों को, जो भारतीय जीवन और संस्कृति में यूनानियों, कुषाणों, वग़ैरा के ज़रिये आ गये थे, प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। बल्कि, असलियत तो यह है कि भारतीय आर्य परम्पराओं पर ज़ोर देकर इन्हें हर तरह नीचे गिराया जाता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनों भी वह जनता की आम भाषा नहीं थी। बोलने की भाषा प्राकृत का एक रूप थी, जो संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। मगर हालाँकि संस्कृत उस ज़माने की लोकभाषा नहीं थी, फिर भी काफ़ी प्रचलित थी। इस काल में संस्कृत कविता, नाटक और भारतीय आर्य कलाएँ खूब खिलीं। जिस महान् युग में वेद और महाकाव्य लिखे गये, उसके बाद, संस्कृत साहित्य के इतिहास में, शायद इसी ज़माने में सबसे ज़्यादा और सबसे सुन्दर साहित्य लिखा गया। संस्कृत का अद्भुत कवि कालिदास इसी ज़माने में हुआ। कहते हैं, विक्रमादित्य का दरबार बड़ी चमक-दमकवाला था, जिसमें उसने उस समय के सबसे श्रेष्ठ लेखकों और कलाकारों को जमा किया था। क्या तुमने उसके दरबार के नवरत्नों के बारे में नहीं सुना है? कालिदास उन नवरत्नों में से एक था।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद उसका यह ख़याल था कि उसके कट्टर भारतीय आर्य दृष्टिकोण के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में रामचन्द्र की कथा के साथ अमर बना दिया है, ज़्यादा उपयुक्त जगह बन सकती है।

गुप्त सम्राटों ने आर्य-सभ्यता और हिन्दू-धर्म का जो पुनरुत्थान किया उसका रुख क़ुदरती तौर पर बौद्ध-धर्म के लिए बहुत अच्छा नहीं था। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि यह आन्दोलन अमीर वर्ग का था और उसकी पीठ पर क्षत्रिय सरदार थे, और बौद्ध-धर्म में लोकतन्त्र की भावना ज़्यादा थी। कुछ वजह यह थी कि बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय का कुषाणों और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी राजाओं से गहरा सम्बन्ध था। लेकिन फिर भी बौद्ध-धर्म पर कोई ज़ुल्म किया गया हो ऐसा नहीं मालूम होता। बौद्ध विहार क़ायम थे और तब भी बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाएँ थीं। गुप्त सम्राटों का लंका के राजाओं के साथ मित्रता का सम्बन्ध था और लंका में बौद्ध-धर्म खूब फैला हुआ था। लंका के राजा मेघवर्ण ने समुद्र-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्त के पास क़ीमती उपहार भेजे थे और उसने सिंहली विद्यार्थियों के लिए गया में एक विहार भी बनवाया था।

लेकिन भारत में बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे गिरने लगा। जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, यह हालत इसलिए नहीं पैदा हुई कि ब्राह्मणों ने या उस ज़माने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दू-धर्म में उसे धीरे-धीरे हज़म कर लेने की ताक़त थी।

इसी ज़माने में चीन का एक मशहूर यात्री भारत में आया। यह ह्यू एनत्साङ नहीं था, जिसके बारे में मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, बल्कि फ़ा-ह्यान था। बौद्ध होने के नाते यह बौद्ध-धर्म के पवित्र ग्रन्थों की तलाश में यहाँ आया था। उसने लिखा है कि मगध के लोग खुशहाल और सुखी थे; न्याय का पालन उदारता से किया जाता था और मौत की सज़ा नहीं थी। गया वीरान और उजड़ा हुआ था; कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनवान, खुश-हाल और सदाचारी" थे। सम्पन्न और शानदार बौद्ध विहार बहुत थे। मुख्य सड़कों पर धर्मशालाएँ थीं, जहाँ मुसाफ़िर ठहर सकते थे और जहाँ सरकारी खर्च मे खाना दिया जाता था। बड़े-बड़े नगरों में खैराती अस्पताल थे।

भारत में घूमने के बाद फ़ा-ह्यान लंका गया और वहाँ उसने दो वर्ष बिताये। लेकिन उसके एक साथी ताओ-चिंग को भारत इतना पसन्द आया और बौद्ध भिक्खुओं की धर्म-परायणता का उसपर इतना असर पड़ा कि उसने यहीं रहने का निश्चय कर लिया। फ़ा-ह्यान समुद्री रास्ते लंका से चीन चला गया और रास्ते में बहुत-से खतरे उठाकर वर्षों बाद अपने घर पहुँचा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस वर्ष राज किया। उसके बाद उसके पुत्र कुमारगुप्त ने चालीस वर्ष तक राज किया। फिर ४५३ ई० में स्कन्द-गुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नये खतरे का सामना करना पड़ा, जिसने अन्त में महान् गुप्त साम्राज्य की कमर ही तोड़ दी। लेकिन इसके बारे में मैं अपने अगले पत्र में लिखूंगा।

अजन्ता की गुफ़ाओं की दीवारों पर बने हुए कई सबसे बढ़िया चित्र और उनके बड़े-बड़े कमरे व उपासना-गृह गुप्त-काल की कला के नमूने हैं। जब तुम उन्हें देखोगी तो तुम्हें पता चलेगा कि ये कितने अद्भुत हैं। बदक़िस्मती से वहाँ के चित्र धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं, क्योंकि मौसमों के असर से वे बहुत वर्षों तक नहीं टिक सकते।

अब हमें यह देखना है कि जिस समय भारत में गुप्त सम्राटों का राज था उस वक़्त दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हो रहा था। चन्द्रगुप्त प्रथम क़ुस्तुन्तुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन महान् का समकालीन था। बाद के गुप्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्राटों के समय में रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी दो हिस्सों में बँट चुका था और पश्चिमी साम्राज्य को अन्त में उत्तर के 'बर्बरों' ने उखाड़ फेंका था। यानी जिस वक़्त रोमन साम्राज्य कमज़ोर पड़ रहा था, तभी भारत में एक बहुत शक्तिशाली राज्य था, जिसमें बड़े-बड़े सेनापति और ज़बर्दस्त सेनाएँ थीं। समुद्रगुप्त को कुछ लोग भारत का 'नेपोलियन' कहते हैं। लेकिन महत्वाकांक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओं के बाहर के देशों को जीतने का विचार नहीं किया था।

गप्त-काल हमला करनेवाले साम्राज्यवाद और देश-विजयों का ज़माना था। लेकिन हरेक मुल्क के इतिहास में इस तरह के साम्राज्यी काल बहुत बार आते हैं, और अन्त में जाकर इनका कुछ महत्व नहीं रहता। फिर भी गुप्त-काल की विशेषता, जिसकी वजह से वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात में है कि उसमें कला और साहित्य का चमत्कारी पुनर्जागरण हुआ।

: ३८ :

हूणों का भारत में आना

४ मई, १९३२

उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों के उस पार से भारत पर आनेवाला नया आतंक हूणों का था। मैंने अपने पिछले पत्र में रोमन साम्राज्य का ज़िक्र करते हुए हूणों के बारे में लिखा था। यूरोप में उनका सबसे बड़ा नेता अतिला था, जो बहुत वर्षों तक रोम और क़ुस्तुन्तुनिया को आतंकित करता रहा। इन्हीं क़बीलों के सजातीय हूण, जो सफ़ेद हूण के नाम से मशहूर थे, क़रीब-क़रीब उसी समय भारत में आये थे। ये लोग भी मध्य-एशिया के घुमक्कड़ थे। बहुत दिनों से वे भारत की सरहदों पर मँडरा रहे थे और वहाँ के लोगों को बुरी तरह परेशान कर रहे थे। जैसे-जैसे उनकी संख्या बढ़ती गई, और शायद इसलिए भी कि पीछे से दूसरे क़बीले उन्हें खदेड़ रहे थे, उन्होंने बाक़ायदा धावा शुरू कर दिया।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्त-वंश का पाँचवाँ राजा था, हूणों के इस धावे का सामना करना पड़ा। उसने उन्हें हराकर पीछे धकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष बाद वे फिर आ धमके। धीरे-धीरे वे गान्धार और उत्तर भारत में फैल गये। उन्होंने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये और हर तरह का आतंक फैलाया।

उनके ख़िलाफ़ लगातार लड़ाइयाँ होती रही होंगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हें देश से निकाल न सके। हूणों के दल-के-दल भारत में आते रहे और वे मध्य भारत तक फैल गये। उनका मुखिया तोरमाण राजा बन बैठा। यह तो काफ़ी बुरा था ही, लेकिन उसका उत्तराधिकारी, उसका पुत्र मिहिरगुल, तो बिलकुल ही जंगली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और शैतान की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि मिहिरगुल का एक दिल-बहलाव यह था कि वह ऊँचे कगारों से हाथियों को खड्ड में ढकेलवाया करता था। अन्त में उसके अत्याचारों से आर्यावर्त भड़क उठा। गुप्त-वंश के बालादित्य और मध्य भारत के राजा यशोधर्मन के नेतृत्व में आर्यों ने हूणों को हरा दिया और मिहिरगुल को गिरफ़्तार कर लिया। लेकिन बालादित्य हूणों की तरह निर्दयी नहीं था, बल्कि वीर था। उसने दया करके मिहिरगुल की जान बख़्श दी और उसे देश से निकल जाने का आदेश दिया। मिहिरगुल जाकर कश्मीर में छिपा रहा और कुछ दिन बाद उसने दग़ाबाज़ी करके बालादित्य पर, जिसने उसके साथ इतनी उदारता दिखाई थी, हमला कर दिया।

लेकिन भारत में हूणों की शक्ति बहुत जल्द कमज़ोर हो गई। फिर भी हूणों की बहुत-सी सन्तति भारत में रह गई और धीरे-धीरे आर्यों की आबादी में घुल-मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्य भारत और राजस्थान की कुछ राजपूत जातियों में इन सफ़ेद हूणों के ख़ून का कुछ अंश हो।

हूणों ने उत्तर भारत में बहुत थोड़े समय, यानी पचास साल से भी कम, राज किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूण-युद्धों और उनकी भयंकरता का भारत के आर्यों पर बहुत असर पड़ा। हूणों की ज़िन्दगी और शासन के तरीक़े आर्यों से बिलकुल जुदे थे। आर्य-जाति उस समय तक भी बहुत कुछ स्वतन्त्रता-प्रेमी थी। उनके राजाओं तक को लोकमत के सामने झुकना पड़ता था और उनकी ग्राम-पंचायतों के हाथों में बड़ी शक्ति थी। लेकिन हूणों के आने से, और यहाँ बसकर भारतीयों के साथ घुल-मिल जाने से, आर्य-आदर्शों में कुछ फ़र्क़ आ गया और वे नीचे गिर गये।

महान् गुप्तवंश के अन्तिम सम्राट् बालादित्य की ५३० ई० में मृत्यु हुई। यह एक दिलचस्प बात है कि शुद्ध हिन्दू-वंश का यह सम्राट् ख़ुद बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुआ और उसने एक बौद्ध भिक्खु को अपना गुरु बनाया। गुप्त-काल कृष्ण-भक्ति के फिर से प्रचलित होने के लिए ख़ासतौर पर मशहूर है। लेकिन इतने पर भी बौद्ध-धर्म के साथ हिन्दुओं का कोई ख़ास झगड़ा नहीं था।

हम फिर देखते हैं कि गुप्त-राज्य के २०० वर्षों बाद उत्तर भारत में कई राज्य बन गये, जो किसी एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन न थे। हाँ, दक्षिण भारत में एक बहुत बड़े राज्य का विकास होने लगा। पुलिकेशी नामक एक राजा ने, जो रामचन्द्र का वंशज होने का दावा करता था, दक्षिण में एक साम्राज्य क़ायम किया जो चालुक्य साम्राज्य के नाम से मशहूर है। दक्षिण के इन लोगों का पूर्वी द्वीप-समूहों के भारतीय उपनिवेशों के साथ ज़रूर ही गहरा सम्बन्ध रहा होगा और भारत और इन टापुओं के बीच बराबर आवागमन होता रहा होगा। हमें यह भी पता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलता है कि भारतीय जहाज़ अक्सर माल भरकर ईरान ले जाया करते थे। चालुक्य राज्य ईरान के सासानी राज्य को राजदूत भेजा करते थे और वहाँ के राजदूत यहाँ आते थे। राजदूतों का इस तरह आना-जाना ईरान के मशहूर बादशाह ख़ुसरो द्वितीय के ज़माने में ख़ासतौर पर हुआ।

: ३९ :

विदेशी मण्डियों पर भारत का क़ब्ज़ा

५ मई, १९३२

हम देखते हैं कि इतिहास के जिस पुराने काल की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें एक हज़ार से भी ज़्यादा वर्षों तक, पश्चिम में यूरोप और पश्चिमी एशिया तक, और पूर्व में ठेठ चीन तक, भारत का व्यापार बराबर ज़ोरों के साथ चलता रहा। इसके क्या कारण थे? सिर्फ़ यह नहीं कि उस ज़माने के भारतीय बड़े अच्छे जहाज़ी और व्यापारी थे, जिसमें कि कोई शक नहीं; न यह कि वे बड़े कुशल कारीगर थे और उनकी कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इन सब कारणों ने मदद ज़रूर दी, लेकिन मालूम होता है कि भारत ने दूर-दूर की मण्डियों पर जो क़ब्ज़ा जमाया था, उसकी ख़ास वजह यह थी कि उसने रसायन में, ख़ासकर रंगसाज़ी में, बड़ी तरक्क़ी कर ली थी। मालूम होता है, उस ज़माने के भारतवासियों ने कपड़ा रँगने के पक्के रंग तैयार करने के विशेष तरीक़े खोज निकाले थे। वे नील के पौधे से नीला रंग बनाने का विशेष तरीक़ा भी जानते थे। तुम देखोगी कि नील का 'इण्डिगो' नाम ही 'इण्डिया' से निकला है। यह भी मुमकिन है कि फ़ौलाद पर अच्छा पानी चढ़ाने और फ़ौलाद के बढ़िया औज़ार बनाने का तरीक़ा भी पुराने भारतवासियों को मालूम था। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें बताया था कि सिकन्दर के हमलों की पुरानी ईरानी कहानियों में जहाँ-कहीं अच्छी तलवार या कटार का ज़िक्र आया है, वहाँ यह भी कहा गया है कि वह भारत से आई थी।

चूँकि भारत दूसरे देशों के मुक़ाबले में इन रंगों और दूसरी चीज़ों को ज़्यादा अच्छी तरह बना सकता था, इसलिए यह क़ुदरती बात थी कि वह दुनिया की मण्डियों पर क़ब्ज़ा कर ले। जिस आदमी या मुल्क़ को दूसरे आदमी या मुल्क़ की बनिस्बत बढ़िया औज़ार या किसी चीज़ को बनाने का अच्छा और सस्ता तरीक़ा मालूम है, वह आख़िर में दूसरे आदमी या मुल्क़ का धन्धा छीन लेगा, जिसके पास न उतने अच्छे औज़ार हैं, और न उतना अच्छा तरीक़ा। और यही वजह है कि पिछले दो सौ वर्षों में यूरोप एशिया के मुक़ाबले में इतना आगे बढ़ गया है। नई खोजों और आविष्कारों ने यूरोप को नये-नये और बलशाली औज़ार दिये और चीज़ों के बनाने के नये-नये तरीक़े बतलाये। इनकी मदद से उसने दुनिया की मण्डियों पर क़ब्ज़ा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया और मालदार व बलशाली हो गया। और भी दूसरे कारण थे जिन्होंने उसे मदद पहुँचाई। लेकिन फ़िलहाल तो मैं इतना ही चाहता हूँ कि तुम यह विचार करो कि औज़ार कितने महत्व की चीज़ है। एक बार एक बड़े आदमी ने कहा था कि मनुष्य औज़ार बनानेवाला प्राणी है। और शुरू के ज़माने से आज तक का मनुष्य-जाति का इतिहास ज़्यादा-से-ज़्यादा कारगर औज़ार बनाने का इतिहास है। प्रस्तर-युग के प्राचीन पत्थर के तीरों और हथौड़ों से लेकर आज की रेलें, भाप के इंजन और भारी मशीनें यही बतलाती हैं। सच तो यह है कि हमारे लगभग सभी कामों में औज़ारों की ज़रूरत पड़ती है। औज़ारों के बिना हमारी हालत क्या हो?

औज़ार एक अच्छी चीज़ है। इससे काम हलका हो जाता है। लेकिन औज़ार का बुरा इस्तेमाल भी किया जा सकता है। आरी एक काम की चीज़ है, लेकिन एक बच्चा उससे अपने को चोट पहुँचा सकता है। हमारे उपयोग की चीज़ों में चाक़ू एक सबसे ज़्यादा काम की चीज़ है। हर स्काउट को चाक़ू रखना चाहिए। लेकिन एक नादान आदमी इसी चाक़ू से दूसरे की जान ले सकता है। इसमें बेचारे चाक़ू का कोई दोष नहीं है। क़सूर तो उस आदमी का है, जो इस औज़ार का दुरुपयोग करता है।

इसी तरह, ख़ुद अच्छी होते हुए भी, आधुनिकतम मशीनों का तरह-तरह से दुरुपयोग किया गया है, और आज भी किया जा रहा है। लोगों के काम के बोझ को हलका करने के बजाय मशीनों ने बहुत करके उनकी ज़िन्दगी पहले से भी ज़्यादा बुरी बना दी हैं। करोड़ों आदमियों को सुख और आराम पहुँचाने के बजाय, जैसाकि उसे असल में करना चाहिए, उसने बहुतों को मुसीबत में डाल दिया है। उसने सरकारों के हाथ में इतनी ज़्यादा ताक़त दे दी है कि वे अपने युद्धों में लाखों की हत्या कर सकती है।

लेकिन इसमें मशीन का क़सूर नहीं, बल्कि उसके दुरुपयोग का है। अगर बड़ी-बड़ी मशीनों का नियन्त्रण ऐसे ग़ैर-ज़िम्मेदार लोगों के हाथों में न रहे, जो उससे सिर्फ़ अपने लिए रुपया पैदा करना चाहते हैं, बल्कि उनका नियन्त्रण जनता की ओर से और उसकी भलाई के लिए किया जाय, तो बहुत फ़र्क़ पड़ जाय।

इसलिए उन दिनों, आजकल की दशा के विपरीत, भारत माल तैयार करने के तरीक़ों में सारी दुनिया से आगे था। इसीलिए भारतीय कपड़े, भारतीय रंग और दूसरी चीज़ें दूर-दूर के मुल्कों में जाती थीं और वहाँ उनकी बड़ी चाह के साथ माँग थी। इस व्यापार से भारत में बाहर का धन आता था। इस व्यापार के अलावा दक्षिण भारत काली मिर्च और दूसरे मसाले बाहर भेजता था। ये मसाले पूर्व के टापुओं से भी आते थे और भारत के रास्ते पश्चिम के देशों को जाते थे। रोम और पश्चिम के देशों में काली मिर्च की बड़ी क़ीमत थी। कहा जाता है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोथों का एक सरदार एलैरिक, जिसने ४१० ई० में रोम पर अधिकार किया था, ३०० पौण्ड काली मिर्च वहाँ से ले गया था। यह सब काली मिर्च या तो भारत से या भारत के रास्ते गई होगी।

: ४० :

देशों और सभ्यताओं के चढ़ाव-उतार

६ मई, १९३२

चीन का ज़िक्र किये हुए अब हमें बहुत दिन हो गये। आओ, अब फिर उधर लौट चलें, और चीन का हाल फिर शुरू करें और यह देखें कि जिस समय पश्चिम में रोम का पतन हो रहा था और भारत में, गुप्त सम्राटों के शासन में, राष्ट्रीय पुनरुत्थान हो रहा था, उस वक़्त चीन में क्या घटनाएँ घट रही थीं। रोम के उत्थान या पतन का असर चीन पर बहुत कम पड़ा। वे एक-दूसरे से बहुत ही दूर थे। लेकिन मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि चीनी राज्य द्वारा मध्य एशिया के क़बीलों को पीछे ढकेलने का नतीजा कभी-कभी यूरोप और भारत के लिए बहुत बुरा होता था। ये क़बीले और इनके खदेड़े हुए दूसरे क़बीले पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ़ते जाते थे, सल्तनतों और राज्यों को उलट-पलट देते थे और वहाँ गड़बड़ी फैला देते थे। इनमें से बहुत से क़बीले पूर्वी यूरोप और भारत में बस भी गये।

लेकिन रोम और चीन में सीधा सम्बन्ध भी था। दोनों एक-दूसरे के यहाँ अपने राजदूत भेजते थे। चीनी किताबों से पता चलता है कि पहले-पहल १६६ ई० में रोम के सम्राट् आन-तून ने चीन को अपना राजदूत-मण्डल भेजा था। यह आन-तून वही मार्क ऑरेली अन्तोनी है, जिसका ज़िक्र मैं अपने एक पत्र में कर चुका हूँ।

यूरोप में रोम का पतन एक ज़बर्दस्त घटना थी। यह सिर्फ़ एक शहर या एक साम्राज्य का पतन नहीं था। एक तरह से रोमन साम्राज्य तो क़ुस्तुन्तुनिया में बाद में भी बहुत दिनों तक चलता रहा और इस साम्राज्य का भूत यूरोप के सिर पर क़रीब-क़रीब चौदह सौ वर्ष तक मँडराता रहा। लेकिन रोम का पतन एक महान् युग का अन्त था। इससे यूनान और रोम की पुरानी दुनिया का ख़ात्मा हो गया। पश्चिम में रोम के खण्डहरों पर एक नई दुनिया, एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति जन्म ले रही थी। शब्द और वाक्य हमें भुलावे में डाल देते हैं और जब हम उन्हीं शब्दों का इस्तेमाल दूसरी जगह देखते हैं तो हम समझने लगते हैं कि उनके अर्थ भी वही होंगे। रोम के पतन के बाद भी यूरोप रोम की ही भाषा में बोलता था; लेकिन उसके पीछे जो भाव थे और जो अर्थ थे वे बदल गये थे। लोग कहते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं कि आज के यूरोप के मुल्क यूनान और रोम के बच्चे हैं और यह किसी हद तक ठीक भी है। लेकिन फिर भी यह एक भ्रम में डाल देनेवाली बात है। क्योंकि यूरोप के देश एक ऐसे आदर्श के नमूने हैं जो यूनान और रोम के आदर्शों से बिलकुल जुदा है। रोम और यूनान की पुरानी दुनिया बिलकुल ही मिट गई। जो सभ्यता हज़ार वर्ष से भी ज़्यादा समय में बन पाई थी, वह पककर मुरझा गई। इसके बाद ही पश्चिमी यूरोप के आधे सभ्य, आधे-बर्बर देश इतिहास में क़दम रखते हैं और धीरे-धीरे एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति का निर्माण करते हैं। उन्होंने रोम से बहुत-कुछ सीखा; बहुत-सी बातें उन्होंने पुरानी दुनिया से लीं, लेकिन सीखने का यह सिलसिला मुश्किल और मेहनत का था। सैकड़ों वर्षों तक मालूम होता था कि यूरोप में सभ्यता और संस्कृति नींद ले रही है। अज्ञान और कट्टर-पंथ का अँधेरा छा गया था। इसलिए इन सदियों को 'अन्धकार का युग' कहते हैं।

इसकी वजह क्या थी? दुनिया पीछे की तरफ़ क्यों लौटे, और सदियों की मेहनत से इकट्ठा किया हुआ ज्ञान क्यों ग़ायब हो जाय या भुला दिया जाय? ये बड़े सवाल हमारे बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी चक्कर में डाल देते हैं। मैं उनका जवाब देने की कोशिश नहीं करूँगा। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है कि भारत, जो कभी विचार और कर्म में इतना महान् था, इतनी बुरी तरह नीचे गिर जाय, और लम्बे युगों तक ग़ुलाम देश बना रहे? या चीन, जिसका पुराना इतिहास इतना गौरवपूर्ण है, कभी ख़त्म न होनेवाले लड़ाई-झगड़ों का शिकार हो जाय? शायद युगों का ज्ञान और युगों की बुद्धि जिन्हें आदमी बूंद-बूंद करके इकट्ठा कर पाता है, मिट नहीं जाते। लेकिन किसी वजह से हमारी आँखें बन्द हो जाती हैं, और कभी-कभी हम कुछ भी नहीं देख पाते। खिड़की बन्द हो जाती है और अँधेरा छा जाता है। लेकिन बाहर और चारों तरफ़ रोशनी तब भी रहती है और अगर हम अपनी आँखों को या खिड़कियों को बन्द रक्खें तो इसका मतलब यह नहीं कि रोशनी ही ग़ायब हो गई।

कुछ लोगों का कहना है कि यूरोप के अन्धकार-युग का कारण ईसाई मज़हब था—वह धर्म नहीं जिसका ईसा ने प्रचार किया, बल्कि वह राजकीय ईसाइयत जो रोमन सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन के ईसाई हो जाने पर पश्चिम में फैली। इन लोगों का कहना है कि चौथी सदी में कॉन्स्तेन्तीन के ईसाइयत इख़्तियार कर लेने से हज़ार वर्ष का एक नया युग शुरू हुआ, "जिसमें विवेक ज़ंजीरों में जकड़ दिया गया, विचार को ग़ुलाम बना दिया गया और ज्ञान ने कोई तरक्क़ी नहीं की।" इनकी वजह से न सिर्फ़ ज़ुल्म, कट्टरपन और असहिष्णुता ने ही ज़ोर पकड़ा, बल्कि इससे लोगों के लिए विज्ञान या और बहुत-सी बातों में आगे बढ़ना मुश्किल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया। धर्म-पुस्तकें अक्सर आगे बढ़ने में रुकावट बन जाती हैं। वे हमें बताती हैं कि जिस ज़माने में वे लिखी गई थीं तब दुनिया कैसी थी। वे हमें उस ज़माने के विचारों और रस्म-रिवाजों के बारे में बताती हैं। उन विचारों और रस्म-रिवाजों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने की किसी की हिम्मत नहीं होती, क्योंकि वे बातें "पवित्र" पुस्तक में लिखी होती हैं। इसलिए, हालाँकि दुनिया बिलकुल बदल जाती है, लेकिन हमें उन विचारों और रस्म-रिवाजों को बदली हुई हालतों के मुताबिक़ बनाने की छूट नहीं होती। नतीजा यह होता है कि हम ज़माने के साथ बेमेल हो जाते हैं, और फिर गड़बड़ पैदा हो जाती है।

इसलिए कुछ लोग यूरोप में अन्धकार-युग लाने के लिए ईसाइयत को दोषी ठहराते हैं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि उस अन्धकार-युग में ज्ञान के दीपक को जलाये रखनेवाले ईसाइयत और ईसाई पादरी और पुजारी ही थे। उन्होंने कला और चित्रकारी को जीवित रखा, बेशक़ीमती पुस्तकों की सावधानी से हिफ़ाज़त की और उनकी नक़लें उतारीं।

लोग इस तरह का तर्क करते हैं। शायद दोनों ही ठीक हैं। लेकिन यह कहना कि रोम के पतन के बाद आनेवाली सारी मुसीबतों की ज़िम्मेदारी ईसाइयत पर है, एक बेहूदा-सी बात है। सच तो यह है कि रोम ख़ुद उन बुराइयों की वजह से गिरा।

लेकिन मैं बहुत दूर चला गया। मैं तो तुम्हें यह बताना चाहता था कि जहाँ यूरोप में समाजी संगठन एकदम टूट गया और एकदम परिवर्तन हो गया, वहाँ चीन में या भारत तक में इस तरह का कोई अचानक परिवर्तन नहीं हुआ। यूरोप में हम एक सभ्यता का अन्त और उस दूसरी सभ्यता की शुरुआत देखते हैं, जो धीरे-धीरे विकास करके आज की सभ्यता बन गई है। चीन में हम ऐसी ही ऊँचे दर्जे की सभ्यता और संस्कृति को इस तरह सिलसिला टूटे बिना जारी रहता पाते हैं। उतार-चढ़ाव तो आया ही करते हैं। अच्छे काल और बुरे राजे-महाराजे आते और जाते रहते हैं और राजवंश बदलते रहते हैं। लेकिन जो संस्कृति परम्परा से चली आती है, वह नहीं टूटती। जब चीन कई राज्यों में छिन्न-भिन्न हो गया और आपसी झगड़ों में फँस गया, उस समय भी वहाँ कला और साहित्य फूलते-फलते रहे, मनोरम चित्रकारी होती रही, सुन्दर चीनी के बर्तन और बढ़िया इमारतें बनती रहीं। छपाई का उपयोग होने लगा। चाय पीने का फ़ैशन शुरू हुआ और कविता में उसका गुणगान किया जाने लगा। इस प्रकार चीन में हमें सौन्दर्य और कला-प्रेम की एक अटूट धारा दिखाई देती है, जो किसी ऊँची सभ्यता से ही पैदा हो सकती है।

यही हालत भारत में थी। यहाँ भी रोम को तरह कोई अचानक परिवर्तन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हुआ। यह ठीक है कि यहाँ भी अच्छे और बुरे दिन आये। सुन्दर साहित्यिक और कलामय रचनाओं के ज़माने आये और विनाश और पतन के भी। लेकिन सभ्यता का सिलसिला एक तरह से जारी रहा। भारत की यह सभ्यता पूर्व के दूसरे देशों में भी फैल गई। उसने उन बर्बरों को भी हज़म कर लिया और ज्ञान सिखाया, जो इसे लूटने आये थे।

यह न समझना कि मैं पश्चिम को नीचा गिराकर भारत या चीन की बड़ाई कर रहा हूँ। आज भारत या चीन की हालत में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसको लेकर कोई शान बघारता फिरे। अन्धे भी यह देख सकते हैं कि अपने प्राचीन गौरव के होते हुए भी आज ये दोनों देश दुनिया के राष्ट्रों के मुक़ाबले में बहुत नीचे दर्जे को पहुँच गये हैं। अगर उनकी पुरानी संस्कृति की धारा यकायक टूटी नहीं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें कोई बुरे परिवर्तन भी नहीं हुए। अगर हम पहले ऊपर थे और आज नीचे गिरे हुए हैं, तो यह साफ़ है कि हम दुनिया में नीची हालत पर आ गये हैं। हम अपनी सभ्यता की अटूट धारा पर खुश हो लें, लेकिन जब वह सभ्यता ही पककर ख़त्म हो गई, तो इसमें सन्तोष की कोई बात नहीं रहती। इससे तो शायद यही अच्छा होता कि प्राचीनता से हमारे सम्बन्ध यकायक टूटते रहते। ऐसे अचानक परिवर्तन हमें झकझोर डालते और हमारे में नया जीवन और नई जीवनशक्ति फूंक देते। सम्भव है कि आज भारत में और दुनिया में जो घटनाएँ घट रही हैं, वे हमारे पुराने देश को आगे की ओर धक्का दे रही हों और उसे फिर जवानी और नई ज़िन्दगी से भर रही हों।

मालूम होता है कि पुराने ज़माने में भारत में जो मज़बूती और काम की धुन थी, उसकी बुनियाद ग्राम-गणराज्यों या स्वशासित पंचायतों के व्यापक संगठन में थी। आजकल की तरह उन दिनों बड़े-बड़े भू-स्वामी और बड़े-बड़े ज़मींदार नहीं थे। ज़मीन या तो देहाती समुदाय या पंचायतों की या उसपर काम करनेवाले किसानों की हुआ करती थी, और इन पंचायतों के हाथ में बहुत ताक़त और अधिकार होते थे। इन पंचायतों को गाँव के लोग चुनते थे और इस तरह यह व्यवस्था लोकतन्त्री आधार पर बनी हुई थी। राजा बदलते रहते थे और आपस में लड़ते भी रहते थे; लेकिन उन्होंने इन ग्राम-संस्थाओं पर न तो कभी हाथ डाला, न उनके काम में कभी दख़ल दिया और न इन पंचायतों की आज़ादी छीनने की हिम्मत की। और इस तरह जब साम्राज्यों का उलट-फेर होता रहा, तब भी इस ग्राम-संस्था पर खड़ी हुई समाज-व्यवस्था बिना ज्यादा परिवर्तन के जारी रही। सम्भव है, हमलों, लड़ाइयों और राजाओं के बदलने की कहानियाँ हमें भ्रम में डाल दें, और हम यह सोचने लगें कि इन घटनाओं का असर तमाम जनता पर पड़ता रहा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि जनता पर, ख़ासकर उत्तर भारत में, कभी-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी इनका असर पड़ा; लेकिन आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि वे लोग इन बातों की परवाह नहीं करते थे और राजाओं में हेर-फेर होते हुए भी, वे अपने कामों में लगे रहते थे।

भारत के समाज-संगठन को बहुत दिन तक मज़बूत बनाये रखनेवाला दूसरा कारण वह वर्ण-व्यवस्था थी जो अपने मूलरूप में चली आ रही थी। उन दिनों जात-पाँत के नियम इतने सख्त नहीं थे, जितने कि वे बाद में हो गये, और न जाति सिर्फ़ जन्म पर निर्भर करती थी। इसने हज़ारों साल तक भारत की सामाजिक ज़िन्दगी को संगठित रक्खा, और इसका सिर्फ़ यही कारण था कि उसने परिवर्तन और विकास की गति को रोका नहीं बल्कि उसे आगे बढ़ाया। धर्म और जीवन के मामले में पुराना भारतीय दृष्टिकोण हमेशा उदारता, प्रयोग और परिवर्तन का स्वागत करता था। इसीसे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमलों और दूसरी मुसीबतों ने जाति-प्रथा को धीरे-धीरे कड़ा बना दिया, और इसके साथ-साथ भारत का सारा दृष्टिकोण भी कड़ा और लचीला हो गया। यह सिलसिला जारी रहा, यहाँतक कि भारत के लोग आज की दुःखदायी हालत को पहुँच गये और जाति-प्रथा हर तरह की तरक्क़ी की दुश्मन बन बैठी। समाज के ढाँचे को बँधे रखने के बजाय जाति-प्रथा ने उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये हैं और हमें कमज़ोर बना दिया है, और भाई को भाई के ख़िलाफ़ कर दिया है।

इस तरह वर्ण-व्यवस्था ने, पुराने ज़माने में, भारत के समाज-संगठन को मज़बूत बनाने में मदद दी। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसमें गिरावट के बीज मौजूद थे। उसका आधार था असमानता और अन्याय को हमेशा क़ायम रखना, और ऐसी किसी भी कोशिश का अन्त में विफल हो जाना लाज़िमी था। असमानता और अन्याय के आधार पर या एक वर्ग या जमात द्वारा दूसरे वर्ग या जमात से बेजा फ़ायदा उठाने की नीति पर कोई अच्छा या मज़बूत समाज नहीं बन सकता। चूँकि आज भी यह अनुचित शोषण मौजूद है, इसलिए हमें तमाम दुनिया में इतने ज़्यादा झगड़े और दुःख दिखाई देते हैं। लेकिन अब सब जगह के लोग इसे महसूस करने लगे हैं और इससे छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं।

भारत की तरह चीन में भी समाज-व्यवस्था की मज़बूती गाँवों पर और उन लाखों किसानों पर निर्भर थी, जो ज़मीन के मालिक थे और उसे जोतते थे। वहाँ भी बड़े-बड़े ज़मींदार नहीं थे। धर्म में कभी रूढ़िवाद या असहिष्णुता नहीं आने दी गई। दुनिया की तमाम क़ौमों में चीनी लोग धर्म के मामले में शायद सबसे कम कट्टर-पन्थी रहे हैं और अब भी वैसे ही हैं।

फिर तुम्हें यह भी याद होगा कि भारत और चीन दोनों ही में मज़दूरों की ग़ुलामी की कोई प्रथा नहीं थी, जैसी यूनान में या रोम में या उससे भी पहले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

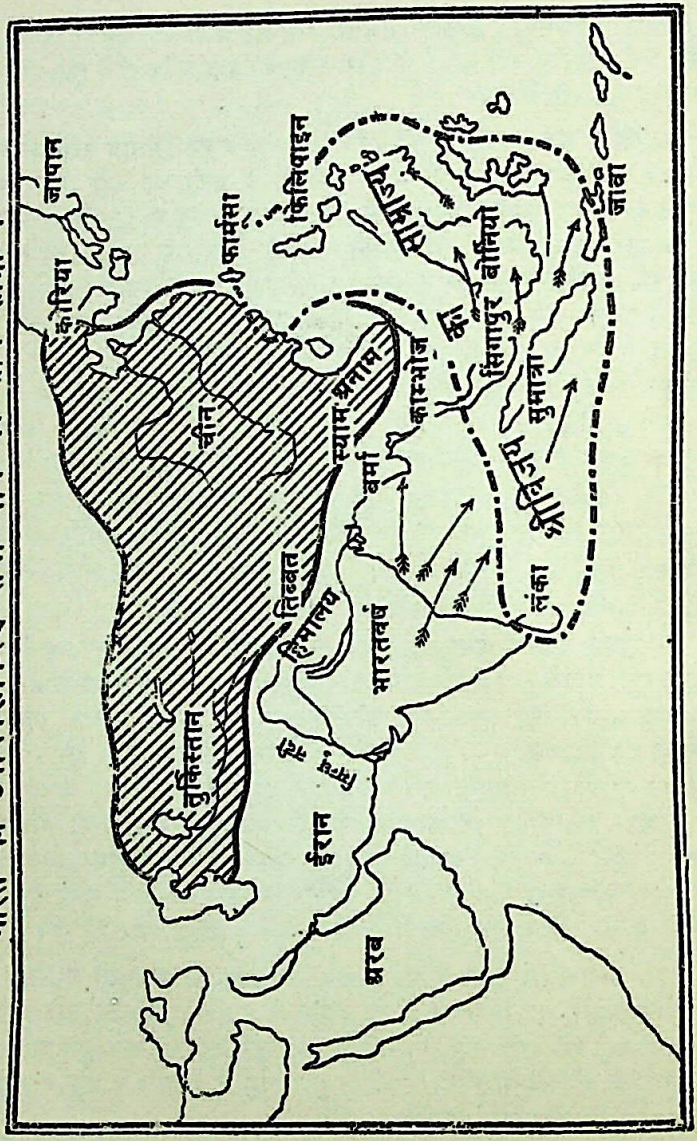

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिस्र में थी। कुछ घरेलू नौकर होते थे, जिनकी हालत ग़ुलामों जैसी होती थी, लेकिन समाज-व्यवस्था में इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था। यह व्यवस्था बग़ैर उनके भी वैसी ही चलती रहती थी। लेकिन पुराने यूनान और रोम में ऐसा नहीं था। वहाँ तो ग़ुलामों की बड़ी संख्या समाजी व्यवस्था का एक ज़रूरी अंग थी और सारे काम का असली बोझ इन्हीं के कन्धों पर था। और मिस्र में बिना इन ग़ुलामों के ये बड़े-बड़े पिरेमिड कैसे बन पाते?

मैंने इस पत्र को चीन से शुरू किया था और इरादा किया था कि उसकी कहानी को जारी रक्खूं। लेकिन मैं दूसरे विषयों की ओर बहक गया, जो कि मेरे लिए कोई ग़ैर-मामूली बात नहीं है। शायद अबकी बार हम चीन को इस तरह नहीं छोड़ें।

: ४१ :

तांङ्-वंश के शासन में चीन की उन्नति

७ मई, १९३२

मैं चीन के हन्-वंश के बारे में तुम्हें बता चुका हूँ और यह भी बता चुका हूँ कि चीन में बौद्ध-धर्म कैसे आया, छपाई की कला कब ईजाद हुई, और सरकारी अफ़सरों को चुनने के लिए इम्तिहान लेने का तरीक़ा कैसे शुरू हुआ। ईसा के बाद तीसरी सदी में हन्-राजवंश ख़त्म हो गया, और साम्राज्य तीन राज्यों में बँट गया, जिन्हें तीन महान् सल्तनतें कहा जाता है। विभाजन का यह युग कई सौ वर्षों तक क़ायम रहा। अन्त में एक नये राजवंश ने, जिसे तांङ-वंश कहते हैं, चीन को फिर एक कर दिया और उसे शक्तिशाली और एक राज्य बना दिया। यह सातवीं सदी के शुरू की बात है।

लेकिन बँटवारे के इस काल में भी चीनी संस्कृति और कला उत्तर के तातारियों के हमलों के बावजूद क़ायम रही। बड़े-बड़े पुस्तकालयों और सुन्दर चित्रों का बयान हमें मिलता है। भारत सिर्फ़ अपने सुन्दर कपड़े और दूसरे माल ही नहीं, बल्कि अपने विचार, अपना धर्म और अपनी कला भी चीन को भेजता रहा। भारत से बौद्ध प्रचारक चीन गये और वे अपने साथ भारतीय कला की परम्परा भी लेते गये। यह भी हो सकता है कि भारतीय कलाकार और कुशल कारीगर भी वहाँ गये हों। भारत से पहुँचनेवाले बौद्ध-धर्म और नये विचारों का चीन पर बहुत असर पड़ा। बेशक चीन उस समय, और उसके पहले भी, एक बहुत ही सभ्य देश था। यह बात नहीं थी कि भारत के धर्म, विचार और कला किसी पिछड़े देश में पहुँचे हों, और उस पर क़ाबिज़ हो गये हों। चीन में पहुँचकर इनको चीन की अपनी प्राचीन कला और विचार-धारा का सामना करना पड़ा था। दोनों की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टक्कर का यह नतीजा हुआ कि एक नई चीज़ पैदा हुई, जो इन दोनों से जुदा थी। इसमें बहुत-कुछ भारत का हाथ था, लेकिन फिर भी उसका आधार चीनी था और वह चीनी साँचे में ढली हुई थी। इस तरह भारत से पहुँचनेवाली विचार-धाराओं ने चीन के मानसिक और कला-सम्बन्धी जीवन को एक नई प्रेरणा और ठोकर दी।

इसी तरह बौद्ध-धर्म और भारतीय कला का सन्देश पूर्व में बहुत दूर तक यानी कोरिया और जापान तक कैसे पहुँचा, और इन देशों पर इसका क्या असर हुआ, यह भी दिलचस्प कहानी है। हरेक देश ने इसको अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल बना लिया। इस तरह, हालांकि बौद्ध-धर्म चीन और जापान में फूला-फला, लेकिन हर मुल्क़ में इसका पहलू जुदा है और इन दोनों देशों का बौद्ध-धर्म शायद उस बौद्ध-धर्म से बहुत कुछ अलग तरह का है, जो भारत से गया था। कला भी देश की हवा और क़ौम के मुताबिक़ अलग होती है और बदलती रहती है। भारत में हम लोग क़ौमी हैसियत से कला और सौन्दर्य दोनों को भूल गये हैं। यही नहीं कि बहुत दिनों से हमने सौन्दर्य की कोई बढ़िया चीज़ पैदा नहीं की, बल्कि हममें से बहुत-से लोग सुन्दर वस्तुओं की क़द्र करना भी भूल गये हैं। किसी ग़ुलाम देश में कला और सौन्दर्य पनप ही कैसे सकते हैं? ग़ुलामी और बन्धन के अँधेरे में ये मुरझा जाते हैं। लेकिन अब, जबकि आज़ादी की झलक हमारी आँख के सामने है, हमारी सौन्दर्य की भावना धीरे-धीरे जगने लगी है। जब आज़ादी आ जायगी तब तुम इस देश में कला और सौन्दर्य का ज़बर्दस्त पुनर्जीवन देखोगी और मुझे उम्मीद है कि तब हमारे घरों, हमारे नगरों और हमारे जीवन की बद-सूरती एकदम हट जायगी। चीन और जापान भारत से ज़्यादा भाग्यशाली रहे हैं और इन्होंने अबतक कला और सौन्दर्य की अपनी भावना को बहुत-कुछ क़ायम रक्खा है।

ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध-धर्म फैला, भारतीय बौद्ध और भिक्षु वहां अधिक संख्या में जाने लगे, और चीनी भिक्षु भारत और दूसरे देशों की यात्राएँ करने लगे। मैंने तुमसे फ़ा-ह्यान का ज़िक्र किया है, और तुम ह्यू एनत्सांङ को जानती ही हो। ये दोनों भारत आये थे। एक दूसरे चीनी भिक्षु ने, जिसका नाम हुई-शेंङ्ग था, अपनी पूर्वी समुद्रों की यात्रा का बहुत दिलचस्प हाल लिखा है। यह ४९९ ई० में चीन की राजधानी में पहुँचा और इसने बताया कि वह फू-संङ नामक ऐसे मुल्क़ में गया था, जो चीन के पूर्व में कई हज़ार मील की दूरी पर है। चीन और जापान के पूर्व में प्रशान्त महासागर है, और सम्भव है कि हुई-शेंङ्ग ने इस महासागर को पार किया हो। शायद वह मैक्सिको पहुँचा हो, क्योंकि मैक्सिको में उस वक़्त भी एक पुरानी सभ्यता पाई जाती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीन में बौद्ध-धर्म के प्रसार से आकर्षित होकर भारत के बौद्ध-धर्म के धर्माध्यक्ष या कुलपति जिनका नाम या उपाधि बोधि-धर्म थी, दक्षिण भारत से चीन में कैण्टन के लिए रवाना हुए। शायद भारत में बौद्ध-धर्म के धीरे-धीरे कमज़ोर हो जाने की वजह से उनका चीन जाने का इरादा हुआ हो। ५२६ ई० में जब उन्होंने यह यात्रा की, वह बूढ़े हो चुके थे। इनके साथ, और इनके बाद, और बहुत-से भिक्षु भी चीन गये। कहते हैं कि उस समय चीन के सिर्फ़ एक सूबे लोयांङ में तीन हज़ार से भी ज़्यादा भारतीय भिक्षु और दस हज़ार भारतीय कुटुम्ब रहते थे।

इसके बाद ही बौद्ध-धर्म भारत में एक बार फिर चमका, और बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण, और इस कारण भी कि यहाँ उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थ थे, यह देश धर्मपरायण बौद्धों को अपनी ओर खींचता रहा। लेकिन जान पड़ता है कि भारत में बौद्ध-धर्म की शान जाती रही थी, और अब चीन प्रमुख बौद्ध देश हो गया था।

सम्राट् काओ-त्सू ने ६१८ ई० में तांङ-राजवंश की नींव डाली। इसने न सिर्फ़ सारे चीन को ही एक किया बल्कि अपना अधिकार दक्षिण में अनाम और कम्बोदिया तक के, और पश्चिम में ईरान तथा कैस्पियन सागर तक के, लम्बे-चौड़े क्षेत्र में फैलाया। कोरिया का भी एक हिस्सा इस शक्तिशाली साम्राज्य में शामिल था। साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फू नामक शहर था, जो पूर्वी एशिया में अपनी शान और संस्कृति के लिए मशहूर था। जापान से और दक्षिण कोरिया से, जो अभी तक आज़ाद था, राजदूत और आयोग-मण्डल इसकी कला, तत्वज्ञान और सभ्यता का अध्ययन करने के लिए आया करते थे।

तांङ-सम्राट् विदेशी व्यापार और विदेशी यात्रियों को उत्साहित करते थे। चीन आनेवाले या वहाँ आकर बसनेवाले विदेशियों के लिए ख़ास क़ानून बनाये जाते थे, ताकि वे, जहाँ तक सम्भव हो, अपने ही देशों के रस्म-रिवाजों के अनुसार न्याय पा सकें। हमें पता चलता है कि ३०० ई० के क़रीब दक्षिण चीन में कैण्टन के पास अरब लोग ख़ासतौर से आकर बसे थे। यह इस्लाम की शुरुआत से, यानी पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद के जन्म से, पहले की बात है। इन अरबों की मदद से समुद्र-पार के देशों के साथ व्यापार में तरक्क़ी हुई। तिजारती माल लाने ले जाने का काम अरबी और चीनी जहाज़ किया करते थे।

तुमको यह जानकर ताज्जुब होगा कि मर्दुमशुमारी, यानी आबादी जानने के लिए किसी देश के निवासियों की गिनती की प्रथा, चीन में बहुत पुराने ज़माने से चली आई है। कहते हैं कि बहुत पहले, १५६ ई० में, चीन में एक मर्दुमशुमारी हुई थी। यह हन्-वंश के समय में हुई होगी। गिनती एक-एक आदमी की नहीं, बल्कि कुटुम्बों की की जाती थी। यह माना जाता था कि हरेक कुटुम्ब में मोटे तौर से पाँच

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति होते हैं। इस हिसाब के मुताबिक़ १५६ ई० में चीन की आबादी क़रीब पांच करोड़ थी। मैं जानता हूँ कि यह कोई बहुत ठीक तरीक़ा नहीं है, लेकिन ख़याल करने की बात यह है कि पश्चिम के लिए यह मर्दुमशुमारी एक नई चीज़ है। मेरा ख़याल है कि क़रीब १५० वर्ष हुए जब संयुक्त राज्य अमेरिका में पहली मर्दुमशुमारी हुई थी।

तांङ-वंश के शुरू ज़माने में चीन में दो और धर्म आये—एक ईसाइयत और दूसरा इस्लाम। ईसाइयत को वह सम्प्रदाय इस देश में लाया जिसे क़ाफ़िर क़रार देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। ये लोग नेस्तोरियन कहलाते थे। मैंने तुम्हें कुछ दिन हुए ईसाई सम्प्रदायों के आपसी झगड़ों और लड़ाइयों का कुछ हाल लिखा था। इसी तरह के एक झगड़े का नतीजा यह हुआ कि रोम ने नेस्तोरियनों को निकाल बाहर किया। लेकिन ये लोग चीन, ईरान और एशिया के कई दूसरे हिस्सों में फैल गये। ये लोग भारत भी आये थे और इन्हें कुछ कामयाबी भी मिली, लेकिन बाद में ईसाई मज़हब की दूसरी शाखाओं ने और मुसलमानों ने इन्हें हज़म कर लिया, और अब उनका नाम-निशान भी बाक़ी नहीं है। लेकिन पार-साल जब हम दक्षिण भारत गये थे तो वहाँ एक जगह इन लोगों की छोटी-सी बस्ती देखकर मुझे बहुत ताज्जुब हुआ था। तुम्हें याद है न? इनके बिशप ने हम लोगों को चाय पिलाई थी। वह बूढ़ा आदमी बहुत ख़ुश-मिज़ाज था।

ईसाइयत को चीन पहुँचने में कुछ दिन लगे। लेकिन इस्लाम ज्यादा तेज़ी से आया। वास्तव में इस्लाम नेस्तोरियनों के आने के कुछ साल पहले और अपने पैग़म्बर की ज़िन्दगी में ही वहाँ पहुँच गया था। चीन के सम्राट् ने मुसलमानों और नेस्तोरियनों दोनों के राजदूत-मण्डलों का बड़ी विनय के साथ स्वागत किया था, और उनकी बातों को ध्यान से सुना था। उसने उनके विचारों की क़द्र की और दोनों के साथ एक-सी उदारता का व्यवहार किया। अरबों को कैण्टन में मस्जिद बनाने की इजाज़त दी गई। यह मस्जिद अभी तक मौजूद है, हालाँकि इसे बने तेरह सौ वर्ष हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदों में है।

इसी तरह तांङ-सम्राट् ने गिरजाघर और ईसाई मठ बनाने की इजाज़त दी। चीन के इस उदार बर्ताव में और उस ज़माने के यूरोप की असहिष्णुता में कितना बड़ा फ़र्क़ नज़र आता है!

कहते हैं कि अरबों ने काग़ज़ बनाने का हुनर चीनियों से सीखा और फिर यूरोप को सिखाया। ७५१ ई० में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में चीनियों और मुसलमान अरबों के बीच एक लड़ाई हुई। अरबों ने कुछ चीनियों को क़ैद कर लिया और इन क़ैदियों ने अरबों को काग़ज़ बनाना सिखाया।

तांङ-वंश तीन सौ वर्ष यानी ९०७ ई० तक रहा। कुछ लोगों का ख़याल है

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि ये तीन सौ वर्ष चीन का सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही ऊँचे दर्जे पर नहीं थी, बल्कि जनता भी सब तरह से बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो पश्चिम को बहुत दिनों बाद मालूम हुईं, चीनियों को उस समय मालूम थीं। काग़ज़ का ज़िक्र तो मैं कर ही चुका हूँ। दूसरी ऐसी ही चीज़ बारूद थी। चीनी बड़े अच्छे इंजीनियर भी हुआ करते थे। आम-तौर से, और क़रीब-क़रीब हरेक बातों में, ये लोग यूरोप से बहुत आगे बढ़े हुए थे। अगर ये लोग इतने आगे बढ़े हुए थे तो बाद में ये अगुआ क्यों नहीं बने रह सके, और विज्ञान के नये-नये आविष्कारों में उन्होंने यूरोप को राह क्यों नहीं दिखाई? यूरोप ने धीरे-धीरे इन्हें पकड़ लिया—जैसे कोई जवान किसी बुड्ढे को जा पकड़ता है—और कम-से-कम कुछ बातों में तो उनसे आगे बढ़ ही गया। राष्ट्रों के इतिहास में इस तरह की बातें क्यों हो जाती हैं, यह दार्शनिकों के विचार के लिए एक कठिन सवाल है। चूँकि अभी तक तुम इस सवाल से परेशान होनेवाले दार्शनिकों की तरह नहीं हो, इसलिए मुझे भी परेशान होने की कोई ज़रूरत नहीं है।

इस काल में चीन की महानता का क़ुदरती तौर पर एशिया के बाक़ी हिस्सों पर बहुत असर पड़ा, जो कला और सभ्यता के मामले में रास्ता दिखाने के लिए चीन की तरफ़ देखते रहते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद भारत का सितारा बहुत तेज़ी से नहीं चमक रहा था। जैसा हमेशा होता है, चीन में उन्नति और सभ्यता ने लोगों को बहुत ज़्यादा विलासी और आराम-पसन्द बना दिया। राज्य में भ्रष्टाचार घुस गया और इसकी वजह से भारी टैक्स लगाना ज़रूरी हो गया। नतीजा यह हुआ कि लोगों ने तांङ-वंश से तंग आकर उसे खत्म कर दिया।

: ४२ :

चोसेन और दाई निप्पौन

८ मई, १९३२

ज्यों-ज्यों हमारी दुनिया की कहानी आगे बढ़ती जायगी, नये-नये देश हमारी निगाह में आते जायँगे। इसलिए हमें कोरिया और जापान पर एक नज़र डाल लेनी चाहिए, जो चीन के नज़दीकी पड़ौसी हैं और बहुत-सी बातों में चीनी सभ्यता की सन्तानें हैं। ये देश एशिया के बिलकुल सिरे पर, सुदूरपूर्व में हैं, और इनके पार प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। कुछ दिनों पहले तक अमेरिका महाद्वीप से इनका कोई सम्पर्क नहीं था, इनका सम्पर्क सिर्फ़ एशिया के महान् राष्ट्र चीन से ही था। उन्होंने चीन से या चीन के मार्फ़त ही धर्म, कला और सभ्यता हासिल की। कोरिया और जापान को चीन की बहुत बड़ी देन है, और कुछ हद तक वे भारत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भी देनदार हैं। लेकिन भारत से इन्होंने जो कुछ पाया वह चीन के मार्फ़त और चीनी भावनाओं में रँगा हुआ ही पाया।

कोरिया और जापान दोनों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एशिया में या और जगह होनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। घटनाओं के केन्द्र से ये दूर थे—कुछ हद तक दोनों, ख़ासकर जापान, ख़ुशक़िस्मत थे। इसलिए मौजूदा ज़माने से पहले तक के इनके इतिहास की हम बग़ैर किसी कठिनाई के उपेक्षा कर सकते हैं। ऐसा करने से एशिया के बाक़ी हिस्सों की घटनाओं को समझने में कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं आयेगा। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि हम इन्हें बिलकुल ही छोड़ दें जिस तरह कि हमने मलेशिया और पूर्वी टापुओं के पुराने इतिहास को नहीं छोड़ा। बेचारा छोटा-सा देश कोरिया आज बिलकुल भुला दिया गया है। जापान ने इसे हड़प लिया है और अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया है। लेकिन कोरिया अब आज़ादी के सपने देखता है और स्वाधीनता के लिए छटपटाता है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है और चीन पर उसके हमलों के समाचारों से अख़बार भरे रहते हैं। इस वक़्त भी, जब तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ, मंचूरिया में एक तरह का युद्ध छिड़ा हुआ है। इसलिए अगर हम कोरिया और जापान का कुछ पिछला इतिहास जान लें तो अच्छा ही है। इससे हाल की बातें समझने में मदद मिलेगी।

पहली बात, जो हमें याद रखनी चाहिए, वह यह है, कि ये दोनों देश लम्बे ज़मानों तक दुनिया से अलग-थलग रहे हैं। वास्तव में जापान का सबसे अलग-थलग रहना और हमलों से बरी रहना उसके इतिहास की एक ख़ास बात है। इसके सारे इतिहास में इसपर हमला करने की बहुत ही कम कोशिशें हुईं और उनमें से एक भी कामयाब नहीं हुई। अभी तक इसकी सारी परेशानियाँ अन्दरूनी झगड़ों के कारण ही रही हैं। कुछ दिनों के लिए तो जापान ने अपने-आपको सारी दुनिया से बिलकुल ही अलग कर लिया था। किसी जापानी का देश से बाहर जाना या किसी विदेशी का, यहाँतक कि चीनी का भी, जापान में पैर रखना बहुत मुश्किल बात थी। यह रोक इसलिए लगाई गई थी कि जापानी लोग अपने को यूरोप के विदेशियों से और ईसाई प्रचारकों से बचाना चाहते थे। यह एक ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी का काम था, क्योंकि इसका अर्थ था सारी क़ौम को क़ैदख़ाने में बन्द कर देना और बाहर के अच्छे या बुरे प्रभावों से उसे दूर रखना। लेकिन फिर जापान ने एकदम दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल दीं, और यूरोप जो-कुछ सिखा सकता था, उस सबको सीखने के लिए बाहर दौड़ पड़ा। और उसने यह सब इतनी अच्छी तरह सीखा कि एक या दो पीढ़ियों में ही वह ऊपर से एक यूरोपीय देश के समान बन गया, और उसने उनकी बुरी आदतों की भी नक़ल कर ली! ये सब बातें पिछले सत्तर-अस्सी वर्षों में हुई हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास से बहुत पीछे शुरू होता है और जापान का इतिहास कोरिया के भी बहुत दिन बाद। मैंने तुम्हें पार-साल अपने एक पत्र में लिखा था कि की-त्से नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन में राज-वंश का बदल जाना नापसन्द था, अपने पाँच हज़ार साथियों के साथ पूर्व की तरफ़ कूच कर दिया था। वह कोरिया में जा बसा और इस देश का नाम उसने 'चोसेन' यानी 'सुबह की शान्ति का देश' रख दिया। यह ई० पू० ११२२ की बात है। की-त्से अपने साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती के तरीक़े और रेशम बनाने का हुनर वहाँ ले गया। नौ सौ से भी अधिक वर्षों तक की-त्से के वंशज चोसेन में राज करते रहे। चीन से निकले हुए लोग समय-समय पर चोसेन में बसने के लिए आते रहे और चीन के साथ इसका अच्छा-ख़ासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वांङ-ती चीन का सम्राट् था, तब चीनियों का एक बड़ा जत्था कोरिया आया था। तुम्हें शायद इस चीनी सम्राट् का नाम याद होगा, जो अशोक का समकालीन था। यह वही व्यक्ति है, जिसने 'प्रथम सम्राट्' की उपाधि धारण की थी और सब पुराने ग्रन्थ जलवा दिये थे। शी-ह्वांङ-ती के अत्याचारी तरीक़ों से तंग आकर बहुत-से चीनियों ने कोरिया में आश्रय लिया और की-त्से के कमज़ोर वंशजों को मार भगाया। इसके बाद चोसेन कई छोटे राज्यों में बँट गया, और आठ सौ वर्षों से ज़्यादा तक यही हालत बनी रही। ये राज्य अक्सर आपस में लड़ा करते थे। एक दफ़ा इन राज्यों में से एक ने चीन की मदद माँगी। इस तरह की मदद माँगना ख़तरनाक ही हुआ करता है। मदद आई ज़रूर, लेकिन उसने वापस जाने से इन्कार कर दिया। ताक़तवर मुल्क़ों का यही ढंग होता है। चीन वहाँ डट गया और उसने चोसेन के कुछ हिस्से को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चोसेन का बाक़ी हिस्सा भी कई सौ वर्षों तक चीन के तांङ-सम्राटों की प्रभुता क़बूल करता रहा।

९३५ ई० में चोसेन एक स्वाधीन संयुक्त राज्य बन गया। इस संयुक्त राज्य की स्थापना में सफल होनेवाला व्यक्ति वांङ कीयन था और इसके उत्तराधिकारियों ने ४५० वर्ष तक इस राज्य पर शासन किया।

मैंने दो तीन पैरों में तुम्हें कोरिया के इतिहास के दो हज़ार वर्षों का हाल बता दिया! याद रखने की बात यह है कि कोरिया को चीन की बहुत बड़ी देन है। लिखने की कला यहाँ चीन से आई। एक हज़ार वर्ष तक कोरियावालों ने चीनी लिपि काम में ली। तुम जानती हो कि चीन की लिपि में अक्षर नहीं, बल्कि विचारों, शब्दों और पदों के चिह्न होते हैं। इसके बाद कोरियावालों ने इस लिपि से एक ख़ास लिपि निकाली, जो उनकी भाषा के लिए ज़्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर यहाँ आया और कनफ़्यूशियस की दार्शनिक विचार-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा भी चीन से ही आई। भारतीय कला का प्रभाव चीन होकर कोरिया और जापान पहुँचा। कोरिया में कला की, खासकर मूर्ति-कला की, बहुत सुन्दर कृतियाँ बनीं। इनकी इमारतें बनाने की कला चीनियों से मिलती-जुलती थी। जहाज़ बनाने के काम में भी बड़ी तरक़्क़ी हुई। यहाँतक कि एक बार कोरियावालों के पास एक शक्तिशाली जलसेना हो गई, जिससे उन्होंने जापान पर हमला कर दिया।

शायद मौजूदा जापानियों के पुरखे कोरिया या चोसेन से ही आये थे। सम्भव है, इनमें से कुछ लोग दक्षिण से यानी मलेशिया से आये हों। तुम जानती हो कि जापानी लोग मंगोली नस्ल के हैं। जापान में अब भी कुछ लोग हैं, जिन्हें आइनस कहते हैं और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते हैं। ये लोग गोरे हैं, और इनके शरीर पर बाल भी ज़्यादा होते हैं। साधारण जापानियों से ये बिलकुल जुदे हैं। ये आइनस लोग टापू के उत्तरी हिस्से में धकेल दिये गए हैं।

हम देखते हैं कि २०० ई० के क़रीब जिंगो नाम की एक सम्राज्ञी यामातो राज्य की शासक थी। यामातो जापान का या उसके उस हिस्से का असली नाम है, जहाँ ये प्रवासी आकर बसे थे। इस रानी का जिंगो नाम याद रखने की चीज़ है। जापान के एक सबसे पहले शासक का यह नाम होना एक अनोखा संयोग है। अंग्रेज़ी भाषा में जिंगो शब्द का एक खास अर्थ हो गया है। इसका अर्थ है डींग मारने और शेखी बघारनेवाला साम्राज्यवादी। इसे सिर्फ़ साम्राज्यवादी भी कह सकते हैं, क्योंकि हरेक साम्राज्यवादी थोड़ा-बहुत डींगी और शेखीबाज़ होता ही है। जापान भी आज साम्राज्यवाद या जिंगोवाद के इस रोग में फँसा हुआ है और हाल ही में इसने चीन और कोरिया के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया है। इसलिए जापान के पहले ऐतिहासिक राजा का नाम जिंगो होना एक अनोखी बात है।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना गहरा सम्बन्ध बनाये रक्खा और कोरिया के मार्फ़त ही यामातो में चीनी सभ्यता पहुँची। चीन की भाषा और लिपि भी ४०० ई० के क़रीब कोरिया होकर वहाँ पहुँची थी, और इसी तरह बौद्ध-धर्म भी कोरिया से ही यहाँ आया था। ५५२ ई० में पाकचे (कोरिया के तीन राज्यों में से एक राज्य) के राजा ने यामातो के राजा के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और कुछ धर्म-ग्रन्थों के साथ बौद्ध धर्म-प्रचारक भेजे थे।

जापान का पुराना मज़हब शिन्तो था। शिन्तो चीनी शब्द है। इसका अर्थ है, 'देवताओं का मार्ग'। यह मज़हब प्रकृति-पूजा और पुरखों की पूजा का मेल था। यह परलोक का या रहस्यों और समस्याओं की बातों से दूर है। यह योद्धाओं की जाति का मज़हब था। जापानी लोग चीनियों के इतने नज़दीक, और अपनी सभ्यता के लिए चीन के इतने देनदार होते हुए भी चीनियों से बिलकुल भिन्न हैं। चीनी लोग स्वभाव से ही शान्तिप्रिय रहे हैं, और आज भी हैं। उनकी सारी सभ्यता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जीवन-दर्शन शान्तिमय हैं। इसके खिलाफ़ जापानी एक लड़ाकू क़ौम रहे हैं, और आज भी हैं। वहाँ सिपाही का असली गुण यह माना जाता है कि वह अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफ़ादार हो। जापानी लोगों में यह गुण बराबर रहा है, और उसके बल का बहुत कुछ यही कारण है। शिन्तो इसी गुण पर ज़ोर देता था—"देवताओं का सम्मान करो, और उनके वंशजों के प्रति वफ़ादार रहो"—और इसीलिए शिन्तो आज तक जापान में जीवित है, और बौद्ध-धर्म के साथ-साथ मौजूद है।

लेकिन क्या यह गुण है? साथी या किसी उद्देश्य के प्रति वफ़ादार होना ज़रूर एक गुण है। लेकिन शिन्तो या दूसरे मज़हबों ने अक्सर लोगों की वफ़ादारी से बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश की है, जिससे उनपर शासन करनेवाले एक खास गिरोह के लोगों को फ़ायदा पहुँचे। जापान में और रोम वग़ैरा में यही सिखाया गया कि सत्ता की पूजा करो। और तुम आगे चलकर देखोगी कि इससे सबको कितना नुक़सान पहुँचा है।

नया बौद्ध-धर्म जब जापान में पहुँचा, तो पुराने शिन्तो से उसकी कुछ टक्कर हुई। लेकिन जल्दी ही दोनों साथ-साथ रहने लग गये और आज तक रह रहे हैं। शिन्तो अब भी बौद्ध-धर्म से ज्यादा लोकप्रिय है, और शासक-वर्ग इसे प्रोत्साहन भी देता है, क्योंकि वह वफ़ादारी और फ़रमाबरदारी सिखाता है। बौद्ध-धर्म इससे कुछ खतरनाक है, क्योंकि उसका संस्थापक खुद विद्रोही था।

जापान की कला का इतिहास बौद्ध-धर्म के साथ शुरू होता है। तभी जापान या यामातो ने चीन के साथ सीधे सम्पर्क बढ़ाना शुरू किया था। जापान से चीन को बराबर राजदूत-मण्डल जाते रहते थे, खासकर तांङ-काल में, जबकि चीन की राजधानी सी-आन-फू सारे पूर्वी एशिया में मशहूर थी। जापानियों यानी यामातो-वालों ने खुद एक नई राजधानी नारा के नाम से क़ायम की और इसे सी-आन-फू की हू-ब-हू नक़ल बनाने का प्रयत्न किया। मालूम होता है जापानियों में दूसरों की नक़ल उतारने और अनुकरण करने की अजीब क्षमता हमेशा से रही है।

सारे जापानी इतिहास में हम बड़े-बड़े परिवारों को एक-दूसरे का विरोध करते और अधिकार के लिए झगड़ते देखते हैं। दूसरी जगहों पर भी पुराने ज़माने में तुम्हें ऐसी ही बातें मिलेंगी। इन परिवारों में पुरानी कुल-भावना जमी हुई थी, इसलिए जापान का इतिहास खासतौर पर परिवारों की आपसी होड़ की कहानी है। इनका सम्राट् मिकादो सर्वशक्तिमान, निरंकुश, आधा दैवी और सूर्य का वंशज माना जाता है। शिन्तो ने और पुरखों की पूजा ने जनता से सम्राट् की निरंकुशता क़बूल कराने में बहुत मदद दी और उसे देश के शक्तिशाली लोगों को आज्ञाकारी बना दिया। लेकिन जापान में सम्राट् खुद बहुत करके कठपुतली की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह रहा है और उसके हाथ में कोई असली ताक़त नहीं रही है। सारी शक्ति और सत्ता किसी बड़े परिवार या कुल के हाथ में रही है, जो राजाओं के विधाता थे और अपनी मरज़ी के राजा और सम्राट् बनाया करते थे।

जापान के इतिहास में जो बड़ा परिवार सबसे पहले राज्य की बागडोर संभालता दिखाई देता है, वह सोगा-परिवार है। जब इन लोगों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया, तभी वह दरबारी और सरकारी धर्म बन गया। इस परिवार का एक नेता शोतूकू ताइशी जापानी इतिहास का एक महान् व्यक्ति हुआ है। यह एक सच्चा बौद्ध और प्रतिभाशाली कलाकार था। चीन के कनफ़्यूशियन ग्रन्थों से इसने अपने विचार लिये थे और ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की जिसकी बुनियाद सिर्फ़ बल पर नहीं, बल्कि नैतिकता पर रक्खी गई हो। जापान में उन दिनों ऐसे कुलों की भरमार थी, जिनके सरदार बिलकुल स्वाधीन थे। ये लोग आपस में लड़ते थे और किसी की हुकूमत नहीं मानते थे। सम्राट् अपनी लच्छेदार उपाधि के होते हुए भी सिर्फ़ किसी बड़े कुल का सरदार होता था। शोतूकू ताइशी ने इस हालत को बदलने और केन्द्रीय सरकार को मज़बूत बनाने की कोशिश शुरू कर दी। इसने बहुत-से कुलीन सरदारों और अमीरों को 'ताबेदार' या सम्राट् के मातहती बना दिया। यह ६०० ई० के लगभग की बात है।

लेकिन शोतूकू ताइशी की मृत्यु के बाद सोगा-परिवार हटा दिया गया। थोड़े दिन बाद एक दूसरा व्यक्ति, जो जापानी इतिहास में बहुत मशहूर है, सामने आता है। इसका नाम काकातोमी-नो-कामातोरी था। इसने शासन-व्यवस्था में हर तरह के परिवर्तन किये और बहुत-से चीनी तौर-तरीक़े वैसे-के-वैसे अपना लिये। लेकिन उसने चीन की निराली बात की, यानी सरकारी कर्मचारियों को नियुक्त करने की परीक्षा-प्रणाली की नक़ल नहीं की। सम्राट् की हैसियत अब एक कुल के सरदार से बहुत ऊँची हो गई और केन्द्रीय सरकार बहुत मज़बूत हो गई।

इसी काल में नारा राजधानी बनी। लेकिन यह राजधानी थोड़े ही दिन रही। ७९४ ई० में क्योतो राजधानी बनी और क़रीब ग्यारह सौ वर्षों तक रही। अब कुछ ही वर्ष हुए तोक्यो (टोकियो) ने उसकी जगह ले ली है। तोक्यो एक बहुत बड़ा आधुनिक शहर है, लेकिन वह क्योतो ही है, जो हमें जापान की आत्मा का कुछ परिचय कराती है, क्योंकि उसके साथ एक हज़ार वर्षों की यादगारें जुड़ी हुई हैं।

काकातोमी-नो-कामातोरी फ़ूजीवारा वंश का संस्थापक हुआ। इस वंश ने आगे चलकर जापानी इतिहास में बहुत बड़ा भाग लिया। इस वंश के लोगों ने दो सौ वर्ष राज किया; और सम्राटों को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रक्खा और बहुत बार अपने कुल की लड़कियों से शादी करने के लिए उन्हें मजबूर किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्हें दूसरे परिवारों के योग्य आदमियों का इतना डर रहता था कि उन्हें ज़बर्दस्ती मठों में दाख़िल करा दिया जाता था।

जब राजधानी नारा में थी तब चीन के सम्राट् ने जापानी शासक के पास एक सन्देश भेजा, जिसमें उसे 'ताई-नीह-पुंङ कोक' यानी 'महान् सूर्योदय राज्य' का सम्राट् कहकर सम्बोधित किया गया था। जापानियों को यह नाम बहुत पसन्द आया। यामातो के मुक़ाबले में यह कहीं ज़्यादा शानदार था, इसलिए ये लोग अपने देश को 'दाई निप्पौन', यानी 'सूर्योदय का देश' कहने लगे और अभी तक अपने देश के लिए उनका यही नाम है। जापान शब्द 'निप्पौन' से अजीब तरीक़े पर बिगड़कर बना है। छः सौ वर्ष बाद एक महान् इतालवी यात्री, मार्को पोलो, चीन गया। यह जापान तो नहीं गया, लेकिन इसने अपनी यात्रा-पुस्तक में जापान का हाल लिखा है। इससे चीन में नीह-पुंङ-कोक नाम सुना था। इसने अपनी पुस्तक में इसे 'चिपङ्गो' लिखा और इसीसे जापान शब्द निकला।

क्या मैंने तुम्हें बताया है, या तुम्हें मालूम है, कि हमारा देश इण्डिया और हिन्दुस्तान क्यों कहलाने लगा? ये दोनों नाम इन्दु या सिन्धु नदी के नाम से निकले हैं, जो इस तरह 'हिन्दुस्तान की नदी' बन गई। सिन्धु से यूनानी लोगों ने हमारे देश को 'इन्दो' कहा और इसीसे 'इण्डिया' बना। सिन्धु से ही ईरानियों ने हिन्दू शब्द बनाया और उसीसे हिन्दुस्तान बना।

: ४३ :

हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांङ्

११ मई, १९३२

अब हम फिर भारत वापस चलेंगे। हूणों की हार हो चुकी थी और वे पीछे हटा दिये गए थे। लेकिन बहुत-से हूण इधर-उधर कोनों में बचे रह गये थे। बालादित्य के बाद महान् गुप्त राज-वंश ख़त्म हो गया और उत्तर भारत में बहुत-से रजवाड़े और राज्य बन गये। दक्षिण में पुलिकेशी ने चालुक्य-साम्राज्य क़ायम कर लिया था।

कानपुर से थोड़ी दूर कन्नौज का छोटा-सा क़स्बा है। कानपुर आजकल एक बड़ा शहर है। लेकिन अपने कारख़ानों और चिमनियों की वजह से बदसूरत हो गया है। कन्नौज एक मामूली जगह है, जो गाँव से कुछ ही बड़ा होगा। लेकिन जिस ज़माने का ज़िक्र मैं कर रहा हूँ, उस ज़माने में कन्नौज एक बड़ी राजधानी था, और अपने कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों के लिए मशहूर था। कानपुर तब पैदा ही नहीं हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होनेवाला था!

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कन्नौज आजकल का नाम है। पर इसका असली नाम कान्यकुब्ज यानी 'कुबड़ी कन्या' है। कथा है कि किसी प्राचीन ऋषि ने अपना अपमान हुआ जानकर ग़ुस्से में एक राजा की सौ कन्याओं को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबड़ी हो गई थीं। उस समय से यह शहर, जहाँ ये कन्याएँ रहती थीं, 'कुबड़ी कन्याओं का नगर' यानी कान्यकुब्ज कहलाने लगा।

लेकिन संक्षेप में हम इसे कन्नौज ही कहेंगे। हूणों ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को क़ैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिये हूणों से लड़ने आया। उसने हूणों को तो हरा दिया, लेकिन ख़ुद धोखे से मारा गया। इस पर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। यह बेचारी किसी तरह से निकल कर पहाड़ों में जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतों से परेशान होकर उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया था। कहते हैं कि वह जलने जा ही रही थी कि हर्ष ने उसे ढूँढ़ लिया और बचा लिया।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सज़ा दी। उसने सिर्फ़ इस नीच राजा को ही सज़ा नहीं दी, बल्कि सारे उत्तर भारत को, बंगाल की खाड़ी से अरब समुद्र तक, और दक्षिण में विन्ध्याचल तक, जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य साम्राज्य था और हर्ष को यहाँ रुकना पड़ा।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह ख़ुद कवि और नाटककार था, इसलिए उसके दरबार में कवि और कलाकार जमा हो गये और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, भारत में बहुत कमज़ोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसे हज़म करते जा रहे थे। हर्ष भारत का आख़िरी महान् बौद्ध-सम्राट् हुआ है।

हर्ष के राज-काल में हमारा पुराना मित्र ह्यू एनत्सांङ[1] भारत आया था और उसकी यात्रा-पुस्तक में, जो उसने भारत से लौटकर लिखी थी, भारत का और मध्य-एशिया के उन देशों का, जिनमें होकर वह भारत आया था, बहुत-कुछ हाल मिलता है। ह्यू एनत्सांङ एक धर्मपरायण बौद्ध था और वह बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए भारत आया था। यह गोबी के रेगिस्तान को पार करके आया था, और रास्ते में उसने ताशक़न्द, समरक़न्द, बलख़तुन, यारक़न्द, वग़ैरा कई मशहूर शहरों को देखा था। वह सारे भारत में घूमा और शायद लंका भी गया था। इसकी पुस्तक एक अजीब

---

[1] ह्यू एनत्सांङ—इसे लोग युयेन-चैङ, युआङ्-च्वांग या ह्वान-त्सांङ के नाम से भी पुकारते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चित्ताकर्षक कबाड़खाना है, जिसमें उन देशों का सही-सही चित्रण है, जहाँ-जहाँ वह गया था; भारत के अलग-अलग भागों के निवासियों के विस्मय-जनक चरित्र-चित्र हैं, जो आज भी सही मालूम होते हैं; अद्भुत कहानियाँ हैं, जो उसने यहाँ सुनी थीं; और बुद्ध तथा बोधिसत्वों के चमत्कारों की अनेक कथाएँ हैं। ह्यूएनत्सांङ्ग की लिखी, उस बड़े अक़लमन्द आदमी की मज़ेदार कहानी, जो अपने पेट के चारों तरफ़ तांबे के पत्तर बाँधे फिरता था, मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ।

ह्यूएनत्सांङ्ग ने बहुत वर्ष भारत में बिताये; ख़ासकर नालन्दा के विश्व-विद्यालय में, जो पाटलिपुत्र के पास था। कहते हैं कि नालन्दा में, जो मठ और विश्वविद्यालय दोनों था, दस हज़ार विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह बौद्ध शिक्षा का बड़ा केन्द्र था और ब्राह्मण-शिक्षा के गढ़ बनारस का प्रतिस्पर्धी था।

मैंने एक बार तुमसे कहा था कि पुराना भारत 'इन्दु-देश' यानी चन्द्रमा का देश कहलाता था। ह्यूएनत्सांङ्ग भी इस बात का ज़िक्र करता है और बतलाता है कि यह नाम कितना उपयुक्त है। चीनी भाषा में भी चन्द्रमा को 'इन-तू' कहते हैं। इसलिए अगर तुम चाहो तो अपना चीनी नाम[1] भी रख सकती हो!

ह्यूएनत्सांङ्ग ६२९ ई० में भारत आया। चीन से जब इसने अपनी यात्रा शुरू की तो इसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है कि ह्यूएनत्सांङ्ग रूपवान और लम्बे क़द का था। "उसका रंग मनोहर और आँखें चमकदार थीं; चाल-ढाल गम्भीर और राजसी थी और उसके चेहरे से आकर्षण और तेज बरसता था।...उसमें पृथ्वी को घेरनेवाले विशाल समुद्र जैसी शान थी, और जल में पैदा होनेवाले कमल-जैसी गम्भीरता और चमक थी।"

बौद्ध-भिक्खु का केसरिया बाना पहनकर यह अकेला अपनी ज़बर्दस्त यात्रा पर चल पड़ा, हालाँकि चीनी सम्राट् ने इसे इजाज़त नहीं दी थी। इसने गोबी का रेगिस्तान पार किया और जब यह सब कठिनाइयाँ झेलकर तुरफ़ान के राज्य में पहुँचा, जो इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ़ इसकी जान ही बाक़ी थी। तुरफ़ान का रेगिस्तानी राज्य संस्कृति का छोटा-सा अजीब नखलिस्तान[2] था। आज यह एक वीरान जगह है, जहाँ पुरातत्त्ववेत्ता और प्राचीन इतिहास-वेत्ता पुराने खण्डहरों की तलाश में ज़मीन खोदते फिरते हैं। लेकिन सातवीं सदी में जब ह्यूएनत्सांङ्ग यहाँ से गुज़रा था, तब तुरफ़ान जीवन और ऊँचे दर्जे की संस्कृति से भरपूर था। इसकी संस्कृति में भारत, चीन, ईरान और कुछ अंशों में यूरोप की संस्कृतियों का निराला मेल पाया जाता था। यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार था

---

[1] इन्दिरा का प्यार का नाम 'इन्दु' है।

[2] नखलिस्तान—रेगिस्तान में हरी-भरी जगह।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और संस्कृत के मार्फ़त भारतीय प्रभाव भी साफ़ दिखाई देता था। फिर भी लोगों का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान से लिया हुआ था। खयाल हो सकता है कि यहां के निवासियों की भाषा मंगोली होगी, लेकिन यह मंगोली न होकर भारोपीय[1] थी, और यूरोप की केल्टिक[2] भाषाओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। इससे भी ज्यादा अचम्भे की बात यह है कि यहाँ पत्थर की दीवारों पर जो चित्र खुदे हैं, उनकी आकृतियाँ यूरोपीय लोगों जैसी हैं। दीवारों पर खुदे हुए बुद्ध और बोधिसत्वों, देवियों और देवताओं के ये चित्र बड़े ही सुन्दर हैं। देवियों की मूर्तियाँ या तो भारतीय पोशाक में हैं, या उनके मुकुट और पोशाक यूनानी हैं। फ्रान्स के कला-मर्मज्ञ एम० ग्राउज़े का कहना है कि "इन चित्रों में हिन्दू सुकुमारता, यूनानी अभिव्यंजना और चीनी कमनीयता का बहुत ही सुन्दर मेल पाया जाता है।"

तुरफ़ान अब भी है और तुम इसे नक़शे में देख सकती हो। लेकिन अब यह कोई महत्त्व की जगह नहीं है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवीं सदी में, संस्कृति की भरपूर धाराएँ दूर-दूर के देशों से आकर इस जगह मिलीं, और मिलकर एकरस हो गईं!

तुरफ़ान से ह्यूएनत्सांङ कूचा गया। यह उस ज़माने में मध्य-एशिया का एक दूसरा मशहूर केन्द्र था, जिसकी सभ्यता शानदार व चमक-दमकवाली थी। और जो अपने प्रसिद्ध गायकों और स्त्रियों की सुन्दरता के लिए खासतौर पर मशहूर था। इस देश के धर्म और कला भारत की देन थीं। ईरान इस संस्कृति और व्यापारी माल देता था और इसकी भाषा संस्कृत, पुरानी फ़ारसी, लातीनी और केल्टिक से मिलती-जुलती थी। यह भी एक दिल लुभानेवाली मिलावट थी!

इसके बाद ह्यूएनत्सांङ तुर्कों के मुल्क से होकर गुज़रा, जहाँ का 'महान् खान' जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के ज्यादातर हिस्से पर शासन करता था। इसके बाद वह समरक़न्द पहुंचा, जो उस समय भी एक प्राचीन शहर माना जाता था और जिसके साथ सिकन्दर की यादगार जुड़ी हुई थी; क्योंकि क़रीब एक हज़ार वर्ष पहले सिकन्दर यहां से होकर गुजरा था। फिर वह बलख़ गया और वहां से काबुल नदी का काँठा पार कर कश्मीर होता हुआ भारत आया।

---

[1] भारोपीय—Indo-European अर्थात् भारतीय-यूरोपीय का संयुक्त-पद।

[2] केल्टिक (Celtic)—कई भाषाओं का एक समूह, जो इण्डो-यूरोपियन समूह से सम्बन्ध रखती है और अब प्रधानतः ब्रिटनी वेल्स, पश्चिमी आयर्लेण्ड तथा स्काटलैण्ड के ऊँचे इलाक़ों में बोली जाती हैं। सिमरिक और गेथेलिक नामक इसकी दो शाखाएँ हैं। यह मध्यकाल में गद्य-पद्य के प्रचुर साहित्य से समृद्ध थी। रूप और भावों में आश्चर्यजनक केल्टिक बहुत-कुछ लेटिन और ग्रीक से मिलती-जुलती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह चीन में तांङ-राजवंश के शुरू का ज़माना था जब चीन की राजधानी सी-आन-फू कला और विद्या का केन्द्र थी और सभ्यता में चीन दुनिया के सब देशों से आगे था। इसलिए तुम्हें याद रखना चाहिए कि ह्यू एनत्सांङ बहुत ऊँची सभ्यता के इस देश से आया था, और तुलना करने के लिए उसके पैमाने काफ़ी ऊँचे रहे होंगे। इसीलिए भारत की हालतों के बारे में उसका बयान बहुत महत्वपूर्ण और क़ीमती है। उसने भारतवासियों की और भारत के शासन की बहुत तारीफ़ की है। वह कहता है—

"हालाँकि भारत के साधारण लोग स्वभाव से खुश-मिज़ाज होते हैं, फिर भी वे ईमानदार और इज्ज़तदार हैं। रुपये-पैसे के मामलों में वे मक्कार नहीं हैं और न्याय करने में दयाशील हैं। उनके आचरण में न धोखेबाज़ी है, न विश्वासघात; और ये लोग अपनी क़समों और वादों के पक्के हैं। शासन के नियमों में सिद्धान्तों पर आग्रह विशेषता रखता है, जबकि इसके व्यवहार में सज्जनता और मिठास ज़्यादा रहती है। अपराधियों और विद्रोहियों की संख्या यहाँ बहुत ही कम है और कभी-कभी ही परेशान करती है।"

वह आगे लिखता है—"चूँकि सरकारी शासन का आधार उदार सिद्धान्तों पर है, इसलिए शासन का ढाँचा पेचीदा नहीं है।...लोगों से बेगार नहीं ली जा सकती।" "इस तरह लोगों पर करों का बोझ हलका है और हरेक व्यक्ति से मामूली काम लिया जाता है। हरेक आदमी अपनी सांसारिक सम्पत्ति का शान्ति से उपभोग करता है, और सभी लोग अपनी रोज़ी के लिए ज़मीन जोतते हैं। जो लोग राजा की ज़मीनों पर खेती करते हैं, उन्हें उपज का छठा हिस्सा लगान में देना पड़ता है। वाणिज्य करनेवाले व्यापारी अपने काम-धन्धों के लिए इधर-उधर आते-जाते हैं, और इस तरह सब काम चलते रहते हैं।"

ह्यू एनत्सांङ ने देखा कि जनता के लिए शिक्षा की अच्छी व्यवस्था थी और बच्चों की शिक्षा जल्दी शुरू कर दी जाती थी। पहली पोथी खत्म करने के बाद लड़के या लड़की को सात वर्ष की उम्र से ही पाँच शास्त्रों की पढ़ाई शुरू कर दी जाती थी। आजकल शास्त्र का मतलब सिर्फ़ धर्म-पुस्तक समझा जाता है। लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। वे पाँच शास्त्र ये थे—(१) व्याकरण, (२) कला-कौशल का शास्त्र, (३) आयुर्वेद, (४) न्याय (तर्कशास्त्र) और (५) दर्शन। इन विषयों की पढ़ाई विश्वविद्यालय में होती थी और साधारण तौर पर तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा खयाल है कि बहुत-से लोग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस उम्र तक न पढ़ सकते होंगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्राइमरी शिक्षा काफ़ी फैली हुई थी, क्योंकि सारे भिक्खु और पुजारी शिक्षक हुआ करते थे और इनकी कोई कमी नहीं थी। ह्यू एनत्सांङ पर भारतवासियों के विद्या-प्रेम का बहुत असर पड़ा था और अपनी सारी पुस्तक में वह इस बात का ज़िक्र करता है।

उसने प्रयाग के बड़े कुम्भ-मेले का भी वर्णन किया है। जब तुम इस मेले को कभी फिर देखो तो तेरह सौ वर्ष पहले की ह्यू एनत्सांङ की इस यात्रा का ख़याल करना और यह याद करना कि उस समय भी यह मेला बहुत प्राचीन था और ठेठ वैदिक काल से चला आ रहा था। अतीत परम्परा के इस प्राचीन मेले के मुक़ाबिले में हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर है। इस शहर को ४०० वर्ष से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है, जो हज़ारों वर्षों से लाखों यात्रियों को हर वर्ष गंगा और यमुना के संगम पर खींच लाता है।

ह्यू एनत्सांङ लिखता है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष इस ख़ास हिन्दू मेले में जाया करता था। उसकी तरफ़ से एक शाही आज्ञा-पत्र जारी किया जाता था, जिसमें 'पंच हिन्द' के सब ग़रीबों और मुहताजों को मेले में आकर उसका मेहमान होने की दावत दी जाती थी। किसी सम्राट् के लिए भी इस तरह का निमन्त्रण देना बड़े हौसले का काम था। कहने की ज़रूरत नहीं कि बहुत-से आदमी आते थे और रोज़ क़रीब एक लाख आदमी हर्ष के मेहमान बनकर भोजन करते थे! इस मेले में हर पांचवें वर्ष हर्ष अपने ख़जाने की सारी बचत,—सोना, ज़ेवर, रेशम, वग़ैरा जो कुछ उसके पास होता था, सब बाँट देता था। एक बार उसने अपना राज-मुकुट और क़ीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री से, एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के नाते हर्ष ने खाने के लिए जानवरों की हत्या बन्द करवा दी थी। ब्राह्मणों ने इस पर शायद ज्यादा ऐतराज़ नहीं किया, क्योंकि बुद्ध के बाद से ये लोग दिन-पर-दिन ज्यादा शाकाहारी होने लगे थे।

ह्यू एनत्सांङ की पुस्तक में एक बड़ी मज़ेदार बात है, जो शायद तुम्हें दिलचस्प मालूम हो। वह लिखता है कि भारत में जब कोई आदमी बीमार पड़ता था, तो वह फ़ौरन सात दिन का उपवास कर डालता था। बहुत लोग तो उपवास के दौरान में ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी फिर भी रहती तो दवा लेते थे। उस ज़माने में बीमार पड़ना अच्छी बात नहीं समझी जाती होगी, और न डॉक्टरों की ही ज्यादा माँग रही होगी।

उस ज़माने में भारत में मार्के का एक पहलू यह था कि राजा और सेनाधिकारी विद्वानों और संस्कारवान् लोगों की बहुत इज्ज़त करते थे। भारत में और चीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सोच-विचारकर इस बात की कोशिश की गई, और इसमें खूब सफलता भी हुई, कि विद्या और संस्कृति को इज्ज़त की जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत को नहीं।

भारत में बहुत वर्ष बीतने के बाद ह्यूएनत्साङ्ग फिर उत्तरी पहाड़ों को लाँघता हुआ अपने देश लौट गया। सिन्ध नदी में यह डूबते-डूबते बचा और इसके साथ की बहुत-सी क़ीमती पुस्तकें वह गईं। फिर भी यह हाथ से लिखी बहुत-सी पुस्तकें अपने साथ ले गया था और बहुत वर्षों तक इन पुस्तकों के चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगा रहा। ताङ-सम्राट् ने सि-अन-फू में उसका हृदय से स्वागत किया और इसी सम्राट् के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

इसने तुर्कों का भी हाल लिखा है, जिन्हें इसने मध्य-एशिया में देखा था। यह वह नया क़बीला था, जो आगे चलकर पश्चिम की तरफ़ बढ़कर बहुत-सी सल्तनतों को उलटनेवाला था। इसने यह भी लिखा है कि सारे मध्य-एशिया में बौद्ध विहार पाये जाते थे। सच तो यह है कि बौद्ध विहार ईरान, इराक़, खुरासान, मोसल और ठेठ सीरिया की सरहद तक फैले हुए थे। ईरानियों के बारे में ह्यूएनत्साङ्ग लिखता है—"ईरानी लोग विद्या पढ़ने की परवा नहीं करते, बल्कि अपना सारा वक़्त कला की चीज़ें बनाने में लगाते हैं। जो चीज़ें ये बनाते हैं, आस-पास के देश उनकी बड़ी क़द्र करते हैं।"

उस ज़माने के यात्री कितने अद्भुत होते थे! आजकल की अफ्रीका के भीतरी भागों की या उत्तरी ध्रुव या दक्षिणी ध्रुव की यात्राएँ तक भी पुराने ज़माने की इन लम्बी-चौड़ी यात्राओं के मुक़ाबले में तुच्छ नज़र आती हैं। पहाड़ों और रेगिस्तानों को पार करते हुए और वर्षों अपने मित्रों और परिवार से बिछुड़े हुए ये लोग मंज़िल-दर-मंज़िल आगे बढ़ते जाते थे। शायद कभी-कभी इन्हें अपने घर की याद भी आती थी। लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को ज़बान पर भी नहीं लाते थे। फिर भी एक यात्री ने अपने मन की हल्की-सी झलक हमें दी है। उसने लिखा है कि जब यह एक दूर देश में खड़ा था; उसे अपने घर की याद आई, और वह व्याकुल हो गया। इस यात्री का नाम सुङ्युन था और यह भारत में ह्यूएनत्साङ्ग से सौ वर्ष पहले आया था। वह गान्धार के पहाड़ी देश में था, जो भारत के उत्तर-पश्चिम में है। वह लिखता है—'शीतल मन्द समीर, चिड़ियों के गीत, वसन्त ऋतु के सौन्दर्य में सजे हुए पेड़, बहुत-से फूलों पर फुदकती हुई तितलियाँ'—एक दूर देश में इस मनोहर दृश्य को देखकर सुङ्युन के मन में घर की याद लौट आई और इन विचारों ने उसे इतना उदास कर दिया कि वह बुरी तरह बीमार पड़ गया!

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४४ :

दक्षिण भारत के अनेक राजा और योद्धा और एक महापुरुष

१३ मई, १९३२

सम्राट् हर्ष की ६४८ ई० में मृत्यु हुई। लेकिन उसकी मौत से पहले ही भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर बिलोचिस्तान में एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था। यह छोटा-सा बादल उस भारी तूफ़ान का हरकारा था, जो पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी यूरोप पर चढ़ा आ रहा था। अरब में एक नया पैग़म्बर हो गया था। उसका नाम मुहम्मद था। उसने एक नये मज़हब का प्रचार किया, जिसे इस्लाम कहते हैं। अपने इस नये मज़हबी जोश से भरे हुए और अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा रखते हुए, ये अरब-निवासी मुल्कों को जीतते हुए तेज़ी के साथ महाद्वीपों को पार करते चले आ रहे थे। यह एक अद्भुत साहस का काम था और हमें इस नये बल पर ग़ौर करना चाहिए, जिसने आकर इस दुनिया पर इतना असर डाला। लेकिन इस पर विचार करने से पहले हमें दक्षिण भारत का दौरा करना चाहिए, और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उन दिनों वहाँ की क्या हालत थी। हर्ष के समय में अरबी मुसलमान बिलोचिस्तान पहुँचे, और उन्होंने थोड़े ही दिन बाद सिन्ध पर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन वे वहीं रुक गये और अगले तीन सौ वर्षों तक भारत पर मुसलमानों का कोई नया हमला नहीं हुआ। और फिर जो हमला हुआ भी वह अरबों का काम नहीं था, बल्कि मध्य-एशिया के कुछ क़बीलों का काम था, जो मुसलमान हो गये थे।

इसलिए हम दक्षिण की ओर चलते हैं। भारत के पश्चिम में और मध्य में चालुक्य-साम्राज्य था। इसमें ज़्यादातर महाराष्ट्र के प्रदेश थे और इसकी राजधानी बदामी था। ह्यूएनत्साङ महाराष्ट्रियों की और उनकी दिलेरी की बहुत तारीफ़ करता है। वह लिखता है कि ये लोग "युद्ध-प्रिय और अभिमानी प्रकृति-वाले, उपकार के लिए एहसानमन्द और अपकार का बदला लेनेवाले होते हैं।" चालुक्यों को उत्तर में हर्ष की, दक्षिण में पल्लवों की, और पूर्व में कलिंग की रोक-थाम करनी पड़ती थी। पर इनकी शक्ति बढ़ती गई और ये समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गये। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।

इस तरह दक्षिण भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य और राज्य फूलते-फलते रहे। कभी इनके पलड़े बराबर हो जाते, और कभी उनमें से कोई एक बढ़कर दूसरे को दबा देता। पाण्डय राजाओं के समय में मदुरा संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र था। यहाँ तमिल भाषा के कितने ही कवि और लेखक जमा हो गये थे। तमिल भाषा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कई प्राचीन पुस्तकें ईसवी सन् के शुरू की लिखी हुई हैं। पल्लवों के भी कभी शान के दिन थे। इनकी राजधानी कांचीपुर थी, जिसे आजकल कांजीवरम् कहते हैं। मलेशिया में नया उपनिवेश बसाने में बहुत-कुछ इन्हीं का हाथ था।

इसके बाद चोल-साम्राज्य शक्तिशाली हो गया और नवीं सदी के बीच के लगभग इसने दक्षिण भारत पर प्रभुत्व जमा लिया। यह एक समुद्री शक्ति था, और इसके पास बहुत बड़ी जल-सेना थी, जिससे इसने बंगाल की खाड़ी और अरब सागर पर प्रभुत्व क़ायम कर लिया था। इसका मुख्य बन्दरगाह कावेरी-पड्डिनम् कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। विजयालय चोल-साम्राज्य का पहला महान् राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते गये, पर अन्त में राष्ट्रकूटों ने उन्हें अचानक हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल राज-वंश को फिर से ताक़तवर बनाकर उसकी खोई हुई शान फिर क़ायम कर दी। यह दसवीं सदी के अन्त की बात है, जब उत्तर भारत में मुसलमानों के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो घटनाएँ हो रही थीं, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नहीं पड़ा, और वह अपने साम्राज्य को बढ़ाने की कोशिश में बराबर लगा रहा। उसने लंका को जीता, और चोलों ने वहाँ सत्तर वर्ष राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसी की तरह जबर्दस्त और लड़ाकू था। उसने दक्षिण बर्मा को जीता। इसके लिए वह अपने साथ लड़ाई के हाथियों को जहाज़ों में लादकर ले गया था। उसने उत्तर भारत पर भी धावा मारा और बंगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल-साम्राज्य का विस्तार बहुत फैल गया। गुप्त-साम्राज्य के बाद सबसे बड़ा साम्राज्य यही था। लेकिन यह बहुत दिन तक टिक नहीं सका। राजेन्द्र एक महान् योद्धा था, लेकिन मालूम होता है कि वह बड़ा ज़ालिम भी था, और जिन राज्यों को उसने जीता, उनके दिलों को जीतने की उसने कोशिश नहीं की। राजेन्द्र ने १०१३ ई० से १०४४ ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के बाद बहुत-से अधीन राजाओं के विद्रोह ने चोल-साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

अपनी इन सैनिक सफलताओं के अलावा चोल लोग बहुत दिनों तक अपने समुद्री व्यापार के लिए मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपड़ों की बड़ी माँग थी। उनका बन्दरगाह कावेरीपड्डिनम् बड़े चहल-पहल की जगह था। यहाँ दूर-दूर देशों से माल लेकर जहाज़ आते थे और यहाँ से माल ले जाते थे। वहाँ पर यवनों यानी यूनानियों की भी एक बस्ती थी। महाभारत में भी चोलों का ज़िक्र पाया जाता है।

मैंने दक्षिण भारत के कई सौ वर्षों का हाल, जहाँ तक हो सका संक्षेप में, तुम्हें बताने की कोशिश की है। थोड़े शब्दों में कहने की इस कोशिश से शायद तुम घपले में पड़ जाओगी। लेकिन हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम अलग-अलग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्यों और राजवंशों की भूल-भुलैया में खो जायँ। हमें तो संसार पर विचार करना है और अगर उसके एक छोटे-से हिस्से में ही ज्यादा वक्त गँवा दें, फिर चाहे वह हिस्सा वहीं क्यों न हो जहाँ हम रहते हैं, तो हम बाक़ी हिस्सों का वर्णन कभी पूरा ही न कर सकेंगे।

लेकिन राजाओं और उनकी विजयों से भी ज्यादा महत्वपूर्ण उस समय की संस्कृति और कला का लेखा है। उत्तर भारत की बनिस्बत दक्षिण में कला से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ज्यादा अवशेष पाये जाते हैं। उत्तर की बहुत-सी यादगारें, इमारतें और पत्थर की मूर्तियाँ युद्धों और मुसलमानी हमलों में नष्ट हो गईं। दक्षिण भारत में ये चीज़ें मुसलमानों के पहुँचने के बाद भी बच गईं। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उत्तर भारत की बहुत-सी सुन्दर यादगारें नष्ट कर दी गईं। जो मुसलमान उत्तर भारत में आये—और याद रक्खो कि वे मध्य एशिया के निवासी थे न कि अरब के—उनमें अपने मज़हब के लिये जोश भरा था और वे मूर्तियों को नष्ट कर देना चाहते थे। लेकिन इन मूर्तियों के नष्ट हो जाने की शायद यह भी एक वजह थी कि पुराने मन्दिरों से क़िलों और गढ़ों का काम लिया जाता था। दक्षिण के बहुत-से मन्दिर अब भी क़िलों की तरह मालूम होते हैं, जहाँ लोग हमला होने पर अपना बचाव कर सकते हैं। इस तरह, ये मन्दिर पूजा के अलावा और भी बहुत-से कामों में आते थे। मन्दिरों में ही गाँव के स्कूल होते थे, गाँव की चौपाल होती थी, पंचायतघर होता था, और अन्त में अगर ज़रूरत होती तो दुश्मनों से रक्षा के लिए वे ही क़िले हो जाते थे। इस तरह गाँव की सारी ज़िन्दगी मन्दिर के चारों ओर घूमा करती थी और ऐसी हालत में इन मन्दिरों के पुजारी और ब्राह्मण ही कुदरती तौर पर सबके ऊपर रौब जमाते थे। लेकिन इस बात से कि इन मन्दिरों से कभी-कभी क़िलों का काम भी लिया जाता था, तो हम समझ सकते हैं कि मुसलमान हमलावर मन्दिरों को क्यों नष्ट कर देते थे।

इसी ज़माने का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तंजौर में है, जिसे चोल-सम्राट् राजराजा ने बनवाया था। बदामी में भी बहुत सुन्दर मन्दिर हैं, और कांजीवरम् में भी। लेकिन उस ज़माने की सबसे अद्भुत इमारत वेरूळ (एलोरा) का कैलाश मन्दिर है, जो चट्टान काटकर बनाने की कारीगरी का चमत्कार है। इस मन्दिर को बनाने का काम आठवीं सदी के आखिरी हिस्से में शुरू हुआ था। काँसे की मूर्तियों के भी बहुत-से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें नटराज यानी शिव के ताण्डव-नृत्य की मूर्ति बहुत मशहुर है।

चोल-सम्राट् राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुर में सिंचाई के लिए एक ज़बर्दस्त बाँध बनवाया जो ठोस चूने का था और सोलह मील लम्बा था। बाँध और नहरों के बनने के सौ वर्ष बाद एक अरब यात्री अलबेरूनी वहाँ गया और इन्हें देखकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चकित हो गया। वह लिखता है—"हमारे देशवासी इन्हें देखकर ताज्जुब करते हैं और उनका बयान नहीं कर पाते, इनके समान कोई चीज़ बनाना तो दूर रहा।"

मैंने इस पत्र में कई राजाओं और राजवंशों का ज़िक्र किया है, जिन्होंने कुछ दिन तक शान का जीवन बिताया और फिर ग़ायब और विस्मृत हो गये। लेकिन इसी समय दक्षिण भारत में इससे भी ज्यादा निराले व्यक्ति ने जन्म लिया, जिसने भारत की ज़िन्दगी में सारे राजाओं व सम्राटों से भी ज्यादा महत्व का हिस्सा लिया है। वह नवयुवक शंकराचार्य के नाम से मशहूर है। शायद वह आठवीं सदी के अन्त में पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति था। वह हिन्दू-धर्म के, या हिन्दू-धर्म के एक विशेष बुद्धिवादी रूप के, जिसे शैव मत कहते हैं, पुनरुद्धार में लग गया। वह अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध-धर्म के ख़िलाफ़ लड़ा। बौद्ध-संघ की तरह इसने भी संन्यासियों का संघ बनाया, जिसमें सब जातियों के लोग शामिल हो सकते थे। उसने संन्यासियों के संघ के चार केन्द्र भारत के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व के चारों कोनों में स्थापित किये। उसने सारे भारत की यात्रा की, और जहाँ-कहीं भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता के रूप में बनारस आया। पर वह बुद्धि को जीतनेवाला और तर्क में जीतनेवाला विजेता था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहाँ सदा जमी रहनेवाली बर्फ़ की शुरूआत होती है, और वहीं उसकी मृत्यु हुई। जब वह मरा उसकी उम्र केवल बत्तीस वर्ष या शायद इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शंकराचार्य के कामों का लेखा अद्भुत है। बौद्ध-धर्म, जो उत्तर भारत से दक्षिण भगा दिया गया था, अब भारत से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो गया। हिन्दू-धर्म और शैव-मत कहलानेवाला उसका एक रूप सारे देश में फैल गया। शंकर के ग्रन्थों, भाष्यों और तर्कों से सारे देश में बौद्धिक हलचल मच गई। शंकर सिर्फ़ ब्राह्मणों ही का महान् नेता नहीं बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधारण के चित्त को भी मोह लिया। यह एक असाधारण बात मालूम होती है कि कोई आदमी सिर्फ़ अपनी बुद्धि के बल पर एक महान् नेता बन जाय, और फिर करोड़ों आदमियों पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बड़े योद्धा और विजेता इतिहास में नाम कर जाते हैं। वे या तो लोकप्रिय हो जाते हैं या नफ़रत के पात्र, और कभी-कभी वे इतिहास को भी ढालते हैं। महान् धार्मिक नेताओं ने करोड़ों के दिलों को हिला दिया है और उनमें जोश की आग भर दी है। लेकिन यह सब कुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। उन्होंने भावनाओं को अपील की है और उनपर असर डाला है।

मन और बुद्धि को जो अपील की जाती है, उसका असर बहुत ज्यादा नहीं होता। बदक़िस्मती से ज्यादातर लोग विचार नहीं करते; वे तो सिर्फ़ महसूस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं और अपनी भावनाओं के मुताबिक़ बर्ताव करते हैं। लेकिन शंकर की अपील मन और बुद्धि को और विवेक को ही होती थी। यह किसी पुरानी पुस्तक में लिखे रूढ़ मत का दोहराना नहीं था। उसका तर्क ठीक था या ग़लत, इसका विचार इस समय फ़िज़ूल है। दिलचस्पी की बात तो यह है कि उसने धार्मिक समस्याओं पर बुद्धिवादी तरीक़े से विचार किया। और इससे भी ज़्यादा दिलचस्प बात यह है कि इस तरीक़े के बावजूद भी उसने सफलता पाई। इससे हमें उस समय के शासक-वर्गों की मनोदशा की एक झलक मिलती है।

शायद तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम हो कि हिन्दू दार्शनिकों में एक व्यक्ति चार्वाक नाम का भी हुआ है, जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है; यानी जो कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत-से ऐसे आदमी हैं, ख़ासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लेकिन यहाँ हमें इस सवाल की गहराई में जाने की ज़रूरत नहीं है। मतलब की बात यह है कि पुराने ज़माने में भारत में विचार और प्रचार की कितनी आज़ादी थी। उस वक़्त वह आज़ादी थी जिसे ईमान की आज़ादी कहा जाता है। यह बात यूरोप में अभी तक नहीं थी, और आज भी इस मामले में कुछ पाबन्दियाँ हैं।

शंकर की थोड़ी लेकिन सरगर्म ज़िन्दगी से दूसरी सचाई यह ज़ाहिर होती है कि सारे भारत में सांस्कृतिक एकता थी। यह एकता प्राचीन इतिहास में लगातार मानी गई है। भूगोल के लिहाज़ से, तुम जानती हो, भारत क़रीब-क़रीब एक इकाई है। राजनीतिक लिहाज़ से भारत अक्सर टुकड़ों में बँटा रहा है, हालाँकि कभी-कभी सारा देश एक ही केन्द्रीय सत्ता के अधीन भी रहा। लेकिन संस्कृति के लिहाज़ से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि, इसकी परम्पराएँ, इसके मज़हब, इसके बीर और वीरांगनाएँ, इसकी पौराणिक गाथाएँ, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देशभर में बिखरे हुए इसके तीर्थस्थान, इसकी ग्राम-पंचायतें, इसकी विचारधारा, और इसकी शासन-प्रणाली, शुरू से एक-से चले आ रहे हैं। औसत भारतवासी की नज़र में सारा भारत 'पुण्यभूमि' था और बाक़ी की दुनिया में ज़्यादातर म्लेच्छ और बर्बर लोग रहते थे। इस तरह भारतीयता की एक आम भावना पैदा हुई है, जिसने देश के राजनीतिक विभाजनों की ज़्यादा परवा नहीं की; बल्कि उनपर विजय हासिल की। यह बात ख़ासतौर से इसलिए हो सकी कि गाँवों में पंचायती राज की प्रथा क़ायम रही, ऊपर चाहे जो भी परिवर्तन क्यों न होते रहे हों।

शंकर का अपने मठों यानी संन्यासियों के संघ के आश्रमों के लिए भारत के चारों कोनों को चुनना, इस बात का सबूत है कि वह भारत को सांस्कृतिक इकाई समझता था। और उसके आन्दोलन को थोड़े ही समय में सारे देश में महान्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफलता यह भी ज़ाहिर करती है कि बुद्धिवादी और संस्कृति की धाराएँ कितनी तेज़ी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच जाती थीं।

शंकर ने शैवमत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण में ख़ासतौर से फैला, जहाँ ज़्यादातर पुराने मन्दिर शिव के हैं। उत्तर में गुप्तों के ज़माने में वैष्णवधर्म का और कृष्ण-भक्ति का फिर से भारी प्रचार हुआ। हिन्दू-धर्म के इन दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर एक दूसरे से बिलकुल जुदे हैं।

यह पत्र बहुत बड़ा हो गया। लेकिन मुझे अब भी मध्यकालीन भारत के बारे में बहुत-कुछ कहना बाक़ी है। इसलिए यह काम दूसरे पत्र के लिए मुल्तवी कर देना ठीक होगा।

: ४५ :

मध्य युगों का भारत

१४ मई, १९३२

तुम्हें याद होगा मैंने तुमसे अशोक के दादा चन्द्रगुप्त मौर्य्य के प्रधान मन्त्री चाणक्य या कौटिल्य के लिखे हुए अर्थशास्त्र का ज़िक्र किया था। इस ग्रन्थ में उस ज़माने की शासन-प्रणाली और उस ज़माने के लोगों के बारे में सब तरह की बातें लिखी हैं, मानो एक खिड़की खुल गई हो, जिसमें से हम ईसा पूर्व की चौथी सदी के भारत की एक झाँकी देख सकते हैं। ऐसी पुस्तकें, जिनमें प्रशासन की अन्दरूनी बातों का ब्यौरेवार हाल हो, बादशाहों और उनकी देश-विजयों के बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किये गए बयानों से कहीं ज़्यादा उपयोगी होती हैं।

एक दूसरी भी पुस्तक है, जिससे मध्य युगों के भारत के बारे में हम कुछ अन्दाज़ा लगा सकते हैं। यह शुक्राचार्य का नीतिसार है। वैसे यह पुस्तक इतनी अच्छी और सहायक नहीं, जितना कि अर्थशास्त्र है; लेकिन कुछ इसकी मदद से और कुछ शिलालेखों और दूसरे विवरणों की मदद से, हम ईसा के बाद की नवीं और दसवीं सदी की एक झाँकी देखने की कोशिश करेंगे।

नीतिसार में लिखा है कि "न तो वर्ण से, और न कुलीनता से ब्राह्मणोचित गुण उत्पन्न होते हैं।" इसलिए इस ग्रन्थ के अनुसार जाति-भेद जन्म से नहीं, बल्कि गुण से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमें लिखा है—"राजकीय नियुक्तियाँ करते समय जाति या कुल का नहीं बल्कि कर्म, चरित्र और योग्यता का विचार करना चाहिए।" राजा को चाहिए कि वह ख़ुद अपने मत के अनुसार नहीं बल्कि जनता के बहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज़्यादा शक्तिशाली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जैसे बहुत-से रेशों की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीटने की सामर्थ्य रखती है।"

ये सब बड़े बढ़िया सूत्र हैं और कोरे सिद्धान्तों की तरह आज भी अच्छे हैं। लेकिन सचाई यह है कि व्यवहार में ये हमारे बहुत ज्यादा काम नहीं आ सकते। माना कि गुण और योग्यता से आदमी ऊँचा उठ सकता है, लेकिन वह गुण और योग्यता हासिल कैसे करे? कोई लड़का या लड़की भले ही काफ़ी तेज़ हो और उचित शिक्षा व प्रशिक्षण से चतुर और कुशल भी शायद बन जाय; लेकिन अगर पढ़ने-लिखने या सिखाने का कोई इन्तज़ाम ही न किया जाय तो बेचारा लड़का या लड़की क्या करे?

इसी तरह लोकमत क्या है? किसका मत लोकमत समझा जाय? शायद 'नीतिसार' का लेखक शूद्रों की बड़ी संख्या को मत देने का हक़दार नहीं समझता था। इन लोगों की कोई गिनती नहीं थी। शायद सिर्फ़ ऊँचे और शासक वर्गों का मत ही लोकमत समझा जाता था।

फिर भी यह बात ध्यान देने लायक़ है कि पहले की तरह ही मध्य युगों की भारतीय शासन-प्रणाली में राजाओं की निरंकुशता या उनके दैवी अधिकार के लिए कोई जगह नहीं थी।

इस पुस्तक में राजा की राज्य-परिषद् का, सार्वजनिक निर्माण और पार्कों व जंगलों के अधिकारियों का, क़स्बों व गाँवों के संगठित जीवन का, पुलों, घाटों, धर्मशालाओं, सड़कों और शहर या गाँव के लिए सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण नालियों का भी जिक्र है।

गाँव के मामलों में गाँव की पंचायत को पूरा अधिकार था और राजा के कर्मचारी पंचों की बड़ी इज्ज़त करते थे। पंचायत ही खेती के लिए ज़मीनें देती थी, लगान वसूल करती थी और गाँव की तरफ़ से सरकार को मालगुज़ारी अदा करती थी। इन सबके ऊपर शायद एक बड़ी पंचायत या महासभा होती थी जो इन छोटी पंचायतों की निगरानी करती थी और ज़रूरत पड़ने पर उनके मामलों में दख़ल भी देती थी। इन पंचायतों को अदालती अधिकार भी हासिल थे। ये अदालतों की हैसियत से काम कर सकती थीं और लोगों के मुक़दमों का फ़ैसला कर सकती थीं।

दक्षिण भारत के पुराने शिलालेखों से पता लगता है कि पंचों का चुनाव कैसे होता था, कौन-कौन लोग पंच बन सकते थे और कौन-कौन नहीं। अगर कोई पंच सार्वजनिक धन का हिसाब नहीं देता था, तो वह पंच होने का हक़ खो बैठता था। दूसरा एक बहुत दिलचस्प क़ायदा शायद यह था कि पंचों के नज़दीकी रिश्तेदार नौकरियाँ नहीं पा सकते थे। अगर यही क़ायदा आज हमारी कौंसिलों,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असेम्बिलियों और म्युनसिपैलिटियों में लागू कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो! एक समिति के सदस्यों में एक स्त्री का नाम भी आया है। इससे ज़ाहिर होता है कि स्त्रियाँ भी पंचायतों और उनकी समितियों की सदस्य बन सकती थीं।

पंचायतों के चुने हुए सदस्यों में से समितियाँ बनाई जाती थीं और हरेक समिति साल भर के लिए होती थी। अगर कोई सदस्य बेजा हरकत करता था तो वह फ़ौरन हटा दिया जाता था।

ग्रामीण स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य-शासन-व्यवस्था की बुनियाद थी। इसीकी वजह से उसमें इतनी मज़बूती थी। गाँव की ये पंचायतें अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए इतनी जागरूक थीं कि यह क़ायदा बना दिया गया था कि बिना राजाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गाँव में घुस नहीं सकता था। नीतिसार में लिखा है कि अगर प्रजा राजा से किसी कर्मचारी की शिकायत करे, तो राजा को "चाहिए कि वह अपनी प्रजा का पक्ष ले, न कि अपने कर्मचारी का।" और अगर बहुत-से लोग किसी कर्मचारी की शिकायत करें तो उसे बरख़ास्त कर देना चाहिए, क्योंकि नीतिसार में लिखा है, "अधिकार का मद पीकर किसको नशा नहीं होता?" बुद्धिमानी की ये बातें ख़ासकर आज हमारे देश के उन ढेरों अफ़सरों पर लागू होती दिखाई देती हैं, जो ईमानदारी से काम नहीं करते और हमारे ऊपर बुरी हुकूमत करते हैं!

बड़े शहरों में, जहाँ बहुत-से दस्तकार और व्यापारी रहते थे, व्यापारियों और दस्तकारों के संघ या निकाय होते थे। यानी दस्तकारों और साहूकारों की श्रेणियाँ होती थीं और व्यापारियों के निगम होते थे। धार्मिक संस्थाएँ तो थी ही। इन सब संस्थाओं का अपने अन्दरूनी मामलों पर बहुत काफ़ी नियन्त्रण रहता था।

राजा के लिए यह हिदायत थी कि जनता पर हलके कर लगावे, जिससे उसे नुक़सान न पहुँचे और उसपर भारी बोझ न पड़ जाय। राजा को टैक्स उस तरह वसूल करने चाहिए जैसे माला बनानेवाला जंगल के पेड़ों से फूल और पत्तियाँ चुनता है, जलाकर कोयला बनानेवाले की तरह नहीं।

ऐसा बिखरा हुआ हाल हमें भारत के मध्य युगों के बारे में मिलता है। यह पता लगाना ज़रा मुश्किल है कि पुस्तकों में नीति की जो बातें लिखी हुई हैं, उनपर किस हद तक अमल होता था। पुस्तकों में ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों और आदर्शों की बातें लिखना बहुत आसान होता है, लेकिन ज़िन्दगी में उनपर अमल करना मुश्किल होता है। पर इन पुस्तकों में हमें उस ज़माने के लोगों के आदर्शों और विचारों को समझने में मदद मिलती है, चाहे वे इन पर पूरी तरह अमल न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर पा सके हों। हमें यह पता चलता है कि राजा और शासक निरंकुश नहीं होते थे; चुनी हुई पंचायतें उनके अधिकारों पर नियन्त्रण रखती थीं। हमें यह भी पता चलता है कि गाँवों और शहरों में स्वशासन की प्रणाली काफ़ी उन्नत थी और केन्द्रीय सरकार उसमें कोई दखल नहीं देती थी।

लेकिन जब मैं जनता की विचारधारा की या स्वशासन की बात करता हूँ, तब इसका मतलब क्या है? भारत का सारा समाजी ढाँचा जाति-प्रथा पर बना हुआ था। सिद्धान्त में, सम्भव है, जाति-व्यवस्था कठोर न रही हो और, जैसा कि नीतिसार में लिखा है, गुण और कर्म के अनुसार मानी जाती रही हो; लेकिन अमल में इस सिद्धान्त के कुछ अर्थ नहीं रह गये थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही शासक-वर्ग या शासक जातियाँ थीं। कभी-कभी इनमें आपस में प्रभुता के लिए झगड़े होते थे। लेकिन ज़्यादातर ये लोग मिल-जुलकर शासन करते थे और एक-दूसरे का लिहाज़ रखते थे। पर दूसरी जातियों को ये दबाये रहते थे। धीरे-धीरे जब व्यापार-वाणिज्य बढ़े, व्यापारी वर्ग धनवान और महत्त्वपूर्ण हो गया, और जब इसका महत्व बढ़ा तो इसे कुछ रियायतें मिल गईं और अपनी श्रेणियों के अन्दरूनी मामलों को निबटाने के अधिकार मिल गये। लेकिन फिर भी इस वर्ग को राज्य-सत्ता का कोई असली हिस्सा नहीं मिला। और बेचारे शूद्र तो बराबर सबसे नीचे बने रहे। कुछ लोग इनमें से भी ज़्यादा नीच समझे जाते थे।

कभी-कभी नीची जातियों के लोग भी ऊँचाई पर पहुँच जाते थे। शूद्र राजा तक भी हुए हैं। लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता था। समाजी ज़ीने पर ऊँचा उठने का तरीक़ा अक्सर यह था कि कोई उपजाति सारी-की-सारी एक सीढ़ी ऊपर उठ जाती थी। नये क़बीले पहले नीची जातियों में शामिल होकर हिन्दू धर्म में घुल-मिल जाते थे और फिर धीरे-धीरे ऊँचे उठते जाते थे।

इस तरह तुम देखोगी कि भारत में हालाँकि पश्चिम की तरह मज़दूरों की ग़ुलामी न थी, फिर भी हमारा सारा समाजी ढाँचा दर्जों में बँटा हुआ था, यानी एक के ऊपर एक वर्ग बने हुए थे। ऊपर के सब लोग नीचे दर्जे के लोगों का शोषण करते थे और उसका सारा बोझ इन्हें सहना पड़ता था। और ऊपर के लोग इन बेचारे नीचे के लोगों की शिक्षा का या कोई काम सीखने का मौक़ा ही नहीं आने देते थे ताकि यह व्यवस्था हमेशा बनी रहे और सारे अधिकार उन्हींके हाथ में क़ायम रहें। गाँव की पंचायतों में शायद किसानों की कुछ चलती थी और इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी; लेकिन यह बहुत सम्भव है कि कुछ होशियार ब्राह्मण इन पंचायतों पर भी हावी रहे हों।

आर्यों की यह पुरानी शासन-प्रणाली तबसे चली आती थी, जबसे उन्होंने भारत में क़दम रक्खा और द्रविड़ों के सम्पर्क में आये और यह उन मध्य युगों तक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़ायम रही, जिनका हम ज़िक्र कर रहे हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि गिरावट और कमज़ोरी का सिलसिला बराबर जारी था। शायद यह व्यवस्था जर्जर हो रही थी, और बाहर से होनेवाले विदेशी हमलों ने इसे धीरे-धीरे घिस डाला।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि पुराने ज़माने में भारत ने गणित में बड़ी उन्नति की थी और उस समय के बड़े गणितज्ञों में एक स्त्री—लीलावती का भी नाम लिया जाता है। कहते हैं कि लीलावती और उसके पिता भास्कराचार्य ने, और शायद एक दूसरे व्यक्ति ब्रह्मगुप्त ने, सबसे पहले दाशमिक प्रणाली निकाली थी। बीजगणित भी भारत में ही निकला बताया जाता है। भारत से यह अरब गया, और अरब से यूरोप पहुँचा। बीजगणित का अंग्रेज़ी नाम 'एलजब्रा' अरबी शब्द है।

: ४६ :

शानदार अंकोर और श्रीविजय

१७ मई, १९३२

अब थोड़ी देर के लिए सुदूर भारत की सैर करें। सुदूर भारत उन उपनिवेशों और बस्तियों को कहते हैं जो दक्षिण भारत के लोगों ने मलेशिया और हिन्द-चीन में जाकर क़ायम की थीं। मैं पहले बता चुका हूँ कि ये बस्तियाँ किस तरह इरादा करके व्यवस्थित ढंग से बसाई गई थीं। ये कोई आप-ही-आप नहीं बन गई थीं। इरादा करके कई जगह एक साथ उपनिवेशों का बसाया जाना ज़ाहिर करता है कि उस ज़माने में समुद्र-यात्राएँ खूब होती होंगी और समुद्री रास्तों पर काफ़ी अधिकार रहा होगा। मैंने तुम्हें बताया है कि ये उपनिवेश ईसवी सन् की पहली और दूसरी सदी में शुरू हुए थे। ये सब हिन्दू उपनिवेश थे और इनके नाम दक्षिण भारतीय थे। कई सदियों के बाद यहाँ बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे फैला और सारा मलेशिया हिन्दू से बौद्ध हो गया।

पहले हम हिन्द-चीन को चलें। सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, और यह अनाम में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी में अनाम में पाण्डुरंगम् शहर बढ़ रहा था और यहीं दो सौ वर्ष बाद काम्बोज का भी एक बड़ा शहर बसाया गया। इसमें पत्थर की आलीशान इमारतें और मन्दिर थे। इन भारतीय उपनिवेशों में सब जगहों पर आलीशान इमारतें बन रही थीं। इमारतें बनानेवाले शिल्पकार और राजगीर भारत से समुद्र पार ले जाये गए होंगे और इन लोगों ने वहाँ इमारतें बनाने में भारत की परम्पराओं को जारी रक्खा। जुदा-जुदा राज्यों और टापुओं में इमारतें बनाने के मामले में खूब होड़ चली और इस होड़ के नतीजे से ऊँचे दर्जे की कला का विकास हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन उपनिवेशों में रहनेवाले लोग स्वभाव से ही समुद्र-यात्री थे। इन लोगों ने या इनके पुरखों ने, यहाँ पहुँचने के लिए समुद्र तो पार किया ही था और अब इनके चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र था। समुद्र-यात्री लोग बहुत आसानी से व्यापार करने लगते हैं, इसलिए ये लोग भी व्यापारी और सौदागर हो गये और अपना सौदा बहुत-से टापुओं को, पश्चिम में भारत को और पूर्व में चीन को, ले जाते थे। इसलिए मलेशिया के बहुत-से राज्यों पर ज्यादातर व्यापारी-वर्गों का क़ब्ज़ा था। इन राज्यों में आपस में अक्सर संघर्ष होते रहते थे। बड़े-बड़े युद्ध और हत्याकाण्ड भी होते थे। कभी कोई हिन्दू-राज्य, किसी बौद्ध-राज्य के खिलाफ़ युद्ध छेड़ देता था। लेकिन मालूम होता है कि उस ज़माने के इन बहुत-से युद्धों की असली वजह व्यापारिक होड़ रही होगी। जैसे आजकल बड़ी-बड़ी शक्तियों में अपने-अपने देश के बने माल को खपाने के लिए मण्डियों के लिए युद्ध होते हैं।

लगभग तीन सौ वर्षों तक, यानी आठवीं सदी तक, हिन्द-चीन में तीन अलग-अलग हिन्दू राज्य थे। नवीं सदी में एक बहुत बड़ा राजा हुआ, जिसका नाम जयवर्मन था। इसने इन राज्यों को एक कर दिया और एक बहुत बड़ा साम्राज्य क़ायम किया। यह शायद बौद्ध था। इसने अपनी राजधानी अंकोर को बनाना शुरू किया और इसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। यह काम्बोज़ी साम्राज्य क़रीब ४०० वर्ष तक क़ायम रहा। जैसा सब साम्राज्यों के बारे में कहा जाता है, यह भी बड़ा ताक़तवर और शानदार साम्राज्य समझा जाता था। 'अंकोर थोम' का राजनगर सारे पूर्व में 'शानदार अंकोर' के नाम से मशहूर था। इसकी आबादी दस लाख से ऊपर थी, जो सीज़रों के रोम से ज्यादा थी। इसके पास ही 'अंकोर वात' का अद्भुत मन्दिर था। तेरहवीं सदी में काम्बोज पर कई दिशाओं से हमला हुआ। अनामी लोगों ने पूर्व की ओर से हमला किया और पश्चिम की ओर से यहीं के क़बीलों ने। उत्तर में शान लोगों को मंगोलों ने दक्षिण की ओर खदेड़ दिया था और भागने का कोई दूसरा रास्ता न देखकर इन्होंने काम्बोज पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बराबर लड़ाई करते-करते और अपनी हिफ़ाज़त करते-करते, बिलकुल पस्त हो गया। फिर भी अंकोर पूर्व का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। १२९७ ई० में, एक चीनी दूत ने, जो काम्बोज के राजा के दरबार में भेजा गया था, अंकोर की अद्भुत इमारतों की बड़ी तारीफ़ की है।

लेकिन अचानक अंकोर पर भयंकर आफ़त आ गई। १३०० ई० के क़रीब दलदल जमा हो जाने से मीकांग नदी का मुहाना बन्द हो गया। नदी के पानी को बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के चारों तरफ़ की ज़मीन में भर गया, जिससे सारे उपाजाऊ खेत दलदल बनकर बेकार हो गये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शहर की बड़ी आबादी भूखों मरने लगी और शहर छोड़कर दूसरी जगहों पर जाने के लिए मजबूर हो गई। इस तरह शानदार अंकोर उजड़ गया और उस पर जंगल छा गया। उसकी अद्भुत इमारतों में कुछ दिनों तक तो जंगली जानवरों का वास रहा, लेकिन अन्त में जंगलों ने महलों को मिट्टी में मिलाकर निष्कण्टक राज्य क़ायम कर लिया।

काम्बोज राज्य इस आफ़त के बाद बहुत दिनों तक ज़िन्दा नहीं रह सका। वह धीरे-धीरे नष्ट होते-होते एक प्रान्त रह गया जिस पर कभी अनाम हुकूमत करता था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अंकोरवात के विशाल मन्दिर के खण्डहर हमें बतातें हैं कि कभी इस मन्दिर के पास एक बाँका और आलीशान शहर बसा हुआ था, जहाँ दूर देशों के सौदागर अपना माल लेकर आते थे और जहाँ के निवासियों और कारीगरों की बनाई हुई बढ़िया चीज़ें दूसरे देशों को जाया करती थीं।

हिन्द-चीन से थोड़ी ही दूर समुद्र के उस पार सुमात्रा का टापू था। यहाँ भी दक्षिण भारत के पल्लवों ने ईसा की पहली और दूसरी सदी में अपने नये उपनिवेश बसाये थे। ये उपनिवेश धीरे-धीरे बढ़ गये। मलाया का प्रायद्वीप बहुत पहले ही सुमात्रा राज्य का हिस्सा बन गया था और उसके बाद बहुत दिनों तक सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप के इतिहास आपस में मिले-जुले रहे। श्रीविजय नामक बड़ा शहर, जो सुमात्रा के भीतर पहाड़ों में बसा हुआ है, इस राज्य की राजधानी था। पालेमबांग नदी के मुहाने पर इसका एक बन्दरगाह था। पाँचवीं या छठी सदी में बौद्धधर्म सुमात्रा का प्रमुख धर्म बन गया। वास्तव में सुमात्रा ने बौद्धधर्म के प्रचार में बड़े उत्साह से अगुवाई की और आख़िर में यह हिन्दू मलेशिया के ज़्यादातर हिस्से को बौद्ध बनाने में सफल भी हुआ। इसीलिए सुमात्रा का यह साम्राज्य 'श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य' कहलाता है।

श्रीविजय दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि उसके दायरे में सुमात्रा और मलाया ही नहीं, बल्कि फ़िलीपाइन, बोर्नियो, सेलेबीज़, जावा का आधा हिस्सा, फ़ारमोसा टापू का आधा हिस्सा (जो अब जापान के क़ब्ज़े में हैं),[1] लंका और कैन्टन के पास दक्षिण चीन का एक बन्दरगाह भी आ गया। शायद इस साम्राज्य में भारत के दक्षिणी सिरे पर लंका के सामने का एक बन्दरगाह भी शामिल था। तुम देखोगी कि श्रीविजय का साम्राज्य एक लम्बा-चौड़ा साम्राज्य था, जिसमें सारा मलेशिया शामिल था। इन भारतीय उपनिवेशों के मुख्य धन्धे थे वाणिज्य, व्यापार और जहाज़ बनाना। उस ज़माने के चीनी और अरबी लेखकों

---

[1] फ़ारमोसा—इसे ताइवान भी कहते हैं। यहाँ की सरकार अपने-आपको असली चीनी गणराज्य मानती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने उन बन्दरगाहों और उपनिवेशों की लम्बी सूचियाँ दी हैं जो सुमात्रा राज्य की मातहती में थे। ये सूचियाँ बढ़ती चली गईं।

ब्रिटिश साम्राज्य आज सारी दुनिया में फैला हुआ है। हर जगह उसके बन्दरगाह हैं और जहाज़ों के लिए कोयला भरने के अच्छे स्टेशन हैं, जैसे जिब्राल्टर, स्वेज़ नहर, जिस पर ज़्यादातर अंग्रेज़ों का, क़ब्ज़ा है, [1]अदन, कोलम्बो,[2] सिंगापुर[3] हांगकांग, वग़ैरा। अंग्रेज़ लोग पिछले तीन सौ वर्षों में एक व्यापारी क़ौम रहे हैं और इनका व्यापार और मज़बूती समुद्री शक्ति पर निर्भर रही है। इसलिए इन लोगों को दुनिया भर में सुविधा के फ़ासलों पर बन्दरगाहों और कोयला भरने के स्टेशनों की ज़रूरत रही है। श्रीविजय साम्राज्य भी व्यापार की बुनियाद पर एक समुद्री शक्ति था। इसलिए जहाँ उसे क़दम रखने के लिए छोटी-सी भी जगह मिल गई वहीं उसने बन्दरगाह बना लिया। वास्तव में सुमात्रा-राज्य की बस्तियों की निराली बात यह थी कि वे सामरिक महत्व रखती थीं, यानी वे होशियारी के साथ ऐसी जगहों पर बसाई गई थीं जहाँ से आस-पास के समुद्रों पर क़ाबू रक्खा जा सके। कहीं-कहीं ये बस्तियाँ जोड़े से बसाई गई थीं, ताकि समुद्रों पर क़ाबू रखने में एक दूसरी की मदद कर सकें।

इस तरह सिंगापुर, जो आज बहुत बड़ा शहर है, शुरू में सुमात्रा के उपनिवेशियों की एक बस्ती था। 'सिंहपुर' : यह नाम ठेठ भारतीय है। जलडमरूमध्य के उस पार सिंगापुर के सामने सुमात्रा के लोगों की एक दूसरी बस्ती भी थी। कभी-कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के आर-पार लोहे की जंज़ीर डाल देते थे और सब जहाज़ों का आना-जाना रोक देते थे, जब तक कि वे भारी चुंगी अदा न कर देते।

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य से कुछ मिलता-जुलता था, हालाँकि यह इससे बहुत छोटा ज़रूर था। लेकिन यह जितने दिनों तक क़ायम रहा उतने दिनों तक ब्रिटिश साम्राज्य के बने रहने की सम्भावना नहीं है। ग्यारहवीं सदी में यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आख़िरी सीढ़ी पर था। यह क़रीब-क़रीब वही ज़माना था जब दक्षिण भारत में चोल-साम्राज्य का बोलबाला था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल-साम्राज्य के बहुत समय बाद तक भी बना रहा। इन दोनों में बहुत दिनों तक दोस्ती रही। दोनों ही लड़ाकू समुद्र-यात्री लोगों के राज्य थे। दोनों की ही साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ थीं और ताक़तवर जल-सेनाएँ

---

[1] अब स्वेज़ नहर पर संयुक्त अरब गण-राज्य का अधिकार हो गया है।

[2] लंका के स्वतन्त्र हो जाने के कारण कोलम्बो पर से भी अंग्रेज़ों का अधिकार ख़त्म हो गया है।

[3] सिंगापुर को भी १९५९ में औपनिवेशिक स्वराज्य दिया गया है। इसका असली नाम सिंहपुर है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थीं। दूर-दूर के देशों के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे। इसलिए ग्यारहवीं सदी के शुरू में इन दोनों में संघर्ष हुआ और युद्ध ठन गया। चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने एक जहाज़ी बेड़ा भेजा, जिसने श्रीविजय को नीचा दिखाया। लेकिन श्रीविजय ने जल्दी ही इस धक्के से गिरी हुई हालत को सुधार लिया।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में चीनी सम्राट् ने सुमात्रा के राजा के लिए काँसे के कई घण्टे उपहार में भेजे थे। इसके बदले में सुमात्रा के राजा ने मोती, हाथीदाँत और संस्कृत की पुस्तकें भेजी थीं। एक पत्र भी भेजा था जो, कहते हैं, सोने की चादर पर 'भारतीय लिपि' में लिखा गया था।

दूसरी सदी में अपनी शुरूआत से लगाकर पाँचवीं या छठवीं सदी तक श्रीविजय लम्बे काल तक फूला-फला। फिर यह बौद्ध हो गया और फिर ग्यारहवीं सदी तक धीरे-धीरे बराबर तरक्की करता गया। इसके बाद भी तीन सौ वर्षों तक यह एक महान् साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-वाणिज्य पर इसका अधिकार बना रहा। अन्त में १३७७ ई० में एक पुराने पल्लव उपनिवेश ने इसका तख्ता उलट दिया।

मैं बता चुका हूँ कि श्रीविजय-साम्राज्य लंका से लगाकर चीन के कैन्टन नगर तक फैला हुआ था। इन दोनों के बीच के ज्यादातर टापू इस साम्राज्य में शामिल थे। लेकिन यह एक छोटे-से टुकड़े को क़ाबू में नहीं ला सका। यह जावा का पूर्वी हिस्सा था, जो एक स्वाधीन राज्य बना रहा। इसने हिन्दू-धर्म को भी नहीं छोड़ा और बौद्ध बनने से इन्कार कर दिया। इस तरह जहाँ पश्चिमी जावा श्रीविजय के अधीन था वहाँ पूर्वी जावा स्वाधीन था। पूर्वी जावा का यह हिन्दू-राज्य भी व्यापारी राज्य था और अपनी खुशहाली के लिए व्यापार पर निर्भर था। यह सिंगापुर को ईर्ष्या की नज़र से देखता रहा होगा, क्योंकि मौक़े की जगह पर बसा होने से वह एक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र हो गया था। इस तरह श्रीविजय और पूर्वी जावा में लाग-डाँट पैदा हुई और बढ़कर कट्टर दुश्मनी बन गई। बारहवीं सदी से आगे जावा राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढ़ता रहा, यहाँ तक कि, जैसा मैं लिख चुका हूँ, चौदहवीं सदी में, यानी १३७७ ई० में, इसने श्रीविजय को पूरी तरह हरा दिया। यह युद्ध बड़ी बेरहमी से लड़ा गया, और इसमें बड़ा विनाश हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर, दोनों नगर तहस-नहस हो गये। इस तरह मलेशिया के दूसरे महान् साम्राज्य—श्रीविजय साम्राज्य का अन्त हुआ, और इसके खण्डहरों पर मज्जापहित का तीसरा साम्राज्य क़ायम हुआ।

हालाँकि पूर्वी जावा के निवासियों ने श्रीविजय के साथ युद्ध में बहुत बेरहमी और क्रूरता दिखाई, फिर भी जावा में पाई गई उस ज़माने की पुस्तकों से मालूम होता है कि यह हिन्दू-राज्य सभ्यता के बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुका था। जिस बात में यह सबसे बढ़ा-चढ़ा था वह इमारतें बनाने की, खासकर मन्दिर बनाने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की, कला थी। जावा में पाँच सौ से ज्यादा मन्दिर थे, और कहा जाता है कि इन मन्दिरों में कुछ ऐसे थे, जो पत्थर के काम के दुनिया भर में सबसे ज्यादा सुन्दर और कलापूर्ण नमूने थे। इन बड़े-बड़े मन्दिरों में से ज्यादातर सातवीं सदी से दसवीं सदी, यानी ६५० से ९५० ई० के बीच के समय में बने थे। इन विशाल मन्दिरों को बनवाने के लिए जावा के लोगों ने भारत और आस-पास के देशों से बहुत काफ़ी संख्या में होशियार राजगीर और मिस्त्री बुलाये होंगे। जावा और मज्जापहित के उतार-चढ़ाव का ज़िक्र मैं अगले पत्र में करूँगा।

यहाँ मैं यह भी बता दूँ कि बोर्नियो और फ़िलीपाइन दोनों ने लिखने की कला शुरू के पल्लव उपनिवेशियों के मार्फ़त भारत से सीखी थी। बदक़िस्मती से फ़िलीपाइन की बहुत-सी पुरानी हस्त-लिखित पुस्तकें स्पेनवालों ने नष्ट कर डालीं।

यह भी याद रक्खो कि इन टापुओं में बहुत पुराने ज़माने से, इस्लाम से भी बहुत पहले, अरबों की बस्तियाँ थीं। ये लोग बड़े व्यापारी होते थे, और जहाँ कहीं व्यापार की गुंजाइश होती वहाँ अरब लोग ज़रूर पहुँच जाते थे।

: ४७ :

रोम फिर अन्धकार में गिरता है

१९ मई, १९३२

मैं कई बार महसूस करता हूँ कि पुराने इतिहास की भूल-भुलैया में तुम्हें अच्छी तरह रास्ता नहीं दिखा सकता। मैं ख़ुद ही भटक जाता हूँ, फिर तुम्हें ठीक राह कैसे दिखा सकता हूँ? लेकिन, फिर मैं यह सोचता हूँ कि शायद मैं तुम्हें कुछ फ़ायदा पहुँचा सकूँ, इसलिए इन पत्रों को जारी रखता हूँ। इसमें शक नहीं कि ये पत्र मेरी तो बहुत मदद करते हैं। प्यारी बेटी, जब मैं इन्हें लिखने बैठता हूँ, और तुम्हारा ख़याल करता हूँ, तो मैं भूल जाता हूँ कि जहाँ मैं बैठा हूँ, वहाँ छाया में भी तापमान ११२ डिग्री है और गर्म लू चल रही है। और कभी-कभी तो मैं यह भी भूल जाता हूँ कि मैं बरेली की ज़िला जेल में हूँ।

मेरे आख़िरी पत्र ने तुम्हें मलेशिया में चौदहवीं सदी के ठेठ अन्त तक पहुँचा दिया था। लेकिन उत्तर भारत में अभी हम राजा हर्ष के ज़माने यानी सातवीं सदी से आगे नहीं बढ़ सके हैं। और यूरोप में तो हमें अभी बहुत दिनों की कमी पूरी करनी है। सब जगहों पर वक़्त का एक ही पैमाना रखना बहुत मुश्किल है। मैं ऐसा करने की कोशिश तो करता हूँ, लेकिन कभी-कभी, जैसे अंकोर और श्रीविजय के मामले में हुआ, मैं सैकड़ों वर्ष आगे बढ़ जाता हूँ, ताकि मैं उनकी कहानी को पूरा कर सकूँ। लेकिन याद रक्खो कि जब काम्बोज के और श्रीविजय के साम्राज्य पूर्व में फल-फूल रहे थे तब भारत, चीन और यूरोप में तरह-तरह के परिवर्तन हो रहे थे। यह भी याद रक्खो कि मेरे पिछले पत्र में कुछ ही पन्नों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्द-चीन और मलेशिया का एक हज़ार वर्ष का इतिहास समाया हुआ है। एशिया और यूरोप के इतिहास की मुख्य धाराओं से ये दूर पड़ जाते हैं, इसलिए इनपर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता। लेकिन इनका इतिहास लम्बा और शानदार है। इनकी शान नई सफलताओं में, व्यापार में, कला में, ख़ासकर मकान बनाने की कला में, रही है। इसलिए इनका इतिहास अध्ययन करने के क़ाबिल है। भारत-वासियों के लिए तो इनकी कहानी ख़ास दिलचस्पी की चीज़ होनी चाहिए, क्योंकि उस ज़माने में ये क़रीब-क़रीब भारत के ही हिस्से थे। भारत के स्त्री-पुरुष समुद्र पार करके अपने साथ भारतीय संस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म वहाँ ले गये थे।

इस तरह, हालाँकि, हम मलेशिया में आगे बढ़ गये, पर असल में हम अभी तक सातवीं सदी में ही हैं। हमें अभी अरब पहुँचना है और इस्लाम के आगमन पर, और उसकी वजह से यूरोप और एशिया में होनेवाले बड़े-बड़े परिवर्तनों पर, ग़ौर करना है। इसके अलावा यूरोप की घटनाओं के सिलसिले पर भी हमें नज़र डालनी है।

अब हमें ज़रा लौटकर यूरोप पर फिर एक नज़र डाल लेनी चाहिए। तुम्हें याद होगा कि रोमन सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन ने क़ुस्तुन्तुनिया शहर दर्रे-दानियाल (बास्फ़ोरस) के किनारे उस जगह बसाया था, जहाँ बिज़ैन्तियम था। साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से हटा कर, वह इस शहर में, यानी नये रोम में, ले आया था। इसके बाद ही रोमन साम्राज्य दो हिस्सों में बँट गया। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की क़ुस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को बड़ी परेशानियाँ उठानी पड़ीं और बहुत-से दुश्मनों का मुक़ाबला करना पड़ा। फिर भी ताज्जुब है कि यह सदियों तक, यानी ११०० वर्षों तक चलता रह सका, जबतक कि तुर्कों ने आकर इसका ख़ात्मा नहीं कर दिया।

पश्चिमी साम्राज्य की ज़िन्दगी ऐसी नहीं रही। बहुत दिनों तक पश्चिमी दुनिया पर हावी रह चुकनेवाले शाही नगर रोम का और रोम के नाम का इतना ज्यादा रौब होते हुए भी यह साम्राज्य अजीब तेज़ी के साथ ढह गया। यह किसी भी उत्तरी क़बीले के हमलों को बर्दाश्त नहीं कर सका। एलरिक, जो गोथ जाति का था, इटली में घुस गया, और इसने ४१० ई० में रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद वाण्डाल आये और उन्होंने भी रोम को लूटा। वाण्डाल जर्मन जाति के थे। इन्होंने फ्रान्स और स्पेन को पार किया और फिर अफ्रीका में घुसकर कार्थेज के ख़ण्डहरों पर अपना राज्य क़ायम किया। पुराने कार्थेज से इन लोगों ने समुद्र पार करके रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया। ऐसा मालूम होता है, मानों प्यूनिक लड़ाइयों में रोम की विजय का इतने दिन बाद बदला लिया गया हो।

इसी ज़माने के लगभग हूण लोग, जो असल में मध्य एशिया या मंगोलिया से आये थे, बड़े शक्तिशाली हो गये थे। ये लोग घुमक्कड़ थे और डैन्यूब नदी के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व की तरफ़ और पूर्वी रोमन साम्राज्य के उत्तर व पश्चिम में बस गये थे। अपने सरदार अतिला की मातहती में इन्होंने बड़ा ज़ोर बाँधा और क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् और वहाँ की सरकार पर इनका आतंक बराबर छाया रहता था। अतिला इनको धमकियाँ देता रहता था और इनसे बड़ी-बड़ी रक़में ऐंठता रहता था। पूर्वी साम्राज्य को काफ़ी नीचा दिखाने के बाद अतिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर हमला करने का इरादा किया। उसने गाल प्रदेश पर हमला किया और दक्षिणी फ्रान्स के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फ़ौज तो उसके मुक़ाबले में ठहरती ही नहीं थी। लेकिन वे जर्मन क़बीले जिन्हें रोमन लोग बर्बर कहते थे, हूणों के इस हमले से डर गये। इसलिए फ़्रैंकों और गोथों ने रोम की शाही फ़ौज का साथ दिया और इन सबने मिलकर त्राय की बड़ी लड़ाई में हूणों का, जिनका सेनापति अतिला था, मुक़ाबला किया। कहते हैं, इस लड़ाई में डेढ़ लाख आदमी काम आये। अतिला हार गया और मंगोली हूण पीछे हटा दिये गए। यह ४५१ ई० की बात है। लेकिन हार जाने पर भी अतिला में लड़ाई का जोश बाक़ी रह गया था। वह इटली पहुँचा और वहाँ उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनों बाद ही वह मर गया, लेकिन हमेशा के लिए बेरहमी और क्रूरता की बदनामी छोड़ गया। आज भी अतिला हूण क्रूरतामरे, सत्यानाश का अवतार समझा जाता है। उसकी मृत्यु के बाद हूण ठण्डे पड़ गये। वे खेतीबाड़ी करने लगे, और दूसरी बहुत-सी आबादियों में मिल-जुल गये। तुम्हें ख़याल होगा कि यह क़रीब-क़रीब वह ज़माना है, जब सफ़ेद हूण भारत में आये थे।

इसके ४० वर्ष बाद थियोदोरिक, जो गोथ था, रोम का बादशाह हुआ और यही एक तरह से रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोड़े दिनों बाद पूर्वी रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्तीनियन था, इटली को अपने साम्राज्य में मिलाने की कोशिश की। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ। उसने सिसली और इटली दोनों को जीत लिया। लेकिन कुछ ही समय बाद ये दोनों उसके हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही ज़िन्दगी के लाले पड़ गये।

क्या शाही रोम और उसके साम्राज्य का इतनी जल्दी और इतनी आसानी से हरेक हमलावर क़बीले के सामने पस्त हो जाना ताज्जुब की बात नहीं है? इससे कोई यही नतीजा निकालेगा कि रोम के अंजर-पंजर ढीले पड़ गये थे, या वह बिल-कुल खोखला था। शायद यह बात सही है। बहुत लम्बे ज़माने तक रोम का रौब ही उसकी ताक़त थी। उसके पुराने इतिहास से प्रभावित होकर लोग उसे सारी दुनिया का नेता समझने लगे थे और उसकी इज़्ज़त करते थे। रोम का डर क़रीब-क़रीब अन्ध-विश्वास बन गया था। इस तरह रोम ज़ाहिरा तौर पर साम्राज्य का शक्तिशाली स्वामी बना रहा; लेकिन असलियत में उसके पीछे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई ताक़त नहीं थी। बाहर से शान्ति थी और उसके नाटकघरों में, बाज़ारों में और अखाड़ों में आदमियों की भीड़ें लगी रहती थीं! लेकिन वह लाज़िमी तौर पर पतन की तरफ़ जा रहा था, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि वह कमज़ोर था; बल्कि इसलिए भी कि उसने जनता की ग़ुलामी और मुसीबतों की बुनियाद पर अमीरों की सभ्यता का महल खड़ा किया था। मैंने अपने एक पत्र में रोम के ग़रीबों के विद्रोह और बलवे का, और ग़ुलामों के उस विद्रोह का, जो बड़ी क्रूरता से दबा दिया गया था, हाल लिखा था। इन विद्रोहों से ज़ाहिर होता है कि रोम का समाजी ढाँचा कितना सड़ा हुआ था। वह अन्दर-ही-अन्दर टूक-टूक हो रहा था। गोथ और दूसरे उत्तरी क़बीलों के हमलों ने इस क्रिया को मदद पहुँचाई और इसीलिए उनका कोई विरोध नहीं किया गया। रोमन किसान अपनी मुसीबतों से तंग आ गये थे और वे किसी भी तरह के परिवर्तन का स्वागत करने के लिए तैयार थे। ग़रीब मज़दूर और ग़ुलाम तो और भी बदतर हालत में थे।

पश्चिम के रोमन साम्राज्य के ख़त्म होते ही, हम देखते हैं कि पश्चिम की कई क़ौमें गोथ, फ़्रैंक, वग़ैरा आगे आईं, जिनके नाम गिनाकर मैं तुम्हें परेशान न करूँगा। ये लोग आजकल की पश्चिमी यूरोपीय जातियों यानी जर्मन, फ्रान्सीसी, वग़ैरा के पूर्वज थे। हम इन देशों को यूरोप में धीरे-धीरे शक़्ल लेता हुआ देखते हैं। साथ ही हम उस समय वहाँ एक बहुत नीचे दर्जे की सभ्यता पाते हैं। शाही रोम के अन्त के साथ-साथ रोम की तड़क-भड़क और विलासिता का भी अन्त हो गया, और रोम की छिछली सभ्यता, जो घिसटती आ रही थी, एक दिन में ग़ायब हो गई; क्योंकि इसकी जड़ें तो पहले ही सूख चुकी थीं। इस तरह हम सचमुच मनुष्य जाति के पीछे हटने की एक विचित्र मिसाल देखते हैं। यही चीज़ हमें भारत, मिस्र, चीन, यूनान, रोम और दूसरी जगहों पर देखने को मिलती है। मेहनत के साथ ज्ञान और अनुभव इकट्ठे किये जाते हैं और संस्कृति और सभ्यता बनती है और उसके बाद एकदम गति रुक जाती है। सिर्फ गति ही नहीं रुक जाती बल्कि पीछे लौटना शुरू हो जाता है। अतीत के ऊपर एक परदा-सा पड़ जाता है और हालाँकि कभी-कभी हमें उसकी झलक मिल जाती है, लेकिन ज्ञान और अनुभव के पहाड़ पर फिर से चढ़ना ज़रूरी हो जाता है। शायद हर बार लोग कुछ ऊपर चढ़ जाते हैं और आगे की चढ़ाई आसान कर देते हैं; ठीक वैसे ही जैसे हिमालय की सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट पर चढ़ाई करने के लिए टोली के बाद टोली आती है, और हर टोली अपने पहलेवाली टोली की बनिस्बत चोटी के ज़्यादा नज़दीक पहुँचने में सफल होती है, और हो सकता है कि एक दिन इस चोटी पर विजय हासिल कर ली जाय।

मतलब यह है कि यूरोप में हमें अँधेरा दिखाई देता है। 'अन्धकार का युग' शुरू होता है और लोगों की ज़िन्दगी असभ्य और बेढंगी हो जाती है। शिक्षा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़रीब-क़रीब ग़ायब हो जाती है और लड़ाई के सिवा लोगों का कोई धन्धा या मनोरंजन नहीं रह जाता। सुक़रात और अफ़लातून का ज़माना वास्तव में बहुत दूर नज़र आता है।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी साम्राज्य पर भी नज़र दौड़ायें। तुम्हें याद होगा कि कॉन्स्तेन्तीन ने ईसाइयत को राज-धर्म बना दिया था। इसके एक उत्तराधिकारी सम्राट् जूलियन ने ईसाइयत को मानने से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओं की पूजा के रास्ते पर वापस जाना चाहता था। लेकिन वह सफल न हो सका क्योंकि पुराने देवी-देवताओं के दिन बीत चुके थे और ईसाइयत उनके मुक़ाबले में बहुत ज़्यादा ताक़तवर थी। जूलियन को ईसाई लोग 'काफ़िर जूलियन' कहने लगे और इसी नाम से वह इतिहास में मशहूर है।

जूलियन के बाद एक दूसरा सम्राट् हुआ, जो उससे बिलकुल दूसरी क़िस्म का था। उसका नाम थियोदोसी था और उसे 'महान्' कहा गया है। मेरे ख़याल से उसे महान् इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओं की पुरानी मूर्तियों और पुराने मन्दिरों को तोड़ने में महान् था। वह सिर्फ़ ग़ैर-ईसाइयों के ही ख़िलाफ़ नहीं था, बल्कि उन ईसाइयों का भी दुश्मन था, जो इसके ख़याल से कट्टर नहीं थे। वह कोई भी विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे सहन करने को तैयार नहीं था। थियोदोसी ने थोड़े दिनों के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य को जोड़ दिया और वह दोनों का सम्राट् बन गया। यह ३९२ ई० की बात है, जबतक रोम पर बर्बरों का हमला नहीं हुआ था।

ईसाई मज़हब बराबर फैलता गया। इसकी लड़ाइयाँ अब ग़ैर-ईसाइयों से नहीं थीं। जो कुछ लड़ाई-झगड़े होते थे, वे सब ईसाई फ़िरक़ों में आपस में ही हुआ करते थे और इन लोगों की असहिष्णुता की मात्रा को देखकर ताज्जुब होता है। सारे उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया, और यूरोप में भी, बहुत-से लड़ाई के मैदानों में ईसाइयों ने, अपने ईसाई भाइयों को घूँसों, डण्डों और समझाने के इसी तरह के दूसरे 'नर्म' उपायों के ज़रिये सच्चा धर्म सिखाने की कोशिश की!

५२७ से ५६५ ई० तक जस्तीनियन क़ुस्तुन्तुनिया में सम्राट् रहा। मैं पहले बता चुका हूँ कि उसने गोथों को इताली (इटली) से निकाल दिया था और कुछ दिनों के लिए इताली और सिसली पूर्वी साम्राज्य के हिस्से बन गये थे। पर बाद में गोथों ने इताली पर क़ब्ज़ा कर लिया।

जस्तीनियन ने क़ुस्तुन्तुनिया में सांक्ता सोफ़िया का ख़ूबसूरत गिरजा बनाया जो आज तक सबसे बढ़िया बिज़ैन्तीन गिरजों में गिना जाता है। इसने उस वक़्त के तमाम क़ानूनों को एक जगह इकट्ठा कराया और योग्य वकीलों से उन्हें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरतीबवार जमवाया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटों के बारे में कुछ भी जानने से बहुत पहले मुझे इस क़ानूनी किताब से जस्तीनियन का नाम मालूम हुआ। इस किताब का नाम 'इन्स्टीट्यूट ऑफ़ जस्तीनियन' है और मुझे यह पढ़नी पड़ी थी। हालाँकि जस्तीनियन ने क़ुस्तुन्तुनिया में एक विश्वविद्यालय क़ायम किया था, लेकिन उसने एथेन्स की अकादमी यानी दर्शनशास्त्र के पुराने स्कूल बन्द करा दिये थे, जो अफ़लातून ने क़ायम किये थे, और जो क़रीब एक हज़ार वर्ष से चले आ रहे थे। किसी भी रूढ़िवादी मज़हब के लिए दर्शनशास्त्र ख़तरनाक चीज़ होती है, क्योंकि इसकी वजह से लोग सोचने-विचारने लगते हैं।

अब हम छठी सदी तक आ पहुँचे हैं। हम देखते हैं कि रोम और क़ुस्तुन्तुनिया धीरे-धीरे एक-दूसरे से दूर होते जाते हैं। रोम पर तो उत्तर के जर्मन क़बीलों का कब्ज़ा हो जाता है, और क़ुस्तुन्तुनिया रोमन साम्राज्य कहलानेवाले यूनानी साम्राज्य का केन्द्र हो जाता है। रोम टूक-टूक होकर अपने उन विजेताओं की सभ्यता के नीचे दर्जे को पहुँच जाता है, जिन्हें वह अपनी शान के ज़माने में 'बर्बर' कहा करता था। क़ुस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी परम्परा जारी रक्खी, लेकिन वह भी सभ्यता के दर्जे में नीचे गिर जाता है। ईसाई फ़िरक़े प्रभुत्व के लिए आपस में लड़ते हैं, और पूर्वी ईसाइयत, जो तुर्किस्तान, चीन और हब्श[1] तक फैल गई थी, क़ुस्तुन्तुनिया और रोम दोनों से अलग कट जाती है। 'अन्धकार का युग' शुरू होता है। इस समय तक अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओं की, यानी यूनानी या पुरानी लातीनी की जिसे यूनानी से प्रेरणा मिली। लेकिन ये पुरानी यूनानी किताबें, जिनमें देवी-देवताओं का हाल था और दर्शन की बातें थीं, उस शुरू के ज़माने के नेक, श्रद्धालु और अनुदार ईसाइयों के लिए ठीक साहित्य नहीं समझी जाती थीं। इसलिए इनको पढ़ने के लिए कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता था। इस तरह विद्या को और कला के भी कई रूपों को नुक़सान उठाना पड़ा।

लेकिन ईसाइयत ने विद्या और कला की रक्षा करने की भी कुछ कोशिश की। बौद्ध संघों की तरह ईसाई मठ क़ायम हुए और तेज़ी से फैल गये। इन मठों में कभी-कभी पुरानी विद्या को ठिकाना मिल जाता था। इन्हीं मठों में कुछ नई कला का भी बीज बोया गया, जो सदियों बाद अपने पूरे सौन्दर्य से खिली। इन मठों के पादरियों ने विद्या और कला के दीपक की टिमटिमाहट को बुझने नहीं दिया। यह बुझने न देना ही इनकी सेवा है। लेकिन यह रोशनी एक छोटे दायरे में ही बन्द थी; बाहर तो बिलकुल अँधेरा था।

ईसाइयत के इस शुरू ज़माने में हमें एक और अजीब झुकाव दिखाई देता है। बहुत-से लोग मज़हबी जोश में आकर आदमी की आबादियों से दूर, रेगिस्तानों

---

[1] हब्श—एबीसीनिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में या सुनसान जगहों में चले जाते थे, और वहाँ जंगली हालत में रहते थे। ये लोग अपने-आपको पीड़ा पहुँचाते थे; नहाते-धोते नहीं थे और ज़्यादा-से-ज़्यादा पीड़ा सहने की कोशिश करते थे। यह बात मिस्र में ख़ासतौर से पाई जाती थी, जहाँ इस क़िस्म के बहुत-से दरवेश रेगिस्तान में रहा करते थे। इनका शायद यह ख़याल था कि वे जितनी ही ज़्यादा पीड़ा सहेंगे और जितना ही कम नहायें-धोयेंगे, उतने ही ज़्यादा पवित्र हो जायँगे। एक दरवेश तो कई वर्षों तक एक खम्भे के ऊपर बैठा रहा! धीरे-धीरे इस तरह के दरवेशों का सिलसिला खत्म हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक बहुत-से श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास बना रहा कि किसी भी तरह का आनन्द मनाना पाप है। कष्ट-सहन के इस सिद्धान्त ने ईसाइयों की विचारधारा को रँग दिया था। यूरोप में आज इस तरह की कोई बात नहीं दिखाई देती। आज तो वहाँ यह हाल है कि हरेक आदमी पागल की तरह इधर-उधर दौड़ने और मौज-बहार की ज़िन्दगी गुज़ारने पर उतारू है। अक्सर इस दौड़-धूप से आख़िर में थकावट और उचाट पैदा हो जाती है, मज़ा नहीं हासिल होता।

पर भारत में आज भी हम कभी-कभी लोगों को वैसा ही बर्ताव करते देखते हैं, जैसाकि मिस्र में ये ईसाई दरवेश किया करते थे। ये लोग अपना एक हाथ ऊपर उठाये रहते हैं, यहाँतक कि वह सूखकर बेकार हो जाता है, या लोहे की कीलों पर बैठे रहते हैं, या इसी तरह के बहुत-से बेहूदा और बेवक़ूफ़ी के काम करते हैं। मेरा ख़याल यह है कि कुछ तो ऐसा इसलिए करते हैं कि नासमझ लोगों पर धाक जमाकर उनसे पैसे वसूल करें, और कुछ लोगों की शायद यह भावना रहती है कि ऐसा करने से वे पवित्र हो जायँगे! मानो अपने शरीर को किसी भले काम के नाक़ाबिल बना लेना भी कोई अच्छी बात हो सकती है!

यहाँ मुझे बुद्ध की एक कथा याद आती है, जिसके लिए मुझे फिर अपने पुराने मित्र ह्यूएनत्सांङ का सहारा लेना पड़ता है। बुद्ध का एक नौजवान शिष्य तपस्या कर रहा था। बुद्ध ने उससे पूछा, "प्रिय युवक जब तुम दुनियादार थे, तब क्या वीणा बजाना जानते थे?" उसने कहा, "जी हाँ!" तब बुद्ध ने कहा—

> "अच्छा मैं इससे एक उपमा देता हूँ। जिस वीणा के तार बहुत कसे होते हैं, उसमें स्वरों का उतार-चढ़ाव ठीक नहीं होता। जब तार ढीले होते हैं तो स्वरों में न संगति होती है, न मधुरता। लेकिन जब वीणा के तार न तो ज़्यादा कसे होते हैं और न ज़्यादा ढीले तब उनसे मधुर स्वर निकलते हैं। यही हाल शरीर का भी है। अगर इसके साथ कठोरता का व्यवहार किया जाता है, तो यह थक जाता है, और चित्त अस्थिर हो जाता है। अगर इसे बहुत अधिक आराम दिया जाता है तो वासनाएँ बढ़ने लगती हैं और इच्छाशक्ति कमज़ोर पड़ जाती है।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४८ :

इस्लाम का उदय

२१ मई, १९३२

हमने कई देशों के इतिहास पर और कई राज्यों व साम्राज्यों के उत्थान व पतन पर विचार किया। लेकिन अरब देश का क़िस्सा अभी तक हमने नहीं छेड़ा, सिवाय इस ज़िक्र के कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर हिस्सों में जाया करते थे। नक़शे को देखो। अरब के पश्चिम में मिस्र है, उत्तर में सीरिया (शाम) और इराक़ हैं, पूर्व से कुछ दूरी पर ईरान है और उत्तर-पश्चिम में कुछ दूर हटकर एशिया-कोचक और क़ुस्तुन्तुनिया हैं। यूनान भी दूर नहीं है और भारत भी बस समुद्र के उस पार दूसरी तरफ़ है। चीन और सुदूर पूर्व के मुल्कों का अगर हम ख़याल न करें, तो अरब देश पुरानी सभ्यताओं के लिहाज़ से बिलकुल बीचों-बीच था। इराक़ में दज़ला और फ़ुरात नदियों के किनारे बड़े-बड़े शहर बस गये। मिस्र में इस्कन्दरिया, सीरिया में दमिश्क और एशिया-कोचक में अन्तिओक जैसे बड़े-बड़े शहर बसे। अरब लोग यात्रा-पसन्द और व्यापारी थे, इसलिए वे इन शहरों को अक्सर जाया करते होंगे। फिर भी इतिहास में अरब का कोई नामी भाग नहीं रहा। मालूम होता है कि इस देश की सभ्यता भी उतनी ऊँचे दर्जे की नहीं रही जितनी कि उसके आस-पास के देशों की। अरब ने न तो दूसरे देशों को जीतने की कोशिश की, और न उसको ही जीतना किसीके लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क़ है, और रेगिस्तानों और पहाड़ों में पलनेवाले लोग मज़बूत होते हैं, जिन्हें अपनी आज़ादी प्यारी होती है और जिन्हें आसानी से दबाया नहीं जा सकता। फिर अरब कोई उपजाऊ देश नहीं था, और इसमें कोई ऐसी चीज़ भी नहीं थी, जो विदेशी विजेताओं या साम्राज्यवादियों को खींचती। इसमें बस सिर्फ़ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब, जो समुद्र के किनारे बसे हुए थे। बाक़ी रेगिस्तान के भीतर सिर्फ़ वास-स्थान थे और इस देश के लोग ज़्यादातर बद्दू, 'रेगिस्तान के बाशिन्दे' थे। तेज़ ऊँट और ख़ूबसूरत घोड़े इनके आठों पहर के साथी थे और अद्भुत सहनशक्तिवाला गधा भी एक क़ीमती चीज़ और वफ़ादार दोस्त समझा जाता था। किसी को गधे की उपमा देना तारीफ़ समझा जाता था; दूसरे देशों की तरह कोई गाली नहीं। क्योंकि किसी रेगिस्तानी मुल्क़ में ज़िन्दगी बड़ी सख़्त होती है और दूसरी जगहों की बनिस्बत वहाँ मज़बूती और सहन-शक्ति कहीं ज़्यादा क़ीमती गुण समझे जाते हैं।

रेगिस्तान के ये बाशिन्दे आत्माभिमानी, भावुक और झगड़ालू होते थे। ये अपने-अपने वंशों और ख़ानदानों में रहते थे, और दूसरे वंशों और ख़ानदानों से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झगड़ा करते थे। साल में एक बार ये लोग आपस में सुलह कर लेते थे और ज़ियारत के लिए मक्का जाया करते थे, जहाँ इनके देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ रहती थीं। सबसे ज़्यादा वे एक बड़े भारी काले पत्थर[1] की पूजा करते थे, जिसका नाम 'काबा' था।

इन लोगों की ज़िन्दगी घुमक्कड़ों की ज़िन्दगी थी, जिसमें हर ख़ानदान का सबसे बूढ़ा आदमी सरदार होता था। इनकी ज़िन्दगी उसी क़िस्म की थी, जैसी कि शहरी जीवन और सभ्यता अपनाने के पहले मध्य एशिया या दूसरी जगहों के आदिम क़बीले बसर किया करते थे। अरब के चारों तरफ़ जितने बड़े-बड़े साम्राज्य बने, उन सबकी सल्तनत में अक्सर अरब देश भी शामिल होता था। लेकिन यह अधीनता असली न होकर सिर्फ़ नाम के लिए होती थी। क्योंकि घुमक्कड़ रेगिस्तानी क़बीलों को दबाकर रखना या उनपर हुकूमत करना कोई आसान बात नहीं थी।

तुम्हें शायद याद होगा कि एक बार सीरिया में पालमीरा में एक छोटी-सी अरब सल्तनत क़ायम हुई थी, और ईसवी सन् की तीसरी सदी में, थोड़े दिनों के लिए इसका एक शानदार ज़माना रहा था। लेकिन यह भी मुख्य अरब के बाहर थी। मतलब यह कि बद्दू लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी रेगिस्तानी ज़िन्दगी बिताते रहते थे, अरबी जहाज़ व्यापार के लिए बाहर जाते थे, और देश का जीवन बिना किसी परिवर्तन के चलता रहता था। कुछ लोग ईसाई हो गये थे, और कुछ यहूदी; लेकिन ज़्यादातर लोग ३६० मूर्तियों के, और मक्का के संगे-असवद के पूजनेवाले ही बने रहे।

यह अजीब बात है कि वह अरब-नस्ल जो युगों से सोते हुओं की तरह जीवन बिता रही थी और ज़ाहिरा तौर पर दूसरी जगहों की घटनाओं से बिलकुल अलग थी, अचानक जाग पड़ी, और उसने इतनी ज़बर्दस्त जीवट दिखाई कि सारी दुनिया को चौंका दिया और उसमें उथल-पुथल मचा दी। अरब लोग एशिया, यूरोप और अफ़्रीका में तेज़ी के साथ फैल गये, और उन्होंने ऊँचे दर्जे की संस्कृति और सभ्यता का किस तरह विकास किया, यह इतिहास में एक चमत्कार की बात है।

जिस नये बल या भावना ने अरबों को जगाया और उनमें आत्म-विश्वास और जोश भर दिया, वह इस्लाम था। इस मज़हब को एक नये पैग़म्बर, मोहम्मद ने, जो मक्का में ५७० ई० में पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हें इस मज़हब को शुरू करने की कोई जल्दी नहीं थी। वह शान्ति की ज़िन्दगी गुज़ारते थे, और मक्का के लोग उनको चाहते थे और उनपर भरोसा करते थे। वास्तव में लोग उन्हें 'अल् अमीन' या अमानतदार कहा करते थे। लेकिन जब उन्होंने अपने नये मज़हब का प्रचार शुरू किया, और ख़ासकर जब मक्का की मूर्तियों की पूजा का विरोध

---

[1] संगे असवद।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया तो उनके ख़िलाफ़ बड़ा हल्ला मचा और आख़िर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पड़ा। सबसे ज़्यादा वह इस दावे पर ज़ोर देते थे, कि ख़ुदा सिर्फ़ एक है, और वह, मोहम्मद, उसका रसूल है।

जब मक्का से अपने ही लोगों ने उन्हें भगा दिया, तो उन्होंने यथरीब में अपने कुछ दोस्तों और मददगारों के यहाँ पनाह ली। मक्का से उनके इस कूच को अरबी ज़बान में 'हिजरत' कहते हैं, और मुसलमानी सन् उसी वक्त से यानी ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिजरी सन् चान्द्र है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार तारीखों का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर-वर्ष से, जिसका आजकल आम-तौर पर प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम का होता है। हिजरी सन् के महीने हर साल एक ही मौसम में नहीं पड़ते। हिजरी सन् का एक महीना अगर इस साल जाड़े में है तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गर्मी में पड़ सकता है।

ऐसा कह सकते हैं कि इस्लाम, हिजरत से, यानी ६२२ ई० से शुरू हुआ, हालांकि एक लिहाज़ से वह इसके कुछ पहले ही शुरू हो चुका था। यथरीब शहर ने मोहम्मद का स्वागत किया और उनके आने की ताज़ीम में इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया। आजकल संक्षेप में इसे सिर्फ़ मदीना कहते हैं। मदीना के जिन लोगों ने मोहम्मद की मदद की थी वे 'अंसार' यानी मददगार कहलाये। इन अंसारों के वंशज अपने इस ख़िताब पर अभिमान करते थे और अभी तक इसका इस्तेमाल करते हैं।

इस्लाम और अरबों की विजयी ज़िन्दगी के दौर पर विचार करने से पहले ज़रा चारों तरफ़ सरसरी नज़र डाल लें। हम अभी देख चुके हैं कि रोम ख़त्म हो चुका था। पुरानी यूनानी-रोमन सभ्यता का अन्त हो गया था और इसका रचा हुआ सारा समाजी ढाँचा भी बिखर गया था। उत्तरी यूरोप के क़बीले और वंश कुछ आगे आ रहे थे। रोम से कुछ सीखने की कोशिश करते हुए ये लोग वास्तव में बिलकुल नई क़िस्म की सभ्यता बना रहे थे। लेकिन अभी इसकी शुरुआत ही थी और ज़ाहिरा तौर पर दिखाई नहीं देती थी। इस तरह पुराने ज़माने का तो अन्त हो चुका था, लेकिन उसकी जगह नया ज़माना नहीं आया था। इसलिए यूरोप में अंधेरा था। यह सही है कि यूरोप के पूर्वी सिरे पर पूर्वी रोमन साम्राज्य था, जो अभी तक फूल-फल रहा था। क़ुस्तुन्तुनिया का शहर उस वक्त भी बड़ा और शानदार शहर था और यूरोप में सबसे बड़ा माना जाता था। उसके खेल-घरों में खेल-तमाशे और सरकस हुआ करते थे और वहाँ ख़ूब तड़क-भड़क व दिखावट थी। फिर भी साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा था। ईरान के सासानियों से इसके युद्ध बराबर चलते रहते थे। ईरान के ख़ुसरो द्वितीय ने क़ुस्तुन्तुनिया से उसकी सल्तनत का कुछ हिस्सा छीन भी लिया था, और नाम को वह अरब पर भी प्रभुत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दावा करता था। खुसरो ने मिस्र भी जीत लिया था, और ठेठ क़ुस्तुन्तुनिया तक पहुँच गया था। लेकिन यूनानी सम्राट् हीरेक्ली ने इसे वहाँ हरा दिया। बाद में खुसरो को उसके ही बेटे कवाद ने मार डाला।

इस तरह तुम देखोगी कि पश्चिम में यूरोप और पूर्व में ईरान, दोनों ही की हालत ख़राब थी। इसके अलावा ईसाई फ़िरक़ों में होनेवाले आपसी झगड़ों का कोई अन्त नहीं था। अफ़्रीका में और पश्चिम में बहुत भ्रष्ट और झगड़ालू ईसाइयत फैल रही थी। ईरान में ज़रथुस्त मज़हब राजधर्म था और लोगों पर ज़बर्दस्ती लादा जाता था। इसलिए यूरोप, अफ्रीका और ईरान के ज्यादातर लोगों की आँखें उस समय के मज़हबों के बारे में खुल गई थीं। उन्हीं दिनों, सातवीं सदी की शुरुआत में, सारे यूरोप में भयंकर महामारियाँ फैल रही थीं, जिनमें लाखों आदमी मर रहे थे।

भारत में इस समय हर्षवर्धन राज्य कर रहा था और ह्यूएनत्सांङ भारत आया हुआ था। हर्ष के राजकाल में भारत एक बलशाली देश था। लेकिन थोड़े ही दिन बाद उत्तर भारत के टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह कमज़ोर पड़ गया। दूर पूर्व के देश चीन में इसी समय तंङ-राजवंश का दौर शुरू हुआ था। ६२७ ई० में 'ताई-त्सुंङ' जो चीन के सबसे बड़े सम्राटों में गिना जाता है, राजगद्दी पर बैठा और उसके ज़माने में चीनी साम्राज्य पश्चिम में ठेठ कैस्पियन सागर तक फैल गया था। मध्य एशिया के ज्यादातर देशों ने उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली थी और उसे ख़िराज देते थे। पर शायद इस सारे विशाल साम्राज्य की कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी।

इस्लाम के उदय के समय एशियाई और यूरोपीय दुनिया की यह हालत थी। चीन शक्तिशाली और मज़बूत था, लेकिन वह बहुत दूर था। भारत भी, कम-से-कम कुछ दिनों तक तो, काफ़ी मज़बूत था। लेकिन, हम आगे देखेंगे कि भारत के साथ इस्लाम का बहुत दिनों तक कोई संघर्ष नहीं हुआ। यूरोप और अफ्रीका कमज़ोर और पस्त हो चुके थे।

हिजरत के बाद सात वर्ष के अन्दर ही मोहम्मद मक्का के स्वामी बनकर ही वहाँ लौटे। इसके पहले ही वह मदीना से दुनिया के बादशाहों और शासकों के पास परवाना भेज चुके थे कि वे एक अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान लायें। क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हीरेक्ली के पास यह परवाना उस वक़्त पहुँचा था, जब वह सीरिया में ईरानियों के ख़िलाफ़ लड़ाई में मशगूल था। ईरान के बादशाह के पास, और कहते हैं कि चीन के ताई-त्सुंङ तक भी यह परवाना पहुँचा था, इन बादशाहों और शासकों को बड़ा ताज्जुब हुआ होगा कि आख़िर यह अनजान आदमी कौन है, जो उनके ऊपर हुक्म चलाने की जुर्रत करता है! इन पैग़ामों के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेजने से ही हम कुछ अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि मोहम्मद को अपने में और अपने मिशन में कितना बड़ा भरोसा था। यही भरोसा और ऐतक़ाद उसने अपनी क़ौम में भर दिया, और इसीसे प्रेरणा और तसल्ली हासिल करके रेगिस्तान के ये लोग, जिनकी पहले कोई बड़ी हैसियत नहीं थी, उस समय तक मालूम दुनिया के आधे हिस्से को जीतने में सफल हुए।

भरोसा और ऐतक़ाद खुद तो बड़ी चीज़ें थीं ही। साथ ही इस्लाम ने भाईचारे का, यानी सब मुसलमान बराबर हैं, इस बात का भी सन्देश दिया। इस तरह कुछ हद तक लोकतन्त्र लोगों के सामने आया। उस ज़माने की भ्रष्ट ईसाइयत के मुक़ाबले में भाईचारे के इस सन्देश ने सिर्फ़ अरबों पर ही नहीं, बल्कि जहां-जहाँ वे गये, उन सभी देशों के निवासियों पर भी, बड़ा भारी असर डाला होगा।

मोहम्मद ६३२ ई० में, हिजरत के दस साल बाद, मरे। उन्होंने अरब के आपस में लड़नेवाले कई क़बीलों को संगठित करके एक राष्ट्र बनाया और उनमें एक उद्देश्य के लिए ज़बर्दस्त जोश भर दिया। इसके बाद इनके खानदान के एक व्यक्ति अबूबकर खलीफ़ा हुए। खलीफ़ा चुनने का यह काम आम सभा में ग़ैर-रस्मी चुनाव से होता था। दो साल बाद अबूबकर मर गये, और उमर उनकी जगह खलीफ़ा बनाये गये। यह दस साल तक खलीफ़ा रहे।

अबूबकर और उमर महान् व्यक्ति थे, जिन्होंने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली। खलीफ़ा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनीतिक सरदार, यानी बादशाह और पोप दोनों थे। अपने ऊँचे ओहदे और अपने राज्य की बढ़ती हुई शक्ति के बावजूद उन्होंने अपने रहन-सहन की सादगी नहीं छोड़ी, और ऐश-आराम व ऊपरी शान-शौक़त से क़तई इन्कार कर दिया। इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक ज़िन्दा चीज़ थी। लेकिन इनके मातहती हाक़िम और अमीर बहुत जल्द रेशमी लिबास और ऐश-आराम में डूब गये। अबूबकर और उमर ने किस तरह बार-बार इन अफ़सरों की लानत-मलामत की, और उन्हें सज़ा दी, यहाँ तक कि इनकी फ़िज़ूलखर्ची पर आँसू भी बहाये, इसके बहुत-से क़िस्से बयान किये जाते हैं। ये महसूस करते थे कि सीधे-सादे और कठोर रहन-सहन में ही इनकी ताक़त है, और अगर उन्होंने कुस्तुन्तुनिया और ईरान के दरबारों जैसा ऐश-आराम अपना लिया, तो अरब लोग भ्रष्ट हो जायेंगे और नीचे गिर जायेंगे।

अबूबकर और उमर का शासन बारह साल रहा। लेकिन इस थोड़े से समय में ही अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह, दोनों को हरा दिया था। यहूदियों और ईसाइयों के पवित्र शहर यरूशलम पर अरबों ने क़ब्ज़ा कर लिया था, और सारे सीरिया, इराक़ और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य के हिस्से बन चुके थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४९ :

स्पेन से मंगोलिया तक अरबों की विजय

२३ मई, १९३२

दूसरे कुछ मज़हबों के संस्थापकों की तरह मोहम्मद भी उस समय के बहुत से समाजी रस्म-रिवाजों के विद्रोही थे। जिस मज़हब का उन्होंने प्रचार किया, उसकी सादगी, सफ़ाई और लोकतन्त्र व समता की सुगन्ध ने आस-पास के देशों की जनता के दिलों को खींच लिया; क्योंकि निरंकुश राजाओं ने और राजाओं की ही तरह निरंकुश और ज़ालिम पुजारियों ने जनता को बहुत दिनों से कुचल रक्खा था। लोग पुराने ढंगों से तंग आ गये थे और परिवर्तन के लिए तैयार बैठे थे। इस्लाम ने यह परिवर्तन उनके सामने रक्खा और इसका उन्होंने स्वागत किया; क्योंकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातों में बेहतर हो गई, और बहुत-सी पुरानी बुराइयाँ खत्म हो गईं। इस्लाम के साथ कोई ऐसी बड़ी समाजी क्रान्ति नहीं आई, जिससे जनता का शोषण खत्म हो गया होता। लेकिन जहाँतक मुसलमानों का ताल्लुक़ था, यह शोषण वास्तव में कम हुआ और वे महसूस करने लगे कि वे सब एक ही बड़ी बिरादरी के लोग हैं।

इस तरह अरब लोग जीत-पर-जीत हासिल करते हुए आगे बढ़ने लगे। अक्सर ये लोग बिना युद्ध किये ही जीत जाते थे। अपने रसूल की मृत्यु के पच्चीस वर्ष के अन्दर ही अरबों ने एक तरफ़ सारा ईरान, सीरिया, आरमीनिया और मध्य-एशिया का कुछ टुकड़ा और पश्चिम की तरफ़ मिस्र, और उत्तरी अफ्रीका का छोटा-सा टुकड़ा जीत लिया। मिस्र इन लोगों को सबसे ज्यादा आसानी से मिल गया, क्योंकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से और ईसाई सम्प्रदायों की आपसी लाग-डाँट से सबसे ज्यादा तक़लीफ़ें उठा चुका था। कहते हैं कि अरबों ने इस्कन्दरिया का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था, लेकिन अब यह बात ग़लत समझी जाती है। अरब लोग पुस्तकों के इतने शौक़ीन थे कि ऐसा जंगलीपन नहीं कर सकते थे। सम्भव है कि कुंस्तुन्तुनिया का सम्राट् थियोदोसी, जिसका कुछ ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ, पुस्तकालय को या उसके कुछ हिस्से को बर्बाद करने का अपराधी रहा हो। पुस्तकालय का एक हिस्सा तो बहुत पहले जूलियस सीज़र के ज़माने में, एक घेरे के समय, बर्बाद हो चुका था। थियोदोसी पुरानी ग़ैर-मसीही यूनानी किताबों को, जिनमें पुरानी यूनानी गाथाएँ और दर्शन की बातें होती थीं, पसन्द नहीं करता था। वह बड़ा श्रद्धालु ईसाई था। कहा जाता है कि वह अपने नहाने का पानी इन किताबों को जलाकर गर्म किया करता था।

अरब लोग पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ़ बढ़ते ही चले गये। पूर्व में हेरात,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

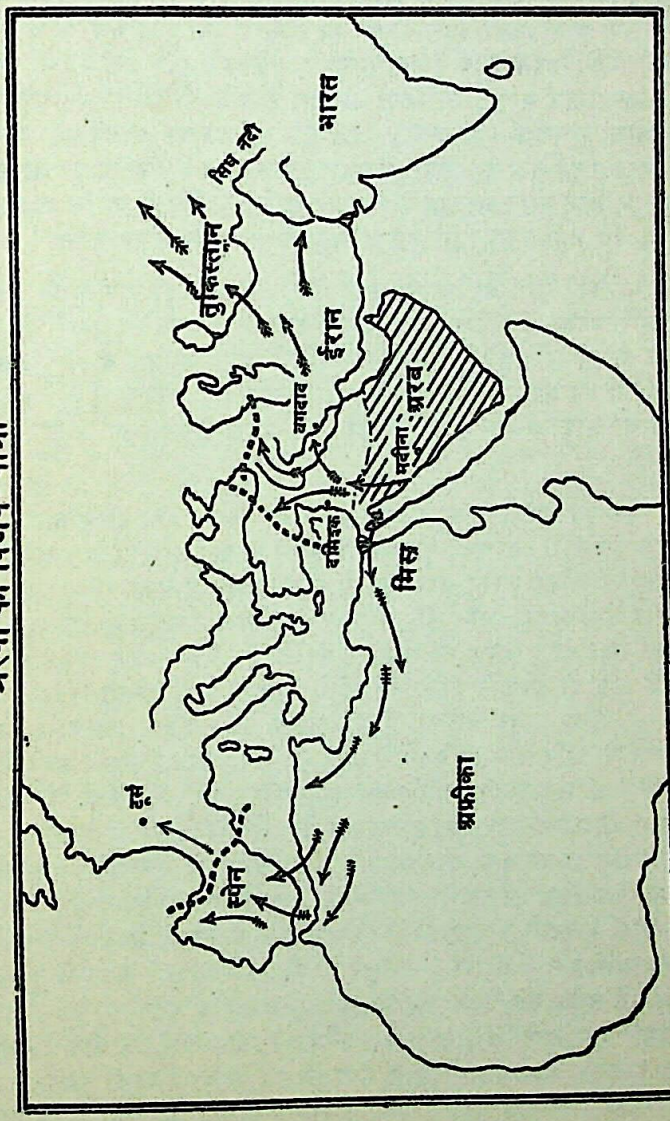

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काबुल और बलख इनके क़ब्ज़े में आ गये ओर वे सिन्ध नदी और सिन्ध तक जा पहुँचे। लेकिन इसके आगे वे भारत में दाख़िल नहीं हुए और कई सौ वर्षों तक भारत के राजाओं के साथ इनका बहुत दोस्ती का सम्बन्ध रहा। पश्चिम में ये लोग आगे बढ़ते ही गये। कहते हैं कि इनका सेनापति उक़बा उत्तरी अफ़्रीका को पार करता हुआ अतलान्तिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर पहुँच गया था, जिसे आज मरक्कश (मोरक्को) कहते हैं। यह रुकावट सामने आ जाने से उसे बड़ी निराशा हुई और वह घोड़े पर सवार होकर समुद्र में जितनी दूर जा सकता था गया, और फिर उसने अल्लाह के सामने अफ़सोस ज़ाहिर किया कि अब उस दिशा में कोई देश नहीं रहा, जिसे वह अल्लाह के नाम पर फ़तह करता!

मोरक्को और अफ़्रीका से समुद्र के तंग मुहाने को पार करके अरब लोग स्पेन और यूरोप में दाख़िल हुए। इस तंग जलडमरूमध्य को पुराने यूनानी लोग 'हरकुल के स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापति ने समुद्र को पार करके जिब्राल्टर में लंगर डाला था और यह नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है,। उसका नाम तारिक था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तारिक' यानी तारिक की चट्टान है।

स्पेन को अरबों ने बहुत जल्द फ़तह कर लिया और इसके बाद वे दक्षिणी फ़्रान्स में घुस पड़े। इस तरह मोहम्मद के मरने के बाद सौ वर्षों के अन्दर ही अरबों का साम्राज्य दक्षिण फ़्रान्स और स्पेन से लेकर उत्तर अफ़्रीका को पार करके स्वेज़ तक, और आगे अरब, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मंगोलिया की सरहद तक फैल गया था। सिन्ध को छोड़कर भारत इस साम्राज्य से बाहर था। यूरोप पर अरब लोग दो तरफ़ से हमले कर रहे थे। एक तो क़ुस्तुन्तुनिया पर बिलकुल सीधा हमला था, और दूसरा अफ़्रीका होकर फ़्रान्स पर। दक्षिण फ़्रान्स में अरबों की संख्या कम थी और वे अपने वतन से बहुत दूर थे। इसलिए उनको अरब से ज़्यादा मदद नहीं मिल सकती थी, क्योंकि वह मध्य एशिया को फ़तह करने में उलझा हुआ था। फिर भी फ़्रान्स पहुँचे हुए इन अरबों ने पश्चिमी यूरोप के लोगों को इतना डरा दिया कि इनका मुक़ाबला करने के लिए यूरोप में एक बहुत बड़ा शामिल-गुट बनाया गया। इस गुट का नेता चार्ल्स मार्तेल था और इसने फ़्रान्स में तूर की लड़ाई में ७३२ ई० में अरबों को हरा दिया। इस हार ने यूरोप को अरबों से बचा लिया। एक इतिहास-लेखक ने लिखा है—"तूर के मैदान में अरबों ने सारी दुनिया का साम्राज्य ऐसे समय खो दिया, जबकि वह क़रीब-क़रीब इनकी मुट्ठी में आ चुका था।" इसमें शक नहीं कि अगर अरब लोग तूर की लड़ाई में जीत गये होते तो यूरोप का इतिहास बिलकुल ही बदल गया होता। यूरोप में इनकी गति को रोकने-वाला और कोई भी नहीं था। ये लोग क़ुस्तुन्तुनिया तक आसानी से बढ़े चले गए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते, और इन्होंने पूर्वी रोमन साम्राज्य को और बीच के दूसरे राज्यों को खत्म कर दिया होता। तब ईसाइयत के बजाय इस्लाम यूरोप का मज़हब हो गया होता, और दूसरी तरह के भी बहुत-से परिवर्तन हो गये होते। लेकिन यह सब तो कल्पना की उड़ान है। हुआ यह कि अरब लोग फ़ान्स में रोक दिये गए, और इसके बाद कई सौ वर्षों तक वे स्पेन में रहे, और वहाँ राज करते रहे।

स्पेन से मंगोलिया तक के सारे देशों पर अरबों ने फ़तह पाई और रेगिस्तान के ये घुमक्कड़ एक ज़बर्दस्त साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। लोग इन्हें सरासीन कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका अर्थ 'रेगिस्तान के बाशिन्दे' होता है। लेकिन इन सहरानशीनों ने बहुत जल्द विलासिता और शहर की ज़िन्दगी इख़्तियार कर ली और इनके शहरों में बड़े-बड़े महल खड़े हो गये। दूर-दूर देशो में विजय हासिल कर लेने पर भी, इनकी आपस में झगड़ने की पुरानी आदत नहीं गई। अब तो वास्तव में झगड़ने के लिए कुछ सामान भी हो गया था, क्योंकि अरब की प्रभुता का मतलब था एक बसे साम्राज्य की बागडोर हाथ में आ जाना। इसलिए ख़लीफ़ा की गद्दी के लिए अक्सर झगड़े होते थे। इन छोटे-छोटे झगड़ों और खानदानी झगड़ों से गृह-युद्ध हो गया। इन्हीं झगड़ों की वजह से इस्लाम दो हिस्सों में बँट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो सुन्नी और शिया के नाम से आज तक मौजूद हैं।

पहले दो महान् ख़लीफ़ाओं—अबूबकर और उमर—के शासनकाल के कुछ दिनों बाद ही गड़बड़ पैदा हो गई। मोहम्मद की बेटी फ़ातिमा के पति अली कुछ दिनों के लिए ख़लीफ़ा हुए। लेकिन झगड़ा बराबर जारी रहा। अली क़त्ल कर दिये गए और कुछ दिनों बाद उनके बेटे हुसेन सारे कुटुम्ब के साथ कर्बला के मैदान में मार डाले गए। कर्बला की इस दुखान्त घटना की याद में मुसलमान और ख़ासकर शिया लोग, हर साल मुहर्रम के महीने में मातम मनाया करते हैं।

ख़लीफ़ा अब बिलकुल निरंकुश बादशाह बन बैठे थे। ख़लीफ़ा के ओहदे का लोकतन्त्र या चुनाव से कोई सरोकार नहीं रहा था। उस ज़माने के और निरंकुश राजाओं की तरह ख़लीफ़ा भी था। कहने को ख़लीफ़ा इस्लाम का प्रमुख यानी 'अमीरुल-मोमिनीन'[1] भी माना जाता था। लेकिन कुछ ख़लीफ़ा ऐसे भी हुए जिन्होंने इस्लाम का, जिसके कि वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, वास्तव में अपमान किया।

लगभग सौ वर्षों तक ख़लीफ़ा मोहम्मद के वंश की एक शाखा में से होते रहे जो उम्मैया कहलाती थी। दमिश्क इनकी राजधानी थी और महलों, मस्जिदों,

[1] ईमानवालों का सरदार।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़व्वारों और क़ुश्कों[1] की वजह से यह पुराना शहर बड़ा ख़ूबसूरत बन गया था। दमिश्क की पानी की व्यवस्था बड़ी मशहूर थी। इस ज़माने में अरबों ने इमारतें बनाने की कला की एक ख़ास शैली निकाली, जो सरासीनी शिल्प के नाम से मशहूर हुई। इस शैली में ज़्यादा सजावट नहीं होती। यह सादा, शानदार और सुन्दर होती है। इस शैली के पीछे अरब और सीरिया के मनोहर खजूरों की भावना थी। मेहरावें व खम्भे और मीनारें व गुम्बदें खजूर के कुंजों की मेहरावनुमा और गुम्बदनुमा शक्लों की याद दिलाते हैं।

यह शैली भारत में भी आई। लेकिन इसपर भारत के संस्कारों का असर पड़ा और एक मिलवाँ शैली पैदा हो गई। सरासीनी इमारतों के कुछ सबसे सुन्दर नमूने स्पेन में अबतक पाये जाते हैं।

धन और साम्राज्य की वजह से विलास का और विलास के खेल-तमाशों और कलाओं का उदय हुआ। घुड़दौड़ अरबों के मनोरंजन का प्यारा साधन था। पोलो, शिकार और शतरंज भी इन्हें बहुत पसन्द थे। संगीत और ख़ासकर गाना एक फ़ैशन बन गया था, जिसकी धुन सबपर सवार थी। दमिश्क की राजधानी गवैयों से और उनके संगीतियों और पिछलग्गुओं से भरी पड़ी थी।

एक और बड़ा लेकिन अभागा परिवर्तन धीरे-धीरे आ गया। यह परिवर्तन स्त्रियों की हालत में हुआ। अरबों में औरतें बिलकुल परदा नहीं करती थीं। इन्हें न तो अलहदा रक्खा जाता था, न छियाया जाता था। वे बाहर निकलती थीं, मस्जिदों और तक़रीरों में जाया करती थीं, और ख़ुद भी तक़रीरें देती थीं। लेकिन सफलता के नशे में अरब लोग उन दोनों पुराने साम्राज्यों, यानी पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य के रिवाजों की नक़ल करने लगे, जो इनके दो तरफ़ थे। अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को हरा दिया था, और ईरानी साम्राज्य को ख़त्म कर डाला था, लेकिन ये ख़ुद इन साम्राज्यों की बहुत-सी बुरी आदतों के शिकार हो गये। कहा जाता है कि ख़ासकर क़ुस्तुन्तुनिया और ईरान के असर से अरबों ने स्त्रियों को परदे में रखना शुरू किया। धीरे-धीरे हरम[2] का रिवाज़ शुरू हुआ, और समाज में मर्दों और औरतों का मिलना-जुलना कम होने लगा। दुर्भाग्य से स्त्रियों का यह परदा इस्लामी समाज का अंग बन गया, और जब मुसलमान भारत में आये तो भारत ने भी यह बात उनसे सीख ली। यह सोचकर कि आज भी कुछ लोग इस जंगलीपन को बर्दाश्त कर रहे हैं, मुझे हैरत होती है। जब कभी मैं बाहर की दुनिया

---

[1] क़ुश्क—ईरान और तुर्की में बाग़-बग़ीचों में बैठने के छोटे शामियाने। अंग्रेज़ी का kiosk शब्द इसीसे बना है।

[2] हरम—अन्तःपुर, यानी घर के भीतर स्त्रियों को परदे में रखने की जगह।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अलग की हुई परदे में रहनेवाली स्त्रियों का ख़याल करता हूँ तो मुझे हमेशा क़ैदख़ाना या चिड़ियाघर याद आ जाता है। कोई राष्ट्र, जिसकी आधी आबादी एक क़िस्म के क़ैदख़ाने में छिपाकर रक्खी जाती हो, कैसे तरक्क़ी कर सकती है?

सौभाग्य की बात है कि भारत तेज़ी से परदे को फाड़कर फेंक रहा है। बहुत हद तक मुसलमान समाज ने भी इस भारी बोझ से छटकारा पा लिया है। तुर्की में कमाल पाशा ने इसे बिलकुल ख़त्म कर दिया है और मिस्र में यह बहुत तेज़ी के साथ ग़ायब हो रहा है।

एक बात और कहकर मैं इस पत्र को ख़त्म करूँगा। अरबों में, ख़ासकर अपनी जागृति की शुरुआत के दिनों में, अपने दीन के लिए बहुत जोश भरा हुआ था। फिर भी ये लोग उदार थे और उनकी इस धार्मिक उदारता की बहुत-सी मिसालें मिलती हैं। यरूशलम में ख़लीफ़ा उमर ने इस बात पर काफ़ी ज़ोर दिया था। स्पेन में ईसाइयों की काफ़ी आबादी थी, और उन लोगों को मज़हब के मामले में पूरी-पूरी आज़ादी थी। भारत में, सिन्ध के अलावा अरबों का शासन कहीं नहीं रहा। लेकिन इस देश के साथ उनका काफ़ी सम्पर्क रहा और आपसी सम्बन्ध मित्रता के रहे। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग की सबसे उल्लेखनीय बात है अरबी मुसलमानों की उदारता और उससे उलटी यूरोप के ईसाइयों की धार्मिक असहिष्णुता।

: ५० :

बग़दाद और हारूँ-अल-रशीद

२७ मई, १९३२

दूसरे देशों की चर्चा करने से पहले अरबों की कहानी जारी रक्खेंगे। जैसा कि मैंने अपने पिछले पत्र में बताया है, क़रीब सौ वर्षों तक ख़लीफ़ा लोग हज़रत मोहम्मद के वंश की उम्मैया शाखा के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, और उनकी हुकूमत में मुसलमान अरबों ने इस्लाम का झण्डा दूर-दूर देशों तक पहुँचा दिया। एक तरफ़ तो अरब लोग दूर-दूर के देशों को जीतते थे, दूसरी तरफ़ अपने घर में ही लड़ते-झगड़ते रहते थे और अक्सर गृह-युद्ध हुआ करते थे। आख़िरकार मोहम्मद के वंश के एक दूसरे घराने ने, जो चचा अब्बास की सन्तान था और अब्बासी कहलाता था, उम्मैया खानदान को गद्दी से उतार दिया। अब्बासी लोग उम्मैयों के ज़ुल्म का बदला लेने के लिए आये थे; लेकिन फ़तह हासिल करने के बाद उन्होंने ज़ुल्म और हत्या में उम्मैयों को भी मात कर दिया। उन्होंने उम्मैया लोगों को जहाँ भी पाया, पकड़ लिया और उन्हें बेरहमी से मार डाला।

यहीं से ७५० ई० में अब्बासी ख़लीफ़ाओं के शासन का लम्बा समय शुरू होता है। यह शुरुआत कुछ शुभ या मंगलमय नहीं थी, फिर भी अरब इतिहास में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब्बासी काल काफ़ी चमकदार समझा जाता है। इस ज़माने में उम्मैयों के समय के मुक़ाबले में बहुत बड़े परिवर्तन होने लगे थे। अरब के गृह-युद्ध ने सारे अरब साम्राज्य को हिला दिया था। अब्बासी लोग अपने देश में तो जीत गये, लेकिन सुदूर स्पेन में अरब हाकिम ने, जो उम्मैया था, अब्बासी ख़लीफ़ा को मानने से इन्कार कर दिया। उत्तर अफ़्रीका या इफ़रीक़िया की सूबेदारी बहुत जल्दी स्वाधीन हो गई। मिस्र ने भी यही किया, बल्कि उसने तो अपना दूसरा ख़लीफ़ा ही घोषित कर दिया। मिस्र तो इतना नज़दीक था, कि इसे भी धमकाया जा सकता था और मातहती क़बूल करने को मजबूर किया जा सकता था। और समय-समय पर ऐसा होता भी रहा। लेकिन इफ़रीक़िया में कोई दख़ल नहीं दिया गया, और स्पेन तो इतनी दूर था कि उसके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई की ही नहीं जा सकती थी। इस तरह अब्बासियों के ख़लीफ़ा होने पर अरब साम्राज्य के टुकड़े हो गये। अब ख़लीफ़ा सारी दुनिया का प्रमुख नहीं रहा, और न 'अमीरुल मोमिनीन' ही रह गया। मुसलमानों में एकता नहीं रही और स्पेन के अरब और अब्बासी एक दूसरे से इतनी नफ़रत करते थे कि जब एक पर आफ़त आती थी, तो दूसरा ख़ुशी मनाता था।

इन सब बातों के होते हुए भी अब्बासी ख़लीफ़ा बहुत बड़े बादशाह थे, और साम्राज्यों के लिहाज़ से उनका साम्राज्य बहुत बड़ा था। वह पुराना अक़ीदा और जोश, जिन्होंने पहाड़ों को जीता था और जो जंगल की आग की तरह फैल गये थे, अब नज़र नहीं आते थे। सादगी नहीं रही थी, और न लोकतन्त्र ही बाक़ी रह गया था। 'अमीरुल मोमिनीन' और ईरानी शहंशाहों में, जिन्हें पहले के अरबों ने हराया था, या क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् में, कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं रह गया था। पैग़म्बर मोहम्मद के ज़माने के अरबों में एक अजीब ज़िन्दगी और ताक़त थी, जो बादशाहों की सेनाओं की ताक़त से बिलकुल जुदा चीज़ थी। अपने ज़माने की दुनिया में उन्होंने अपना सिक्का जमाया था और उनकी दुर्निवार विजय-यात्राओं के सामने सेनाएँ और बादशाह धूल में मिलते गये। जनता इन बादशाहों से तंग आ गई थी, और अरबों के आने से उसके दिल में बेहतर दिनों की और समाजी क्रान्ति की उम्मीद पैदा हो गई थी।

लेकिन अब हालत बदल गई थी। रेगिस्तान के लोग अब महलों में रहते और खजूरों की जगह बढ़िया-से-बढ़िया पकवान खाते थे। वे सोचते थे कि हम तो काफ़ी आराम में हैं, फिर समाजी क्रान्ति या किसी परिवर्तन की झंझट में क्यों फँसें? शान-शौक़त में वे पुराने साम्राज्यों की होड़ करने की कोशिश करते थे, और उनके कई बुरे रस्म-रिवाज उन्होंने अपना लिये। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इनमें से एक बुरा रिवाज स्त्रियों का परदा था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजधानी दमिश्क से हटकर इराक़ में बग़दाद चली गई। राजधानी की यह बदली भी महत्वपूर्ण थी, क्योंकि बग़दाद ईरानी बादशाहों का गर्मी के मौसम में रहने की जगह था। और चूँकि दमिश्क की बनिस्बत वह यूरोप से दूर था, इसलिए अब अब्बासियों की नज़र यूरोप के बनिस्बत एशिया की तरफ़ ज्यादा रहने लगी। क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने की कोशिशें तो होती रहीं और यूरोपीय राष्ट्रों से कई युद्ध भी हुए, लेकिन ज्यादातर युद्ध बचाव के लिए होते थे। देशों की विजय के दिन लद चुके थे और अब्बासी ख़लीफ़ा अपने बचे हुए साम्राज्य को ही मज़बूत करने की कोशिश में लग गये थे। स्पेन और अफ़्रीका के बिना भी यह साम्राज्य काफ़ी बड़ा था।

बग़दाद! तुम इसे भूल तो नहीं गईं? और क्या अलिफ़लैला में हारूँ-अल-रशीद और शहज़ादी की अद्भुत कहानियाँ तुम्हें याद हैं? अब्बासी ख़लीफ़ाओं के राज में जो शहर बढ़ा वह अलिफ़लैला का ही शहर था। बग़दाद एक लम्बा-चौड़ा शहर था, जिसमें महल, सरकारी दफ़्तर, स्कूल, कॉलेज, बड़ी-बड़ी दूकानें, पार्क और बग़ीचे थे। यहाँ के सौदागर पूर्व और पश्चिम के देशों से बड़ा भारी व्यापार करते थे। ढेरों सरकारी अफ़सर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सों से बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे। सरकार दिन-पर-दिन पेचीदा होती जाती थी और उसके बहुत-से महकमे बन गये थे। साम्राज्य के कोने-कोने से राजधानी तक चिट्ठी-पत्री लाने-ले जाने का बहुत अच्छा इन्तज़ाम था। शफ़ाख़ाने काफ़ी संख्या में थे। सारी दुनिया के लोग बग़दाद आया करते थे। विद्वान् विद्यार्थी और कलाकार ख़ास-तौर पर आते थे, क्योंकि यह मशहूर था कि ख़लीफ़ा सब विद्वानों और कुशल कलाकारों का स्वागत करता है।

ख़लीफ़ा ख़ुद खूब ऐश-आराम की ज़िन्दगी गुज़ारता था और ग़ुलामों से घिरा रहता था। उसकी बेगमें हरम में रहती थीं। हारूँ-अल-रशीद के ज़माने में, यानी ७८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी ज़ाहिरा शान-शौक़त की चोटी पर था। हारूँ के दरबार में चीनी सम्राट् के और पश्चिम में सम्राट् शार्लमैन के राजदूत आये थे। स्पेन के अरबों को छोड़कर, बग़दाद और अब्बासी साम्राज्य शासन की सारी कलाओं में, व्यापार में और विद्या के विकास में, यूरोप से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

अब्बासी काल हमारे लिए ख़ासतौर से दिलचस्प है, क्योंकि इसी ज़माने में विज्ञान में नई दिलचस्पी पैदा हुई थी। तुम जानती हो कि विज्ञान आजकल की दुनिया में बहुत बड़ी चीज़ है और बहुत-सी बातों के लिए हम विज्ञान के देनदार हैं। विज्ञान का काम यह नहीं है कि सिर्फ़ हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाय और मनाता रहे कि घटनाएँ होती रहें। वह तो इस तलाश में रहता है कि घटनाएँ क्यों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती हैं ? विज्ञान प्रयोग करता रहता है और बार-बार कोशिश करता है—कभी असफल होता है और कभी सफल—और इस तरह धीरे-धीरे मनुष्य-जाति के ज्ञान को बढ़ाता रहता है। आजकल की हमारी दुनिया प्राचीन या मध्यकालीन दुनिया से बिलकुल अलग तरह की है। यह बड़ा फ़र्क़ ज़्यादातर विज्ञान की वजह से ही है, क्योंकि आज का संसार विज्ञान का ही बनाया हुआ है।

प्राचीन देश में हमको मिस्र, चीन या भारत में वैज्ञानिक तरीक़ा नहीं दिखाई देता। पुराने यूनान में ज़रूर कुछ अंश में पाया जाता है। रोम में भी इसका अभाव था। लेकिन अरब में खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती थी, इसलिए अरबों को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते हैं। आयुर्वेद और गणित जैसे कुछ विषयों में इन्होंने भारत से बहुत-कुछ सीखा था। भारतीय विद्वान् और गणितज्ञ बड़ी संख्या में बग़दाद जाते थे। बहुत-से अरबी विद्यार्थी उत्तर भारत में तक्षशिला आया करते थे, जो उस समय तक एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए ख़ास मशहूर था। आयुर्वेद की और दूसरे विषयों की संस्कृत पुस्तकें अरबी ज़बान में ख़ासतौर से अनुवाद की गई थीं। बहुत-सी चीज़ें अरबों ने चीन से सीखीं—जैसे काग़ज़ बनाना। लेकिन जो कुछ उन्होंने दूसरों से सीखा उसकी बुनियाद पर अपनी खोजें करके उन्होंने और बहुत-सी महत्वपूर्ण ईजादें कीं। सबसे पहले उन्होंने ही दूरबीन और क़ुतुबनुमा बनाये। चिकित्सा में अरब के हकीम और जर्राह सारे यूरोप में मशहूर थे।

इन तमाम दिमाग़ी हलचलों का मुख्य केन्द्र बग़दाद ही था। पश्चिम में अरबी स्पेन की राजधानी कुरतुबा भी ऐसा ही केन्द्र था। अरबी दुनिया में इसी तरह के और भी कई विश्वविद्यालयों के केन्द्र थे, जहाँ दिमाग़ी जीवन ख़ूब उन्नति पर था; जैसे 'विजयी' अल-क़ाहिरा, बसरा, और कूफ़ा। लेकिन एक अरबी इतिहासकार के अनुसार "इस्लाम की राजधानी, इराक़ की आँख, साम्राज्य की गद्दी और कला, संस्कृति और सौन्दर्य का केन्द्र" बग़दाद इन सब मशहूर शहरों से बढ़ा-चढ़ा था। इसकी आबादी बीस लाख से ज़्यादा थी और यह आजकल के कलकत्ता या बम्बई से बहुत बड़ा था।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि मोज़ा और जुर्राब पहनने की आदत सबसे पहले बग़दाद के अमीरों से ही शुरू हुई बतलाई जाती है। इन्हें 'मोज़ा' कहा जाता था और इनका भारतीय नाम इसी शब्द से निकला होगा। इसी तरह फ़ान्सीसी शब्द 'शेमीज़' यानी कुर्त्ता 'क़मीज़' से निकला है। 'क़मीज़' और 'मोज़ा' दोनों चीज़ें अरबों से क़ुस्तुन्तुनिया के बिज़ैन्तीनों ने लीं और फिर वहाँ से यूरोप पहुँचीं।

अरब लोग हमेशा से दूर-दूर की यात्रा करनेवाले रहे हैं। इन्होंने अपनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लम्बी-लम्बी समुद्र-यात्राएँ जारी रक्खीं और अफ़्रीका में, भारत के किनारों पर, मलेशिया में, और चीन तक में अपने उपनिवेश क़ायम किये। अलबेरूनी एक मशहूर अरब यात्री हो गया है, जो भारत आया था, और वह भी ह्यूएनत्सांङ की तरह अपने सफ़र का लिखा हुआ हाल छोड़ गया है।

अरब लोग इतिहास-लेखक भी थे, और इनकी ही किताबों और इतिहासों से हमें इनके बारे में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। हम सभी जानते हैं कि वे कितने सुन्दर क़िस्से और फ़साने लिख सकते थे। हज़ारों-लाखों आदमियों ने अब्बासी ख़लीफ़ाओं का और उनके साम्राज्य का नाम तक नहीं सुना है, लेकिन 'अलिफ़ लैला' यानी 'एक हज़ार एक रातों' में बयान किये हुए रहस्य और फ़सानों के नगर बग़दाद को कौन नहीं जानता। कल्पना का साम्राज्य अक़्सर सचमुच के साम्राज्य से ज़्यादा असली और टिकाऊ होता है।

हारूँ-अल-रशीद की मृत्यु के कुछ दिनों बाद अरब साम्राज्य पर आफ़त आई। दंगे-फ़साद होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये। सूबों के हाक़िम मौरूसी शासक बन बैठे। ख़लीफ़ा बराबर कमज़ोर होते गये, यह तक कि एक ऐसा भी वक़्त आया जब ख़लीफ़ा का राज्य सिर्फ़ बग़दाद शहर और आस-पास के कुछ गाँवों पर ही रह गया। एक ख़लीफ़ा को तो उसीके सिपाहियों ने महल से बाहर घसीट कर क़त्ल कर डाला था। फिर थोड़े दिनों के लिए कुछ ऐसे ज़ोरदार व्यक्ति पैदा हुए, जो बग़दाद से बैठे-बैठे हकूमत करने लगे, और जिन्होंने ख़लीफ़ाओं को अपना मातहत बना लिया।

इस समय इस्लाम की एकता दूर के बीते हुए ज़माने की बात हो गई थी। मिस्र से लेकर मध्य एशिया के ख़ुरासान तक, सभी जगह, अलग-अलग राज्य बन गये। दूर पूर्व से बहुत-से घुमक्कड़ क़बीले पश्चिम की तरफ़ बढ़ने लगे। मध्य एशिया के पुराने तुर्क मुसलमान हो गये और उन्होंने आकर बग़दाद पर क़ब्ज़ा कर लिया। इनको सेलजूक़ तुर्क कहते हैं। इन्होंने क़ुस्तुन्तुनिया की बिज़ैन्तीन सेना को पूरी तरह हराकर यूरोप को हैरत में डाल दिया। क्योंकि यूरोप के लोगों का ख़याल था कि अरबों और मुसलमानों की ताक़त ख़त्म हो चुकी है और वे लोग दिन-पर-दिन कमज़ोर होते जा रहे हैं। यह बात सच थी कि अरब लोग बहुत गिर चुके थे, लेकिन अब सेलजूक़ तुर्क इस्लाम का झण्डा ऊँचा रखने और यूरोप को चुनौती देने के लिए मैदान में उतर आये थे।

हम आगे चलकर देखेंगे कि इस चुनौती का जल्दी जवाब दिया गया, और मुसलमानों से लड़ने के लिए और अपने पवित्र शहर यरूशलम को फिर से जीतने के लिए यूरोप के ईसाई राष्ट्रों ने कई बार संगठित होकर जिहाद (धर्म-युद्ध) का झण्डा उठाया। सौ वर्षों से ज़्यादा तक सीरिया, फ़िलस्तीन और एशिया-कोचक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हुकूमत के लिए इस्लाम और ईसाइयत में लड़ाइयाँ हुईं। दोनों ने एक दूसरे को परास्त कर दिया और इन देशों की चप्पा-चप्पा ज़मीन मनुष्यों के ख़ून से तर कर दी। इन हिस्सों के ख़ुशहाल शहरों की महानता और तिजारत ख़त्म हो गई और हरे-भरे खेत अक़्सर वीरान कर दिये गए।

इसी तरह ये एक दूसरे से लड़ते रहे। इनकी लड़ाइयाँ ख़त्म भी नहीं होने पाई थीं कि एशिया के उस पार मंगोलिया में 'दुनिया को हिलानेवाला' कहलाने-वाला मुग़ल चंगेज़ खाँ पैदा हुआ। एशिया और यूरोप को तो इसने आगे चलकर वास्तव में हिला दिया। इसने और इसके वंशजों ने बग़दाद और उसके साम्राज्य को हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया। जब मंगोल लोग बग़दाद के विशाल और मशहूर शहर का निपटारा कर चुके तो वहाँ सिर्फ़ मिट्टी और राख का ढेर रह गया था और उसके बीस लाख निवासियों में से ज़्यादातर मर चुके थे। यह १२५८ ई० की बात है।

बग़दाद अब फिर एक ख़ुशहाल शहर हो गया है और इराक़ की राजधानी है। लेकिन वह अपने पुराने रूप की सिर्फ़ छाया है, क्योंकि मंगोलों की ढायी हुई मौत और बरबादी के असर से यह कभी न पनप सका।

: ५१ :

उत्तर-भारत में—हर्ष से महमूद तक

१ जून, १९३२

अब हमें अरबों या सरासीनों की कहानी के सिलसिले को तोड़कर दूसरे देशों पर नज़र डालनी चाहिए। जिस अर्से में अरब शक्तिशाली हुए, विजयी हुए, फैले और फिर गिर गए, उस बीच भारत में, चीन में और यूरोप के देशों में क्या हो रहा था? इसकी कुछ झलक हम पहले ही देख चुके हैं—७३२ ई० में चार्ल्स मार्तेल की क़मान में यूरोप की शामिल सेनाओं का अरबों को फ़्रान्स में तूर की लड़ाई में हराना, अरबों की मध्य-एशिया पर विजय और भारत में सिन्ध तक उनका आना। पहले ज़रा भारत की ओर चलें।

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ६४८ ई० में मर गया और उसके मरने के साथ ही उत्तर भारत का राजनीतिक पतन और भी साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा। पतन का यह सिलसिला कुछ समय पहले ही से चला आ रहा था और हिन्दू और बौद्धधर्म के संघर्ष ने इस गिरावट में मदद पहुँचाई। हर्ष के समय में ख़ूब दिखावा था, लेकिन यह भी थोड़े ही दिन रहा। हर्ष के मरने के बाद उत्तर भारत में कई छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गए, जो कभी-कभी कुछ दिनों के लिए शान दिखा देते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे, और कभी-कभी आपस में लड़ा करते थे। यह विचित्र बात है कि हर्ष के मरने के बाद तीन सौ से भी ज़्यादा वर्षों तक देश में साहित्य और कला फूलते-फलते रहे, और कई बढ़िया सार्वजनिक चीज़ें बनीं। इसी ज़माने में भवभूति और राजशेखर जैसे कई प्रसिद्ध संस्कृत लेखक हुए और कई ऐसे राजा हुए, जो राजनीति के लिहाज़ से तो महत्व नहीं रखते, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके राज में कला और विद्या ने तरक्क़ी की। इनमें से राजा भोज तो आदर्श राजा का ऐसा नमूना बन गया है, जिसका नाम कहानियों में आता है।

लेकिन इन चमकदार घटनाओं के बावजूद उत्तर भारत का पतन होता जा रहा था। दक्षिण भारत फिर से आगे बढ़ रहा था और उत्तर भारत पर छाने लगा था। इस समय के दक्षिण भारत के बारे में मैं तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में कुछ लिख चुका हूँ। उसमें मैंने चालुक्यों, पल्लवों, राष्ट्रकूटों और चोल साम्राज्य के बारे में लिखा था। मैं शंकराचार्य का भी ज़िक्र कर चुका हूँ, जिन्होंने थोड़ी-सी ज़िन्दगी में ही सारे देश के विद्वानों और बेपढ़ों, दोनों पर असर डालने में सफलता पाई और जो भारत में बौद्ध धर्म को क़रीब-क़रीब खत्म कर देने में सफल हुए। कितनी विचित्र बात है कि जब शंकराचार्य अपना काम कर रहे थे ठीक उसी समय एक नया मज़हब भारत का दरवाज़ा खटखटा रहा था, जो बाद में बाढ़ की तरह जीतता हुआ भारत में घुसा और उस ज़माने की व्यवस्था को चुनौती देने लगा!

अरब लोग बहुत जल्द, हर्ष की ज़िन्दगी में ही, भारत की सीमा पर आ पहुँचे थे। वे वहाँ कुछ समय के लिए रुक गए और फिर उन्होंने सिन्ध पर क़ब्ज़ा कर लिया। ७१० ई० में सत्रह साल के एक जवान लड़के मोहम्मद इब्न क़ासिम ने अरबी सेना लेकर सिन्ध काँठे को पश्चिम पंजाब में मुलतान तक जीत लिया। भारत में अरबों की फ़तह का यही पूरा फैलाव था। सम्भव है, अगर उन्होंने कड़ी कोशिश की होती वे इससे भी आगे बढ़ गए होते। यह काम कुछ मुश्किल भी न होता, क्योंकि उत्तर भारत बहुत कमज़ोर था। हालाँकि इन अरबों और आस-पास के राजाओं में अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं, फिर भी देश जीतने के लिए कोई संगठित कोशिश नहीं की गई। इसलिए राजनीतिक पहलू से अरबों की सिन्ध पर यह विजय कोई खास महत्व का मामला नहीं था। मुसलमानों ने भारत को इसके कई सौ वर्षों बाद जीता, लेकिन अरबों और भारतवासियों के इस सम्पर्क का संस्कृति पर बहुत बड़ा असर हुआ।

अरबों का दक्षिण के भारतीय राजाओं, खासकर राष्ट्रकूटों, के साथ दोस्ती का व्यवहार रहता था। बहुत-से अरब भारत के पश्चिमी किनारे पर बस गये थे और अपनी बस्तियों में उन्होंने मस्जिदें बनवाई थीं। अरब यात्री और व्यापारी भारत के कई हिस्सों में जाया करते थे। अरब विद्यार्थी उत्तर भारत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तक्षशिला विश्वविद्यालय में काफ़ी संख्या में आते थे, जो ख़ासकर आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। कहते हैं कि हारूँ-अल-रशीद के ज़माने में भारत के विद्वानों का बग़दाद में बड़ा आदर था और भारत के वैद्य शफ़ाखानों और चिकित्सा की पाठशालाओं की व्यवस्था करने के लिए बग़दाद जाया करते थे। गणित और ज्योतिष के बहुत-से संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया था।

इसी तरह अरबों ने पुरानी भारतीय-आर्य संस्कृति से बहुत-सी बातें लीं। उन्होंने ईरान की आर्य-संस्कृति और यूनानी संस्कृति से भी बहुत-कुछ लिया था। अरब लोग क़रीब-क़रीब एक नई नस्ल की तरह थे, जो अपनी पूरी जवानी पर थी। उन्होंने अपने चारों ओर जितनी पुरानी सभ्यताएँ देखीं, सबसे कुछ-न-कुछ सीखा और फ़ायदा उठाया, और इस बुनियाद पर उन्होंने एक अपनी ही चीज़ बनाई, जिसे सरासीनी संस्कृति कहते हैं। संस्कृतियों के लिहाज़ से इस संस्कृति की ज़िन्दगी थोड़े दिनों की ही रही, लेकिन यह एक रोशन ज़िन्दगी थी, जो यूरोप के मध्य युगों के अँधेरे परदे पर चमकती हुई दिखाई देती है।

यह अजीब बात है कि अरब लोगों ने तो भारतीय आर्य, ईरानी और यूनानी संस्कृतियों के सम्पर्क से फ़ायदा उठाया, पर भारतीयों, ईरानियों और यूनानियों ने अरबों के सम्पर्क से ज़्यादा फ़ायदा नहीं उठाया। शायद इसकी वजह यह हो कि अरब जाति नई थी, और मर्दानगी व उत्साह से भरी हुई थी; लेकिन दूसरी जातियाँ पुरानी थीं जो पुरानी लकीरों पर चली जाती थीं, और परिवर्तन की ज़्यादा परवाह नहीं करती थीं। यह मज़ेदार बात है कि उम्र का जैसा असर व्यक्तियों पर पड़ता है, वैसा ही क़ौमों और नस्लों पर भी पड़ता है, उनकी गति धीमी पड़ जाती है, उनके मन और शरीर बेलोच हो जाते हैं, वे परिवर्तन से घबराने लगती हैं और रूढ़िवादी बन जाती हैं।

इसलिए अरबों के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षों तक रहा, भारत पर ज़्यादा असर नहीं पड़ा, और न उसमें कोई ख़ास परिवर्तन ही हुआ। लेकिन इस लम्बे समय में नये मज़हब इस्लाम के बारे में भारत को कुछ-न-कुछ जानकारी ज़रूर हो गई होगी। अरब के मुसलमान आते और जाते रहे और मस्जिदें बनवाते रहे, कभी उन्होंने अपने मज़हब का प्रचार किया और कभी कुछ लोगों को मुसलमान भी बनाया। मालूम होता है कि उस समय इन बातों पर कोई ऐतराज़ नहीं किया जाता था और न हिन्दू धर्म और इस्लाम में कोई झगड़ा या संघर्ष हुआ। यह बात ध्यान देने लायक़ है; क्योंकि बाद में इन दोनों में संघर्ष और लड़ाई-झगड़े हुए हीं। ग्यारहवीं सदी में जब इस्लाम हाथ में तलवार लेकर, विजेता की तरह, भारत में दाख़िल हुआ तभी ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया शुरू हुई और पुरानी सहनशीलता की जगह नफ़रत और संघर्ष ने ले ली।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तलवार चलानेवाला, जो आग और मार-काट लेकर भारत में आया, ग़ज़नी का महमूद था। ग़ज़नी अब अफ़ग़ानिस्तान में एक छोटा-सा क़स्बा रह गया है। दसवीं सदी में ग़ज़नी के आस-पास एक राज्य बन गया था। मध्य एशिया के राज्य नाम के लिए बग़दाद के ख़लीफ़ा के अधीन थे, लेकिन, जैसा कि मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ, हारूँ-अल-रशीद के मरने के बाद ख़लीफ़ा कमज़ोर हो गये, और एक समय आया जब ख़लीफ़ाओं का साम्राज्य कई स्वाधीन राज्यों में बँट गया। यह उसी समय की बात है, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। सुबुक्तगीन नामक एक तुर्की ग़ुलाम ने ९७५ ई० के लगभग ग़ज़नी और क़न्धार में अपना एक राज्य क़ायम कर लिया था। उसने भारत पर भी हमला किया। उन दिनों लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल ने सुबुक्तगीन के ख़िलाफ़ काबुल नदी के काँठे पर चढ़ाई कर दी, पर उसकी हार हो गई।

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। वह एक तेजस्वी सेनापति और घुड़सवारों का कुशल नायक था। हर साल वह भारत पर धावा बोलता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से क़ैदी ले जाता। कुल मिलाकर उसने भारत पर सत्रह हमले किये, जिनमें से सिर्फ़ एक कश्मीर का धावा असफल रहा। बाक़ी सब धावे सफल हुए, और सारे उत्तर भारत पर उसका आतंक छा गया। वह दक्षिण की तरफ़ पाटलिपुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक जा पहुँचा। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख क़ैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे ज़्यादा ख़ज़ाना सोमनाथ में मिला, क्योंकि वहाँ पर एक बहुत बड़ा मन्दिर था और सदियों की भेंट-पूजा वहाँ जमा थी। कहते हैं कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा, तो इस आशा में कि कोई चमत्कार होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी मदद करेगा, हज़ारों आदमियों ने उस मन्दिर में शरण ली! लेकिन भक्तों की कल्पनाओं के बाहर चमत्कार शायद ही कभी होते हों। महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला और उसे लूट लिया। पचास हज़ार आदमी उस चमत्कार की, जो होनेवाला नहीं था, राह देखते-देखते मर गये।

महमूद १०३० ई० में मर गया। उस समय सारा पंजाब और सिन्ध उसके अधीन था। वह इस्लाम का एक बड़ा नेता माना जाता है, जो भारत में इस्लाम फैलाने के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज़्ज़त करते हैं, बहुत-से हिन्दू उससे नफ़रत करते हैं। लेकिन असल में वह मज़हबी आदमी नहीं था। वह मुसलमान ज़रूर था, लेकिन यह कोई ख़ास बात नहीं थी। असली बात तो यह थी कि वह एक सिपाही था और बहुत होशियार सिपाही था। वह भारत को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदक़िस्मती से अक्सर सिपाही किया करते हैं, और वह किसी भी मज़हब का माननेवाला होता तो भी यही करता। यह दिलचस्प बात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान शासकों को भी धमकी दी थी और जब उन्होंने उसकी अधीनता मंजूर कर ली और उसे खिराज दिया तभी उन्हें छोड़ा था। उसने बग़दाद के ख़लीफ़ा को भी मौत की धमकी दी थी और उससे समरक़न्द माँगा था। इसलिए हमें महमूद को एक सफल सिपाही के अलावा और कोई दूसरी चीज़ समझने की आम ग़लतफ़हमी में नहीं पड़ना चाहिए।

महमूद बहुत-से भारतीय शिल्पकारों और मेमारों को अपने साथ ग़ज़नी ले गया था, और वहाँ उसने एक सुन्दर मस्जिद बनाई थी, जिसका नाम उसने 'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रक्खा था। बग़ीचों का उसे बड़ा शौक़ था।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमें दिखाई है, जिससे पता लगता है कि मथुरा उस समय कितना बड़ा शहर था। महमूद ने ग़ज़नी के अपने सूबेदार को एक ख़त में लिखा था—"यहाँ एक हज़ार ऐसी इमारतें हैं, जो मोमिनों के ईमान की तरह मज़बूत हैं। यह मुमकिन नहीं कि यह शहर अपनी मौजूदा हालत को बिना करोड़ों दीनार[1] ख़र्च किये पहुँचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दो सौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है।"

महमूद का लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फ़िरदौसी की किताब में पढ़ते हैं। फ़िरदौसी महाकवि था और महमूद का समकालीन था। मुझे ख़याल आता है कि पिछले साल एक पत्र में मैंने उसका और उसकी ख़ास रचना 'शाहनामा' का ज़िक्र किया है। एक कथा है कि शाहनामा महमूद के कहने पर लिखा गया था और उसने फ़िरदौसी को एक-एक शेर पर सोने की एक-एक दीनार देने का वादा किया था। लेकिन मालूम होता है फ़िरदौसी संक्षेप में और थोड़े शब्दों में लिखने का क़ायल नहीं था। उसने बहुत ही विस्तार के साथ लिखा, और जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हज़ारों शेर ले गया, तो हालाँकि उसकी रचना की बहुत तारीफ़ की गई, लेकिन महमूद को जल्दबाज़ी में किये गए अपने वादे पर अफ़सोस हुआ। उसने उसे वादे से बहुत कम देने की कोशिश की। इसपर फ़िरदौसी बड़ा नाराज़ हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया।

हर्ष से महमूद तक हमने एक लम्बी छलाँग मारी है और साढ़े तीन सौ वर्षों से ज़्यादा समय का भारतीय इतिहास कुछ ही पैरों में देख लिया है। मैं समझता हूँ कि इस लम्बे काल के बारे में बहुत-कुछ दिलचस्प बातें लिखी जा सकती हैं। लेकिन मैं उनसे परिचित नहीं हूँ, इसलिए अक़्लमन्दी की बात यही है कि मैं इस बारे में चुप रह जाऊँ। मैं तुम्हें अलग-अलग राजाओं और शासकों के बारे में कुछ-न-कुछ बता सकता हूँ, जो एक-दूसरे से लड़े और जिन्होंने उत्तर भारत में कभी-कभी पांचाल जैसे बड़े-बड़े राज्य भी क़ायम किये। कन्नौज के बड़े शहर की

---

[1] दीनार—सोने का एक सिक्का।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुसीबतों का भी हाल मैं बता सकता हूँ कि किस तरह उसपर पहले कश्मीर के राजाओं ने फिर बंगाल के राजा ने और बाद में दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने हमले किये और थोड़े-थोड़े दिनों के लिए क़ब्ज़े किये, लेकिन इससे कोई फ़ायदा न होगा; तुम सिर्फ़ उलझन में फँस जाओगी।

यहाँ हम भारत के इतिहास के एक लम्बे अध्याय के अन्त तक आ पहुँचे हैं, और अब एक नया अध्याय शुरू होता है। इतिहास को अलग-अलग हिस्सों में बाँटना मुश्किल होता है और अक्सर ग़लत भी। इतिहास बहती हुई नदी की तरह आगे बढ़ता ही रहता है। फिर भी इसमें परिवर्तन होते रहते हैं; एक पहलू का अन्त और दूसरे की शुरुआत होती दिखाई देती है। ये परिवर्तन अचानक नहीं होते; एक परिवर्तन पूरा होने नहीं पाता कि दूसरा शुरू हो जाता है। इसलिए जहाँतक भारत का सम्बन्ध है, हम उसके इतिहास के अटूट नाटक के एक अंक तक पहुँच गये हैं। जिस काल को हिन्दू-काल कहा जाता है वह अब धीरे-धीरे ख़त्म होता है। हिन्दू-आर्य संस्कृति, जो कई हज़ार वर्षों से फूलती-फलती आ रही थी, अब एक नई आनेवाली संस्कृति के संघर्ष में आती है। लेकिन याद रखो कि यह परिवर्तन अचानक नहीं हुआ था; धीरे-धीरे आया था। इस्लाम उत्तर भारत में महमूद के साथ आया। दक्षिण भारत बहुत दिनों तक इस्लाम से अछूता रहा, और इसके बाद बंगाल भी क़रीब दो सौ वर्षों से ज़्यादा तक इस्लाम के प्रभाव से बचा रहा। हम देखते हैं कि उत्तर में चित्तौड़, जो आगे के इतिहास में अपनी जाँ-बाज़ बहादुरी के लिए मशहूर होनेवाला था, राजपूत घरानों के एक जगह इकट्ठा होने की जगह बनने लगा था। लेकिन मुसलमानों की विजय का ज्वार पक्के और न बदलनेवाले रूप से आगे बढ़ता ही गया और व्यक्तिगत वीरता उसे ज़रा भी न रोक सकी। इसमें कोई शक नहीं कि पुराना हिन्दू-आर्य भारत गिरावट की तरफ़ जा रहा था।

विदेशियों और विजेताओं को रोकने में असमर्थ होने पर हिन्दू-आर्य संस्कृति ने बचाव की नीति पकड़ी। अपने को बचाने की कोशिश में वह एक कोठरी में बन्द होकर बैठ गई। उसने अपनी जाति-प्रथा को, जिसमें अभी तक कुछ लोच बाक़ी था, ज़्यादा कड़ी और जड़ बना दिया। उसने स्त्रियों की आज़ादी कम कर दी। ग्राम-पंचायतों की हालत भी धीरे-धीरे बदलकर बुरी हो गई। लेकिन इस हालत में भी, जबकि वह एक ज़्यादा जीवटदार क़ौम के सामने गिर रही थी, उसने उन लोगों पर अपना असर डालने और उन्हें अपने साँचे में ढालने की कोशिश की। और इस आर्य-संस्कृति में दूसरों की बातों को अपनाने और हज़म करने की इतनी ताक़त थी कि, एक हद तक, इसने अपने विजेताओं के ऊपर भी साँस्कृतिक विजय हासिल कर ली।

तुम्हें याद रखना चाहिए कि यह खींच-तान भारतीय-आर्य सभ्यता और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊँचे दर्जे की सभ्यतावाले अरबों के बीच नहीं थी। यह तो सभ्य, लेकिन गिरते हुए भारत और मध्य एशिया की उन आधी-सभ्य और अक्सर घुमक्कड़ क़ौमों के बीच थी जिन्होंने ख़ुद ही उन्हीं दिनों इस्लाम क़बूल किया था। बदक़िस्मती से भारत ने इस्लाम का सम्बन्ध इस असभ्यता और महमूद के हमलों की भयानकता के साथ जोड़ दिया, जिससे कड़वाहट पैदा हो गई।

: ५२ :

यूरोप के देशों का रूप लेना

३ जून, १९३२

प्यारी बेटी! अब हम यूरोप की सैर करेंगे। पिछली बार जब हमने उसका ज़िक्र किया था तब उसकी हालत ख़राब थी। रोम का पतन, पश्चिमी यूरोप में सभ्यता का पतन था। क़ुस्तुन्तुनिया की सरकार के अधीन हिस्से को छोड़कर पूर्वी यूरोप में भी ख़राब हालत थी। अतिला नामक हूण ने इस महाद्वीप के बहुत बड़े हिस्से को जला डाला और तहस-नहस कर डाला था। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य, गिरावट पर होते हुए भी, बना रहा। इतना ही नहीं, कभी-कभी उसमें हलचल के उफ़ान भी आते रहते थे।

रोम के पतन ने पश्चिम को झँझोड़ दिया और उसके बाद वहाँ सब बातें नये तरीक़े से जमने लगीं। इनके जमने में बहुत दिन लग गये। फिर भी नया ढाँचा जैसे-जैसे बनता जाता है, वह हमें कुछ हद तक नज़र आने लगता है। कभी सन्तों और शान्ति-प्रिय लोगों की मदद पाकर, और कभी अपने योद्धा राजाओं की तलवार के ज़ोर पर, ईसाइयत फैलने लगी। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ़्रान्स, बेलजियम और जर्मनी के एक भाग पर फ़्रैंक लोगों ने, जिन्हें तुम फ़्रैंच (फ़्रान्स-निवासी) समझने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य बनाया। इसने ४८१ से ५११ ई० तक राज किया। यह राजवंश क्लोविस के दादा के नाम से मेरोविंजी वंश कहलाता है। लेकिन इन राजाओं के ऊपर बहुत जल्दी उन्हींके दरबार का एक अफ़सर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मेयर सारी शक्तिवाले हो गये और इनका यह पद मौरूसी हो गया। असली शासक तो ये थे, राजा तो सिर्फ़ नाम के और कठपुतली थे।

चार्ल्स मार्तेल भी इन्हीं राजमहल के मेयरों में से था, जिसने ७३२ ई० में फ़्रान्स में तूर की बड़ी लड़ाई में सरासीनों को हराया था। इस विजय से चार्ल्स मार्तेल ने सरासीनों की उस लहर को रोक दिया जो मुल्कों को जीतती चली आ रही थी, और ईसाइयों की निगाह में उसने यूरोप को बचा लिया। इस जीत से उसकी इज्ज़त और शोहरत बहुत बढ़ गई। वह शत्रुओं से ईसाई सल्तनत की रक्षा करने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

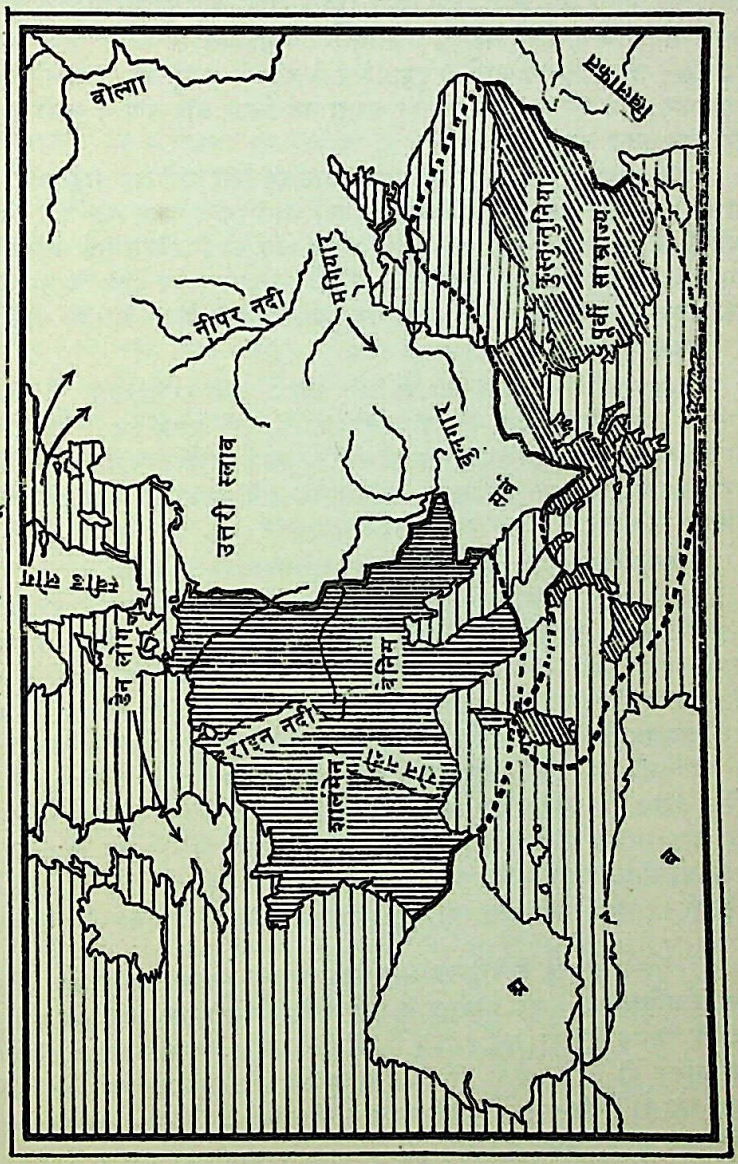

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला वीर माना जाने लगा। इन दिनों रोम के पोपों और क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राटों के आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। इसलिए पोप सहायता के लिए चार्ल्स मार्तेल का मुँह देखने लगा। चार्ल्स मार्तेल के पुत्र पेपिन ने वहाँ के कठपुतली राजा को गद्दी से उतारकर अपने को बादशाह घोषित करना तय किया और पोप ने ख़ुशी के साथ यह बात मान ली।

पेपिन का पुत्र शार्लमेन था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई और उसने शार्लमेन को अपने बचाव के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की और पोप के दुश्मनों को भगा दिया और ८०० ई० के बड़े दिन को गिरजे में एक बड़ा उत्सव मनाया गया, जिसमें पोप ने शार्लमेन को रोमन सम्राट् का ताज पहना दिया। उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बाबत मैं तुम्हें पहले एक बार लिख चुका हूँ।

यह एक विचित्र साम्राज्य था, और इसका आगे का इतिहास तो और भी विचित्र है, क्योंकि वह धीरे-धीरे ग़ायब हो जाता है, जैसे 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'[1] की चेशायर बिल्ली ग़ायब होकर सिर्फ़ अपनी मुस्कराहट छोड़ जाती है और उसके शरीर का कोई निशान नहीं रहता। लेकिन यह आगे की बात है और हमें अभी से भविष्य में ताक-झाँक करने की ज़रूरत नहीं।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का सिलसिला नहीं था। यह एक अलग ही चीज़ थी। यह अपने साम्राज्य को ही साम्राज्य समझता था। इसका सम्राट्, शायद पोप को छोड़कर अपने को दुनिया में हरेक का स्वामी मानता था। सम्राट् और पोप के बीच कई सदियों तक इस बात की लागडाँट रही थी कि दोनों में कौन बड़ा है। लेकिन यह भी अभी आगे की बात है। मज़ेदार बात यह है कि यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनर्जीवन माना जाता था, जो किसी समय सर्वोपरि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना जाता था। लेकिन इसके साथ ईसाइयत और ईसाई-राज्य का एक नया विचार और जुड़ गया था। इसलिए यह साम्राज्य 'पवित्र' बन गया था। सम्राट् को इस पृथ्वी पर ईश्वर का नायब जैसा समझा जाता था और यही बात पोप के लिए भी थी। एक राजनीतिक मामलों को निपटाता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलों को। बहरहाल

---

[1] 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'—अंग्रेज़ी की एक पुस्तक का नाम। ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर ने, लुई कैरोल के नाम से, एक मित्र की लड़कियों के विनोद के लिए, सन् १८६५ में इसे लिखा था। यह पुस्तक बड़ी रोचक है, और शायद ही कोई अंग्रेज़ी जाननेवाला बालक या बालिका ऐसी हो, जिसने इसे न पढ़ा हो। इस पुस्तक में एलिस नाम की एक लड़की की आश्चर्यमय लोक की स्वप्न-यात्रा का वर्णन है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ ऐसा ही विचार था; और मैं समझता हूँ कि इसी विचार से यूरोप में राजाओं के दैवी अधिकार[1] का खयाल पैदा हुआ। सम्राट् 'धर्म का रक्षक' था। तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि इंग्लैण्ड का बादशाह अभी तक 'धर्म का रक्षक' कहा जाता है।

इस सम्राट् का मुक़ाबला उस ख़लीफ़ा से करो जो 'अमीरुल मोमिनीन' कहलाता था। शुरू में ख़लीफ़ा वास्तव में सम्राट् और पोप दोनों ही होता था। लेकिन बाद में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसकी हैसियत नाम की रह गई थी।

क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राटों ने पश्चिम के इस नये उठे हुए 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को बिलकुल पसन्द नहीं किया। जिस समय शार्लमेन गद्दी पर बैठा, क़ुस्तुन्तुनिया में आइरीन नामक एक औरत सम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन ऐसी स्त्री थी, जिसने सम्राज्ञी बनने के लिए ख़ुद अपने ही पुत्र को मार डाला था और उसके समय में राज्य की हालत ख़राब थी। यह भी एक वजह थी, जिससे पोप को यह साहस हुआ कि शार्लमेन को ताज पहनाकर क़ुस्तुन्तुनिया से नाता तोड़ ले।

शार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई सल्तनत का नायक था। वह पृथ्वी पर 'ईश्वर का नायब' था और एक पवित्र साम्राज्य का सम्राट् था। सुनने में ये शब्द कितने शानदार मालूम पड़ते हैं! लेकिन इनसे जनता को चमका देने और उसे मन्त्रमुग्ध कर देने का काम सध ही जाता है। ईश्वर और धर्म को अपना मददगार बनाकर सत्ताधारियों ने बहुत बार दूसरों को बेवक़ूफ़ बनाने और अपनी ताक़त बढ़ाने की कोशिशें की हैं। राजा, सम्राट् और धर्माचार्य इस तरह औसत आदमी की नज़रों में धुंधले और छाया-जैसे प्राणी बन जाते हैं, जो लोगों की निगाह में देवताओं की तरह और साधारण जीवन से दूर हो जाते हैं। इस रहस्य की वजह से मनुष्य उनसे भय खाने लगता है। दरबारों के तक़ल्लुफ़ी क़ायदों, शिष्टाचारों और ढकोसलों की तुलना मन्दिरों और गिरजों में होने वाली पूजा के वैसे ही लम्बे-चौड़े आडम्बरों से करो। दोनों में वही एक-से सर झुकाना, कोर्निश करना और दण्डवत् करना—जिसे चीनी लोग 'को-तो' करना कहते हैं। सत्ता के विविध रूपों की यह पूजा बचपन से ही हमें सिखाई जाती है। यह भय की उपासना है, प्रेम की नहीं।

शार्लमेन बग़दाद के हारूँ-अल-रशीद का समकालीन था। वह उससे पत्र-व्यवहार करता था। और ग़ौर करने की बात है कि उसने सचमुच यह सुझाव दिया था कि वे दोनों मिलकर पूर्वी रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनों का मुक़ाबला करें। मालूम होता है, इस सुझाव का कोई फल नहीं निकला, लेकिन फिर भी इससे राजाओं और राजनीतिकों के दिमाग़ों के रंग-ढंग पर काफ़ी रोशनी पड़ती है। ईसाई-शक्ति और अरब-शक्ति के ख़िलाफ़, 'पवित्र' सम्राट् ईसाई सल्तनत का

[1] Divine Right of Kings.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायक, बग़दाद के ख़लीफ़ा से मेल करे; इसकी कल्पना तो करो! तुम्हें याद होगा कि स्पेन के सरासीनों ने बग़दाद के अब्बासी ख़लीफ़ाओं को मानने से इन्कार कर दि..ा था। वे आज़ाद हो गये थे और बग़दाद उनसे जला-भुना बैठा था। लेकिन ये दोनों एक-दूसरे से इतने दूर थे कि लड़ नहीं सकते थे। क़ुस्तुन्तुनिया और शार्लमेन के आपसी सम्बन्ध भी कुछ अच्छे नहीं थे। लेकिन यहाँ भी फ़ासले की वजह से लड़ाई नहीं हो पाई। बहरहाल यह सुझाव दिया गया था कि ईसाई और अरबी आपस में मिलकर दूसरी ईसाई शक्ति और दूसरी अरबी शक्ति से लड़ें। राजाओं के मन में असली नीयत यह होती थी कि किसी तरह शक्ति, सत्ता और दौलत हासिल करें—लेकिन मज़हब को अक़्सर इस नीयत का चोला बना दिया जाता था। हर जगह ऐसा ही होता रहा है। भारत में हमने देखा है कि महमूद आया तो मज़हब के नाम पर लेकिन उसने इस चीज़ से ख़ूब फ़ायदा उठाया। धर्म की दुहाई देकर लोगों ने बहुत कमाइयाँ की हैं।

लेकिन हरेक युग में लोगों के विचार बदला करते हैं, और हमारे लिए बहुत दिन पहले के लोगों के बारे में फ़ैसला देना मुश्किल है। यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। बहुत-सी बातें, जो आज हमें ज़ाहिरा दिखाई देती हैं, उस समय के लोगों को बहुत विचित्र मालूम होतीं और उनके सोचने के ढंग और उनकी आदतें हमको अजीब मालूम होतीं। एक तरफ़ जब लोग ऊँचे आदर्शों की, पवित्र साम्राज्य की, ईश्वर के नायब की, और ईसा की जगह लेनेवाले पोप की बातें करते थे, तब उधर पश्चिम में हद से ज़्यादा ख़राब हालत थी। शार्लमेन के राज के कुछ ही दिन बाद इटली और रोम बहुत ही शर्मनाक हालत में थे। रोम में कुछ स्त्रियों और पुरुषों का एक घृणा पैदा करनेवाला झुण्ड मनमानी करता था और पोपों को बनाता-बिगाड़ता रहता था।

वास्तव में रोम के पतन के बाद पश्चिमी यूरोप में फैली हुई आम अशान्ति से लोगों के दिलों में यह ख़याल पैदा हो गया था कि साम्राज्य अगर फिर ज़िन्दा हो जाय तो हालत सुधर जायगी। बहुतों के लिए यह इज़्ज़त का सवाल हो गया कि उनका एक सम्राट् हो। उस समय का एक पुराना लेखक लिखता है कि चार्ल्स को इसलिए सम्राट् बनाया गया, कि "ग़ैर-ईसाई यह समझकर ईसाइयों का अपमान न करें कि ईसाइयों में सम्राट् का नाम बाक़ी नहीं रहा है।"

शार्लमेन के साम्राज्य में फ़्रान्स, बेलजियम, हालैण्ड, स्वीज़रलैण्ड, आधा जर्मनी और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम में स्पेन था, जो अरबों के अधीन था। उत्तर-पूर्व में स्लाव[1] और दूसरे क़बीले थे। उत्तर में डेन[2] और नार्थमेन[3]

---

[1] यूगोस्लाविया के निवासी, [2] डेनमार्क के निवासी, [3] उत्तर यूरोप के क़बीले।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। दक्षिण-पूर्व में बलग़ारी और सर्ब[1] थे और उनके आगे क़ुस्तुन्तुनिया के अधीन पूर्वी रोमन साम्राज्य था।

८१४ ई० में शार्लमेन की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद साम्राज्य की लूट के बँटवारे के लिए झगड़े उठ खड़े हुए। उसके वंशज, जो कार्लोविंजियन (केरोल चार्ल्स का लातीनी रूप है) कहलाते थे, किसी काम के नहीं थे, जैसाकि उनमें से कुछ की उपाधियों से मालूम होता है—एक 'मोटा' कहलाता था, एक 'गंजा' और एक 'दीनदार'। शार्लमेन के साम्राज्य के बँटवारे से अब हम जर्मनी और फ़्रान्स को अपना-अपना अलग रूप लेता हुआ देखते हैं। ८४३ ई० से जर्मनी का एक राष्ट्र के रूप में जन्म माना जाता है, और कहा जाता है कि ९६२ से ९७३ ई० तक राज्य करनेवाले सम्राट् ओटो महान् ने जर्मनों को बहुत करके एक क़ौम बना दिया। फ़्रान्स तो पहले से ही ओटो के साम्राज्य का हिस्सा नहीं था। ९८७ ई० में ह्यू कैपे ने कमज़ोर कार्लोविंजी राजाओं को निकाल दिया और फ़्रान्स पर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन क़ब्ज़ा पूरी तरह का नहीं था, क्योंकि फ़्रान्स बड़े-बड़े इलाकों में बँटा हुआ था, जो स्वाधीन सरदारों के मातहत थे और ये सरदार आपस में अक़्सर लड़ा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरे से उतना नहीं डरते थे, जितना सम्राट् और पोप से; और इन दोनों का मुक़ाबला करने के लिए मिल जाते थे। ह्यू कैपे के समय से फ़्रान्स की राष्ट्र के रूप में शुरुआत हुई और इस शुरू के काल में भी हमें फ़्रान्स और जर्मनी की लाग-डाँट दिखाई देती है, जो पिछले हज़ार वर्षों से ठेठ हमारे ज़माने तक चली आ रही है। अजीब बात है कि फ़्रान्स और जर्मनी जैसे दो इतने सुसंस्कृत और ऊँची दिमाग़ी प्रतिभावाले पड़ोसी देश और राष्ट्र इस प्राचीन कलह को पीढ़ी-दर-पीढ़ी पालते रहे। लेकिन शायद इसमें उनका उतना क़सूर नहीं है, जितना उन प्रणालियों का, जिनके अधीन वे रहते आये हैं।

क़रीब-क़रीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मंच पर आता है। कहा जाता है कि उत्तर के रूरिक नामक एक व्यक्ति ने ८५० ई० के लगभग रूसी राज्य की नींव डाली थी। इसी समय यूरोप के दक्षिण-पूर्व में बलग़ारी लोग जमने लगे और वास्तव में कुछ हमलावर भी होने लगे; इसी तरह सर्ब लोग भी। मगयार या हंगेरी और पोल[2] लोग भी पवित्र रोमन साम्राज्य के और नये रूस के बीच में अपने राज्य बनाने लगे।

इसी बीच उत्तर यूरोप से कुछ लोग जहाजों में पश्चिमी और दक्षिणी देशों में आये और यहाँ उन्होंने आगें लगाईं, हत्याएँ कीं और लूट-मार की। तुमने डेनों और दूसरे नार्थमैनों के बारे में पढ़ा होगा, जो लूट-खसोट के लिए इंग्लैण्ड पहुँचे थे। ये नार्थमैन या नार्समैन जो नार्मन कहलाये, भूमध्यसागर में गये, अपने जहाजों

[1] सरबिया के निवासी। [2] पोलैण्ड के निवासी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बड़ी-बड़ी नदियों के रास्ते से अन्दर ले गये और जहाँ कहीं पहुँचे वहाँ डकैती, मारकाट और लूट-खसोट की। इटली में अराजकता थी और रोम की हालत बहुत बुरी थी। इन लोगों ने रोम को लूट लिया और क़ुस्तुन्तुनिया पर भी जा धमके। इन लुटेरों और डाकुओं ने फ़्रान्स के पश्चिमी हिस्से पर, जहाँ नारमण्डी है, और दक्षिण इटली और सिसली पर क़ब्ज़ा जमाया और धीरे-धीरे वहाँ बस गये और सामन्त व ज़मींदार बन बैठे, जैसा कि लुटेरे ख़ुशहाल होने पर अक़्सर किया करते हैं। फ़्रान्स के नारमण्डी प्रांत में बसे हुए इन्हीं नार्मनों ने १०६६ ई० में, विलियम की सेनानायकी में, जो 'विजेता' के नाम से मशहूर है, इंग्लैण्ड को जीत लिया। इस तरह हम इंग्लैण्ड की भी शक़्ल बनते देखते हैं।

अब हम मोटे तौर पर यूरोप में ईसवी सन् के पहले हज़ार वर्षों के अन्त तक पहुँच गये हैं। इसी वक़्त ग़ज़नी का महमूद भारत पर हमले कर रहा था और इसी समय के लगभग बग़दाद के अब्बासी ख़लीफ़ाओं की ताक़त टूट रही थी और पश्चिमी एशिया में सेलजूक़ तुर्क इस्लाम को फिर से उठा रहे थे। स्पेन अब भी अरबों के मातहत था, लेकिन वे अपने वतन अरब से बिलकुल कट गये थे और दरअसल बग़दाद के शासकों के साथ उनके अच्छे ताल्लुक़ नहीं थे। उत्तरी अफ़्रीका अमली तौर पर बग़दाद की अधीनता से निकल चुका था। मिस्र में एक स्वाधीन सरकार ही नहीं बल्कि एक अलग ख़िलाफ़त भी क़ायम हो गई थी और कुछ समय के लिए मिस्र के ख़लीफ़ा ने उत्तरी अफ़्रीका पर भी राज किया था।

: ५३ :

सामन्त-प्रथा

४ जून, १९३२

अपने पिछले पत्र में हमने आज के फ़्रान्स, जर्मनी, रूस और इंग्लैण्ड की शुरुआत की एक झलक देखी थी। लेकिन यह न समझ बैठना कि उस ज़माने के लोग इन देशों को उसी रूप में जानते थे, जिसमें हम इन्हें आज जानते हैं। हम आज अंग्रेज़ों, फ़्रान्सिसियों और जर्मनों के राष्ट्रों का अलग-अलग विचार करते हैं और इनमें से हरेक अपने देश को अपनी मातृभूमि या पितृ-भूमि की तरह मानता है। राष्ट्रीयता की यह भावना है, जो आजकल संसार में इतनी ज़ाहिर हो रही है। भारत में हमारी आज़ादी की लड़ाई हमारी 'राष्ट्रीय' लड़ाई है। लेकिन उस ज़माने में राष्ट्रीयता की यह भावना मौजूद नहीं थी। ईसाई-जगत् की कुछ भावना ज़रूर थी—यानी काफ़िरों और मुसलमानों से अलग ईसाइयों के एक समुदाय या समाज के होने की भावना। इसी तरह मुसलमानों का भी ख़याल था कि वे इस्लामी दुनिया के हैं और उनके अलावा बाक़ी जितने हैं वे सब काफ़िर हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन ईसाई-जगत् और इस्लाम की ये भावनाएँ धुंधली धारणाएँ थीं और जनता की रोज़ाना ज़िन्दगी पर इनका कोई असर नहीं था। खास-खास मौक़ों पर इन भावनाओं को उभाड़कर लोगों के दिलों में इस्लाम या ईसाइयत दोनों में से किसी के ख़िलाफ़ लड़ने का मज़हबी जोश भरा जाता था। राष्ट्रीयता के बजाय, आदमी-आदमी के बीच एक अजीब तरह का सम्बन्ध था। यह सामन्ती सम्बन्ध था, जो सामन्त-प्रथा से पैदा हुआ था। रोम के पतन के बाद पश्चिम की पुरानी व्यवस्था तहस-नहस हो गई थी। हर जगह गड़बड़, अराजकता, हिंसा और ज़बरदस्ती का बोलबाला था। ज़बर्दस्त लोग जो कुछ छीन सकते थे छीन लेते थे, और जबतक कोई उनसे ज्यादा ज़बर्दस्त आदमी आकर उन्हें पछाड़ नहीं देता, तबतक उसपर क़ब्ज़ा जमाये रहते थे। मज़बूत गढ़ैयाँ बनाई जाती थीं और इन गढ़ैयों के सरदार छापे मारने के लिए अपने दलों के साथ बाहर निकलते थे। ये गाँवों में लूटमार करते थे, और कभी-कभी अपने ही जैसे सरदारों से लड़ते भी थे। नतीजा यह था कि ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों को ही सबसे ज्यादा मुसीबतें उठानी पड़ती थीं। इसी गड़बड़ से सामन्त-प्रथा का जन्म हुआ था।

किसान संगठित नहीं थे और इन डकैत सरदारों से अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे। इनकी रक्षा करने के लिए कोई ताक़तवर केन्द्रीय सरकार नहीं थी। इसलिए इस बुराई से बचने का उन्होंने सबसे अच्छा उपाय यही देखा कि उन्हें लूटनेवाले इन गढ़ के सरदारों से समझौता कर लें। वे इस बात पर राज़ी हो गये कि उनके खेतों में जो कुछ पैदा हो उसका कुछ हिस्सा उन्हें दे दें और दूसरे रूप में भी उनकी कुछ सेवा करें, बशर्ते कि वे इन्हें लूटना और परेशान करना छोड़ दें और अपने वर्ग के दूसरे लोगों से भी इनकी रक्षा करें। इसी तरह छोटी गढ़ैयों के सरदारों ने बड़े गढ़ों के सरदारों से समझौता कर लिया। लेकिन छोटा सरदार बड़े सरदार को खेत की कोई उपज नहीं दे सकता था, क्योंकि वह खुद किसान या नाज पैदा करनेवाला नहीं होता था। इसलिए वह सैनिक सेवा का वादा करता था, यानी ज़रूरत पड़ने पर उसकी तरफ़ से लड़ने का वचन देता था। इसके एवज़ में बड़ा सरदार छोटे की रक्षा करता था और छोटा बड़े का असामी हो जाता था। इसी तरह सीढ़ी-दर-सीढ़ी यह सिलसिला बड़े सरदारों और सामन्तों तक चलता था और अन्त में इस सामन्ती ढाँचे के सिरमौर बादशाह तक पहुँच जाता था। लेकिन यह सिलसिला यहाँ भी खत्म नहीं होता। लोगों के लिए स्वर्ग में भी त्रिदेव के रूप में एक तरह की सामन्त-प्रथा थी, जिसका अध्यक्ष ईश्वर था!

यूरोप में फैली हुई गड़बड़ में से यही सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे पैदा हुई। तुम्हें याद रखना चाहिए कि उस वक़्त वास्तव में कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी;

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तो पुलिस के सिपाही ही थे और न इस क़िस्म की कोई दूसरी चीज़ थी। ज़मीन के किसी टुकड़े का मालिक, उसका शासक और सरदार तो था ही, लेकिन उस पर बसनेवाले तमाम लोगों का भी शासक और सरदार होता था। यह एक क़िस्म का छोटा राजा था, जो उनकी सेवाओं और खेतों की उपज के बदले में उनकी रक्षा करनेवाला माना जाता था। यह उनकी सेवा का हक़दार सरदार कहलाता था और वे उसकी रैयत या उसके तावेदार समझे जाते थे। माना यह जाता था कि इसकी ज़मीन उस बड़े सामन्त की दी हुई होती थी, जिसका वह असामी होता था और जिसे वह सैनिक सेवा देता।

ईसाई-संघ के पादरी भी सामन्त-प्रथा के अंग थे। वे धर्म-पुरोहित और सामन्ती सरदार दोनों थे। जर्मनी में तो क़रीब आधी ज़मीन और सम्पत्ति विशपों और ऐबटों[1] के हाथ में थी। पोप खुद एक बड़ा सामन्ती सरदार था।

तुम देखोगी कि इस सारी प्रथा में सीढ़ियाँ और वर्ग थे। बराबरी का कोई सवाल ही न था। तावेदार असामी सबसे नीचे होते थे और उन्हें ही इस सामाजिक ढाँचे का—छोटे सरदारों, बड़े सरदारों, उनसे बड़े सरदारों और राजाओं का—सारा बोझ उठाना पड़ता था। ईसाई-संघ, यानी विशपों, ऐबटों, कार्डिनलों और मामूली पादरियों का सारा खर्च भी इन्हीं को बर्दाश्त करना पड़ता था। सामन्त लोग, चाहे छोटे हों या बड़े, अन्न या और किसी क़िस्म की सम्पत्ति पैदा करने के लिए कोई मेहनत नहीं करते थे। ऐसा करना उनकी शान के ख़िलाफ़ समझा जाता था। लड़ाई इन लोगों का ख़ास धन्धा था और जब कोई लड़ाई नहीं होती थी तो ये शिकार में या नक़ली लड़ाइयों में और टूर्नामेंटों में वक़्त गुज़ारते थे। यह अनपढ़ और अनगढ़ लोगों की एक ऐसी जमात थी, जो सिवाय खाने-पीने और लड़ने के कोई और मनोरंजन के साधन नहीं जानती थी। इसलिए अन्न और जीवन की दूसरी ज़रूरतों को पैदा करने का सारा बोझ किसानों और दस्तकारों पर पड़ता था। इस सारी प्रणाली की चोटी पर बादशाह होता था, जो ईश्वर का जागीरदार माना जाता था।

सामन्त-प्रथा के पीछे यही विचार था। कहने को सरदारों का फ़र्ज़ था कि अपने असामियों और तावेदारों की रक्षा करें, पर व्यवहार में ये अपनी मनमानी करते थे। बड़े सरदारों का या बादशाह का इन पर कोई अंकुश नहीं था, और किसानों में इतनी ताक़त नहीं थी कि इनकी माँगों को पूरा करने से इन्कार करते। चूँकि ये लोग ज़्यादा ज़बर्दस्त होते थे, इसलिए अपने तावेदारों से ज़्यादा-से-ज़्यादा वसूल करते थे और उनके पास मुश्किल से इतना छोड़ते थे कि वे अपनी मुसीबत की ज़िन्दगी बिता सकें। ज़मीन के मालिकों का यही ढंग हमेशा से हर देश में रहा

[1] बिशप और ऐबट पादरियों के दर्जे हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। ज़मीन की मिल्क़ियत ने लोगों को ऊँचा बना दिया। लुटेरा नाइट[1], जो ज़मीन दबा बैठता और गढ़ैया बना लेता, अमीर-सरदार माना जाता था और सब उसकी इज्ज़त करते थे? मिल्क़ियत से इख्तियार भी आ जाता है। और मालिकों ने इस इख्तियार का उपयोग करके, अन्न पैदा करनेवाले किसानों से, या मज़दूरों से जो कुछ वसूल किया जा सका, किया है। क़ानून भी ज़मीन के मालिकों की मदद करता रहा है, क्योंकि क़ानून के बनानेवाले या तो वे खुद ही होते हैं या उनके यार-दोस्त। और यही वजह है कि आज कुछ लोगों का यह ख़याल है कि ज़मीन किसी व्यक्ति की मिल्क़ियत नहीं होनी चाहिए, बल्कि समाज की मिल्क़ियत होनी चाहिए। अगर ज़मीन राज्य की या समाज की सम्पत्ति हो तो इसका मतलब यह होगा कि ज़मीन उन सबकी है जो उस पर बसते हैं। और ऐसी हालत में न तो कोई उस ज़मीन पर दूसरों की कमाई खा सकेगा और न कोई बेजा फ़ायदा ही उठा सकेगा।

लेकिन ये विचार तो अभी पैदा ही नहीं हुए थे। जिस ज़माने की हम बात कर रहे हैं, उस ज़माने के लोग इस ढंग से नहीं सोचते थे। जनता मुसीबत में थी, लेकिन उसे अपनी मुश्किलों से छुटकारा पाने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता था। इसलिए बेचारे इन सब बातों को बर्दाश्त करते थे और ज़िन्दगी बिताते थे। फरमाबरदारी की आदत उनमें कूट-कूटकर भर दी गई थी, और एक दफ़ा जब ऐसा कर दिया जाता है तब लोग सब कुछ बर्दाश्त करने लगते हैं। इस तरह हम एक ऐसा समाज बनता देखते हैं, जिसमें एक तरफ़ तो सामन्ती सरदार और उनके पिछलग्गू थे और दूसरी तरफ़ दीन-हीन लोग थे। सरदार की पक्की गढ़ैया के चारों तरफ़ असामियों के मिट्टी या लकड़ी के झोंपड़ों का जमघट होता था। दो क़िस्म की दुनियाएँ थीं, जो एक दूसरी से बहुत दूर थीं। एक सरदारों की और दूसरी असामियों की। शायद सरदार अपने असामियों को अपने पौलतू मवेशियों से कुछ ही दर्जे ऊँचे समझता था!

कभी-कभी छोटे पादरी असामियों को उनके सरदारों के अत्याचार से बचाने की कोशिश करते थे। लेकिन आमतौर पर पादरी लोग सरदारों का ही पक्ष लेते थे और सच तो यह है कि पादरी लोग खुद भी सामन्ती सरदार होते थे।

भारत में इस क़िस्म की सामन्त-प्रथा तो नहीं रही, लेकिन यहाँ इससे कुछ मिलती-जुलती प्रथा पाई जाती है। हमारी देशी रियासतों में राजाओं, सरदारों ठिकानेदारों और जागीरदारों ने बहुत-से सामन्ती रिवाज अबतक क़ायम रख

---

[1] नाइट (knight)—मध्यकालीन इंग्लैण्ड का योद्धा, जो सम्मानित समझा जाता था। नाइट को 'सर' की उपाधि दी जाती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़े हैं। हालाँकि भारत की जाति-व्यवस्था सामन्त-प्रथा से बिलकुल अलग है, पर इसने समाज को वर्गों में बाँट दिया है। चीन में, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, कभी कोई निरंकुशता नहीं रही और न इस क़िस्म का कोई खास अधिकारवाला वर्ग ही रहा। इम्तहानों की इनकी प्राचीन प्रणाली ने हरेक व्यक्ति के लिए ऊँचे-से-ऊँचे ओहदों का दरवाज़ा खोल रखा था। लेकिन व्यवहार में अलबत्ता बहुत-सी बन्दिशें रही होंगी।

सामन्त-प्रथा में समानता या आज़ादी का कोई खयाल नहीं था। अधिकारों और कर्त्तव्यों का कुछ खयाल ज़रूर था, यानी सामन्त का यह अधिकार था कि वह अपने असामियों से सेवा और खेत की उपज का कुछ भाग वसूल करे, और उनकी रक्षा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। लेकिन अधिकार हमेशा याद रहते हैं और कर्त्तव्यों की ओर से लोग अक्सर आँखें मूँद लेते हैं। आज भी कुछ यूरोपीय देशों में और भारत में बड़े-बड़े ज़मींदार पाये जाते हैं, जो बिना हाथ-पैर हिलाये अपने किसानों से बड़ी-बड़ी रक़में लगान में वसूल करते हैं। लेकिन किसी कर्त्तव्य का खयाल तो ज़माना हुआ उन्होंने भुला दिया है।

ताज्जुब की बात है कि यूरोप की पुरानी बर्बर क़ौमों ने, जिन्हें अपनी आज़ादी इतनी प्यारी थी, धीरे-धीरे इस सामन्त-प्रथा को क़बूल कर लिया, जिसमें आज़ादी के लिए कोई जगह ही नहीं थी। पहले ये क़ौमें अपने मुखिया चुना करती थीं और उस पर रोक-थाम रखती थीं। लेकिन अब चुनाव का कोई सवाल नहीं रह गया और सब जगह अत्याचारी और निरंकुश शासन हो गया। मैं नहीं कह सकता कि यह परिवर्तन क्यों हुआ। मुमकिन है कि ईसाई-संघ के फैलाये हुए सिद्धान्तों ने लोकतन्त्र-विरोधी विचारों के फैलने में मदद दी हो। राजा को पृथ्वी पर परमेश्वर की छाया माना जाने लगा और सर्वशक्तिमान की छाया से भला कौन हुज्जत करे और कौन उसका हुक्म मानने से इन्कार करे? इस सामन्त-प्रथा में स्वर्ग और पृथ्वी दोनों शामिल हो गये थे।

भारत में भी हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के प्राचीन आर्य-विचार धीरे-धीरे बदलने लगे। वे कमज़ोर होते गये और अन्त में लोग उन्हें बिलकुल भूल गये। लेकिन जैसा मैंने तुम्हें बताया है, मध्य युगों की शुरुआत में ये विचार कुछ हद तक पाये जाते थे। शुक्राचार्य के 'नीति-सार' से और दक्षिण भारत के शिलालेखों से यह बात मालूम होती है।

यूरोप में जो नई शक्लें बन रही थीं, उनके नतीजे से कुछ आज़ादी धीरे-धीरे फिर आने लगी। सामन्तों और असामियों, यानी ज़मीन के मालिकों और उस पर काम करनेवालों के अलावा, लोगों के और वर्ग भी थे, जैसे व्यापारी और कारीगर। अपना-अपना काम करनेवाले ये लोग सामन्त-प्रथा के अंग नहीं थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशान्ति के दिनों में व्यापार बिलकुल कम होता था और कारीगरी को भी फूलने-फलने का मौक़ा नहीं मिलता था। लेकिन धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा और मिस्त्रियों और सौदागरों का महत्व बढ़ने लगा। वे धनवान हो गये और सामन्त व सरदार लोग इनके पास रुपया उधार लेने के लिए जाने लगे। ये लोग रुपया तो उधार देते थे, लेकिन बदले में सामन्तों को मज़बूत करते थे कि वे इन्हें कुछ रियायतें दें। इन रियायतों से इनकी ताक़त बढ़ गई। इस तरह अब हम देखते हैं कि सामन्त की गढ़ैया के चारों तरफ़ असामियों के झोंपड़ों के झुंड के बजाय, छोटे-छोटे क़स्बे पैदा होने लगे, जिनमें गिरजों या पंचायत-घरों (गिल्ड हॉल) के चारों तरफ़ मकान बनने लगे। सौदागर और दस्तकार अपने-अपने संघ या समितियाँ बनाने लगे और इन समितियों के दफ़्तर पंचायत-घर बन गये। बाद में यही टाउन-हाल कहलाने लगे।

ये बढ़ते हुए शहर—कोलोन, फ़्रैंकफुर्त, हैम्बुर्ग, वग़ैरा सामन्ती सरदारों की शक्ति की बराबरी का दावा करनेवाले बन गये। इन शहरों में एक नया वर्ग यानी व्यापारी-वर्ग पैदा हो रहा था, जो अपने धन की ताक़त पर अमीर सरदारों से भी टक्कर लेने लगा था। दोनों में एक लम्बा संघर्ष चला। अक्सर बादशाह अपने अमीरों और सामन्तों के प्रभाव से डरकर शहरों का साथ देता था। लेकिन ये तो बहुत आगे की बातें हैं।

मैंने इस पत्र के शुरू में यह बताया था कि इस ज़माने में राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। लोग अपने बड़े सामन्त के लिए अपने कर्त्तव्य और अपनी वफ़ादारी का ही ख़याल करते थे। उसी की सेवा की प्रतिज्ञा करते थे, देश की नहीं। उनके लिए बादशाह भी एक धुंधला-सा व्यक्ति था, जो उनसे बहुत दूर था। अगर कोई सामन्त बादशाह के ख़िलाफ़ बग़ावत करता, तो यह बात उसी से सरोकार रखती थी। उसकी रैयत को तो उसके पीछे चलना पड़ता था। यह चीज़ राष्ट्रीय भावना से, जो बहुत दिन बाद पैदा हुई, बहुत अलग तरह की थी।

: ५४ :

चीन घुमक्कड़ क़बीलों को पश्चिम में खदेड़ देता है

५ जून, १९३२

मैंने बहुत दिनों से, क़रीब एक महीने से, तुम्हें चीन के और सुदूर-पूर्वी देशों के बारे में कुछ नहीं लिखा। हम पश्चिमी एशिया, भारत और यूरोप के बहुत-से परिवर्तनों की चर्चा कर चुके हैं। हमने अरबों को बहुत-से देशों में फैलते और उन्हें जीतते देखा और यूरोप को फिर अन्धेरे में गिरते और उससे बाहर निकलने की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोशिश करते भी देखा। इस बीच चीन अपने ढँग पर चलता रहा और वास्तव में बहुत अच्छी तरह चलता रहा। सातवीं और आठवीं सदियों में, ताङ राजाओं के शासन में, चीन शायद दुनिया का सबसे ज़्यादा सभ्य, ख़ुशहाल और सुशासित देश था। यूरोप की तो इस देश से तुलना ही नहीं की जा सकती थी, क्योंकि रोम के पतन के बाद यूरोप बहुत पिछड़ गया था। उत्तर भारत की हालत इस समय के ज़्यादातर हिस्से में गिरावट की रही। इस बीच कभी-कभी शानदार ज़माने भी आये—जैसे हर्ष के राज में, लेकिन कुल मिलाकर भारत गिरता ही जा रहा था। दक्षिण भारत अलबत्ता उत्तर से ज़्यादा ज़ोरदार था और समुद्र-पार उसके उपनिवेश श्रीविजय और अंगकोर, एक महान् काल में दाख़िल हो रहे थे। कुछ बातों में इस ज़माने के चीन का मुक़ाबला करनेवाले अगर कोई राज्य थे, तो वे बग़दाद और स्पेन के दोनों अरब राज्य थे। लेकिन ये दोनों राज्य भी कुछ ही ज़माने तक अपनी शान की चोटी पर रहे। मगर दिलचस्प बात यह है कि राजगद्दी से उतारे हुए एक ताङ सम्राट् ने अरबों से मदद की अपील की थी और इन्हीं की मदद से उसे अपना राज वापस मिला था।

इस तरह सभ्यता में चीन उस ज़माने में सबसे आगे था और अगर वह उस समय के यूरोपीय लोगों को आधे जंगलियों के दर्जे का समझता हो तो यह कुछ वाजिब ही था। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी, उसमें चीन सबसे ऊपर था। 'जितनी दुनिया मालूम थी' यह वाक्य मैं इसलिए इस्तेमाल करता हूँ कि मुझे नहीं मालूम उस समय अमेरिका में क्या हो रहा था। इतना हमें ज़रूर पता लगता है कि मैक्सिको, पेरू और आस-पास के देशों में कई सदियों से सभ्यता चली आ रही थी। कुछ बातों में ये हिस्से ख़ास तौर पर आगे बढ़े हुए थे, कुछ बातों में उतने ही ज़्यादा पिछड़े हुए थे। लेकिन मैं इन सब चीज़ों के बारे में इतना कम जानता हूँ कि ज़्यादा कहने की हिम्मत नहीं कर सकता। फिर भी मैं चाहता हूँ कि तुम मैक्सिको और मध्य अमेरिका और 'इनका'[1] के पेरू राज्य की 'मय' सभ्यता का ध्यान रखना। मुझसे ज़्यादा विद्वान् लोग शायद इसके बारे में कुछ जानने योग्य बातें तुम्हें बतावें। इतना मैं ज़रूर स्वीकार करूँगा कि मैं इनकी ओर बहुत आकर्षित हुआ हूँ, लेकिन जितना मेरा आकर्षण है उतनी ही कम मेरी जानकारी भी है।

मैं चाहता हूँ कि एक और बात भी तुम याद रक्खो। हम देख चुके हैं कि बहुत-से घुमक्कड़ क़बीले मध्य एशिया में प्रकट हुए और वे या तो पश्चिम की ओर यूरोप में चले गये या भारत में उतर आये। हूण, शक, तुर्क और इसी तरह की बहुत-सी

[1] इनका (Inca)—दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक देश के प्राचीन शासकों की उपाधि। 'इनका' एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते थे। पेरू में 'इनकाओं' ने लगभग तीन सौ वर्ष तक राज्य किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़ौमें लहरों की तरह एक के बाद एक आती-जाती रहीं। सफ़ेद हूण, जो भारत आये, और अतिला हूण, जो यूरोप में थे, तुम्हें याद होंगे। सेलजूक़ तुर्क भी, जिन्होंने बग़दाद के साम्राज्य पर क़ब्ज़ा किया था, मध्य एशिया से आये थे। इसके बाद तुर्कों की एक दूसरी शाखा के लोग, जिन्हें उस्मानी तुर्क कहा जाता है, आये। उन्होंने क़ुस्तुन्तुनिया को आखिरी तौर पर जीत लिया और वे ठेठ विएना के दरवाज़े तक पहुँच गये। इसी मध्य एशिया या मंगोलिया से भयंकर मंगोल लोग भी आये थे, जो विजय करते हुए यूरोप के ठेठ मध्य तक पहुँच गये, और जिन्होंने चीन को भी अपने शासन में ले लिया। इसी मंगोल वंश के एक आदमी ने भारत में एक राजवंश और साम्राज्य की नींव डाली, जिसमें कई मशहूर शासक पैदा हुए।

मध्य एशिया और मंगोलिया के इन घुमक्कड़ क़बीलों से चीन को बराबर लड़ना पड़ा। या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये घुमक्कड़ लोग चीन को बराबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना पड़ा। इन्हींसे बचने के लिए चीन की 'बड़ी दीवार' बनाई गई थी। इसमें शक नहीं कि इस दीवार से कुछ फ़ायदा ज़रूर हुआ, लेकिन हमलों से बचाने में यह कोई बहुत ज्यादा उपयोगी चीज़ नहीं साबित हुई। एक के बाद दूसरे सम्राट् को इन घुमक्कड़ों को पीछे खदेड़ना पड़ा और जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ इन्हें इस तरह खदेड़ने में ही चीनी साम्राज्य दूर पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया। चीनी लोगों में साम्राज्य क़ायम करने की कोई ज्यादा लालसा नहीं थी। इनके सम्राटों में से कुछ ज़रूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशों को जीतने का हौंसला रखते थे। लेकिन और क़ौमों के मुक़ाबिले में चीनी लोग शान्ति-प्रिय थे और ये लड़ाई या दूसरे मुल्क़ों को जीतना पसन्द नहीं करते थे। चीन में विद्वानों को योद्धाओं से हमेशा ज्यादा आदर और कीर्ति मिलते रहे हैं। इस पर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी-कभी बहुत बढ़ गया, तो उसकी वजह बहुत करके यह थी कि उत्तर और पश्चिम की ओर घुमक्कड़ क़बीले बराबर कोंचते रहते थे और हमले करते रहते थे, जिससे चीनी लोग झुंझला उठते थे। शक्तिशाली सम्राट् इनसे हमेशा के लिए छुटकारा पा जाने के वास्ते इन्हें बहुत दूर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया करते थे। इस ढंग से वे इस सवाल को हमेशा के लिए तो हल नहीं कर पाये, लेकिन उन्हें कुछ राहत ज़रूर मिल गई।

पर यों चीन-निवासियों को जो राहत मिली, उसका खमियाज़ा अन्य मुल्कों और क़ौमों को उठाना पड़ा। क्योंकि जिन घुमक्कड़ों को चीनी भगाते थे वे जाकर दूसरे देशों पर हमला करते थे। इसी तरह ये भारत आये और बार-बार यूरोप गये। चीन के हन् सम्राटों ने हूणों, तातारियों और दूसरे घुमक्कड़ों को अपने यहाँ से खदेड़कर दूसरे देशों में पहुँचा दिया और तांङ-सम्राटों ने तुर्कों को यूरोप को भेंट में दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी तक तो चीनी लोग इन घुमक्कड़ क़बीलों से अपनी रक्षा करने में बहुत हद तक सफल रहे थे। लेकिन अब हम उस ज़माने की चर्चा करेंगे जब वे इतने सफल नहीं रह सके।

जैसा कि हमेशा राजवंशों का हर जगह हाल हुआ करता है, तांङ-वंश में धीरे-धीरे एक से ज़्यादा निकम्मे शासक होते गए, जिनमें ऐयाशी के अलावा अपने पूर्वजों के कोई अच्छे गुण नहीं पाये जाते थे। राज्य भर में बेईमानी फैल गई और इसीके साथ-साथ भारी टैक्स लगा दिये गए, जिनका बोझ वास्तव में ग़रीब लोगों पर पड़ता था। असन्तोष बढ़ा और दसवीं सदी के शुरू में, यानी ९०७ ई० में, यह राजवंश ख़त्म हो गया।

लगभग पचास वर्ष तक छोटे-छोटे और अदना शासकों का सिलसिला चलता रहा। लेकिन ९६० ई० में चीन के एक और बड़े राजवंश की शुरुआत होती है। यह सुंङ-राजवंश था, जिसे काओ-त्सू ने क़ायम किया। लेकिन चीन की सरहदों पर और अन्दर देश में भी, झगड़े जारी रहे। भारी लगानों का किसानों पर बहुत ज़्यादा बोझ पड़ता था, जिससे वे बहुत नाराज़ थे। भारत की तरह चीन में भी ज़मीन का सारा बन्दोबस्त ऐसा था कि वह जनता पर बड़ा ज़बर्दस्त बोझ डाल देता था, और बिना इसे पूरी तरह बदले न तो शान्ति ही सम्भव थी और न तरक्क़ी ही। लेकिन जड़ से ऊपर तक इस क़िस्म के परिवर्तन करना हमेशा मुश्किल होता है। चोटी के लोगों को चालू प्रणाली में फ़ायदा रहता है, और जब किसी परिवर्तन की चर्चा होती है, ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। लेकिन अगर परिवर्तन वक़्त पर नहीं किया जाता तो इसकी यह आदत है कि यह बिना बुलाये ही आ जाता है और सारी गाड़ी उलट देता है!

तांङ-राजवंश इसलिए ख़त्म हो गया कि उसने ज़रूरी परिवर्तन नहीं किये। इसी वजह से सुंङ-राजवंश को भी लगातार परेशानियाँ रहीं। एक ऐसा आदमी पैदा हुआ, जो सफल हो सकता था। इसका नाम वांङ-आन-शीह था जो ग्यारहवीं सदी में सुंङो का प्रधान-मंत्री था। जैसा कि मैंने तुम्हें पहले बताया है, चीन का शासन कन्फ़्यूशियस के विचारों के अनुसार होता था। कन्फ़्यूशियस के ग्रन्थों की परीक्षा सारे सरकारी अफ़सरों को पास करनी पड़ती थी और कन्फ़्यूशियस के लेखों के ख़िलाफ़ जाने का कोई साहस नहीं कर सकता था। वांङ-आन-शीह ने इनकी अवहेलना तो नहीं की, लेकिन उसने इनका एक निराला ही अर्थ लगाया। किसी कठिनाई से बचने की ऐसी तरक़ीबें होशियार आदमी अक्सर निकाल लिया करते हैं। वांङ के कुछ विचार बहुत हद तक आजकल के ढंग के थे। उसका सारा उद्देश्य यह था कि ग़रीबों के ऊपर से टैक्स का बोझ कम कर दे और धनवानों पर, जो अदा कर सकते थे, बढ़ा दे। इसने लगानों में कमी कर दी और किसानों को यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri

छूट दे दी कि अगर रुपये की सूरत में लगान देना उनके लिए मुश्किल पड़े तो वे अनाज या किसी दूसरी उपज की सूरत में लगान अदा कर दें। धनवानों पर इसने आय-कर (इन्कम टैक्स) लगा दिया। यह टैक्स बिलकुल आधुनिक टैक्स समझा जाता है, लेकिन इसकी तजबीज़ चीन में हम नौ सौ वर्ष पहले पाते हैं। वांङ की यह भी तजबीज़ थी कि किसानों की सहायता के लिए सरकार उन्हें तक़ावी दिया करे, जिसे वे फ़सल पर वापस कर दें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता-बढ़ता रहता था। बाज़ार-भाव जब गिर जाता है, तो ग़रीब किसानों को अपने खेतों की उपज की बहुत कम क़ीमत मिलती है। वे उसे बेच नहीं सकते, फिर लगान देने के लिए या कोई चीज़ ख़रीदने के लिए पैसे कहाँ से लायें? वांङ-आन-शीह ने इस समस्या को हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज़ की कि अनाज के भाव को बढ़ने-घटने से रोकने के लिए सरकार को ग़ल्ला ख़रीदना और बेचना चाहिए।

वांङ की यह भी तज़वीज़ थी कि सरकारी कामों के लिए बेगार न ली जाय। जो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मज़दूरी दी जाय। उसने स्थानीय रक्षक-सेना भी बनाई थी, जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदक़िस्मती से वांङ अपने ज़माने से बहुत आगे था, इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार ख़त्म हो गये। सिर्फ़ उसकी रक्षक-सेना ही ८०० वर्ष से ऊपर क़ायम रही।

सुंङों में इतनी हिम्मत नहीं थी कि जो समस्याएँ उनके सामने आईं उनका मुक़ाबला कर सकते। इसलिए इन लोगों ने धीरे-धीरे उन समस्याओं के आगे घुटने टेक दिये। उत्तर की जंगली क़ौमें, जिनको खितन कहते थे, इन्हें बहुत परेशान करती थीं। इनको पीछे हटाने में अपने को असमर्थ पाकर सुंङों ने उत्तर-पश्चिम की एक जाति से, जिन्हें 'किन' या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद माँगी। 'किन' लोगों ने आकर खितनों को मार भगाया, लेकिन वे खुद वहाँ जम गये और हटने से इन्कार कर गये। ताक़तवर से मदद माँगनेवाले कमज़ोर आदमी या कमज़ोर देश का अक़्सर यही हाल हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होंने पेकिंग को अपनी राजधानी बना लिया। सुंङ दक्षिण की ओर चले गये और ज्यों-ज्यों किन बढ़ते गये वे पीछे हटते गये। इस तरह उत्तर चीन में तो किन-साम्राज्य हो गया और दक्षिण में सुंङ-साम्राज्य। इन सुंङों को दक्षिणी सुंङ कहा गया है। सुंङ-राजवंश उत्तर में ९६० से ११२७ ई० तक रहा। दक्षिणी सुंङ दक्षिण चीन में इसके बाद भी १५० वर्ष तक राज करते रहे। अन्त में १२६० ई० में मंगोलों ने आकर उन्हें ख़त्म कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन भारत की तरह इसका बदला लिया और मंगोलों को भी अपने अन्दर मिलाकर और हज़म करके चीनी बना लिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह चीन ने घुमक्कड़ क़बीलों के सामने घुटने टेक दिये। लेकिन ऐसा करते-करते भी उसने उन घुमक्कड़ों को सभ्यता सिखाई; इसलिए चीन को इन-से नुकसान नहीं पहुँचा, जैसा कि एशिया और यूरोप के दूसरे हिस्सों में हुआ।

उत्तर और दक्षिण से सुंङ राजनीतिक लिहाज़ से उतने ताक़तवर नहीं थे जितने कि उनके पहले के तांङ लोग। लेकिन सुंङो ने तांङो की महानता के दिनों की कला की परम्परा क़ायम रखी, बल्कि उसकी उन्नति भी की। दक्षिण सुंङो के राज में दक्षिण चीन में कला और कविता बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँची और बड़े सुन्दर चित्र बनाये गए। इन चित्रों में प्रकृति के दृश्यों की विशेषता थी, क्योंकि सुंङ कला-कार प्रकृति के प्रेमी थे। चीनी के बर्तन भी इस ज़माने में बनना शुरू हुए और कला-कारों के कुशल हाथों ने उन्हें सुन्दर बनाया। इन बर्तनों की बनावट दिन-पर-दिन ज़्यादा सुन्दर और अद्भुत होती गई, यहाँ तक कि २०० वर्ष बाद, मिङ-राजाओं के समय में, चमत्कारी सुन्दरता के बर्तन बनने लगे। मिङ-युग के बने हुए चीनी के कलश आज भी दिल को खुश करनेवाली दुर्लभ चीज़ समझे जाते हैं।

: ५५ :

जापान में शोगुन का शासन

६ जून, १९३२

चीन से पीला समुद्र पार करके जापान पहुँचना बहुत आसान है, और अब, जबकि हम जापान के इतने नज़दीक पहुँच गये हैं, इस देश की सैर कर लेना ही मुनासिब होगा। तुम्हें जापान की पिछली बातें तो याद ही होंगी। उस समय हमने देखा था कि बड़े-बड़े घराने पैदा हो रहे थे और प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे, और एक केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे प्रकट हो रही थी। सम्राट्, जो पहले एक ताक़तवर और बड़े कुटुम्ब का सरदार था, अब केन्द्रीय सरकार का अध्यक्ष बन गया था। नारा की राजधानी केन्द्रीय सत्ता के चिह्न के तौर पर क़ायम की गई थी। इसके बाद राजधानी बदल कर क्योतो कर दी गई। चीन की शासन-प्रणाली की नक़ल की गई थी और कला, धर्म और राजनीति में जापान ने बहुत-कुछ चीन से या चीन के ज़रिये से सीखा था। जापान का नाम 'दाई निप्पौन' भी चीन से ही आया था।

हम यह भी देख चुके हैं कि फ़ूजीवारा नामक एक घराने ने सारी ताक़त हथिया ली थी और वह सम्राट् को कठपुतली की तरह नचाता था। दो सौ वर्ष तक इन्हीं का राज चलता रहा। आख़िरकार सम्राटों ने बेबस होकर गद्दियाँ छोड़ दीं और मठों में आसरा लिया। लेकिन भिक्षु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट् गद्दी पर बैठे हुए अपने पुत्र समाट् को सलाह-मशविरा देकर शासन के कामों में बहुत दखल देता था। इस तरीक़े से सम्राटों ने फ़ूजीवारा घराने से पैदा होनेवाली अड़चन को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी हद तक मिटाने की कोशिश की। हालाँकि काम करने का यह तरीक़ा बहुत पेचीदा था, लेकिन फिर भी इससे फ़ौजीवारा घराने की ताक़त बहुत कम हो गई। असली शक्ति सम्राटों के हाथ में होती थी, जो राजगद्दी छोड़-छोड़कर भिक्षु बनते जाते थे। इसलिए उनको 'मठवासी सम्राट्' कहा गया है।

इस बीच दूसरे परिवर्तन हुए और बड़े-बड़े ज़मींदारों का, जो सैनिक भी थे, एक नया वर्ग पैदा हुआ। फ़ौजीवारों ने ही इन ज़मींदारों को बनाया था और इन्हें सरकारी टैक्स जमा करने के लिए मुक़र्रर किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे, जिसका अर्थ 'बड़ा नाम' है। अंग्रेज़ों के आने से पहले इसी क़िस्म का जो वर्ग हमारे प्रान्त में पैदा हुआ, उसकी तुलना दाइम्यो से करना कुतूहल की बात है। ख़ासकर अवध के कमज़ोर बादशाह ने मालगुज़ारी वसूल करनेवाले मुक़र्रर किये थे। ये लोग अपनी छोटी-छोटी फ़ौजें रखते थे, ताकि उनकी मदद से ज़बर्दस्ती वसूली कर सकें और ज़ाहिर है कि वसूली का ज़्यादातर हिस्सा ये लोग अपनी ही जेबों में रख लिया करते थे। यही मालगुज़ारी वसूल करनेवाले कुछ लोग बढ़कर बड़े-बड़े ताल्लुक़ेदार बन गये।

दाइम्यो अपने पिछलग्गुओं और अपनी छोटी-छोटी सेनाओं की मदद से बहुत शक्तिशाली हो गये। वे आपस में लड़ते थे और क्योतो की केन्द्रीय सरकार की कोई परवाह नहीं करते थे। दाइम्यो के घरानों में दो घराने मुख्य थे—एक तायरा और दूसरा मिनामोतो। इन लोगों ने ११५६ ई० में फ़ौजीवारों को दबाने में सम्राट् की मदद की। लेकिन बाद में वे एक-दूसरे पर हमले करने लगे। तायरा जीत गये और इस इत्मीनानी के लिए कि बराबरी का घराना भविष्य में उन्हें परेशान न करे, उन्होंने मिनामोतो घरानेवालों की हत्या कर डाली। उन्होंने सभी प्रमुख मिनामोतों को मार डाला। सिर्फ़ चार बच्चों को छोड़ दिया, जिनमें एक बारह वर्ष का बालक योरीतोमो था। तायरा घराने ने मोनामोतों को ख़त्म कर देने की कोशिश तो की, लेकिन पूरी तरह नहीं। यह लड़का योरीतोमो, जिसे न-कुछ समझकर छोड़ दिया गया था, बड़ा होकर तायरा घराने का कट्टर दुश्मन बन गया। उसके दिल में बदला लेने की आग थी। वह अपनी अभिलाषा पूरी करने में सफल हुआ। उसने तायरा लोगों को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लड़ाई में उनको चकनाचूर कर दिया।

इसके बाद योरीतोमो ने सारी सत्ता हथिया ली और सम्राट् ने उसे 'सी-ए-ताई-शोगुन' की लम्बी-चौड़ी उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरों का दमन करनेवाला महान सेनापति।' यह ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन के पूरे अधिकार भी जुड़े हुए थे। पर असली शासक शोगुन ही होता था। इस तरह जापान में शोगुनशाही क़ायम हुई। इसका दौर बहुत दिनों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक, यानी करीब ७०० वर्ष तक रहा और क़रीब-क़रीब मौजूदा ज़माने तक चला। लेकिन इस बीच आधुनिक जापान अपने इस सामन्ती खोल को तोड़कर बाहर निकल आया था।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि योरीतोमो के वंशजों ने ही शोगुनों की हैसियत से ७०० वर्ष राज किया। जिन घरानों से शोगुन निकले थे उनमें कई परिवर्तन हुए। गृह-युद्ध बराबर होते रहे, लेकिन शोगुनशाही—यानी शोगुन का वास्तविक शासक होना और सम्राट् के नाम पर, जिसे कोई अधिकार नहीं होते थे, राज करना—इस लम्बे अर्से तक जारी रही। अक़्सर ऐसा भी होता था कि शोगुन भी नाम का शासक रह जाता था और असली सत्ता कुछ हाक़िमों के हाथ में होती थी।

राजधानी क्योतो के विलासी जीवन से योरीतोमो बहुत घबराता था, क्योंकि उसका यह ख़याल था कि आराम की ज़िन्दगी उसे और उसके साथियों को कमज़ोर बना देगी। इसलिए उसने कामाकुरा में अपनी सैनिक राजधानी बनाई और इसीलिए यह पहली शोगुनशाही, 'कामाकुरा शोगनशाही' कहलाती है। यह १३३३ ई० तक, यानी करीब १५० वर्ष रही। इस काल के ज़्यादातर भाग में जापान में शान्ति रही। बहुत वर्षों के गृह-युद्ध के बाद शान्ति का लोगों ने बहुत स्वागत किया और ख़ुशहाली का ज़माना शुरू हुआ। इस ज़माने में जापान की हालत उस समय के यूरोप के किसी भी देश की हालत से कहीं बेहतर थी और इसका शासन भी ज़्यादा कारगर था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालाँकि दोनों के नज़रियों में बहुत फ़र्क था। जैसा मैंने बताया है, चीन स्वभाव से ही शान्तिप्रिय और संतोषी देश था। दूसरी तरफ़ जापान एक उग्र सैनिक देश था। चीन में लोग सैनिकों को बुरी निगाह से देखते थे और लड़ाई का पेशा कुछ इज़्ज़तदार नहीं समझा जाता था। जापान में चोटी के सिपाही होते थे और लड़ाकू वीर या दाइम्यो उनका आदर्श था।

मतलब यह कि जापान ने चीन से बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने ही तरीक़े से सीखा और उसने हरेक चीज़ को अपने जातीय स्वभाव के अनुरूप बनाने और ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका नज़दीकी सम्बन्ध बना रहा और व्यापार भी चलता रहा जो ज़्यादातर चीनी जहाजों के ज़रिये होता था। तेरहवीं सदी के अन्त में यह सिलसिला अचानक रुक गया, क्योंकि मंगोल लोग चीन और कोरिया पहुँच गए थे। मंगोलों ने जापान को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन पीछे हटा दिये गए। इस तरह ये मंगोल, जिन्होंने एशिया की कायापलट दी और यूरोप को हिला दिया, जापान पर कोई खास असर नहीं डाल पाये। जापान अपने पुराने ढँग पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभावों से पहले की बनिस्बत और भी ज़्यादा दूर हो गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापान के पुराने सरकारी विवरण में एक कहानी है कि इस देश में कपास का पौधा सबसे पहले कैसे आया। कहते हैं कि कुछ भारतवासी, जिनका जहाज़ जापानी किनारे के नज़दीक़ डूब गया था, ७९९ ई० में कपास का बीज अपने साथ जापान ले गये थे।

चाय का पौधा इसके बाद आया। सबसे पहले यह पौधा नवीं सदी की शुरुआत में पहुँचा था, लेकिन उस समय यह चल नहीं पाया। ११९१ ई० में एक बौद्ध भिक्षु चीन से चाय के बीज लाया था; इसके बाद चाय बहुत जल्दी लोकप्रिय हो गई। चाय पीने की आदत से चीनी के सुन्दर बर्तनों की माँग पैदा हुई। तेरहवीं सदी के अन्त में चीनी के बर्तन बनाने की कला सीखने के लिए एक जापानी कुम्हार चीन गया और वहाँ छै वर्ष रहा। वापस आने पर उसने चीनी के सुन्दर जापानी बर्तन बनाने शुरू किये। जापान में आजकल चाय पीना एक ललित कला है, जिसके साथ एक लम्बा-चौड़ा शिष्टाचार जुड़ गया है। अगर कोई जापान जाय तो उसे सही ढँग से चाय पीनी चाहिए, वरना उसे कुछ जंगली समझा जायगा।

: ५६ :

मनुष्य की खोज

१० जून, १९३२

चार दिन हुए, मैंने तुम्हें बरेली-जेल से पत्र भेजा था। उसी दिन शाम को मुझसे अपना असबाब इकट्ठा करके जेल से बाहर जाने को कहा गया—छूटने के लिए नहीं, बल्कि दूसरी जेल में जाने के लिए। इसलिए मैंने उस बैरक के अपने साथियों से, जिनके साथ मैं ठीक चार महीने रहा था, बिदा ली। मैंने उस बड़ी चौबीस फ़ुट की ऊँची दीवार पर आख़िरी नज़र डाली, जिसकी छाया में इतने दिन रहा था, और मैं थोड़ी देर के लिए बाहर की दुनिया फिर देखने के वास्ते निकल पड़ा। हम दो आदमियों की बदली की जा रही थी। हमें बरेली स्टेशन नहीं ले गये, कि कहीं लोग हमें देख न लें, क्योंकि हम लोग 'परदानशीन' हो गये थे, और दूसरे लोग हमें देख नहीं सकते थे! मोटर से हमें पचास मील दूर वीरान जंगल में एक छोटे-से स्टेशन पर ले गये। इस सैर के लिए मैंने मन-ही-मन धन्यवाद दिया, क्योंकि कई महीने के एकान्त के बाद रात की ठंडी हवा का स्पर्श और हलके अंधेरे में आदमियों, जानवरों और पेड़ों की तेज़ी से भागती हुई छायाएँ, तबीयत को बड़ी भली मालूम होती थीं।

हम लोग देहरादून पहुँचाये जा रहे थे। बड़े तड़के ही, सफ़र की आख़िरी मंज़िल तक पहुँचने से पहले, हमें रेल से उतार लिया गया और फिर मोटर पर बिठा कर ले जाया गया, ताकि कहीं कोई हमें देख न ले।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अब मैं देहरादून की छोटी-सी जेल में बैठा हूँ। यह बरेली से अच्छी जगह है। यहाँ गर्मी उतनी नहीं है, और तापमान बरेली की तरह ११२° तक नहीं पहुँचता। हमारे चारों तरफ़ की दीवारें भी नीची हैं और उनके पार दिखाई देने-वाले पेड़ ज्यादा हरे-भरे हैं। दीवार के उस पार दूर पर एक खजूर के पेड़ की चोटी दिखाई देती है; इस दृश्य से मेरी तबीयत खुश हो जाती है और मुझे लंका और मलाबार की याद आ जाती है। इन पेड़ों के परली तरफ़ कुछ ही मील के फ़ासले पर पहाड़ हैं, और इन पहाड़ों की चोटी पर मसूरी बसा हुआ है। मैं पहाड़ों को नहीं देख सकता, क्योंकि पेड़ों ने इनको छिपा रखा है, लेकिन इन पहाड़ों के नज़दीक रहना, और रात में यह कल्पना करना कि बहुत दूर मसूरी के चिराग़ टिमटिमा रहे हैं, अच्छा मालूम होता है।

चार वर्ष हुए—या तीन?—जब मैंने इन पत्रों का सिलसिला शुरू किया था, उस वक़्त तुम मसूरी में थीं। इन तीन या चार वर्षों में कितनी-कितनी बातें हो गईं, और तुम कितनी बड़ी हो गई हो। रह-रहकर और कभी-कभी लम्बे अवकाशों के बाद मैंने इन ख़तों को जारी रखा है और ये ज्यादातर जेल में ही लिखे गये हैं। लेकिन जितना ही मैं लिखता जाता हूँ उतना ही मैं अपने लिखे को नापसन्द करता जाता हूँ; मुझे आशंका होने लगती है, कि कहीं ऐसा न हो कि ये पत्र तुम्हें दिलचस्प न लगें और कहीं तुम्हारे लिए बोझ न बन जायं। ऐसी हालत में इन पत्रों को क्यों जारी रखूं?

मैं चाहता था कि तुम्हारे सामने एक-एक करके पुराने ज़माने की जीती-जागती तस्वीरें रखूँ, ताकि तुम्हें यह भान हो सके कि हमारी यह दुनिया सीढ़ी-दर-सीढ़ी किस तरह बदली, कैसे विकसित और उन्नत हुई, और कैसे कभी-कभी पीछे हटती हुई नज़र आई; तुम्हें दिखलाऊँ कि पुरानी सभ्यताएँ कैसी थीं और वे ज्वार-माटे की तरह कैसे आगे बढ़ीं और पीछे फिर हटीं; तुम्हें महसूस कराऊँ कि इतिहास की नदी, चक्कर, भंवर और हद बनाती हुई, किस तरह बराबर युग-युगों से निरन्तर बहती चली आ रही है और अनजाने समुद्र की तरफ़ दौड़ी चली जा रही है। मैं चाहता था कि तुम्हें मनुष्य-जाति के पैरों की लीक का परिचय कराऊँ और इस लीक पर शुरू से लगाकर आज तक, यानी जब मनुष्य मानव नहीं बना था, तबसे आजतक जबकि वह अहंकार और बेवकूफ़ी से अपनी महान् सभ्यता पर घमंड करने लगा है, तुम्हें ले चलूं। हम लोगों ने शुरू तो इसी तरह से किया था। तुम्हें याद होगा कि मसूरी में हमने इस बात की चर्चा शुरू की थी कि सबसे पहले आग और खेती का आविष्कार कैसे हुआ, लोग नगरों में कैसे बसे और मेहनत का बँटवारा कैसे हुआ। लेकिन ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते गये, त्यों-त्यों हम साम्राज्यों वग़ैरा में उलझते गये, और उस लीक को खो बैठे। अभी तक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम इतिहास की ऊपरी सतह पर ही चलते रहे हैं। मैंने तुम्हारे सामने पुरानी घटनाओं का एक ढाँचा ही रखा है। मैं चाहता हूँ कि मुझे इस ढाँचे पर माँस और ख़ून चढ़ाने की शक्ति मिल जाय ताकि मैं इसे तुम्हारे लिए सजीव और प्राणवान बना सकूँ।

मगर मैं जानता हूँ कि मुझमें वह शक्ति नहीं है और तुम्हें घटनाओं के ढाँचे में जान फूँकने के इस चमत्कार को सफल बनाने के लिए अपनी ही कल्पना पर भरोसा करना पड़ेगा। फिर मैं तुम्हें ये पत्र क्यों लिखूँ? क्योंकि प्राचीन इतिहास की बहुत-सी अच्छी पुस्तकें तुम ख़ुद ही पढ़ सकती हो। लेकिन इन शंकाओं के बावजूद भी मैंने पत्रों का सिलसिला जारी रखा है और मेरा ख़याल है कि मैं इसे आगे भी जारी रक्खूंगा। जो वादा मैंने तुमसे किया था, वह मुझे याद है और इसे पूरा करने की मैं कोशिश करूँगा। लेकिन इस वादे से भी ज़्यादा वह आनन्द है, जो मुझे तुम्हारी याद से उस वक़्त मिलता है, जब मैं लिखने बैठता हूँ और कल्पना करता हूँ कि तुम मेरे पास बैठी हो और हम एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं।

जब से मनुष्य लुढ़कता-पुढ़कता अपनी जंगली हालत से बाहर निकला तब से उसकी यात्रा का ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। यह रास्ता लाखों वर्षों का रहा है, फिर भी अगर तुम पृथ्वी की कहानी और आदमी के उसपर जन्म लेने के पहले के युग-युगों से इसका मुक़ाबला करो तो यह समय कितना कम है! लेकिन हमारे लिए उन तमाम बड़े-बड़े जानवरों के मुक़ाबले में, जो मनुष्य के पहले मौजूद थे, मनुष्य क़ुदरती तौर पर ज़्यादा दिलचस्पी रखता है। यह इसलिए कि मनुष्य अपने साथ एक नई चीज़ लाया था, जो शायद दूसरों में नहीं पाई जाती थी। यह थी बुद्धि और जिज्ञासा, यानी खोजने की और सीखने की इच्छा। इस तरह शुरू से ही आदमी में खोज की धुन शुरू हुई। किसी छोटे बच्चे को देखो; वह अपने चारों ओर की नई और विचित्र दुनिया को कैसे देखता है; आदमियों को और दूसरी चीज़ों को वह कैसे पहचानने लगता है और कैसे सीखता है। किसी छोटी लड़की को देखो। अगर वह तन्दुरुस्त और चौकस है, तो वह कितनी ही बातों के बारे में कितने ही सवाल करेगी। इसी तरह इतिहास के प्रभात में, जब मानव का बचपन था और दुनिया नई और अद्भुत थी और उसके लिए कुछ डरावनी भी थी, उसने अपने चारों तरफ़ नज़र डाली होगी और ग़ौर से देखा होगा और सवाल पूछे होंगे। लेकिन वह अपने सिवाय सवाल पूछता भी किससे? कोई दूसरा जवाब देनेवाला नहीं था। हाँ, उसके पास एक छोटी-सी अजीब चीज़ थी—बुद्धि। और उसकी मदद से, धीरे-धीरे तक़लीफ़ें उठाकर, वह अपने अनुभवों को जमा करता गया और उनसे ज्ञान हासिल करता गया। इस तरह शुरू के ज़माने से आज तक, मानव की खोज का सिलसिला चला आ रहा है। उसने बहुत-सी बातें मालूम कर ली हैं, लेकिन बहुत-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सी अभी मालूम करना बाक़ी हैं। जैसे-जैसे वह अपनी खोज के रास्ते पर आगे बढ़ता है, उसे लम्बे-चौड़े नये मैदान सामने फैले हुए मिलते हैं, जो उसे बतलाते हैं कि वह अब भी अपनी खोज की आखिरी मंज़िल से--अगर आख़िरी मंज़िल कोई है तो—कितना दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या रही है और उसकी मंज़िल क्या है? हज़ारों वर्षों से लोगों ने इन सवालों का जवाब देने की कोशिश की है। धर्म, दर्शन और विज्ञान, सबने इन सवालों पर विचार किया है और बहुत-से जवाब दिये हैं। लेकिन इन जवाबों से मैं तुम्हें परेशान नहीं करूँगा, क्योंकि ज़्यादातर जवाब मुझे मालूम ही नहीं हैं। देखा जाय तो धर्म ने अपने ढंग पर इन सवालों का पूरा जवाब देने की कोशिश की है। पर उसमें तर्क की गुंजाइश नहीं रक्खी। बहुत करके धर्म ने बुद्धि की कोई परवाह नहीं की, और अपने फ़ैसले को हर तरह से ज़बर्दस्ती मनवाने की कोशिश की है। विज्ञान के जवाब में सन्देह और हिचकिचाहट होते हैं, क्योंकि विज्ञान का स्वभाव यह है कि वह हठ-धर्मी नहीं करता। वह प्रयोग और तर्क करता है और मनुष्य की बुद्धि का सहारा लेता है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि मैं विज्ञान को और विज्ञान के तरीक़ों को ही पसन्द करता हूँ।

यह सम्भव है कि हम मनुष्य की खोज के बारे में इन सवालों का जवाब भरोसे के साथ न दे सकें। लेकिन इतना हम देखते हैं कि यह खोज दो ढंग पर चली है। मनुष्य ने अपने बाहर की चीज़ों पर ग़ौर किया है और अपने भीतर भी; उसने प्रकृति को समझने की कोशिश की है और अपने-आपको भी। यह खोज वास्तव में एक ही है, क्योंकि आदमी खुद प्रकृति का अंग है। भारत और यूनान के पुराने तत्त्व-ज्ञानियों ने कहा है—"अपनेको जानो"। और उपनिषदों में इस ज्ञान के लिए प्राचीन भारत के आर्यों के इन अद्भुत और निरन्तर प्रयत्नों का लेखा है। दूसरा, यानी प्रकृति का ज्ञान विज्ञान का खास विषय रहा है और इस दिशा में विज्ञान ने जो तरक्क़ी की है, उसका परिचय आधुनिक जगत् को मिल रहा है, अब तो वास्तव में विज्ञान अपने पंख और भी आगे पसार रहा है और इन दोनों रास्तों की खोज को हाथ में ले रहा है और उनको आपस में जोड़ रहा है। एक ओर तो विज्ञान बहुत दूर के सितारों की विश्वास के साथ खोज कर रहा है, और दूसरी ओर हमें उन निरन्तर गतिशील नन्हीं-नन्हीं चीज़ों, यानी इलैक्ट्रनों और प्रोटनों का हाल भी बता रहा है जिनसे सारा पदार्थ बना है।

मनुष्य की बुद्धि ने उसे उसकी खोज की यात्रा में काफ़ी दूर की मंज़िल तक पहुँचा दिया है। जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति को समझना सीखता जाता है वैसे-वैसे वह उसका उपयोग करके उसे अपने फ़ायदे के कामों में लगाता जाता है, और इस तरह उसने ज़्यादा शक्ति हासिल कर ली है। लेकिन अफ़सोस है कि इस नई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति का उसने ठीक ढंग से इस्तेमाल नहीं किया बल्कि अक़्सर बेजा इस्तेमाल किया है। मनुष्य ने विज्ञान का ज़्यादातर उपयोग ऐसे भयंकर अस्त्र बनाने के लिए किया है, जिनसे वह अपने ही भाइयों को मार डाले और इतनी मेहनत से तैयार की हुई सभ्यता को नष्ट कर दे।

: ५७ :

ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष

अब यह ठीक मालूम होता है कि हम अपनी यात्रा की जिस मंज़िल पर आ पहुँचे हैं, वहाँ थोड़ी देर के लिए ठहर जायँ और चारों तरफ़ नज़र डाल लें। हम कितनी दूर आ पहुँचे हैं, इस समय कहाँ हैं और दुनिया की क्या हालत है? आओ हम अलादीन की जादुई क़ालीन पर बैठकर उस समय की दुनिया के तरह-तरह के हिस्सों की कुछ सैर कर लें।

हम ईसाई सन् के पहले हज़ार वर्षों में सफ़र कर चुके हैं। कुछ देशों में हम ज़रा आगे बढ़ गये हैं और कहीं इस मंज़िल से कुछ पीछे भी रह गये हैं।

एशिया में इस समय हम चीन को सुंङ-राजवंश के अधीन देखते हैं। महान् तांङ-राजवंश ख़त्म हो चुका था और सुंङों को एक तरफ़ घरेलू झगड़ों का सामना करना पड़ रहा था और दूसरी तरफ़ उत्तर के बर्बर खितनों के विदेशी हमले का। डेढ़ सौ वर्षों तक उन्होंने मुक़ाबला किया, लेकिन फिर अपनी कमज़ोरी की वजह से उन्हें दूसरे बर्बर क़बीले 'सुनहरे तातारों' या 'किन' लोगों से मदद माँगनी पड़ी। किन आये, लेकिन वहीं जम गये और बेचारे सुंङों को खिसककर दक्षिण चले जाना पड़ा, जहाँ दक्षिण सुंङों के नाम से उन्होंने डेढ़ सौ वर्षों तक राज किया। इस बीच में वहाँ ललित कलाओं की, और चित्रकला व चीनी के बर्तन बनाने की कला की, ख़ूब उन्नति हुई।

कोरिया में आपस की फूट और संघर्ष के दिनों के बाद ९३५ ई० में एक संयुक्त स्वाधीन राज्य क़ायम हुआ और यह बहुत दिनों तक, क़रीब साढ़े चार सौ वर्ष, बना रहा। कोरिया ने चीन से अपनी सभ्यता, कला और शासन-प्रणाली के बारे में बहुत-कुछ सीखा। धर्म और थोड़ी बहुत कलाएँ चीन होकर भारत से कोरिया को और जापान को भी गईं। पूर्व में बहुत दूर एशिया के सन्तरी की तरह स्थित जापान, दुनिया से क़रीब-क़रीब कटा हुआ, अपनी ज़िन्दगी गुज़ार रहा था। फ़ूजीवारा खानदान सर्वोपरि हो गया था और उसने सम्राट् को, जो अब एक कुल के सरदार से कुछ ज़्यादा हैसियतवाला हो गया था, पीछे डाल दिया था। इसके बाद शोगुन आये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

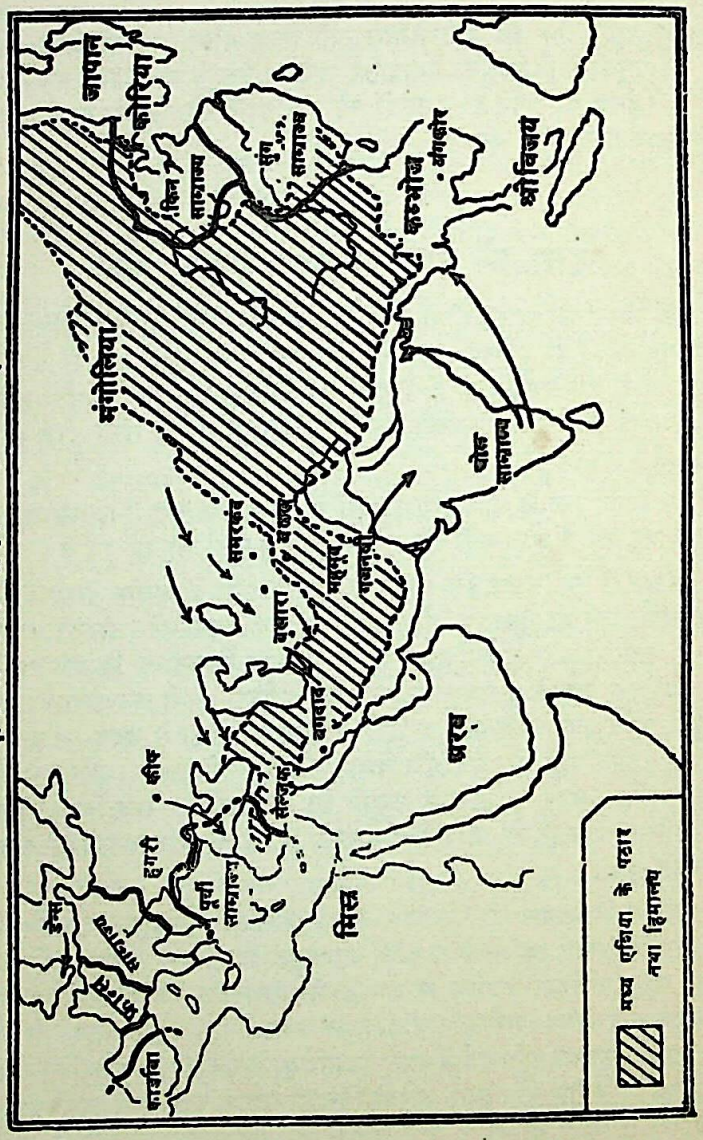

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मलेशिया में भारतीय उपनिवेश फूल-फल रहे थे। शानदार अंकोर काम्बोज की राजधानी था और यह राज्य अपनी शक्ति और उन्नति की चोटी पर पहुँच गया था। सुमात्रा में श्रीविजय एक बड़े बौद्ध साम्राज्य की राजधानी था। इस साम्राज्य का सारे पूर्वी टापुओं पर अधिकार था और इनके साथ उसका बहुत बड़ा व्यापार चलता था। पूर्वी जावा में एक स्वाधीन हिन्दू-राज्य था, जो बहुत जल्द उन्नति करके व्यापार और व्यापार से पैदा होनेवाले धन के लिए श्रीविजय से होड़ करते हुए उसके साथ भयंकर लड़ाई में उतरनेवाला था। और, जैसा कि व्यापार के लिए आजकल के यूरोपीय राष्ट्र करते हैं, इसने अन्त में श्रीविजय को जीत लिया और नष्ट कर डाला।

भारत में उत्तर और दक्षिण एक दूसरे से इतने अलग हो गये कि जितने पिछले दिनों से कभी नहीं रहे थे। उत्तर में महमूद ग़ज़नवी बार-बार धावे मार रहा था और विनाश और लूटपाट कर रहा था। वह अपार धन लूटकर ले गया और उसने पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया। दक्षिण में हम देखते हैं कि चोल-साम्राज्य बढ़ रहा था और राजराजा व उसके पुत्र राजेन्द्र के शासन में उसकी शक्ति दिन-दिन बढ़ रही थी। उन्होंने दक्षिण भारत पर अपना सिक्का जमा लिया था और उनकी जल-सेनाएँ अरब-सागर और बंगाल की खाड़ी पर हावी हो रही थीं। लंका, दक्षिण बरमा और बंगाल पर भी उन्होंने धावे किये थे।

मध्य और पश्चिम एशिया में हम बग़दाद के अब्बासी साम्राज्य के कुछ अवशेष देखते हैं। बग़दाद अभी तक फूल-फल रहा था और एक नये शासक वर्ग, यानी सेलजूक़ तुर्कों के अधीन उसकी ताक़त बढ़ रही थी। लेकिन पुराना साम्राज्य कई राज्यों में बँट चुका था। इस्लाम अब एक साम्राज्य नहीं रह गया था बल्कि वह बहुत-से देशों और क़ौमों का सिर्फ़ मज़हब रह गया था। अब्बासिया साम्राज्य के खंडहर से ग़ज़नी की सल्तनत पैदा हुई, जिसपर महमूद ने राज किया और जहाँ से वह भारत पर झपट्टे मारता रहता था। हालाँकि बग़दाद का साम्राज्य टूक-टूक हो गया था, लेकिन बग़दाद ख़ुद अभी तक बहुत बड़ा शहर बना हुआ था, और दूर-दूर के विद्वानों और कलाकारों को अपने यहाँ खींच रहा था। मध्य एशिया में उस समय कई बड़े और मशहूर शहर उन्नति कर रहे थे, जैसे बुखारा, समरक़न्द, बलख वग़ैरा। इन शहरों के बीच ख़ूब व्यापार हुआ करता था और बड़े-बड़े क़ारवाँ व्यापार का माल एक शहर से दूसरे शहर को लाते-लेजाते थे।

मंगोलिया में और उसके आसपास घुमक्कड़ों के नये क़बीलों की संख्या और ताक़त बढ़ रही थी। दो सौ वर्ष बाद ये सारे एशिया के ऊपर टूट पड़नेवाले थे। आज भी मध्य और पश्चिमी एशिया की मुख्य नस्लें, इसी मध्य एशिया से आई हुई हैं, जहाँ घुमक्कड़ क़बीलों की नस्लें पैदा होती हैं। चीनियों ने इन्हें पश्चिम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तरफ़ खदेड़ दिया था और कुछ तो इनमें से भारत की तरफ़ और कुछ यूरोप की तरफ़ फैल गये थे। इसी समय पश्चिम की ओर खदेड़े गये सेलजूक़ तुर्कों ने बग़दाद के साम्राज्य का सितारा फिर बुलन्द किया, और क़ुस्तुन्तुनिया के पूर्वी रोमन साम्राज्य पर हमला करके उसे हरा दिया।

यह तो एशिया की बात रही। लाल समुद्र के उसपार मिस्र था जो बग़दाद से बिलकुल स्वाधीन था। मिस्र के मुसलमान शासक ने अपने को अलग ख़लीफ़ा ऐलान कर दिया था। उत्तरी अफ़्रीका भी एक स्वाधीन मुसलमानी राज्य था। जिब्राल्टर जलडमरूमध्य के उसपार स्पेन में भी एक स्वाधीन मुस्लिम राज्य था, जिसे क़ुर्तुबा या कार्डोबा की अमीरत कहा गया है। इसके बारे में मैं तुम्हें आगे कुछ बताऊँगा। लेकिन इतना तो तुम जानती ही हो कि जब अब्बासी ख़लीफ़ाओं का राज आया तो स्पेन ने उनकी मातहती क़बूल नहीं की थी। उस समय से यह स्वाधीन ही था। फ्रान्स को जीतने की इसकी कोशिश को चार्ल्स मार्तेल ने बहुत पहले ही नाकामयाब कर दिया था। अब स्पेन के उत्तरी हिस्से के ईसाई राज्यों की बारी थी कि मुसलमानों पर हमला करें। और ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा इनका हौसला भी बढ़ता गया। लेकिन जिस वक़्त की बात हम कर रहे हैं, उस वक़्त क़ुर्तुबा की अमीरत एक बड़ा और प्रगतिशील राज्य था और सभ्यता और विज्ञान में यूरोप के और देशों से कहीं आगे था।

स्पेन को छोड़कर यूरोप कई ईसाई राज्यों में बँटा हुआ था। इस समय तक ईसाइयत सारे महाद्वीप में फैल चुकी थी। और वीरों और देवी-देवताओं के पुराने मज़हब यूरोप से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो चुके थे।

आजकल के यूरोपीय देशों की शक्लें बनने लगी थीं। ९८७ ई० में ह्यू कैपे की मातहती में फ्रान्स का नाम सामने आया। इंग्लैण्ड में डेनमार्क का कैन्यूट, जो समुद्र की लहरों को पीछे हटने का हुक्म देने के कारण मशहूर है, १०१६ ई० में राज करता था और पचास वर्ष बाद नॉरमण्डी में 'विजेता' विलियम आया। जर्मनी पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन साफ़ तौर पर वह एक राष्ट्र बनता जा रहा था, हालाँकि वह अभी तक बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। रूस पूर्व की तरफ़ फैल रहा था और क़ुस्तुन्तुनिया को अपने जहाज़ों से अक्सर डराया करता था। यह उस अजीब आकर्षण की शुरुआत थी, जो क़ुस्तुन्तुनिया के लिए रूस के दिल में हमेशा रहा है। रूस को इस बड़े शहर को पाने की लालसा एक हज़ार वर्षों से लगी हुई थी और उसे उम्मीद थी कि चौदह वर्ष हुए ख़त्म होनेवाले पहले महायुद्ध के बाद, यह शहर उसे मिल जायगा। लेकिन क्रान्ति ने अचानक आकर पुराने रूस की सारी योजनाओं को उलट दिया।

नौ सौ वर्ष पुराने यूरोप के नक़शे में तुम्हें पोलैण्ड और हंगरी भी मिलेंगे, जहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगियार रहा करते थे, और बलग़ारियों के और सर्बों के राज्य भी दिखाई देंगे। तुम इसमें पूर्वी रोमन साम्राज्य को भी पाओगी, जिसे चारों ओर से कई दुश्मन घेरे हुए थे, लेकिन वह अपने ढर्रे पर चला जा रहा था। रूसियों ने उसपर हमला किया; बलग़ारियों ने उसको तंग किया और नॉर्मन समुद्र के रास्ते बराबर उसे परेशान करते रहे। और अब सबसे ज़्यादा ख़तरनाक सेलजूक़ तुर्क निकले, जो उसकी ज़िन्दगी को ही ख़त्म करना चाहते थे। लेकिन इन दुश्मनों और बहुत-सी दूसरी कठिनाइयों के बावजूद भी यह साम्राज्य अभी ४०० वर्ष तक ख़त्म होनेवाला नहीं था। इस अद्भुत जमे रहने की कुछ वजह यह थी कि क़ुस्तुन्तुनिया की स्थिति बहुत मज़बूत थी। यह ऐसी अच्छी जगह पर बसा था कि किसी दुश्मन के लिए इसपर क़ब्ज़ा करना मुश्किल था। कुछ वजह यह भी थी कि यूनानियों ने सुरक्षा का एक नया ढंग ईजाद किया था। इसका नाम 'यूनानी आग' था। यह कोई ऐसा मसाला था जो पानी के छूते ही जलने लगता था। इस यूनानी आग के ज़रिये से क़ुस्तुन्तुनिया के लोग दर्रे दानियाल को पार करके हमला करने की कोशिश करनेवाली फ़ौजों के जहाज़ों में आग लगाकर उनकी फ़ौजों को तहस-नहस कर देते थे।

ईसवी सन् के १००० वर्षों के बाद यूरोप का यह नक़शा था। उसी वक़्त नॉर्मन लोग अपने जहाज़ों में आ रहे थे और भूमध्यसागर के किनारे के शहरों को और समुद्रों में चलनेवाले जहाज़ों को लूट रहे थे। सफलता मिलने से ये वास्तव में शरीफ़ भी बनते गये। फ़्रान्स में ये लोग उसके पश्चिमी हिस्से, नॉरमण्डी, में बस गये थे। फ़्रान्स को अड्डा बनाकर उन्होंने इंग्लैण्ड को जीत लिया था। सिसली का टापू उन्होंने मुसलमानों से छीन लिया और उसमें दक्षिण इटली को जोड़कर 'सिसीलिया का राज्य' क़ायम कर दिया।

यूरोप के मध्य में, उत्तरी समुद्र में रोम तक, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पसरा हुआ था, जिसमें बहुत-सी रियासतें थीं और सबका अध्यक्ष एक सम्राट् था। जर्मन सम्राट् और रोम के पोप के बीच प्रभुत्व के लिए बराबर खींच-तान बनी रहती थी। कभी सम्राट् का पासा भारी रहता और कभी पोप का, लेकिन धीरे-धीरे पोपों की शक्ति बढ़ती गई। बहिष्कार यानी किसी आदमी को समाज से छेककर क़ानून से वंचित कर देने की धमकी का भयंकर हथियार पोपों के हाथ में था। पोप ने एक अभिमानी सम्राट् को तो इतना ज़लील किया कि माफ़ी माँगने के लिए उसे बर्फ़ में नंगे पाँव पोप के पास जाना पड़ा था और कनौज़ा (इटली) में पोप के निवास-स्थान के बाहर इसी तरह उस समय तक खड़े रहना पड़ा था, जबतक कि पोप ने मेहरबानी करके उसे अन्दर आने की इजाज़त नहीं दी!

हम देख रहे हैं कि इस समय यूरोप के देश शक़्ल लेने लगे थे। फिर भी वह आज के देशों से बिलकुल अलग तरह के थे—ख़ासकर उनके निवासी तो थे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही। ये लोग अपने को फ़ान्सीसी, अंग्रेज़ या जर्मन कभी नहीं कहते होंगे। ग़रीब किसान बहुत मुसीबत में थे और अपने देश या भूगोल के बारे में कुछ नहीं जानते थे; सिर्फ़ इतना जानते थे कि हम अपने जागीरदार के चाकर हैं और हमें उसकी आज्ञा का पालन करना है। अगर अमीर सामन्तों से कोई पूछता कि तुम कौन हो, तो वे यही जवाब देते कि हम किसी-न-किसी जगह के सरदार हैं और किसी बड़े सरदार के या बादशाह के ताबेदार हैं। यही सामन्तशाही थी जो सारे यूरोप में फैली हुई थी।

धीरे-धीरे जर्मनी में, और ख़ासतौर से उत्तरी इटली में, बड़े-बड़े शहर बढ़ने लगे। पेरिस भी उस वक़्त एक मशहूर शहर था। ये शहर व्यापार और वाणिज्य के केन्द्र थे और वहाँ बहुत दौलत इकट्ठी होती जाती थी। ये शहर सामन्तों को पसन्द नहीं करते थे और इन दोनों के बीच हमेशा खींच-तान रहती थी। पर अन्त में पैसे की जीत हुई। सामन्तों और सरदारों को क़र्ज़ देकर शहरों ने पैसे की मदद से रियासतें और सत्ता खरीदीं। और इस तरह शहरों में धीरे-धीरे एक नया वर्ग पैदा हो गया, जिसकी इस सामन्तशाही से कभी नहीं पटी।

इस तरह हम देखते हैं कि यूरोप का समाज सामन्ती ढाँचे के ढंग पर बहुत-सी तहों में बँट गया था और ईसाई-संघ भी इस प्रणाली को अपना समर्थन और आशीर्वाद देता था। राष्ट्रीयता की कोई भावना नहीं पाई जाती थी। लेकिन सारे यूरोप में, ख़ासकर ऊँचे वर्ग में, ईसाई-राज्य की भावना ज़रूर थी। यह ऐसी चीज़ थी जो यूरोप के ईसाई-राष्ट्रों को एक सूत्र में बाँधती थी: ईसाई-संघ ने इस भावना के फैलाने में मदद की क्योंकि इससे वह मज़बूत होता था और रोम के पोप की शक्ति बढ़ती थी, जो उस वक़्त पश्चिमी यूरोप में ईसाई-संघ का निर्विवाद अध्यक्ष बन चुका था। तुम्हें याद होगा कि रोम पूर्वी रोमन साम्राज्य और क़ुस्तुन्तुनिया से अलग हो चुका था। क़ुस्तुन्तुनिया में ईसाइयों का वही पुराना कट्टर सम्प्रदाय चला आ रहा था और रूस ने भी अपना मज़हब यहीं से लिया। क़ुस्तुन्तुनिया के यूनानी लोग पोप को नहीं मानते थे।

लेकिन ख़तरे के मौक़े पर, जब क़ुस्तुन्तुनिया को दुश्मनों ने घेर लिया और ख़ासकर सेलजूक़ तुर्कों ने इसपर हमला किया, तो वह अपने अभिमान को और रोम की नफ़रत को भूल गया, और उसने मुसलमान विधर्मियों के खिलाफ़ पोप से मदद माँगी। उस वक़्त रोम में एक महान् पोप हिल्देब्रांदे था, जो पोप ग्रेगरी सप्तम् के नाम से गद्दी पर बैठा। इसी हिल्देब्रांदे के सामने कनौज़ा में अभिमानी जर्मन सम्राट् नंगे पैर, गिरती हुई बर्फ़ में, हाज़िर हुआ था।

उस समय यूरोप के सारे ईसाइयों के दिलों में एक दूसरी घटना ने हलचल मचा दी थी। बहुत-से श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास था कि ईसा के ठीक एक हज़ार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष बाद दुनिया का एकदम अन्त हो जायगा। 'मिलीनियम'[1] शब्द का अर्थ 'एक हज़ार वर्ष' है। यह शब्द दो लातीनी शब्दों से मिलकर बना है; 'मिली' यानी हज़ार, और 'एनस', यानी साल। चूंकि एक हज़ार वर्ष के बाद दुनिया के अन्त की उम्मीद की जाती थी, इसलिए मिलीनियम शब्द का मतलब हो गया—एकदम परिवर्तन से बेहतर दुनिया बनाना। मैंने तुम्हें बताया है कि यूरोप में उस वक़्त बड़ी तबाही थी और 'मिलीनियम' का यह नज़ारा बहुत-से परेशान लोगों को तसल्ली देता था। बहुत-से लोग अपनी ज़मीनें बेच-बेचकर फ़िलस्तीन चले गए ताकि जब दुनिया का अन्त हो तो उस समय वे अपनी 'पवित्र भूमि' में मौजूद रहें।

लेकिन दुनिया का अन्त नहीं हुआ और उन हज़ारों तीर्थ-यात्रियों को, जो यरूशलम गये थे, तुर्कों ने बहुत परेशान किया और सताया। क्रोध और अपमान की भावना से भरे हुए ये लोग यूरोप लौटे और पवित्र भूमि में उठाई हुई अपनी मुसीबतों के क़िस्से सारे यूरोप में फैलाने लगे। ख़ासकर एक मशहूर तीर्थयात्री, साधु पीटर, हाथ में लाठी लिये, चारों तरफ़ यही प्रचार करता फिरता था कि ईसाइयों के पवित्र नगर यरूशलम का मुसलमानों से उद्धार करना चाहिए। ईसाई-जगत् में इस अन्याय के ख़िलाफ़ क्रोध और जोश बढ़ता गया और यह देखकर पोप ने इस आन्दोलन का नेता ख़ुद बनने का निश्चय किया।

इसी समय विधर्मियों के ख़िलाफ़ सहायता के लिए क़ुस्तुन्तुनिया से पुकार आई। मालूम होता था कि सारा ईसाई-जगत्, रोमन भी और यूनानी भी, बढ़ते हुए तुर्कों के ख़िलाफ़ एक जूट हो गया है। १०९५ ई० में ईसाई-संघ की बड़ी परिषद् में यह तय हुआ कि यरूशलम के पवित्र नगर के उद्धार के लिए मुसलमानों के ख़िलाफ़ धर्म-युद्ध की घोषणा की जाय। इस तरह क्रूसेड का युद्ध शुरू हुआ, यानी इस्लाम के ख़िलाफ़ ईसाइयत की—हिलाल[2] के ख़िलाफ़ सलेब[3] की, लड़ाई।

: ५८ :

एशिया और यूरोप पर एक और नज़र

१२ जून, १९३२

हमने ईसा के बाद एक हज़ार वर्ष के अन्त तक की दुनिया का—यानी एशिया, यूरोप और अफ्रीका के कुछ हिस्सों का—संक्षिप्त सिंहावलोकन ख़त्म कर दिया। लेकिन आओ, एक नज़र और डाल लें।

---

[1] Millennium+Mille-annus

[2] मुसलमानों का धर्म-चिह्न, दूज का चांद।

[3] क्रॉस या सूली, ईसाइयत का चिह्न।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले एशिया को लें। भारत और चीन की पुरानी सभ्यताएँ चली आ रही थीं और उन्नति कर रही थीं। भारतीय संस्कृति मलेशिया और कम्बोदिया तक फैल गई थी। और वहाँ बहुत बढ़िया फल पैदा कर रही थी। चीनी संस्कृति कोरिया और जापान, और किसी हदतक मलेशिया में भी फैली हुई थी। पश्चिमी एशिया में, अरब, फ़िलस्तीन, सीरिया और इराक़ में अरबी संस्कृति का दौर था। ईरान में पुरानी ईरानी और नई अरबी सभ्यता का मेल था। मध्य एशिया के कुछ देशों ने भी इस ईरानी-अरबी संस्कृति के मिले-जुले रूप को अख्तियार कर लिया था, और उनपर भारत और चीन का भी असर पड़ा था। ये सब देश सभ्यता के ऊँचे दर्जे को पहुँच गये थे। व्यापार, विद्या और कलाओं की उन्नति हो रही थी; बड़े-बड़े शहरों की बहुतायत थी; और मशहूर विश्वविद्यालयों में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। सिर्फ़ मंगोलिया और मध्य एशिया के कुछ हिस्सों में और उत्तर में साइबेरिया में सभ्यता का स्तर कुछ नीचा था।

अब यूरोप को लो। एशिया के प्रगतिशील देशों के मुक़ाबले में यह पिछड़ा हुआ और आधा-जंगली था। यूनानी-रोमन सभ्यता पुराने ज़माने की सिर्फ़ यादगार रह गई थी। विद्या की क़द्र नहीं थी; कलाओं का भी ज्यादा प्रचार नहीं था और एशिया के मुक़ाबले व्यापार भी बहुत कम था। लेकिन दो जगह रोशनी नज़र आती थी। एक तो अरबों के शासन में स्पेन में जो अरबों के शानदार ज़माने की परम्परा को क़ायम रखे हुए था; दूसरा क़ुस्तुन्तुनिया था, जो धीरे-धीरे गिरावट की हालत में भी, एशिया और यूरोप की सरहद पर, बहुत बड़ा और घनी आबादी का शहर था। यूरोप के ज्यादातर हिस्सों में बार-बार गड़बड़ हुआ करती थी और सामन्तशाही के हरेक नाइट और सरदार अपने मातहत इलाक़े का छोटा-मोटा राजा हुआ करता था। एक समय ऐसा आया कि पुराने रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम एक मामूली गाँव के बराबर रह गया और उसके पुराने कोलोज़ियम में जंगली जानवरों का बसेरा हो गया। लेकिन अब यह फिर बढ़ने लगा था।

इसलिए अगर तुम ईसा के १००० वर्ष बाद के यूरोप और एशिया का मुक़ाबला करो तो एशिया का पलड़ा बहुत भारी निकलेगा।

आओ, अब एक नज़र और डालें, और मामलों की तह में जाकर देखने की कोशिश करें। हमें पता चलेगा कि ऊपर से देखनेवाले के ख़याल से एशिया की हालत जितनी अच्छी थी, असल में उतनी अच्छी नहीं थी। प्राचीन सभ्यता के दो पालने, भारत और चीन, परेशानी में फँसे हुए थे। ये सिर्फ़ बाहर से होनेवाले हमलों से ही परेशान नहीं थे, बल्कि इनसे भी ज्यादा असली वे परेशानियाँ थीं जो इनकी अन्दरूनी ज़िन्दगी और ताक़त को चूस रही थीं। पश्चिम में अरबों के शानदार दिनों का अन्त हो रहा था। यह सच है कि सेलजूक़ों की ताक़त बढ़ रही थी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन उनकी तरक़्क़ी की वजह सिर्फ़ यह थी कि वे बड़े रण-बाँकुरे थे। भारतीयों, चीनियों, ईरानियों या अरबों की तरह ये लोग एशिया की सभ्यता के प्रतिनिधि नहीं थे, बल्कि एशिया के रण-बाँकुरेपन के प्रतिनिधि थे। एशिया में हर जगह पुरानी सभ्य जातियाँ सिकुड़ती हुई दिखाई देती थीं। वे आत्म-विश्वास खो बैठी थीं और अपने को बचाने की चिन्ता में थीं। बलवान और तेज-तरार नई क़ौमें पैदा हुईं, जिन्होंने एशिया की इन पुरानी नस्लों को विजय किया और जो यूरोप की तरफ़ भी बढ़ने लगीं। लेकिन ये अपने साथ सभ्यता की कोई नई लहर या संस्कृति की कोई नई प्रेरणा नहीं लाईं। पुरानी नस्लों ने धीरे-धीरे इन नई क़ौमों को सभ्य बनाया और अपने विजेताओं को हज़म कर लिया।

इस तरह हम एशिया के ऊपर एक बड़ा परिवर्तन आता हुआ देखते हैं। पुरानी सभ्यता क़ायम थी, ललित कलाएँ फूल-फल रही थीं, विलासिता में नज़ाकत मौजूद थी, लेकिन सभ्यता की नाड़ी कमज़ोर पड़ रही थी और ज़िन्दगी की साँस धीरे-धीरे मन्द होती जा रही थी। ये सभ्यताएँ बहुत दिनों तक क़ायम रहीं। सिवाय अरब के, और मध्य-एशिया के, जबकि वहाँ मंगोल आये। कहीं दूसरी जगह न तो ये सभ्यताएँ खत्म हुईं, और न इनका सिलसिला ही टूटा। चीन और भारत की सभ्यताएँ धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगीं, और अन्त में पुरानी सभ्यता चित्रित तसवीर की तरह हो गई, जो दूर से देखने में तो बहुत सुन्दर मालूम होती थी, लेकिन थी बे-जान और नज़दीक से देखने पर मालूम होता था कि उसमें दीमक लगी हुई है।

साम्राज्यों की तरह सभ्यताओं का पतन भी, बाहरी दुश्मनों की ताक़त की वजह से इतना नहीं होता, जितना कि अन्दरूनी कमज़ोरी और सड़न की वजह से। रोम का अन्त बर्बरों की वजह से नहीं हुआ। बर्बरों ने तो सिर्फ़ एक ऐसी चीज़ को धराशायी किया था जो पहले ही मुर्दा थी। जिस समय रोम के हाथ-पाँव काटे गये, उससे पहले ही उसके दिल की धड़कन बन्द हो चुकी थी। कुछ ऐसी ही प्रक्रिया हमें भारत, चीन और अरब में भी दिखाई देती है। अरबी सभ्यता का अन्त भी उसके उदय के समान ही एकदम हुआ। भारत और चीन में पतन की यह प्रक्रिया बहुत लम्बे अर्से तक चलती रही और यह पता लगाना आसान नहीं है कि वह कहाँ खत्म हुई।

महमूद ग़ज़नवी के भारत आने से बहुत पहले पतन की यह प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। लोगों के दिमाग़ में परिवर्तन हुआ दिखाई देने लगा था। नये विचार और नई चीज़ें पैदा करने के बजाय भारत के लोग पुरानी बातों को दोहराने और उनकी नक़ल करने में लग गये थे। उनके दिमाग़ अभी तक काफ़ी तेज़ थे, लेकिन वे अपना समय उन बातों का नया अर्थ लगाने में और उनकी व्याख्या करने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बिताते थे, जो बहुत दिनों पहले कही और लिखी जा चुकी थीं। ये लोग अभी भी चकित करनेवाली मूर्त्तिकला व नक्काशी कला की चीज़ें बनाते थे, लेकिन ये सब चीज़ें ज़रूरत से ज्यादा बारीकियों और सजावट से बोझिल थीं और कहीं-कहीं उनमें कुछ अजीब विकृति भी आ जाती थी। इनमें मौलिकता नहीं थी और इसी तरह आकृतियाँ भी उभरी हुई और शानदार नहीं थीं। धनवानों और खुशहालों में तक़ल्लुफ़ और कला-प्रेम और विलासिता का ज़ोर था, लेकिन न तो आम जनता की मेहनत व मुसीबत को कम करने के लिए कुछ किया गया और न उपज बढ़ाने के लिए।

ये तमाम सभ्यता की सन्ध्या के काल की निशानियाँ हैं। जब ऐसा होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उस सभ्यता की चेतना लोप हो रही है; क्योंकि रचना ही जीवन का चिह्न है, दोहराना या नक़ल करना नहीं।

चीन और भारत में उस समय कुछ इसी क़िस्म की प्रतिक्रियाएँ हो रही थीं। लेकिन मेरे मतलब को समझने में ग़लती न करना। मेरा मतलब यह नहीं है कि इसकी वजह से चीन या भारत की हस्ती मिट गई या वे असभ्यता के गड्ढे में गिर पड़े। मेरा मतलब यह है कि चीन और भारत की रचनात्मक भावना को जो पुरानी प्रेरणा बीते ज़माने में मिलती थी, उसकी शक्ति अब खत्म हो रही थी, और उसमें नई जान नहीं पड़ रही थी। यह भावना अपने को बदले हुए हालात के मुताबिक़ नहीं ढाल रही थी, बल्कि सिर्फ़ पुराने ढर्रे पर चल रही थी। हर देश और सभ्यता की यही हालत होती है। ऊँचे दर्जे की नई रचना की कोशिश के और विकास के ज़माने आते हैं और फिर पस्ती के ज़माने आते हैं। ताज्जुब की बात तो यह है कि चीन और भारत में यह पस्ती इतनी देर से आई और फिर भी ऐसा कभी नहीं हुआ कि ये पूरी तरह पस्त हो गये हों।

इस्लाम अपने साथ भारत में मानव-प्रगति की एक नई लहर लेकर आया। कुछ हद तक इसने पौष्टिक दवा का काम किया। इसने भारत को झकझोर डाला, लेकिन दो कारणों से वह भारत को उतना फ़ायदा नहीं पहुँचा सका, जितना कि पहुँचा सकता था। वह भारत में ग़लत तरीक़े से आया और बहुत देर से आया। महमूद ग़ज़नवी के हमलों के कई सौ वर्ष पहले से मुसलमान धर्म-प्रचारक भारत भर में घूमते-फिरते थे और इनका स्वागत होता था। ये शान्ति के साथ आये थे और कुछ कामयाब भी हुए थे। इस्लाम के खिलाफ़ कोई भी बुरी भावना नहीं थी। लेकिन महमूद अपने साथ तलवार और आग लेकर आया। और जिस ढंग से वह विजेता, लुटेरा और क़ातिल बनकर आया, उससे भारत में इस्लाम के नाम को जितना धक्का पहुँचा उतना किसी दूसरी वजह से नहीं। यह ठीक है कि महमूद मज़हब की कुछ परवाह नहीं करता था और उसने वैसी ही मारकाट और लूटपाट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जैसी कि सब बड़े विजेता किया करते हैं। लेकिन भारत में इस्लाम पर इसके हमले बहुत दिनों तक छाये रहे और लोगों के लिए इस्लाम के बारे में निष्पक्षता से विचार करना मुश्किल हो गया; वरना हालत दूसरी ही होती।

यह एक वजह थी। दूसरी वजह यह थी कि इस्लाम देर में आया। वह अपनी शुरुआत के चार सौ वर्ष बाद यहाँ आया और इस लम्बे अर्से में वह कुछ पस्त हो चुका था और उसकी रचना-शक्ति बहुत-कुछ बीत चुकी थी। अगर अरब लोग शुरू में ही इस्लाम को लेकर भारत आये होते तो उन्नतिशील अरबी संस्कृति और पुरानी भारतीय संस्कृति आपस में मिल गई होतीं और दोनों एक-दूसरी पर असर डालतीं, जिसके नतीजे बड़े महान् होते। तब दो सुसंस्कृत नस्लों का मेल हो गया होता, क्योंकि अरब लोग मज़हब के मामले में उदारता और बुद्धिवाद के लिए मशहूर थे। वास्तव में एक ज़माने में बग़दाद में एक क्लब था, जिसका संरक्षक खलीफ़ा था, और जहाँ हर मज़हब के माननेवाले और किसी भी मज़हब को न माननेवाले जमा होते थे और सिर्फ़ बुद्धिवादी दृष्टिकोण से सब मामलों पर चर्चा और बहस किया करते थे।

लेकिन अरब लोग भारत के भीतर नहीं घुसे। वे सिन्ध में आकर रुक गये। और भारत पर उनका कुछ असर नहीं पड़ा। भारत में इस्लाम तुर्कों और दूसरी क़ौमों के ज़रिये आया, जिनमें अरबों जैसी उदारता और संस्कृति नहीं थी, क्योंकि वे सिर्फ़ सिपाही थे।

लेकिन फिर भी प्रगति और रचनात्मक प्रयत्न की एक नई लहर भारत में आई। यह नई लहर भारत में कुछ नई जान डालकर किस तरह खत्म हो गई, इसपर हम आगे विचार करेंगे।

अब भारतीय सभ्यता के कमज़ोर पड़ने का एक और नतीजा सामने आने लगा था। जब इसपर बाहर से हमला हुआ तो उस आनेवाली लहर से बचने के लिए इसने अपने चारों तरफ़ बाड़ लगा ली और अपने को उसमें बन्द-सा कर लिया। यह भी कमज़ोरी और डर की एक निशानी थी; और इस दवा ने रोग को और भी बढ़ा दिया। असली बीमारी विदेशी हमला नहीं थी, बल्कि कूप-मण्डूकपन थी। इस कूप-मण्डूकपन से सड़न पैदा हुई और बढ़ोतरी के सारे रास्ते रुक गये। आगे चलकर हम देखेंगे कि चीन ने भी यह बात अपने तरीक़े से की और जापान ने भी ऐसा ही किया। किसी परकोटे में बन्द समाज में रहना कुछ खतरनाक बात है। उसमें रहकर हम पथरा जाते हैं और ताज़ी हवा और ताज़े विचारों के आदी नहीं रह जाते। समाजों के लिए भी ताज़ी हवा उतनी ही ज़रूरी है जितनी व्यक्तियों के लिए।

यह तो एशिया की बात हुई। हमने देखा है कि यूरोप उस समय पिछड़ा हुआ था और झगड़ालू भी था। लेकिन इसकी तमाम गड़बड़ी और असभ्यता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पीछे कम-से-कम इसमें क्रियाशील शक्ति और चेतना पाई जाती थी। एशिया बहुत दिनों तक सिरमौर रहने के बाद पतन की तरफ़ जा रहा था; यूरोप ऊँचा उठने की कोशिश में था। लेकिन एशिया के स्तर के पास तक पहुँचने के लिए उसे अभी बहुत लम्बी मंज़िल तय करनी बाक़ी थी।

आज यूरोप दुनिया पर हावी है, और एशिया आज़ादी के लिए तक़लीफ़ें उठाकर लड़ रहा है। लेकिन सतह के नीचे फिर देखने की कोशिश करो। तुम्हें एशिया में नई क्रियाशील शक्ति, नई रचना की भावना और नई ज़िन्दगी दिखाई देगी। एशिया अब फिर उठ रहा है, इसमें कोई शक नहीं। और यूरोप में, या यों कहो पश्चिम यूरोप में, उसकी महानता के बावजूद, पतन के कुछ चिह्न दिखाई दे रहे हैं। आज कोई जंगली क़ौम इतनी ताक़तवर नहीं है, जो यूरोप की सभ्यता को बर्बाद कर दे। लेकिन कभी-कभी सभ्य जातियाँ खुद जंगलियों जैसी हरकतें करने लगती हैं, और जब ऐसा होता है तो सभ्यता खुद अपने को नष्ट कर देती है।

मैं एशिया और यूरोप की बातें कर रहा हूँ। लेकिन ये तो सिर्फ़ भौगोलिक शब्द हैं और जो समस्याएँ हमारे सामने हैं, वे एशियाई या यूरोपीय समस्याएँ नहीं हैं, बल्कि सारे संसार की या मनुष्य-जाति की समस्याएँ हैं। और जबतक हम सारे संसार की इन समस्याओं को हल नहीं कर डालते, तबतक गड़बड़ें चलती रहेंगी। इन समस्याओं के हल का अर्थ सिर्फ़ यही हो सकता है कि हर जगह ग़रीबी और मुसीबत ख़त्म हों। सम्भव है, इसमें कुछ वक्त लग जाय, लेकिन हमारा निशाना यही होना चाहिए, और इससे कम हरगिज़ नहीं होना चाहिए। तभी हम बराबरी के आधार पर असली सभ्यता और संस्कृति क़ायम कर सकेंगे, जिसमें किसी देश या किसी वर्ग का शोषण न होगा। यह समाज नई रचना करनेवाला और प्रगतिशील होगा जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालेगा और जिसकी बुनियाद सब लोगों के आपसी सहयोग पर होगी। और अन्त में यह समाज सारी दुनिया में फैल जायगा। फिर यह ख़तरा न रहेगा कि ऐसी सभ्यता पुरानी सभ्यताओं की तरह ढह जाय या सड़ जाय।

इसलिए जब हम भारत की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं तो हमें याद रखना चाहिए कि सारी मनुष्य-जाति की आज़ादी हमारा महान् लक्ष्य है, जिसमें हमारे राष्ट्र की आजादी के साथ दूसरे राष्ट्रों की आज़ादी भी शामिल है।

: ५९ :

अमेरिका की मय सभ्यता

१३ जून, १९३२

मैं तुमसे कहता आया हूँ कि इन पत्रों में मैं संसार के इतिहास की रूप-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

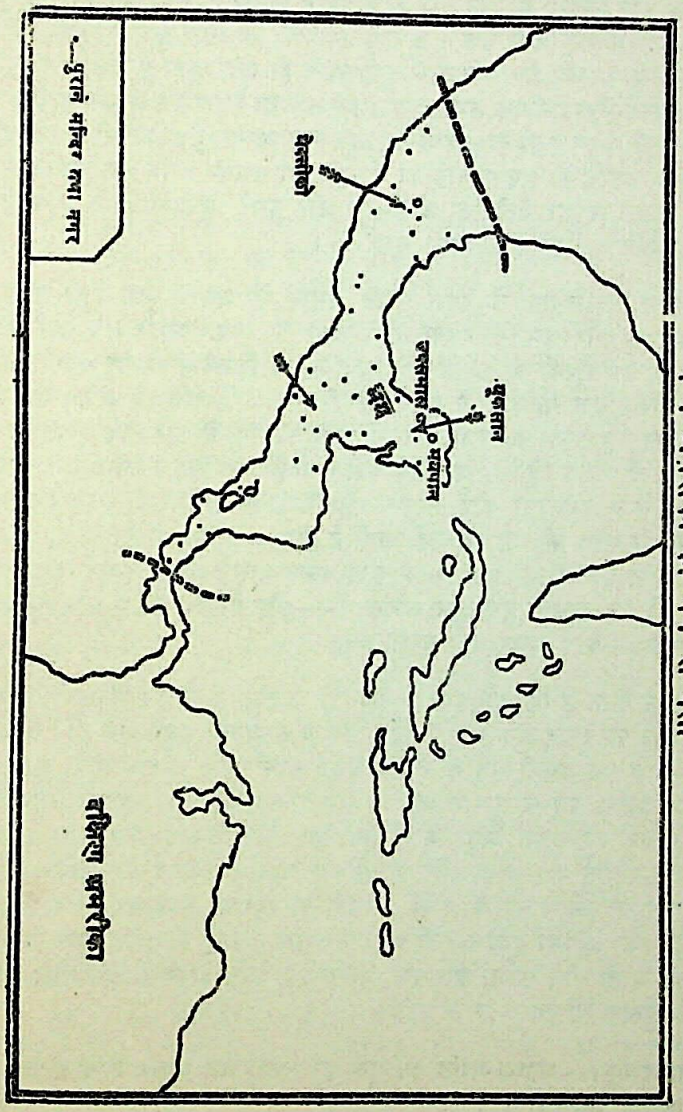

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेखा खींचने की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन वास्तव में अभी तक यह एशिया और यूरोप और उत्तरी अफ़्रीका का ही इतिहास रहा है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया के बारे में मैंने अभी तक कुछ नहीं बताया। या अगर कुछ बताया भी है तो वह नहीं के बराबर है। लेकिन मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि इस शुरू के ज़माने में भी अमेरिका में एक सभ्यता थी। इस सभ्यता के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती है, और मैं तो वास्तव में बहुत ही कम जानता हूँ। फिर भी उसके बारे में तुम्हें कुछ बताने की अपनी चाह को मैं नहीं दबा सकता, ताकि तुम यह समझने की आम ग़लती न कर बैठो कि कोलम्बस और दूसरे यूरोपवासियों के पहुँचने से पहले अमेरिका सिर्फ़ एक वहशी मुल्क़ था।

शायद पाषाण-युग[1] के बहुत पुराने ज़माने में, जब मनुष्य कहीं जमकर नहीं रहता था और घूमने-फिरनेवाला शिकारी था, तब उत्तरी अमेरिका और एशिया के बीच में ख़ुश्की का रास्ता था। आदमियों के कितने ही गिरोह और क़बीले अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में आते-जाते रहे होंगे। बाद में आने-जाने का यह रास्ता कट गया और अमेरिका के लोगों ने धीरे-धीरे अपनी निजी सभ्यता बना ली। याद रहे कि, जहाँ तक पता चला है, अमरीका के लोगों को एशिया और यूरोप से जोड़नेवाला कोई साधन नहीं था। सोलहवीं सदी तक, जब कि नई दुनिया की खोज की गई बतलाई जाती है, ऐसा कोई बयान नहीं पाया जाता कि यूरोप और एशिया का इस देश से कोई असर डालने वाला सम्पर्क रहा हो। अमेरिका की यह दुनिया दूर और अलग थी—और इसपर यूरोप और एशिया की घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ता था।

मालूम होता है कि अमेरिका में सभ्यता के तीन केन्द्र थे : मैक्सिको, मध्य-अमेरिका और पेरू। यह ठीक मालूम नहीं है कि ये सभ्यताएँ कबसे शुरू हुईं। लेकिन मैक्सिको का पंचांग ईसवी सन् के क़रीब ६१३ साल पहले से शुरू होता है। हम देखते हैं कि ईसवी सन् के शुरू के वर्षों में, दूसरी सदी के आगे, बहुत-से शहर बढ़ चुके थे। पत्थर का काम, मिट्टी के बरतनों का काम, बुनाई और बहुत सुन्दर रँगाई के काम होते थे। ताँबा और सोना बहुतायत से मिलते थे; लेकिन लोहा नहीं था। इमारतें बनाने की कला की तरक़्क़ी हो रही थी और मकानों के बनाने में इन शहरों की आपसी होड़ चलती थी। एक ख़ास तरह की और बहुत पेचीदा लिपि लिखी जाती थी। कला, ख़ासकर मूर्त्तिकला, बहुत देखने में आती थी और वह काफ़ी सुन्दर थी।

---

[1] पाषाणयुग—मनुष्य-जाति का शुरू का समय जब मनुष्य सिर्फ़ पत्थर के औज़ार बनाना जानता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभ्यता के इन क्षेत्रों में से हरेक में कई राज्य थे। कई भाषाएँ थीं और इन भाषाओं में काफ़ी साहित्य भी था। सुसंगठित और मज़बूत सरकारें थीं और शहरों में सुसंस्कृत और दिमाग़ी समाज था। इन राज्यों का क़ानून और अर्थ-व्यवस्था बहुत विकसित थे। ९६० ई० के लगभग उक्षमल नगर की नींव डाली गई। कहा जाता है कि यह शहर बहुत जल्दी बढ़कर उस समय के एशिया के बड़े शहरों की टक्कर का हो गया। इसके अलावा लाबुआ, मयपान, चाओ-मुल्तुन, वग़ैरा और भी बड़े-बड़े नगर थे।

मध्य अमेरिका के तीन मुख्य राज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया था, जिसे अब मयपान-संघ कहते हैं। यह ईसा के बाद ठीक एक हज़ार वर्ष के आसपास की बात है, यानी उस ज़माने की जहाँतक हम एशिया और यूरोप में आ पहुँचे हैं। यानी ईसा के एक हज़ार वर्ष बाद मध्य अमेरिका में सभ्य राज्यों का एक शक्तिशाली संगठन था। लेकिन इसके सारे राज्यों पर और ख़ुद मय सभ्यता पर पुरोहित लोग सवार थे। ज्योतिष-विज्ञान का सबसे ज्यादा आदर होता था, और इस विज्ञान के जानकार होने की वजह से पुरोहित लोग जनता की अज्ञानता से फ़ायदा उठाते थे। इसी तरह भावना में भी लाखों आदमी चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहणों पर स्नान व उपवास करने के लिए फुसलाये गए हैं।

यह मयपान-संघ सौ वर्षों से अधिक बना रहा। जान पड़ता है कि इसके बाद एक समाजी क्रान्ति हुई और सरहद की एक बाहरी शक्ति ने दख़ल देना शुरू कर दिया। ११९० ई० के लगभग मयपान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने रहे। इसके बाद सौ वर्ष के अन्दर एक दूसरी क़ौम आई। ये लोग मैक्सिको से आये थे और अज़टेक कहलाते थे। इन लोगों ने चौदहवीं सदी के शुरू में मय देश को जीत लिया और १३२५ ई० के लगभग टेनोक्टिट्लन नामक शहर बसाया। जल्द ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अज़टेक साम्राज्य का केन्द्र बन गया। इस शहर की आबादी बहुत बड़ी थी।

अज़टेक लोग एक फ़ौजी राष्ट्र थे। इनके फ़ौजी उपनिवेश थे, छावनियाँ थीं और फ़ौजी सड़कों का जाल था। यहाँतक कहा जाता है कि वे इतने चालाक थे कि अपने मातहत राज्यों को आपस में लड़ाते रहते थे। उनकी आपसी फूट से उनपर शासन करना ज्यादा आसान था। सारे साम्राज्यों की यह बहुत पुरानी नीति रही है। रोमवाले इसे 'फूट डालो और राज करो' की नीति[1] कहते थे!

दूसरी बातों में चतुर होते हुए भी अज़टेक लोग मज़हब के मामले में पुरोहितों के शिकंजे में थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मज़हब में आदमियों की

[1] Divide et impera.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़ुरबानियाँ बहुत होती थीं। हर साल धर्म के नाम पर हज़ारों आदमी बड़े भयंकर तरीक़े से बलि चढ़ा दिये जाते थे।

लगभग दो सौ वर्षों तक अज़टेकों ने अपने साम्राज्य पर डण्डे के ज़ोर से राज किया। साम्राज्य में ज़ाहिरा सुरक्षा व शान्ति थी, लेकिन जनता बेरहमी से निचोड़ी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह बना हो और इस तरह चलाया जाय, वह बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रह सकता। और यही हुआ भी। सोलहवीं सदी के शुरू में, यानी १५१९ ई० में, जब अज़टेक अपनी शक्ति की सबसे ऊँची चोटी पर दिखाई देते थे, उनका साम्राज्य मुट्ठी भर लुटेरे और हौसलावर विदेशियों के हमले से भरभराकर गिर पड़ा! साम्राज्यों के पतन की यह एक बड़ी ही हैरत में डालनेवाली मिसाल है। और यह सब एक स्पेनवासी हर्नन कोर्तीज़ और उसके साथ की सिपाहियों की एक टुकड़ी ने कर दिखाया। कोर्तीज़ बहादुर आदमी था और काफ़ी जोखिम उठानेवाला था। उसके पास दो चीज़ें थीं, जिनसे उसे बड़ी मदद मिली—बन्दूकें और घोड़े। मालूम होता है कि मैक्सिको के साम्राज्य में घोड़े नहीं थे और बन्दूकें तो थीं ही नहीं। लेकिन, अगर अज़टेक साम्राज्य की जड़ें खोखली न होतीं तो न तो कोर्तीज़ की हिम्मत और न उसकी बन्दूकें और घोड़े ही किसी काम आते। इस राज्य का ऊपरी रूप तो बना हुआ था, लेकिन अन्दर से यह खोखला हो चुका था, इसलिए इसे गिराने को ज़रा-सी ठोकर ही काफ़ी थी। यह साम्राज्य जनता के शोषण की नींव पर बना था; इसलिए लोग उससे बहुत नाराज़ थे। इसलिये जब उसपर हमला हुआ तो आम जनता ने साम्राज्यवादियों की इस हार का स्वागत किया। और, जैसा कि अक्सर होता है इसके साथ ही एक समाजी क्रान्ति भी हुई।

एक बार तो कोर्तीज़ खदेड़ दिया गया और मुश्किल से वह अपनी जान बचा सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहाँ के कुछ निवासियों की मदद से उसने फ़तह पाई। इससे अज़टेक शासन का तो अन्त हुआ ही, लेकिन मज़ेदार बात यह है कि साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लड़खड़ाकर गिर पड़ी और थोड़े ही समय में उस शाही और विशाल राजधानी टेनोक्टिट्लन का निशान तक बाक़ी नहीं रहा। उसकी एक ईंट भी आज नहीं बची है और उसकी जगह पर स्पेनवालों ने एक बड़ा गिरजा बनाया। मय सभ्यता के दूसरे बड़े शहर भी नष्ट हो गये और यूकेतन के जंगलों ने उन्हें ढक लिया, यहाँतक कि उनके नाम भी बाक़ी न रहे और उनमें से बहुतों की याद आजकल उनके पड़ौस के गाँवों के नामों में बाक़ी रह गई है। उनका सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और सिर्फ़ तीन किताबें बच रही हैं, और उन्हें भी आज तक कोई पढ़ नहीं सका है।

मामूली तौर पर यह बताना मुश्किल है कि एक प्राचीन जाति और एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन सभ्यता, जो करीब १५०० वर्षों तक क़ायम रही, यूरोप के नये लोगों के सम्पर्क में आते ही एकाएक कैसे ख़त्म हो गई। ऐसा मालूम होता है कि यह सम्पर्क एक बीमारी की तरह था, यानी एक नई महामारी थी, जिसने उनका सफ़ाया कर दिया। हालांकि कुछ बातों में इनकी सभ्यता बहुत ऊँची थी लेकिन कुछ दूसरी बातों में ये लोग बहुत पिछड़े हुए थे। इतिहास के जुदा-जुदा कालों की ये लोग एक विचित्र खिचड़ी थे।

दक्षिणी अमेरिका के पेरू में सभ्यता का एक और केन्द्र था और इस देश में 'इनका' का शासन था। यह एक तरह का दैवी राजा माना जाता था। यह अजीब बात है कि पेरू की इस सभ्यता का, कम-से-कम पिछले दिनों में, मैक्सिको की सभ्यता से बिलकुल भी सम्पर्क नहीं था। दोनों सभ्यताएँ एक-दूसरी से बहुत दूर नहीं थीं, फिर भी वे एक-दूसरी के बारे में कुछ नहीं जानती थीं और सिर्फ़ इसी बात से यह साबित हो जाता है कि कुछ मामलों में वे कितनी ज्यादा पिछड़ी हुई थीं। मैक्सिको में कोर्तीज़ की सफलता के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-वासी ने पेरू राज्य का भी अन्त कर दिया। इसका नाम पिज़ारो था। इसने १५३० ई० में आकर इनका को दग़ाबाज़ी से पकड़ लिया। 'दैवी' राजा के पकड़े जाने से ही लोग डर गये। पिज़ारो ने कुछ समय तक इनका के नाम पर राज करने की कोशिश की और लोगों को दबाकर बहुत दौलत ऐंठी। बाद में यह ढोंग ख़त्म कर दिया गया और स्पेनवासियों ने पेरू को अपने राज्य का एक हिस्सा बना लिया।

कोर्तीज़ ने जब पहले-पहल टेनोक्दितलन शहर देखा तो वह उसकी विशालता पर हक्का-बक्का रह गया। उसने यूरोप में इस क़िस्म का कोई शहर नहीं देखा था।

मय और पेरू की कला की बहुत-सी निशानियाँ मिली हैं और वे अमेरिका के, और ख़ासकर मैक्सिको के, अजायबघरों में देखी जा सकती हैं। इनमें कला की एक बढ़िया परम्परा दिखाई देती है। पेरू के सुनारों का काम बहुत ही ऊँचे दर्जे का बताया जाता है। पत्थर की मूर्तियों के भी कुछ नमूने मिले हैं, जिनमें पत्थर के कुछ साँप ख़ासतौर पर बहुत ही सुन्दर हैं। दूसरी मूरतें तो मानो दहलाने व नफ़रत पैदा करने के लिए बनाई गई हैं, और उन्हें देखकर सचमुच डर व नफ़रत पैदा होते हैं!

: ६० :

मोहेन-जो-दड़ो की तरफ वापस छलाँग

१४ जून, १९३२

मैंने अभी मोहेन-जो-दड़ो और सिन्ध-घाटी की पुरानी भारतीय सभ्यता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बारे में कुछ पढ़ा है। एक नई महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें इस सभ्यता के बारे में वे सारी बातें, जो अभी तक मालूम हो सकी हैं, बयान की गई हैं। यह पुस्तक उन लोगों ने तैयार की है और लिखी है, जिनकी देख-रेख में खुदाई का और खोद निकालने का काम था और जिन्होंने गहराई तक खोदते-खोदते अपनी आंखों से शहर को, मानो धरती-माता के गर्भ से बाहर निकलते देखा है। मैंने अभी तक यह पुस्तक नहीं देखी है। मैं चाहता हूँ कि वह मुझे यहाँ मिल जाती। लेकिन मैंने इसकी समालोचना पढ़ी है और मैं चाहता हूँ कि इसके कुछ उद्धरण तुम्हारे सामने भी रख दूं। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अद्भुत चीज़ है और इसकी बाबत जितना ज़्यादा मालूम होता है उतना ही आश्चर्य भी बढ़ता है। इसलिए मुझे आशा है कि अगर हम पिछले इतिहास के विवरण को छोड़कर इस पत्र में पाँच हज़ार वर्ष पीछे कूद जायं, तो तुम्हें कुछ ऐतराज़ न होगा।

मोहेन-जो-दड़ो को लोग कम-से-कम इतना पुराना तो मानते ही हैं। जो मोहेन-जो-दड़ो हमें मिला है वह एक सुन्दर शहर था और एक सुसंस्कृत और सभ्य जाति का घर था। इसके पीछे विकास का एक लम्बा ज़माना ज़रूर रहा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमें मालूम होती है। सर जॉन मार्शल, जिसकी देख-रेख में खुदाई का काम हो रहा है, लिखता है—

> "एक बात, जो मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा दोनों जगहों में साफ़तौर पर और बिना किसी भ्रम के दिखाई देती है, यह है कि जो सभ्यता इन दो स्थानों पर अभी तक प्रकट हुई है, वह नवजात सभ्यता नहीं है, बल्कि युगों पुरानी और भारत की ज़मीन पर रूढ़ हुई सभ्यता है, जिसके पीछे लाखों वर्षों का मानव-प्रयत्न है। इसलिए जब आगे ईरान, इराक़ और मिस्र के साथ-साथ भारत की गिनती भी सभ्यता के उन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में की जानी चाहिए, जहाँ सभ्यता की प्रक्रिया शुरू हुई और विकसित हुई।"

मेरा खयाल है कि हड़प्पा के बारे में मैंने तुम्हें अभी कुछ नहीं बताया है। यह दूसरी जगह है, जहां मोहेन-जो-दड़ो से मिलते-जुलते पुराने खण्डहर खोदकर निकाले गये हैं। यह पश्चिमी पंजाब में है।

इस तरह हम देखते हैं कि सिन्ध-घाटी में हम न सिर्फ़ ५००० वर्ष पहले, बल्कि उससे भी हज़ारों वर्ष पहले पहुंच जाते हैं। यहाँ तक कि हम प्राचीनता के उस धुंधले कोहरे में खो जाते हैं जब आदमी पहले-पहल एक जगह जमने लगा था। जिस समय मोहेन-जो-दड़ो की सभ्यता फूल-फल रही थी, उस समय भारत में आर्य लोग नहीं थे। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस समय "भारत के दूसरे लोग नहीं तो कम-से-कम पंजाब और सिन्ध एक उन्नत और निराली एक-रूप सभ्यता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपभोग कर रहे थे, जो उस समय की इराक़ और मिस्र की सभ्यताओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती और कई बातों में उनसे भी ऊँची थी।"

मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई से यह प्राचीन और दिल को मोहनेवाली सभ्यता हमारे सामने प्रकट हो गई है। न जाने भारत की मिट्टी के नीचे दूसरी जगहों पर कितना कुछ और दबा पड़ा है! मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत के काफ़ी हिस्से में फैली हुई थी और सिर्फ़ मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा तक ही सीमित नहीं थी। ये दोनों स्थान भी एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं।

यह वह युग था "जिसमें ताँबे व काँसे के हथियारों और बर्तनों के साथ-साथ पत्थर के हथियारों और बर्तनों का भी उपयोग चला आ रहा था।" सर जॉन मार्शल ने सिन्ध-घाटी के निवासियों के साथ उस समय के मिस्र और इराक़ के लोगों की तुलना करके दोनों का फ़र्क़ और सिन्ध-घाटी के निवासियों की श्रेष्ठता जताई है। वह लिखता है—

"अगर सिर्फ़ कुछ प्रधान बातों का ही ज़िक्र किया जाय तो पहली चीज़ यह है कि कपड़ा बनाने के लिए रुई का उपयोग इस युग में सिर्फ़ भारत तक ही सीमित था और पश्चिमी जगत में इसके दो-तीन हज़ार वर्ष बाद तक चालू नहीं हुआ। दूसरे, ऐतिहासिक युग के पहले मिस्र या इराक़ या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग में हमें कोई ऐसी चीज़ नहीं मिलती, जो मोहेन-जो-दड़ो के नागरिकों के सुनिर्मित स्नानागारों और कुशादा मकानों की बराबरी कर सके। उन देशों में देवताओं के शानदार मन्दिरों, और राजाओं के महलों व क़ब्रों के बनाने में बहुत धन और सूझ-बूझ खर्च की जाती थी, लेकिन मालूम होता है, बाक़ी जनता को मिट्टी की तुच्छ झोंपड़ियों पर ही सन्तोष करना पड़ता था। लेकिन सिन्ध-घाटी में हमें इसका उलटा दृश्य मिलता है, और यहाँपर सबसे अच्छे मकान वे हैं, जो नागरिकों के आराम के लिए बनाये गए थे।"

आगे वह फिर लिखता है—

"सिन्ध-घाटी की कला और उसके धार्मिक दृष्टिकोण में अपना एक निरालापन है और उनपर उसके विशेष गुण की छाप है। मेढ़ों, कुत्तों व दूसरे जानवरों के रंगीन मीनेवाले मिट्टी के खिलौनों की और क़ीमती पत्थर के ठप्पों पर नक्काशी की शैली ऐसी अनोखी है कि उससे मिलती-जुलती कोई भी चीज़ उस ज़माने के किसी देश में अभी तक हमारे देखने में नहीं आई है। इसके सबसे बढ़िया नमूनों में—खासकर कूबदार और छोटे सींगोंवाले साँड़ों में—रचना-विस्तार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और रेखा व आकृति-निर्माण में अनुभूति की ऐसी विशेषता है, जिससे बढ़िया नक़्काशी-कला दुर्लभ है। इसी प्रकार, हड़प्पा की दो छोटी मानव-मूर्त्तियों में—जिनके चित्र प्लेट नं० १० और ११ में दिये गए हैं—मूर्त्ति गढ़ने की कला कोमलता की जिस पराकाष्ठा को पहुँची है, उसका जोड़ यूनान के पौराणिक काल से पहले की कृतियों में मिलना सम्भव नहीं है। सिन्ध के लोगों के धर्म में अवश्य बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिसके समान बातें हमें दूसरे देशों में मिल सकती हैं। यह बात पूर्व-ऐतिहासिक युग के हर धर्म पर और ऐतिहासिक युग के अधिकतर धर्मों पर लागू होती है। लेकिन सब बातों को मिलाकर देखने से इन लोगों के धर्म में भारतीयता का विशेष गुण इतना स्पष्ट है कि उसमें तथा वर्तमान प्रचलित हिन्दू-धर्म में कोई अन्तर नहीं मालूम देता।"

मैं चाहता हूँ कि हड़प्पा में पाई गई छोटी मूर्त्तियाँ, या कम-से-कम उनकी तसवीरें देख सकता। मुमकिन है कि किसी दिन हम और तुम हड़प्पा और मोहेन-जो-दड़ो साथ-साथ चलें और जी भरकर वहाँ के दृश्यों को देखें। लेकिन अभी तो हमारा यही ढर्रा चलता रहेगा—तुम्हारा पूना के स्कूल में और मेरा अपने स्कूल में, जो देहरादून का डिस्ट्रिक्ट जेल कहलाता है।

: ६१ :

कुर्तुबा (कॉरडोबा) और ग्रैनैडा

१६ जून, १९३२

हमने एशिया और यूरोप में बहुत वर्षों की यात्रा कर ली है और ईसा से हज़ार वर्ष के अन्त तक पहुँचकर हमने एक बार पीछे फिरकर देखा है। लेकिन स्पेन के उस ज़माने का हाल हमारी इस कहानी से छूट गया है जब उस पर अरबों का क़ब्ज़ा था। इसलिए अब हमें एक बार और पीछे लौटकर उसे भी अपने इस चित्र में बैठाना चाहिए।

अगर तुम भूली न हो तो स्पेन के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी तो तुम्हें है ही। ७११ ई० में अरब-सेनापति समुद्र पार करके अफ्रीका से स्पेन पहुँचा। उसका नाम तारिक था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तारिक, यानी तारिक की पहाड़ी) पर उतरा था। दो साल के भीतर ही अरबों ने सारा स्पेन जीत लिया और कुछ दिनों बाद उन्होंने पुर्तगाल को भी मिला लिया। वे बराबर आगे बढ़ते गये; फ्रान्स में घुस गये और सारे दक्षिण में फैल गये। इससे बुरी तरह डरकर फ्रैन्कों और दूसरे क़बीलों ने चार्ल्स मार्तेल के नेतृत्व में इकट्ठे होकर अरबों को रोकने की एक बहुत बड़ी कोशिश की। वे सफल हुए और फ्रान्स में पाइतिये के पास तूर की लड़ाई में फ्रैन्कों ने अरबों को हरा दिया। यह बहुत करारी हार थी और इससे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरबों का यूरोप जीतने का सपना टूट गया। इसके बाद बहुत बार अरबों व फ्रैन्कों और फ्रान्स की दूसरी ईसाई क़ौमों के बीच लड़ाइयाँ हुईं; कभी अरब जीते और फ्रान्स में घुस पड़े और कभी वे वापस स्पेन में खदेड़ दिये गए। शार्लमेन ने भी स्पेन में अरबों पर हमला किया था, लेकिन वह हार गया; बहुत दिनों तक हार-जीत का पलड़ा बराबर बना रहा और अरब-लोग स्पेन में राज करते रहे; पर वे आगे न बढ़ सके।

इस तरह स्पेन उस बड़े साम्राज्य का अंग बन गया, जो अफ्रीका के एक सिरे से लगाकर ठेठ-मंगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था। लेकिन यह हालत बहुत दिनों तक न रही। तुम्हें याद होगा कि अरब में गृह-युद्ध हुआ था और अब्बासियों ने उम्मैया ख़लीफ़ाओं को निकाल दिया था। स्पेन का अरबी हाकिम उम्मैया था। उसने नये अब्बासी ख़लीफ़ा को मानने से इन्कार कर दिया। इस तरह स्पेन अरब साम्राज्य से अलग हो गया और बग़दाद का ख़लीफ़ा बहुत दूर होने की वजह से और अपने घरू झगड़ों में उलझा रहने की वजह से इधर ध्यान नहीं दे सका। लेकिन बग़दाद और स्पेन के बीच दुश्मनी चलती रही और ये दोनों अरब राज्य मुसीबत के समय एक-दूसरे की मदद करने के बजाय एक दूसरे की मुसीबतों पर ख़ुशी मनाते थे।

स्पेन के अरबों का अपने वतन से सम्बन्ध तोड़ने का फैसला कुछ जल्दबाज़ी का था। वे एक दूर देश में एक विदेशी आबादी के बीच में थे और चारों ओर दुश्मनों से घिरे हुए थे। उनकी संख्या भी थोड़ी थी। मुसीबत व ख़तरे के मौक़े पर उनकी मदद करनेवाला कोई नहीं था। लेकिन उन दिनों उनमें आत्म-विश्वास भरा हुआ था और वे इन ख़तरों की बिलकुल परवा नहीं करते थे। सच तो यह है कि उत्तर के ईसाई राष्ट्रों के लगातार दबाव के बावजूद वे बड़ी ख़ूबी से डटे रहे और उन्होंने अकेले ही ५०० वर्षों तक स्पेन के ज़्यादातर हिस्से पर अपना प्रभुत्व क़ायम रखा। इसके बाद भी वे स्पेन के दक्षिण में एक छोटी-सी रियासत में २०० वर्षों तक अड़े रहे। इस तरह वे वास्तव में बग़दाद के बड़े साम्राज्य के ख़त्म हो जाने के बाद तक बने रहे, और जब उन्होंने स्पेन से आख़िरी बिदा ली, उसके बहुत पहले ही बग़दाद शहर मिट्टी में मिल चुका था।

स्पेन के हिस्सों पर अरबों के शासन के ये ७०० वर्ष काफ़ी अचम्भे में डालने-वाले हैं। लेकिन मूरों के नाम से मशहूर, स्पेन के इन अरबों की ऊँचे दर्जे की सभ्यता और संस्कृति इससे भी ज़्यादा दिलचस्पी की बात है। एक इतिहास-लेखक ने जोश की कुछ तरंग में आकर लिखा है—

> "मूर लोगों ने कॉरडोबा के उस अद्भुत साम्राज्य को संगठित किया था, जो मध्यकाल का एक चमत्कार था, और जब सारा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोप जंगली अज्ञान और लड़ाई-झगड़ों में डूबा हुआ था, तब अकेले इसी राज्य ने विद्या और सभ्यता की मशाल पश्चिमी दुनिया के सामने रोशन की और जलती हुई रक्खी।"

ठीक ५०० वर्षों तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा। इसीको अंग्रेज़ी में कॉरडोबा, और कभी-कभी कॉरडोवा कहते हैं। मुझे लगता है कि मैं कभी-कभी एक ही नाम के कई हिज्जे करता रहता हूँ। लेकिन अब मैं बराबर कॉरडोबा पर ही जमा रहूँगा। कॉरडोबा बहुत बड़ा शहर था, जिसमें दस लाख आदमी रहते थे। यह बाग़-बग़ीचोंवाला दस मील लम्बा शहर था, जिसके उपनगर चौबीस मीलों में फैले हुए थे। कहा जाता है कि इसमें ६०,००० महल और कोठियाँ थीं, २,००,००० छोटे मकान थे, ८०,००० दुकानें थीं, ३७,८०० मसजिदें थीं और ७०० सार्वजनिक हम्माम थे। इन आँकड़ों में कुछ बढ़ी-चढ़ी बातें हो सकती हैं, लेकिन इससे शहर का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। यहाँ कितने ही पुस्तकालय थे, जिनमें अमीर का शाही पुस्तकालय मुख्य था। इसमें ४,००,००० पुस्तकें थीं। कॉरडोबा का विश्वविद्यालय सारे यूरोप में और पश्चिमी एशिया तक में मशहूर था। ग़रीबों के लिए बहुत-सी प्राइमरी पाठशालाएँ थीं, जिनमें मुफ़्त शिक्षा दी जाती थी। एक इतिहास-लेखक कहता है—

"स्पेन में क़रीब-क़रीब सभी लोग पढ़ना-लिखना जानते थे; जब कि ईसाई यूरोप में पादरियों को छोड़कर और सब लोग, यहाँ तक कि ऊँचे-से-ऊँचे खानदानों के लोग भी बिलकुल बेपढ़े होते थे।"

ऐसा वह कुर्तुबा का शहर था, जो दूसरे बड़े अरबी शहर बग़दाद का मुक़ाबला करता था। उसकी शोहरत सारे यूरोप में फैली हुई थी और दसवीं सदी के एक जर्मन लेखक ने उसे 'संसार का भूषण' कहा है। उसके विश्वविद्यालय में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। अरबी दर्शन का प्रभाव पेरिस, ऑक्सफ़र्ड वग़ैरा यूरोप के दूसरे बड़े विश्वविद्यालयों और इटली के उत्तरी विश्वविद्यालयों तक में फैल गया। एवरोज़ या इब्नरश्द बारहवीं सदी में कुर्तुबा का एक मशहूर दार्शनिक हुआ है। अपनी ज़िन्दगी के आख़िरी दिनों में वह स्पेन के अमीर से लड़ बैठा और उसे देश से निकाल दिया गया। वह जाकर पेरिस में बस गया।

यूरोप के दूसरे हिस्सों की तरह स्पेन में भी एक तरह की सामन्त-प्रथा थी। वहाँ भी बड़े-बड़े और शक्तिशाली अमीर सरदार पैदा हो गये थे, जिनसे स्पेन के शासक अमीर की अकसर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। अरब-राज्य बाहरी हमलों से इतना कमज़ोर नहीं हुआ जितना इन घरेलू लड़ाई-झगड़ों से। इसी समय उत्तरी स्पेन में कुछ छोटी ईसाई रियासतों की ताक़त बढ़ रही थी और वे अरबों को बराबर पीछे हटाती जा रही थीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१००० ई० के क़रीब अमीर का साम्राज्य लगभग सारे स्पेन पर फैला हुआ था; यहाँतक कि इसमें दक्षिणी फ्रान्स का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल था। लेकिन इसका पतन जल्दी ही हुआ और, जैसा कि अक्सर होता है, इस पतन की जड़ में अन्दरूनी कमज़ोरी थी। कला, ऐश और बहादुरी के साथवाली अरबों की शानदार सभ्यता आख़िर बनवानों की ही सभ्यता थी। भूखी ग़रीब जनता ने विद्रोह कर दिया और मज़दूरों के दंगे हुए। धीरे-धीरे यह गृह-युद्ध फैलता गया, एक के बाद एक प्रान्त हाथ से निकलता गया और अन्त में अरबों का स्पेन-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। हालाँकि अरबों की ताक़त बिखर गई थी, फिर भी वे १२३६ ई० तक राज करते रहे और अन्त में कुर्तुबा कैस्ताइल के ईसाई बादशाह के क़ब्ज़े में आ गया।

अरब-लोग दक्षिण की ओर खदेड़ दिये गए, फिर भी वे बराबर मुक़ाबला करते रहे। स्पेन के दक्षिण में उन्होंने ग्रैनेडा नामक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया और वे वहीं डटे रहे। आकार के लिहाज़ से यह राज्य बहुत छोटा था, लेकिन यह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना बन गया। ग्रैनेडा का प्रसिद्ध अलहम्ब्र अपने सुन्दर महरावों, खम्भों और अरबेस्कों[1] के साथ अभी तक मौजूद है और उस पुराने ज़माने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा में 'अल-हम्र' था, जिसका अर्थ है—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक़्काशी को कहते हैं, जो इस्लाम से प्रभावित अरबी और दूसरी इमारतों में पाई जाती है। इस्लाम में मनुष्यों या जानवरों के चित्र बनाना मना है। इसलिए कारीगर लोग सजीली और पेचीदा रेखाकृतियाँ बनाने लगे। अक्सर महराबों वग़ैरा पर वे क़ुरान की अरबी आयतें नक़्श करते और उनमें सुन्दर सजावट करते थे। अरबी लिपि एक बहावदार लिपि है, जिसमें ऐसी सजावट आसानी से हो सकती है।

ग्रैनेडा का राज्य दो सौ वर्षों तक क़ायम रहा। इस ज़माने में स्पेन के ईसाई राज्य, खासकर कैस्ताइल, उसे दबाते और तंग करते रहे। कभी-कभी उसने कैस्ताइल को खिराज देना भी मंज़ूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यों में आपसी फूट न होती तो शायद ग्रैनेडा का राज्य इतने दिनों तक क़ायम न रहता। लेकिन १४६९ ई० में इनमें से दो मुख्य ईसाई राज्यों के शासकों में, यानी फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला में, विवाह हो गया। इससे कैस्ताइल, अरागोन और लियोन तीनों एक हो गये। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला ने ग्रैनेडा के अरब-साम्राज्य को खत्म कर दिया। अरब लोग कई वर्षों तक बहादुरी से लड़ते रहे, पर फिर वे ग्रैनेडा में

---

[1] अरबेस्क—स्पेन के अरबों अथवा 'मूरों' की अलंकृत चित्रकला या मूर्ति-कला। इसमें पौधों और लताओं का चित्रण अधिक होता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारों तरफ़ से घेर लिये गए और बन्द कर दिये गए। आखिरकार १४९२ ई० में भूख से तंग आकर उन्होंने हथियार डाल दिये।

बहुत-से सरासीन या अरब स्पेन छोड़कर अफ्रीका चले गए। ग्रैनैडा के नज़दीक, शहर के सामने ही, एक जगह है जो आज दिन भी 'मूरों की आखिरी आह'[1] के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत-से अरब स्पेन में ही रह गये। इन अरबों के साथ जो सलूक हुआ, वह स्पेन के इतिहास का एक काला अध्याय है। उनके साथ बेरहमी की गई और उनकी हत्याएँ की गईं और मज़हबी उदारता के जो वादे उनसे किये गए थे, उन्हें बिलकुल भुला दिया गया। इसी समय स्पेन में 'इनक्विज़िशन' की शुरूआत हुई। रोमन ईसाई-संघ ने यह भयंकर हथियार उन तमाम लोगों को कुचलने के लिए ईजाद किया था, जो उनके सामने सर नहीं झुकाते थे। यहूदी लोग, जो सरासीनों के राज्य में खुशहाल हो गये थे, अपना मज़हब बदलने के लिए मजबूर किये जाने लगे और बहुतों को ज़िन्दा जला दिया गया। स्त्रियों और बच्चों तक को नहीं छोड़ा गया। एक इतिहासकार लिखता है कि "विधर्मियों (यानी सरासीनों) को हुक्म दिया गया कि वे अपनी रंग-बिरंगी पोशाक छोड़ दें और अपने विजेताओं के हैट और बिरजिस पहना करें; अपनी भाषा, अपने रस्म-रिवाज़ और संस्कार, यहाँतक कि अपने नाम भी छोड़ दें और स्पेनी भाषा बोलें; स्पेनवालों की तरह ही बर्ताव करें और अपने-आपको स्पेनवासी कहने लगें।" इन जुल्मों के विरोध में विद्रोह और बलवे हुए, लेकिन वे बेरहमी से कुचल दिये गए।

ऐसा मालूम होता है कि स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के बहुत खिलाफ़ थे। शायद वे इसका विरोध सिर्फ़ इसलिए करते थे कि स्पेन के अरब लोग ग़ुसल के बहुत शौक़ीन थे, और उन्होंने सारे मुल्क में बड़े-बड़े सार्वजनिक हम्माम बना दिये थे। ईसाई लोग यहाँतक बढ़ गये, कि उन्होंने 'मूरों या अरबों के सुधार के लिए' हिदायतें निकालीं कि "उनके पुरुष, उनकी स्त्रियाँ और दूसरा कोई, घर में या और कहीं भी नहाने-धोने न पावें और उनके सब हम्माम गिरा दिये जायँ और नष्ट कर दिये जायँ।"

नहाने-धोने के पाप के अलावा एक दूसरा भी भारी जुर्म मूरों पर यह लगाया गया कि वे मज़हब के मामले में उदार होते हैं। यह एक बड़ी अजीब बात मालूम होती है; लेकिन १६०२ ई० में वेलेंशिया के बड़े पादरी ने सरासीनों को स्पेन से निकालने की सिफ़ारिश करते हुए 'मूरों के कुफ़्र और राजद्रोह' के बारे में जो बयान तैयार किया था, उसमें उनपर लगाये गए जुर्मों में यह मुख्य है। इसका ज़िक्र करते हुए वह लिखता है : "वे (मूर लोग) तमाम मज़हबी मामलों में ईमान की आज़ादी

[1] El ultimo sospiro del moro

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जितनी क़द्र करते हैं उतनी किसी दूसरी चीज़ की नहीं करते, और तुर्क वग़ैरा तमाम मुसलमान अपनी प्रजा को इस आज़ादी की पूरी छूट देते हैं।" इस तरह इन शब्दों में स्पेन के सरासीनों की अनजान में कितनी ज़्यादा तारीफ़ की गई है। और उसके मुक़ाबले में स्पेन के ईसाइयों का नज़रिया कितना उलटा और अनुदार था!

लाखों सरासीन ज़बर्दस्ती स्पेन से खदेड़ दिये गए। उनमें से ज़्यादातर अफ्रीका और कुछ फ्रान्स चले गए। लेकिन तुम्हें याद रखना चाहिए कि अरब लोग स्पेन में सात सौ वर्षों तक रह चुके थे, और इस लम्बे ज़माने में स्पेन की जनता में बहुत-कुछ घुल-मिल गये थे। मूल से तो वे अरब थे, लेकिन धीरे-धीरे स्पेनवासी बन गये थे। शायद पिछले ज़माने के स्पेनवासी अरब बग़दाद के अरबों से बिलकुल अलग थे। आज भी स्पेनी नस्ल की नसों में अरबों का काफ़ी खून है।

सरासीन लोग शासक की हैसियत से नहीं बल्कि बसनेवालों की तरह दक्षिणी फ्रान्स और स्वीज़रलैण्ड में भी फैल गये थे। आज भी 'मिदी' के फ्रान्सीसियों में कहीं-कहीं अरबी नमूने का चेहरा नज़र आ जाता है।

इस तरह स्पेन से अरबों का शासन ही नहीं बल्कि उनकी सभ्यता भी खत्म हो गई। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का अन्त इससे भी पहले हो चुका था। इस सभ्यता ने बहुत-से देशों और संस्कृतियों पर अपना असर डाला और अपनी कितनी ही शानदार यादगारें छोड़ गईं। लेकिन बाद में वह फिर अपने पैरों पर खड़ी न हो सकी।

सरासीनों के जाने के बाद फर्डीनिण्ड और आइज़ावेला के शासन में स्पेन की शक्ति बढ़ती गई। कुछ ही दिनों बाद, अमेरिका की खोज के कारण, इसके हाथ गहरा माल लगा और कुछ समय के लिए स्पेन यूरोप में सबसे ज़्यादा शक्तिशाली देश हो गया और इसका दबदबा दूसरे देशों पर छा गया। लेकिन इसका पतन भी तेज़ी के साथ हुआ और इसका महत्व नष्ट हो गया। और जब यूरोप के दूसरे देश उन्नति कर रहे थे, स्पेन अपनी जगह पर सड़ता रहा और मध्य युगों के ही सपने देखता रहा। उसने यह महसूस नहीं किया कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी। लेन पूल नामक अंग्रेज़ इतिहासकार ने स्पेन के सरासीनों के बारे में लिखा है—

> "सदियों तक स्पेन सभ्यता का केन्द्र और कला, विज्ञान, विद्या और हर तरह के सुसंस्कृत ज्ञान का घर रहा। तबतक यूरोप का कोई दूसरा देश मूरों के इस सुसंस्कृत राज्य की समानता नहीं कर पाया। फर्डीनिण्ड और आइज़ावेला की और चार्ल्स के साम्राज्य की थोड़े दिनों की चमक-दमक मूरों के स्थायी बड़प्पन को नहीं पा सकी। मूरों को निकाल बाहर किया गया; कुछ दिनों तक ईसाई स्पेन, चन्द्रमा की तरह उधार ली हुई रोशनी से चमकता रहा। इसके बाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे ग्रहण लगा और उस अँधेरे में स्पेन आज तक ज़मीन पर पड़ा रेंग रहा है। मूरों की सच्ची यादगार हमें स्पेन के बिलकुल वीरान उजाड़-खण्डों में दिखाई देती है, जहां किसी ज़माने में अरब लोग अंगूर, जैतून और अनाज की लहलहाती फ़सलें पैदा करते थे। वह उस मूर्ख व अज्ञान आबादी में मिलती है जहाँ कभी तेज़ बुद्धि और विद्याध्ययन का राज था; और यह यादगार उस जनता की आम जड़ता और गिरावट में मिलती है जो दूसरी क़ौमों के मुक़ाबले में बहुत ही नीचे गिरी हुई है और इस ज़लालत के क़ाबिल भी है।"

यह एक सख़्त फ़ैसला है। साल-भर हुआ, स्पेन में एक क्रान्ति हुई और वहाँ का बादशाह गद्दी से उतार दिया गया। अब यहाँ गणराज्य है। शायद यह किशोर गणराज्य तरक्क़ी करे और स्पेन को फिर से दूसरे देशों की बराबरी में ले आवे।[1]

: ६२ :

'क्रूसेड' या सलीब के युद्ध

१९ जून, १९३२

पिछले एक पत्र में मैंने पोप और उसकी परिषद् का, मुसलमानों से यरूशलम छीनने के लिए धर्म-युद्ध की घोषणा का ज़िक्र किया था। सेलजूक तुर्कों की बढ़ती हुई ताक़त से यूरोप भयभीत हो गया था—खासकर क़ुस्तुन्तुनिया की सरकार, जिसपर सीधा ख़तरा था। यरूशलम और फ़िलस्तीन के ईसाई तीर्थ-यात्रियों पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियों ने यूरोप के लोगों में उत्तेजना फैला दी थी और वे ग़ुस्से से भर गये थे। इसलिए 'धर्मयुद्ध' का ऐलान कर दिया था। पोप और ईसाई-संघ ने यूरोप के सारे ईसाइयों को आदेश दिया कि वे 'पवित्र' नगर के उद्धार के लिए सेनाएँ सजायें।

इस तरह १०९५ ई० से ये 'क्रूसेड' या सलीब के युद्ध शुरू हुए और डेढ़ सौ वर्षों से ज्यादा समय तक ईसाइयत और इस्लाम में, सलीब और हिलाल में, लड़ाई चलती रही। बीच-बीच में लम्बे वक़्त तक लड़ाई रुकी भी रहती थी, लेकिन युद्ध की हालत बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियों के दल-के-दल लड़ने के लिए, और ज्यादातर उस 'पवित्र' देश में मरने के लिए, जाते रहे। इस लम्बी युद्धबाज़ी से ईसाई जिहादियों को कोई ठोस नतीजा नहीं मिला। कुछ समय के लिए यरूशलम ईसाई जिहादियों के हाथ में आ गया, लेकिन बाद में फिर वह तुर्कों के हाथ में चला

[1] १९३९ ई० में गृहयुद्ध के बाद गणराज्य ख़त्म हो गया और आजकल, वहाँ तानाशाही है!

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया और उन्हींके क़ब्ज़े में बना रहा। क्रूसेडों का खास नतीजा यह हुआ कि लाखों ईसाइयों और मुसलमानों को मुसीबतें झेलनी पड़ीं, मौत के घाट उतरना पड़ा और एशिया कोचक और फ़िलस्तीन की ज़मीन इन्सान के खून से तर हुई।

इन दिनों बग़दाद के साम्राज्य की क्या हालत थी? अभी तक अब्बासी खलीफ़ा ही उसके शासक बने हुए थे। अभी तक वे खलीफ़ा, अमीरुल मोमनीन तो ज़रूर थे, लेकिन सिर्फ़ नाम के ही अमीर थे; उनके हाथ में कोई ताक़त न थी। हम देख चुके हैं कि उनका साम्राज्य किस तरह टुकड़े-टुकड़े हुआ और सूबों के हाकिम कैसे स्वाधीन हो गये। महमूद ग़ज़नवी, जिसने कई बार भारत पर चढ़ाई की थी, एक शक्तिशाली बादशाह था और उसने खलीफ़ा को धमकी दी थी कि अगर वह उसकी मर्ज़ी के मुताबिक़ काम न करेगा, तो अच्छा न होगा। खास बग़दाद में भी असली मालिक तुर्क ही थे। इनके बाद तुर्कों की सेलजूक़ नाम की दूसरी शाखा आई। उन्होंने जल्दी ही अपनी सत्ता क़ायम कर ली और वे जीत-पर-जीत हासिल करते हुए क़ुस्तुन्तुनिया के दरवाज़े पर जा पहुँचे। लेकिन खलीफ़ा फिर भी बना रहा, हालांकि उसके हाथ में कोई राजनैतिक शक्ति नहीं थी। उसने सेलजूक़ सरदारों को सुलतान की उपाधि दी और ये सुलतान राज करने लगे। इसलिए ईसाई जिहादियों को इन्हीं सेलजूक़ सुलतानों और उनके अनुयायियों से लड़ना पड़ा था।

यूरोप में क्रूसेडों ने ईसाई-जगत की भावना को, यानी इस भावना को बढ़ाया कि सब ग़ैर-ईसाइयों के मुक़ाबले में ईसाइयों की अपनी अलग दुनिया है। यूरोप भर में इसी समान भावना और उद्देश्य का दौर था कि 'काफ़िरों' के हाथों में से 'पवित्र देश' का उद्धार होना चाहिए। इस समान उद्देश्य ने लोगों में जोश भर दिया था और इस महान् हित की खातिर कितने ही आदमी अपना घर-बार और धन-दौलत छोड़कर चल दिये। बहुत-से लोग ऊँचे इरादों से गये थे लेकिन बहुत-से पोप के इस वादे से आकर्षित हुए थे कि वहाँ जाने से उनके गुनाह माफ़ कर दिये जायंगे। क्रूसेडों के और भी कई कारण थे। रोम हमेशा के लिए क़ुस्तुन्तुनिया के ऊपर हुकूमत करनेवाला बन जाना चाहता था। तुम्हें याद होगा कि क़ुस्तुन्तुनिया और रोम के ईसाई-संघ अलग-अलग थे। क़ुस्तुन्तुनिया वाले अपने को कट्टर ईसाई-संघ[1] कहते थे। वे रोमन ईसाई-संघ से सख़्त नफ़रत करते थे और पोप को कल का छोकरा समझते थे। पोप क़ुस्तुन्तुनिया का यह घमण्ड चूर करके उसे अपने संघ में लाना चाहता था। काफ़िर तुर्कों के खिलाफ़ धर्म-युद्ध की आड़ में वह अपनी यह पुरानी लालसा पूरी करना चाहता था। राजनीतिकों का और अपने को राजनीतिज्ञ समझनेवालों का यही ढंग होता है! रोम और क़ुस्तुन्तुनिया

[1] Orthodox Church.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यह संघर्ष याद रखने लायक़ है, क्योंकि क्रूसेडों के समय में वह बराबर सामने आता रहा।

क्रूसेडों का दूसरा कारण व्यापार से ताल्लुक़ रखता था। व्यापारी लोग, खासकर वेनिस और जिनेवा के बढ़ते हुए बन्दरगाहों के व्यापारी, इन युद्धों को चाहते थे, क्योंकि इनका व्यापार घटता जा रहा था। वजह यह थी कि सेलजूक़ तुर्कों ने पूर्व के कई तिजारती रास्तों को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता तो इन कारणों को बिलकुल नहीं जानती थी। किसीने उसे ये बातें नहीं बताई थीं। राजनीतिक लोग आमतौर पर अपने असली कारणों को छिपा रखते हैं और धर्म, न्याय, सत्य, वग़ैरा की लम्बी-चौड़ी दुहाई दिया करते हैं। क्रूसेडों के समय में यही बात थी और आज भी यही है। उस समय लोग उनकी बातों में आ जाते थे और आज भी ज़्यादातर लोग राजनीतिकों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ जाते हैं।

इस तरह क्रूसेडों में शामिल होने के लिए बहुत आदमी जमा हो गये। उनमें बहुत-से तो नेक और लगनवाले थे, लेकिन बहुत-से ऐसे भी थे, जो भलमनसाहत से दूर थे और लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हें इस तरफ़ खींचा था। इस अजीब ज़मघट में पुण्यात्मा और धर्मात्मा लोग भी थे और आबादी का वह कूड़ा-करकट भी था, जो हर तरह के जुर्म कर सकता था। नेक काम समझकर उसमें मदद पहुंचाने के लिए घर छोड़कर जानेवाले इन जिहादियों ने, या उनमें से ज़्यादातर ने, दर असल नीच-से-नीच और महाघृणित अपराध किये। बहुत-से तो रास्ते में लूट-मार और दूसरे बुरे कामों में ऐसे मशग़ूल हो गये कि फ़िलस्तीन के पास तक नहीं पहुंचे। कुछने रास्ते में यहूदियों को क़त्ल करना शुरू कर दिया; कुछने अपने ईसाई भाइयों को ही क़त्ल कर डाला। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि जिन ईसाई देशों से होकर ये लोग गुज़रे वहाँ के किसानों ने इनकी बदमाशियों से तंग आकर इनका मुक़ाबला किया और इनपर हमला करके बहुतों को मार डाला और बाक़ी को भगा दिया।

आखिर में बुइलों के गादफ़्रे नामक एक नार्मन के नेतृत्व में ये जिहादी फ़िलस्तीन पहुँच गये। इन्होंने यरूशलम जीत लिया और फिर वहाँ 'एक हफ़्ते तक मार-काट मची'। हज़ारों लोग क़त्ल कर दिये गए। इस घटना को अपनी आँखों से देखनेवाले एक फ्रान्सीसी ने लिखा है: "मसजिद की बरसाती के नीचे घुटने तक खून था, और घोड़ों की लगाम तक पहुंच जाता था।" गॉदफ़्रे यरूशलम का बादशाह बन गया।

सत्तर वर्ष बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने यरूशलम को ईसाइयों से फिर छीन लिया। इससे यूरोप के लोग फिर भड़क उठे और एक के बाद एक क्रूसेड हुए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बार यूरोप के कई बादशाह और सम्राट् ख़ुद जिहाद में शामिल हुए, लेकिन उन्हें कोई सफलता न मिली। वे इस बात पर आपस में ही झगड़ते थे कि बड़ा कौन है, और एक-दूसरे से ईर्ष्या रखते थे। ये क्रूसेड वीभत्स और क्रूर लड़ाइयों की, और अक्सर तुच्छ साज़िशों और नीच अपराधों की कहानी हैं। लेकिन कभी-कभी मनुष्य-स्वभाव के नेक पक्ष ने इस वीभत्सता पर विजय पाई, और ऐसी घटनाएँ भी हुईं जब दुश्मनों ने एक दूसरे के साथ भलमनसाहत का और वीर-धर्म का बर्ताव किया। फ़िलस्तीन में बाहर से आये हुए इन राजाओं में इंग्लैण्ड का 'शेर-दिल' रिचर्ड भी था जो अपने शारीरिक बल और साहस के लिए मशहूर था। सलादीन भी बड़ा लड़ाका था और अपने वीर-धर्म के लिए मशहूर था। सलादीन से लड़नेवाले जिहादी भी उसकी इस उदारता के क़ायल थे। कहते हैं कि एक बार रिचर्ड बहुत बीमार पड़ गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी ख़बर हुई तो उसने उसके पास पहाड़ों से ताज़ा बर्फ़ भिजवाने का इन्तज़ाम कर दिया। आज-कल की तरह उन दिनों पानी को जमाकर नकली बर्फ़ नहीं बनाई जा सकती थी। इसलिए पहाड़ों से क़ुदरती बर्फ़ तेज़ हरकारों के ज़रिये मँगवाई जाती थी।

क्रूसेडों के समय की बहुत-सी कहानियाँ हैं। शायद तुमने वाल्टर स्कॉट[1] का 'टैलिस्मैन' उपन्यास पढ़ा होगा।

जिहादियों का एक जत्था क़ुस्तुन्तुनिया भी जा पहुंचा और उसने उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। इसने पूर्वी साम्राज्य के यूनानी सम्राट् को मार भगाया और वहाँ लातीनी राज्य और रोमन ईसाई-संघ क़ायम किया। क़ुस्तुन्तुनिया में भी भयंकर मारकाट हुई और जिहादियों ने शहर का एक हिस्सा जला भी दिया। लेकिन यह लातीनी राज्य ज़्यादा दिनों तक क़ायम नहीं रह सका। पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी कमज़ोर होते हुए भी वापस लौटे और पचास साल से कुछ ही ज़्यादा समय के अन्दर उन्होंने लातीनियों को मार भगाया। क़ुस्तुन्तुनिया का पूर्वी साम्राज्य दो सौ वर्षों तक और बना रहा। अन्त में १४५३ ई० में तुर्कों ने उसे हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया।

क़ुस्तुन्तुनिया पर जिहादियों का यह क़ब्ज़ा रोमन ईसाई-संघ और पोप की इस इच्छा को ज़ाहिर करता है कि वे अपना प्रभाव वहाँतक बढ़ाना चाहते थे। हालाँकि घबराहट के मौक़े पर इस शहर के यूनानियों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ रोम से सहायता माँगी थी, फिर भी उन्होंने जिहादियों की कुछ भी मदद नहीं की। बल्कि वे उनसे सख्त नफ़रत करते थे।

---

[1] स्कॉट अंग्रेज़ी भाषा का बहुत मशहूर उपन्यास-लेखक और कवि हो गया है। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। १७७१ ई० में इसका जन्म हुआ था और १८३२ ई० में मृत्यु हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन इन क्रूसेडों में सबसे भयंकर वह था जो 'बच्चों का क्रूसेड' कहलाता है। बहुत बड़ी संख्या में बच्चों ने, ज़्यादातर फ्रान्स के और कुछ जर्मनी के बच्चों ने, जोश में आकर अपने घरों को छोड़ दिया और फ़िलस्तीन जाने का इरादा कर लिया। उनमें से कितने ही तो रास्ते में मर गये और कितने ही खो गये। ज़्यादातर बच्चे मार्सल्स जा पहुँचे, जहाँ उन बेचारों के साथ धोखा किया गया और बदमाशों ने उनके जोश से बेजा फ़ायदा उठाया। 'पवित्र' देश तक पहुँचा देने का बहाना बनाकर ग़ुलामों के व्यापारी इन्हें अपने जहाज़ों में बिठाकर मिस्र ले गये और वहाँ इन्हें ग़ुलामी के लिए बेच दिया।

फ़िलस्तीन से लौटते समय इंग्लैण्ड के बादशाह रिचर्ड को पूर्वी यूरोप में उसके दुश्मनों ने पकड़ लिया और उसे छुड़ाने के लिए बहुत बड़ी रक़म देनी पड़ी। फ्रान्स का राजा फ़िलस्तीन में ही गिरफ़्तार कर लिया गया था और उसे भी रुपया देकर छुड़ाया गया था। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट्, फ्रेडरिक बारबरोसा फ़िलस्तीन की एक नदी में डूब गया। इधर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, क्रूसेडों का जादू कम होता गया। लोग इन युद्धों से उकता गये थे। यरूशलम मुसलमानों के ही हाथों में बना रहा, लेकिन यूरोप के राजाओं में और लोगों में अब यरूशलम को छीनने के लिए ज़्यादा जान व माल बर्बाद करने का उत्साह नहीं रहा। तब से लगभग ७०० वर्षों तक यरूशलम मुसलमानों के ही अधीन रहा। थोड़े ही दिन पहले, पिछले यूरोपीय महायुद्ध के समय, १९१८ ई० में, एक अंग्रेज़ सेनापति ने इसे तुर्कों से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडों में एक क्रूसेड बड़ा ही दिलचस्प और ग़ैरमामूली था। सच तो यह है कि पुराने अर्थ में यह क्रूसेड था ही नहीं। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय फ़िलस्तीन गया और वहाँ लड़ने के बजाय उसने मिस्र के सुलतान से भेंट की और दोनों में एक दोस्ताना समझौता हो गया! फ्रेडरिक असाधारण व्यक्ति था। उस ज़माने में, जब ज़्यादातर राजा बे-पढ़े-लिखे होते थे, यह अरबी के अलावा कई भाषाएं जानता था। वह 'जगत् का आश्चर्य' के नाम से मशहूर था। पोप की वह बिलकुल परवा नहीं करता था और इसलिए पोप ने उसे बहिष्कृत कर दिया, लेकिन उसपर इसका कोई असर न हुआ।

मतलब यह कि क्रूसेडों का कोई नतीजा नहीं निकला। पर इस लगातार लड़ाई ने सेलजूक़ तुर्कों को कमज़ोर कर दिया। लेकिन इससे भी ज़्यादा यह हुआ कि सामन्त-प्रथा ने सेलजूक़ साम्राज्य की जड़ें खोखली कर दीं। बड़े-बड़े सामन्त सरदार अपनेको एक तरह से स्वाधीन मानने लगे। वे आपस में लड़ते रहते थे। कभी-कभी नौबत यहाँतक पहुँचती थी कि वे एक-दूसरे के ख़िलाफ़ ईसाइयों की सहायता माँगा करते थे। कभी-कभी तुर्कों की यह अन्दरूनी कमज़ोरी उन्हें जिहा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दियों के हाथ का खिलौना बना देती थी। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई दबंग सुलतान होता था तब इनकी नहीं चलती थी।

क्रूसेडों के बारे में दूसरा मत भी है। यह नया मत जी० एम० ट्रेवेलियन नामक एक अंग्रेज़ इतिहासकार ने (जिसे तुम गैरीबाल्दीवाली पुस्तकों के लेखक के रूप में जानती हो) पेश किया है। यह मत बड़ दिलचस्प है। ट्रेवेलियन कहता है : "क्रूसेड यूरोप की उस दुबारा ज़िन्दा होनेवाली क्रियाशक्ति के सैनिक और धार्मिक पहलू थे, जो यूरोप के आम लोगों को पूर्व की ओर जाने को उकसा रही थी। क्रूसेडों से यूरोप को जीत का यह इनाम नहीं मिला कि 'पवित्र समाधि' का हमेशा के लिए उद्धार हो गया हो या ईसाई-जगत् में प्रभावशाली एकता हो गई हो। क्रूसेडों की कहानी तो इन बातों का एक लम्बा प्रतिवाद है। इनके बजाय यूरोप में क्रूसेड ललित कलाएँ, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान व बौद्धिक जिज्ञासा लेकर आया, यानी वे तमाम चीज़ें लाया, जिनसे साधु पीटर को सख्त नफ़रत होती।"

सलादीन ११९३ ई० में मर गया, और पुराने अरब-साम्राज्य का जो कुछ भाग बच रहा था वह भी धीरे-धीरे टूक-टूक हो गया। पश्चिमी एशिया के कई हिस्सों में, जो छोटे-छोटे सामन्त-सरदारों के क़ब्ज़े में थे, उपद्रव होने लगे। आखिरी क्रूसेड १२४९ ई० हुआ। इसका नेता फ़ान्स का राजा लुई नवम था। वह हार गया और क़ैद कर लिया गया।

इसी बीच पूर्वी और मध्य एशिया में बड़ी-बड़ी घटनाएँ घट रही थीं। चंगेज़ खां नामक ज़बर्दस्त सरदार के नेतृत्व में मंगोल आगे बढ़ रहे थे और पूर्वी क्षितिज पर काली घटा की तरह छा रहे थे। क्रूसेडों में लड़नेवाले दोनों पक्ष, यानी ईसाई और मुसलमान दोनों ही इस मँडराते हुए हमले को एक समान डर से देख रहे थे। चंगेज़ और मंगोलों का ज़िक्र हम आगे के किसी पत्र में करेंगे।

इस पत्र को खत्म करने से पहले मैं एक बात का ज़िक्र कर देना चाहता हूँ। मध्य एशिया के बुख़ारा नामक शहर में एक बहुत बड़ा अरब हकीम रहता था जो एशिया और यूरोप दोनों में मशहूर था। उसका नाम इब्न सीना था, लेकिन यूरोप में वह 'एवीसेना' के नाम से ज्यादा मशहूर है। वह 'हकीमों का शाह' कहा जाता था। क्रूसेडों के शुरू होने के पहले, १०३७ ई० में, उसकी मृत्यु हो गई।

मैंने इब्न सीना के नाम का ज़िक्र उसकी कीर्त्ति की वजह से किया है। लेकिन याद रखो कि इस सारे ज़माने में, यहाँतक कि जब अरब-साम्राज्य का पतन हो रहा था तब भी, अरबी सभ्यता पश्चिमी एशिया में और मध्य एशिया के एक हिस्से में जारी रही। ईसाई जिहादियों से लड़ाई में मशगूल रहने पर भी सलादीन ने बहुत-से कॉलेज और अस्पताल बनवाये। लेकिन इस सभ्यता के अचानक और पूरी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह खत्म होने का दिन नज़दीक आ चुका था, क्योंकि पूर्व की तरफ़ से मंगोल बढ़े चले आ रहे थे।

: ६३ :

क्रूसेडों के समय का यूरोप

२० जून, १९३२

पिछले पत्र में हम लोगों ने ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं सदियों में ईसाइयत और इस्लाम की टक्कर का कुछ ज़िक्र किया था। ईसाई-जगत् की भावना यूरोप में ज़ोर पकड़ रही थी। इस समय तक ईसाइयत सारे यूरोप में फैल चुकी थी। पूर्वी यूरोप की रूसी वग़ैरा स्लाव जातियाँ सबसे पीछे इसमें शामिल हुईं। एक रोचक कहानी है—मैं कह नहीं सकता कि वह कहाँतक सच है—कि पुराने रूसी लोगों ने, ईसाई होने से पहले, अपना पुराना मज़हब बदलने और एक नया मज़हब अपनाने के सवाल पर बहस की थी। जिन दो नये मज़हबों के बारे में उन्होंने सुन रक्खा था, वे ईसाइयत और इस्लाम थे। इसलिए, ठीक आजकल के ढंग के अनुसार, रूसियों ने ऐसे देशों में, जहाँ इन मज़हबों के माननेवाले लोग थे, एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजा ताकि वह उनकी जाँच करके अपनी रिपोर्ट पेश करे। कहते हैं कि यह प्रतिनिधि-मण्डल पहले पश्चिमी एशिया की कुछ जगहों में गया, जहाँ इस्लाम का प्रचार था और बाद में क़ुस्तुन्तुनिया पहुँचा। क़ुस्तुन्तुनिया में उन्होंने जो कुछ देखा उससे वे चकित हो गये। कट्टर ईसाई-संघ की पूजा-विधि में बड़ी शान-शौक़त और तड़क-भड़क थी, जिसके साथ संगीत और मधुर गायन भी थे। पादरी लोग बढ़िया पोशाकें पहनकर आते थे और धूप जला करती थी। उत्तर के सीधे-सादे और अर्ध-सभ्य लोगों पर इस पूजा-विधि का ज़बर्दस्त असर पड़ा। इस्लाम में ऐसी तड़क-भड़क की कोई बात नहीं थी। इसलिए उन्होंने ईसाइयत के पक्ष में फ़ैसला किया और लौटकर वैसी ही रिपोर्ट अपने बादशाह के सामने पेश की। इसपर रूस के बादशाह और उसकी प्रजा ईसाई हो गये, और चूँकि उन्होंने यह ईसाइयत क़ुस्तुन्तुनिया से ली थी, इसलिए वे रोम के नहीं बल्कि 'कट्टर यूनानी ईसाई-संघ' के अनुयायी हुए। बाद में भी, रूस ने रोम के पोप को कभी नहीं माना।

रूस का यह धर्म-परिवर्तन क्रूसेडों के बहुत पहले हो चुका था। कहा जाता है कि एक समय बलग़ारी भी मुसलमान बनने के लिए कुछ-कुछ तैयार हो गये थे, लेकिन फिर क़ुस्तुन्तुनिया का आकर्षण ज्यादा ज़ोरदार साबित हुआ। उनके राजा ने एक बिज़ैन्तीन राजकुमारी से शादी कर ली थी और वह ईसाई हो गया था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

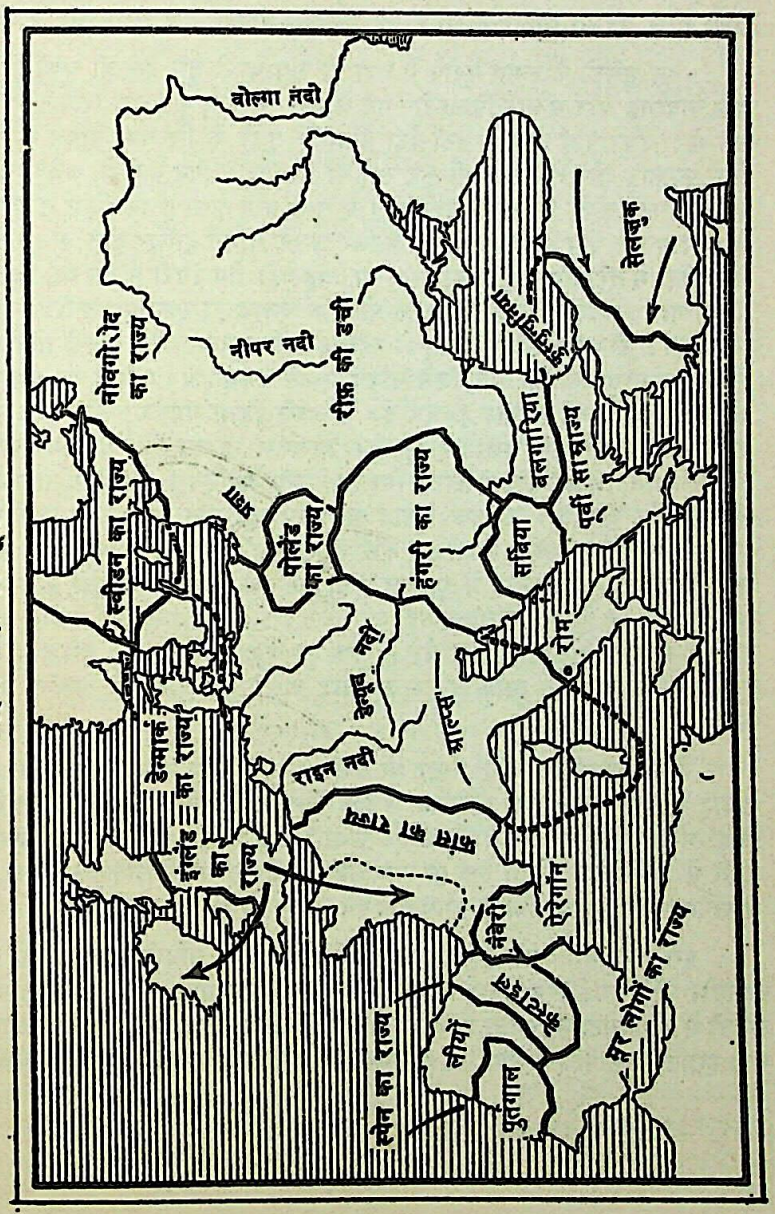

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(तुम्हें याद होगा कि बिज़ैन्तियम क़ुस्तुन्तुनिया का ही पुराना नाम था)। इसी तरह दूसरे पड़ौसी मुल्कों ने भी ईसाई-मज़हब स्वीकार कर लिया था।

इन क्रूसेडों के समय यूरोप में क्या हो रहा था? तुम देख ही चुकी हो कि कुछ बादशाह और सम्राट् फ़िलस्तीन गये थे और उनमें से कई वहाँ आफ़त में फँस गये थे। उधर पोप रोम में बैठा-बैठा 'विधर्मी' तुर्कों के खिलाफ़ 'पवित्र युद्ध' के लिए फ़रमान और अपीलें जारी कर रहा था। शायद ये दिन वही थे, जब पोप की शक्ति अपनी चोटी पर पहुँच चुकी थी। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि किस तरह एक घमण्डी सम्राट् पोप से माफ़ी माँगने के लिए उसके सामने हाज़िर होने के इन्तज़ार में कनौज़ा में नंगे पाँव बर्फ़ में खड़ा रहा था। यह वही पोप ग्रेगरी सप्तम था, जिसका पहला नाम हिल्देब्रांद था और जिसने पोपों के चुनाव का एक नया तरीक़ा जारी किया था। रोमन कैथलिक जगत् में कार्डिनल लोग सबसे ऊँचे पादरी होते थे। इनका एक मण्डल बनाया गया, जिसे 'पवित्र मण्डल'[1] कहते थे। यही मण्डल नये पोप को चुनता था। यह तरीक़ा १०५९ ई० में जारी किया गया था और कुछ फेर-बदल के साथ आजतक चला आ रहा है। आजकल भी जब कोई पोप मर जाता है, तब कार्डिनलों का मण्डल फ़ौरन मिलता है और कार्डिनल लोग एक तालाबन्द कमरे में बैठ जाते हैं। जबतक चुनाव खत्म नहीं हो जाता तबतक न कोई उस कमरे के भीतर जा सकता है और न कोई उससे बाहर ही निकल सकता है। बहुत बार ऐसा हुआ है कि चुनाव में एकमत न हो सकने की वजह से घण्टों उसी बन्द कमरे में बैठे रहे हैं। पर वे बाहर नहीं आ सकते। इसलिए अन्त में वे एकमत होने के लिए मजबूर हो जाते हैं, और जैसे ही पोप का चुनाव हो जाता है, वैसे ही सफ़ेद धुआँ उड़ाया जाता है ताकि बाहर इन्तज़ार करती हुई भीड़ को सूचना मिल जाय।

जिस तरह पोप चुना जाता था उसी तरह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट् भी चुना जाने लगा। लेकिन उसका चुनाव बड़े सामन्त-सरदार करते थे। इनकी संख्या सात थी और वे 'निर्वाचक राजा'[2] कहलाते थे। इस तरह वे कोशिश करते थे कि सम्राट् हमेशा एक ही खानदान से नहीं आ सके। लेकिन व्यवहार में अक़्सर एक ही खानदान लम्बे समय तक इन चुनावों में जीतता रहता था।

इस तरह हम देखते हैं कि बारहवीं और तेरहवीं सदियों में साम्राज्य की बागडोर होहेन्स्तॉफ़ेन राजवंश के हाथ में थी। मेरा खयाल है कि होहेन्स्तॉफ़ेन जर्मनी में कोई छोटा-सा क़स्बा या गाँव है। शुरू में यह खानदान इसी गाँव में से आया था। इसलिए इस गाँव के नाम पर ही उसका नाम पड़ गया। होहेन्स्तॉफ़ेन राजवंश

---

[1] Holly College. [2] Elector Princes.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का फ़्रेडरिक प्रथम ११५२ ई० में सम्राट् हुआ। यह आमतौर से फ़्रेडरिक बार्बरोसा कहलाता है। यह वही फ़्रेडरिक बार्बरोसा था, जो क्रूसेडों में जाते समय रास्ते में डूब गया था। कहा जाता है कि रोमन साम्राज्य के इतिहास में फ़्रेडरिक बार्बरोसा की हुकूमत सबसे ज्यादा शानदार थी। जर्मन लोगों के लिए तो वह बहुत समय से एक आदर्श वीर और बहुत कुछ ख़याली व्यक्ति बन गया है और उसके बारे में कितनी ही पुरानी कहानियाँ जमा हो गई हैं। कहते हैं कि वह किसी पहाड़ की गहरी गुफ़ा में सो रहा है और वक़्त आने पर जागकर अपने देशवासियों को बचाने के लिए बाहर निकलेगा।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा बहुत ज़ोरों के साथ पोप के ख़िलाफ़ लड़ता रहा, लेकिन अन्त में पोप की ही विजय हुई और फ़्रेडरिक को उसके सामने सिर झुकाना पड़ा। वह एक निरंकुश राजा था पर उसके बड़े सामन्त-सरदार उसे बहुत तंग करते रहते थे। इटली में बड़े-बड़े नगर बढ़ रहे थे; फ़्रेडरिक ने उनकी आज़ादी को कुचलने की कोशिश की लेकिन वह सफल नहीं हुआ। जर्मनी में भी, ख़ासकर नदियों के किनारे, कोलोन, हैम्बुर्ग, फ़्रैंकफुर्त वग़ैरा बड़े-बड़े नगर बस रहे थे। लेकिन इनके बारे में फ़्रेडरिक की नीति दूसरी थी। अमीरों और सामन्तों की ताक़त कम करने की ग़रज़ से उसने इन आज़ाद जर्मन शहरों की हिमायत की।

मैंने तुम्हें कई मौक़ों पर बताया है कि राजा की गद्दी के बारे में पुरानी भारतीय भावना क्या थी? आर्यों के पुराने ज़माने से अशोक के समय तक, और 'अर्थशास्त्र' से लगाकर शुक्राचार्य के 'नीति-सार' तक, यह बात बार-बार कही गई है कि राजा को लोकमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। असली मालिक जनता ही होती है। भारतीय सिद्धान्त यही था, हालांकि अमल में दूसरे देशों के राजाओं की तरह, भारत के राजा भी काफ़ी निरंकुश होते थे। इस पुरानी भारतीय भावना का मुक़ाबला पुराने यूरोप की भावना से करो। उन दिनों के वकीलों की राय में सम्राट् की सत्ता सर्वोपरि थी; उसकी मर्ज़ी ही क़ानून थी। उनका कहना था कि "सम्राट् पृथ्वी पर जीता-जागता क़ानून है।" फ़्रेडरिक बार्बरोसा ख़ुद कहता था—"जनता का यह काम नहीं है कि वह राजा को क़ानून बतावे; उसका काम तो राजा का हुक्म मानना है।"

इसका मिलान चीनी भावना से भी करो। वहाँ सम्राट् या राजा 'स्वर्ग का पुत्र' जैसी लम्बी-चौड़ी उपाधियों से पुकारा जाता था। लेकिन इससे हमें धोखे में नहीं पड़ना चाहिए। सिद्धान्त में चीन के सम्राट् की हैसियत यूरोप के सर्वसत्ताधीश सम्राट् की हैसियत से बहुत जुदा थी। एक पुराने चीनी लेखक मेंग्-त्सी ने लिखा है—"जनता देश का सबसे महत्वपूर्ण अंग है; उसके बाद ज़मीन और फ़सल के उपयोगी देवताओं का दर्जा है, और सबसे कम महत्व शासक का है।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतलब यह कि यूरोप में सम्राट् धरती पर सर्वोपरि माना जाता था और इसीसे राजाओं के दैवी अधिकार की भावना पैदा हुई। मगर असल में तो उसका सर्वोपरि होना बहुत दूर की बात थी। उसके सामन्ती सरदार बहुत मुँहज़ोर थे और धीरे-धीरे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, शहरों में नये-नये वर्ग पैदा हो गये थे, और इन्होंने भी कुछ सत्ता हथिया ली थी। दूसरी ओर पोप भी धरती पर सर्वोपरि होने का दावा करता था। और फिर जहाँ दो सर्वोपरि मिलें, वहाँ झगड़ा होना लाज़िमी है।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा के पोते का नाम भी फ़्रेडरिक था। वह थोड़ी ही उम्र में सम्राट् बन गया और उसका नाम फ़्रेडरिक द्वितीय पड़ा। यह वही आदमी था जिसे 'संसार का आश्चर्य'[1] कहा गया है, और जिसने फ़िलस्तीन जाकर मिस्र के सुलतान के साथ दोस्ताना बातचीत की। अपने दादा की तरह इसने भी पोप का खुला विरोध किया और उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। पोप ने उसे ईसाइयत से छेककर बदला चुकाया। यह पोपों का एक पुराना और ज़बर्दस्त हथियार था लेकिन अब इसमें कुछ ज़ंग लग रहा था। फ़्रेडरिक द्वितीय ने पोप के ग़ुस्से की ज़रा भी परवाह नहीं की, और अब दुनिया भी बदल रही थी। फ़्रेडरिक ने यूरोप के सब राजाओं और शासकों के पास लम्बे-लम्बे पत्र भेजे, जिनमें उसने बताया कि पोप को राजाओं के मामले में दख़ल देने की ज़रूरत नहीं है; पोपों का काम तो धार्मिक और आध्यात्मिक मामलों की देखरेख करना है, राजनीति में टाँग अड़ाना नहीं। उसने पादरियों में फैले हुए भ्रष्टाचार का भी बयान किया। इस तरह के वाद-विवाद में फ़्रेडरिक ने पोपों को बुरी तरह पछाड़ दिया। उसके ये पत्र बड़े दिलचस्प हैं, क्योंकि वे पोप और सम्राट् के पुराने झगड़े में आजकल की भावना का प्रवेश होने की पहली निशानी हैं।

फ़्रेडरिक द्वितीय मज़हबी मामलों में बड़ा उदार था और अरबी और यहूदी दार्शनिक उसके दरबार में आया करते थे। कहा जाता है कि फ़्रेडरिक के ही ज़रिये अरबी अंक और बीजगणित यूरोप में पहुँचे थे (तुम्हें याद होगा कि ये शुरू में भारत से अरब[2] गये थे)। फ़्रेडरिक ने ही नेपल्स का विश्वविद्यालय और सालर्नो के प्राचीन विश्वविद्यालय में एक बड़ा मेडिकल स्कूल, क़ायम किये थे।

फ़्रेडरिक द्वितीय ने १२१२ से १२५० ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य पर से होहेन्स्तॉफ़ेन वंश का क़ब्ज़ा जाता रहा। सच तो यह है कि उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य का ही क़रीब-क़रीब ख़ात्मा हो गया। इटली अलग हो गया, जर्मनी के टुकड़े-टुकड़े हो गये और बहुत वर्षों तक भयानक गड़बड़

[1] Stupor Mundi.

[2] अरबी में अंकों को 'हिन्दसा' कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मची रही। लुटेरे नाइट और डाकू लूट-मार करते थे और उनको कोई रोकने वाला नहीं था। जर्मन राज्य के लिए पवित्र रोमन साम्राज्य का बोझ इतना भारी पड़ा कि वह उसे सह नहीं सका। फ़्रान्स और इंग्लैण्ड में वहाँ के बादशाह धीरे-धीरे अपनी हैसियत मज़बूत कर रहे थे और गड़बड़ मचानेवाले बड़े-बड़े सामन्ती सरदारों को कुचल रहे थे। जर्मनी का बादशाह सम्राट् भी था और वह पोप से या इटली के शहरों से लड़ने में ही इतना फँसा रहता था कि अपने यहाँ के अमीर-सरदारों को दबा नहीं सकता था। कोई माने या न माने, पर जर्मनी को यह गौरव ज़रूर था कि उसका बादशाह सम्राट् है। लेकिन इसकी क़ीमत उसे यह चुकानी पड़ी कि उसके घर में कमज़ोरी और फूट पैदा हो गई; जर्मनी के एक राष्ट्र बनने के बहुत पहले ही फ़्रान्स और इंग्लैण्ड शक्तिशाली हो गये थे। सैकड़ों वर्षों तक जर्मनी में सैकड़ों छोटे-छोटे राजा थे। अभी क़रीब साठ ही वर्ष हुए जब जर्मनी एक हुआ, लेकिन छोटे-छोटे बादशाह और राजा फिर भी बने रहे। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इस भीड़ को ख़त्म कर दिया।

फ़्रेडरिक द्वितीय के बाद जर्मनी में इतनी ज़्यादा गड़बड़ रही कि तेईस साल तक कोई सम्राट् ही नहीं चुना गया। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का काउण्ट रूदोल्फ सम्राट् चुना गया। अब हैप्सबर्ग का नया राजवंश सामने आया। यह साम्राज्य के साथ अन्त तक चिपका रहनेवाला था। १९१४ ई० के महायुद्ध में यह राजवंश भी, शासक की हैसियत से, ख़त्म हो गया। महायुद्ध के समय में आस्ट्रिया-हंगरी का सम्राट् हैप्सबर्ग घराने का था, जिसका नाम फ़्रान्सिस जोज़ेफ़ था। वह बहुत बुड्ढा था और राजगद्दी पर बैठे हुए उसे साठ वर्ष से ज़्यादा हो चुके थे। फ़्रैंज़ फ़र्डिनेण्ड उसका भतीजा और उत्तराधिकारी था, जो १९१४ ई० में बोसनिया (बालकन प्रायद्वीप में) के सिराजेवो में अपनी पत्नी के साथ क़त्ल कर दिया गया था। महायुद्ध को भड़कानेवाली यही हत्या थी, और इस महायुद्ध ने बहुत-सी चीज़ों का ख़ात्मा कर दिया, जिनमें हैप्सबर्ग का पुराना राजवंश भी था।

पवित्र रोमन साम्राज्य के बारे में इतना काफ़ी है। इसके पश्चिम में फ़्रान्स और इंग्लैण्ड बार-बार आपस में लड़ा करते थे, लेकिन इससे भी ज़्यादा बार-बार इनके बादशाहों की अपने ही अमीर-सरदारों से लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। जर्मनी के सम्राट् या बादशाह की बनिस्बत फ़्रान्स और इंग्लैण्ड के बादशाह अपने अमीर-सरदारों पर ज़्यादा विजयी हुए; इसलिए इंग्लैण्ड और फ़्रान्स दूसरे देशों के मुक़ाबले में ज़्यादा ठोस बन गये और उनकी एकता ने उन्हें मज़बूती दी।

इसी समय इंग्लैण्ड में एक घटना हुई जिसके बारे में शायद तुमने पढ़ा होगा। १२१५ ई० में किंग जॉन ने मैग्नाकार्टा[1] पर दस्तख़त किये। जॉन अपने भाई

[1] मैग्नाकार्टा (Manga Charta)—इंग्लैण्ड की स्वतन्त्रता का ख़रीता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शेर-दिल' रिचर्ड के बाद गद्दी पर बैठा था। वह बड़ा लालची था, लेकिन साथ ही कमज़ोर भी था और उसकी हरकतों से सब लोग खीझ उठे। अमीर-सरदारों ने उसे टेम्स नदी के रनीमीड टापू में जा घेरा और तलवार के ज़ोर से डरा-धमका-कर मैग्नाकार्टा या 'महान् घोषणापत्र' पर उसके दस्तख़त करवा लिये। इसमें यह शर्त थी कि वह इंग्लैण्ड के अमीर-सरदारों और इंग्लण्ड की जनता की कुछ आज़ादियों का आदर करेगा। इंग्लैण्ड की राजनीतिक स्वतन्त्रता की लम्बी लड़ाई में यह पहला बड़ा क़दम था। इसमें एक ख़ास शर्त यह थी कि बादशाह किसी नाग-रिक की सम्पत्ति या उसकी आज़ादी में बिना उसके बराबरवालों की राय के दख़ल नहीं दे सकेगा। इसी से जूरी[1] की प्रथा निकली, जिसमें यह माना जाता है कि बराबर के लोग फ़ैसला करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि इंग्लैण्ड में बहुत पहले ही बादशाह के अधिकारों पर रोक लगा दी गई थी। पवित्र रोमन साम्राज्य में शासक को सर्वोपरि मानने का जो सिद्धान्त चालू था, वह उस समय भी इंग्लैण्ड में नहीं माना जाता था।

यह मज़ेदार बात है कि यह नियम, जो इंग्लैण्ड में आज से ७०० वर्ष पहले बनाया गया था, १९३२ ई० में भी ब्रिटिश राज्य के अधीन भारत पर लागू नहीं है। यहाँ आज भी एक व्यक्ति वाइसराय को अध्यादेश (आर्डिनेन्स) निकालने, क़ानून बनाने और जनता की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता छीन लेने का अधिकार मिला हुआ है।

मैग्नाकार्टा के थोड़े ही दिनों बाद इंग्लैण्ड में एक और मार्के की घटना हुई। धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय परिषद् का विकास होने लगा जिसमें अलग-अलग देहाती इलाक़ों और शहरों से नाइट और नागरिक भेजे जाते थे। यह इंग्लैण्ड की पार्ल-मेण्ट की शुरुआत थी। नाइटों और नागरिकों की सभा 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' बनी; अमीर-सरदारों व पादरियों की सभा 'हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स' बनी. शुरू-शुरू में इस पार्लमेण्ट को नाम के अधिकार थे, पर ये धीरे-धीरे बढ़ते गये। अन्त में बादशाह और पार्लमेण्ट के बीच इस बात पर आख़िरी आज़माइश हुई कि दोनों में कौन बड़ा है। इस झगड़े में राजा का सिर उड़ा दिया गया और पार्लमेण्ट की

जिसपर दस्तख़त करने के लिए किंग जॉन को मजबूर होना पड़ा। इसमें नागरिक स्वतन्त्रता की कई महत्वपूर्ण बातें शामिल की गई थीं।

[1] बड़े मुक़दमों में न्यायाधीश के साथ कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति बैठते हैं, जो गवाहियाँ पूरी हो जाने पर आपस में सलाह करके मुक़दमे के बारे में राय देते हैं। भारत में भी क़त्ल के मुक़दमों में जूरी बैठती थी, लेकिन अब यह प्रथा बन्द होती जा रही है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभुता सबने स्वीकार कर ली। लेकिन यह बात क़रीब ४०० वर्षों बाद, यानी सत्रहवीं सदी में जाकर हुई।

फ़्रान्स में भी तीन वर्ग कहलानेवालों की एक परिषद् थी। ये तीन वर्ग थे; लॉर्ड, चर्च और कॉमन्स, यानी ज़मींदार, ईसाई-संघ और आमलोग। जब कभी राजा की इच्छा होती थी, इस परिषद् की बैठक हुआ करती थी; लेकिन इसकी बैठकें बहुत कम होती थीं, और यह इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट की तरह अधिकार हासिल करने में सफल न हो सकी। फ़्रान्स में भी राजाओं की कमर टूटने के पहले एक राजा को अपना सिर गँवाना पड़ा था।

पूर्व में अब भी यूनानियों का पूर्वी रोमन साम्राज्य चल रहा था। अपनी ज़िन्दगी की शुरुआत में ही इसका किसी-न-किसी से युद्ध चलता रहा, और अक्सर ऐसा मालूम होता था कि बस यह मरा। लेकिन फिर भी उसने पहले उत्तरी बर्बरों के, और बाद में मुसलमानों के, हमलों से अपनी जान बचा ली। इस साम्राज्य पर रूसियों, बलग़ारियों, अरबों या सेलजूक़ तुर्कों के जितने हमले हुए उनमें ईसाई जिहादियों का हमला सबसे ज्यादा घातक और हानिकर साबित हुआ। इन ईसाई योद्धाओं ने ईसाई क़ुस्तुन्तुनिया को जितना नुक़सान पहुँचाया, उतना किसी 'काफ़िर' ने नहीं पहुँचाया। इस महान् आफ़त की मार से साम्राज्य और क़ुस्तुन्तुनिया का शहर फिर कभी नहीं पनप सके।

पश्चिमी यूरोप की दुनिया पूर्वी साम्राज्य के बारे में बिलकुल अनजान थी। उसे उसकी बिलकुल परवाह नहीं थी। वह ईसाई-जगत् का अंग नहीं थी। उसकी भाषा यूनानी थी, जबकि पश्चिमी यूरोप के विद्वानों की भाषा लातीनी थी। देखा जाय तो इस गिरावट के ज़माने में भी क़ुस्तुन्तुनिया में पश्चिम की बनिस्बत कहीं ज्यादा विद्या और साहित्य-चर्चा थी। लेकिन यह विद्या बुढ़ापे की विद्या थी जिसमें न कोई बल था और न कोई नई रचना-शक्ति। पश्चिम में विद्या नहीं के बराबर थी, लेकिन उसमें जवानी थी और नई रचना की शक्ति थी और थोड़े ही दिनों बाद यह शक्ति सुन्दर रचनाओं के रूप में खिल उठनेवाली थी।

पूर्वी साम्राज्य में, रोम की तरह सम्राट् और पोप में कोई झगड़ा नहीं था। वहाँ सम्राट् सर्वोपरि था और पूरी तरह स्वेच्छाचारी था। किसी तरह की आज़ादी का सवाल ही नहीं था। राजगद्दी उसीके हिस्से में आती थी, जो सबसे बलवान होता था या सबसे ज्यादा बे-उसूला होता था। हत्या और छल से, खून-खराबी और ज़ुल्म से, लोग राजगद्दी हासिल कर लेते थे और जनता भेड़-बकरियों की तरह उनके हुक्मों को मानती रहती थी। मालूम होता है, उसे इस बात में कोई दिलचस्पी न थी कि कौन राज करता है।

पूर्वी साम्राज्य यूरोप के फाटक पर एक पहरेदार की तरह खड़ा था और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एशियाई हमलों से उसकी रक्षा करता था। सैकड़ों वर्षों तक वह इसमें सफल होता रहा। अरब लोग क़ुस्तुन्तुनिया को नहीं ले सके। सेलजूक़ तुर्क भी, हालाँकि वे उसके बहुत नज़दीक पहुँच गये थे, उसे नहीं ले सके। मंगोल भी इसके पास से गुज़रते हुए उत्तर में रूस की तरफ़ निकल गये। अन्त में उस्मानी तुर्क आये और १४५३ ई० में क़ुस्तुन्तुनिया के शाही शहर का बड़ा लूट का माल उनके हाथ में आगया। इस शहर के पतन के साथ ही पूर्वी रोमन साम्राज्य का भी पतन हो गया।

: ६४ :

यूरोप के नगरों का अभ्युदय

२१ जून, १९३२

क्रूसेडों का ज़माना, यूरोप में श्रद्धा, सामूहिक आकांक्षा और विश्वास का महान् ज़माना था और जनता अपनी आये दिन की मुसीबतों से शान्ति पाने के लिए इसी श्रद्धा और आशा का सहारा लेती थी। उस समय विज्ञान नहीं था और विद्या भी बहुत कम थी, क्योंकि आस्था के साथ विज्ञान और विद्या का मेल आसानी से नहीं बैठता। विद्या और ज्ञान से लोग सोचने-विचारने लगते हैं और संशय व तर्क-वितर्क श्रद्धा के साथ मुश्किल से मेल खाते हैं। विज्ञान का रास्ता जाँच-पड़ताल और प्रयोग का रास्ता है। लेकिन श्रद्धा इस रास्ते नहीं जाती। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह यह श्रद्धा कमज़ोर पड़ गई और संशय पैदा हुआ।

लेकिन अभी तो जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस समय श्रद्धा का ज़ोर था और रोमन-ईसाई-संघ 'ईमानवालों' का सरदार बनकर उनसे खूब फ़ायदा उठाता था। न जाने कितने-कितने हज़ार 'ईमानवाले' फ़िलस्तीन में क्रूसेड युद्धों के लिए भेजे गए, जो फिर लौटकर नहीं आये। पोप ने यूरोप के उन ईसाई लोगों या समुदायों के ख़िलाफ़ भी धर्मयुद्ध के ऐलान शुरू कर दिये, जो हर बात में उसका हुक्म मानने को तैयार नहीं थे। पोप और ईसाई-संघ ने 'डिस्पेन्सेशन' और 'इण्डलजेन्स' जारी करके और बेच करके भी इस श्रद्धा से बेजा फ़ायदा उठाया। ईसाई-संघ के किसी क़ानून या परिपाटी को भंग करने की इजाज़त को 'डिस्पेन्सेशन' कहते थे। इस तरह जिन क़ानूनों को ईसाई-संघ खुद बनाता था, उन्हीं-को खास मौक़ों पर तोड़ने की इजाज़त भी वह दे देता था। ऐसे क़ानूनों के लिए ज़्यादा दिनों तक लोगों के दिलों में इज़्ज़त बनी नहीं रह सकती थी। 'इण्डलजेन्स' इससे भी ज़्यादा बुरी चीज़ थी। रोमन ईसाई-संघ मानता है कि मृत्यु के बाद आत्मा 'परगेटरी' (प्रायश्चित्त की जगह) नामक लोक में जाती है, जो स्वर्ग और नरक के बीच में कहीं पर है, और जहाँ उसे इस दुनिया में किये हुए पापों के लिए यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। इसके बाद कहीं वह आत्मा स्वर्ग को जाती है। पोप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुपया लेकर लोगों को यह प्रतिज्ञा-पत्र दे देता था कि वे 'परगेटरी' से बचकर सीधे स्वर्ग पहुँच जायँगे। इस तरह ईसाई-संघ भोले-भाले लोगों की श्रद्धा से फ़ायदा लूटता था और जिन अपराधों को वह पाप समझता था उनसे भी पैसा बनाता था। 'इण्डलजेन्स' की बिक्री का यह रिवाज क्रूसेडों के कुछ दिन बाद शुरू हुआ। इससे बड़ी बदनामी फैली। और बहुत से कारणों में एक कारण यह भी था, जिससे लोग रोमन ईसाई-संघ के खिलाफ़ हो गये।

अजीब बात है कि भोले-भाले श्रद्धावान लोग कितनी ही बातें बिना किसी ननुनच के मान लेते हैं। यही वजह है कि कई देशों में मज़हब सबसे बड़ा और सबसे ज़्यादा फ़ायदे का रोज़गार बन गया है। मन्दिरों के पुजारियों को देखो कि वे किस तरह बेचारे उपासकों को मूँड़ने की कोशिश करते हैं। गंगा के घाटों पर जाओ तो वहाँ तुम देखोगी कि पण्डे कुछ पूजा-पाठ करने से तबतक इन्कार करते हैं, जबतक कि बेचारा देहाती इन्हें भेंट नहीं चढ़ाता। कुटुम्ब में कुछ भी हो—चाहे जन्म हो, शादी हो या ग़मी हो, पुरोहित आ धमकता है और उसे दक्षिणा देनी ही पड़ती है।

यह बात हर मज़हब में है, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे ईसाइयत हो, चाहे इस्लाम हो, चाहे ज़रथुस्ती। हर मज़हब का, श्रद्धालुओं की श्रद्धा से पैसा कमाने का अपना अलग तरीक़ा होता है। हिन्दू-धर्म के तरीक़े तो काफ़ी ज़ाहिर हैं। कहा जाता है कि इस्लाम में पुरोहित नहीं होते और पुराने ज़माने में उसके अनुयायियों को मज़हबी लूट-खसोट से बचाने में इस बात से थोड़ी-बहुत मदद भी मिली। लेकिन बाद में कुछ व्यक्ति और वर्ग पैदा हो गये जो अपने को मज़हब के मामलों की ख़ासतौर पर जानकारी रखनेवाले कहने लगे, जैसे आलिम, मौलवी, मुल्ला, वग़ैरा। इन लोगों ने सीधे-सादे दीनदार मुसलमानों पर अपना रोब जमा लिया और उनको मूँड़ना शुरू कर दिया। जहाँ लम्बी दाढ़ी, या चोटी, या तिलक, या फ़क़ीरी बाना, या संन्यासी का गेरुआ या पीला कपड़ा पवित्रता की सनद समझा जाता हो, वहाँ जनता पर धाक जमाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

अगर तुम अमेरिका जाओ, जो आजकल सबसे आगे बढ़ा हुआ मुल्क़ है, तो वहाँ भी देखोगी कि मज़हब एक बहुत बड़ा उद्योग बन गया है, जो जनता के शोषण पर जी रहा है।

मैं मध्य युगों और श्रद्धा के युग से बहुत दूर भटक गया हूँ। हमें उस तरफ़ फिर वापस चलना चाहिए। हम इस श्रद्धा को ठोस और रचनात्मक रूप लेता हुआ पाते हैं। ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में इमारतों के निर्माण का एक बड़ा ज़माना आया और सारे पश्चिमी यूरोप में बड़े-बड़े गिरजाघर खड़े हो गये। एक नई वास्तुकला पैदा हुई जैसी यूरोप में इसके पहले कभी नहीं दिखाई पड़ी थी। इसमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिकमत-भरी तरकीब से भारी-भारी छतों का बोझ और दबाव इमारत के बाहर बने बड़े-बड़े पुश्तों पर डाल दिया गया है। भीतर नाज़ुक खम्भों को ज़ाहिरा तौर पर ऊपर के भारी बोझ को सम्भाले हुए देखकर ताज्जुब होता है। इनके नोकदार मेहराब अरबी वास्तु-कला की नक़ल हैं। सारी इमारत के ऊपर आसमान तक पहुँचनेवाली मीनार होती है। वास्तु-कला की यह वह गोथिक शैली है, जो यूरोप में पैदा हुई और विकसित हुई। इसमें अद्भुत सुन्दरता थी और यह उड़ान भरनेवाली श्रद्धा और आकांक्षा का रूप दर्शानेवाली मालूम देती थी। सचमुच यह श्रद्धा के उस ज़माने का दर्शन कराती है। ऐसी इमारतें सिर्फ़ वे शिल्पकार और कारीगर ही बना सकते हैं, जिन्हें अपने काम की लगन हो और जो मिलकर किसी महान् उद्योग को पूरा करने में जुट गये हों।

पश्चिमी यूरोप में इस गोथिक शैली का विकास एक अद्भुत बात है। अशान्ति, अराजकता, अज्ञान और मज़हबी बैर के कीचड़ से यह सुन्दर चीज़ पैदा हुई—मानो स्वर्ग की ओर जानेवाली प्रार्थना हो। फ़्रान्स, उत्तरी इटली, जर्मनी और इंग्लैंड में गोथिक शैली के बड़े-बड़े गिरजे क़रीब-क़रीब एक ही साथ बने। यह कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि उनकी शुरुआत कैसे हुई, और न कोई उनके बनानेवालों के नाम ही जानता है। ये रचनाएँ सारी जनता की शामिल इच्छा और मेहनत को दर्शाती हुई मालूम देती हैं, न कि किसी अकेले शिल्पकार की। इन गिरजों में दूसरी नई चीज़ इनकी खिड़कियों के रंगीन काँच थे। इन खिड़कियों पर सुन्दर रंगों में बड़ी सुन्दर तसवीरें बनी होती थीं और उनमें से होकर आनेवाली रोशनी इन इमारतों के गम्भीर और रोब डालनेवाले प्रभाव को बढ़ाती थीं।

थोड़े दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में यूरोप का एशिया से मुक़ाबला किया था। हमने देखा था कि उस वक़्त एशिया संस्कृति और सभ्यता में यूरोप से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। फिर भी भारत में नई रचना का काम बहुत ज़्यादा नहीं हो रहा था, और मैं कह चुका हूँ कि नई रचना करना ही ज़िन्दगी की निशानी है। अर्ध-सभ्य यूरोप में पैदा होनेवाली यह गोथिक वास्तुकला इस बात का सबूत है कि वहाँ काफ़ी ज़िन्दगी थी। अशान्ति और सभ्यता की पिछड़ी हुई हालत से पैदा होनेवाली कठिनाइयों के होते हुए भी यह ज़िन्दगी फूट निकली और उसने अपने को प्रकट करने के तरीक़े तलाश कर लिये। गोथिक इमारतें इसी प्रदर्शन का एक रूप हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि यही ज़िन्दगी चित्रकला, मूर्त्तिकला और हौसले के कामों से प्रेम के रूपों में प्रकट हुई।

तुमने कुछ बड़े गोथिक गिरजे देखे हैं। पता नहीं कि तुम्हें उनकी याद है या नहीं। तुमने जर्मनी में कोलोन का सुन्दर बड़ा-गिरजा देखा था। इटली के मिलान शहर में एक बहुत बढ़िया बड़ा गोथिक गिरजा है और इसी तरह फ़्रान्स के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारत्रे में भी है। लेकिन मैं सबके नाम नहीं गिना सकता। ये गोथिक बड़े-गिरजे ज़र्मनी, फ़ान्स, इंग्लैण्ड और उत्तरी इटली में फैले हुए हैं। ताज्जुब की बात है कि खास रोम में गोथिक शैली की कोई मार्के की इमारत नहीं है।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों के इस महान् निर्माण-काल में ग़ैर-गोथिक शैली के गिरजे भी बनाये गए, जैसे पेरिस में नात्रदेम का और शायद वेनिस में सेन्ट मार्क का। सेन्ट मार्क का गिरजा, जिसे तुमने देखा है, बिज़ैन्तीन शैली का नमूना है और इसमें पच्चीकारी का बहुत सुन्दर काम है।

श्रद्धा का ज़माना ढल गया और इसके साथ गिरजों व बड़े-गिरजों का बनना भी कम हो गया। लोगों का ध्यान दूसरी तरफ़, यानी व्यापार व रोज़गार और अपनी शहरी ज़िन्दगी की तरफ़ चला गया। गिरजाघरों के बजाय टाउन-हॉल बनने लगे। इस तरह हम पन्द्रहवीं सदी की शुरुआत से सुन्दर गोथिक टाउन-हॉल या गिल्ड-हॉल (पंचायती भवन) उत्तर और पश्चिम यूरोप-भर में फैले हुए देखते हैं। लन्दन में पार्लमेण्ट की इमारतें गोथिक शैली की हैं, लेकिन मैं यह नहीं जानता कि वे कब बनीं। इतना मुझे ख़याल है कि मूल गोथिक इमारत जल गई थी और उसके बाद गोथिक-शैली पर ही दूसरी इमारत बनाई गई।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में बनाये गए ये बड़े-बड़े गोथिक गिरजे शहरों और क़स्बों में ही थे। पुराने शहर जागने लगे थे और नये पैदा हो रहे थे। सारे यूरोप का नक़शा बदल रहा था और सभी जगह शहरी ज़िन्दगी बढ़ोतरी पर थी। रोमन साम्राज्य के पुराने ज़माने में भूमध्यसागर के किनारे चारों तरफ़ बड़े-बड़े शहर ज़रूर थे, लेकिन जब रोम और यूनानी-रोमन साम्राज्य का पतन हुआ, तब ये शहर भी उजड़ गये। क़ुस्तुन्तुनिया के सिवा यूरोप में किसी बड़े शहर का नाम नहीं था। हाँ, स्पेन की बात अलग थी, जहाँ अरबों की हुकूमत थी। एशिया में भारत, चीन और अरबी दुनिया में इस समय बड़े-बड़े शहर मौजूद थे, लेकिन यूरोप में यह बात नहीं थी। मालूम होता है, शहरों का सभ्यता और संस्कृति के साथ चोली-दामन का-सा रिश्ता है और यूरोप में रोमन व्यवस्था के पतन के बहुत दिनों बाद तक इनमें से कोई भी चीज़ नहीं थी।

लेकिन अब शहरी जीवन फिर से उठ रहा था। इटली में खासतौर से नये शहर पैदा हो रहे थे। ये शहर सम्राट् और पवित्र रोमन साम्राज्य की आँखों में खटकते थे, क्योंकि ये इसके लिए तैयार नहीं थे कि उन्हें जो थोड़ी-सी स्वतन्त्रताएँ मिली हुई थीं, उन्हें छीन लिया जाय। इटली वग़ैरा में ये शहर व्यापारी वर्गों और मध्यम वर्गों की बढ़ती हुई ताक़त के सबूत थे।

वेनिस, जिसका सारे एड्रियाटिक सागर पर रौब था, आज़ाद गणराज्य हो गया था। इसकी घुमावदार गलियों की नहरों में समुद्र का पानी आता-जाता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जिससे आज यह बड़ा सुन्दर हो गया है; लेकिन कहते हैं कि शहर बनने के पहले यहाँ दलदल थी। जब अतिला हूण आग लगाता और मारकाट करता ऐक्वीलिया में आया तो कुछ लोग बचकर वेनिस के दलदलों की तरफ़ भाग गये। इन्हीं लोगों ने अपने हाथों से वेनिस का शहर बनाया, और चूँकि यह पूर्वी रोमन साम्राज्य और पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच में पड़ता था, इसलिए वे आज़ाद बने रहे। भारत और पूर्व के दूसरे मुल्कों के साथ वेनिस का व्यापार क़ायम हुआ और व्यापार के साथ ही दौलत भी आई। वेनिस ने अपनी जल-सेना बना ली और एक समुद्री शक्ति बन गया। यह धनवानों का गणराज्य था, जिसमें एक अध्यक्ष हुआ करता था, जो 'दोज' कहलाता था। जब नेपोलियन विजेता बनकर १७९७ ई० में वेनिस में दाख़िल हुआ, तबतक यह गणराज्य क़ायम रहा। कहते हैं कि उस दिन दोज जो बहुत बुड्ढा आदमी था, यकायक मर गया। वह वेनिस का आख़िरी दोज था।

इटली के दूसरी तरफ़ जिनेवा था। यह भी समुद्र-यात्री लोगों का एक बड़ा व्यापारिक शहर था और वेनिस से होड़ करता था। इन दोनों शहरों के बीच में विश्वविद्यालय का शहर बोलोना था, और पीसा, वेरोना और फ़्लोरेन्स थे। फ़्लोरेन्स में आगे चलकर बड़े-बड़े कलाकार पैदा होनेवाले थे और यह मशहूर मेदिची घराने के शासन में तेज़ी से चमकनेवाला था। उत्तर इटली में मिलान का शहर माल तैयार करनेवाला महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था और दक्षिण में नेपल्स भी बढ़ रहा था।

फ़्रांस में पेरिस, जिसे ह्यू कैपे ने अपनी राजधानी बनाया था, फ़्रान्स की तरक्क़ी के साथ तरक्क़ी कर रहा था। पेरिस हमेशा से ही फ़्रान्स का नाड़ी-केन्द्र और हृदय रहा है। दूसरे देशों की दूसरी राजधानियाँ रही हैं, लेकिन पिछले एक हज़ार वर्षों में फ़्रान्स पर पेरिस का जितना प्रभाव रहा है, उतना किसी राजधानी का किसी देश पर नहीं रहा। फ़्रान्स में दूसरे शहर भी मशहूर हुए—जैसे लियों, मार्सल्स (यह बहुत पुराना बन्दरगाह था), आर्लियन्स, बोर्दो, बोलोन, वग़ैरा।

इटली की तरह जर्मनी में भी आज़ाद शहरों की तरक्क़ी, ख़ासतौर पर १३वीं और १४वीं सदियों में, बहुत मार्के की है। इन शहरों की आबादी बढ़ रही थी और ज्यों-ज्यों उनकी ताक़त और दौलत बढ़ती गई, उनके हौसले भी बढ़ते गये और उन्होंने अमीर-सरदारों से लड़ना शुरू कर दिया। सम्राट् भी इनको बढ़ावा देता था, क्योंकि वह अमीर-सरदारों को दबाये रखना चाहता था। इन शहरों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए बड़ी-बड़ी व्यापारी पंचायतें और समितियाँ बना लीं। कभी-कभी ये समितियाँ या संघ अमीर-सरदारों की जवाबी समितियों के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ देते थे। इन बढ़ते हुए शहरों में से कुछ के नाम ये हैं—हैम्बुर्ग, ब्रीमेन, कोलोन, फ़्रैंकफ़ुर्त, म्यूनिख़, डैनज़िग, न्यूरेम्बर्ग और ब्रेसलाउ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निदरलैण्ड्स में (जिसे आज हॉलैण्ड और बेलजियम कहते हैं) एण्टवर्प, ब्रूजेज़ और घेण्ट के शहर थे; ये व्यापारी शहर थे और इनका व्यापार बराबर बढ़ रहा था। इंग्लैण्ड में भी लन्दन था, लेकिन वह विस्तार, दौलत या व्यापार में यूरोप के महत्वपूर्ण नगरों का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज के दो विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्रों की हैसियत से महत्वपूर्ण बनते जा रहे थे। यूरोप के पूर्व में वियेना शहर था, जो यूरोप के सबसे पुराने शहरों में में से एक है; रूस में मास्को, कीफ़ और नोवगोरोद थे।

ये नये शहर, या इनमें से ज़्यादातर, पुराने ढंग के शाही नगरों से बिलकुल अलग तरह के थे। यूरोप के इन बढ़नेवाले शहरों का महत्त्व किसी सम्राट् या बादशाह की वजह से नहीं था, बल्कि उस व्यापार की वजह से था, जिसकी बाग-डोर इनके हाथों में थी। इसलिए इनकी मज़बूती अमीर-सरदारों से नहीं थी, बल्कि सौदागर-वर्ग से थी। ये सौदागरों के शहर थे। इसलिए शहरों की तरक्क़ी का मतलब था, बुर्जुआ यानी मध्यमवर्ग की तरक्क़ी। इस मध्यमवर्ग की, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, शक्ति बराबर बढ़ती रही। यहाँतक कि इसने बादशाहों और अमीर-सरदारों को चुनौती दी और उनसे अधिकार छीन लिये। लेकिन यह बात तो उस ज़माने के बहुत दिनों बाद हुई है, जिसका ज़िक्र हम अभी कर रहे हैं।

मैंने अभी कहा है कि शहर और सभ्यता अक़्सर साथ-साथ चलते हैं। शहरों की बढ़ोतरी के साथ विद्या भी बढ़ती है और आज़ादी की भावना भी। देहात में रहनेवाले लोग बहुत दूर-दूर बसे होते हैं और अक़्सर बहुत ज़्यादा अन्ध-विश्वासी हुआ करते हैं। वे तो मानो क़ुदरत की दया पर ही जीवित रहते हैं। उन्हें सख्त मेहनत करनी पड़ती है और बहुत कम फ़ुरसत मिलती है। वे अपने मालिकों के हुक्म के खिलाफ़ जाने की हिम्मत नहीं कर सकते। शहरों में लोग बड़ी संख्या में साथ-साथ रहते हैं। इन्हें ज़्यादा सभ्य ज़िन्दगी बिताने का, विद्या हासिल करने का, चर्चा और आलोचना करने का, और विचार करने का मौक़ा मिलता है।

इस तरह राजनीतिक सत्ता, जिसके प्रतिनिधि सामन्ती अमीर-सरदार होते थे, और आध्यात्मिक सत्ता जिसका प्रतिनिधि ईसाई-संघ था, दोनों के खिलाफ़ आज़ादी की भावना बढ़ने लगी। श्रद्धा का ज़माना ढलने लगा और संशय की शुरुआत हुई। अब लोग ईसाई-संघ और पोप की सत्ता को आँखें मूँदकर मानने को तैयार नहीं थे। हमने देखा है कि सम्राट् फ़्रेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा सलूक किया था। आगे हम देखेंगे कि चुनौती देने की यह भावना किस तरह बढ़ती गई।

बारहवीं सदी के बाद विद्या की भी फिर से तरक्क़ी होने लगी। यूरोप में पढ़े-लिखों की आम भाषा लातीनी थी और लोग ज्ञान की तलाश में एक विश्व-विद्यालय से दूसरे को जाया करते थे। दान्ते अलीघेरी, जो इटली का महान् कवि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है, १२६५ ई० में पैदा हुआ था। पेत्रार्क, जो इटली का दूसरा महान् कवि था, १३०४ ई० में पैदा हुआ था। थोड़े दिन बाद इंग्लैण्ड में चॉसर हुआ, जो इस देश के शुरू के महान् कवियों में गिना जाता है।

लेकिन विद्या के दुवारा पनपने से भी ज्यादा दिलचस्प चीज़ वैज्ञानिक भावना की हलकी शुरुआत थी, जो बाद के वर्षों में यूरोप में बहुत बढ़नेवाली थी। तुम्हें याद होगा, मैंने तुम्हें बताया था कि अरबों में यह भावना थी और इन लोगों ने कुछ हद तक इसके मुताबिक़ काम भी किया था। मध्य-युगों के यूरोप में खुले दिमाग से ज.च-पड़ताल करने की और प्रयोग करने की ऐसी भावना का पनपना मुश्किल था। ईसाई-संघ इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था। लेकिन ईसाई-संघ के बावजूद भी यह भावना प्रकट होने लगी। इस ज़माने में यूरोप के जिन व्यक्तियों में वैज्ञानिक भावना थी, उनमें सबसे पहला रोजर बेकन नामक एक अंग्रेज़ था। वह ऑक्सफ़ोर्ड में तेरहवीं सदी में रहता था।

: ६५ :

अफ़ग़ानों का भारत पर हमला

२३ जून, १९३२

कल तुम्हारे पत्र में खलल पड़ गया। जब मैं लिखने बैठा तो इस जेल को और यहाँ के अपने चौगिर्द को भूल गया और विचारों की तेज़ी के साथ मध्य-युगों की दुनिया में पहुँच गया। लेकिन उससे भी ज्यादा तेज़ी के साथ मैं मौजूदा वक़्त में खींच लाया गया और मुझे, किसी क़दर तकलीफ़ के साथ, यह बात याद दिला दी गई कि मैं जेल में हूँ। मुझे यह बताया गया कि ऊपर से हुक्म आया है कि मम्मी, और दिद्दाजी[1] के साथ महीने भर तक मुलाक़ात न होने पायेगी। लेकिन ऐसा क्यों किया गया, इसकी वजह मुझे नहीं बताई गई। दस दिन से वे देहरादून में ठहरी हुई हैं और मुलाक़ात की अगली बारी का इन्तज़ार कर रही हैं, पर अब उनका ठहरना बिलकुल बेकार हो गया और उन्हें वापस जाना होगा। यह है वह शराफ़त, जो हमारे साथ बरती जाती है। जो भी हो, हमें इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। ये तो रोज़मर्रा की बातें हैं। हमें यह भूल न जाना चाहिए कि क़ैदखाना आखिर क़ैदखाना है।

यों बुरी तरह झकझोर दिये जाने के बाद मेरे लिए यह सम्भव नहीं था कि मैं वर्तमान को भूलकर बीते हुए ज़माने का ख़याल करता। लेकिन रात भर के आराम के बाद मैं अब कुछ ठीक हूँ; इसलिए फिर से शुरू करता हूँ।

---

[1] इन्दिरा की दादी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हम भारत लौट आते हैं। बहुत दिनों तक हम इस देश से दूर रहे। मध्य-युगों के अँधेरे से बाहर निकलने के लिए जिस वक्त यूरोप कोशिशें कर रहा था; जब यूरोप के लोग सामन्त-प्रथा, और फैली हुई आम बद-इन्तज़ामी व बुरे शासन के बोझ से पिसे जा रहे थे, जब पोप और सम्राट् एक-दूसरे से लड़ रहे थे और यूरोप के मुल्क शक्ल पकड़ते जा रहे थे, जब क्रूसेडों के बीच इस्लाम और ईसाइयत प्रभुता के लिए लड़ रहे थे, तब भारत में क्या हो रहा था?

मध्य-युगों की शुरुआत के भारत की एक झलक हम देख चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि सुलतान महमूद ने उत्तर-पश्चिम में ग़ज़नी से उत्तर-भारत के हरे-भरे मैदानों पर झपट्टा मारा, लूटमार की और बरबादी की। महमूद के हमले, हालाँकि वे बड़े भयंकर थे, भारत में कोई बड़ा या टिकनेवाला परिवर्तन पैदा नहीं कर सके। इनसे देश को, खासकर इसके उत्तरी हिस्से को, बड़ा धक्का पहुँचा और महमूद ने बहुत-सी बढ़िया इमारतें और यादगारें नष्ट कर डालीं। लेकिन उसके (ग़ज़नी) साम्राज्य में सिर्फ़ सिन्ध और पंजाब का कुछ हिस्सा ही रहा। उत्तर के बाक़ी के हिस्से बहुत जल्द ही फिर से पनप गये; दक्षिण और बंगाल तो इन हमलों से बिलकुल अछूते रहे। महमूद के बाद डेढ़ सौ से भी ज्यादा वर्षों तक न तो मुसलमानों ने कुछ जीत हासिल की और न इस्लाम ने ही ज्यादा तरक्क़ी की।

बारहवीं सदी के अन्त में, ११८६ ई० के क़रीब, उत्तर-पश्चिम से हमलों की एक नई लहर आई। अफ़ग़ानिस्तान में एक नया सरदार पैदा हुआ, जिसने ग़ज़नी पर क़ब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवी साम्राज्य को खत्म कर दिया। उसका नाम शहाबुद्दीन ग़ोरी (अफ़ग़ानिस्तान के ग़ोर नाम के एक छोटे-से क़स्बे का रहने-वाला) था। शहाबुद्दीन लाहौर पर आ धमका और उस पर क़ब्ज़ा करके दिल्ली पर चढ़ आया। पृथ्वीराज चौहान उस वक़्त दिल्ली का राजा था; उसके झण्डे के नीचे उत्तर भारत के बहुत-से सामन्त शहाबुद्दीन के खिलाफ़ लड़े और उसे बुरी तरह हरा दिया। लेकिन यह जीत थोड़े ही दिनों की थी। शहाबुद्दीन दूसरे साल बहुत बड़ी फ़ौज लेकर वापस आया और इस बार उसने पृथ्वीराज को हरा दिया और मार डाला।

पृथ्वीराज आज भी एक लोकप्रिय वीर नायक माना जाता है और उसके बारे में बहुत-सी पुरानी गाथाएँ और गीत हैं। इनमें से सबसे मशहूर कथा कन्नौज के राजा जयचन्द की लड़की को उड़ा ले जाने की है। लेकिन इसकी उसे बड़ी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। इस झगड़े में उसके सबसे ज्यादा बहादुर योद्धाओं की जानें गईं और एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी गले पड़ी। इसने आपसी फूट और लड़ाई के बीज बो दिये, जिससे हमला करनेवाले की जीत का रास्ता आसान हो गया।

इस तरह ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ने पहली बार बड़ी भारी विजय हासिल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत में मुसलमानों की हुकूमत क़ायम हुई। धीरे-धीरे ये हमलावर पूर्व और दक्षिण की तरफ़ फैलने लगे। आगे के १५० वर्षों के अन्दर, यानी १३४० ई० तक, मुसलमानों की हुकूमत दक्षिण के एक बड़े भाग पर फैल चुकी थी। इसके बाद दक्षिण में यह सिकुड़ने लगी। नये-नये राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू। इनमें विजयनगर का हिन्दू साम्राज्य जिक्र करने लायक़ है। दो सौ वर्षों तक इस्लाम ने किसी हद तक कुछ गँवाया ही। फिर जब सोलहवीं सदी के बीच में अकबर महान् पैदा हुआ तब कहीं यह क़रीब-क़रीब सारे भारत में फिर फैल गया।

मुसलमान हमलावरों के भारत में आने के बहुत-से नतीजे हुए। याद रहे कि ये हमला करनेवाले अफ़ग़ान थे; अरबी या ईरानी, या पश्चिमी एशिया के सुसंस्कृत और ऊँचे दर्जे के सभ्य मुसलमान न थे। सभ्यता के लिहाज़ से अफ़ग़ान भारतीयों के मुक़ाबले में पिछड़े हुए थे, लेकिन इनमें शक्ति भरी थी और वे उस वक़्त के भारतवासियों की अपेक्षा बहुत ज़्यादा जीवटवाले थे। भारत तो बिलकुल लकीर का फ़क़ीर बना हुआ था। वह परिवर्तन और प्रगति की तरफ़ नहीं जा रहा था। वह पुराने ढँगों से चिपका हुआ था और उनमें सुधार करने की कोशिश नहीं करता था। युद्ध के तौर-तरीक़ों में भी भारत पिछड़ा हुआ था और अफ़ग़ान उससे कहीं ज़्यादा संगठित थे। इसलिए साहस और त्याग के होते हुए भी पुराना भारत मुसलमान हमलावरों से हार गया।

शुरू में ये मुसलमान बड़े ख़ूँख़ार और ज़ालिम थे। ये एक रूखे-सूखे देश से आये थे, जहाँ 'नज़ाक़त' की ज़्यादा क़द्र नहीं थी। इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये जीते हुए मुल्क़ में थे, और चारों तरफ़ दुश्मनों से घिरे हुए थे, जो किसी भी वक़्त विद्रोह कर सकते थे। इन लोगों को बलवे का डर बराबर बना रहता होगा और डर से आदमी अक्सर ज़ालिम और भयभीत हो जाता है। इसलिए जनता को दबाने के लिए हत्याकाण्ड होते थे। यह किसी मुसलमान का किसी हिन्दू को उसके धर्म की वजह से क़त्ल करने का सवाल नहीं था; बल्कि एक विदेशी विजेता का हराये हुओं की कमर तोड़ने की कोशिश का सवाल था। इन जुल्मी कार्रवाइयों का सबब बताने में मज़हब को क़रीब-क़रीब हमेशा ला घसीटा जाता है, लेकिन यह सही नहीं है। कभी-कभी मज़हब का बहाना ज़रूर किया जाता था, लेकिन असली कारण राजनीतिक और समाजी थे। मध्य एशिया के लोग, जिन्होंने भारत पर हमला किया, खुद अपने वतनों में भी ख़ूँख़ार और बेरहम थे और इस्लाम क़बूल करने के बहुत पहले उनकी यही हालत थी। नया मुल्क़ जीतने के बाद उसको क़ब्ज़े में रखने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा उन्हें मालूम था, और वह था आतंक का तरीक़ा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम देखते हैं कि धीरे-धीरे भारत ने इन खूंखार लड़ाकुओं को नर्म बना दिया और उन्हें सभ्यता सिखा दी। वे महसूस करने लगे कि वे विदेशी हमलावर नहीं बल्कि भारतीय हैं। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के साथ शादियाँ करनी शुरू कर दीं और हमला करनेवालों व हमला भुगतनेवालों के बीच का भेद धीरे-धीरे कम होता गया।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि महमूद ग़ज़नवी, जिसने उत्तर भारत में सबसे ज़्यादा बरबादी मचाई और जो 'बुतपरस्तों' के ख़िलाफ़ मुसलमानों का हिमायती समझा जाता था, हिन्दू फ़ौज की एक टुकड़ी रखता था, जिसका सेनापति तिलक नामक हिन्दू था। वह तिलक और उसकी फ़ौज को ग़ज़नी ले गया और उसने बलवाई मुसलमानों को दबाने में उसका उपयोग किया। इस तरह तुम देखोगी कि नये मुल्क़ों को फ़तह करना ही महमूद का उद्देश्य था। जैसे भारत में वह अपने मुसलमान सिपाहियों की मदद से 'बुतपरस्तों' को क़त्ल करने के लिए तैयार था, ठीक वैसे ही मध्य एशिया में वह हिन्दू सिपाहियों की मदद से मुसलमानों को क़त्ल करने के लिए तैयार रहता था।

इस्लाम ने भारत को हिला डाला। इसने ऐसे समाज में, जो पूरी तरह प्रगति को रोकनेवाला बनता जा रहा था, जीवन-शक्ति और प्रगति की लहर भर दी। उत्तर भारत की हिन्दू-कला में, जिसमें गिरावट और गन्दगी आ चुकी थी और जो पुरानी नक़ल और बारीकियों से बोझिल हो चुकी थी, परिवर्तन शुरू हो गया। एक नई कला का विकास हुआ, जिसे भारतीय-इस्लामी कला कह सकते हैं और जिसमें शक्ति और चेतना थी। पुराने भारतीय मिस्त्रियों को मुसलमानों के लाये हुए नये विचारों से प्रेरणा मिली। इस्लामी विश्वास और जीवन के नज़रिये की सादगी ने उस ज़माने की वास्तुकला पर असर डाला, और उसमें फिर से सादी और ऊँचे दर्जे की बनावट ला दी।

मुसलमानों के हमलों का पहला असर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण की तरफ़ भाग गये। महमूद के हमलों और हत्याकाण्डों के बाद उत्तर भारत के लोग वहशियाना बेरहमी और सत्यानाश को इस्लाम के साथ जोड़ने लगे। इसलिए जब फिर हमला हुआ और रोका नहीं जा सका तो कुशल दस्तकारों और विद्वानों के झुण्ड-के-झुण्ड दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति को आगे बढ़ने का बड़ा ज़ोर मिला।

दक्षिण भारत का कुछ हाल मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ। मैंने तुम्हें बताया था कि कैसे छठी सदी के बीच से लेकर दो सौ वर्षों तक पश्चिम और मध्य भारत (महाराष्ट्र देश) में चालुक्यों का बोलबाला था। ह्यूएनत्सांङ उस समय के राजा पुलिकेशी द्वितीय से मिला था। बाद में राष्ट्रकूट आये, जिन्होंने चालुक्यों को हरा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया और आठवीं सदी से दसवीं सदी के अन्त तक, यानी २०० वर्षों तक, दक्षिण में धाक जमाये रक्खी। सिन्ध के अरबी शासकों के साथ राष्ट्रकूटों के बड़े अच्छे सम्बन्ध थे और उनके यहाँ बहुत अरबी व्यापारी और यात्री आते थे। ऐसे ही एक यात्री ने अपनी यात्रा का कुछ हाल लिखा है। उसने लिखा है कि राष्ट्रकूटों का उस समय (नवीं सदी) का राजा संसार के चार सबसे बड़े बादशाहों में गिना जाता था। उसकी राय में बग़दाद के ख़लीफ़ा और चीन और रूम (क़ुस्तुन्तुनिया) के सम्राट् दुनिया के बाकी तीन बड़े सम्राट् थे। यह बयान दिलचस्प है, क्योंकि इससे हमको उस समय एशिया में फैली हुई राय का पता चलता है। किसी अरबी यात्री का राष्ट्रकूटों के राज्य का ख़लीफ़ा के साम्राज्य से मुक़ाबला करना, जबकि बग़दाद अपनी शान और शक्ति की चोटी पर था, इस बात का सबूत है कि महाराष्ट्र का यह राज्य बहुत बलवान और शक्तिशाली रहा होगा।

दसवीं सदी, यानी ९७३ ई०, में राष्ट्रकूटों की जगह फिर चालुक्यों ने ले ली और ये २०० से भी ज़्यादा वर्षों तक, यानी ११९० ई० तक फिर राज करते रहे। एक चालुक्य राजा के बारे में एक लम्बी कविता मिलती है, जिसमें कहा गया है कि उसकी स्त्री ने उसे स्वयंवर में चुना था। आर्यों की इस पुरानी रस्म का इतने दिनों तक बना रहना एक दिलचस्प बात है।

भारत में सुदूर दक्षिण और पूर्व की तरफ़ तमिल देश था। यहाँ तीसरी सदी से नवीं सदी तक, यानी क़रीब ६०० वर्षों तक, पल्लवों का राज रहा और छठी सदी के मध्य से लेकर २०० वर्षों तक ये दक्षिण पर हावी रहे। तुम्हें याद होगा कि इन्हीं पल्लवों ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों में उपनिवेश बसाने के लिए बेड़े भेजे थे। पल्लव राज्य की राजधानी कांची या कांजीवरम थी। यह उस समय एक सुन्दर शहर था और बुद्धिमानी से बनाई गई इसकी नगर-योजना आज भी मार्क की चीज़ है।

पल्लवों की जगह दसवीं सदी के शुरू में लड़ाकू चोल आ गये। मैं तुम्हें राजराजा और राजेन्द्र के चोल-साम्राज्य के बारे में कुछ बता चुका हूँ, जिन्होंने बड़े-बड़े जहाज़ी बेड़े बनवाये थे और लंका, बरमा और बंगाल को जीतने के लिए निकले थे। उस समय की उनकी चुनी हुई ग्राम-पंचायतों की प्रथा के बारे में जो जानकारी मिलती है वह और भी ज़्यादा दिलचस्प है। इस प्रथा की रचना नीचे से शुरू होती थी। गाँवों की पंचायतें जुदे-जुदे कामों की देख-रेख के लिए बहुत-सी समितियाँ चुनती थीं और ज़िला पंचायतें भी चुनती थीं। कई ज़िलों को मिलाकर प्रान्त बनता था। मैंने अक़्सर इन पत्रों में इस ग्राम-पंचायत प्रणाली पर ज़ोर दिया है, क्योंकि पुरानी आर्य शासन-व्यवस्था इसीके सहारे खड़ी हुई थी।

जिस समय उत्तर भारत पर अफ़ग़ानों के हमले हो रहे थे, दक्षिण भारत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में चोलों का बोलबाला था। कुछ दिनों के बाद ये कमज़ोर पड़ने लगे और एक छोटी-सी रियासत, जो पहले इनके अधीन थी, स्वाधीन हो गई और उसकी शक्ति बढ़ने लगी। यह पांडय राज्य था, जिसकी राजधानी मदुरा थी और बन्दरगाह कायल था। वेनिस का मशहूर यात्री मार्को पोलो, जिसके बारे में मैं आगे फिर कुछ लिखूंगा, दो बार कायल गया था—एक बार १२८८ ई० में, और दूसरी बार १२९३ ई० में। इसने लिखा है कि यह 'बहुत बड़ा और भव्य शहर' है, अरब और चीन से आनेवाले जहाज़ों से और व्यापार की हलचलों से भरा रहता है। मार्को खुद चीन से जहाज़ पर आया था।

मार्को ने यह भी लिखा है कि भारत के पूर्वी समुद्र तट पर महीन-से-महीन मलमलें बनती थीं, जो 'मकड़ी के जाले की तरह मालूम होती थीं'। मार्को यह भी ज़िक्र करता है कि मद्रास के उत्तर में पूर्वी किनारे के तेलुगु देश की रानी रुद्रमणि-देवी नामक एक महिला थी। इसने ४० वर्ष राज किया। मार्को ने इसकी बड़ी तारीफ़ की है।

मार्को ने एक दूसरी दिलचस्प बात हमें यह बताई है कि अरब और ईरान से समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत में घोड़े खूब आया करते थे। दक्षिण की आबहवा घोड़ों की नस्ल के लिए अच्छी नहीं थी। कहते हैं, भारत पर हमला करनेवाले मुसलमान इसी कारण बेहतर लड़ाकू होते थे कि उनके पास ज्यादा अच्छे घोड़े हुआ करते थे। एशिया के सबसे बढ़िया घोड़े पैदा करनेवाले इलाक़े मुसलमानों के ही क़ब्ज़े में थे।

इस तरह तेरहवीं सदी में, जब चोलों का पतन हुआ, तब पाण्ड्य राज्य प्रमुख तमिल शक्ति था। चौदहवीं सदी के शुरू में, यानी १३१० ई० में, मुसलमानों के हमले की नोक दक्षिण तक पहुँच गई। यह नोक पाण्ड्य राज्य में घुस गई और वह तेज़ी के साथ ढह गया।

मैंने इस पत्र में दक्षिण भारत के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डाली है और शायद, जो कुछ पहले कह चुका हूँ, उसे दुहरा दिया है। लेकिन यह विषय कुछ चकरानेवाला है और लोग-बाग पल्लव, चालुक्य, चोल, वग़ैरा नामों की भूल-भुलैयाँ में फँस जाते हैं। लेकिन अगर तुम सब पर एक साथ नज़र डालोगी तो इतिहास का यह मोटा ढाँचा तुम्हारे दिमाग में ठीक बैठ जायगा। तुम्हें याद होगा कि दक्षिण के छोटे-से सिरे को छोड़कर अशोक सारे भारत पर, अफ़ग़ानिस्तान पर और मध्य एशिया के एक हिस्से पर राज करता था। उसके बाद दक्षिण में आन्ध्रों की ताक़त बढ़ी, जो ठेठ दक्षिण तक फैल गये और करीब ४०० वर्षों तक बने रहे। करीब उसी वक़्त कुषाणों का सरहदी साम्राज्य उत्तर में फैला हुआ था। जब तैलंगी आन्ध्रों का पतन हुआ तब पूर्वी समुद्र तट पर और दक्षिण में तमिल पल्लवों का ज़ोर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ और इन्होंने बहुत दिनों तक राज किया और मलेशिया में अपने उपनिवेश बसाये; ६०० वर्षों के बाद चोलों के हाथ में हुकूमत आई और इन्होंने दूर-दूर के देश जीते और अपनी जल-सेनाओं से समुद्र खूंद डाला। तीन सौ वर्ष बाद ये भी बिदा हुए और पाण्ड्य राज्य आगे बढ़ा। इसकी राजधानी मदुरा सभ्यता का केन्द्र बन गई और कायल एक बड़ा बन्दरगाह बन गया, जिसका सम्बन्ध दूर-दूर देशों से रहता था।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे में हुई। पश्चिम में महाराष्ट्र देश में चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटों के बाद दुबारा फिर चालुक्य हुए।

लेकिन ये तो सिर्फ़ नाम हैं। विचार करने की बात तो यह है कि ये राज्य कितने लम्बे-लम्बे कालों तक क़ायम रहे और सभ्यता के कितने ऊँचे दर्जे तक पहुँच गये। इन राज्यों में कोई अन्दरूनी बल था, जिसने, मालूम होता है यूरोप के राज्यों के मुक़ाबले इन्हें ज़्यादा मज़बूती और शान्ति दी। लेकिन उनका समाजी ढाँचा अपनी उम्र पूरी कर चुका था और उसकी मज़बूती ख़त्म हो चुकी थी। यह बहुत जल्दी, चौदहवीं सदी की शुरुआत में जब मुसलमानी सेनाएँ दक्षिण की तरफ़ बढ़ीं, लड़खड़ाकर गिर जानेवाला था।

: ६६ :

दिल्ली के ग़ुलाम-वंशी बादशाह

२४ जून, १९३२

मैंने सुलतान महमूद ग़ज़नवी के बारे में तुम्हें बताया है और कवि फ़िरदौसी के बारे में भी कुछ कहा है, जिसने महमूद के कहने पर फ़ारसी में शाहनामा लिखा था। लेकिन मैंने तुमसे अभी तक महमूद के ज़माने के एक दूसरे मशहूर आदमी के बारे में कुछ नहीं कहा, जो महमूद के साथ पंजाब आया था। यह अलबेरूनी नामक विद्वान् और विद्याव्यसनी व्यक्ति था, जो उस ज़माने के खूँख़ार और कट्टर योद्धाओं की तरह बिलकुल नहीं था। इसने सारे भारत की यात्रा की और इस नये देश और यहाँ के निवासियों को समझने की कोशिश की। इसमें भारतीय नज़रिये की ख़ूबियों को समझने की इतनी लगन थी कि इसने संस्कृत सीखी और हिन्दुओं की मुख्य पुस्तकें ख़ुद पढ़ीं। इसने भारतीय दर्शनशास्त्र का और यहाँ पढ़ाये जानेवाले विज्ञान और कला का अध्ययन किया। भगवद्गीता तो इसे बहुत पसन्द आई। यह दक्षिण के चोल-राज्य में गया था और वहाँ सिंचाई की नहरों का इतना बड़ा इन्तज़ाम देखकर अचम्भे में रह गया था। भारत में इसकी यात्राओं का लेखा पुराने ज़माने के उन महान् यात्रा-ग्रन्थों में गिना जाता है, जो अभी तक मिलते हैं। विनाश, मारकाट और मज़हबी वैर की दलदल के बीच यह धीरज-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला विद्याव्यसनी निरीक्षण करता हुआ, सीखता हुआ और यह जानने की कोशिश करता हुआ कि सत्य कहाँ रहता है, अलग खड़ा नज़र आता है।

अफ़ग़ान शहाबुद्दीन के बाद, जिसने पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली में ग़ुलाम-वंशी बादशाह कहलानेवाले सुल्तानों का सिलसिला शुरू हुआ। उनमें सबसे पहला क़ुत्बुद्दीन था। यह शहाबुद्दीन का ग़ुलाम था। लेकिन ग़ुलाम भी ऊँचे पदों पर पहुँच सकते हैं, और वह अपनी कोशिशों से दिल्ली का पहला सुल्तान बन गया। उसके बाद होनेवाले कुछ सुल्तान भी शुरू में ग़ुलाम थे; इसीलिए यह ग़ुलाम-वंश कहलाता है। ये सब-के-सब बड़े ख़ूंख़ार थे। और इमारतों व पुस्तकालयों का विनाश और आतंक इनकी जीतों के साथ-साथ चलते थे। इन्हें इमारतें बनाने का भी शौक़ था और इनका झुकाव बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने की तरफ़ था। क़ुत्बुद्दीन ने क़ुतुब-मीनार बनवानी शुरू की। यह वही बड़ी मीनार है, जो दिल्ली के पास है और जिसे तुम अच्छी तरह जानती हो। उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमश ने इस मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर मेहराब भी बनाये, जो अभी तक मौजूद हैं। इन इमारतों का क़रीब-क़रीब सारा मसाला पुरानी भारतीय इमारतों, ख़ासकर मन्दिरों, से लिया गया था। मिस्त्री तो सारे भारत के ही थे लेकिन, जैसा मैंने तुमसे कहा है, मुसलमानों के साथ आये हुए नये विचारों का इन पर बहुत असर पड़ा था।

महमूद ग़ज़नवी से लगाकर आगे भारत पर हमला करनेवालों में हरेक अपने साथ ढेर-के-ढेर भारतीय कारीगरों और मिस्त्रियों को ले गया। इस तरह मध्य एशिया में भारतीय वास्तुकला का असर फैल गया।

बिहार और बंगाल को अफ़ग़ानों ने बड़ी आसानी से जीत लिया। वे बड़े दिलेर थे और उन्होंने अचानक हमला करके बचाव करनेवालों को सम्भलने का ज़रा भी मौक़ा नहीं दिया। दिलेरी अक्सर कामयाब हो जाती है। बंगाल की यह विजय हमारे लिए उतने ही अचम्भे की बात है, जितनी अमेरिका में कोर्तीज़ और पिज़ारो की जीतें।

इल्तुतमश के ज़माने में ही, यानी १२११ और १२३६ ई० के बीच में, भारत की सरहद पर एक बड़ा भयंकर बादल उठा। यह मंगोलों का दल था, जिसका नेता चंगेज़ख़ां था। चंगेज़ख़ां अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ, ठेठ सिन्ध नदी तक आ गया लेकिन यहीं रुक गया। भारत इससे बच गया। इसके क़रीब २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी—तैमूर भारत में मारकाट और बरबादी लेकर आया। हालाँकि चंगेज़ यहाँ नहीं आया, लेकिन बहुत-से मंगोलों ने भारत पर छापा मारने और ठेठ लाहौर तक भी आ धमकने की आदत-सी डाल ली। कभी-कभी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये आतंक फैलाते थे और सुल्तानों तक को भी इतना डरा देते थे कि वे रिश्वत देकर उनसे अपना पिंड छुड़ाते थे। इनमें से हज़ारों मंगोल पंजाब में ही बस गये।

सुल्तानों में रज़िया नाम की एक औरत भी हुई है। यह इल्तुतमश की बेटी थी। मालूम होता है कि यह बड़ी बहादुर और क़ाबिल औरत थी; लेकिन अपने खूंखार अफ़ग़ान अमीर-सरदारों से, और पंजाब पर हमला करनेवाले उनसे भी ज्यादा खूंखार मंगोलों से, बहुत परेशान रहती थी।

गुलाम बादशाहों का सिलसिला १२९० ई० में ख़तम हो गया। इसके बाद अलाउद्दीन खिलजी आया, जिसने राजगद्दी पर क़ब्ज़ा करने का यह नर्म तरीक़ा अपनाया कि अपने चचा को, जो उसका ससुर भी था, मौत के घाट उतार दिया। और फिर उन सब मुसलमान अमीर-सरदारों को भी मरवा डाला, जिनकी वफ़ादारी में उसे शक था। मंगोलों की साज़िश से डरकर उसने यह हुक्म निकाला कि उसके राज्य में जितने भी मंगोल हों, सब क़त्ल कर दिये जायँ ताकि "उस नस्ल का एक भी आदमी दुनिया के पर्दे पर ज़िन्दा न बचे।" इस तरह बीस-तीस हज़ार मंगोल, जिनमें ज्यादातर तो बिलकुल बेगुनाह ही थे, क़त्ल कर डाले गए।

बार-बार इस तरह के हत्याकाण्डों का ज़िक्र करना मुझे अच्छा नहीं लगता, और इतिहास की ऊँची नज़र में इनका कोई ज्यादा महत्व भी नहीं है। फिर भी इनसे यह समझने में मदद मिलती है कि उस वक़्त उत्तर भारत की हालत न तो निरापद थी और न सभ्य। कुछ हद तक बर्बरता की तरफ़ वापसी थी। एक तरफ़ तो इस्लाम भारत में कुछ प्रगतिशील तत्व लेकर आया, लेकिन दूसरी तरफ़ मुस्लिम अफ़ग़ान बर्बरता का बीज लेकर आये। बहुत-से लोग इन दोनों चीज़ों को मिला देते हैं, लेकिन तुम्हें इन दोनों का फ़र्क़ ध्यान में रखना चाहिए।

अलाउद्दीन दूसरों की तरह तास्सुबी था, लेकिन मालूम होता है कि भारत के इन मध्य-एशियाई शासकों का नज़रिया अब बदल रहा था। वे अब भारत को अपना वतन समझने लग गये थे। अब वे यहाँ अजनबी नहीं रहे थे। अलाउद्दीन ने एक हिन्दू महिला से शादी की और उसके पुत्र ने भी ऐसा ही किया। मालूम होता है अलाउद्दीन के राज में थोड़ी-बहुत कुशल शासन-व्यवस्था क़ायम करने की कोशिश की गई। फ़ौजों के आने-जाने के लिए सड़कें खास तौर से दुरुस्त रक्खी जाती थीं और अलाउद्दीन अपनी फ़ौजों पर खास ध्यान देता था। उसने अपनी फ़ौज को बहुत ताक़तवर बना लिया और उसकी मदद से गुजरात और दक्षिण के बहुत बड़े हिस्से को जीत लिया। उसका सेनापति दक्षिण से बेशुमार दौलत अपने साथ लेकर लौटा। कहते हैं, वह ५०,००० मन सोना, ढेरों मोती और जवाहरात, २०,००० घोड़े और ३१२ हाथी लेकर आया था।

वीर-गाथाओं व वीर-धर्म की भूमि चित्तौड़ में अब भी पहले जैसा साहस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरा था, लेकिन उसका ढँग वही पुराना था और वह युद्ध करने के उन्हीं तरीकों से चिपटा हुआ था, जो बेकार हो चुके थे, इसलिए अलाउद्दीन की कुशल सेना ने उसे कुचल दिया। १३०३ ई० में चित्तौड़ लूट लिया गया। लेकिन ऐसा होने से पहले ही क़िले के पुरुषों और स्त्रियों ने पुराने रिवाज का पालन करके भयंकर जौहर-व्रत कर डाला। इसके अनुसार जब हार सामने हो और दूसरा कोई चारा न रहा हो, तो आख़िरी उपाय यही समझा जाता था कि पुरुषों को मैदान में जाकर लड़ते हुए मर जाना और स्त्रियों को चिता में भस्म हो जाना बेहतर है। यह चीज़ बड़ी भयंकर थी, ख़ासकर स्त्रियों के लिए। अच्छा तो यह था कि स्त्रियाँ भी तलवार हाथ में लेकर निकल पड़तीं और रणक्षेत्र में काम आतीं। लेकिन किसी भी सूरत में ग़ुलामी और ज़िल्लत से मौत बेहतर थी, क्योंकि उस ज़माने में हार का मतलब यही होता था।

इस बीच भारत के रहनेवाले, यानी हिन्दू धीरे-धीरे मुसलमान बनते जा रहे थे। पर तेज़ी से नहीं। कुछ लोगों ने अपना मज़हब इसलिए बदल डाला कि इस्लाम उन्हें अच्छा लगा; कुछ लोगों ने डर के मारे ऐसा किया, और कुछ ने इसलिए कि जीतनेवाले पक्ष की तरफ़ रहने की इच्छा मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन इस धर्म-परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण आर्थिक था। ग़ैर-मुस्लिमों को एक ख़ास टैक्स देना पड़ता था, जो हर आदमी पर लगता था और जज़िया कहलाता था। ग़रीबों के ऊपर यह भारी बोझ था। बहुत-से तो सिर्फ़ इससे बचने के लिए अपना मज़हब बदलने को राज़ी हो जाते थे। ऊँचे वर्ग के लोगों में दरबारी कृपा और ऊँचे ओहदे हासिल करने की लालसा मुसलमान बनने के लिए ज़बरदस्त प्रेरणा थी। अलाउद्दीन का महान् सेनापति मलिक काफ़ूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

मैं तुम्हें दिल्ली के एक दूसरे सुल्तान का हाल बताना चाहता हूँ। यह बड़ा ही अजीब व्यक्ति था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुग़लक़ था। यह फ़ारसी और अरबी का बहुत बड़ा आलिम और कामिल था। इसने फ़लसफ़ा (दर्शनशास्त्र) और मन्तक़ (तर्कशास्त्र) का अध्ययन किया था और यूनानी दर्शन का भी। इसे गणित, विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था। यह बहादुर आदमी था और अपने ज़माने के लिहाज़ से इल्मियत का अनोखा नमूना और एक चमत्कार ही था। लेकिन आखिर फिर भी यह नमूना बेरहमी का दानव था और मालूम होता है कि बिलकुल पागल था! वह अपने ही पिता की हत्या करके तख़्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के बारे में उसके विचार बड़े ही अजीब थे। और उनका नाकामयाब होना क़ुदरती बात थी। लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का फ़ैसला किया कि शहर के कुछ लोगों ने गुमनाम पर्चों में उसकी नीति की आलोचना करने की गुस्ताख़ी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से बदल कर दक्षिण के देवगिरि ले जाई जाय। इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रक्खा। मकान-मालिकों को कुछ हरजाना दिया गया, और इसके बाद हरेक आदमी को, बिना किसी लिहाज़ के, यह हुक्म दिया गया कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड़ दे।

बहुत से लोग शहर छोड़कर चल दिये। कुछ छिप भी गये। जब इनका पता चला तो इन्हें बेरहमी के साथ सज़ा दी गई, हालाँकि इनमें से एक अन्धा था और दूसरा लकवे का मारा था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस दिन का था। इस कूच में लोगों की क्या भयंकर हालत हुई होगी और इनमें से कितने रास्ते में ही ख़त्म हो गये होंगे, इसका ख़याल तो करो!

और दिल्ली शहर का क्या हुआ? दो वर्ष बाद मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा, लेकिन कामयाब न हो सका। एक आँखों देखनेवाले के शब्दों में उसने इसे 'बिलकुल वीराना' बना दिया था। किसी बाग़ को एकदम बयाबान किया जा सकता है, लेकिन बयाबान को फिर बाग़ बनाना आसान नहीं होता। अफ़्रीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ था, दिल्ली वापस आया और उसने लिखा है कि "यह शहर दुनिया के सबसे बड़े शहरों में से एक है। जब हम इस शहर में दाख़िल हुए, हमने इसे उस हालत में पाया, जैसा बयान किया गया है। यह बिलकुल ख़ाली और उजड़ा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे में लिखा है कि यह आठ या दस मील में फैला हुआ था, लेकिन "सब कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी पूरी थी कि शहर की इमारतों, महलों और गलियों में कोई बिल्ली या कुत्ता तक बाक़ी नहीं रहा था।"

यह दीवाना पच्चीस वर्ष तक, यानी १३५१ ई० तक सुलतान बनकर हुकूमत करता रहा। यह देखकर हैरत होती है कि जनता अपने शासकों की कितनी बदमाशी, ज़ुल्म और अयोग्यता को बर्दाश्त कर सकती है! लेकिन जनता की तावेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुग़लक अपने साम्राज्य को तहस-नहस कर डालने में सफल रहा। उसकी पागलपन की योजनाओं ने और भारी टैक्सों ने देश को बर्बाद कर दिया। अकाल पड़े और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी ज़िन्दगी में ही, १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बड़े-बड़े हिस्से आज़ाद हो गये। बंगाल आज़ाद हो गया। दक्षिण में भी कई राज्य पैदा हो गये। इनमें विजयनगर का हिन्दू राज्य मुख्य था, जो १३३६ ई० में क़ायम हुआ और दस वर्ष के अन्दर ही दक्षिण में एक बड़ी शक्ति बन गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली के पास अब भी तुम तुग़लक़ाबाद के खण्डहर देख सकती हो। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

: ६७ :

चंगेज़खां एशिया और यूरोप को हिला डालता है

२५ जून, १९३२

हाल के अपने कई पत्रों में मैंने मंगोलों का ज़िक्र किया है और यह बताया है कि उन्होंने कितना आतंक फैलाया और कितनी बर्बादी मचाई। चीन में हमने मंगोलों के आने के बाद ही सुंङ् राजवंश का क़िस्सा बन्द कर दिया था। पश्चिम एशिया में भी हमारा उनका मुक़ाबला होता है और पुरानी व्यवस्था वहीं खत्म हो जाती है। भारत में ग़ुलाम बादशाह मंगोलों से बच गये, लेकिन फिर भी इन्होंने यहाँ काफ़ी हलचल पैदा कर दी थी। मंगोलिया के इन घुमक्कड़ों ने मानो सारे एशिया को पस्त कर डाला था। सिर्फ़ एशिया को ही नहीं बल्कि आधे यूरोप को भी। ये अद्भुत लोग कौन थे, जो एकदम फट पड़े और जिन्होंने दुनिया को हैरत में डाल दिया? शक, हूण, तुर्क और तातार, सभी मध्य एशिया के थे और इतिहास में नाम पैदा कर चुके थे। इनमें कुछ क़ौमें उस वक़्त भी मशहूर थीं, जैसे पश्चिमी एशिया में सेलजूक़ तुर्क, उत्तरी चीन वग़ैरा में तातारी। लेकिन मंगोलों ने अभी तक कुछ ज्यादा नहीं किया था। पश्चिमी एशिया में शायद इनके बारे में कोई ज्यादा जानता भी नहीं था। इनमें मंगोलिया के कई अनजान क़बीलों के लोग थे और 'किन' तातारियों के अधीन थे, जिन्होंने उत्तरी चीन जीता था।

मालूम होता था कि इनमें एकदम ही कहीं से शक्ति आ गई। इनके बिखरे हुए क़बीले आपस में मिल गये और उन्होंने अपना एक नेता—खान महान्—चुना और उसकी वफ़ादारी और हुक्मबरदारी की क़सम खाई। उसके नेतृत्व में इन्होंने पेकिंग पर धावा मारा और 'किन' साम्राज्य को खत्म कर दिया। ये लोग पश्चिम की ओर भी बढ़े और रास्ते में जितने बड़े-बड़े राज्य मिले, सभी का सफ़ाया कर डाला। ये रूस पहुँचे और उसे परास्त कर दिया। बाद में इन लोगों ने बग़दाद और उसके साम्राज्य का भी नामोनिशान मिटा दिया और ठेठ पोलैण्ड और मध्य-यूरोप तक जा पहुँचे। इनको रोकनेवाला कोई नहीं था। भारत इनसे बच गया यह सिर्फ़ संयोग की बात थी। ज्वालामुखी-जैसे इस विस्फोट पर यूरोप-एशिया के लोगों को जो हैरत हुई होगी, उसकी कल्पना हम अच्छी तरह कर सकते हैं। ऐसा लगता था कि यह भूकम्प की तरह की कोई महान् क़ुदरती आफ़त थी, जिसके सामने मनुष्य कुछ नहीं कर सकता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

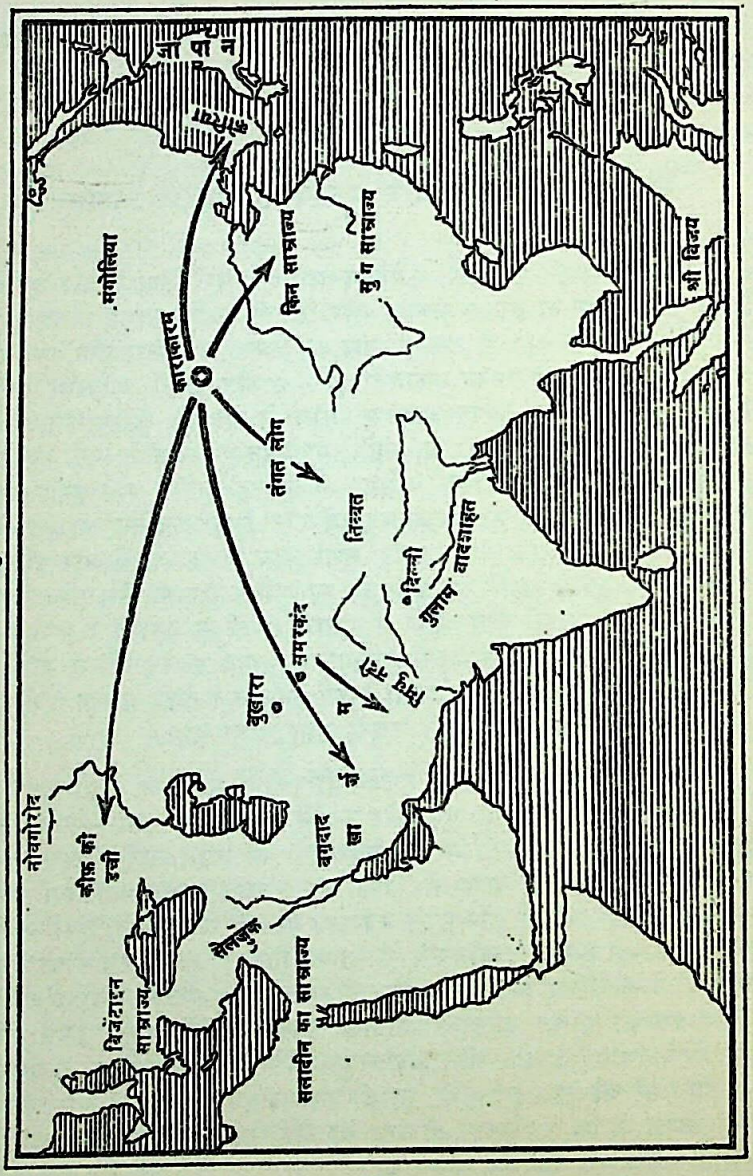

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंगोलिया के ये घुमक्कड़ मर्द और औरतें बड़े मज़बूत थे। तकलीफ़ें झेलने की इन्हें आदत थी और ये लोग उत्तर एशिया के लम्बे-चौड़े मैदानों में तम्बुओं में रहते थे। लेकिन इनकी मज़बूती और कठोर साधना इनके ज़्यादा काम नहीं आती अगर इन्होंने एक सरदार न पैदा किया होता, जो बड़ा ही अनोखा व्यक्ति था। यह वही व्यक्ति है, जो चंगेज़खां के नाम से मशहूर है। यह ११५५ ई० में पैदा हुआ था और इसका असली नाम चिङ्ग-हिर-हान था। इसका पिता येसूगेइ-बग़ातुर इसको बच्चा ही छोड़कर मर गया था। 'बग़ातुर' मंगोल अमीर-सरदारों का लोकप्रिय नाम था। इसका अर्थ है 'वीर' और मेरा ख़याल है कि उर्दू का 'बहादुर' शब्द इसी से निकला है।

हालाँकि चंगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का ही था और उसका कोई मददगार नहीं था, फिर भी वह ज़ोर मारता चला गया, और आख़िर में कामयाब हुआ। वह क़दम-क़दम आगे बढ़ता गया, यहाँ तक कि अन्त में मंगोलों की बड़ी सभा 'कुरुलतइ' ने बैठक करके उसे अपना 'ख़ान महान्' या 'काग़न' या सम्राट् चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चंगेज़ का नाम दिया जा चुका था।

'मंगोलों का गुप्त इतिहास' पुस्तक में, जो तेरहवीं सदी में लिखी गई थी और चौदहवीं सदी में चीन में प्रकाशित हुई, इस चुनाव का हाल इस तरह से बयान किया हुआ है—

> "इस तरह 'चीता' नामक साल में, जब नमदे के तम्बुओं में रहनेवाली सारी पीढ़ियाँ एक सत्ता की मातहती में मिलकर एक हो गईं, तब अनान नदी के निकास पर वे सब जमा हुए और 'नौ पैरों' पर अपने 'सफ़ेद झंडे' को खड़ा करके उन्होंने चंगेज़ को 'काग़न' की उपाधि प्रदान की।"

चंगेज़ जब 'ख़ान महान्' या 'काग़न' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नहीं थी और इस उम्र पर पहुँचकर ज़्यादातर आदमी चैन और आराम चाहते हैं। लेकिन उसके लिए तो यह विजय-यात्रा के जीवन की शुरुआत थी। यह ग़ौर करने की बात है; क्योंकि ज़्यादातर महान् विजेताओं ने मुल्कों को जीतने का काम जवानी में ही पूरा किया है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज़ ने जवानी के जोश में एशिया को नहीं रौंद डाला था। वह अधेड़ उम्र का एक होशियार और सावधान आदमी था और हर बड़े काम को हाथ में लेने से पहले उस पर विचार और उसकी तैयारी कर लेता था।

मंगोल लोग घूमक्कड़ थे। शहरों और शहरों के रंग-ढंग से भी उन्हें नफ़रत थी। बहुत लोग समझते हैं कि चूंकि वे घुमक्कड़ थे, इसलिए जंगली रहे होंगे। लेकिन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ख़याल ग़लत है। शहर की बहुत-सी कलाओं का उन्हें अलबत्ता ज्ञान नहीं था; लेकिन उन्होंने ज़िन्दगी का अपना एक अलग तरीक़ा ढाल लिया था और उनका संगठन बहुत गुंथा था। लड़ाई के मैदान में अगर उन्होंने बड़ी-बड़ी जीतें हासिल कीं तो संख्या में ज्यादा होने की वजह से नहीं, बल्कि अपने अनुशासन और संगठन की वजह से। और इसकी सबसे बड़ी वजह तो यह थी कि उन्हें चंगेज़ जैसा कामिल कप्तान मिला था। इसमें कोई शक नहीं कि चंगेज़ इतिहास का सबसे बड़ा सैनिक प्रतिभावाला व्यक्ति और सैनिक नेता था। सिकन्दर और सीज़र इसके सामने तुच्छ नज़र आते हैं। चंगेज़ न सिर्फ़ खुद बहुत बड़ा सेनापति था, बल्कि उसने अपने बहुत-से फ़ौजी अफ़सरों को सिखाकर होशियार नेता बना दिया था। अपने वतनों से हज़ारों मील दूर होते हुए, दुश्मनों और विरोधी आबादी से घिरे रहते हुए भी, वे अपने से ज्यादा संख्या की फ़ौजों के मुक़ाबले में जीत की लड़ाइयाँ लड़ा करते थे।

जब चंगेज़ एशिया और यूरोप में डग भरता हुआ आया, तब इन देशों का क्या नक़शा था? मंगोलिया के पूर्व और दक्षिण में चीन दो टुकड़ों में बँटा हुआ था। दक्षिण में सुंङ्-साम्राज्य था, जहाँ दक्षिणी सुंङों का राज था; उत्तर में 'किन' या 'सुनहले तातारियों' का साम्राज्य था, जिनकी राजधानी पेकिंग थी और जिन्होंने सुंङों को निकाल बाहर किया था; पश्चिम में गोबी के रेगिस्तान पर, और उसके परे, हिसिया या तांङ-तों का साम्राज्य था। यह भी घुमक्कड़ों का राज्य था। भारत में हम देखते हैं कि दिल्ली में गुलाम बादशाहों की हुकूमत थी। ईरान और इराक़ में ठेठ भारत की सरहद तक फैला हुआ खारज़म या खीवा का महान् मुसलमानी राज्य था, जिसकी राजधानी समरक़न्द थी। इसके पश्चिम में सेलजूक थे और मिस्र और फ़िलस्तीन में सलादीन के उत्तराधिकारियों का राज था। बग़दाद के चारों ओर, सेलजूकों की निगरानी में खलीफ़ा राज करता था।

यह वह ज़माना था जब बाद के क्रूसेड चल रहे थे। होहेनस्तॉफ़ेन वंश का फ़ैडरिक द्वितीय, जिसे 'दुनिया का आश्चर्य' कहा गया है, पवित्र रोमन-साम्राज्य का सम्राट् था। इंग्लैण्ड में मैग्नाकार्टा और उसके बाद की घटनाओं का ज़माना था। फ़ान्स में लुई नवम राज करता था, जो क्रूसेडों में गया था और जिसे वहाँ तुर्कों ने पकड़ लिया था और मुक्ति-धन लेकर छोड़ा था। पूर्वी यूरोप में रूस था, जो दो राज्यों में बँटा हुआ था—उत्तर में नोवगोरोद और दक्षिण में कौफ़। रूस और रोमन साम्राज्य के बीच में हंगरी और पोलैण्ड थे। बिज़ैन्तीन साम्राज्य क़ुंस्तुन्तुनिया के आसपास अभी तक बना हुआ था।

चंगेज़ ने बड़ी सावधानी के साथ अपनी विजय-यात्रा की तैयारियाँ कीं। उसने अपनी फ़ौज को शिक्षित किया। सबसे ज्यादा इसने अपने घोड़ों को और उनके मरते ही उनकी जगह लेनेवाले दूसरे घोड़ों को शिक्षित किया था। क्योंकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घुमक्कड़ों के लिए घोड़ों से ज्यादा महत्व की चीज़ कोई नहीं है। इन सब तैयारियों के बाद उसने पूर्व की तरफ़ कूच किया और उत्तर चीन व मंचूरिया के 'किन' साम्राज्य को क़रीब-क़रीब खत्म कर दिया और पेकिंग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि दक्षिणी सुंडों को उसने दोस्त बना लिया था। इन सुंडों ने 'किन' लोगों के खिलाफ़ उसकी मदद भी की थी। बेचारे यह नहीं समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चंगेज़ ने बाद में तांङ्तों को भी जीत लिया।

इन विजयों के बाद चंगेज़ आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर धावा मारने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह खारज़म के शाह से दोस्ती का सम्बन्ध रखना चाहता था, लेकिन यह हो नहीं पाया। एक पुरानी लातीनी कहावत है, जिसका मतलब है कि देवता जिसे नष्ट करना चाहते हैं पहले उसे दीवाना बना देते हैं।[1] खारज़म का बादशाह अपनी ही बर्बादी पर तुला हुआ था और इसे पूरा करने के लिए उसने भरसक कोशिश की। उसके एक सूबे के हाक़िम ने मंगोल सौदागरों को क़त्ल कर दिया। चंगेज़ फिर भी सुलह चाहता था और उसने यह सन्देश लेकर राजदूत भेजे कि उस हाक़िम को सज़ा दी जाय। लेकिन बेवक़ूफ़ शाह इतना घमंडी था और अपने को इतना बड़ा समझता था कि उसने इन राजदूतों का अपमान किया और उनको मरवा डाला। चंगेज़ इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था, लेकिन उसने जल्दबाज़ी से काम नहीं लिया। उसने सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ़ अपनी फ़ौज के साथ कूच कर दिया।

इस कूच ने, जो १२१९ ई० में शुरू हुई, एशिया की, और कुछ हद तक यूरोप की आंखें इस नये आतंक की तरफ़ खोल दीं, जो बड़े भारी बेलन की तरह शहरों और करोड़ों आदमियों को बेरहमी के साथ कुचलता हुआ चला आ रहा था। खारज़म का साम्राज्य मिट गया। बुखारा का बड़ा शहर, जिसमें बहुत-से महल थे और दस लाख से ज्यादा आबादी थी, जलाकर राख कर दिया गया। राजधानी समरक़न्द नष्ट कर दी गई और उसकी दस लाख की आबादी में से सिर्फ़ ५० हज़ार ज़िन्दा बचे। हिरात, बलख़ और दूसरे बहुत-से गुलज़ार शहर नष्ट कर दिये गए। करोड़ों आदमी मार डाले गए। जो कलाएँ और दस्तकारियाँ वर्षों से मध्य-एशिया में फूल-फल रही थीं, ग़ायब हो गईं। ईरान और मध्य एशिया में सभ्यता की ज़िन्दगी का खातमा—सा हो गया। जहाँ से चंगेज़ गुज़रा, वहाँ वीराना हो गया।

---

[1] तुलसीदास ने भी कहा है—
'जाको प्रभु दारुन दुख देहीं, ताकी मति पहिले हर लेहीं।'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख़ारज़म (ख़ीवा) के बादशाह का बेटा जलालुद्दीन इस तूफ़ान के ख़िलाफ़ बहादुरी से लड़ा। वह पीछे हटते-हटते सिन्ध नदी तक चला आया और जब यहाँ भी इस पर ज़ोर का दबाव पड़ा तो कहते हैं कि वह घोड़े पर बैठा हुआ, ३० फ़ुट नीचे सिन्ध नदी में कूद पड़ा और तैरकर इस पार आ गया। उसे दिल्ली के दरबार में आसरा मिला। चंगेज़ ने वहाँ तक उसका पीछा करना फ़िज़ूल समझा।

सेलजूक तुर्कों का और बग़दाद का सौभाग्य था कि चंगेज़ ने इनको बिना छेड़े छोड़ दिया और वह उत्तर में रूस की तरफ़ बढ़ गया। उसने कीफ़ के ग्रैंड ड्यूक को हराकर क़ैद कर लिया। फिर वह हिसियों या तांङतों के बलवे को दबाने के लिए पूर्व की तरफ़ लौट गया।

चंगेज़ १२२७ ई० में ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काला सागर से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। और वह अब भी ज़ोरदार था और बढ़ रहा था। चंगेज़ की राजधानी अभी तक मंगोलिया में क़राक़ुरम नामक छोटा-सा क़स्बा थी। घुमक्कड़ होते हुए भी चंगेज़ बड़ा ही कुशल संगठन करनेवाला था और उसने बुद्धिमानी के साथ अपनी मदद के लिए योग्य मंत्री मुक़र्रर कर रखे थे। इतनी तेज़ी के साथ जीता हुआ उसका साम्राज्य उनके मरने पर टूटा नहीं।

अरबी और ईरानी इतिहास-लेखकों की नज़र में चंगेज़ एक दानव है और 'ख़ुदा का क़हर' कहा गया है। उसे बड़ा ज़ालिम आदमी बताया गया है। इसमें शक नहीं कि वह बड़ा ज़ालिम था, लेकिन उसके ज़माने के दूसरे बहुत-से शासकों में और उसमें कोई ज़्यादा फ़र्क नहीं था। भारत में अफ़ग़ान बादशाह कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे। जब ग़ज़नी पर अफ़ग़ानों ने ११५० ई० में क़ब्ज़ा किया तो पुराने ख़ून का बदला लेने के लिए उस शहर को लूटा और जला दिया। सात दिन तक "लूट-मार, बर्बादी और मारकाट जारी रही। जो मर्द मिला, उसे क़त्ल कर दिया गया और तमाम स्त्रियों और बच्चों को क़ैद कर लिया गया। महमूदी बादशाहों (यानी सुलतान महमूद के वंशजों) के महल और इमारतें, जिनकी दुनिया में कोई होड़ नहीं थी, नष्ट कर दिये गए।" मुसलमानों का अपने मुसलमान-बिरादरों के साथ यह बर्ताव था! इस बर्ताव के, और यहाँ भारत में जो-कुछ अफ़ग़ान बादशाहों ने किया उसके, और मध्य एशिया और ईरान में चंगेज़ की सत्यानाशी कार्रवाई के, दर्जों में कोई फ़र्क नहीं था। चंगेज़ ख़ारज़म से ख़ास तौर पर नाराज़ था, क्योंकि शाह ने उसके राजदूत को क़त्ल करवा दिया था। उसके लिए तो यह ख़ूनी-झगड़ा-जैसा था। और दूसरी जगहों पर भी चंगेज़ ने ख़ूब सत्यानाश किया था, लेकिन शायद उतना नहीं जितना मध्य एशिया में।

शहरों को यों बर्बाद करने के पीछे चंगेज़ की एक और भी नीयत थी। उसमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घुमक्कड़ों की तबीयत थी और वह क़स्बों और शहरों से नफ़रत करता था। वह खुले मैदानों में रहना पसन्द करता था। एक दफ़ा तो चंगेज़ के मन में यह विचार आया कि चीन के सारे शहर बर्बाद कर दिये जायँ तो अच्छा हो! लेकिन खुश-क़िस्मती कहिये कि उसने ऐसा किया नहीं। उसका विचार था कि सभ्यता को घुमक्कड़-ज़िन्दगी से मिला दिया जाय। लेकिन न तो यह सम्भव था और न है।

चंगेज़खाँ के नाम से तुम्हें शायद यह ख़याल हो कि वह मुसलमान था; लेकिन वह मुसलमान नहीं था। यह एक मंगोल नाम है। मज़हब के मामले में चंगेज़ बड़ा उदार था। उसका अपना मज़हब अगर कुछ था तो शमा-धर्म था, जिसमें सदा रहनेवाले नीले आसमान की उपासना थी। अक्सर वह चीन के ताओ-ज्ञानियों से खूब बातें किया करता था। लेकिन वह खुद शमा-धर्म पर ही क़ायम रहा और जब कठिनाई में होता तब आसमान का ही आसरा लिया करता था।

तुमने इस पत्र के शुरू में पढ़ा होगा कि चंगेज़ को मंगोलों की सभा ने ख़ान महान् 'चुना' था। यह सभा असल में सामन्तों की सभा थी, जनता की नहीं। यों चंगेज़ इस फ़िरक़े का सामन्ती सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा नहीं था, और उसके तमाम अनुयायी भी उसी की तरह थे। शायद वह बहुत दिनों तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ होती है। सन्देश ज़बानी भेजे जाते थे और आमतौर पर छन्द में रूपकों या कहावतों के रूप में होते थे। ताज्जुब तो यह है कि ज़बानी सन्देशों से किस तरह इतने बड़े साम्राज्य का कारोबार चलाया जाता था। जब चंगेज़ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज़ होती है, तो उसने फ़ौरन ही महसूस कर लिया कि यह बड़ी फ़ायदेमन्द चीज़ है और उसने अपने पुत्रों और मुख्य सरदारों को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया था कि मंगोलों का पुराना रिवाजी क़ानून और उसकी अपनी उक्तियाँ भी लिख डाली जायँ। मुराद यह थी कि यह रिवाजी क़ानून सदा-सर्वदा के लिए 'कभी न बदलनेवाला क़ानून' है, और कोई इसे तोड़ नहीं सकता। बादशाह के लिए भी इसका पालन करना ज़रूरी था। लेकिन यह 'कभी न बदलनेवाला क़ानून' अब खो गया है और आजकल के मंगोलों को न तो इसकी कोई याद है और न इसकी कोई परम्परा ही बाक़ी रही है।

हरेक देश और हरेक मज़हब का पुराना रिवाजी क़ानून और लिखित क़ानून होता है और हरेक समझता है कि यही 'कभी न बदलनेवाला क़ानून' हमेशा क़ायम रहेगा। कभी-कभी इसे ईश्वरीय ज्ञान कहा जाता है और जो ज्ञान ईश्वर ने भेजा है, उसे बदलनेवाला या क्षणिक नहीं माना जा सकता। लेकिन क़ानून तो तत्कालीन परिस्थिति के माफ़िक़ बनाये जाते हैं और उनकी मंशा यह होती है कि उनकी मदद से हम अपनी उन्नति कर सकें। अगर परिस्थिति बदल जाती है तो पुराने क़ानून उसमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कैसे फ़िट हो सकते हैं? परिस्थिति के साथ क़ानूनों में भी परिवर्तन होना चाहिए; वरना ये लोहे की ज़ंजीरों की तरह हमें जकड़ रखते हैं और दुनिया आगे बढ़ती चली जाती है। कोई भी क़ानून अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। यह ज़रूरी है कि उसका आधार ज्ञान पर हो, और ज्यों-ज्यों ज्ञान की उन्नति हो त्यों-त्यों क़ानून को भी उसके साथ उन्नति करनी चाहिए।

चंगेज़खाँ के बारे में मैंने तुम्हें जितनी तफ़सील और जितनी बातें बताईं हैं उतनी शायद ज़रूरी नहीं थीं। लेकिन इस आदमी ने मुझे बहुत मोहित किया है। कितने ताज्जुब की बात है कि एक खानाबदोश जंगली क़ौम का यह खूँखार, क्रूर और हिंसक सामन्ती सरदार मेरे-जैसे शान्तिप्रिय, अहिंसक और नर्म आदमी को मोहित करे, जो शहरों में रहनेवाला और सामन्ती चीज़ से नफ़रत करनेवाला है।

: ६८ :

मंगोलों का दुनिया पर छा जाना

२६ जून, १९३२

चंगेज़खाँ की मृत्यु के बाद उसका लड़का ओग़ोतइ 'ख़ान महान्' हुआ। चंगेज़ और उस ज़माने के मंगोलों के मुक़ाबले में वह दयावान और शान्तिप्रिय स्वभाव का था। वह कहा करता था: "हमारे काग़न चंगेज़ ने बड़ी मेहनत से हमारे शाही ख़ानदान को बनाया है। अब वक़्त आ गया है कि हम अपने लोगों को चैन व ख़ुशहाली दें और उनकी मुसीबतों को कम करें।" ओग़ोतइ किस तरह सामन्ती सरदार की हैसियत से अपने फ़िरक़े की बात सोचता था यह ध्यान देने की चीज़ है।

लेकिन विजय का युग ख़त्म नहीं हुआ था और मंगोलों में अभी तक शक्ति उबल रही थी। महान् सेनापति सबूतई के नेतृत्व में यूरोप पर दूसरी बार हमला हुआ। यूरोप की सेनाएँ और सेनापति, सबूतई के मुक़ाबले में कुछ नहीं थे। शत्रु-देशों के हाल-चाल लाने के लिए जासूस और हरकारे भेजकर वह सावधानी के साथ ज़मीन तैयार कर लेता था। इसलिए आगे बढ़ने से पहले उसे उन देशों की राजनीतिक और फ़ौजी हैसियत की पूरी जानकारी रहती थी। रण-क्षेत्र में वह युद्ध-कला का उस्ताद था और यूरोप के सेनापति उसके मुक़ाबले में नौसिखिये नज़र आते थे। सबूतई सीधा रूस चला गया और उसने दक्षिण-पश्चिम में बग़दाद और सेलजूक़ों को नहीं छेड़ा। छः वर्ष तक वह मास्को, कीफ़, पोलैण्ड, हंगरी और क्राकाऊ को लूटता-पाटता और नष्ट करता हुआ लगातार आगे बढ़ता चला गया। १२४१ ई० में मध्य यूरोप के निचले साइलेशिया में लिबनित्स पर पोलैण्ड और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जर्मनी की एक फ़ौज का बिलकुल सफ़ाया कर दिया गया। मालूम होता था कि सारे यूरोप का फ़ैसला होनेवाला है। मंगोलों को रोकनेवाला कोई नहीं दिखाई देता था। फ़्रेडरिक द्वितीय, जो 'दुनिया का आश्चर्य' कहलाता था, मंगोलिया से निकलकर आये हुए इस असली आश्चर्य के सामने ज़रूर डर के मारे पीला पड़ गया होगा। यूरोप के बादशाह और शासक हक्का-बक्का हो रहे थे कि अचानक उन्हें राहत मिल गई, जिसकी कोई आशा ही नहीं थी।

ओग़ोतइ की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी के बारे में कुछ झगड़ा खड़ा हो गया। इसलिए यूरोप में जो मंगोल फ़ौजें थीं, वे बिना हारी हुई भी पीछे लौट पड़ीं और १२४२ ई० में पूर्व की ओर अपने वतन को चल दीं। यूरोप की फिर जान-में-जान आई।

इसी बीच मंगोल चीन भर में फैल चुके थे, और उत्तर में किनों को और दक्षिण चीन में सुंङों को भी उन्होंने बिलकुल खत्म कर दिया था। १२५२ ई० में मंगूख़ाँ 'ख़ान महान्' बना और उसने कुबलइ को चीन का हाकिम मुक़र्रर किया। क़राकुरम में, मंगू के दरबार में, एशिया और यूरोप से लोगों की भीड़ आया करती थी। 'ख़ान महान्' घुमक्कड़ों की तरह, अभी तक तम्बुओं में ही रहता था। लेकिन ये तम्बू बहुत शानदार होते थे और वे महाद्वीपों की दौलत और लूट के माल से भरे रहते थे। सौदागर, खासकर मुसलमान, आते थे और मंगोल उनसे खूब माल खरीदते थे। ज्योतिषी, कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग जो उस ज़माने के विज्ञान में दख़ल रखते थे, तम्बुओं के इस शहर में जमा हुआ करते थे। ऐसा लगता था कि मानो इस शहर का रौब सारी दुनिया पर छाया हुआ है। इस लम्बे-चौड़े मंगोल साम्राज्य भर में, एक हद तक, शान्ति और व्यवस्था थी। महाद्वीपों के बीच के क़ारवानी रास्ते इधर-से-उधर आने-जानवाले लोगों से भरे रहते थे। यों एशिया और यूरोप एक-दूसरे के ज़्यादा सम्पर्क में आ गये थे।

और फिर क़राकुरम की ओर मज़हबी लोगों की दौड़ मची हुई थी। उनमें से हरेक चाहता था कि यह संसार-विजेता खास उसी का मज़हब क़बूल कर लें। जो मज़हब इन सत्ताधारी लोगों को अपनी तरफ़ मिला लेने में कामयाब होता वह खुद भी ज़रूर शक्तिशाली बन जाता और दूसरे तमाम मज़हबों पर फ़तह हासिल कर लेता। पोप ने रोम से अपने एलची भेजे; नस्तोरियन ईसाई आये; मुसलमान भी वहाँ पहुँचे और बौद्ध भी। मंगोलों को कोई नया मज़हब क़बूल करने की जल्दी नहीं थी क्योंकि वे लोग कोई बहुत ज्यादा मज़हबी नहीं थे। कहते हैं कि एक बार 'ख़ान महान्' के ईसाइयत क़बूल करने का इरादा था, लेकिन वह पोप के दावों को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था। आखिर मंगोल लोग उन्हीं इलाकों के मज़हबों की धार में पड़ गये, जहाँ-जहाँ वे बस गये थे। चीन और मंगोलिया के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्यादातर मंगोल बौद्ध हो गये; मध्य एशिया के मुसलमान बन गये, और शायद रूस और हंगरी के कुछ मंगोल ईसाई हो गये।

रोम के वैतिकन[1] में, पोप के पुस्तकालय में, अभी तक 'खान महान्' (मंगू) का पोप के नाम एक असली पत्र रक्खा हुआ है। यह पत्र अरबी भाषा में है। मालूम होता है कि पोप ने ओग़ोतइ के मरने के बाद नये खान के पास अपना दूत यह चेतावनी लेकर भेजा था कि वह यूरोप पर फिर हमला न करे। खान ने जवाब दिया था कि उसने यूरोप पर इसलिए हमला किया था कि यूरोपवासियों ने उसके साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया था।

मंगू के ज़माने में फ़तह और बर्बादी की एक लहर फिर चली। उसका भाई हलाकू ईरान का हाकिम था। बग़दाद के ख़लीफ़ा की किसी बात पर खीझकर उसने उसके पास एक सँदेसा भेजा, जिसमें अपने वादे पूरे न करने पर उसे फटकारा और चेतावनी दी कि आगे से अपना ढंग ठीक रक्खे वरना अपना साम्राज्य खो बैठेगा। ख़लीफ़ा कोई बहुत अक़्लमन्द आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से फ़ायदा उठाना ही जानता था। उसने चुनौतीभरा जवाब भेजा और बग़दाद के लोगों की एक भीड़ ने मंगोली दूतों का अपमान भी किया। इस पर हलाकू का मंगोली खून उबल पड़ा। तैश में आकर उसने बग़दाद पर धावा बोल दिया और चालीस दिन के घेरे के बाद उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। अलिफ़लैला के शहर बग़दाद का यहीं अन्त हो गया और साम्राज्य के ५०० वर्षों में यहाँ जो बेशुमार ख़ज़ाना इकट्ठा हो गया था वह भी ख़त्म हुआ। ख़लीफ़ा और उसके बेटे और नज़दीकी रिश्तेदार मार डाले गए। यह हत्याकाण्ड हफ़्तों तक जारी रहा, यहाँ तक कि दजला नदी का पानी मीलों तक खून से लाल हो गया। कहते हैं कि पन्द्रह लाख आदमी मारे गये। कला और साहित्य के बेशक़ीमती भ डार और पुस्तकालय सब नष्ट कर दिये गए। बग़दाद बिलकुल बर्बाद हो गया। पश्चिमी एशिया की प्राचीन सिंचाई व्यवस्था, जो हज़ारों वर्ष पुरानी थी, हलाकू ने नष्ट कर दी।

यही हाल अलप्पो, अदिस्सा और दूसरे शहरों का हुआ। पश्चिमी एशिया पर रात जैसा अँधेरा छा गया। उस ज़माने का एक इतिहासकार लिखता है कि "यह ज़माना विज्ञान और नेकी के लिए अकाल का था।" फ़िलस्तीन को भेजी गई एक मंगोली फ़ौज को मिस्र के सुलतान बेबर ने हरा दिया। इस सुलतान का एक मज़ेदार उपनाम 'बन्दूकदार' था क्योंकि उसके पास बन्दूकचियों का एक फ़ौजी दस्ता था। अब हम उस ज़माने तक पहुँच गये हैं जब तोप-बन्दूकों का इस्तेमाल शुरू हो गया था। चीनी लोग बहुत दिनों से बारूद बनाना जानते थे। मंगोलों ने

[1] वैतिकन (Vatican)—रोम में पोप के महल, जो सुन्दर कारीगरी के नमूने हैं तथा जिनमें बड़ा भारी पुस्तकालय और संग्रहालय है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शायद इसे चीनियों से सीखा और सम्भव है कि इन लोगों को बारूदी हथियारों की वजह से अपनी जीतों में सहायता मिली हो। मंगोलों के ज़रिये ही तोप-बन्दूक वग़ैरा बारूदी हथियार यूरोप में पहुँचे।

१२५८ ई० में बग़दाद की बर्बादी ने आख़िरी तौर पर बचे-खुचे अब्बासिया साम्राज्य का भी अन्त कर दिया। पश्चिम एशिया में अरब की अपनी ख़ास सभ्यता का यहीं अन्त हो गया। दूर दक्षिण के स्पेन में ग्रैनडा अभी तक अरबी परम्परा पर चल रहा था। यह भी २०० वर्ष बाद ख़त्म हो गया। ख़ुद अरब देश का महत्व भी तेज़ी से घटता गया और वहाँ के लोगों ने इसके बाद इतिहास में कोई बड़ा हिस्सा नहीं लिया। ये लोग कुछ दिनों के बाद उस्मानी तुर्की साम्राज्य के अंग बन गये। १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध में, अंग्रेज़ों के उभाड़ने से, अरबों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ बलवा किया था और तबसे अरब क़रीब-क़रीब स्वाधीन है।

दो वर्षों तक कोई ख़लीफ़ा नहीं रहा। इसके बाद मिस्र के सुलतान बेबर ने आख़िरी अब्बासी ख़लीफ़ा के एक रिश्तेदार को ख़लीफ़ा नामज़द कर दिया। लेकिन उसके हाथ में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं थी, वह सिर्फ़ रूहानी (आध्यात्मिक) सरताज था। तीन सौ साल बाद क़ुस्तुन्तुनिया के तुर्की सुलतान ने ख़लीफ़ा की यह उपाधि भी छीन ली। तबसे तुर्की सुलतान ख़लीफ़ा होते चले आये। लेकिन कुछ ही साल हुए, मुस्तफ़ा कमालपाशा ने सुलतान और ख़लीफ़ा दोनों को ख़त्म कर दिया।

मैं अपनी कहानी से भटक गया। 'ख़ान महान्' मंगू १२६० ई० में मर गया। मरने के पहले वह तिब्बत को जीत चुका था। उसके बाद चीन का हाकिम कुबलई ख़ां 'ख़ान महान्' बना। कुबलइ बहुत दिनों तक चीन में रह चुका था और उसे यह देश पसन्द था। इसलिए उसने अपनी राजधानी क़राक़ुरम से हटाकर पेकिंग में क़ायम की और उसका नाम ख़ानबलिक यानी 'ख़ान का नगर' रक्खा। कुबलइ को चीन के मामलों में इतनी दिलचस्पी थी कि वह अपने बड़े साम्राज्य की तरफ़ से बेपरवाह हो गया और धीरे-धीरे बड़े-बड़े मंगोल हाकिम स्वाधीन हो गये।

कुबलइ ने चीन की विजय पूरी कर ली, लेकिन इसका लड़ाइयों का ढंग पुराने मंगोली ढंग से बहुत जुदा था। इसमें जुल्म और बर्बादी बहुत कम थे। चीन ने कुबलइ को पहले ही मुलायम कर दिया था और उसे सभ्य बना दिया था। चीनी लोगों ने इसे भी अपना लिया और उसके साथ अपने ही आदमी जैसा वर्ताव करने लगे। कुबलइ ने ही युआन राज-वंश, जिसे कट्टर चीनी राजवंश कहना चाहिए, चलाया। उसने तांङ्किङ, अनाम और बरमा अपने राज्य में मिला लिये। उसने जापान और मलेशिया को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन कामयाब नहीं हुआ। क्योंकि मंगोलों को समुद्र-यात्रा की आदत नहीं थी और उनको जहाज़ बनाना भी नहीं आता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंगूखाँ के शासन-काल में, फ़्रान्स के बादशाह लुई नवम का राजदूत-मण्डल एक दिलचस्प सन्देश लेकर आया था। लुई ने यह सुझाव दिया था कि यूरोप की ईसाई शक्तियाँ और मंगोल मिलकर मुसलमानों का मुक़ाबला करें। क्रूसेडों के ज़माने में, जब वह क़ैद कर लिया गया था, तब बेचारे लुई को बहुत बुरे दिन देखने पड़े थे। लेकिन मंगोलों को ऐसी दोस्तियों में कोई दिलचस्पी नहीं थी और न उन्हें इसमें दिलचस्पी थी कि किसी मज़हब के लोगों पर सिर्फ़ मज़हब के नाम पर हमला करें।

फिर वे यूरोप के छोटे-छोटे बादशाहों और राजाओं से क्यों और किसके ख़िलाफ़ दोस्ती करते? उन्हें पश्चिमी यूरोप के राज्यों या मुसलमानी राज्यों की लड़ने की क़ाबलियतों से कोई डर नहीं था। यह तो संयोग की बात थी कि पश्चिमी यूरोप उनसे बच गया था। सेलजूक तुर्कों ने इनके सामने सिर झुका दिया था और इन्हें ख़िराज देते थे। सिर्फ़ मिस्र का सुलतान ही ऐसा था, जिसने मंगोल फ़ौज को हराया था। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि अगर मंगोल सरगर्मी के साथ कोशिश करते तो उसे सीधा कर देते। एशिया और यूरोप के एक सिरे से दूसरे तक शक्तिशाली मंगोल साम्राज्य पसरा हुआ था। मंगोलों की विजयों के मुक़ाबले की इतिहास में कोई चीज़ कभी नहीं हुई और न इतना विशाल साम्राज्य ही कभी हुआ। उस वक़्त तो मंगोल वास्तव में दुनिया के मालिक नज़र आते होंगे। उस समय भारत ही उनसे बचा हुआ था, वह भी सिर्फ़ इसलिए कि मंगोल उस तरफ़ गये नहीं थे। पश्चिमी यूरोप भी, जो क़रीब-क़रीब भारत के बराबर था, इस साम्राज्य से बाहर था। लेकिन ऐसा समझना चाहिए कि ये हिस्से भी मंगोलों की मेहरबानी पर ज़िन्दा थे और इनकी हस्ती भी तभी तक थी जब तक मंगोल इन्हें हज़म करने का इरादा नहीं करते थे। तेरहवीं सदी में ऐसा ही दिखाई देता रहा होगा।

लेकिन मंगोलों की ज़बर्दस्त शक्ति कुछ कम होती हुई मालूम पड़ने लगी और फ़तह करते चले जाने का जोश ठण्डा पड़ने लगा। तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि उस ज़माने में लोग धीरे-धीरे या तो पैदल चलते थे या घोड़ों पर। सफ़र का इससे ज़्यादा तेज़ कोई तरीक़ा नहीं था। मंगोलिया में अपने घर से यूरोप में साम्राज्य की पश्चिमी सरहद तक सफ़र करने में ही फ़ौजों को साल भर लग जाता था। विजय की इनमें इतनी धुन नहीं थी कि वे अपने साम्राज्य में से होकर इतनी ज़बर्दस्त यात्राएँ करते, जबकि लूटमार की कोई गुंजाइश न थी। इसके अलावा लड़ाई में और लूटमार में बार-बार कामयाबियों की वजह से मंगोली सिपाहियों के पास लूट का खूब माल इकट्ठा हो गया था। बहुतों ने तो गुलाम भी रख लिये होंगे। इसलिए वे ठण्डे पड़ गये और संजीदा और अमन-चैन की ज़िन्दगी बिताने लगे। जिसे अपनी ज़रूरत की सब चीज़ें मिल गई हों, वह हमेशा शान्ति और व्यवस्था ही पसन्द करने लगता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशाल मंगोल-साम्राज्य का प्रशासन बड़ा मुश्किल काम रहा होगा। इसलिए ताज्जुब की बात नहीं कि यह टूटने लगा। कुबलइ खाँ १२९२ ई० में मरा। इसके बाद कोई 'खान महान्' नहीं हुआ और साम्राज्य इन पाँच बड़े हिस्सों में बँट गया:

१. चीन का साम्राज्य, जिसमें मंगोलिया, मंचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यह मुख्य भाग था और कुबलइ के युआन राजवंश के अधीन था;

२. 'सुनहले गिरोह' (यह मुग़लों का स्थानीय नाम था) का साम्राज्य। यह बिलकुल पश्चिम में रूस, पोलैण्ड और हंगरी में था;

३. ईरान, इराक़ और मध्य एशिया के एक हिस्से में इलखान साम्राज्य था। इसकी बुनियाद हलाकू ने डाली थी और सेलजूक तुर्क इसे खिराज देते थे;

४. मध्य एशिया में, तिब्बत के उत्तर में चग़तई साम्राज्य था, जिसे महान् तुर्की भी कहते थे;

५. मंगोलिया और 'सुनहले गिरोह' के बीच मंगोलों का साइबेरिया का साम्राज्य था।

हालाँकि विशाल मंगोली साम्राज्य के टुकड़े हो गये थे, लेकिन उसके इन पाँचों भागों में से हरेक बड़ा शक्तिशाली साम्राज्य था।

: ६९ :

महान् यात्री मार्को पोलो

२७ जून, १९३२

मैंने तुमसे क़राकुरम में 'खान महान्' के दरबार का ज़िक्र किया है कि मंगोलों की कीर्ति और उनकी विजयों के जादू से खिंचकर कैसे सैकड़ों सौदागर, कारीगर, विद्वान् और धर्म-प्रचारक वहाँ जमा होने लगे थे। ये लोग इसलिए भी आते थे कि मंगोल इनको बढ़ावा देते थे। ये मंगोल विचित्र आदमी थे, कुछ बातों में बड़े ही कुशल और कुछ बातों में बिलकुल बच्चों जैसे। इनकी खूंख्वारी और बेरहमी दिल हिलानेवाली ज़रूर थी, पर उसमें बचपने की लटक थी। और मेरे ख़याल से इन खूंख्वार रण-बाँकुरों के इस बचपने के स्वभाव ने ही इन्हें इतना आकर्षक बना दिया है। सैकड़ों वर्षों बाद एक मंगोल, या मुग़ल ने, जिस नाम से ये भारत में मशहूर हुए, इस देश को जीता। इसका नाम बाबर था और इसकी माँ चंगेज़ख़ाँ के वंश की थी। भारत जीतने के बाद यह काबुल और उत्तर की ठण्डी-ठ डी हवाओं, फूलों, बग़ीचों और तरबूज़ों के लिए तरसता था। यह मौजी आदमी था और उसने अपने जो संस्मरण लिखे हैं, उनमें तो वह बहुत इन्सानियत-भरा और आकर्षक नमूना नज़र आता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतलब यह कि मंगोल लोग अपने दरबार में विदेशों के यात्रियों को आने के लिए बढ़ावा देते थे। इनमें ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे। तुम्हें याद होगा, मैंने तुमको बताया था कि जसे ही चंगेज़ख़ाँ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ है, उसने फ़ौरन उसका महत्व समझ लिया और अपने अफ़सरों को लिखना सीखने का हुक्म दिया था। इनके दिमाग़ खुले थे, जिनमें सीखने की चाह थी, इसलिए ये दूसरों से सीख सकते थे। कुबलइख़ाँ पेकिंग में बसने और शरीफ़ चीनी सम्राट् बन जाने के बाद ख़ासतौर से विदेशी यात्रियों को बढ़ावा देता था। उसके पास वेनिस से दो व्यापारी आये थे। ये दोनों भाई थे —एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मैफ़ियो पोलो। ये लोग व्यापार की तलाश में ठेठ बुख़ारा तक पहुँच गये थे और वहाँ ईरान में हुलाकू के पास भेजे हुए कुबलइख़ाँ के कुछ दूत इन्हें रास्ते में मिले थे। उन लोगों ने इन दोनों को अपने कारवाँ में शामिल होने को राज़ी कर लिया और इस तरह ये 'ख़ान महान्' के दरबार में पेकिंग पहुँचे।

कुबलइख़ाँ ने निकोलो और मैफ़ियो का अच्छा स्वागत किया। उन्होंने ख़ान को यूरोप, ईसाइयत और पोप के बारे में बताया। उसने इनकी बातों में बहुत दिलचस्पी ज़ाहिर की और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाइयत की तरफ़ झुक रहा है। उसने १२६९ ई० में इन दोनों को यूरोप वापस भेजा और यह सन्देश पोप से कहलाया कि सौ विद्वान्, "सातों कलाओं को जानने वाले चतुर आदमी", जो ईसाइयत को सिद्ध करने में समर्थ हों, उसके यहाँ भेजे जायँ। लेकिन ये दोनों भाई जब यूरोप वापस पहुँचे तो उस समय पोप और यूरोप दोनों की हालत ख़राब थी। ऐसे सौ विद्वान् थे ही नहीं। दो वर्ष ठहरकर ये लोग दो ईसाई साधुओं को साथ लेकर वापस गये। लेकिन इससे भी ज़्यादा महत्व की बात यह है कि ये अपने साथ निकोलो के नौजवान पुत्र मार्को को भी ले गये।

तीनों पोलो अपनी विकट यात्रा पर रवाना हुए और ख़ुश्की के रास्तों से इन्होंने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। यह कितना ज़बर्दस्त सफ़र था। अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय, जिस पर पोलो गये थे, तो क़रीब साल भर लग जायगा। पोलोओं ने कुछ-कुछ ह्यूएनत्सांङ का पुराना रास्ता पकड़ा था। वे फ़िलस्तीन होकर आरमीनिया आये और वहाँ से इराक़ और फिर ईरान की खाड़ी पहुँचे। यहाँ उन्हें भारत के व्यापारी मिले। ईरान पार करके वे बलख पहुँचे, और वहाँ से पहाड़ों को लाँघते हुए काशगर से ख़ुतन और ख़ुतन से लोप-नोर झील, जो चलती-फिरती झील कहलाती है। वहाँ से फिर रेगिस्तान को लाँघते हुए और चीन के खेतों में होते हुए वे पेकिंग पहुँचे। उनके पास एक शाही पासपोर्ट था; यह ख़ुद ख़ान महान् की दी हुई सोने की तख्ती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन रोम के ज़माने में, चीन और सीरिया के बीच क़ारवानों का यही पुराना रास्ता था। कुछ दिन हुए मैंने स्वीडन के मशहूर खोजी और यात्री स्वेन हेडन का गोबी के रेगिस्तान को लांघने का हाल पढ़ा है। वह पेकिंग से पश्चिम की ओर चलकर रेगिस्तान को लांघता हुआ और लोप-नोर झील के पास से निकलता हुआ खुतन और उसके परे गया। उसके पास आजकल की सारी सहूलियतें थीं, फिर भी उसे सफ़र में बड़ी तकलीफ़ और परेशानी हुई फिर ७०० और १३०० वर्ष पहले, जब पोलो और ह्युएनत्सांङ इस रास्ते से गुज़रे होंगे, तब सफ़र की क्या हालत रही होगी! स्वेन हेडेन ने एक दिलचस्प खोज की। उसने यह देखा कि लोप-नोर झील का स्थान बदल गया है। बहुत दिन हुए, चौथी सदी में लोप-नोर में गिरनेवाली तारिन नदी ने अपना बहाव बदल दिया था और रेगिस्तान की बालू ने कुछ ही दिनों में उसके खादर को पाट दिया था। लाउलन का पुराना शहर, जो वहाँ बसा था, बाहरी दुनिया से बिलकुल कट गया था और इसके निवासी शहर को बर्बादी के भरोसे छोड़कर चले गए। झील ने भी इस नदी की वजह से अपनी जगह बदल दी और यही हालत पुराने क़ारवानी और व्यापारी रास्ते की भी हुई। स्वेन हेडेन ने देखा कि हाल ही में, कुछ ही वर्ष हुए, तारिन नदी ने फिर अपना बहाव बदल दिया और अपने पुराने रास्ते पर चली गई। झील ने भी यही किया। तारिन नदी फिर पुराने लाउलन नगर के खण्डहरों के पास से होकर बह रही है और मुमकिन है कि वह पुराना रास्ता, जो १६०० वर्षों से बन्द था, फिर चालू हो जाय। लेकिन ऊँटों की जगह अब मोटरें दौड़ने लगें! इसी वजह से लोप-नोर को 'चलती-फिरती' झील कहते हैं। मैंने तारिन नदी और लोप-नोर के इधर-उधर भटकने का इसलिए ज़िक्र कर दिया कि तुम्हें यह अन्दाज़ा हो जाय कि जल-प्रवाह किस तरह बड़े-बड़े क्षेत्रों को बदल देते हैं और इस तरह इतिहास पर असर डालते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, पुराने ज़माने में मध्य एशिया में बड़ी घनी आबादी थी और यहाँ के निवासियों की एक के बाद एक लहरें मुल्कों को जीतती हुई पश्चिम और दक्षिण की तरफ़ बढ़ी थीं। आजकल यह हिस्सा क़रीब-क़रीब वीरान है, जिसमें शहर बहुत ही कम हैं और आबादी भी बिखरी हुई है। शायद उस वक्त वहाँ ज़्यादा पानी रहा हो और इस वजह से यहाँ बड़ी आबादी की गुज़र होती रही हो। जैसे-जैसे मौसम खुश्क होता गया और पानी कम पड़ता गया, आबादी भी कम होती गई और घटते-घटते बहुत थोड़ी रह गई।

इन लम्बी-लम्बी यात्राओं से एक फ़ायदा था। लोगों को नई-नई भाषा या भाषाएँ सीखने का समय मिल जाता था। तीनों पोलों को वेनिस से पेकिंग तक पहुँचते-पहुँचते साढ़े तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे समय में मार्को को मंगोली भाषा पर पूरा अधिकार हो गया और शायद चीनी भाषा पर भी। मार्को 'खान महान्' का चहेता हो गया और उसने क़रीब सत्रह साल तक उसकी नौकरी की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह हाकिम बना दिया गया और सरकारी कामों पर चीन के हर हिस्से में जाया करता था। हालाँकि मार्को और उसके पिता को घर की याद सताती थी और वे वेनिस वापस जाना चाहते थे, लेकिन खान की इजाज़त हासिल करना आसान नहीं था। आख़िरकार उनको वापस जाने का मौक़ा मिल गया। ईरान में इलखान साम्राज्य के मंगोल शासक की पत्नी मर गई। यह कुबलइ का चचेरा भाई था और फिर शादी करना चाहता था। पर उसकी पहली पत्नी ने उससे यह वादा करा लिया था कि वह अपने फ़िरक़े के बाहर की किसी औरत से शादी न करेगा। इसलिए आरगोन ने (कुबलइ के चचेरे भाई का यही नाम था) एलचियों के ज़रिये कुबलइ खाँ के पास पेकिंग सँदेशा भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने फ़िरक़े की एक स्त्री उसके लिए भेज दे।

कुबलइ खाँ ने एक नौजवान मंगोल राजकुमारी को पसन्द किया और तीनों पोलों को उसके लश्कर के साथ कर दिया, क्योंकि ये अनुभवी यात्री थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहाँ कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा में उन दिनों श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य चल रहा था, लेकिन इसका विस्तार घट रहा था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण भारत आये। दक्षिण भारत में पाण्ड्य राज्य के गुलज़ार बन्दरगाह कायल में मार्को पोलो के आने का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। राजकुमारी, मार्को और उनका लश्कर भारत में काफ़ी दिन ठहरे। मालूम होता है कि इन्हें कोई जल्दी नहीं थी, क्योंकि इन्हें ईरान पहुँचते-पहुँचते दो साल लग गये। लेकिन इस बीच शादी का उम्मीदवार दूल्हा मर चुका था। उसके इन्तज़ार की हद हो गई थी। पर शायद उसकी मौत कोई बहुत बड़ा दुर्भाग्य साबित नहीं हुई। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के पुत्र से हो गई, जो अपने बाप की बनिस्बत उसकी उम्र के अधिक जोड़ का था।

पोलों ने राजकुमारी को तो वहीं छोड़ दिया और ख़ुद क़ुस्तुन्तुनिया होते हुए आगे अपने वतन को चले गए। १२९५ ई० में, यानी घर छोड़ने के २४ वर्ष बाद, वे वेनिस पहुँचे। किसीने उनको नहीं पहचाना। कहते हैं कि अपने पुराने दोस्तों और दूसरे लोगों पर छाप जमाने के लिए उन्होंने एक दावत दी और इस दावत के बीच में ही उन्होंने अपने फटे-पुराने और रुई से भरे कपड़े उधेड़ डाले। फौरन ही क़ीमती जवाहरों—हीरे, माणिक, पन्ना वग़ैरा—के ढेर-के-ढेर उनके कपड़ों में से निकल पड़े और मेहमान हैरत में आ गये। फिर भी पोलों की कहानियों पर, चीन और भारत में उनकी आप-बीती पर, बहुत कम लोगों ने यक़ीन किया। इन लोगों ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें कर रहे हैं। वेनिस के अपने छोटे-से गणराज्य के आदी होने की वजह से इन्हें चीन और एशिया के दूसरे देशों के विस्तार की और उनकी दौलत की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन वर्ष बाद, १२९५ ई० में, वेनिस का जिनोआ शहर से युद्ध ठन गया। ये दोनों समुद्री ताक़तें थीं और एक दूसरे की दुश्मन थीं। दोनों में ज़बर्दस्त समुद्री लड़ाई हुई। वेनिसवाले हार गये और जिनोआवालों ने उनके हज़ारों आदमियों को क़ैद कर लिया। इन क़ैदियों में हमारा दोस्त मार्को पोलो भी था। जिनोआ के क़ैदखाने में बैठे-बैठे मार्को पोलो ने अपनी यात्राओं का वर्णन लिखा, या यों कहो, लिखाया। इस तरह 'मार्को पोलो की यात्राएँ' पुस्तक बनी। अच्छा काम करने के लिए जेलखाना कितनी काम की जगह है!

इस यात्रा-वर्णन में मार्को ने खासतौर से चीन का हाल लिखा है और उन बहुत-सी यात्राओं का भी ज़िक्र किया है, जो उसने चीन में की थीं। उसने स्याम, जावा, सुमात्रा, लंका और दक्षिण भारत का भी कुछ हाल लिखा है। उसने बताया है कि चीन में बड़े बड़े बन्दरगाह थे, जहाँ पूर्व के तमाम देशों के जहाज़ों की भीड़ रहती थी और कोई-कोई जहाज़ तो इतने बड़े होते थे कि उन्हें ३०० या ४०० मल्लाह चलाया करते थे। उसने लिखा है कि चीन एक हरा-भरा और खुशहाल देश है, जिसमें बहुत शहर और क़स्बे हैं। वहाँ "रेशमी और ज़री के कपड़े और तरह-तरह के नफ़ीस ताफ़्ता बनते हैं"; और "खुशनुमा अंगूर की बेलों की क्यारियाँ और खेत और बाग़ हैं"; और तमाम रास्तों पर "मुसाफ़िरों के लिए बढ़िया सराएँ हैं।" उसने यह भी लिखा है कि शाही फ़रमानों को पहुँचाने के लिए हरकारों का खास इन्तज़ाम था। ये फ़रमान थोड़ी-थोड़ी दूर पर बदले जानेवाले घोड़ों के ज़रिये चौबीस घण्टों में ४०० मील की दूरी तय कर लेते थे, और यह वास्तव में बहुत अच्छी रफ़्तार है। उसने बतलाया है कि चीन के लोग जलावन लकड़ी के बजाय काला पत्थर काम में लेते थे, जो ज़मीन से खोदकर निकाला जाता था। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खानें खोदते थे और जलावन के लिए कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलइ खाँ ने काग़ज़ का सिक्का भी जारी किया था, यानी काग़ज़ के नोट चलाये थे, जिनके बदले में सोना देने का वायदा होता था, जैसा कि आजकल किया जाता है। यह बड़ी दिलचस्प बात है, क्योंकि इससे पता चलता है कि उसने साहूकारी का एक आधुनिक तरीक़ा काम में लिया था। मार्को ने बयान किया है कि प्रेस्टर जॉन नामक शासक की मातहती में ईसाइयों की एक बस्ती भी चीन में रहती थी। इस बात ने यूरोप के लोगों में बड़ा कौतूहल और अचम्भा पैदा कर दिया था। शायद ये लोग मंगोलिया के कुछ पुराने नैस्टोरियन हों।

मार्को ने जापान, बरमा और भारत का भी हाल लिखा है—कुछ आँखों देखा, और कुछ कानों सुना। मार्को की कहानी यात्रा की एक अद्भुत कहानी थी और अब भी है। इसने छोटे-छोटे सँकरे देशों में बसनेवाले और तुच्छ ईर्ष्या-द्वेष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में फँसे हुए यूरोपवासियों की आंखें खोल दीं और उन्हें इस लम्बी-चौड़ी दुनिया के विस्तार, धन व चमत्कारों का भान करा दिया। इसने उनकी कल्पना को उत्तेजना दी, उनकी साहस के काम करने की भावना को चुनौती दी और उनके लालच को भड़काया। इसने उन्हें और भी ज्यादा समुद्र-यात्राएँ करने को उकसाया। यूरोप का विकास हो रहा था; उसकी नई सभ्यता अपने पैरों पर खड़ी हो रही थी और मध्य युगों की बन्दिशों को तोड़ने की कोशिश कर रही थी। जवानी में क़दम रखनेवाले नौजवान की तरह उसमें शक्ति भरी हुई थी। समुद्र-यात्रा की इसी उकसाहट ने और धन और साहस के कारनामों की तलाश ने यूरोपवासियों को कुछ दिन बाद अमेरिका पहुँचा दिया और फिर वे उत्तमाशा अन्तरीप (केप ऑफ़ गुड होप) का चक्कर काटते हुए प्रशान्त महासागर, भारत, चीन और जापान जा पहुँचे। समुद्र दुनिया का राजमार्ग बन गया और महाद्वीपों को लाँघनेवाले बड़े-बड़े क़ारवानी रास्तों का महत्व कम हो गया।

मार्को के चले आने के थोड़े दिन बाद ही 'खान महान्' कुबलइ की मौत हो गई। युआन राजवंश, जिसका यह क़ायम करनेवाला था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नहीं टिका। मंगोलों की ताक़त तेज़ी के साथ घटने लगी और विदेशियों के ख़िलाफ़ चीन में एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। साठ वर्ष के अन्दर ही मंगोल दक्षिण चीन से निकाल दिये गए और नानकिङ में एक चीनी आदमी सम्राट् बन बैठा। इसके बारह वर्ष बाद, १३६८ ई० में, युआन राजवंश बिलकुल ख़त्म हो गया और मंगोल लोग चीन की बड़ी दीवार के उस पार खदेड़ दिये गए। अब एक दूसरा चीनी राजवंश—ताइमिङ राजवंश, रंगमंच पर आया। इस वंश ने ३०० वर्षों के लम्बे अर्से तक चीन में राज किया। यह ज़माना अच्छे शासन, खुशहाली और संस्कृति का ज़माना समझा जाता है। दूसरे देशों को जीतने की या साम्राज्य बढ़ाने की इन लोगों ने कोई कोशिश नहीं की।

चीन में मंगोल साम्राज्य के टूट जाने का नतीजा यह हुआ कि चीन और यूरोप के बीच आना-जाना भी बन्द हो गया। खुश्की के रास्ते अब निरापद नहीं रह गये थे और समुद्र के रास्तों का अभी ज्यादा इस्तेमाल शुरू नहीं हुआ था।

: ७० :

रोमन चर्च की सरज़ोरी

२८ जून, १९३२

मैंने तुम्हें बताया है कि कुबलइ खाँ ने पोप को सन्देश भेजा था और कहलवाया था कि वह चीन को सौ विद्वान् भेज दे। लेकिन पोप ने इसपर कुछ नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। उस वक़्त वह बुरी हालत में था। अगर तुम्हें याद हो तो यह सम्राट् फ़्रैडरिक द्वितीय की मृत्यु के बाद का ज़माना था, जबकि १२५० से १२७३ ई० तक कोई सम्राट् ही नहीं था। उस वक़्त मध्य यूरोप की बड़ी ख़तरनाक हालत थी। चारों तरफ़ गड़बड़ थी और डाकू नाइट हर जगह लूट-पाट करते फिरते थे। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का रूदोल्फ़ सम्राट् बना, लेकिन इससे हालत कुछ सुधरी नहीं। इटली भी साम्राज्य से निकल गया।

यहाँ इस समय सिर्फ़ राजनीतिक गड़बड़ ही नहीं थी, बल्कि रोमन ईसाई-संघ के ख़याल से मज़हबी गड़बड़ की भी शुरुआत हो रही थी। लोग उतने फ़रमाबरदार नहीं रह गये थे और न ईसाई-संघ के हुक्मों को ही उतना मानते थे। वे शंका करने लगे थे, और मज़हबी मामलों में शंका ख़तरनाक चीज़ होती है। हम देख चुके हैं कि सम्राट् फ़्रैडरिक द्वितीय पोप के साथ लापरवाही का बर्ताव करता था और छेक दिये जाने की कुछ परवाह नहीं करता था। उसने पोप के साथ पत्रों के ज़रिये बहस भी शुरू कर दी थी, जिसमें पोप को नीचा देखना पड़ा था। फ़्रैडरिक की तरह यूरोप में उस वक़्त बहुत-से शंका करनेवाले रहे होंगे। बहुत लोग ऐसे भी थे जो चाहे ईसाई-संघ या पोप के दावों में शंका या ऐतराज़ भी करते हों, लेकिन जो ईसाई-संघ के बड़े आदमियों के भ्रष्टाचार और विलासी जीवन से सख़्त नाराज़ थे।

क्रूसेड बड़ी फ़जीहत के साथ ख़त्म हो रहे थे। इनकी शुरुआत बड़ी उम्मीदों और बड़े जोश के साथ हुई थी, लेकिन ये कुछ भी कामयाबी हासिल न कर सके और ऐसी नाकामयाबीयों की हमेशा उलटी क्रिया होती है; ईसाई-संघ का जो रूप बन गया था उससे पूरी तरह राज़ी न होने की वजह से लोग कुछ ढिलमिल तौर से और धीरे-धीरे रोशनी की खोज में दूसरी तरफ़ नज़रें दौड़ाने लगे। ईसाई-संघ ने बदले में ज़ोर-ज़बर्दस्ती शुरू कर दी और आतंक के तरीक़ों से आदमियों के दिमाग़ों पर क़ब्ज़ा क़ायम रखना चाहा। उसे यह ख़याल नहीं रहा कि आदमी का दिमाग़ बहुत नटखट होता है और शारीरिक बल इसके ख़िलाफ़ बहुत ही कमज़ोर हथियार है। उसने कोशिश यह की कि व्यक्तियों और समूहों की अन्तरात्मा की बेक़रारियों का गला घोट दे। उसने शंका का जवाब तर्क और दलील से देने के बजाय डण्डे और सूली से देने की कोशिश की।

११५५ ई० में ही इटली के लोकप्रिय और लगनवाले धर्मोपदेशक, ब्रेशिया के आर्नोल्द पर ईसाई-संघ का ग़ुस्सा उतरा। आर्नोल्द पादरियों के भ्रष्टाचार और विलास के ख़िलाफ़ प्रचार करता था। उसे पकड़कर फाँसी पर लटका दिया गया और उसकी लाश को जलाकर राख ताइबर नदी में फिंकवा दी गई कि कहीं लोग उसे विभूति की तरह न रख लें। मरते दम तक आर्नोल्द अपनी आन पर डटा रहा और शान्त रहा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोप इतने आगे बढ़ गये कि उन्होंने ईसाइयत के उन पूरे-के-पूरे गिरोहों और सम्प्रदायों को ही ग़ैर-ईसाई ऐलान कर दिया, जो मज़हब के किसी छोटे-से मामले में भी मतभेद रखते थे या जो पादरियों की बहुत ज्यादा आलोचना करते थे। इन लोगों के खिलाफ़ बाक़ायदा धर्म-युद्ध का ऐलान कर दिया जाता था और इन पर तरह-तरह के नफ़रत पैदा करनेवाले और दिल दहलानेवाले जुल्म ढाये जाते थे। दक्षिण-फ़ान्स के 'तूलों के अल्बिगियों या अल्बिगेनियों को और वाल्दो नामक व्यक्ति के अनुयायी वाल्दनियों को, इसी तरह सताया गया।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली में एक व्यक्ति रहता था, जो ईसाइयत के सबसे ज्यादा आकर्षक व्यक्तियों में गिना जाता है। यह असीसी का फ़ान्सिस था। यह बड़ा धनवान था, लेकिन इसने अपनी दौलत त्यागकर ग़रीबी का व्रत लिया और बीमारों व ग़रीबों की सेवा के लिए दुनिया में निकल पड़ा। चूंकि कोढ़ी सबसे ज्यादा दुःखी और बे-आसरा थे, इसलिए वह उनकी सेवा में खासतौर पर लग गया। उसने एक संघ चलाया, जो सन्त फ़ान्सिस का संघ कहलाता है, और जो कुछ-कुछ बौद्ध संघ की तरह का है। वह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार करता हुआ और लोगों की सेवा करता हुआ फिरता था और ईसा की तरह अपनी ज़िन्दगी बिताने की कोशिश करता था। हज़ारों आदमी इसके पास आते थे और उनमें से बहुत-से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे तब यह मिस्र और फ़िलस्तीन भी गया था, हालाँकि वह ईसाई था, लेकिन मुसलमान भी इस नेक और प्यार के क़ाबिल व्यक्ति की इज्ज़त करते थे और उन्होंने उसके काम में किसी तरह की रुकावट नहीं डाली। यह ११८१ ई० में पैदा हुआ और १२२६ ई० में मरा। उसकी मौत के बाद उसके संघ की ईसाई-संघ के ऊँचे अधिकारियों से टक्कर हो गई। शायद ईसाई-संघ को यह पसन्द नहीं था कि ग़रीबी की ज़िन्दगी पर इतना ज़ोर दिया जाय। इस दक़ियानूसी सिद्धान्त से वे बहुत बड़े हो गये थे। १३१८ ई० में फ़ान्सिस संघ के चार साधुओं को काफ़िर क़रार दिया जाकर मार्साइ में ज़िन्दा जला दिया गया।

कुछ साल हुए, असीसी के छोटे-से शहर में सन्त फ़ान्सिस की यादगार में एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ था। मुझे याद नहीं रहा कि यह जलसा उस साल क्यों मनाया गया था। शायद यह उसकी मृत्यु की सातवीं शताब्दी थी।

फ़ान्सिस के संघ की तरह, लेकिन भावना में उससे बिलकुल जुदा, एक दूसरा संघ ईसाई-संघ के अन्दर पैदा हुआ। इसको क़ायम करनेवाला स्पेन-निवासी सन्त दोमिनिक था, और यह दोमिनिकल संघ कहलाता है। यह संघ उग्र और कट्टर था। इनके लिए ईमान क़ायम रखने के महान् कर्त्तव्य के सामने दुनिया की तमाम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बातें हेच थीं। अगर कोई सीधी तरह समझाने से नहीं माने तो उसे मार-मार-कर समझाया जाय।

१२३३ ई० में 'इनक्विज़िशन' क़ायम करके ईसाई-संघ ने बाक़ायदा और सरकारी तौर पर मज़हब में हिंसा का राज क़ायम कर दिया। यह एक क़िस्म की अदालत होती थी, जो लोगों के ईमान के कट्टरपन की जाँच करती थी और अगर इसकी राय में वे जाँच में पूरे नहीं उतरते तो मामूली तौर पर उन्हें ज़िन्दा जला दिये जाने की सज़ा दी जाती थी। 'काफ़िरों' को बाक़ायदा ढूंढ़-ढूंढ़कर पकड़ा गया और उनमें से सैकड़ों को ज़िन्दा जला दिया गया। ज़िन्दा जलाने से भी ज़्यादा बुरी बात यह थी कि लोगों से प्रायश्चित्त कराने के लिए उन्हें यातनाएँ दी जाती थीं। बहुत-सी ग़रीब अभागी औरतों पर डायनें होने का अपराध लगाया जाता था और वे जला दी जाती थीं। लेकिन अक़्सर यह काम, खासकर इंग्लैण्ड और स्काट-लैण्ड में फ़िसादी भीड़ करती थी; 'इनक्विज़िशन' के हुक्म से ऐसा नहीं होता था।

पोप ने एक 'फ़तवा'[1] जारी किया, जिसमें हरेक आदमी को मुख़बिर बनने का हुक़्म दिया गया। पोप ने रसायन के ख़िलाफ़ फ़तवा दे दिया और इसे शैतानी हुनर क़रार दिया। और मज़ा यह कि ये तमाम अत्याचार और आतंक सच्चे विश्वास के साथ किये जाते थे। इनका विश्वास था कि किसी आदमी को ज़िन्दा जलाकर वे उसकी आत्मा को या दूसरों की आत्माओं को पापों से बचा रहे हैं! मज़हबी लोगों ने अक़्सर अपनी बात दूसरों से ज़बर्दस्ती मनवाने की कोशिश की है, अपने विचार ज़बर्दस्ती दूसरों के गले में उतारे हैं, और वे समझते रहे हैं कि जनता की सेवा कर रहे हैं। ईश्वर के नाम पर इन्होंने लोगों को मारा है और हत्याएँ की हैं। और 'अमर आत्मा' को बचाने की बात करते हुए इन्होंने नाशवान शरीर को जलाकर राख कर देने में संकोच नहीं किया है। मज़हब का लेखा बड़ा ख़राब रहा है, पर जल्लादी बेरहमी में 'इनक्विज़िशन' को मात करनेवाली कोई चीज़ दुनिया में मेरे ख़याल से नहीं हुई। और फिर भी यह अचम्भे की बात है कि ऐसी हरकतों के लिए ज़िम्मेदार लोगों में से बहुतों ने यह काम अपने निजी फ़ायदे के लिए नहीं बल्कि इस पक्के विश्वास से किया कि वे सही चीज़ कर रहे हैं।

जब पोप लोग यूरोप के ऊपर आतंक का यह राज बरपा कर रहे थे तब उधर उनकी वह ऊँची हैसियत कम होती जा रही थी जो उन्होंने बादशाहों और सम्राटों के सरताज बनकर जमा रक्खी थी। वे दिन लद गये थे जब वे किसी सम्राट् को ईसाई बिरादरी से छेककर और धमकी देकर उसके घुटने टिकवा देते थे। जब पवित्र रोमन साम्राज्य की हालत ख़राब हो रही थी और कोई सम्राट् नहीं था, या सम्राट् रोम से दूर रहता था, तब फ़्रान्स का बादशाह पोपों के कामों में दख़ल

[1] Edict of Faith.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने लगा। १३०३ ई० में पोप की किसी बात से बादशाह नाराज़ हो गया। उसने पोप के पास एक आदमी भेजा, जिसने पोप के महल में ज़बर्दस्ती घुसकर उसके सोने के कमरे में जाकर उसके मुँह पर उसका अपमान किया। पोप के साथ बेइज्ज़ती के बर्ताव को किसी देश ने नापसन्द नहीं किया। ज़रा कनौज़ा में पोप से मिलने के लिए सम्राट् के घण्टों बर्फ़ में नंगे पैर खड़े रहने की घटना की इससे तुलना तो करो!

कुछ साल बाद, १३०९ ई० में, एक नया पोप जो फ़ान्सीसी था, फ़ांन्स के आविन्यों शहर में रहने लगा। पोप लोग यहाँ १३७७ ई० तक, फ़ान्सीसी बादशाहों के अँगूठे के नीचे रहते रहे। एक साल बाद, १३७८ ई० में, पोप का चुनाव करनेवाले बड़े पादरियों के मण्डल में फूट पड़ गई। इसे 'महान् मतभेद' कहा जाता है। बड़े पादरियों के दो दलों ने अपना-अपना पोप चुन लिया। एक पोप तो रोम में रहने लगा और सम्राट् और उत्तर यूरोप के ज़्यादातर देशों ने उसे मान लिया। दूसरा, जो विरोधी-पोप कहलाने लगा, आविन्यों में रहता था, और फ़ान्स का बादशाह और उसके कुछ मददगार उसका समर्थन करते थे। चालीस वर्षों तक यह हालत रही और पोप व विरोधी पोप एक-दूसरे को कोसते और झेकते रहे। १४१७ ई० में समझौता हो गया और दोनों दलों ने मिलकर एक नया पोप चुना जो रोम में रहता था। लेकिन दोनों पोपों के बीच के इस भद्दे झगड़े का असर यूरोप के लोगों पर बहुत ज़्यादा पड़ा होगा। जब पादरी लोग और इस संसार में अपने-आपको ईश्वर का प्रतिनिधि कहनेवाले लोग, इस तरह की हरकतें करें, तो लोग उनकी पवित्रता और नेकनीयती में सन्देह करने लगते हैं। इस तरह इस झगड़े ने लोगों को मज़हबी सत्ता की अंधी फ़रमाबरदारी से बाहर निकाल फेंकने में बड़ी मदद दी। लेकिन अभी उनको इससे भी और ज़ोरदार झटके की ज़रूरत थी।

जिन लोगों ने ज़्यादा खुले तौर पर ईसाई-संघ की आलोचना करना शुरू किया उनमें वाइक्लिफ़ नामक एक अंग्रेज़ भी था। वह पादरी था और ऑक्सफ़ोर्ड में प्रोफ़ेसर था। यह बाइबिल का अंग्रेज़ी में सबसे पहले अनुवाद करनेवाला मशहूर है। अपनी ज़िन्दगी में तो वह रोम के कोप से किसी तरह बच गया। लेकिन १४१५ ई० में, मरने के ३१ वर्ष बाद, ईसाई-संघ परिषद् ने हुक्म दिया कि उसकी हड्डियाँ खोदकर जला दी जायँ और ऐसा ही किया गया।

हालाँकि वाइक्लिफ़ की हड्डियों की बेहुरमती करके उन्हें जला दिया गया, मगर उसके विचारों को आसानी से नहीं दबाया जा सका और वे फैलने लगे। यहाँतक कि वे बोहेमिया तक, जो अब चेकोस्लोवाकिया कहलाता है, पहुँच गये और उनका असर जॉन हस पर हुआ, जो बाद में प्राहा (प्रेग) विश्वविद्यालय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कुलपति हुआ। पोप ने इसे इसके विचारों की वजह से ईसाइयत से छेक दिया, लेकिन उसके शहर में वे उनका कुछ नहीं बिगाड़ सके; क्योंकि वह बहुत लोकप्रिय था। इसलिए उस पर एक चाल चली गई। सम्राट् ने हिफ़ाज़त के साथ पहुँचा देने का वादा करके उसे स्वीज़रलैंड के कॉन्स्टैन्स नगर में बुलवाया, जहाँ ईसाई-संघ परिषद् की बैठक हो रही थी। वह वहाँ गया। उससे कहा गया कि अपनी ग़लती क़बूल कर ले, लेकिन उसने कह दिया कि जबतक उसे क़ायल न कर दिया जाय तबतक वह ऐसा नहीं कर सकता। इस पर हिफ़ाज़त के वादे के बावजूद उन्होंने उसे ज़िन्दा जला दिया। यह १४१५ ई० की बात है। हस बड़ा बहादुर आदमी था और जिसे वह झूठ समझता था उसे मान लेने की बनिस्बत उसने दर्दभरी मौत को बेहतर समझा। वह अन्तरात्मा की आज़ादी और बोलने की आज़ादी पर शहीद हो गया। चेक लोग इसे अपना एक वीर-नायक मानते हैं और चेकोस्लोवाकिया में इसकी याद आज तक मनाई जाती है।

जॉन हस का बलिदान बेकार नहीं गया। इस चिनगारी ने बोहेमिया में उसके पीछे चलनेवालों में विद्रोह की आग जला दी। पोप ने इन लोगों के ख़िलाफ़ ईसाई-जिहाद की घोषणा कर दी। जिहाद सस्ती चीज़ थी; उसमें कुछ खर्च नहीं होता था और ऐसे बदमाशों और मौक़ापरस्तों की कमी नहीं थी, जो उससे फ़ायदा उठाते थे। इन जिहादियों ने, जैसा कि एच० जी० वेल्स ने लिखा है, "बेगुनाह लोगों पर महा भयंकर अत्याचार किये।" लेकिन जब हस के अनुयायियों की फ़ौज अपना कड़खा गाती हुई सामने आई, तो ये जिहादी रफ़ू-चक्कर हो गये। जिस रास्ते से ये आये थे उसी रास्ते तेज़ी से वापस चले गये। जबतक बेगुनाह देहातियों को मारना और लूटना सम्भव था, इन जिहादियों ने ख़ूब सैनिक जोश दिखाया, लेकिन संगठित सेना के आते ही वे भाग खड़े हुए।

इस तरह निरंकुश और अपने ख़ास विचारों को ही सही माननेवाले मज़हब के ख़िलाफ़ बलवों और विद्रोहों का सिलसिला शुरू हुआ, जो आगे चलकर सारे यूरोप में फैले और जिन्होंने उसे दो विरोधी दलों में बाँट दिया और जिन्होंने आगे चलकर ईसाइयत के, कैथलिक और प्रोटेस्टैन्ट, दो टुकड़े कर दिये।

: ७१ :

सत्तावाद के ख़िलाफ़ लड़ाई

३० जून, १९३२

मुझे डर है कि यूरोप के मज़हबी झगड़ों के बयान तुम्हें बहुत नीरस मालूम हुए होंगे। लेकिन ये बयान महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे पता चलता है कि आज वे यूरोप का विकास कैसे हुआ। वे हमें यूरोप को समझने में भी मदद देते हैं। मज़हबी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज़ादी के लिए जो लड़ाई हम यूरोप में चौदहवीं सदी में और उसके बाद बढ़ती हुई देखते हैं और राजनीतिक आज़ादी की लड़ाई, जो आगे आनेवाली थी, वास्तव में एक ही लड़ाई के दो पहलू हैं। इसे सत्ता या सत्तावाद के ख़िलाफ़ लड़ाई कहना चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य और पोपडम दोनों पूरी निरंकुश सत्ता के निशान थे और मनुष्य की आत्मा को कुचलने की कोशिश करते थे। सम्राट् तो 'दैवी अधिकार' से बनता था और पोप उससे भी ज़्यादा था, और इसके बारे में शंका करना या ऊपर से भेजी गई आज्ञाओं को न मानने का किसी को हक़ नहीं था। फ़रमाबरदारी ही बड़ा सद्गुण समझा जाता था। निजी विवेक का इस्तेमाल तक भी पाप माना जाता था। इस तरह अन्धी फ़रमाबरदारी और आज़ादी के बीच झगड़े की जड़ बिलकुल ज़ाहिर हो गई थी। मज़हबी विश्वास की आज़ादी के लिए और, इसके बाद राजनीतिक आज़ादी के लिए, यूरोप में कई सदियों तक ज़बर्दस्त लड़ाई लड़ी गई। बहुत-से उतार-चढ़ाव और बड़ी तकलीफ़ें उठाने के बाद कुछ हद तक कामयाबी हासिल हुई। लेकिन ठीक उस वक़्त, जब लोग आज़ादी की मंज़िल पर पहुँच जाने की खुशियाँ मना रहे थे, उन्हें यह पता चला कि यह उनकी भूल थी। आर्थिक आज़ादी के बिना, और जबतक ग़रीबी न मिटे, तबतक असली आज़ादी हो ही नहीं सकती। भूखे आदमी से कहना कि तुम आज़ाद हो, सिर्फ़ उसका मज़ाक करना है। इसलिए दूसरा क़दम आर्थिक आज़ादी की लड़ाई थी और यह लड़ाई आज सारी दुनिया में लड़ी जा रही है। सिर्फ़ एक देश के बारे में यह कहा जा सकता है कि वहाँ आमतौर पर जनता ने आर्थिक आज़ादी हासिल कर ली है, और वह देश रूस है, या यों कहो कि सोवियत संघ है।

भारत में मज़हबी विश्वास की आज़ादी के लिए ऐसी कोई लड़ाई नहीं हुई, क्योंकि मालूम होता है यहाँ शुरू से ही इस अधिकार पर कभी कोई पाबन्दी नहीं रही। लोगों को आज़ादी थी कि जो बात उन्हें पसन्द हो उसे मानें और किसी को मजबूर नहीं किया जाता था। लोगों के दिमाग़ों पर असर डालने का तरीक़ा तर्क और वाद-विवाद था, डण्डा और सूली नहीं। सम्भव है, कभी-कभी जब्र और हिंसा का भी इस्तेमाल किया गया हो, लेकिन पुराने आर्य-मत में मज़हबी विश्वास की आज़ादी का अधिकार माना जाता था। यह बात शायद अजीब मालूम होगी कि इसका नतीजा कोई बहुत अच्छा नहीं हुआ। इस तरह की ख़याली आज़ादी के इतमीनान में लोग उसके बारे में काफ़ी जागरूक नहीं रहे और धीरे-धीरे वे एक नीचे दर्जे के मज़हब के कर्मकाण्डों, आडम्बरों और अन्ध-विश्वासों में उलझते चले गए। उन्होंने एक मज़हबी विचारधारा बना ली, जो उन्हें बहुत पीछे घसीट ले गई और जिसने उन्हें मज़हबी सत्ता का ग़ुलाम बना दिया। यह सत्ता किसी पोप की या किसी दूसरे व्यक्ति की नहीं थी, बल्कि यह सत्ता धर्मशास्त्रों, रीतियों और परम्पराओं की थी। इस तरह जहाँ हम मज़हबी विश्वास की आज़ादी की दुहाई देते थे और उस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर गर्व करते थे, वहाँ असल में हम इस आज़ादी से बहुत दूर थे और उन विचारों से जकड़े हुए थे, जो पुराने ग्रन्थों ने और हमारे रीति-रिवाजों ने हमारे दिलों में जमा रक्खे थे। सत्ता और सत्तावाद हम पर राज करता था और हमारे दिमाग़ों पर लगाम लगाता था। वे ज़ंजीरें, जो कभी-कभी हमारे शरीरों को बाँध देती थीं, काफ़ी बुरी होती हैं; लेकिन विचारों और संस्कारों की अदृश्य ज़ंजीरें, जो हमारे दिमाग़ों को जकड़ लेती हैं, उनसे कहीं ज़्यादा बुरी होती हैं। ये ज़ंजीरें ख़ुद हमारी ही बनाई होती हैं, और हालाँकि अक़्सर हम उन्हें महसूस नहीं करते, लेकिन वे हमें अपने भयंकर शिकंजे में जकड़े रहती हैं।

भारत में मुसलमानों के हमलावर की हैसियत से आने के बाद मज़हबी मामलों में ज़ोर-ज़बर्दस्ती का कुछ अंश दाख़िल हो गया। असल में तो जीतनेवालों और जीते जानेवालों के बीच लड़ाई राजनीतिक लड़ाई थी, लेकिन इसमें मज़हबी रंग आ गया था और कभी-कभी मज़हब के नाम पर अत्याचार भी हुए। लेकिन यह ख़याल करना भूल होगी कि इस्लाम ऐसे अत्याचारों का हामी था। १६१० ई० में, जब बाक़ी बचे अरब लोग स्पेन से निकाल दिये गए थे, तब उनके साथ निकाले गये एक स्पेनी मुसलमान के दिये हुए भाषण का दिलचस्प वर्णन मिलता है। उसने इनक्विज़िशन का विरोध किया था और कहा था—

"क्या हमारे फ़तहमन्द पुरखों ने कभी एक दफ़ा भी ईसाइयत को स्पेन से नेस्तनाबूद करने की कोशिश की, जबकि वे आसानी से ऐसा कर सकते थे? क्या उन्होंने तुम्हारे बाप-दादों को यह छूट नहीं दी थी कि बन्धन में रहते हुए भी वे अपनी मज़हबी रस्मों को आज़ादी से अदा करें...अगर ज़बर्दस्ती मज़हब बदलने की कुछ घटनाएँ हों भी तो वे इतनी कम हैं कि बयान के लायक़ नहीं हैं। ऐसा करनेवाले सिर्फ़ वे ही होंगे, जिनकी आँखों में ख़ुदा और रसूल का डर नहीं था और जिन्होंने ऐसा करके इस्लाम के उन पाक उसूलों और शरीयत[1] की बिलकुल सीधी ख़िलाफ़वर्जी[2] की है जिन्हें, कलमा शरीफ़[3] के लायक़ अपने को समझने वाला कोई भी शख़्स, बिना तौहीन[4] किये तोड़ नहीं सकता। हम मुसलमानों में, तुम दीन के मामले में मुख़्तलिफ़ अकीदे[5] के बाइस[6] एक भी ऐसी ख़ून की प्यासी वाक़ायदा अदालत नहीं बतला सकते जो तुम्हारी मलऊन[7] इनक्विज़िशन के सामने ठहर सके। यह सही है कि जो लोग हमारा मज़हब क़बूल करना चाहते हैं, हम उनको गले लगाने के लिए हमेशा तैयार हैं; लेकिन क़ुरान मज़ीद में इस बात की इजाज़त नहीं है कि किसी के ज़मीर पर[8] ज़ुल्म किया जाय।"

---

[1] मुसलमानों का धर्मशास्त्र। [2] अवहेलना। [3] मुसलमानों का मूलमन्त्र—ला इला लिल्लिलाह, मोहम्मद उर्रसूलिल्लाह। [4] अपमान। [5] विश्वासों। [6] कारण। [7] निन्दनीय। [8] धार्मिक विश्वास।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह मज़हबी उदारता और मज़हबी विश्वास की आज़ादी, जो पुराने भारतीय जीवन के ख़ास पहलू थे, किसी हद तक हममें से खिसक गये। उधर यूरोप हमारे बराबर पहुँच गया; बल्कि बहुत लड़ाई-झगड़ों के बाद इन्हीं सिद्धान्तों को क़ायम करने में वह हमसे आगे बढ़ गया। आज कभी-कभी भारत में मज़हबी झगड़े होते हैं; हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते हैं और एक-दूसरे को मारते हैं। यह सच है कि ऐसा कभी-कभी और कहीं-कहीं ही होता है, और हम लोग बहुत करके शान्ति और मेल के साथ रहते हैं, क्योंकि हमारे असली हित एक ही हैं। किसी हिन्दू या मुसलमान का, मज़हब के नाम पर, अपने भाई से लड़ना शर्म की बात है। हमें इसे ख़त्म कर देना चाहिए, और हम ऐसा ज़रूर करेंगे। लेकिन महत्व की बात तो यह है कि हमें रीति, परम्परा और अन्ध-विश्वास की उस पेचीदा विचार-धारा से बाहर निकलना है, जिसने मज़हब के भेस में हमें ज़ंजीरों से बाँध रक्खा है।

मज़हबी उदारता की तरह राजनीतिक आज़ादी के मामले में भी भारत ने पहले काफ़ी अच्छी शुरुआत की थी। तुम्हें ग्राम गणराज्यों की याद होगी और यह भी याद होगा कि शुरू में राजा के अधिकार किस तरह सीमित माने जाते थे। यूरोप की तरह यहाँ यह नहीं माना जाता था कि राजा का कोई 'दैवी अधिकार' है। चूंकि हमारी सारी शासन-व्यवस्था का आधार गाँवों की आज़ादी थी, इसलिए लोग इस बात से बेपरवाह थे कि राजा कौन है। अगर उनकी स्थानीय आज़ादी उनके लिए क़ायम रहती थी तो उनको इससे क्या वास्ता था कि ऊपर कौन हाक़िम है? लेकिन यह विचार ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी का था। धीरे-धीरे ऊपर के हाक़िम ने अपने अधिकार बढ़ा लिये और गाँव की आज़ादी पर बेजा दख़ल जमाया। फिर एक ज़माना आया कि इस देश में बिलकुल निरंकुश और एकतन्त्री राजा होने लगे; गाँवों का स्वराज्य मिट गया और ऊपर से नीचे तक कहीं भी आज़ादी का नामो-निशान नहीं रहा।

: ७२ :

मध्य-युग का अन्त

१ जुलाई, १९३२

आओ, अब तेरहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक के यूरोप पर फिर नज़र डालें। यहाँ ज़बर्दस्त गड़बड़, हिंसा और लड़ाई-झगड़े दिखाई देंगे। भारत की हालत भी काफ़ी ख़राब थी, लेकिन अगर विचार किया जाय तो यूरोप के मुक़ाबले में यहाँ शान्ति थी।

मंगोल लोग यूरोप में बारूद लाये और अब तोप-बन्दूकों का इस्तेमाल होने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा था। बादशाहों ने इससे फ़ायदा उठाकर अपने बाग़ी सामन्ती अमीर-सरदारों को कुचलना शुरू किया। इस काम में उन्हें शहरों के नये व्यापारी वर्ग की भी मदद मिली। अमीर-सरदारों की यह आदत थी कि वे खुद आपस में ही छोटी-छोटी निजी लड़ाइयाँ लड़ा करते थे। इसकी वजह से वे कमज़ोर पड़ गये। लेकिन इससे गाँववालों को भी परेशानी रहती थी। जब बादशाहों की ताक़त बढ़ी तो उन्होंने इस आपसी लड़ाई को दबा दिया। कुछ जगहों पर गद्दी के दो विरोधी दावेदारों के बीच गृह-युद्ध हुए। जैसे इंग्लैण्ड में दो खानदानों में झगड़ा हुआ—एक तरफ़ यार्क का घराना, और दूसरी तरफ़ लैन्केस्टर का घराना। इन दोनों दलों ने गुलाब को अपना दल-चिह्न बनाया। एक ने सफ़ेद गुलाब को और दूसरे ने लाल गुलाब को। इन युद्धों को इसीलिए 'गुलाबों के युद्ध'[1] कहा जाता है। इन गृह-युद्धों में बड़ी संख्या में सामन्ती अमीर-सरदार मारे गए। क्रूसेडों में भी बहुत-से काम आये थे। इस तरह धीरे-धीरे ये सामन्ती सरदार क़ब्ज़े में आ गये। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि अधिकार अमीर-सरदारों के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में पहुँच गये। असल में शक्ति बादशाह की बढ़ी, आम लोग तो जैसे-के-तैसे ही रहे, सिवा इसके कि खानगी लड़ाइयों के कम हो जाने से इनकी हालत कुछ बेहतर ज़रूर हो गई। पर बादशाह और भी ज़्यादा सत्ताधारी, निरंकुश और एकाधिपति बनता गया। बादशाह और नये व्यापारी वर्ग का संघर्ष अभी शुरू नहीं हुआ था।

युद्ध और हत्याकाण्ड से भी ज़्यादा भयंकर वह 'बड़ी प्लेग' थी, जो यूरोप में १३४८ ई० के क़रीब फैली। यह महामारी सारे यूरोप में, रूस और एशिया-कोचक से लेकर इंग्लैण्ड तक, फैल गई। फिर यह मिस्र, उत्तरी अफ़्रीका और मध्य एशिया में पहुँची और वहाँ से पश्चिम की तरफ़ फैली। इसको 'काली मौत' भी कहते थे। यह लाखों को खा गई। इंग्लैण्ड की एक-तिहाई आबादी खत्म हो गई और चीन व दूसरे देशों की मृत्यु-संख्या का तो कुछ ठिकाना ही नहीं था। ताज्जुब की बात है कि यह भारत में नहीं आई।

इस भयानक आफ़त की वजह से आबादी बहुत घट गई, और बहुत जगह तो खेती करने के लिए काफ़ी आदमी ही नहीं रहे। आदमियों की कमी की वजह से मज़दूरों की मजूरी की दरें बढ़ने लगीं। लेकिन संसदें जमींदारों और जायदाद के मालिकों के हाथों में थीं। इन लोगों ने ऐसे क़ानून बनाये कि जिससे लोग पुरानी नीची मजूरी पर काम करने और ज़्यादा न माँगने के लिए मजबूर किये जा सकें। जब किसान और ग़रीब बर्दाश्त की हद से ज़्यादा कुचले और निचोड़ गये तब उन्होंने विद्रोह कर दिया। सारे पश्चिमी यूरोप में किसानों के ये विद्रोह एक के बाद एक होते रहे। फ़्रान्स में १३५८ ई० में किसानों का एक विद्रोह हुआ, जो

[1] The Wars of the Roses.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जहाकरी' के नाम से मशहूर है। इंग्लैण्ड में वाट टाइलर का बलवा हुआ, जिसमें टाइलर, '१३८१ ई० में, अंग्रेज़ बादशाह के सामने मार डाला गया। ये विद्रोह अक्सर बड़ी बेरहमी के साथ दबा दिये गए। लेकिन बराबरी के नये विचार धीरे-धीरे फैल रहे थे। लोगों के दिलों में सवाल पैदा होने लगे कि जब दूसरों के पास धन है और हर चीज़ की बहुतायत है, तो वे ही ग़रीब क्यों रहें और भूखे क्यों मरें? क्या वजह है कि कुछ लोग तो सरदार कहलायें और दूसरे गुलाम असामी हों? कुछके पास बढ़िया कपड़े क्यों हों, जबकि दूसरों के पास तन ढकने के लिए चिथड़े तक भी नहीं हैं? सत्ता के आगे सिर झुकाने का पुराना ख़याल, जिसपर सारी सामन्त-प्रथा की बुनियाद थी, ढह रहा था। इसलिए किसान लोग बार-बार सिर उठाते थे, लेकिन वे कमज़ोर और बिखरे हुए थे, इसलिए दबा दिये जाते थे। पर कुछ समय बाद वे फिर उठ खड़े होते थे।

इंग्लैण्ड और फ़्रान्स के बीच क़रीब-क़रीब लगातार युद्ध चलते रहे। चौदहवीं सदी के शुरू से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक, इन दोनों में युद्ध होता रहा, जो 'सौ वर्ष का युद्ध' कहलाता है। फ़्रान्स के पूर्व में बरगण्डी था। यह एक शक्तिशाली रियासत थी और नाम के लिए फ़्रान्स के बादशाह की ताबेदार थी। लेकिन यह सरकश और झगड़ालू रियासत थी और अंग्रेज़ों ने, फ़्रान्स के ख़िलाफ़, इससे और दूसरी शक्तियों से साज़िश-सी कर ली थी। थोड़े दिनों के लिए फ़्रान्स चारों ओर से भिच गया था। पश्चिमी फ़्रान्स का काफ़ी बड़ा हिस्सा बहुत दिनों तक अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में रहा और इंग्लैण्ड का बादशाह अपने को फ़्रान्स का बादशाह भी कहने लगा था। जिस समय फ़्रान्स के भाग्य का सितारा बहुत नीचे गिर गया था और उसके लिए कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती थी, तब आशा और विजय एक नौजवान किसान लड़की के रूप में प्रकट हुई। तुम 'ओर्लियों' की कुमारी' जीन द आर्क या जोन ऑफ़ आर्क के बारे में तो थोड़ा-बहुत जानती ही हो। उसे तुमने अपनी आदर्श वीर महिला मान रक्खा है। उसने अपने पस्त-हिम्मत देशवासियों के दिलों में भरोसा पैदा किया और उन्हें बड़ा भारी उद्योग करने की प्रेरणा दी और उसके नेतृत्व में फ्रान्सीसियों ने अंग्रेज़ों को अपने देश से मार भगाया। लेकिन इसका इनाम उसे यह मिला कि इनक्विज़िशन के सामने उसपर मुक़दमा चला और उसे ज़िन्दा जला दी जाने की सज़ा दी गई। अंग्रेज़ों ने उसे पकड़ लिया और ईसाई-संघ से उसके ख़िलाफ़ फ़तवा निकलवाया और फिर १४३० ई० में रूआँ नगर के चौराहे पर उसे ज़िन्दा जला दिया गया। बहुत वर्षों के बाद रोमन ईसाई-संघ ने अपने फ़तवे को बदलकर पहले अपकार को मिटाने की कोशिश की; और बाद में तो फिर उसे 'सन्त' का दर्जा दे दिया गया!

जीन ने फ़्रान्स की और अपनी पितृभूमि को विदेशियों से बचाने की आवाज़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठाई। यह आवाज़ नये ढंग की थी। उस वक़्त लोगों में सामन्ती भावना इतनी भरी हुई थी कि वे राष्ट्रीयता का विचार ही नहीं कर सकते थे। इसलिए जीन जिस ढंग से बात करती थी, उससे उन्हें ताज्जुब होता था और उसकी बातें कोई समझता ही नहीं था। लेकिन जीन द आर्क के ज़माने से फ़्रान्स में राष्ट्रीयता की हलकी-सी शुरुआत दिखाई देती है।

अंग्रेज़ों को अपने मुल्क़ से निकालने के बाद फ़्रान्स के बादशाह ने बरगण्डी की तरफ़ ध्यान दिया, जिसने उसे इतना परेशान कर रक्खा था। यह शक्तिशाली रियासत आख़िरकार क़ाबू में आ गई और १४८३ ई० में बरगण्डी फ़्रान्स का इलाक़ा बन गया। फ़्रान्स का बादशाह अब एक शक्तिशाली छत्रपति बन गया। उसने अपने सारे सामन्ती अमीर-सरदारों को या तो कुचल दिया या क़ाबू में कर लिया। बरगण्डी के फ़्रान्स में मिल जाने से जर्मनी और फ़्रान्स आमने-सामने आ गये; इनकी सरहदें एक-दूसरी को छूने लगीं। लेकिन जहाँ फ़्रान्स में एक मज़बूत केन्द्रीय राजतन्त्र था, वहाँ जर्मनी कमज़ोर था और बहुत-सी रियासतों में बँटा हुआ था।

इंग्लैण्ड भी स्काटलैण्ड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक लम्बा संघर्ष रहा है जिसमें स्कॉटलैण्ड अक्सर इंग्लैण्ड के ख़िलाफ़ फ़्रान्स का पक्ष लेता रहा। १३१४ ई० में स्काटलैण्डवालों ने रॉबर्ट ब्रूस के नेतृत्व में, बैनकबर्न की लड़ाई में अंग्रेज़ों को हरा दिया।

इससे भी पहले, बारहवीं सदी में, अंग्रेज़ों ने आयरलैण्ड को जीतने की कोशिशें शुरू कीं। इस बात को सात सौ वर्ष हो गये, तबसे अब तक आयरलैण्ड में कितनी लड़ाइयाँ हुईं, कितने ही विद्रोह हुए और कितना आतंक और तहलका मचा। इस छोटे-से देश ने विदेशी प्रभुत्व को मानने से बराबर इन्कार किया और पीढ़ी-दर-पीढ़ी विद्रोह करके दुनिया के सामने ऐलान कर दिया कि वह सिर नहीं झुकायेगा।

तेरहवीं सदी में यूरोप के एक और छोटे-से राष्ट्र स्वीज़रलैण्ड ने अपनी आज़ादी के हक़ का दावा किया। यह पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था और इसपर आस्ट्रिया का शासन था। तुमने विलियम टेल और उसके पुत्र का क़िस्सा पढ़ा होगा, लेकिन यह क़िस्सा शायद सही नहीं है। पर इससे भी ज्यादा अजीब चीज़ है बड़े साम्राज्य के ख़िलाफ़ स्वीज़रलैण्ड के किसानों का विद्रोह और उनका उसके सामने सिर झुकाने से इन्कार। पहले तीन ज़िलों ने बलवा किया और १२९१ ई० में एक 'अमर संघ' क़ायम किया। दूसरे ज़िले भी उसमें शामिल हो गये और १४९९ ई० में स्वीज़रलैण्ड आज़ाद गणराज्य हो गया। यह कई ज़िलों का एक संघ था और इसे 'स्विस कॉन्फ़ेडेरेशन' नाम दिया गया। तुम्हें याद होगा कि अगस्त की पहली तारीख को स्वीज़रलैण्ड में हम लोगों ने कई एक पहाड़ों की चोटियों पर होलियाँ जलती हुई देखी थीं। यह स्विस लोगों का राष्ट्रीय दिवस था; यह उनकी क्रान्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उस जन्म-दिन की सालगिरह थी जिस दिन अलाव जलाकर इशारा किया गया था कि आस्ट्रिया के शासक के ख़िलाफ़ बग़ावत की घड़ी आ गई है।

यूरोप के पूर्व में क़ुस्तुन्तुनिया में क्या हो रहा था? तुम्हें याद होगा कि लातीनी जिहादियों ने १२०४ ई० में यूनानियों से यह शहर छीन लिया था। १२६१ ई० में यूनानियों ने इन लोगों को निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर से क़ायम कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज़्यादा बड़ा ख़तरा सामने आ रहा था।

जब-मंगोल एशिया में होते हुए आगे बढ़े थे तब पचास हज़ार उस्मानी तुर्क उनसे जान बचाकर भाग निकले थे। ये सेलजूक तुर्क नहीं थे। ये अपने पूर्वज या राजवंश के संस्थापक, उस्मान के वंशज होने का दावा करते थे, इसलिए उस्मानी तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियों ने पश्चिमी एशिया में सेलजूकों की शरण ली। जान पड़ता है कि ज्यों-ज्यों सेलजूक तुर्क कमज़ोर पड़ते गये, उस्मानियों की ताक़त बढ़ती गई। वे फैलते भी चले गए। क़ुस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजाय, जैसा कि उनके पहले बहुतों ने किया था, वे उसे रास्ते में छोड़ गये और १३५३ ई० में एशिया को पार करके यूरोप जा पहुँचे। वहाँ वे तेज़ी से फैल गये। उन्होंने बलग़ारिया और सर्बिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और एड्रियानोपल को अपनी राजधानी बनाया। इस तरह से उस्मानी साम्राज्य क़ुस्तुन्तुनिया के दोनों तरफ़, एशिया और यूरोप में फैल गया। इसने क़ुस्तुन्तुनिया को चारों तरफ़ से घेर लिया मगर क़ुस्तुन्तुनिया शहर इसके बाहर ही रहा। हज़ार वर्ष पुराना घमण्डी पूर्वी रोमन-साम्राज्य घटते-घटते, बस अब इस शहर तक ही रह गया था। इससे ज़्यादा कुछ नहीं। हालाँकि तुर्क पूर्वी साम्राज्य को तेज़ी के साथ हड़प करते जा रहे थे, फिर भी मालूम होता है सुलतानों और सम्राटों में मित्रता बनी हुई थी और इन दोनों के ख़ानदानों में आपसी शादी-विवाह भी होते रहते थे। आख़िरकार १४५३ ई० में क़ुस्तुन्तुनिया पर भी तुर्कों का क़ब्ज़ा हो गया। अब हम सिर्फ़ उस्मानी तुर्कों का ज़िक्र करेंगे। सेलजूकों का नाम अब बाक़ी नहीं रहा था।

हालाँकि क़ुस्तुन्तुनिया के पतन की आशंका बहुत दिनों से की जा रही थी, फिर भी यह ऐसी घटना थी, जिसने यूरोप को हिला दिया, क्योंकि इसका मतलब यह था कि हज़ार वर्ष पुराना यूनानी पूर्वी साम्राज्य पूरी तरह ख़त्म हो गया। इसका मतलब यह भी था कि यूरोप पर मुसलमानों का दूसरा हमला हो। तुर्क फैलते चले गये और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था कि वे सारे यूरोप को जीत लेंगे, लेकिन वे वियेना के दरवाज़ों पर रोक दिये गए।

सेण्ट सोफ़िया का बड़ा गिरजा, जिसे छठी सदी में सम्राट् जस्तीनियन ने बनवाया था, बदलकर मसजिद बना दिया गया और उसका नाम आया सूफ़िया रख दिया गया। उसका ख़ज़ाना भी कुछ लूटा गया। इसकी वजह से यूरोप में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ उत्तेजना भी फैली लेकिन वह कुछ कर-धर नहीं सकता था। मगर सच तो यह है कि तुर्की सुलतान कट्टर यूनानी ईसाई-संघ की तरफ़ बहुत उदार रहे, यहाँ तक कि क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के बाद सुलतान मोहम्मद द्वितीय ने अपने को यूनानी ईसाई-संघ का सरपरस्त ही ऐलान कर दिया। बाद के एक सुलतान ने, जो 'शानदार सुलेमान' के नाम से मशहूर है, अपने को पूर्वी सम्राटों का प्रतिनिधि मानकर 'सीज़र' का खिताब धारण कर लिया। प्राचीन परम्परा की यही शक्ति होती है!

जान पड़ता है कि उस्मानी तुर्कों का क़ुस्तुन्तुनिया के यूनानियों ने कोई ज्यादा विरोध नहीं किया। उन्होंने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य ढह रहा है। उन्होंने पोप से और पश्चिमी ईसाइयों से तुर्कों को बेहतर समझा। लातीनी जिहादियों का उन्हें बड़ा तजुर्बा हो चुका था। कहते है कि १४५३ ई० के क़ुस्तुन्तुनिया के आखिरी घेरे में एक बिज़ैन्तीन अमीर ने कहा था कि, "पोप के ताज से रसूल की पगड़ी अच्छी है।"

तुर्कों ने जाँनिसार नाम की एक निराली फ़ौज बनाई। वे छोटे-छोटे ईसाई लड़कों को, ईसाइयों से खिराज के रूप में ले लेते थे और उनको खास तालीम देते थे। छोटे-छोटे बच्चों को उनके माँ-बाप से अलग कर देना बेरहमी थी। लेकिन इन लड़कों को इससे कुछ फ़ायदा भी होता था, क्योंकि उन्हें अच्छी तालीम दी जाती थी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जाँनिसारियों की यह फ़ौज उस्मानी सुलतानों की शक्ति का एक आधार बन गई। 'जाँनिसार' का मतलब है 'जान निछावर करनेवाला।"

इसी तरह, मिस्र में भी जाँनिसारियों के ढंग की ममलूकों की फौज बनाई गई। बाद में यह बहुत शक्तिशाली हो गई और इसमें से कोई लोग मिस्र के सुलतान भी हुए।

मालूम होता है कि उस्मानी सुलतानों ने क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के बाद अपने से पहले के बिज़ैन्तीन सम्राटों की विलास और भ्रष्टाचार की बहुत-सी बुरी आदतें भी विरासत में ले लीं। बिज़ैन्तीनों की सारी गिरी हुई साम्राज्यशाही ने इनको निगल लिया और धीरे-धीरे उनकी सारी ताक़त निचोड़ ली। लेकिन कुछ दिनों तक ये मजबूत बने रहे और ईसाई यूरोप इनसे डरता रहा। इन्होंने मिस्र जीत लिया और अब्बासियों के कमज़ोर और शक्तिहीन प्रतिनिधि से उसका ख़लीफ़ा का खिताब छीन लिया। उस वक़्त से उस्मानी सुलतान अपने को ख़लीफ़ा भी कहते रहे, लेकिन कुछ वर्ष हुए मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने खिलाफ़त और सुलतानियत दोनों को मिटाकर इस खिताब का अन्त कर दिया।

क़ुस्तुन्तुनिया के पतन की तारीख़ इतिहास की एक बड़ी तारीख़ है। इस दिन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से एक युग का अन्त और दूसरे की शुरुआत मानी जाती है। मध्य-युग ख़त्म हो जाते हैं, 'अन्धकार युग' के हज़ार वर्ष समाप्त होते हैं, यूरोप में तेज़ी पैदा होती है और नई ज़िन्दगी व चेतना नज़र आती है। इसे रिनेसाँ,[1] यानी विद्या और कला के पुनर्जन्म की शुरुआत कहते हैं। जनता मानो लम्बी नींद से जागती है। लोग सदियों पार प्राचीन यूनान की तरफ़ फिर कर नज़र डालते हैं, जबकि उसकी शान के दिन थे, और उससे प्रेरणा हासिल करते हैं। जीवन के उस निराशा और उदासी भरे नज़रिये के ख़िलाफ़ जिसपर ईसाई-संघ ज़ोर देता था, और इन्सानी भावना को जोड़नेवाली ज़ंजीरों के ख़िलाफ़, लोगों के दिमाग़ में विद्रोह-सा उठ खड़ा होता है। पुराने यूनानियों का सौन्दर्य-प्रेम फिर प्रकट होता है और यूरोप चित्रकला और मूर्त्तिकला की सुन्दर रचनाओं से खिल उठता है।

लेकिन क़ुस्तुन्तुनिया के पतन से ही ये सब बातें एकदम नहीं पैदा हो गईं। ऐसा ख़याल करना बेहूदगी होगी। तुर्कों के इस शहर पर क़ब्ज़ा कर लेने से परिवर्तन की गति में ज़रा-सी तेज़ी आ गई, क्योंकि बहुत - से विद्वान् और विद्या-व्यसनी लोग इसे छोड़कर पश्चिम चले गये। वे अपने साथ इटली में यूनानी साहित्य का ख़ज़ाना ठीक उस वक़्त लेकर आये जबकि पश्चिम उसकी क़द्र करने के लिए तैयार बैठा था। इस अर्थ में कह सकते हैं कि क़ुस्तुन्तुनिया के पतन से रिनेसाँ की शुरुआत में थोड़ी-सी मदद मिल गई।

लेकिन इस महान् परिवर्तन का यह बहुत छोटा कारण था। पुराना यूनानी साहित्य और विचार मध्य-काल के इटली या पश्चिम के लिए कोई नई चीज़ नहीं थे। विश्वविद्यालयों में लोग अब भी इसका अध्ययन करते थे और विद्वानों को इसकी जानकारी थी। लेकिन यह चीज़ कुछ गिने-चुने आदमियों तक ही सीमित थी, और चूंकि यह जीवन के चालू नज़रिये से मेल नहीं खाती थी, इसलिए इसका फैलाव नहीं हो पाता था। लोगों के मन में शंका की शुरुआत होने से धीरे-धीरे जीवन के नये नज़रिये की ज़मीन तैयार हुई। लोग ज़माने की हालत से नाख़ुश थे और ऐसी चीज़ की तलाश में थे, जो उन्हें ज्यादा तसल्ली दे सके। जब वे शंका और इन्तज़ारी की इस हालत में थे तो उनके दिमाग़ों ने यूनान की पुरानी मूर्त्ति-पूजक फ़िलासफ़ी खोज निकाली और उसके साहित्य का रस छककर पिया। उन्हें जान पड़ा कि उनको बस इसी चीज़ की तलाश थी और इस खोज ने उनमें जोश भर दिया।

यह रिनेसाँ सबसे पहले इटली में शुरू हुआ। बाद में फ़्रान्स, इंग्लैण्ड, वग़ैरा में प्रकट हुआ। यह सिर्फ़ यूनानी विचार और साहित्य की दुबारा खोज नहीं थी। यह इससे कहीं ज्यादा बड़ी और महान् चीज़ थी। यूरोप में सतह के नीचे-ही-नीचे

[1] रिनेसाँ (Renaissance)—कला और साहित्य के पुनरुत्थान का युग।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत दिनों से जो प्रक्रिया चल रही थी उसीका यह ज़ाहिरा रूप था। यह भीतरी हलचल बहुत-से रूपों में फूटकर निकलनेवाली थी। रिनेसाँ इन्हीं रूपों में से एक था।

: ७३ :

समुद्री रास्तों की खोज

३ जुलाई, १९३२

अब हम यूरोप में उस मंज़िल तक पहुँच गये हैं जब मध्यकालीन संसार टुकड़े-टुकड़े होना शुरू होता है और उसकी जगह एक नई व्यवस्था ले लेती है। लोग उस वक्त की हालत से बेज़ार और नाख़ुश थे और इस भावना ने ही परिवर्तन और तरक़्क़ी को पैदा किया। सामन्ती प्रथा और मज़हबी तौर-तरीक़े जिन वर्गों को निचोड़ते थे, वे सभी बेज़ार थे। हमने देखा है कि किसानों के विद्रोह होने लगे थे। लेकिन किसान बहुत पिछड़े हुए और कमज़ोर थे और विद्रोह करने पर भी कुछ हासिल न कर सके। उनके दिन अभी तक नहीं आये थे। असली संघर्ष पुराने सामन्त-वर्ग और जागे हुए नये मध्यम-वर्ग में था, जिसकी ताक़त बढ़ रही थी। सामन्त-प्रथा का मतलब यह था कि धन की बुनियाद ज़मीन है, या ज़मीन ही धन है। लेकिन अब एक नये क़िस्म का धन इकट्ठा हो रहा था, जो ज़मीन से पैदा नहीं होता था। यह धन उद्योगों से और व्यापार से आता था और नया मध्यम-वर्ग यानी बुर्जुआ इससे फ़ायदा उठाता था और इसीकी वजह से उसकी ताक़त बढ़ी थी। यह संघर्ष काफ़ी दिनों का हो चुका था। अब हम यह देखते हैं कि इन दोनों दलों की हालत में अदला-बदली हो गई थी। हालाँकि सामन्त-प्रथा अभी तक जारी थी, लेकिन उसे अब अपने बचाव की चिन्ता थी और मध्यम-वर्ग अपनी ताक़त के भरोसे हमलावर हो रहा था। यह संघर्ष सैकड़ों वर्षों तक जारी रहा और बुर्जुआ की दिन-पर-दिन जीत होती गई। यूरोप के अलग-अलग देशों में इस संघर्ष की जुदी-जुदी सूरत रही है। पूर्वी यूरोप में यह संघर्ष नहीं के बराबर था। पश्चिम में ही मध्यम-वर्ग सबसे पहले आगे आया।

पुरानी बन्दिशों के टूट जाने की वजह से कई दिशाओं में—जैसे विज्ञान में, कला में, साहित्य में और शिल्पकारी में, तरक़्क़ी हुई और नई-नई खोजें भी हुईं। जब मनुष्य की भावना-शक्ति अपने बन्धनों को तोड़ डालती है, तो हमेशा यही होता है। वह विकास करती है और फैल जाती है। इसी तरह, जब हमारा देश आज़ाद होगा, हमारे देशवासियों का और हमारी प्रतिभा का विकास होकर सब तरफ़ फैलाव होगा।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ का क़ब्ज़ा ढीला पड़ा और वह कमज़ोर हुआ, लोग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

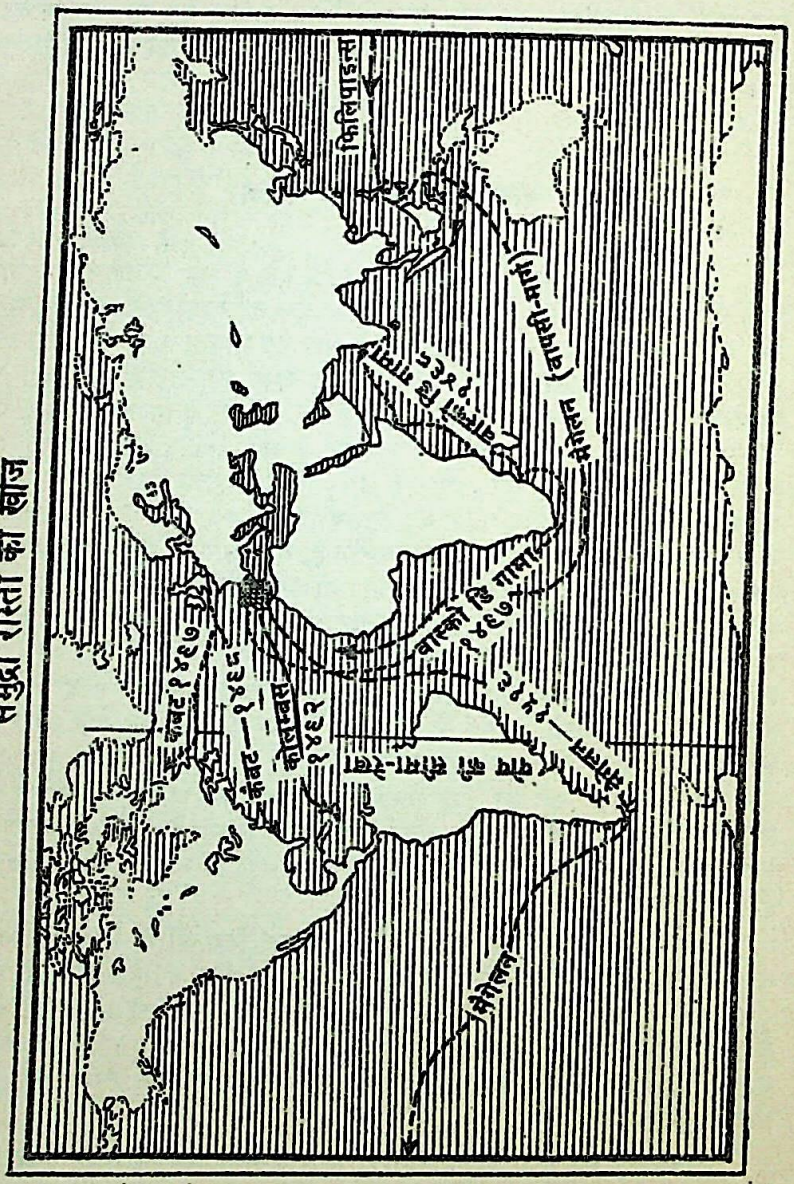

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े और छोटे गिरजों पर कम खर्च करने लगे। बहुत जगहों पर सुन्दर इमारतें बनीं। लेकिन ये टाउनहॉल या इसी क़िस्म की दूसरी इमारतें थीं। गोथिक शैली भी पीछे रह गई और एक नई शैली का विकास होने लगा।

ठीक इसी वक़्त, जब पश्चिमी यूरोप में नई ज़िन्दगी भर रही थी, पूर्व का सोना लोगों को लुभाने लगा। मार्को पोलो और दूसरे यात्रियों की कहानियों ने, जो भारत और चीन में सफ़र कर चुके थे, यूरोप की कल्पना को उभाड़ा और पूर्व की अथाह दौलत के इस ज़ोर ने बहुतों को समुद्र-यात्रा की ओर खींचा। इसी वक़्त क़ुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूर्व जाने के खुश्की और समुद्री रास्तों पर क़ब्ज़ा कर रक्खा था और वे व्यापार को ज़्यादा बढ़ावा नहीं देते थे। बड़े-बड़े सौदागर और व्यापारी इससे खीझ उठे और साहसिकों की नई जमात भी, जो पूर्व के सोने पर दाँत लगाये बैठी थी, झल्ला गई। इसलिए इन लोगों ने सुनहरे पूर्व तक पहुंचने के लिए नये रास्ते खोज निकालने की कोशिश की।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि ज़मीन गोल है और सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है। हम लोगों के लिए यह बिलकुल स्पष्ट बात है। लेकिन पुराने ज़माने में यह इतनी ज़ाहिर नहीं थी और जो लोग ऐसा सोचने या कहने का साहस करते थे, उन्हें ईसाई-संघ की नाराज़गी का सामना करना पड़ता था। लेकिन ईसाई-संघ का डर होते हुए भी दिन-पर-दिन और ज़्यादा लोग मानने लगे कि पृथ्वी गोल है। अगर गोल है तो पश्चिम की ओर जाने से भी चीन और भारत पहुँचना मुमकिन होना चाहिए, ऐसा कुछ लोग सोचते थे। कुछ अफ़्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँचने की सोचते थे। याद रहे कि उस वक़्त स्वेज़ नहर नहीं थी और जहाज़ भूमध्यसागर से लालसागर नहीं जा सकते थे। भूमध्यसागर और लालसागर के बीच माल और सौदागरी सामान खुश्की के रास्ते से, शायद ऊँटों पर लादकर, भेजे जाते थे, और दूसरी तरफ़ के जहाज़ों पर लादे जाते थे। यह ढंग सहूलियत का नहीं था। मिस्र और सीरिया पर तुर्कों का क़ब्ज़ा हो जाने से यह रास्ता और भी मुश्किल हो गया।

लेकिन भारत की दौलत का लोभ लोगों को बराबर उकसाता और खींचता रहा। खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा में स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढ़े। स्पेन उस वक़्त ग्रैनैडा से मूरों को सदा के लिए निकालने में लग रहा था। अरगॉन के फ़र्डिनेण्ड और कैस्ताइल की आइज़ाबेला के विवाह से ईसाई स्पेन एक हो गया था और १४९२ ई० में ग्रैनैडा अरबों के हाथ से जाता रहा। यह उस वक़्त की बात है जब यूरोप की दूसरी तरफ़, तुर्कों को क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा किये हुए क़रीब पचास वर्ष हो चुके थे। स्पेन फ़ौरन ही यूरोप की एक बड़ी ईसाई शक्ति बन गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुर्तगालियों ने पूर्व की तरफ़ जाने की कोशिश की; स्पेनियों ने पश्चिम की तरफ़। १४४५ ई० में पुर्तगालियों ने वर्दे का अन्तरीप खोज निकाला। इसे सबसे पहली बड़ी मंज़िल कहना चाहिए। यह अन्तरीप अफ़्रीका का आखिरी पश्चिमी छोर है। अफ़्रीका के नक़शे को देखो। तुम्हें मालूम होगा कि अगर कोई यूरोप से जहाज़ के ज़रिये इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम जाना होगा। वर्दे अन्तरीप पहुँचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस अन्तरीप की खोज आशा की बड़ी किरन थी, क्योंकि इससे लोगों को विश्वास हो गया कि अब वे अफ़्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँच सकेंगे।

फिर भी अभी अफ़्रीका का चक्कर काटने में चालीस वर्ष की देर थी। १४८६ ई० में बार्थोलोम्यू दायज़ ने, जो पुर्तगाली था, अफ़्रीका की दक्षिणी नोक का चक्कर लगाया। यही नोक उत्तमाशा अन्तरीप[1] कहलाती है। कुछ ही वर्षों के बाद एक दूसरा पुर्तगाली वास्को-द-गामा, इस खोज से फ़ायदा उठाकर, उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ भारत आया। वास्को-द-गामा १४९७ ई० में मलाबार के किनारे कलीकट आ पहुँचा।

इस तरह भारत पहुँचने की होड़ में पुर्तगालियों की जीत हुई। लेकिन इसी बीच दुनिया की दूसरी तरफ़ बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो रही थीं और स्पेन को उनसे फ़ायदा पहुँचनेवाला था। क्रिस्तोफ़र कोलम्बस १४९२ ई० में अमेरिका की दुनिया में जा पहुँचा। कोलम्बस जिनोआ का रहनेवाला एक ग़रीब आदमी था। इस विश्वास पर कि दुनिया गोल है, यह पश्चिम की ओर जहाज़ ले जाकर जापान और भारत पहुँचना चाहता था। उसे यह खयाल नहीं हुआ कि यह सफ़र उसके अन्दाज़े से इतना ज़्यादा लम्बा हो जायगा। वह एक राज-दरबार से दूसरे राज-दरबार में इस कोशिश में फिरा कि कोई राजा उसे इस खोज की समुद्र-यात्रा के लिए मदद दे दे। आख़िरकार स्पेन के फ़र्डिनेण्ड और आइज़ाबेला मदद देने को तैयार हो गये और कोलम्बस अठ्ठासी आदमियों और तीन छोटे जहाज़ों को लेकर रवाना हुआ। अनजानी दिशा में यह समुद्र-यात्रा असल में वीरता और साहस की यात्रा थी; क्योंकि कोई यह नहीं जानता था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के दिल में विश्वास था और वह विश्वास सही साबित हुआ। उनसठ दिन की समुद्र-यात्रा के बाद वे किनारे लगे। कोलम्बस ने समझा कि यही भारत है। लेकिन असल में यह वेस्ट-इण्डीज़ का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमेरिका के महाद्वीप में नहीं पहुँचा और मरते वक़्त तक उसका विश्वास रहा कि वह एशिया पहुँच गया। उसकी यह अजीब ग़लती आज तक क़ायम है। इन टापुओं को आज तक वेस्ट-इण्डीज़ कहते

---

[1] Cape of Good Hope.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और अमेरिका के आदिम निवासियों को अब भी इण्डियन या 'रैड इण्डियन' कहते हैं।

कोलम्बस यूरोप वापस आया और दूसरे साल और ज़्यादा जहाज़ों को लेकर फिर निकल पड़ा। लोगों ने समझा कि भारत का नया रास्ता मालूम हो गया। इससे यूरोप में काफ़ी हलचल मच गई। इसके कुछ दिन बाद ही वास्को-द-गामा ने पूर्वी यात्रा की जल्दी की और वह कलीकट पहुँचा। पूर्व और पश्चिम में नये देशों की खोज की खबर से यूरोप की बेक़रारी बढ़ने लगी। इन नये देशों पर हुकूमत जमाने की इच्छा रखनेवाले दो प्रतिद्वन्द्वी पुर्तगाल और स्पेन थे। इस मौक़े पर पोप ने दस्तन्दाज़ी की और स्पेनियों व पुर्तगालियों के बीच टक्कर को रोकने के लिए उसने दूसरों के बिरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। १४९३ ई० में उसने एक 'बुल' (पोप की घोषणाओं और फ़तवों को किसी कारण 'बुल' कहते है) निकाला जो 'हदबन्दी का बुल' कहलाता है। उसने अज़ोर्स के पश्चिम १०० लीग[1] के फ़ासले पर उत्तर से दक्षिण तक एक फ़र्ज़ी लकीर खींच दी और यह ऐलान कर दिया कि इस लकीर के पूर्व जितना ग़ैर-ईसाई मुल्क़ है, वह पुर्तगाल ले ले और इसके पश्चिम के मुल्क़ स्पेन ले ले। यूरोप को छोड़कर क़रीब-क़रीब सारी दुनिया का यह शानदार तोहफ़ा था और इसे देने में पोप को कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ा। अज़ोर्स अतलान्तिक महासागर के टापू हैं, और उनके पश्चिम में १०० लीग यानी ३०० मील के फ़ासले पर रेखा खींचने से सारा उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका का ज़्यादातर हिस्सा पश्चिम में पड़ जाता है। इस तरह से पोप ने दर असल अमेरिका महाद्वीप स्पेन की नज़र कर दिया और भारत, चीन, जापान और दूसरे पूर्वी देश और सारा अफ़्रीका पुर्तगाल की भेंट कर दिये।

पुर्तगालियों ने इस बड़ी सल्तनत पर क़ब्ज़ा करना शुरू किया। यह कोई आसान काम नहीं था। लेकिन वे कुछ आगे बढ़े और पूर्व की तरफ़ बढ़ते गये। १५१० ई० में वे गोवा पहुँचे। १५११ ई० में मलाया प्रायद्वीप में मलक्का पहुँचे। इसके बाद ही जावा और १५७६ ई० में चीन पहुँच गये। इसका मतलब यह नहीं है कि इन देशों पर उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया। कुछ जगहों पर उन्हें सिर्फ़ पाँव रखने की जगह मिल गई। किसी अगले पत्र में हम पूर्व में इन लोगों की कारगुज़ारियों की चर्चा करेंगे।

पूर्व की ओर जानेवाले पुर्तगालियों में फ़र्डिनेण्ड मैगेलन नाम का एक आदमी था। वह अपने पुर्तगाली मालिकों से लड़ पड़ा और यूरोप वापस जाकर स्पेन की प्रजा बन गया। उत्तमाशा अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से यह भारत और पूर्वी द्वीपों को जा चुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमेरिका होकर इन देशों को

[1] लीग—क़रीब तीन मील के बराबर होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम था कि जिस मुल्क़ का पता कोलम्बस ने लगाया था वह एशिया नहीं था। वास्तव में १५७३ ई० में बलबोआ नामक एक स्पेनी मध्य अमेरिका में पनामा के पहाड़ों को लाँघ कर प्रशान्त महासागर पहुँच गया था। उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र नाम दिया और इसके किनारे पर खड़े होकर उसने दावा किया कि यह नया समुद्र और इसके किनारों के तमाम देश उसके स्वामी स्पेन के बादशाह की मिल्कियत हैं।

१५१९ ई० में मैगेलन अपनी पश्चिमी समुद्र-यात्रा पर रवाना हुआ। यह यात्रा उसकी सबसे बड़ी यात्रा साबित होनेवाली थी। उसके साथ पाँच जहाज़ और २७० आदमी थे। वह अतलान्तिक महासागर पार करके दक्षिण अमेरिका पहुँचा और वहाँ से दक्षिण की तरफ़ सफ़र करते-करते वह आखिर में इस महाद्वीप के छोर तक पहुँच गया। उसका एक जहाज़ तो टूटकर नष्ट हो गया और दूसरा उसे छोड़कर भाग गया। सिर्फ़ तीन जहाज़ बचे। इन तीन जहाज़ों को लेकर वह दक्षिण अमेरिका के महाद्वीप और एक टापू के बीच के तंग जलडमरूमध्य को पार कर दूसरी तरफ़ के खुले समुद्र में जा निकला। इस समुद्र को उसने प्रशान्त महासागर नाम दिया, क्योंकि अतलान्तिक के मुक़ाबिले में यह बहुत ज़्यादा शान्त था। प्रशान्त महासागर तक पहुँचने में उसे १४ महीने लगे। जिस जलडमरूमध्य से वह गुज़रा था, वह अभी तक उसी के नाम पर 'मैगलन का जलडमरूमध्य' कहलाता है।

आगे भी मैगेलन ने बहादुरी के साथ अपनी यात्रा उत्तर की तरफ़ और इसके बाद अनजाने समुद्र में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ जारी रक्खी। उसके सफ़र का यह हिस्सा सबसे ज़्यादा भयंकर था। कोई नहीं जानता था कि इसमें इतने दिन लग जायँगे। क़रीब चार महीने, और हिसाब से ठीक गिना जाय तो १०८ दिन, वे समुद्र के बीच बिना खाना-पानी के भटकते रहे। आख़िरकार, बड़ी तकलीफ़ें उठाने के बाद, वे फ़िलिपाइन द्वीप पहुँचे। वहाँ के लोगों ने उनके साथ दोस्ती का सलूक किया। उन्हें खाने-पीने का सामान दिया और उनके साथ भेंटों की अदला-बदली की। लेकिन स्पेनवाले बदमिज़ाज और शान जमानेवाले थे। मैगेलन ने वहाँ के दो सरदारों की आपसी मामूली लड़ाई में भाग लिया और मारा गया। और भी बहुत-से स्पेनियों को इन टापुओं के निवासियों ने मार डाला, क्योंकि उन्होंने शान गाँठने का रवैया अपनाया था।

स्पेनी लोग मसाले के द्वीपों की तलाश में थे, जहाँ से कि क़ीमती गरम मसाले आया करते थे। वे इन्हींकी तलाश में आगे बढ़ते गये। उनका एक जहाज़ बेकार हो गया, इस कारण उसे जला देना पड़ा, बाक़ी सिर्फ़ दो बचे। यह तय हुआ कि इनमें से एक जहाज़ तो प्रशान्त महासागर होकर और दूसरा उत्तमाशा अन्तरीप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर वापस स्पेन जाय। पहला जहाज़ तो ज़्यादा दूर नहीं जा सका, क्योंकि उसे पुर्तगालियों ने पकड़ लिया। लेकिन दूसरा जहाज़, जिसका नाम 'विक्तोरिया' था, चुपचाप अफ़्रीका का चक्कर काटता हुआ रवाना होने के ठीक तीन वर्ष बाद, १५२२ ई० में, सिर्फ़ अठारह आदमियों के साथ स्पेन में सैविले जा पहुँचा। सारी दुनिया का चक्कर लगानेवाला यह पहला जहाज़ था।

मैंने तुमको 'विक्तोरिया' की समुद्री-यात्रा का विस्तार से हाल बताया है क्योंकि यह अद्भुत यात्रा थी। आजकल हम बहुत आराम के साथ सागरों को पार कर लेते हैं और बड़े जहाज़ों पर लम्बे-लम्बे सफ़र करते हैं। लेकिन इन शुरू के समुद्र-यात्रियों का ख़याल करो कि उन्होंने हर तरह के ख़तरों और संकटों का सामना किया और अज्ञात में गोते लगाकर अपने बाद के लोगों के लिए समुद्री-रास्तों की खोज की। उस ज़माने के स्पेनी और पुर्तगाली बड़े घमण्डी, शानबाज़ और बेरहम थे; लेकिन वे अद्भुत तौर पर बहादुर भी थे और जोखिम उठानेवाले साहस की भावना से भरे हुए थे।

जिस वक़्त मैगेलन दुनिया का चक्कर लगा रहा था, कोर्तीज़ मैक्सिको के शहर में दाख़िल हो रहा था और अज़्टेक साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए फ़तह कर रहा था। मैं तुम्हें इसके बारे में और अमेरिका की मय सभ्यता के बारे में थोड़ा पहले ही बता चुका हूँ। कोर्तीज़ १५१९ ई० में मैक्सिको पहुँचा। पिज़ारो १५३० ई० में दक्षिण अमेरिका के 'इनका' साम्राज्य में (जहाँ अब पेरू है) पहुँचा। हिम्मत और दिलेरी से, बेरहमी और फ़रेब से और वहाँ के लोगों के अन्दरूनी झगड़ों से फ़ायदा उठाकर कोर्तीज़ और पिज़ारो दोनों पुराने साम्राज्यों को ख़त्म करने में सफल हो गये। लेकिन ये दोनों साम्राज्य पुराने ज़माने की चीज़ हो गये थे और कुछ हद तक बहुत आदिम थे। इसलिए बालू की दीवार की तरह ये पहले ही धक्के में गिर गये।

ये बड़े-बड़े तलाश करनेवाले, और खोज करनेवाले जहाँ-जहाँ पहुँच चुके थे वहाँ-वहाँ उनके बाद लूटमार के लोभी और मौक़ा-परस्तों के झुण्ड-के-झुण्ड पहुँचने लगे। ख़ासकर स्पेनी अमेरिका को तो इन झुण्डों ने बहुत नुक़सान पहुँचाया। यहाँतक कि कोलम्बस के साथ भी इन लोगों ने बहुत बुरा बर्ताव किया। लेकिन साथ-ही-साथ पेरू और मैक्सिको से स्पेन को सोने और चाँदी की नदियाँ बराबर बह रही थीं। इन क़ीमती धातुओं की इतनी ज़्यादा मात्रा स्पेन पहुँची कि उससे यूरोप की आँखें चकाचौंध हो गईं और स्पेन यूरोप की सबसे बड़ी शक्ति बन गया। यह सोना और चांदी यूरोप के दूसरे देशों को भी गया और इस तरह पूर्व की पैदावार ख़रीदने के लिए उनके पास धन-दौलत की बहुतायत हो गई।

पुर्तगाल और स्पेन की कामयाबी से दूसरे देशों के लोगों की, ख़ासकर फ़्रान्स

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंग्लैण्ड, हॉलैण्ड और उत्तर जर्मनी के शहरों के लोगों की कल्पनाओं में सनसनी पैदा होना स्वाभाविक ही था। पहले इन लोगों ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उत्तरी रास्ते से एशिया और अमेरिका पहुँचने का, यानी नार्वे के उत्तर से होकर पूर्व जाने का, और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का, कोई रास्ता मिल जाय। लेकिन वे इसमें नाकामयाब रहे और उन्हें जाने हुए रास्तों को ही पकड़ना पड़ा।

वह ज़माना भी क्या ही अचरजभरा रहा होगा, जबकि दुनिया सामने खुलती हुई और अपने खज़ानों और चमत्कारों को ज़ाहिर करती हुई दिखाई दे रही थी! एक के बाद दूसरी नई खोजें हो रही थीं और नये महाद्वीप, नये समुद्र, और अपार दौलत मानो अलादीन की जादू-भरी पुकार 'खुल जाओ सम-सम' का इन्तज़ार कर रही थी। उस हवा में ही इन साहस-भरे कारनामों के जादू की साँस चल रही होगी।

दुनिया अब सँकरी हो गई है और इसमें खोज की गुंजाइश नहीं रही; कम-से-कम अभी तो ऐसा मालूम होता है। लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि विज्ञान ने ज़बर्दस्त नये नज़ारे खोल डाले हैं, जिनका भेद मालूम करने की ज़रूरत है और साहस के कारनामों की भी कोई कमी नहीं है—ख़ासकर आज के भारत में!

: ४७ :

मंगोल साम्राज्यों का बिखरना

९ जुलाई, १९३२

मैंने तुम्हें बताया है कि मध्य युग कैसे गुज़र गये; यूरोप में नई भावना, कैसे जागी और नई चेतना-शक्ति कैसे आई, जो कितने ही रास्तों से फूट निकली। यूरोप में मानो हलचल और रचनात्मक उद्यम की लहर दौड़ रही थी। वहाँ के निवासी सदियों तक कूप-मण्डूकों की तरह अपने छोटे-छोटे देशों में पड़े रहने के बाद एकदम बाहर निकल पड़े और लम्बे-चौड़े समुद्रों को पार करके दुनिया के कोने-कोने में पहुँचने लगे। अपनी ताक़त में भरोसा रखते हुए वे विजेताओं की तरह बढ़ते चले गए। इसी भरोसे ने उन्हें हिम्मत दी और उनसे अद्भुत काम कराये।

लेकिन तुम अचम्भा करती होगी कि यह अचानक परिवर्तन कैसे पैदा हुआ। तेरहवीं सदी के बीच में एशिया और यूरोप में मंगोलों का बोलबाला था। पूर्वी यूरोप उनके क़ब्ज़े में था; पश्चिमी यूरोप इन बड़े-बड़े और अजय दिखाई देने-वाले योद्धाओं के आगे थर्राता था। खान महान् के एक सेनापति तक के मुक़ाबले में यूरोप के बादशाहों और सम्राटों की क्या हस्ती थी?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो सौ वर्षों बाद, क़ुस्तुन्तुनिया का शाही नगर, और दक्षिण-पूर्वी यूरोप का काफ़ी हिस्सा, उस्मानी तुर्कों के क़ब्ज़े में आ गया था। मुसलमानों और ईसाइयों में ८०० वर्षों की लड़ाई के बाद वह बड़ा इनाम, जिसने अरबों और सेलजूक तुर्कों को लुभाकर खींचा था, उस्मानियों के हाथ में आया। उस्मानी सुल्तानों को इतने से तसल्ली न हुई और यूरोप पर ही नहीं बल्कि रोम पर भी लालच-भरी निगाहें डालने लगे। वे जर्मन (पवित्र रोमन) साम्राज्य और इटली पर जा धमके। हंगरी को जीतकर वे वियेना के दरवाज़े पर और इटली की सरहद तक पहुँच गये। पूर्व में उन्होंने बग़दाद को अपने साम्राज्य में मिला लिया और दक्षिण में मिस्र को। सोलहवीं सदी के मध्य में सुलतान सुलेमान, जिसे 'शानदार' कहा जाता है, इस विशाल तुर्की साम्राज्य पर राज करता था। समुद्रों में भी उसके जहाज़ी बेड़े सब पर हावी थे।

फिर यह परिवर्तन कैसे हुआ? यूरोप मंगोलों के ख़तरे से कैसे बचा? तुर्की ख़तरे से उसने अपनी जान कैसे बचाई? कैसे उसने न सिर्फ़ अपनी ही जान बचाई बल्कि ख़ुद दूसरों पर चढ़ाई करने लगा और दूसरों के लिए ख़तरा बन गया।

लेकिन यूरोप पर मंगोलों का यह ख़तरा बहुत दिन नहीं रहा। वे ख़ुद ही एक नये ख़ान का चुनाव करने के लिए वापस चले गए और फिर लौटकर नहीं आये। पश्चिमी यूरोप उनके वतन मंगोलिया से बहुत दूर था। शायद इसने उन्हें इसलिए भी न खींचा हो कि यह घने जंगलों का देश था और वे खुले मैदानों और बीड़ की ज़मीनों पर रहने के आदी थे। बहरहाल पश्चिमी यूरोप मंगोलों से बच गया—अपनी किसी बहादुरी की वजह से नहीं, बल्कि मंगोलों की लापरवाही और उनके दूसरे कामों में फँसे रहने की वजह से। पूर्वी यूरोप में वे कुछ ज़्यादा दिन रहे जबतक कि मंगोलों की शक्ति धीरे-धीरे ख़त्म न हो गई।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि १४५२ ई० में तुर्कों की क़ुस्तुन्तुनिया पर विजय यूरोप के इतिहास में एक ऐसी घटना मानी जाती है; जिससे उसके इतिहास का रुख़ ही बदल गया। सुभीते के लिए यह कह सकते हैं कि उस वक़्त से मध्य-युग ख़त्म हुए और नई भावना यानी रिनेसाँ का आना हुआ, जो कितनी ही दिशाओं में फूली। इसी तरह संयोग से ठीक उसी वक़्त, जब तुर्क यूरोप पर चढ़े आ रहे थे, और तुर्कों की कामयाबी की काफ़ी सम्भावना नज़र आती थी, यूरोप अपने पाँवों पर खड़ा हो गया और उसने अपने अन्दर ताक़त पैदा कर ली। तुर्क पश्चिमी यूरोप में कुछ अर्से तक बढ़ते चले गए; और जब वे बढ़ रहे थे, यूरोप के खोजी नये-नये देशों और समुद्रों का पता लगा रहे थे और पृथ्वी के चारों तरफ़ चक्कर लगा रहे थे। सुलतान शानदार सुलेमान के ज़माने में, जिसने १५२० से १५६६ ई० तक राज

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, तुर्की साम्राज्य वियेना से बग़दाद और क़ाहिरा तक फैल गया। लेकिन इसके आगे वे नहीं बढ़ सके। तुर्क लोग यूनानियों के क़ुस्तुन्तुनिया की कमज़ोर और भ्रष्ट करनेवाली परम्पराओं के शिकार हो रहे थे। इधर यूरोप की ताक़त बढ़ती जाती थी; उधर तुर्क अपनी पुरानी क्रिया-शक्ति खो रहे थे और कमज़ोर पड़ते जा रहे थे।

पुराने युगों में घूमते हुए हमने देखा कि एशिया ने यूरोप पर बहुत बार चढ़ाइयां कीं। यूरोप ने भी एशिया पर कुछ हमले किये, लेकिन उनका कोई महत्व नहीं था। सिकन्दर एशिया को पार करता हुआ भारत आया था, लेकिन इससे कोई बड़ा असर नही पड़ा। रोमन लोग इराक़ के आगे कभी नहीं बढ़े। दूसरी तरफ़ एशिया के क़बीलों ने शुरू ज़माने से ही यूरोप पर बार-बार धावे मारे। इन एशियाई हमलों में यूरोप पर उस्मानी तुर्कों का हमला आख़िरी था। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे पलड़ा उलट जाता है और यूरोप हमलावर बनता जाता है। यह परिवर्तन सोलहवीं सदी के बीच के लगभग हुआ समझना चाहिए। अमेरिका, जिसका पता हाल ही में चला था, यूरोप के सामने बहुत जल्द पस्त हो गया। लेकिन एशिया कुछ ज्यादा कठिन समस्या साबित हुआ। दो सौ वर्षों तक यूरोप के लोग एशियाई महाद्वीप के कई हिस्सों में पैर जमाने की जगह तलाश करते रहे और अठारहवीं सदी के मध्य तक एशिया के कुछ हिस्सों पर हावी हो गये। यह बात ध्यान में रखने की है, क्योंकि कुछ लोग, जो इतिहास नहीं जानते, समझते हैं कि यूरोप ने हमेशा एशिया पर हुकूमत की है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यूरोप का यह नया नाटकी पार्ट बहुत हाल का है और अब पर्दा बदलना शुरू भी हो गया है और यह पार्ट पुराना नज़र आने लगा है। पूर्व के तमाम देशों में नई भावनाएँ जाग रही हैं और शक्तिशाली आन्दोलन, जिनका उद्देश्य आज़ादी हासिल करना है, यूरोप की हुकूमत को चुनौती दे रहे हैं और हिला रहे हैं। इन राष्ट्रीय भावनाओं से भी ज्यादा व्यापक और गहरी वे समानता की समाजी भावनाएँ हैं जो सारे साम्राज्यवाद और शोषण का खात्मा कर देना चाहती हैं। भविष्य में यह सवाल क़तई नहीं रहेगा कि एशिया पर यूरोप की हुकूमत हो, या यूरोप पर एशिया की, या एक देश दूसरे का शोषण करे।

यह लम्बी भूमिका हो गई। अब हम फिर मंगोलों की चर्चा करेंगे। कुछ देर उनके चढ़ाव-उतार के साथ-साथ चलकर हमे देखना है कि उनकी क्या हालत हुई। तुम्हें याद होगा कि कुबलइखाँ, आख़िरी खान महान् था। १२९२ ई० में उसकी मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया में कोरिया से लेकर यूरोप में हंगरी और पोलैण्ड तक फैला हुआ था, पाँच साम्राज्यों में बँट गया। इन पाँचों साम्राज्यों में हरेक वास्तव में एक-एक बड़ा साम्राज्य था। मैंने अपने एक पिछले पत्र में इन पाँचों के नाम दे दिये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन पाँचों में चीन का साम्राज्य मुख्य था, जिसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनाम, तांङकिङ, और बरमा का कुछ हिस्सा शामिल था। युआन राजवंश, जो कुबलइ का वंशज था, इस साम्राज्य का वारिस हुआ। लेकिन बहुत दिनों के लिए नहीं। बहुत जल्दी ही दक्षिण में इसके टुकड़े टूट-टूटकर अलग होने लगे और, जैसा मैंने तुम्हें बताया है, १३६८ ई० में, कुबलइ के मरने के ठीक ७६ वर्ष बाद, यह राजवंश ख़त्म हो गया और मंगोल लोग निकाल बाहर किये गए।

बहुत दूर पश्चिम में सुनहरे क़बीले का साम्राज्य था—इन लोगों का यह क्या ही लुभावना नाम था! रूसी अमीर-सरदारों ने कुबलइ की मृत्यु के बाद २०० वर्षों तक इन लोगों को खिराज दिया। इस ज़माने के अख़ीर में, यानी १४८० ई० के लगभग, साम्राज्य कुछ कमज़ोर पड़ रहा था और मास्को के ग्राण्ड ड्यूक ने, जो रूसी अमीर-सरदारों का मुखिया बन बैठा था, खिराज देने से इन्कार कर दिया। इस ग्राण्ड ड्यूक का नाम महान् आइवन था। रूस के उत्तर में नोवगोरोद का पुराना गणराज्य था, जो व्यापारियों और सौदागरों के हाथ में था। आइवन ने इस गणराज्य को हराकर अपनी रियासत में मिला लिया। इसी बीच क़ुस्तुन्तुनिया तुर्कों के हाथ में पहुँच चुका था और पुराने सम्राटों का ख़ानदान वहाँ से भगा दिया गया था। आइवन ने इस पुराने शाही घराने की एक लड़की से शादी करली और इस बात का दावा करने लगा कि वह उस शाही वंश का है और पुराने बिज़ैन्तियम का वारिस है। रूसी साम्राज्य, जो १९१७ ई० की क्रान्ति में हमेशा के लिए ख़त्म हो गया, इसी महान् आइवन की मातहती में, इस तरह शुरू हुआ था। इसके पोते ने, जो बड़ा बेरहम था और इसीलिए 'भयंकर आइवन' कहलाता था, 'ज़ार' का ख़िताब धारण किया, जिसका अर्थ सीज़र या सम्राट् होता था।

इस तरह मंगोल हमेशा के लिए यूरोप से विदा हुए। सुनहरे क़बीले और मध्य एशिया के दूसरे मंगोल साम्राज्यों का क्या हुआ, इसके बारे में हमें अब ज्यादा सर खपाने की ज़रूरत नहीं है। दूसरे, मैं उनके बारे में ज्यादा जानता भी नहीं हूँ। लेकिन एक आदमी पर हमारा ध्यान ज़रूर जाता है।

यह आदमी तैमूर है, जो दूसरा चंगेज़ख़ाँ बनना चाहता था। वह चंगेज़ का वंशज होने का दावा करता था, लेकिन असल में वह तुर्क था। वह लँगड़ा था, इसलिए तैमूरलंग कहलाता था। वह अपने बाप के बाद १३६९ ई० में समरक़न्द का शासक बना। इसके बाद ही उसने अपनी विजय और जुल्मों की यात्रा शुरू कर दी। वह बहुत बड़ा सेनापति था, लेकिन पूरा वहशी भी था। मध्य एशिया के मंगोल इस बीच में मुसलमान हो चुके थे और तैमूर खुद भी मुसलमान था। लेकिन मुसलमानों से पाला पड़ने पर वह उनके साथ ज़रा भी नर्मी नहीं बरतता था। जहाँ-जहाँ वह पहुँचा उसने तबाही, बला और पूरी मुसीबत फैला दी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नर-मुण्डों के बड़े-बड़े ढेर लगवाने में उसे ख़ास मज़ा आता था। पूर्व में दिल्ली से लगाकर पश्चिम में एशिया-कोचक तक, उसने लाखों आदमी क़त्ल करा डाले और उनके कटे सिरों को स्तूपों की शक़्ल में जमवाया!

चंगेज़ख़ाँ और उसके मंगोल भी बेरहम और बरबादी करनेवाले थे, पर वे अपने ज़माने के दूसरे लोगों की तरह ही थे। लेकिन तैमूर उससे ज़्यादा बुरा था। बे-लगाम और शैतानी ज़ुल्म में उसका मुक़ाबला करनेवाला कोई दूसरा नहीं था। कहते हैं कि एक जगह उसने २००० ज़िन्दा आदमियों की एक मीनार बनवाई और उन्हें ईंट और गारे से चुनवा दिया!

भारत की दौलत ने इस वहशी को भी खींचा। अपने सेनापतियों और अमीर-सरदारों को भारत पर चढ़ाई करने के लिए राज़ी करने में इसे कुछ दिक़्क़त हुई। समरक़न्द में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें अमीर-सरदारों ने भारत जाने पर इसलिए ऐतराज़ उठाया कि वहाँ गर्मी बहुत पड़ती है। अन्त में तैमूर ने वादा किया कि वह भारत में ठहरेगा नहीं, लूट-मार करके वापस चला आयेगा और उसने अपना वादा पूरा किया।

तुम्हें याद होगा कि उत्तर भारत में उस वक़्त मुसलमानी राज था। दिल्ली में एक सुलतान राज करता था। लेकिन वह मुसलमानी सल्तनत कमज़ोर थी और सरहद पर मंगोलों से बराबर लड़ाइयाँ करते-करते इसकी कमर टूट गई थी। इसलिए जब तैमूर मंगोलों की फ़ौज लेकर आया, तो उसका कोई बड़ा मुक़ाबला नहीं हुआ और वह हत्याकाण्ड करता और खोपड़ियों के स्तूप बनाता हुआ मज़े के साथ आगे बढ़ता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों क़त्ल किये गए। मालूम होता है, उनमें कोई फ़र्क़ नहीं किया गया। जब ज़्यादा क़ैदियों को सम्हालना मुश्किल हो गया तो उसने उनके क़त्ल का हुक्म दे दिया और एक लाख क़ैदी मार डाले गये। कहते हैं कि एक जगह हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने मिलकर जौहर की राजपूती रस्म अदा की थी; यानी युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने के लिए वे बाहर निकल पड़े थे। लेकिन दिल दहलानेवाली इस कहानी को बार-बार दोहराते रहने की मेरी इच्छा नहीं है। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फ़ौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह पन्द्रह दिन रहा और उसने इस बड़े शहर को क़साईख़ाना बना दिया। बाद में कश्मीर को लूटता हुआ वह समरक़न्द वापस लौट गया!

हालाँकि तैमूर वहशी था, पर वह समरक़न्द में, मध्य-एशिया में और दूसरी जगहों पर बढ़िया इमारतें बनवाना चाहता था। इसलिए बहुत दिन पहले के सुलतान महमूद की तरह उसने भारत के कारीगरों, राजगीरों और होशियार मिस्त्रियों को इकट्ठा किया और उन्हें अपने साथ ले गया। इनमें जो सबसे अच्छे राजगीर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कारीगर थे उन्हें उसने अपनी शाही नौकरी में रख लिया। बाक़ी को उसने पश्चिमी एशिया के खास-खास शहरों में भेज दिया। इस तरह इमारतें बनाने की कला की एक नई शैली का विकास हुआ।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर रह गया था। चारों तरफ़ अकाल और महामारी का खुला राज था। दो महीने तक न कोई राजा था, न शासन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहाँ रह गये थे। यहां तक कि जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली में अपना नायब मुक़र्रर किया था, वह भी मुलतान चला गया।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक़ में तबाही और बर्बादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ़ बढ़ा। अंकारा में १४०२ ई० में उस्मानी तुर्कों की एक बहुत बड़ी फ़ौज के साथ इसका मुक़ाबला हुआ। बहुत होशियार सिपहसालारी से इसने इन तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र के आगे उसका बस नहीं चला, और वह दर्रे दानियाल को पार न कर सका। इसलिए यूरोप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद, १४०५ ई० में, जबकि वह चीन की तरफ़ कूच कर रहा था, तैमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौड़ा साम्राज्य भी, जो क़रीब-क़रीब सारे पश्चिमी एशिया में फैला हुआ था, ढह गया। उस्मानी तुर्क, मिस्र और सुनहरे क़बीले इसे खिराज देते थे। लेकिन उसकी योग्यता सिर्फ़ उसकी निराली सिपहसालारी तक ही सीमित थी। साइबेरिया के बर्फ़िस्तान में उसकी कुछ चढ़ाइयाँ असाधारण रही हैं। पर असल में वह एक जंगली घुमक्कड़ था; उसने न तो कोई संगठन बनाया और न चंगेज़ की तरह साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई क़ाबिल आदमी ही छोड़े। इसलिए तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ ख़त्म हो गया और सिर्फ़ बर्बादी और नर-हत्याओं की यादगार भर छोड़ गया। मध्य एशिया में होकर जितने भी हौसलेबाज़ और विजेता गुज़रे हैं, उनके झुण्ड में चार के नाम लोगों को अभी तक याद हैं—सिकन्दर, सुलतान महमूद, चंगेज़ख़ाँ और तैमूर।

उस्मानी तुर्कों को हराकर तैमूर ने उन्हें हिला डाला। लेकिन वे बहुत जल्द फिर पनप गये और आगे पचास वर्षों के अन्दर, यानी १४५३ ई० में, उन्होंने क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अब हमें मध्य एशिया से बिदा ले लेनी चाहिए। सभ्यता के दर्जे में वह नीचे चला जाता है और धुंधले पर्दे में छिप जाता है। अब वहाँ कोई ऐसी बात नहीं होती जिस पर हम ध्यान दें। सिर्फ़ उन पुरानी सभ्यताओं की यादगार बाक़ी रह जाती है, जिन्हें आदमी ने अपने हाथ से नष्ट कर दिया। क़ुदरत ने भी उस पर भारी मार की और धीरे-धीरे वहाँ की आबहवा को ज़्यादा खुश्क और आदमियों के कम रहने लायक़ बना दिया।

हमें मंगोलों से भी बिदा ले लेनी चाहिए; सिवाय उनकी एक शाखा के जो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद में भारत आई और जिसने यहाँ एक बड़ा और मशहूर साम्राज्य क़ायम किया। लेकिन चंगेज़ख़ाँ और उसके वंशजों का साम्राज्य बिखर गया। मंगोल फिर अपने छोटे-छोटे सरदारों और अपनी क़बीली आदतों में पड़ जाते हैं।

: ७५ :

भारत एक कठिन समस्या से जूझता है

१२ जुलाई, १९३२

मैं तैमूर और उसके हत्याकाण्डों और नर-मुण्डों के स्तूपों के बारे में लिख चुका हूँ। यह सब कितनी हौलनाक और वहशियाना बातें मालूम होती हैं! हमारे इस सभ्य युग में ऐसी बात नहीं हो सकती। लेकिन यह भी यक़ीन के साथ नहीं कहा जा सकता। हाल ही में हमने देखा है और सुना है कि हमारे ज़माने में भी क्या हो सकता है और क्या होता है। चंगेज़ख़ाँ और तैमूर का किया हुआ जान और माल का नुक़सान, हालाँकि बहुत ज़्यादा था, फिर भी वह १९१४-१८ ई० के महायुद्ध में हुई बर्बादी के मुक़ाबले नहीं के बराबर जचता है। और मंगोलों के हरेक ज़ुल्म की होड़ करनेवाली भीषणता के नमूने आज के ज़माने में भी मिल सकते हैं।

फिर भी, इसमें कोई शक नहीं कि चंगेज़ और तैमूर के ज़माने से आज हमने सैकड़ों बातों में प्रगति की है। यही नहीं कि आजकल की ज़िन्दगी कहीं ज़्यादा पेचीदी बन गई है, बल्कि वह ज़्यादा सम्पन्न भी है। क़ुदरत की कितनी ही ताक़तें खोज निकाली गई हैं, उनको समझने की कोशिश की गई है और उन्हें इन्सान के फ़ायदे के लिए काम में लगाया गया है। इसमें शक नहीं कि दुनिया आज ज़्यादा सभ्य और सुसंस्कृत है। फिर हम युद्ध-काल में पुराना जंगलीपन क्यों इख़्तियार कर लेते हैं? इसकी वजह यह है कि युद्ध खुद ही सभ्यता और संस्कृति का प्रतिवाद है। युद्ध का सभ्यता और संस्कृति से सिर्फ़ इतना ही ताल्लुक़ है कि यह सभ्य दिमाग़ से फ़ायदा उठाकर ज़्यादा-से-ज़्यादा शक्तिशाली और ख़ौफ़नाक हथियारों के आविष्कार कराता है और उनका इस्तेमाल कराता है। जब युद्ध शुरू होता है तो बहुत-से आदमी, जो इसमें लगे-फँसे होते हैं, अपने-आपको उत्तेजना की भयानक हालत में पहुँचा देते हैं। सभ्यता की सिखाई हुई बहुत-सी बातें भूल जाते हैं, सचाई को और ज़िन्दगी की शराफ़तों को भुला देते हैं, और हज़ारों वर्ष पुराने अपने वहशी पूर्वजों के समान बन जाते हैं। फिर इसमें ताज्जुब की बात क्या है कि युद्ध जब कभी छिड़ता है तो डर व नफ़रत पैदा करनेवाली चीज़ होता है।

अगर कोई अजनबी दूसरी दुनिया से इस दुनिया में युद्ध के ज़माने में आ जाय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो वह क्या कहेगा ? मान लो कि उसने हमें सिर्फ़ युद्ध के समय ही देखा, शान्ति के समय नहीं। वह सिर्फ़ युद्ध के आधार पर हमारे बारे में अपनी राय क़ायम करेगा और इस नतीजे पर पहुँचेगा कि हम लोग बेरहम, बेतरस और वहशी हैं; कभी-कभी साहस और त्याग दिखा देते हैं, लेकिन कुल मिलाकर देखा जाय तो हमारी ज़िन्दगी के नजात देनेवाले कोई पहलू नहीं, सिफ़ एक ही सबसे बड़ा जुनून है कि एक दूसरे को मारें और बर्बाद करें। वह हमारे बारे में ग़लत राय क़ायम करेगा और हमारी दुनिया के बारे में भोंडा खयाल बना लेगा, क्योंकि वह एक खास मौक़े पर, जो हमारे कुछ ज्यादा अनुकूल नहीं था, हमारा सिर्फ़ एक ही पहलू देखेगा।

इसी तरह अगर हम पुराने ज़माने का भी सिर्फ़ युद्धों और नर-हत्याओं के रूप में ही विचार करेंगे तो उसके बारे में हमारी राय ग़लत होगी। बदक़िस्मती से युद्धों और नर-हत्याओं की तरफ़ हमारा ध्यान बहुत ज्यादा खिंच जाता है। लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी बहुत-कुछ नीरस होती है। इतिहास-लेखक इसके बारे में क्या लिखें! इसलिए इतिहास-लेखक किसी युद्ध या लड़ाई पर झपटता है, और उसीको सबसे ज्यादा महत्व देता है। इसमें शक नहीं कि हम युद्धों को न तो भूल सकते हैं और न उन्हें नज़र-अन्दाज़ कर सकते हैं। लेकिन हमें उन्हें ज़रूरत से ज्यादा महत्व भी नहीं देना चाहिए। हमें पुराने ज़माने पर मौजूदा ज़माने के लिहाज़ से विचार करना चाहिए और उस ज़माने के आदमियों के बारे में आजकल के अपने लिहाज़ से सोचना चाहिए। तभी हमें उनकी ज्यादा इन्सानी झलक मिल सकेगी और हम महसूस करेंगे कि लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी और विचार ही असल में महत्व रखते हैं; कभी-कभी होनेवाले युद्ध नहीं। इस बात को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि तुम्हें इतिहास की पुस्तकें इस तरह के युद्धों के वर्णनों से बहुत ज्यादा भरी मिलेंगी। मेरे ये पत्र भी अक्सर उसी तरफ़ बहक जाते हैं। असली वजह इसकी यह है कि पुराने ज़माने के लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के बारे में लिखना मुश्किल है। मुझे इसके बारे में काफ़ी जानकारी नहीं है।

जैसा कि हमने देखा है, तैमूर भारत पर आनेवाली सबसे बुरी बलाओं में एक था। जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ उसने भीषणता की जो निशानियाँ छोड़ीं उनका विचार करने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर भी दक्षिण भारत पर उसका ज़रा भी असर नहीं पड़ा था। यही बात पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भारत के बारे में भी थी। आजकल का उत्तर प्रदेश भी बहुत करके उससे बचा गया था, सिवाय दिल्ली और मेरठ के नज़दीक के उत्तर के एक छोटे-से हिस्से के। दिल्ली शहर के अलावा पंजाब ही ऐसा प्रान्त था, जो तैमूर के छापे से सबसे ज्यादा बर्बाद हुआ। पंजाब में भी खास बर्बादी उन जगहों की हुई जो तैमूर के रास्ते में पड़ीं। पंजाब के ज्यादातर लोग बिना दखल के अपने रोज़मर्रा के कामों में लगे रहे। इसलिए हमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बात से होशियार रहना चाहिए कि हम इन युद्धों और हमलों के महत्व को ज़रूरत से ज़्यादा न बढ़ावें।

अब हमें चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों के भारत पर नज़र डालनी चाहिए। दिल्ली की सल्तनत सिकुड़ती जाती थी, यहाँ तक कि तैमूर के आने पर वह बिलकुल ग़ायब हो गई। सारे भारत में बहुत-सी बड़ी-बड़ी स्वाधीन रियासतें थीं, जिनमें से ज़्यादातर मुसलमानों की थीं। लेकिन दक्षिण में विजयनगर का एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य था। अब इस्लाम भारत के लिए कोई अजनबी या नया आनेवाला नहीं रह गया था; उसके पाँव यहाँ अच्छी तरह से जम गये थे। शुरू के अफ़ग़ान हमलावरों और ग़ुलाम बादशाहों की खूँख्वारी और बेरहमी ठण्डी पड़ चुकी थी, और मुसलमान अब उतने ही भारतीय थे जितने कि हिन्दू थे। उनका बाहरी मुल्कों से कोई रिश्ता नहीं रह गया था। अलग-अलग रियासतों के बीच युद्ध होते थे, लेकिन ये राजनीतिक थे, मज़हबी नहीं। कभी-कभी कोई मुसलमान राज्य हिन्दू सिपाहियों का उपयोग करता था, और कोई हिन्दू राज्य मुसलमान सिपाहियों का। मुसलमान बादशाह अक्सर हिन्दू औरतों से शादियाँ करते थे। अक्सर वे हिन्दुओं को मन्त्री बनाते थे और ऊँचे-ऊँचे ओहदे देते थे। विजेता और पराजित, या शासक और शासित, की कोई भावना नहीं रही थी। सच तो यह है कि ज़्यादातर मुसलमान, जिनमें कुछ शासक भी थे, वे भारतीय थे जिन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया था। इनमें से बहुत से तो इसलिए मुसलमान बने थे कि उनपर दरबार की कृपा हो जाय या उन्हें कुछ आर्थिक लाभ हो जाय। मज़हब बदल देने पर भी वे अपने पुराने बहुत-से रस्म-रिवाजों को पकड़े हुए थे। कुछ मुसलमान शासकों ने लोगों को मुसलमान बनाने के लिए ज़बर्दस्ती के तरीक़े अपनाये। लेकिन इसमें भी उद्देश्य ज़्यादातर राजनीतिक था, क्योंकि यह समझा जाता था कि मुसलमान बनने पर लोग ज़्यादा वफ़ादार प्रजा साबित होंगे। लेकिन मज़हब बदलवाने में ज़बर्दस्ती बहुत कारगर नहीं होती। आर्थिक तरीक़ा इससे ज़्यादा कारगर होता है। हरेक ग़ैर-मुस्लिम को जज़िया नाम का टैक्स देना पड़ता था, इसलिए बहुत-से इससे बचने के लिए मुसलमान हो गये।

लेकिन ये सब बातें शहरों में हुईं। गाँवों पर इनका कोई असर नहीं पड़ा और लाखों देहाती अपने पुराने ढर्रे पर चलते रहे। यह सही है कि अब सरकारी अफ़सरों ने गाँव की ज़िन्दगी में पहले से ज़्यादा दखल देना शुरू कर दिया था। ग्राम-पंचायतों के पहलेवाले अधिकार अब कम हो गये थे। फिर भी पंचायतों का सिलसिला जारी रहा और वे देहाती जीवन की केन्द्र और रीढ़ बनी रहीं। समाजी तौर पर और धर्म व रस्म-रिवाजों के मामलों में गाँवों में बहुत ही कम परिवर्तन हुआ। तुम जानती हो कि भारत आज तक भी लाखों गाँवों का देश है। देखा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय तो शहर और क़स्बे तो सिर्फ़ सतह के ही ऊपर बैठे हुए हैं; असली भारत हमेशा से देहाती भारत रहा है और आज भी है। इस देहाती भारत को इस्लाम ज्यादा नहीं बदल सका।

इस्लाम के आने से हिन्दू धर्म को दो तरह से धक्का लगा, और ताज्जुब तो यह है कि दोनों बातें एक दूसरी से उलटी थीं। एक तरफ़ तो वह रूढ़िवादी बन गया; वह सख्त पड़ गया और हमले से बचने की कोशिश में मज़बूत परकोटे के अन्दर घुस गया। जात-पाँत का बन्धन ज्यादा कठोर और अलगाव-पसन्द हो गया; पर्दा और स्त्रियों को बन्द करके रखना व्यापक हो गया। दूसरी तरफ़ जात-पाँत और बहुत ज्यादा पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड के ख़िलाफ़ एक अन्दरूनी विद्रोह-सा पैदा हो गया। हिन्दू धर्म में सुधार के लिए बहुत-सी कोशिशें की गईं।

वास्तव में सारा इतिहास बताता है कि शुरू के ज़माने से ही हिन्दू-धर्म में सुधारक पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने इसकी बुराइयों को दूर करने का जतन किया है। बुद्ध इनमें सबसे महान् थे। मैंने शंकराचार्य का ज़िक्र किया ही है, जो आठवीं सदी में हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद, ग्यारहवीं सदी में, एक और महान् सुधारक पैदा हुए, जो दक्षिण में चोल-साम्राज्य के रहनेवाले थे और शंकर-मत के मुक़ाबले के मत के नेता थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और तेज़ बुद्धिवाले थे; रामानुज वैष्णव थे और श्रद्धावान थे। रामानुज का प्रभाव सारे भारत में फैल गया। मैंने तुम्हें बताया है कि सारे इतिहास में संस्कृति के लिहाज़ से भारत एक रहा है—राजनीतिक लिहाज़ से चाहे इस देश में कितनी ही आपस में लड़नेवाली रियासतें क्यों न रही हों। जब कोई भी महापुरुष पैदा हुआ या बड़ा आन्दोलन उठा, वह राजनीतिक सीमाओं को लाँघकर सारे देश में फैल गया।

इस्लाम के भारत में जमने के बाद हिन्दुओं में और मुसलमानों में भी एक नये नमूने के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनों मज़हबों के समान पहलुओं पर ज़ोर देकर दोनों को नज़दीक लाने की कोशिश करते थे और दोनों की रीतियों और आडम्बरों की निन्दा करते थे। इस तरह दोनों के समन्वय या यूँ कहो कि मिलावट की कोशिश की गई। यह एक मुश्किल काम था, क्योंकि दोनों तरफ़ बहुत बैर और बिगाड़ था। लेकिन हम देखेंगे कि हर सदी में इस तरह की कोशिशें होती रहीं। यहाँ तक कि कुछ मुसलमान शासकों ने, और ख़ासकर अकबर महान् ने भी, इस तरह के समन्वय की कोशिश की।

रामानन्द, जो चौदहवीं सदी में दक्षिण में हुए, इस समन्वय का प्रचार करनेवाले सबसे मशहूर आचार्य थे। वह जात-पाँत के ख़िलाफ़ प्रचार करते थे और उसका बिलकुल विचार नहीं करते थे। कबीर नामक एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद में उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम शायद जानती होगी कि हिन्दी में उनके भजन आजतक उत्तर भारत के दूर-दूर के गाँवों तक में खूब प्रचलित हैं। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनों थे, या दोनों के बीच के थे, और दोनों मज़हबों के और सब जातियों के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे, उनकी लाश एक चादर से ढक दी गई। उनके हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द उसे दफ़न करना चाहते थे। इस पर दोनों में बाद-विवाद और झगड़ा हुआ। लेकिन जब चादर हटाई गई तो लोगों ने देखा कि वह शरीर, जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, ग़ायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताज़े फूल पड़े हुए थे। मुमकिन है कि यह कहानी बिलकुल मन-गढ़न्त हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनों बाद उत्तर में एक बड़े सुधारक और धार्मिक नेता पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होंने सिक्ख-पन्थ चलाया। इनके बाद एक-एक करके सिखों के दस गुरु हुए, जिनमें आखिरी गुरु गोविन्दसिंह थे।

भारत के धर्म और संस्कृति के इतिहास में एक और नाम मशहूर है, जिसका मैं यहाँ ज़िक्र करना चाहता हूँ। यह नाम चैतन्य का है, जो सोलहवीं सदी में बंगाल के एक नामी विद्वान् हुए और जिन्होंने यकायक यह तय कर डाला कि उनका किताबी ज्ञान किसी काम का नहीं है। इसलिए उसे छोड़कर उन्होंने भक्ति का मार्ग अपनाया। वह एक महान् भक्त बन गए और अपने शिष्यों को साथ लेकर सारे बंगाल में भजन गाते फिरने लगे। उन्होंने एक वैष्णव सम्प्रदाय भी क़ायम किया। बंगाल में आज भी उनका बहुत बड़ा असर नज़र आता है।

यह तो हुई धर्म के सुधार और समन्वय की बात। जीवन के दूसरे अंगों में भी इसी तरह का समन्वय, कभी जान में और ज़्यादातर अनजान में, जारी था। एक नई संस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई भाषा बन रही थी। लेकिन याद रक्खो कि ये सब-कुछ गाँवों की बनिस्बत शहरों में, खासकर शाही राजधानी दिल्ली में और सूबों और रियासतों की बड़ी राजधानियों में, ज़्यादा हो रहा था। चोटी पर बैठा बादशाह इतना निरंकुश था कि जितना पहले कभी भी न रहा होगा। पुराने भारतीय राजाओं की मनमानी को रोकने के लिए रिवाज और परम्पराएँ बनी हुई थीं। नये मुसलमान बादशाहों के लिए ऐसी कोई चीज़ नहीं थी। हाल कि सिद्धान्त-रूप से इस्लाम में कहीं ज़्यादा समता है और, जैसा कि हमने देखा है, ग़ुलाम भी सुलतान बन सकता था; फिर भी बादशाहों की मनमानी और बे-लगाम शक्ति बढ़ने लगी। इसकी इससे ज़्यादा हैरत में डालनेवाली मिसाल और क्या हो सकती है कि दीवाना तुग़लक अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले गया ?

ग़ुलाम रखने का रिवाज भी, खासकर सुलतानों में, बहुत बढ़ गया था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध में गुलाम पकड़ने की खासतौर से कोशिश की जाती थी। इनमें भी दस्तकारों की खास क़द्र की जाती थी। बाक़ी लोग सुलतान की गारद में भरती कर लिये जाते थे।

नालन्दा और तक्षशिला के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों का क्या हुआ? इनका नाम-निशान बहुत पहले ही मिट चुका था। लेकिन नई क़िस्म के नये विश्वविद्यालय-केन्द्र बहुत-से पैदा हो गये थे। ये 'टोल' कहलाते थे और उनमें पुरानी संस्कृत विद्या पढ़ाई जाती थी। लेकिन ये ज़माने के साथ नहीं चल रहे थे। ये मानो बीते ज़माने में रहते थे और शायद पीछे जाने की भावना बनाये रखते थे। बनारस हमेशा से इस क़िस्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

मैंने ऊपर कबीर के हिन्दी भजनों का ज़िक्र किया है। मालूम होता है कि पन्द्रहवीं सदी में हिन्दी न सिर्फ़ जनता की बल्कि साहित्य की भाषा भी बन गई थी। संस्कृत बहुत दिन पहले ही चालू भाषा नहीं रही थी। यहाँतक कि कालिदास और गुप्त राजाओं के ज़माने में भी वह सिर्फ़ विद्वानों तक ही सीमित थी। साधारण लोग प्राकृत बोलते थे, जो संस्कृत का एक बदला हुआ रूप थी। धीरे-धीरे संस्कृत की दूसरी पुत्रियों—हिन्दी, बंगाली, मराठी और गुजराती—का विकास हुआ। बहुत-से मुसलमान लेखक और कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ कीं। जौनपुर के एक मुसलमान बादशाह ने पन्द्रहवीं सदी में महाभारत और भागवत का संस्कृत से बँगला में अनुवाद कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान शासकों के हिसाब-किताब मराठी में रक्खे जाते थे। इस तरह हम देखते हैं कि पन्द्रहवीं सदी में ही संस्कृत से पैदा होनेवाली ये भाषाएँ काफ़ी तरक्क़ी कर चुकी थीं। दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ—तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड़—अलबत्ता इनसे कहीं पुरानी थीं।

मुसलमानों की दरबारी ज़बान फ़ारसी थी। ज़्यादातर पढ़े-लिखे लोग, जिन्हें दरबारों से या सरकारी दफ़्तरों से कुछ भी सरोकार था, फ़ारसी पढ़ते थे। इस तरह बहुत-से हिन्दुओं ने फ़ारसी सीखी। धीरे-धीरे लश्करों और बाज़ारों में एक नई भाषा पैदा हो गई, जो उर्दू कहलाई; क्योंकि उर्दू 'लश्कर' को ही कहते हैं। असल में उर्दू कोई नयी भाषा नहीं थी। यह हिन्दी ही थी, जिसकी पोशाक ज़रा बदली हुई थी; इसमें फ़ारसी के शब्द ज़्यादा थे वरना थी यह हिन्दी ही। यह हिन्दी-उर्दू भाषा, या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है हिन्दुस्तानी भाषा, सारे उत्तर और मध्य भारत में फैल गई। आज भी इसे मामूली फेर-फार से पन्द्रह करोड़ आदमी बोलते हैं और इससे कहीं ज़्यादा लोग समझते हैं। इस तरह संख्या के लिहाज़ से यह दुनिया की एक मुख्य भाषा है।

भवन-निर्माण कला में नई-नई शैलियों का विकास हुआ और दक्षिण के बीजापुर और विजयनगर में, गोलकुण्डा में, अहमदाबाद में—जो उस समय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बड़ा और सुन्दर शहर था—और इलाहाबाद के नज़दीक जौनपुर में, बहुत-सी शानदार इमारतें बनीं। क्या तुम्हें याद है कि हम हैदराबाद के पास गोलकुण्डा के पुराने खण्डहरों को देखने गये थे? हमने उस विशाल क़िले पर चढ़कर देखा था कि नीचे पुराना शहर फैला हुआ है, जिसके महल और बाज़ार आज निरे खण्डहर हो गये हैं।

इस तरह जब राजा लोग आपस में लड़ रहे थे और एक दूसरे को नष्ट कर रहे थे, तब भारत में ख़ामोश ताक़तें समन्वय का अनथक काम इसलिए कर रही थीं कि भारत के निवासी आपस में मेलजोल से रहें और एकजुट होकर अपनी शक्तियाँ तरक्क़ी और बेहतरी के लिए लगावें। सदियों के बाद उनको काफ़ी कामयाबी हासिल हुई। लेकिन उनका काम पूरा नहीं होने पाया था कि एक उलट-फेर फिर हुई और जिस रास्ते से हम आगे बढ़े थे उसीपर कुछ दूर वापस चले आये। हमें आज फिर उसी रास्ते पर चलना है और तमाम अच्छाइयों के समन्वय के लिए काम करना है। लेकिन इस बार इस समन्वय की बुनियाद ज़्यादा मज़बूत लेनी होगी। इसका आधार आज़ादी और समाजी समता पर होना चाहिए और यह एक बेहतर संसार-व्यवस्था में ठीक बैठना चाहिए। यह समन्वय तभी टिकाऊ हो सकता है।

धर्म और संस्कृति के समन्वय की इस समस्या ने भारत के बेहतर दिमाग़ को सैकड़ों वर्षों तक मशग़ूल रक्खा। भारत का दिमाग़ इसमें इतना डूबा रहा कि राजनीतिक और समाजी आज़ादी भुला दी गई। और जब यूरोप बीसियों दिशाओं में तेजी के साथ आगे बढ़ता चला जा रहा था, तब भारत क़दम रोके खड़ा हुआ था और सिर्फ़ ज़िन्दगी गुज़ारता हुआ पिछड़ता जा रहा था।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि एक वक़्त था जब विदेशी मण्डियों की बागडोर भारत के हाथ में थी। इसकी वजह यह थी कि रसायन में, रंगों के बनाने में और फ़ौलाद पर पानी चढ़ाने में भारत ने बहुत तरक्क़ी कर ली थी। इसके सिवा और भी बहुत-सी वजहें थीं। भारत के जहाज़ दूर-दूर देशों को उसका सौदागरी सामान ले जाते थे। जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उससे बहुत पहले भारत के हाथ से यह चीज़ जाती रही थी। सोलहवीं सदी में नदी वापस पूर्व की तरफ़ फिर बहने लगी। शुरू में तो यह मामूली-सा झरना थी। लेकिन आगे चलकर यह बढ़ते-बढ़ते एक विशाल धारा बन गई।

: ७६ :

दक्षिण भारत के राज्य

१४ जुलाई, १९३२

आओ, भारत पर फिर एक नज़र डालें और राज्यों व साम्राज्यों का बदलता हुआ नज़ारा देखें। ऐसा मालूम होता है, मानो हम कोई महान् और ख़त्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न होनेवाला चल-चित्र देख रहे हैं, जिसमें एक के बाद दूसरी ख़ामोश तसवीरें[1] सामने आ रही हैं।

तुम्हें शायद ख़ब्ती सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ की बात याद होगी और यह भी याद होगा कि दिल्ली के साम्राज्य को तहस-नहस करने में वह किस तरह सफल हुआ। दक्षिण के बड़े सूबे अलग हो गये और वहाँ नये राज्य बन गये। इन राज्यों में विजयनगर का हिन्दू राज्य और गुलबर्गा की मुसलमानी सल्तनत मुख्य थे। पूर्व में गौड़ का सूबा, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल थे, एक मुसलमान शासक की मातहती में स्वाधीन हो गया।

मुहम्मद का उत्तराधिकारी, उसका भतीजा, फ़ीरोज़शाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार और परोपकारी था। लेकिन मज़हबी बैर-भाव अभी फैला हुआ था। फ़ीरोज़ एक कुशल शासक था और उसने अपने प्रशासन में बहुत-से सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबों को तो फिर से न पा सका, पर साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था, उसे उसने ज़रूर रोक दिया। उसे नये-नये शहर, महल और मसजिदें बनाने का और बाग़-बग़ीचे डालने का ख़ास शौक़ था। दिल्ली के नज़दीक फ़ीरोज़ाबाद, और इलाहाबाद से कुछ दूर जौनपुर नगर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना की एक बड़ी नहर भी बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतों की, जो टूट-फूट रही थीं, मरम्मत करवाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत गर्व था। वह अपनी बनवाई हुई नई इमारतों की, और मरम्मत कराई हुई पुरानी इमारतों की, एक लम्बी सूची छोड़ गया है।

फ़ीरोज़शाह की माँ राजपूत थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बड़े सरदार की बेटी थी। कहते हैं कि उसके पिता ने पहले फ़ीरोज़ के बाप के साथ उसका विवाह करने से इन्कार कर दिया था। इसपर लड़ाई ठन गई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बर्बाद कर दिया गया। जब बीबी नैला को मालूम हुआ कि उसके कारण उसकी प्रजा पर मुसीबत आ रही है, तो वह बहुत घबराई और उसने तय किया कि अपनेको फ़ीरोज़शाह के पिता के हवाले करके लड़ाई ख़त्म कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फ़ीरोज़शाह में राजपूती ख़ून था। तुम देखोगी कि मुसलमान शासकों और राजपूत स्त्रियों के बीच में ऐसे आपसी विवाह अक़्सर होने लगे थे। इसकी वजह से एक राष्ट्रीयता की भावना के विकास में ज़रूर मदद मिली होगी।

फ़ीरोज़शाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, १३८८ ई० में मर गया। फ़ौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढाँचा, जिसे उसने जोड़ रक्खा था, टुकड़े-टुकड़े हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और हर जगह छोटे-छोटे

[1] जब यह पुस्तक लिखी गई थी तबतक बोलती फ़िल्में नहीं बनी थीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासकों की तूती बोलने लगी। गड़बड़ी और कमज़ोरी के इसी काल में, फ़ीरोज़शाह की मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद, तैमूर उत्तर से आ टूटा। दिल्ली को तो उसने क़रीब-क़रीब मार ही डाला। धीरे-धीरे यह शहर फिर पनपा और पचास वर्ष बाद एक सुलतान की मातहती में एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी फिर बन गया। लेकिन यह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी भारत के बड़े-बड़े राज्यों से उसका कोई मुक़ाबला नहीं था। यहाँ के सुलतान अफ़ग़ान थे। वे बड़े लीचड़ लोग थे; यहाँतक कि उन्हींके अफ़ग़ानी अमीर-सरदार अन्त में उनसे उकता गये, और इतने ऊब गये कि उन्होंने एक विदेशी को अपने ऊपर राज करने के लिए बुलाया। यह विदेशी बाबर था। बाबर मंगोल था, जिसे अब हम भारत में बस जाने के बाद मुग़ल के नाम से पुकारते हैं। वह तैमूर की पीढ़ी का था और उसकी माँ चंगेज़ख़ाँ के वंश की थी। उस समय वह क़ाबुल का शासक था। उसने भारत आने का बुलावा ख़ुशी से मंज़ूर कर लिया। वास्तव में वह शायद बिना बुलावे के ही आनेवाला था। दिल्ली के नज़दीक पानीपत के मैदान में १५२६ ई० में बाबर ने भारत का साम्राज्य फ़तह कर लिया। एक विशाल साम्राज्य फिर पैदा हुआ, जिसे भारत का मुग़ल-साम्राज्य कहते हैं। दिल्ली को फिर बड़प्पन मिला और वह साम्राज्य की राजधानी बन गई। लेकिन इस बात पर विचार करने के पहले हमें भारत के दूसरे हिस्सों पर भी नज़र डालनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इन डेढ़ सौ वर्षों में, जब दिल्ली का पतन हो रहा था, वहाँ क्या हो रहा था।

इस काल में भारत में छोटे-बड़े कई राज्य थे। नये बसाये हुए जौनपुर में मुसलमानों की एक छोटी-सी रियासत थी, जहाँ शर्क़ी सुलतानों की हुकूमत थी। यह रियासत बड़ी या ताक़तवर नहीं थी, और राजनीतिक दृष्टि से भी उसका कोई महत्व नहीं था। लेकिन पन्द्रहवीं सदी में क़रीब सौ वर्ष तक वह संस्कृति और मज़हबी उदारता का बड़ा भारी केन्द्र रही। जौनपुर के मुसलमानी मदरसे उदारता के इन ख़यालों को फैला रहे थे और जौनपुर के एक शासक ने तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक समन्वय क़ायम करने का जतन किया था, जिसका ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्र में कर चुका हूँ। कला और बढ़िया इमारत बनाने को बढ़ावा दिया जाता था और इसी तरह हिन्दी और बंगाली जैसी देश की विकसित भाषाओं को भी। भारी मज़हबी बैर-भावों के बीच जौनपुर की यह छोटी-सी और चन्दरोज़ा रियासत विद्या, संस्कृति और मज़हबी उदारता के आश्रय-स्थान के रूप में अलग खड़ी नज़र आती है।

पूर्व की तरफ़ ठेठ इलाहाबाद के नज़दीक तक फैला हुआ गौड़ों का विशाल राज्य था, जिसमें बिहार और बंगाल शामिल थे। गौड़ का नगर एक बन्दरगाह था, जिसका भारत के समुद्री किनारे के शहरों के साथ समुद्र के ज़रिये मिला हुआ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। मध्य-भारत में, इलाहाबाद के पश्चिम में क़रीब-क़रीब गुजरात तक फैला हुआ मालवा का राज्य था, जिसकी राजधानी माण्डव थी। यह शहर भी था और क़िला भी। इस माण्डू में बहुत-सी सुन्दर और शानदार इमारतें बनीं, जिनके खण्डहरों को देखने के लिए अभी तक लोग जाते हैं।

मालवा के उत्तर-पश्चिम में राजपूताना था, जिसमें बहुत-सी राजपूत रियासतें थीं—खासकर चित्तौड़। चित्तौड़ और मालवा और गुजरात में अक्सर एक-दूसरे से लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। इन दोनों शक्तिशाली रियासतों के मुक़ाबले में चित्तौड़ छोटी थी, लेकिन राजपूत लोग हमेशा बहादुर लड़ाके रहे हैं। संख्या में कम होने पर भी कभी-कभी उनकी जीत हुई है। चित्तौड़ के राणा ने मालवा पर इस तरह की एक विजय मनाने के लिए चित्तौड़ में 'विजयस्तम्भ' नाम की एक सुन्दर मीनार बनवाई थी। माण्डव के सुलतान ने भी इससे होड़ करके माण्डू में एक ऊँची मीनार बनवाई। चित्तौड़ की मीनार अभी तक क़ायम है; माण्डू की मीनार नष्ट हो चुकी है।

मालवा के पश्चिम में गुजरात था। वहाँ एक शक्तिशाली रियासत क़ायम हुई और इसकी राजधानी अहमदाबाद, जिसे सुलतान अहमदशाह ने बसाया था, लगभग दस लाख की आबादी का एक बड़ा शहर बन गया। इस शहर में बड़ी सुन्दर इमारतें बनीं और कहते हैं कि ३०० वर्ष तक, यानी पन्द्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक, अहमदाबाद दुनिया के सबसे सुन्दर शहरों में गिना जाता था। यह एक विचित्र बात है कि इस शहर की बड़ी जामा मस्जिद, राणपुर के जैन-मन्दिर से, जिसे चित्तौड़ के राणा ने इसी ज़माने में बनवाया था, बहुत मिलती है। इससे ज़ाहिर होता है कि भारत के पुराने वास्तुकार नये विचारों से किस तरह प्रभावित हो रहे थे और एक नई वास्तुकला को जन्म दे रहे थे। यहाँ फिर तुम्हें कला के मैदान में वह समन्वय दिखाई देगा, जिसका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ। आज भी अहमदाबाद में इनमें से बहुत-सी सुन्दर पुरानी इमारतें मिलती हैं, जिनमें पत्थर की खुदाई का अद्भुत काम है। लेकिन इन इमारतों के चारों तरफ़ अब जो नया उद्योगी शहर बस गया है, वह कोई खूबसूरत चीज़ नहीं है।

इसी समय के लगभग पुर्तगाली लोग भारत में आये। तुम्हें याद ही होगा कि उत्तमाशा अन्तरीप का फेरा लगाकर वास्को-द-गामा ही पहले-पहल भारत आया था। १४९८ ई० में वह दक्षिण में कलीकट पहुँचा। अलबत्ता इसके पहले भी बहुत-से यूरोपीय भारत आ चुके थे, लेकिन वे व्यापारी की हैसियत से या सिर्फ़ सैर करने के लिए आये थे। पुर्तगाली अब दूसरे ही खयाल से आये। इनमें अभिमान और आत्म-विश्वास भरा था। और पोप ने पूर्वी दुनिया का दानपत्र इनके नाम लिख ही दिया था। ये लोग देश-विजय के इरादे से आये थे। शुरू में इनकी संख्या कम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, लेकिन फिर तो जहाज़-पर-जहाज़ आने लगे और इन्होंने समुद्र-तट के गोवा जैसे कुछ शहरों पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। पर पुर्तगाली लोग भारत में कुछ सफल नहीं हो सके। वे देश के अन्दर कभी न घुस पाये; वैसे भारत पर समुद्र के रास्ते आकर हमला करनेवाले पहले यूरोपीय यही थे। इनके बहुत दिन बाद फ़ान्सीसी और अंग्रेज़ आये। इस तरह समुद्री रास्ते खुल जाने पर भारत की समुद्रों में कमज़ोरी ज़ाहिर हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य कमज़ोर पड़ गये थे और उनका ध्यान अन्दर से होनेवाले ख़तरों की तरफ़ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सुलतानों ने समुद्र पर भी पुर्तगालियों का मुक़ाबला किया। उन्होंने उस्मानी तुर्कों से गठबन्धन करके पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया, लेकिन बाद में पुर्तगाली जीत गये और समुद्र पर उनका क़ब्ज़ा हो गया। उसी वक़्त दिल्ली के मुग़ल बादशाहों के डर ने गुजरात के सुलतानों को पुर्तगालियों से सुलह करने पर मजबूर कर दिया, लेकिन पुर्तगालियों ने उन्हें धोखा दिया।

दक्षिण भारत में, चौदहवीं सदी की शुरुआत में, दो बड़ी सल्तनतें उठ खड़ी हुई थीं। एक गुलबर्गा, जिसे बहमनी सल्तनत कहते थे, और दूसरी उसके दक्षिण में विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र इलाक़े में और कर्नाटक के कुछ हिस्सों में फैली हुई थी। यह डेढ़ सौ वर्ष से ज्यादा चली, लेकिन इसका इतिहास बहुत हेच है। जनता की बेहद मुसीबतों के साथ-साथ मज़हबी बैर-भाव, हिंसा, हत्या और सुलतान व अमीर-सरदारों के विलासों का ज़ोर था। सोलहवीं सदी की शुरुआत में अपनी घोर नालायक़ी की वजह से बहमनी सल्तनत ढह गई और उसके टुकड़े होकर पाँच सल्तनतें बन गईं—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा, बीदर और बराड़। इसी बीच विजयनगर राज्य को बने क़रीब २०० वर्ष हो चुके थे, और उस समय भी वह ख़ूब अच्छी हालत में था। इन छः राज्यों के बीच अक़्सर युद्ध हुआ करते थे और हरेक दक्षिण का मालिक बनने की कोशिश करता था। उनमें तरह-तरह के गठबन्धन होते रहते थे, जो बार-बार बदलते रहते थे। कभी कोई मुसलमान-राज्य हिन्दू-राज्य से लड़ता था; कभी मुसलमान और हिन्दू-राज्य मिलकर किसी दूसरे मुसलमान राज्य से लड़ते थे। यह संघर्ष निरे राजनीतिक थे और जब कभी कोई राज्य बहुत ज्यादा ताक़तवर होता मालूम पड़ता, तो दूसरे राज्य उसके ख़िलाफ़ गठबन्धन कर लेते थे। आख़िर विजयनगर की ताक़त और दौलत ने मुसलमान रियासतों को उसके ख़िलाफ़ एकजुट होने के लिए रुजू कर दिया और १५६५ ई० में, तालीकोटा के युद्ध में वे इसे पूरी तरह कुचलने में सफल हो गईं। विजयनगर का साम्राज्य ढाई सौ वर्ष बाद ख़त्म हो गया और यह विशाल और शानदार शहर बिलकुल नष्ट हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी मित्र-राज्यों में फूट पड़ गई और वे आपस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लड़ने लगे। और बहुत दिन न बीतने पाये थे कि उन सबपर दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य की छाया पड़ गई। इनके लिए पुर्तगाली एक और मुसीबत थे, जिन्होंने १५१० ई० में गोवा पर क़ब्ज़ा कर लिया था। यह बीजापुर रियासत में था। उनके पैर उखाड़ने की भरसक कोशिशों के बावजूद भी वे गोवा में डटे रहे और उनका नेता अलबुकर्क़, जिसे 'पूर्व के वाइसराय' का शानदार खिताब था, घिनौने जुल्म पर उतर आया। पुर्तगालियों ने जनता का हत्याकाण्ड कर डाला और औरतों और बच्चों को भी नहीं छोड़ा। तबसे आज तक पुर्तगाली गोवा में बराबर बने हुए हैं।[1]

दक्षिण के इन राज्यों में, ख़ासकर विजयनगर, गोलकुण्डा और बीजापुर में, बड़ी सुन्दर इमारतें बनीं। गोलकुण्डा तो अब खण्डहर हो गया है; बीजापुर में अभी तक इनमें की बहुत-सी सुन्दर इमारतें मौजूद हैं; विजयनगर मिट्टी में मिला दिया गया और अब उसका नाम-निशान भी नहीं है। इसी ज़माने में हैदराबाद का शहर गोलकुण्डा के नज़दीक बसाया गया। कहा जाता है कि बाद में दक्षिण के राजगीर और कारीगर उत्तर की तरफ़ चले गये और उन्होंने आगरा का ताजमहल बनाने में मदद दी।

एक दूसरे के मज़हबों के लिए आमतौर पर उदारता के होते हुए भी कभी-कभी कट्टरपन और मज़हबी बैर-भाव फूट पड़ते थे। युद्धों के साथ अक़्सर भयंकर हत्याएँ और बर्बादी हुआ करती थीं। फिर भी याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि बीजापुर की मुसलमान रियासत में हिन्दू घुड़सवार फ़ौज थी, और विजयनगर के हिन्दू-राज्य में मुसलमान सिपाही थे। मालूम होता है कि उस समय काफ़ी ऊँचे दर्जे की सभ्यता थी। लेकिन यह सब धनवानों का खेल था; खेत में काम करने-वाला मज़दूर इससे बिलकुल अलग था। वह ग़रीब था, फिर भी जैसा हमेशा होता है, वह धनवानों के घोर विलास का बोझ बर्दाश्त करता था।

: ७७ :

विजयनगर

१५ जुलाई, १९३२

पिछले पत्र में दक्षिण के जिन राज्यों की चर्चा हमने की है, उनमें विजय-नगर का इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहाँ आये और इस राज्य और शहर का हाल लिख गये हैं। निकोलो कोन्ती नाम का एक इटालवी सन् १४२० ई० में आया था। हिरात का अब्दुर्रज़्ज़ाक मध्य एशिया में ख़ान महान् के दरबार से १४४३ ई० में आया था। पेईज़ नाम का एक पुर्तगाली

[1] दिसम्बर १९६१ में भारतीय सेना ने गोवा को आज़ाद करा लिया है और गोवा और उसकी बस्तियों पर भारतीय गणराज्य का अधिकार हो गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५२२ ई० में इस शहर में आया, और इसी तरह और भी बहुत-से लोग आये। भारत का एक इतिहास भी है, जिसमें दक्षिण भारत की रियासतों का, खासकर बीजापुर, का हाल है। यह इतिहास, जिस ज़माने की हम चर्चा कर रहे हैं, उससे थोड़े ही दिन बाद अकबर के ज़माने में, फ़रिश्ता ने फ़ारसी में लिखा था। उसी समय के लिखे गए इतिहासों में अक्सर पक्षपात की और बहुत बढ़ी-चढ़ी बातें भरी रहती हैं, लेकिन उनसे हालात समझने में मदद बहुत मिलती है। कश्मीर की 'राज-तरंगिणी' को छोड़कर मुसलमानों से पहले का कोई इतिहास नहीं मिलता। इसलिए फ़रिश्ता का इतिहास एक बिलकुल नई चीज़ थी। इसके बाद औरों ने भी लिखा।

विदेशी यात्रियों ने विजयनगर के जो बयान लिखे हैं, उनसे इस शहर की सही और पक्षपात-रहित तस्वीर हमारे सामने आ जाती है। इनसे हमें जितनी बातें मालूम होती हैं, उतनी उन कम्बख्त युद्धों के बयानों से नहीं मालूम होतीं, जो अक्सर हुआ करते थे। इसलिए मैं तुम्हें कुछ वे बातें बताऊँगा, जो इन लोगों ने लिखी हैं।

विजयनगर की बुनियाद सन् १३३६ ई० के क़रीब पड़ी। यह शहर दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में था। चूँकि यह हिन्दू राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक था कि दक्षिण की मुसलमानी रियासतों से बहुत-से शरणार्थी वहाँ जा पहुँचे। यह तेज़ी से बढ़ने लगा। कुछ ही साल में इस राज्य ने दक्षिण में अपना सिक्का जमा लिया; और इसकी राजधानी पर उसकी दौलत और खूबसूरती की वजह से लोगों का ध्यान खिंचने लगा। विजयनगर दक्षिण में सबसे ज्यादा प्रभावशाली राज्य बन गया।

फ़रिश्ता ने इसके महान् वैभव का ज़िक्र किया है, और १४०६ ई० में, जब गुलबर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राजकुमारी से शादी करने वहाँ पहुँचा, तब राजधानी की क्या हालत थी, इसका बयान किया है। फ़रिश्ता लिखता है कि सड़क के ऊपर छः मील तक ज़री, मखमल और इसी क़िस्म की क़ीमती चीज़ें बिछाई गई थीं। धन की यह कितनी भयंकर और शर्मनाक बर्बादी थी!

१४२० ई० में इटालवी निकोलो कोन्ती आया। उसने लिखा है कि शहर का घेरा साठ मील का था। यह विस्तार इतना विशाल इसलिए था कि इसमें बहुत-से बग़ीचे थे। कोन्ती की यह राय थी कि विजयनगर का शासक, जो राय कहलाता था, उस समय भारत का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य-एशिया से अब्दुर्रज्ज़ाक आया। विजयनगर जाते हुए इसने मंगलूर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा, जो खालिस पीतल को गलाकर ढाला गया था। वह १५ फ़ुट ऊँचा था और उसकी कुर्सी ३० फ़ुट लम्बी और ३०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ुट चौड़ी थी। उत्तर की ओर आगे बेलूर में वह ऐसे ही एक दूसरे मन्दिर को देखकर और भी हैरत में आ गया। उसने इस मन्दिर का बयान करने की कोशिश नहीं की, क्योंकि उसे डर था कि अगर वह ऐसा करेगा तो लोग उसपर "बहुत बढ़ा-चढ़ा-कर कहने का इलज़ाम लगावेंगे।" इसके बाद वह विजयनगर पहुँचा और इसके बयान में तो वह अपने-आपको ही भूल गया है। उसने लिखा है—"यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया में इसकी बराबरी की जगह न तो आँखों ने देखी न कानों ने सुनी।" बाज़ारों के बारे में वह लिखता है—"हरेक बाज़ार के सिरे पर ऊँचे महराबों का सिलसिला और शानदार दालान हैं, लेकिन राजा का महल इन सबसे ऊँचा है।" "बाज़ार बहुत लम्बे-चौड़े हैं।...मीठी सुगन्ध के ताज़ा फूल इस शहर में हर वक़्त मिलते हैं और जीवन का आधार ही समझे जाते हैं, मानो इनके बिना लोग ज़िन्दा ही नहीं रह सकते। एक पेशे या दस्तकारी के व्यापारियों की दूकानें पास-पास हैं। जौहरी लोग अपने माणक, मोती, हीरे और पन्ने बाज़ार में खुले आम बेचते हैं।" अब्दुर्रज़्ज़ाक ने आगे चलकर लिखा है कि "इस मनोहर इलाक़े में, जिसमें राजा का महल है, बहुत-सी छोटी नदियाँ और धाराएँ हैं, जो चमकदार और एक-समान कटे हुए पत्थरों की बनी नालियों में से होकर बह रही हैं। ..यह देश इतना घना बसा हुआ है कि थोड़ी-सी जगह में इसका अन्दाज़ लिख सकना नामुमकिन है।" और पन्द्रहवीं सदी के मध्य में आया हुआ मध्य एशिया का यह यात्री विजयनगर के वैभव की तारीफ़ के पुल बाँधता हुआ, इसी तरह लिखता चला गया है।

यह ख़याल हो सकता है कि अब्दुर्रज़्ज़ाक बहुत-से बड़े-बड़े शहरों से परिचित नहीं था, इसलिए जब उसने विजयनगर को देखा तो वह हक्का-बक्का रह गया। लेकिन इसके बाद आनेवाला यात्री काफ़ी सफ़र किया हुआ था। यह पेईज़ नामक पुर्तगाली १५२२ ई० में आया था। यह ठीक वही समय था जब इटली पर रिनैसाँ का प्रभाव पड़ रहा था और इटली के शहरों में सुन्दर इमारतें खड़ी हो रही थीं। पेईज़ को बहुत करके इटली के इन शहरों का पता था, इसलिए उसकी गवाही की बहुत क़ीमत है। उसने लिखा है कि विजयनगर का शहर "रोम के बराबर बड़ा है, देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने इस शहर के अचम्भों का और अनगिनिती सरोवरों, पानी के सोतों और फल के बग़ीचों की मोहनी का विस्तार के साथ बयान किया है। उसने लिखा है कि यह शहर "दुनिया भर में सबसे ज़्यादा भरा-पूरा है...क्योंकि इस शहर की हालत वैसी नहीं है, जैसी दूसरे शहरों की होती है, जहाँ अफ़सर ज़रूरी चीज़ों की और रसद की कमी पड़ जाया करती है, क्योंकि यहाँ हरेक चीज़ की बहुतायत है।" राजमहल में इसने एक कमरा देखा था, जो "सारा हाथीदाँत का बना हुआ था। कमरे की दीवारों पर ऊपर से नीचे तक और छत की कड़ियों के खम्भों पर सारे-के-सारे हाथी-दाँत के गुलाब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कमल बने हुए थे। और ये सब इतनी खूबसूरती से बनाये गए थे कि इनसे बेहतर बन ही नहीं सकते थे। यह इतना क़ीमती और सुन्दर है कि इस तरह का दूसरा कहीं भी मुश्किल से मिलेगा।"

पेईज़ ने विजयनगर के उस समय के राजा का भी वर्णन किया है। यह दक्षिण भारत के इतिहास का एक महान् राजा हुआ और महान् योद्धा, शत्रुओं पर दया दिखानेवाला, साहित्य का पोषक और लोकप्रिय व उदार शासक के रूप में उसकी कीर्ति दक्षिण में अभी तक बाक़ी है। इसका नाम कृष्णदेव राय था। इसने १५०९ से १५२९ ई० तक, बीस वर्ष राज्य किया। पेईज़ ने उसके क़द और शक़्ल-सूरत और गोरे रंग का भी वर्णन किया है। "यह राजा इतना भय उपजानेवाला और सारे गुणों की खान है जितना कि होना सम्भव है। यह ख़ुशमिज़ाज और बड़ा विनोदी है। यह विदेशियों की इज्ज़त करना चाहता है; उनका विनय से स्वागत करता है और उनकी हालत चाहे जो हो, उनकी सारी घरू बातें पूछता है।" इस राजा की कई उपाधियाँ गिनाने के बाद पेईज़ लिखता है—"लेकिन सच तो यह है कि वह ऐसा बाँका और सब गुणों की खान है कि जो कुछ उसके पास है, वह उसके जैसे आदमी के लिए कुछ भी नहीं है।"

वास्तव में कितनी ऊँची प्रशंसा है यह! विजयनगर का साम्राज्य इस समय सारे दक्षिण में और पूर्वी समुद्री किनारे पर फैला हुआ था। इसके अन्दर मैसूर, तिरुवांकुर और आजकल के मद्रास का सारा प्रान्त आ जाता था।

एक और भी चीज़ का मैं ज़िक्र करूँगा। १४०० ई० के क़रीब शहर में अच्छा पानी लाने के लिए बहुत बड़ी नहरें बनाई गई थीं। एक नदी सारी-की-सारी बाँध से रोक दी गई थी और एक बड़ा तालाब बना दिया गया था। इसी जगह से १५ मील लम्बी नहर के ज़रिये, जो पहाड़ को काटकर बनाई गई थी, शहर को पानी जाता था।

विजयनगर ऐसा ही था। इसे अपनी दौलत और खूबसूरती पर गर्व था और अपनी ताक़त पर ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा था। किसी को यह ख़याल भी नहीं था कि इस शहर और साम्राज्य का अन्त इतना नज़दीक है। पेईज़ के आने के ४३ वर्ष बाद ही अचानक ख़तरा पैदा हो गया। दक्षिण की दूसरी रियासतों ने बैर-भाव से विजयनगर के ख़िलाफ़ एक गुट्ट बना लिया और इसे नष्ट करने का इरादा कर लिया। उस वक़्त भी विजयनगर बेवक़ूफ़ों की तरह अपनी ताक़त के घमण्ड में रहा। पर जल्द ही उसका अन्त हो गया और इस अन्त की पूर्णता बड़ी ही भयानक थी।

जैसा मैंने तुम्हें बताया है, १५६५ ई० में रियासतों के इस गुट्ट ने विजयनगर को हरा दिया। ज़बर्दस्त नर-हत्या हुई और उसके बाद यह विशाल नगर लूट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया गया। तमाम सुन्दर इमारतें, मन्दिर और महल बर्बाद कर दिये गए। निहायत नफ़ीस पत्थर की नक्काशी और मूर्त्तियां चकनाचूर कर डाली गईं और जितनी भी चीज़ें जलाई जा सकती थीं, उनकी बड़ी-बड़ी होलियाँ जला दी गईं। यह शहर यहाँतक बर्बाद किया गया कि सिर्फ़ खण्डहरों के ढेर बाक़ी रह गये। एक अंग्रेज़ इतिहासकार कहता है, "दुनिया के इतिहास में ऐसे शानदार शहर का सत्यानाश, और वह भी ऐसा अचानक, शायद कभी भी नहीं किया गया। वह शहर, जो एक दिन पूरी तरह ख़ुशहाल, दौलतमन्द और मेहनती आबादी से भरा हुआ था, दूसरे ही दिन, वहशियाना हत्याकाण्ड के नज़ारों और सारे बयानों को फीका करने-वाले भयंकर कारनामों के बीच, दूसरों के क़ब्ज़े में आया, लूटा गया और खण्डहर बना दिया गया।"

: ७८ :

मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य

१७ जुलाई, १९३२

हमने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों की तरफ़ इधर बहुत कम ध्यान दिया है और इनके बारे में लिखे हुए बहुत दिन हो गये। मैंने उलटकर देखा तो मुझे मालूम हुआ कि मैंने अपने ४६ नम्बर के पत्र में इनका हाल लिखा था। उस वक़्त से अबतक इकतीस पत्र हो गये और अब हम ७८वें नम्बर तक आ पहुंचे हैं। सब देशों को साथ-साथ लेना मुश्किल काम है।

आज से ठीक दो महीने पहले मैंने जो कुछ तुम्हें लिखा था, वह तुम्हें याद है? क्या कम्बोदिया, अंकोर, सुमात्रा और श्रीविजय याद हैं? क्या तुम्हें यह याद है कि हिन्द-चीन के पुराने भारतीय उपनिवेश कई सौ वर्षों के दौरान किस तरह बढ़कर एक बड़ा राज्य—काम्बोज का साम्राज्य के रूप में बन गये। और फिर क़ुदरत का चक्र चला तो उसने इस नगर और साम्राज्य को सख़्ती से और एकदम ख़त्म कर दिया। यह १३०० ई० के लगभग की बात है।

इस काम्बोजी साम्राज्य का लगभग समकालीन एक दूसरा बड़ा राज्य समुद्र के उस पार सुमात्रा के टापू में था। लेकिन श्रीविजय, साम्राज्य बनाने की दौड़ में कुछ देर बाद शामिल हुआ था और काम्बोज के बाद तक क़ायम रहा। इसका अन्त भी बहुत करके एकदम हुआ, लेकिन यह क़ुदरत का नहीं, बल्कि आदमी का काम था। तीन सौ वर्षों तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के लगभग सारे टापुओं पर उसका अधिकार था और कुछ दिन तो उसने भारत, लंका और चीन में भी पैर रखने की जगह बना ली थी। यह व्यापारियों का साम्राज्य था और तिजा-रत इसका मुख्य काम था। लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी हिस्से में एक और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापारी साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह एक हिन्दू-राज्य था, जिसने श्रीविजय के सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया।

नवीं सदी के शुरू से चार सौ वर्षों तक पूर्वी जावा के इस राज्य को श्रीविजय की बढ़ती हुई ताक़त का ख़तरा बना रहा। लेकिन वह अपनी स्वाधीनता क़ायम रखने में कामयाब रहा और साथ ही इसने इतनी बड़ी संख्या में पत्थर के सुन्दर मन्दिर बनवाये कि अचम्भा होता है। इन मन्दिरों में सबसे मशहूर बोरोबुदुर के मन्दिर कहलाते हैं, जो अभी तक मौजूद हैं और जिन्हें देखने के लिए बहुत यात्री जाते हैं। श्रीविजय के राज्य में शामिल होने से बच जाने पर पूर्वी जावा ख़ुद सरज़ोर हो गया और अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के लिए उलटा एक ख़तरा बन गया। दोनों व्यापारिक राज्य थे और दोनों के जहाज़ व्यापार के लिए सागरों के पार जाते थे, इसलिए दोनों की आपस में अक़्सर टक्कर होती रहती थी।

मेरा दिल चाहता है कि जावा और सुमात्रा की इस होड़ का जर्मनी और इंग्लैण्ड जैसी आजकल की शक्तियों में चलनेवाली होड़ से मुक़ाबला करूँ। यह महसूस करके कि श्रीविजय को रोकने का और अपनी तिजारत को बढ़ाने का सिर्फ़ एक ही उपाय है कि अपनी जलसेना को मज़बूत किया जाय, जावा ने अपनी समुद्री-शक्ति ख़ूब बढ़ा ली। बड़े-बड़े जंगी बेड़े लड़ाई के लिए भेजे जाते थे. लेकिन वर्षों तक इनका मुक़ाबला दुश्मन से नहीं होता था। इस तरह जावा बढ़ता चला गया और दिन-दिन सरज़ोर होने लगा। तेरहवीं सदी के अन्त में भज्जापहित नामक शहर बसाया गया और यह जावा के बढ़ते हुए राज्य की राजधानी हो गया।

यह जावा राज्य इतना गुस्ताख़ और घमण्डी हो गया कि इसने ख़ान महान् कुबलइ के दूतों का, जो ख़िराज लेने के लिए यहाँ भेजे गए थे, अपमान भी कर डाला। यही नहीं कि ख़िराज न दिया हो, बल्कि एक दूत के माथे पर अपमान करनेवाला सन्देश गोद दिया गया। मंगोल ख़ान के साथ इस तरह का खिलवाड़ करना बहुत ही ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी की बात थी। ऐसे ही अपमान के बदले में चंगेज़ के हाथों मध्य एशिया का विनाश हुआ था और बाद में हलाकू के हाथों बग़दाद का। फिर भी जावा के छोटे-से टापूवाले राज्य ने ऐसी जुर्रत की। लेकिन जावा की ख़ुश-क़िस्मती थी कि मंगोल लोग बहुत-कुछ ठण्डे पड़ गये थे और उन्हें देश-विजय की कोई इच्छा नहीं रही थी। समुद्री लड़ाई भी उन्हें बहुत पसन्द न थी; वे तो ठोस ज़मीन पर अपने को ज़्यादा बलवान समझते थे। फिर भी कुबलइ ने जावा के अपराधी राजा को सज़ा देने के लिए फ़ौज भेजी। चीनियों ने जावानियों को हरा दिया और उनके राजा को मार डाला। लेकिन मालूम होता है उन्होंने ज़्यादा नुक़सान नहीं किया। चीनी असर से मंगोल कितने बदल गये थे!

देखा जाय तो वास्तव में इस चीनी हमले के नतीजे से जावा, जिसे अब हम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज्जापहित साम्राज्य कहेंगे, अन्त में और भी ज्यादा मज़बूत हो गया। इसकी वजह यह थी कि चीनियों ने जावा में बन्दूकों का इस्तेमाल जारी कर दिया और शायद इन बन्दूकों की ही वजह से मज्जापहित को आगे चलकर लड़ाइयों में कामयाबी हुई।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। लेकिन यह कोई संयोग से या बेढंगेपन से नहीं हुआ। यह साम्राज्यशाही विस्तार था, जिसका संगठन राज्य करता था और जिसे एक कुशल थल व जल सेना पूरा करती थी। विस्तार के इस ज़माने के कुछ हिस्से में महारानी सुहिता यहाँ की शासक थी। मालूम होता है कि सरकार बहुत ही केन्द्रित और कारगर थी। पश्चिमी इतिहासकारों ने लिखा है कि कर लगाने की, चुंगी की, राहदारी की और लगान की प्रणाली बहुत ऊँचे दर्जे की थी। सरकार के अलग-अलग महकमों में से कुछ ये थे—उपनिवेश-विभाग, वाणिज्य विभाग, सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग, गृह-विभाग और युद्ध-विभाग। एक सबसे ऊँची अदालत थी, जिसमें दो अध्यक्ष-न्यायाधीश और सात न्यायाधीश हुआ करते थे। मालूम होता है ब्राह्मण पुरोहितों के हाथों में बहुत शक्ति थी, लेकिन कहने को राजा इनपर अंकुश रखता था।

ये विभाग और इनमें से कुछ के नाम भी हमें कुछ हद तक कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र की याद दिलाते हैं। लेकिन उपनिवेशों का विभाग नया था। राज्य के अन्दरूनी इन्तज़ाम से सम्बन्ध रखनेवाले गृह-विभाग का अधिकारी 'मन्त्री' कहलाता था। इससे ज़ाहिर होता है कि भारतीय परम्पराएँ और संस्कृति इन टापुओं में दक्षिणी भारत के पल्लवों की पहली बस्ती बसने के १२०० वर्ष बाद तक क़ायम रहीं। यह तभी हो सकता था जब सम्पर्क बराबर बना रहा हो और इसमें शक नहीं कि इस तरह का सम्पर्क व्यापार के ज़रिये बना हुआ था।

चूँकि मज्जापहित एक व्यापारिक साम्राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि निर्यात और आयात के व्यापारों की व्यवस्था सावधानी के साथ की जाती। निर्यात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमें माल विदेशों को भेजा जाता है और आयात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमें बाहर के देशों से अपने देश में माल आता है। यह व्यापार ख़ासतौर से भारत, चीन और उसके अपने उपनिवेशों से हुआ करता था। जब श्रीविजय से युद्ध ठना हुआ था, तब उसके साथ या उसके उपनिवेशों के साथ, शान्ति से व्यापार नहीं हो सकता था।

जावा का राज्य कई सौ वर्षों तक रहा, लेकिन मज्जापहित साम्राज्य का महान् काल १३३५ से १३८० ई० तक, यानी केवल ४५ वर्ष का था। इसी ज़माने में, १३७७ ई० में श्रीविजय पर आख़िरी तौर से क़ब्ज़ा हुआ और वह नष्ट कर दिया गया। अनाम, स्याम और काम्बोज के साथ मज्जापहित की सन्धियाँ थीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज्जापहित की राजनगरी बहुत सुन्दर और ख़ुशहाल थी। शहर के बीचों-बीच शिव का बहुत बड़ा मन्दिर था। इसके अलावा बहुत-सी शानदार इमारतें थीं। सच तो यह है कि मलेशिया के सारे भारतीय उपनिवेशों ने सुन्दर इमारतें बनाने में कमाल हासिल किया था। जावा में और भी बड़े-बड़े शहर और बन्दरगाह थे।

यह साम्राज्यशाही राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के बाद ज़्यादा दिन तक नहीं टिका। धरेलू लड़ाई शुरू हो गई और चीन से भी झगड़ा हो गया। नतीजा यह हुआ कि चीनी जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा जावा पर चढ़ आया। उपनिवेश धीरे-धीरे टूट-टूटकर अलग होते गये। १४२६ ई० में बड़ा भारी अकाल पड़ा और दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नहीं रह गया। फिर भी यह एक स्वाधीन राज्य की हैसियत से पचास वर्ष और चलता रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान राज्य ने इस पर क़ब्ज़ा कर लिया।

इस तरह मलेशिया की पुरानी भारतीय बस्तियों से पैदा होनेवाले साम्राज्यों में से तीसरा साम्राज्य ख़त्म हुआ। अपने छोटे-छोटे पत्रों में हमने बड़े-बड़े ज़मानों को निबटाया है। भारत के उपनिवेशी पहले-पहल ईसाई सन् की शुरुआत के क़रीब यहाँ आये थे और इस वक़्त हम पन्द्रहवीं सदी का ज़िक्र कर रहे हैं। यानी हमने इन उपनिवेशों के इतिहास के १४०० वर्षों का सिंहावलोकन कर लिया है। हमने जिन तीन साम्राज्यशाही राज्यों, यानी काम्बोज, श्रीविजय और मज्जापहित पर ख़ास तौर से ग़ौर किया है, उनमें से हरेक सैकड़ों वर्ष क़ायम रहा। इन लम्बे ज़मानों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि इनसे इन राज्यों की पायेदारी और कुशलता का कुछ अन्दाज़ हो जाता है। सुन्दर इमारतों से उन्हें ख़ास प्रेम था और व्यापार उनका मुख्य धन्धा था। वे भारतीय संस्कृति की परम्परा क़ायम रखे हुए थे और इसमें उन्होंने चीनी संस्कृति के बहुत-से तत्वों को भी मिलाकर एक-रस बना दिया था।

तुम्हें यह याद होगा कि जिन तीन भारतीय उपनिवेशों का मैंने ख़ासतौर पर ज़िक्र किया है, उनके अलावा और भी भारतीय बस्तियाँ थीं। लेकिन हम हरेक पर अलग-अलग ध्यान नहीं दे सकते; और न मैं दो पड़ौसी देशों, यानी बरमा और स्याम, के बारे में ही कुछ ज़्यादा कह सकता हूँ। इन दोनों देशों में भी बड़े शक्तिशाली राज्य बने और कला की हलचल ने ख़ूब ज़ोर पकड़ा। दोनों में बौद्ध-धर्म फैला। बरमा पर मंगोलों ने एक बार हमला किया था, लेकिन स्याम पर चीनियों ने कभी हमला नहीं किया। मगर बरमा और स्याम दोनों अक़्सर चीन को ख़िराज देते थे। यह इस क़िस्म की भेंट थीं, जैसी कोई विनयशील छोटा भाई बड़े भाई को पेश करे। इस ख़िराज के बदले छोटे भाई के पास चीन से क़ीमती तोहफ़े आते थे।

मंगोलों का हमला होने के पहले बरमा की राजधानी पगान थी। यह शहर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरी बरमा में था। यह शहर २०० वर्षों से ज्यादा राजधानी रहा। कहते हैं कि यह शहर बड़ा सुन्दर था और अंकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था। इसकी सबसे बढ़िया इमारत आनन्द मन्दिर थी, जो बौद्ध वास्तुकला के दुनिया भर में सबसे सुन्दर नमूनों में गिनी जाती है। इसके अलावा और भी बहुत-सी शानदार इमारतें थीं। सच तो यह है कि आज पगान शहर के खण्डहर तक भी सुन्दर हैं। पगान की शान का ज़माना ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी तक था। इसके बाद कुछ दिन बरमा में कुछ गड़बड़ और खलबली रही और उत्तरी बरमा दक्षिणी बरमा से अलग हो गया। सोलहवीं सदी में दक्षिण में एक बड़ा राजा पैदा हुआ और उसने बरमा को फिर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू में थी, जो दक्षिण में है।

मुझे उम्मीद है कि बरमा और स्याम के इस थोड़े और अचानक ज़िक्र से तुम उलझन में न पड़ोगी। हम मलेशिया और इन्दोनेशिया के इतिहास के एक अध्याय के अन्त तक पहुंच गये हैं और मैं अपना सिंहावलोकन पूरा कर लेना चाहता हूँ। अभी तक इन हिस्सों पर राजनीतिक और सांस्कृतिक जो भी मुख्य प्रभाव पड़े, उनका मूल भारत और चीन में था। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी देशों, यानी बरमा, स्याम और हिन्द-चीन पर चीन का ज्यादा प्रभाव पड़ा था। टापुओं और मलाया प्रायद्वीप पर भारत का ज्यादा असर पड़ा था।

अब एक नया असर मैदान में आता है। यह अरबों का लाया हुआ था। बरमा और स्याम तो इससे बच गये पर मलाया और टापू इस असर में आ गये और थोड़े ही दिनों में एक मुसलमानी साम्राज्य बनने लगा।

अरब व्यापारी इन टापुओं में हज़ार या अधिक वर्षों से आते थे और बसते गये थे, लेकिन इनका सारा ध्यान अपने धन्धे में ही रहता था, और ये हुकूमत में कोई दखल नहीं देते थे। चौदहवीं सदी में अरबी धर्म-प्रचारक अरब से यहाँ आये और उन्हें कामयाबी हुई, खासतौर से कुछ मुक़ामी शासकों को मुसलमान बनाने में।

इसी बीच राजनीतिक परिवर्तन शुरू हो गये थे। मज्जापहित फैल रहा था और श्रीविजय को कुचल रहा था। जब श्रीविजय का पतन हुआ तो बहुत-से शरणार्थी भागकर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में जा बसे। वहाँ उन्होंने मलक्का शहर क़ायम किया। यह शहर और राज्य तेज़ी से बढ़े और १४०० ई० में ही मलक्का एक बड़ा शहर हो गया था। मज्जापहित के जावानियों को उनकी प्रजा के लोग पसन्द नहीं करते थे। जैसा आमतौर पर साम्राज्यवादियों का तरीक़ा होता है, ये लोग ज़ालिम थे, इसलिए बहुत-से लोगों ने मज्जापहित में रहने की बनिस्बत मलक्का के नये

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य में जाकर बसना बेहतर समझा। स्याम भी इस वक़्त कुछ ज़्यादा सरज़ोर हो रहा था। इसलिए मलक्का बहुत-से लोगों के लिए शरण की जगह बन गया। यहाँ मुसलमान और बौद्ध दोनों थे। यहाँ के शासक पहले तो बौद्ध थे, लेकिन बाद में उन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया।

मलक्का के नये राज्य को एक तरफ़ जावा से और दूसरी तरफ़ स्याम से खतरा था। इसने टापुओं की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों से दोस्ती और गठबन्धन करने की कोशिश की। इसने बचाव के लिए चीन से भी मदद माँगी। उस वक़्त मिङ लोग, जो मंगोलों को हरा चुके थे, चीन में राज कर रहे थे। यह मार्के की बात है कि मलेशिया की छोटी-छोटी सब मुसलमान रियासतों ने एक साथ ही बचाव के लिए चीन का मुँह ताका। इससे ज़ाहिर होता है कि इन्हें ताक़तवर दुश्मनों का कोई तुरन्त का खतरा रहा होगा।

मलेशिया के देशों के साथ चीन ने हमेशा से दोस्ताना, पर रौबदार अलगाव की नीति बरती। दूसरे देशों को जीतने की उसे ज़रा भी इच्छा नहीं थी। उसका ख़याल था कि दूसरे देशों को जीतने से उसे कोई लाभ नहीं मिल सकता, लेकिन वह इन्हें अपनी सभ्यता सिखाने के लिए तैयार था। ऐसा लगता है कि मिङ सम्राट ने इस पुरानी नीति को बदलने और इन देशों में ज़्यादा दिलचस्पी लेने का फ़ैसला किया। जान पड़ता है कि उसने जावा और स्याम की सरज़ोरी को पसन्द नहीं किया। इसलिए इनको रोकने और दूसरों पर चीन की शक्ति का सिक्का जमाने के इरादे से उसने एक बड़ा जंगी-बेड़ा जल-सेनापति चेंङ-हो की मातहती में भेजा। इस बेड़े में कई जहाज़ ४०० फ़ुट लम्बाई के थे।

चेंङ-हो कई बार आया-गया और उसने क़रीब-क़रीब सभी टापुओं—फ़िलिपाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप, वग़ैरा का दौरा किया। वह लंका तक भी जा पहुँचा और उसे जीतकर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया। अपने आखिरी धावे में वह ईरान की खाड़ी तक पहुँच गया था। पन्द्रहवीं सदी की शुरुआत में चेंङ-हो की इन यात्राओं का उन सब देशों पर ज़बर्दस्त असर पड़ा, जहाँ जहाँ वह गया था। हिन्दू मज्जापहित और बौद्ध स्याम को दबाने के लिए उसने जान-बूझकर इस्लाम को बढ़ावा दिया और मलक्का की रियासत उसके विशाल बेड़े की छत्र-छाया में बहुत मज़बूती से जम गई। इसमें शक नहीं कि चेंङ-हो की नीयत केवल राजनीतिक थी और मज़हब से इसका कोई ताल्लुक़ न था। वह खुद तो बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के विरोधियों की अगुआ बन गई। इसकी ताक़त बढ़ने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया। १४७८ ई० में मज्जापहित शहर पर भी क़ब्ज़ा हो गया। फिर तो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम दरबारों का और शहरों का मज़हब बन गया। लेकिन देहात में, भारत की तरह, पुराने विश्वास और कथाएँ और रिवाज जारी रहे।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित की तरह महान् और बड़ी उम्र का हो सकता था, लेकिन इसे मौक़ा न मिला। इस बीच में पुर्तगाली आ धमके और कुछ वर्षों के अन्दर, १५११ ई० में, इस पर उनका क़ब्ज़ा हो गया। इस तरह चौथे की जगह पाँचवें साम्राज्य ने ले ली और वह भी बहुत दिनों तक टिका न रहा। इतिहास में पहली बार पूर्वी समुद्रों में यूरोप सरज़ोर और हावी हो गया।

: ७९ :

यूरोप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

१९ जुलाई, १९३२

हमने अपना आख़िरी पत्र उस मौक़े पर ख़त्म किया था, जब मलेशिया में पुर्तगाली नज़र आने लगे थे। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें कुछ दिन पहले बताया था कि समुद्र के रास्ते कैसे खोजे गए और पुर्तगाल और स्पेन के लोगों में सबसे पहले पूर्व पहुँचने के लिए कैसी दौड़-सी मची थी। पुर्तगाल पूर्व की तरफ़ गया और स्पेन पश्चिम की तरफ़। पुर्तगाल अफ़्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँच गया। स्पेन ग़लती से अमेरिका से जा टकराया और बाद में दक्षिण अमेरिका का चक्कर काटकर मलेशिया पहुँचा। अब हम अपनी कुछ बातों के सिलसिले को जोड़कर मलेशिया की अपनी कहानी आगे बढ़ा सकते हैं।

शायद तुम्हें मालूम हो कि गरम मसाले (कालीमिर्च वग़ैरा) गर्म आबहवा में, यानी भूमध्य-रेखा के आस-पास के देशों में पैदा होते हैं। यूरोप में मसाले बिलकुल नहीं पैदा होते। दक्षिण भारत और लंका में कुछ पैदा होते हैं, लेकिन ये मसाले ज़्यादातर मलेशिया के टापुओं से, जिन्हें मोलुक्का या मलक्का कहते हैं, आते हैं। इन टापुओं को असल में 'मसाले के टापू' कहते हैं। बहुत पुराने ज़माने से यूरोप में इन मसालों की बहुत माँग थी और वे बराबर भेजे जाते थे। यूरोप पहुँचते-पहुँचते इनकी क़ीमत बहुत बढ़ जाती थी। रोमनी ज़माने में कालीमिर्च सोने के भाव बिकती थी। हालांकि मसाले इतने क़ीमती होते थे और पश्चिम में उनकी इतनी माँग थी, लेकिन यूरोप इनके मँगाने का ख़ुद कोई इन्तज़ाम नहीं करता था। बहुत दिनों तक मसाले का व्यापार भारतवासियों के हाथों में था। फिर अरबों के हाथों में आ गया। यह मसालों का ही खिंचाव था, जिसने पुर्तगाल और स्पेन के लोगों को उलटी दिशाओं में बढ़ते चले जाने के लिए खींचा और अन्त में उन्हें मलेशिया में लाकर मिला दिया। पुर्तगाली इस खोज में आगे रहे, क्योंकि स्पेन के लोग पूर्व जाते हुए रास्ते में अमेरिका में धन्धे से लग गये और बहुत मुनाफ़े कमाते रहे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्को-द-गामा उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ जब भारत पहुँचा, उसके थोड़े ही दिन बाद बहुत-से पुर्तगाली जहाज़ इसी रास्ते आये और पूर्व की तरफ़ आगे बढ़ गये। उन्हीं दिनों मसाले और दूसरी चीज़ों का व्यापार मलक्का के नये साम्राज्य के हाथ में था। इसलिए पुर्तगाली इस साम्राज्य से और सारे अरब व्यापारियों से टकरा गये। पुर्तगालियों के वाइसराय अलबुकर्क़ ने १५११ ई० में मलक्का पर क़ब्ज़ा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का खात्मा कर दिया। यूरोप का व्यापार अब पुर्तगालियों के हाथ में आ गया और यूरोप में इनकी राजधानी लिस्बन मसालों और दूसरे पूर्वी मालों को सारे यूरोप में भेजनेवाला बड़ा व्यापारी केन्द्र बन गई।

यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि अलबुकर्क़ अरबों का तो बड़ा सख़्त और ज़ालिम दुश्मन था। लेकिन वह पूर्व की दूसरी व्यापारी क़ौमों के साथ दोस्ती रखने की कोशिश करता था। खासकर जितने चीनी उससे मिलते थे, उन सबके साथ वह खासतौर पर बर्ताव करता था। इसका नतीजा यह हुआ कि पुर्तगालियों के बारे में चीन में बहुत अनुकूल समाचार पहुँचे। शायद अरबों से उसकी दुश्मनी की वजह यह थी कि अरब लोग पूर्वी व्यापार पर प्रभुत्व जमाये हुए थे।

इस बीच मसाले के टापुओं की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने बाद में प्रशान्त महासागर पार किया और दुनिया का चक्कर लगाया, उस जहाज़ी बेड़े में शामिल था, जिसने मलक्का खोज निकाला था। साठ वर्ष से ऊपर यूरोप के साथ मसाले के व्यापार में पुर्तगालियों का कोई बराबरी करनेवाला नहीं रहा। फिर १५६५ ई० में स्पेन ने फ़िलिपाइन टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया और इस तरह पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी यूरोपीय शक्ति का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की वजह से पुर्तगालियों के व्यापार में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा, क्योंकि स्पेन के लोग स्वभाव से व्यापारी नहीं थे। ये लोग पूर्व को अपने सिपाही और धर्म-प्रचारक भेजते रहे। पुर्तगालियों का मसाले के व्यापार पर एकाधिकार हो गया। यहाँ तक कि ईरान और मिस्र को भी पुर्तगालियों के ही ज़रिये मसाले मँगवाने पड़ते थे। ये लोग किसी दूसरे को मसाले के टापुओं से सीधा व्यापार करने तक की इजाज़त नहीं देते थे। इसलिए पुर्तगाल मालामाल हो गया, लेकिन उसने उपनिवेश बसाने की कोई कोशिश नहीं की। तुम जानती हो कि पुर्तगाल छोटा-सा देश है और उसके यहाँ बाहर भेजने के लिए काफ़ी आदमी नहीं थे। इस छोटे-से देश ने १०० वर्षों तक, यानी सारी सोलहवीं सदी में, पूर्व में जो कुछ किया वह काफ़ी ताज्जुब की चीज़ है।

इस बीच स्पेनी लोग फ़िलिपाइन में जमे रहे और उनसे जितना पैसा खींच सकते थे खींचने की कोशिश करते रहे। ज़बर्दस्ती खिराज लेने के अलावा इनका कोई दूसरा काम नहीं था। पूर्वी समुद्र में टक्कर बचाने के लिए उन्होंने पुर्तगालियों से सुलह कर ली थी। स्पेन की सरकार फ़िलिपाइनवालों को स्पेनी अमेरिका से व्यापार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करने देती थी, क्योंकि उसे डर था कि मैक्सिको और पेरू का सोना और चाँदी खिंचकर पूर्व में चला जायगा। साल भर में सिर्फ़ एक जहाज़ आता-जाता था। इसको 'मनिल्ला गैलियों' कहते थे और तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी सालाना यात्रा की फ़िलिपाइन के स्पेनी लोग कितनी बेक़रारी के साथ बाट देखा करते होंगे। यह 'मनिल्ला गैलियों' २४० वर्ष तक अमेरिका और पूर्वी टापुओं के बीच प्रशान्त महासागर पार करके आया-जाया करता था।

स्पेन और पुर्तगाल की इन सफलताओं से यूरोप में दूसरी क़ौमें डाह से जली जा रही थीं। जैसा कि हम आगे ज़िक्र करेंगे, उस वक़्त स्पेन यूरोप पर हावी था। इंग्लैण्ड अव्वल दर्जे की शक्ति नहीं था। निदरलैण्ड में, यानी हालैण्ड और बेल-जियम के कुछ हिस्से में, स्पेन की हुकूमत के ख़िलाफ़ विद्रोह हो गया था। अंग्रेज़ लोग स्पेन से डाह के कारण डच[1] लोगों से हमदर्दी रखते थे। इसलिए उन्होंने चुपके-चुपके हालैण्ड की मदद की। इनके कुछ नाविक खुले समुद्रों में जहाज़ों पर डाके मारते हुए घूमा करते थे और अमेरिका से आनेवाले खजाने से लदे स्पेनी जहाज़ों को पकड़ लेते थे। कुछ जोखिम-भरी लेकिन मुनाफ़ेवाली इस शिकारबाज़ी का सरदार सर फ़ान्सिस ड्रेक था और वह इसे 'स्पेन के बादशाह की दाढ़ी झुलसाना' कहा करता था।

१५७७ ई० में ड्रेक पाँच जहाज़ों को लेकर स्पेन के उपनिवेशों को लूटने के लिए निकला। लूट में तो वह कामयाब रहा, लेकिन उसके चार जहाज़ डूब गये। उसका सिर्फ़ एक जहाज़ 'गोल्डन हिन्द' प्रशान्त महासागर पहुँचा और इसीसे ड्रेक उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ इंग्लैण्ड वापस आया। इस तरह उसने सारी दुनिया का चक्कर लगा लिया। मैगेलन के 'विक्तोरिया' के बाद 'गोल्डन हिन्द' ही दूसरा जहाज़ था, जिसने पृथ्वी की परिक्रमा की। इस परिक्रमा में तीन वर्ष लगे थे।

स्पेन के बादशाह की डाढ़ी झुलसाना, बिना झगड़ा किये ज्यादा दिन जारी नहीं रह सका और इंग्लैण्ड और स्पेन के बीच बहुत जल्द युद्ध ठन गया। डच लोग तो स्पेन से पहले ही लड़ रहे थे। पुर्तगाल भी इस लड़ाई में फँस गया था, क्योंकि कुछ वर्षों से स्पेन और पुर्तगाल पर एक ही बादशाह राज कर रहा था। इंग्लैण्ड ने ज़बर्दस्त खुश-क़िस्मती और मज़बूत इरादे से इस युद्ध में कामयाबी हासिल करके यूरोप को अचम्भे में डाल दिया। तुम्हें याद होगा कि स्पेन ने इंग्लैण्ड को जीतने के लिए जो 'अजय जंगी बेड़ा' भेजा था, वह ग़ारत हो गया था। लेकिन अभी तो हम पूर्व का ज़िक्र कर रहे हैं।

अंग्रेज़ों और डचों दोनों ने सुदूर-पूर्व के देशों पर धावा बोल दिया और स्पेनियों और पुर्तगालियों पर हमला किया। स्पेनवाले सब फ़िलिपाइन में जमा थे और उसकी आसानी से रक्षा कर सकते थे। लेकिन पुर्तगालियों को भारी नुक़सान

---

[1] हालैण्ड के निवासी डच कहलाते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुँचा। उनका पूर्वी साम्राज्य लाल सागर से लगाकर मसाले के टापू मलक्का तक ६००० मीलों में फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाड़ी में अदन के पास, लंका में, और भारत के किनारे की कितनी ही जगहों में, और हाँ सारे पूर्वी टापुओं में और मलाया में, जमे हुए थे। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य इनके हाथ से जाता रहा। शहर के बाद शहर और बस्ती के बाद बस्ती या तो डचों के या अंग्रेज़ों के पल्ले पड़े। मलक्का भी १६४१ ई० में जाता रहा। अगर बचीं तो भारत में और दूसरी जगह दो-चार छोटी-छोटी चौकियां। पश्चिम भारत में गोवा इनमें मुख्य है और पुर्तगाली वहाँ अभी तक बने हुए हैं। कुछ वर्ष पहले क़ायम हुए पुर्तगाली गणराज्य का यह एक हिस्सा माना जाता है। अकबर ने पुर्तगालियों से गोवा छीनना चाहा था, लेकिन वह भी कामयाब नहीं हुआ।

इस तरह अब पुर्तगाल पूर्वी इतिहास से बाहर हो जाता है। इस छोटे-से देश ने बहुत ही बड़ा कौर अपने मुँह में रख लिया था। वह उसे निगल न सका, बल्कि निगलने की कोशिश में खुद ही अपना ज़ोर गवाँ बैठा। स्पेन फ़िलिपाइन में जमा रहा, लेकिन पूर्वी मामलों में अब उसका कोई हिस्सा नहीं रहा। पूर्व के क़ीमती व्यापार पर अब इंग्लैण्ड और हालैण्ड का प्रभुत्व हो गया। इन दोनों देशों ने इस काम के लिए दो व्यापारी कम्पनियाँ बनाकर पहले ही तैयार कर ली थीं। इंग्लैण्ड में रानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १६०० ई० में एक अधिकार-पत्र दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी क़ायम हुई। ये दोनों कम्पनियाँ सिर्फ़ व्यापार के लिए थीं। हालाँकि दोनों प्राइवेट कम्पनियाँ थीं, लेकिन इन्हें अक़्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबसे ज्यादा तिजारती दिलचस्पी मलेशिया के मसाले के व्यापार से थी। भारत उस वक़्त मुग़ल सम्राटों के मातहत एक शक्तिशाली देश था, जिसे नाराज़ करना ख़तरे से ख़ाली नहीं था।

डच और अंग्रेज़ अक़्सर आपस में भी लड़ पड़ते थे। आख़िरकार अंग्रेज़ पूर्वी द्वीपों से हट गये और भारत पर ज्यादा ध्यान देने लगे। विशाल मुग़ल साम्राज्य उस वक़्त कमज़ोर पड़ रहा था। इसलिए हौसलेबाज़ विदेशियों को मौक़ा मिल गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह हौसलेबाज़ लोग इंग्लैण्ड और फ़्रान्स से आये और उन्होंने किस तरह साज़िश और लड़ाई के ज़रिये इस मिटते हुए साम्राज्य के हिस्सों पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की।

: ८० :

चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

२२ जुलाई, १९३२

प्यारी बेटी, मुझे मालूम हुआ कि तुम बीमार थीं, और मैं नहीं जानता कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी तक ठीक हुई हो या नहीं। जेल के अन्दर ख़बरों के पहुँचने में देर लग जाती है। मैं तुम्हारी मदद के लिए यहाँ से कुछ भी नहीं कर सकता। तुम्हें अपनी खबर-दारी खुद ही करनी पड़ेगी। लेकिन मैं तुम्हारी बहुत याद करता रहूँगा। अजीब बात है कि हम सब किस तरह बिखरे हुए हैं। तुम पूना में हो, मम्मी इलाहाबाद में बीमार है, और हममें से बाक़ी अलग-अलग जेलों में पड़े हैं!

कुछ दिनों से इन पत्रों के लिखने में मुझे कुछ दिक्क़त मालूम होने लगी है। तुमसे बात-चीत करने का मन-बहलाव क़ायम रखना आसान नहीं था। मुझे खयाल आता है कि तुम पूना में बीमार पड़ी हो और किसे मालूम मैं तुमको फिर कब देख सकूंगा। हमारे मिलने के पहले न जाने कितने महीने या वर्ष और बीत जायँगे और इस बीच तुम कितनी बड़ी हो जाओगी!

लेकिन बहुत ज्यादा सोच-विचार करना, ख़ासकर जेल में, अच्छा नहीं। मुझे अपने को सम्हाल लेना चाहिए और थोड़ी देर के लिए आज को भूलकर बीती कल का खयाल करना चाहिए।

हम लोग मलेशिया में थे और हमने वहाँ एक अजीब घटना घटते देखी। यूरोप एशिया में सरज़ोर होता जा रहा था। पुर्तगाली आये, फिर स्पेन के लोग आये और बाद में अंग्रेज और डच आये। लेकिन इन यूरोपियों की हलचलें बहुत दिनों तक मलेशिया और पूर्वी टापुओं के अन्दर ही सीमित रहीं। पश्चिम की तरफ़ मुग़लों की हुकूमत में शक्तिशाली भारत था। उत्तर में चीन था, जो अपनी हिफ़ाज़त अच्छी तरह कर सकता था। इसलिए भारत और चीन में यूरोपियों ने कोई दखल नहीं दिया।

मलेशिया से चीन सिर्फ़ एक क़दम पर है। अब हमें वहाँ चलना चाहिए। यूआन-राजवंश, जिसे मंगोल कुबलइखाँ ने क़ायम किया था, ख़त्म हो गया था। १३६८ ई० में लोगों ने बग़ावत करके बची-खुची मंगोल फ़ौजों को चीन की 'बड़ी दीवार' के उस पार खदेड़ दिया था। इस विद्रोह का नेता हांङ्-वू था, जो एक ग़रीब मज़दूर का लड़का था और जिसे कोई शिक्षा नहीं मिली थी। लेकिन ज़िन्दगी की बड़ी पाठशाला का वह बड़ा अच्छा विद्यार्थी था। यह बड़ा सफल नेता निकला और बाद में बड़ा अक़्लमन्द शासक हुआ। सम्राट् होते हुए भी वह अहंकार और घमण्ड से फूल नहीं उठा, बल्कि सारी ज़िन्दगी उसने इस बात को याद रखा कि वह एक ग़रीब का लड़का है। इसने तीस वर्ष राज किया। लोग आज भी उसके शासन की याद इसलिए करते हैं कि उसने जन-साधारण की, जिनमें से वह उठा था, हालत सुधारने के लिए बराबर कोशिशें कीं। अन्त तक उसने अपनी शुरू की ज़िन्दगी की सादगी बनाये रखी।

हांङ्-वू नये मिङ् राजवंश का पहला सम्राट् था। उसका पुत्र युंङ्-लो भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ा शासक हुआ है। वह १४०२ से १४४२ ई० तक सम्राट् रहा। लेकिन इन चीनी नामों से मैं तुम्हें परेशान नहीं करूँगा। बहुत-से अच्छे शासक भी हुए, लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, बाद में पतन होने लगा। मगर हमें इन सम्राटों को भूलकर चीन के इतिहास के इस ज़माने पर ग़ौर करना चाहिए। यह बहुत ही रौशन ज़माना था और उसमें खास मोहनी है। 'मिङ्' के मानी ही 'रौशन' है। 'मिङ्' राजवंश २७६ वर्षों तक, यानी १३६८ से १६४४ ई० तक चला। चीन के तमाम राजवंशों में यह राजवंश सबसे ज्यादा चीनी नमूने का कहा जा सकता है। इसके ज़माने में चीनियों को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौक़ा मिला। यह वह ज़माना था, जिसमें देश और विदेश, दोनों तरफ़ से शान्ति रही! विदेशी नीति में कोई सरज़ोरी नहीं थी और न साम्राज्य बढ़ाने की कोई कार्रवाई की गई। पास-पड़ौस के मुल्कों से दोस्ती थी। सिर्फ़ उत्तर में घुमक्कड़ तातारियों से कुछ खतरा था। बाक़ी की पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बड़े भाई के समान था, जो चतुर, सुखी और सुसंस्कृत था; जिसे अपने ऊँचे दर्जे का खूब भान था; पर जो छोटे भाइयों की भलाई चाहता था और उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाने और उसमें हिस्सा देने के लिए तैयार था। और वे भी उसकी तरफ़ देखते थे। कुछ समय तक जापान ने भी चीन को अपने से ऊपर माना और शोगुन, जो जापान पर राज करता था, अपने को मिङ् सम्राटों का मातहत कहता था। कोरिया से, सुमात्रा, जावा, वग़ैरा इन्दोनेशियाई टापुओं से और हिन्दचीन से, खिराज वसूल होता था।

युंङ्-लो के राज-काल में ही जल-सेनापति चेंङ्-हो की मातहती में वह बड़ा जंगी-बेड़ा मलेशिया पर चढ़ाई करने गया था। तीस वर्ष तक चेंङ्-हो सारे पूर्वी समुद्रों का चक्कर लगाता रहा और ईरान की खाड़ी तक पहुँच गया। टापू-राज्यों को डराने की यह साम्राज्यशाही कोशिश-जैसी नज़र आती है। ज़ाहिरा तौर से देश-विजय का या किसी दूसरे फ़ायदे का कोई इरादा नहीं था। स्याम और मज्जापहित की बढ़ती हुई ताक़त की वजह से शायद युंङ्-लो ने यह चढ़ाई की हो। पर वजह चाहे जो रही हो, इस चढ़ाई के बहुत बड़े नतीजे निकले। इसने मज्जापहित और स्याम की बाढ़ को रोक दिया; मलक्का के नये मुसलमानी राज्य को बढ़ावा दिया और चीनी संस्कृति को सारे इन्दोनेशिया में और पूर्व में फैला दिया।

चूंकि चीन और पड़ौसी देशों के बीच सुलह और दोस्ती थी, इसलिए घरेलू मामलों पर ज्यादा ध्यान दिया जा सकता था। शासन अच्छा था और टैक्सों को कम करके किसानों का बोझ हलका कर दिया गया था। सड़कों, नहरों, जलमार्गों और तालाबों की हालत सुधारी गई, फ़सल की खराबियों और अकालों का मुक़ाबला करने के लिए सार्वजनिक कोठार बनाये गए। सरकार ने काग़ज़ी नोट चलाये और इस तरह से साख बढ़ाकर व्यापार की तरक्क़ी और माल की अदला-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदली में सहूलियतें पहुँचाई। इन काग़ज़ी नोटों का ख़ूब चलन था और ७० फ़ीसदी टैक्स नोटों के रूप में अदा किये जा सकते थे।

इस ज़माने की संस्कृति का इतिहास और भी ज़्यादा मार्के का है। चीनी लोग युगों से ज़्यादा सुसंस्कृत और कला-प्रिय रहे हैं। मिंङ-काल के अच्छे शासन से और कला को दिये जानेवाले बढ़ावे से जनता की प्रतिभा जाग उठी। शानदार इमारतें बनीं, सुन्दर चित्रकारी हुई और मिंङ-युग के चीनी के बर्तन तरहदार शक्लों और सुन्दर कारीगरी के लिए मशहूर हैं। ये चित्रकारी उस महान् चित्रकारी की टक्कर की थी, जो इटली में उन दिनों 'रिनेसाँ' की उमंग से पैदा हो रही थी।

पन्द्रहवीं सदी के अन्त में चीन दौलत, उद्योग-धन्धों और सभ्यता में यूरोप से बहुत आगे था। सारे मिंङ-काल में जितना आनन्द, और कला की जितनी हलचल चीन के लोगों में थी, उतनी यूरोप के किसी देश में या और कहीं भी नहीं थी। और याद रक्खो कि यह यूरोप के रिनेसाँ का ज़माना था।

कला के लिहाज़ से मिंङ-काल की नामवरी की एक वजह यह भी है कि उस ज़माने की नफ़ीस कारीगरी के बहुत नमूने आज भी मिलते हैं। उस ज़माने की बड़ी-बड़ी यादगारें हैं; लकड़ी और हाथी-दाँत और हरे पत्थर का नक्काशी का बारीक काम है; और काँसे के कलश और चीनी के बर्तन हैं। मिंङ-काल के अन्त में खाकों की बन्दिश ज़रूरत से ज़्यादा बोझिल हो गई और इसने नक्काशी और चित्रकारी की सूरत कुछ बिगाड़ दी।

इसी ज़माने में पुर्तगाली जहाज़ पहले-पहल चीन आये। वे १५१६ ई० में कैन्टन पहुँचे। अलबुकर्क जिन चीनियों से मिलता था, उनसे अच्छा बर्ताव करने में बहुत सावधानी रखता था। और उसके पक्ष में चीन में बहुत अच्छी रिपोर्टें पहुँची थीं। इसलिए जब पुर्तगाली चीन पहुँचे तो उनका स्वागत किया गया। लेकिन कुछ ही दिनों में इन पुर्तगालियों ने कई तरह की बेजा हरकतें शुरू कर दीं और कई जगहों पर क़िले बना लिये? इस जंगलीपन ने चीनी सरकार को हैरत में डाल दिया। उसने जल्दबाज़ी की तो कोई कार्रवाई नहीं की, लेकिन अन्त में जाकर इस सारे झुण्ड को चीन से बाहर निकाल दिया। इसके बाद वे ज़्यादा शान्त और नम्र बन गये और १५५७ ई० में उन्होंने कैन्टन के नज़दीक बसने की इजाज़त हासिल कर ली।

पुर्तगालियों के साथ ईसाई मिशनरी आये। इनमें सेण्ट फ़ान्सिस जेवियर का नाम बहुत मशहूर है। वह बहुत दिनों तक भारत में रहा और कितने ही मिशन कॉलेज उसके नाम पर अभी तक क़ायम है। वह जापान भी गया था। ज़मीन पर उतरने की इजाज़त मिलने के पहले ही एक चीनी बन्दरगाह पर उसकी मौत हो गई। चीनी लोग ईसाई मिशनरियों को बढ़ावा नहीं देते थे। पर दो जेजुयिट पादरियों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने बौद्ध विद्यार्थियों का भेस बनाकर कई वर्षों तक चीनी भाषा सीखी। वे कनफ़्यूशियन मज़हब के बड़े विद्वान् हो गये और उन्होंने विज्ञानियों की हैसियत में भी नाम कमाया। इनमें से एक का नाम मैतिओ रिच्ची थी। वह बड़ा क़ाबिल और प्रतिभाशाली विद्वान् था और इतना होशियार था कि उसने सम्राट् को भी अपने हाथ में कर लिया। बाद में उसने अपना नक़ली जामा उतार फेंका और उसके असर से चीन में ईसाइयत की हैसियत बहुत अच्छी हो गई।

डच लोग सत्रहवीं सदी के शुरू में मकाओ पहुँचे। उन लोगों ने व्यापार करने की इजाज़त माँगी, लेकिन उनके और पुर्तगालियों के बीच बहुत बैर था, इसलिए पुर्तगालियों ने चीनियों को उनके ख़िलाफ़ भड़काने की पूरी कोशिश की। उन्होंने चीनियों से कहा कि डच लोग ख़ूँख़्वार समुद्री-डाकू होते हैं। इसलिए चीनियों ने इजाज़त देने से इन्कार कर दिया। कुछ वर्ष बाद डचों ने जावा के अपने शहर बटाविया से एक बड़ा जंगी-बेड़ा मकाओ भेजा। उन्होंने बेवक़ूफ़ी से मकाओ पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा करने की कोशिश की, लेकिन चीनियों और पुर्तगालियों के मुक़ाबले में वे ठहर नहीं सके।

डचों के पीछे-पीछे अंग्रेज़ भी पहुँचे, लेकिन उन्हें भी कोई कामयाबी नहीं हासिल हुई। चीन के व्यापार में उनको मिङ-काल के ख़त्म होने पर कुछ हिस्सा मिला।

मिङ-काल, दुनिया की तमाम अच्छी और बुरी चीज़ों की तरह, सत्रहवीं सदी के मध्य में ख़त्म हो गया। तातारियों का छोटा-सा बादल उत्तर में उठा और इतना बढ़ता गया कि उसकी छाया चीन पर भी पड़ने लगी। तुम्हें 'किनों' या सुनहरे तातारियों की याद होगी। उन्होंने सुंङों को चीन के दक्षिण में भगा दिया था और बाद में वे खुद मंगोलों द्वारा खदेड़ दिये गए। इन्हीं किनों का भाई-बन्द एक नया क़बीला उत्तर चीन में, जहाँ आज मंचूरिया है, मैदान में आया। वे अपने को मंचू कहते थे। यही मंचू लोग अन्त में मिङों के उत्तराधिकारी हुए।

लेकिन अगर चीन आपस में लड़नेवाले बराबरी के गुटों में बँटा हुआ न होता तो मंचुओं को चीन जीतने में बड़ी दिक़्क़त पड़ती। चीन, भारत, वग़ैरा लगभग हर देश में विदेशी हमलों के कामयाब होने की वजह देश की कमज़ोरी और वहाँ के लोगों की अन्दरूनी फूट रही है। इसी तरह चीन में भी सारे देश में झगड़े-फ़िसाद रहते थे। शायद बाद के मिङ-सम्राट् भ्रष्ट और नालायक थे या आर्थिक हालतें ऐसी थीं कि जिससे समाजी क्रान्ति हो जाय। मंचुओं के ख़िलाफ़ लड़ाई भी बड़ी महँगी पड़ी और बड़ा भारी बोझ हो गई। सब जगहों पर बटमार-नेता पैदा हो गये और इनमें जो सबसे बड़ा था, वह तो कुछ दिनों सचमुच सम्राट् भी रहा। मंचुओं के ख़िलाफ़ मिङों की सेना का नेता उनका सेनापति वू-सान-क्वी था। वह इस मुश्किल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पड़ गया कि बटमार सम्राट् और मंचुओं, इन दोनों में से किसे पसन्द करे। बड़ी बेवकूफ़ी करके या शायद ग़द्दारी की नीयत से, उसने बटमार के ख़िलाफ़ मंचुओं से मदद माँगी। मंचुओं ने बड़ी खुशी के साथ मदद दी और हुआ यह कि वे पेकिंग में जम गये! वू-सान-क्वी को जब यह भरोसा हो गया कि मिंडों का पक्ष लाचार हो चुका है, तो वह उन्हें छोड़ भागा और विदेशी हमलावर मंचुओं से जा मिला।

यह कोई अचम्भे की बात नहीं है कि वू-सान-क्वी आज तक चीन में हिक़ारत की निगाह से देखा जाता है, और चीनी लोग इसे अपने देश के इतिहास में सबसे बड़ा देशद्रोही समझते हैं। देश की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी लेकर वह दुश्मन से जा मिला और इसने वास्तव में दक्षिणी सूबों को पराधीन बनाने में दुश्मनों की मदद की। इसका इनाम उसे यह मिला कि मंचुओं ने उसे उन्हीं सूबों का हाक़िम बना दिया, जिन्हें उसने उनके लिए जीता था।

१६५० ई० में मंचुओं ने कैन्टन नगर भी जीत लिया और चीन पूरी तरह फ़तह हो गया। उनकी जीत की वजह शायद यह भी थी कि वे चीनियों से अच्छे लड़ाके थे। शायद अमन और खुशहाली के बहुत ही लम्बे समय ने चीनियों को फ़ौजी मामले में कमज़ोर बना दिया था। लेकिन मंचुओं की विजय की तेज चाल के और भी कारण थे। ख़ास तौर पर यह कि वे चीनियों को खुश रखने में बड़ी होशियारी रखते थे। इससे पहले के ज़मानों में तातारियों के हमलों के साथ-साथ अक्सर ज़ुल्म और हत्याएं होती थीं। पर इस मौक़े पर चीनी अफ़सरों को मिलाने की हर तरह से कोशिश की गई और इन्हीं लोगों को फिर उनके ओहदों पर मुक़र्रर कर दिया गया। इस तरह चीनी अफ़सर ऊँचे-से-ऊँचे ओहदों को सम्हाले हुए थे। शासन का पुराना तरीक़ा भी, जो मिंडों के ज़माने में चलता था, बदला नहीं गया। शासन-व्यवस्था वही नज़र आती थी, पर उसे ऊपर से हांकनेवाले हाथ बदल गये थे।

लेकिन दो बड़ी बातें बतलाती थीं कि चीनी लोग अब विदेशी हुकमत के अधीन थे। महत्व के केन्द्रों में मंचू फ़ौजें तैनात कर दी गई थीं और लम्बी चोटी रखने का मंचू-रिवाज चीनियों पर, उनकी अधीनता की निशानी के तौर पर, लाद दिया गया था। हममें से ज़्यादातर लोग हमेशा से यही ख़याल करते आये हैं कि चीनियों के साथ लम्बी चोटियां जुड़ी हुई हैं। लेकिन असल में यह रिवाज चीनियों का बिलकुल नहीं था। यह ग़ुलामी का वैसा ही एक चिह्न था जैसे बहुत-से चिह्न आज कुछ भारतवासियों ने भी अपना लिये हैं, और वे उनके पीछे छिपी हुई शर्म और गिरावट को महसूस नहीं करते। अब चीनियों ने लम्बी चोटी रखना छोड़ दिया है।

इस तरह चीन का यह चमकदार मिंङ्-काल ख़त्म हुआ। ताज्जुब होता है

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि लगभग तीन सदियों के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेज चाल से गिर क्यों गया। अगर यह सरकार इतनी ही अच्छी थी जितनी कि मानी जाती है, तो विद्रोह और अन्दरूनी झगड़े क्यों होते? मंचूरिया से आनेवाले विदेशी हमलावरों को क्यों नहीं रोका जा सका? शायद अख़ीर के दिनों में सरकार अत्याचारी हो गई। और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की तरह ज़रूरत से ज़्यादा लाड़ करने-वाली सरकार ने क़ौम को कमज़ोर बना दिया हो। लाड़-प्यार बच्चों और राष्ट्रों दोनों के लिए अच्छा नहीं होता।

यह भी अचम्भे की बात है कि संस्कृति के इतने ऊँचे दर्जे पर होता हुआ भी चीन उन दिनों विज्ञान, खोज, वग़ैरा दूसरी दिशाओं में आगे क्यों नहीं बढ़ा। यूरोप की क़ौमें उससे बहुत पीछे थीं। फिर भी तुम देख सकती हो कि रिनेसाँ के ज़माने में जीवट और हौसला और खोज की भावनाएँ उनमें उबल रही थीं। इन दोनों की तुलना की जाय तो एक तो अधेड़ उम्र के सुसंस्कृत आदमी की तरह था, जो बिना हलचल का जीवन पसन्द करता हो, हौसले के कारनामों में जिसे लगन न हो और जो अपने ढर्रे में गड़बड़ नहीं चाहता हो, और जो कला और प्राचीन पुस्तकों के पढ़ने में लगा रहता हो; और दूसरा एक नौजवान लड़के की तरह था, जो किसी हद तक अनगढ़ हो, लेकिन जिसमें जीवट और कौतूहल की भावना भरी हो और जो हर जगह हौसले के कारनामों की तलाश में रहता हो। चीन में महान् सौन्दर्य है, लेकिन यह तीसरे पहर का या शाम का शान्त सौन्दर्य है।

: ८१ :

जापान अपने को बन्द कर लेता है

२३ जुलाई, १९३२

चीन से अब हम जापान भी जा सकते हैं और रास्ते में ज़रा देर के लिए कोरिया में ठहर सकते हैं। मंगोलों ने कोरिया में अपना क़ब्ज़ा जमा ही रक्खा था। उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी नहीं मिली। कुबलइखाँ ने कई जंगी बेड़े जापान भेजे, लेकिन वे सब भगा दिये गए। मालूम होता है कि मंगोलों को समुद्र पर कभी भी सहूलियत महसूस नहीं हुई। वे तो स्वभाव से ज़मीन पर रहनेवाले लोग थे। टापू होने की वजह से जापान उनके हाथ नहीं आया।

मंगोलों के चीन से खदेड़ दिये जाने के थोड़े ही दिन बाद कोरिया में एक क्रान्ति हुई और वे शासक, जिन्होंने मंगोलों की अधीनता क़बूल कर ली थी, निकाल दिये गए। इस विद्रोह का नेता ई-ताई-जो नामक एक देशभक्त कोरियाई था। वह वहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नया शासक बना और उसने एक राजवंश क़ायम किया, जो ५०० वर्षों से ज़्यादा तक, यानी १३९२ ई० से अभी कुछ ही वर्ष पहले तक, रहा जबकि जापान ने कोरिया को अपने राज्य में मिला लिया। उस वक़्त सिओल को राजधानी बनाया गया था और अभी तक वही है। हम कोरिया के इतिहास के इन ४०० वर्षों पर ग़ौर नहीं कर सकते। कोरिया, जो फिर चोसन कहलाने लगा था, क़रीब-क़रीब स्वाधीन मुल्क़ के तौर पर बना रहा, लेकिन था वह चीन की छत्रछाया में और अक़्सर उसे खिराज भी देता था। जापान से कई युद्ध हुए और कुछ मौक़े पर कोरिया की जीत हुई, लेकिन आज दोनों का कोई मुक़ाबला नहीं। जापान एक बड़ा और शक्तिशाली साम्राज्य है और साम्राज्यशाही शक्तियों में जो बुराइयाँ पाई जाती हैं, वे सब उसमें मौजूद हैं। बेचारा कोरिया इस साम्राज्य का एक छोटा-सा टुकड़ा है, जिसका जापानी लोग शासन और शोषण करते हैं और जो कुछ बेकसी मगर बहादुरी के साथ अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहा है। लेकिन यह तो हाल का इतिहास है और हम अभी बहुत पुराने ज़माने की चर्चा कर रहे हैं।

तुम्हें याद होगा कि जापान में, बारहवीं सदी के आख़िरी हिस्से में, शोगुन असली शासक हो गया था। सम्राट् तो गुड्डे की तरह था। पहली शोगुनशाही जिसे 'कामाकुरा शोगुनशाही' कहते हैं, क़रीब डेढ़ सौ वर्षों तक रही और उसने देश को कुशल शासन-व्यवस्था और शान्ति दी। उसके बाद हमेशा की तरह शासक राजवंश का पतन शुरू हुआ और इसके साथ वद-इन्तज़ामी, विलासी जीवन और गृह-युद्ध आये। सम्राट् में, जो अपने अधिकारों को काम में लाना चाहता था, और शोगुन में झगड़े हुए। सम्राट् नाक़ामयाब रहा और यही हाल शोगुनशाही का भी हुआ। १३१८ ई० में शोगुनों की एक नई शाखा ने अधिकार जमाया। यह 'अशीकागा शोगुनशाही' थी जो २३५ वर्ष तक बनी रही। लेकिन यह मुठभेड़ और युद्ध का ज़माना था। यह क़रीब-क़रीब चीन के मिंङों का ज़माना था। एक शोगुन की बड़ी इच्छा थी कि मिंङों की मेहरबानी हासिल करे और वह इस हद तक गया कि उसने अपने को मिंङ सम्राट् का तावेदार क़बूल कर लिया। जापानी इतिहास-लेखक जापान के इस अपमान पर बहुत नाराज़ हैं और इस आदमी को बुरी तरह लानत देते हैं।

इसलिए चीन के साथ खूब दोस्ताना ताल्लुक़ थे और चीनी संस्कृति के बारे में, जो उस समय मिंङों की छत्रछाया में खिल रही थी, एक नई दिलचस्पी पैदा हो गई। चीन की हरेक चीज़—चित्रकला, कविता, वास्तुकला, दर्शन-शास्त्र और युद्ध-विज्ञान तक का अध्ययन किया जाता था और क़द्र की जाती थी। इस ज़माने में दो मशहूर इमारतें बनीं। एक 'किनकाकूजी' यानी सोने का दालान और दूसरी 'जिनकाकूजी' यानी चांदी का दालान।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला के इस विकास और विलासी जीवन के साथ-साथ किसानों पर बहुत ज्यादा मुसीबत थी। उन पर टैक्सों का बहुत भारी बोझ था और गृह-युद्धों का सारा भार ज्यादातर उन्हीं पर पड़ता था। हालत दिन-पर-दिन ख़राब होती गई; यहाँ-तक कि केन्द्रीय सरकार का कोई भी असर राजधानी के बाहर नहीं रह गया।

पुर्तगाली लोग १५४२ ई० में, इन लड़ाइयों के दौरान, वहाँ पहुँचे। याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि जापान में पहले-पहल बारूद के हथियार ये ही लोग ले गये थे। यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है; क्योंकि चीनी लोग बहुत समय पहले से ही इन हथियारों को जानते थे और यूरोप को इनका ज्ञान मंगोलों की मारफ़त चीन से ही हासिल करना पड़ा था।

सौ वर्षों के गृह-युद्ध से जापान को अन्त में तीन व्यक्तियों ने बचाया। एक नोरबुनागाने जो 'दाइम्यो' या अमीर सरदार था, दूसरा हिदेयोशीने, जो किसान था और तीसरा तोकूगावा आयेयासू, जो बड़े अमीर-सरदारों में गिना जाता था। सोलहवीं सदी के ख़त्म होते-होते सारा जापान फिर एक सूत्र में बँध गया। किसान हिदेयोशी जापान के सबसे क़ाबिल राजनीतिज्ञों में गिना जाता है। लेकिन कहते हैं कि वह बहुत बदसूरत था—नाटे क़द का और गुट्टा और बन्दर जैसे चेहरेवाला।

जापान को एक सूत्र में बाँधने के बाद इन लोगों की समझ में नहीं आया कि इतनी बड़ी फ़ौज का क्या किया जाय। इसलिए कोई दूसरा धन्धा न पाकर उन्होंने कोरिया पर धावा बोल दिया। लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पड़ा। कोरिया के लोगों ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और दोनों देशों के बीच के जापान-सागर पर अधिकार कर लिया। इस काम में उन्हें एक नये क़िस्म के जहाज़ से बहुत मदद मिली, जिसकी छत कछुए की पीठ की तरह थी और जिस पर लोहे की चादरें जड़ी थीं। इन जहाज़ों को 'कच्छप नौका' कहते थे। ये जहाज़ इच्छानुसार आगे-पीछे खेये जा सकते थे। इन नावों ने जापान के जंगी-जहाज़ों को नष्ट कर दिया।

ऊपर लिखा तीसरा व्यक्ति तोकूगावा आयेयासू गृह-युद्ध से फ़ायदा उठाने में बहुत सफल रहा। यहाँ तक कि वह बड़ा मालदार हो गया और जापान के क़रीब सातवें हिस्से का मालिक हो गया। उसीने अपनी रियासत के बीचोंबीच येदो नामक शहर बसाया। यही शहर बाद में तोक्यो (टोकियो) हो गया। १६०३ ई० में आयेयासू शोगुन बन गया और इस तरह तीसरी और आख़िरी शोगुनशाही, 'तोकूगावा शोगुनशाही', शुरू हुई, जो २५० वर्ष से ज्यादा क़ायम रही।

इस बीच पुर्तगालियों का व्यापार छोटे पैमाने पर चल रहा था। क़रीब ५० वर्षों तक कोई यूरोपीय उनके मुक़ाबले का नहीं था, क्योंकि स्पेनवाले १५९२ ई० में आये और डच और अंग्रेज़ इसके भी बाद आये। मालूम होता है कि सेंट फ़ान्सिस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ेवियर ने १५४९ ई० में इस देश में ईसाई मज़हब की शुरुआत की। जेजुइट लोगों को प्रचार करने की इजाज़त थी और उनको बढ़ावा भी दिया जाता था। असल में इसकी वजह राजनीतिक थी, क्योंकि बौद्ध-विहार साज़िशों के अड्डे समझे जाते थे। इस वजह से इन भिक्षुओं को दबाया जाता था और ईसाई मिशनरियों के साथ रियायत की जाती थी। लेकिन बहुत जल्द जापानियों ने महसूस कर लिया कि ये मिशनरी ख़तरनाक़ हैं। इस पर फ़ौरन ही उन्होंने अपनी नीति बदल दी और इनको बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। १५८७ ई० में ईसाइयों के ख़िलाफ़ एक हुक्मनामा निकाला गया, जिसमें यह ऐलान किया गया कि जो ईसाई मिशनरी बीस दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसे मौत की सज़ा दी जायगी। यह आज्ञा व्यापारियों के ख़िलाफ़ नहीं थी। उसमें यह बता दिया गया था कि ईसाई व्यापारी रह सकते हैं और व्यापार कर सकते हैं, लेकिन अगर वे अपने जहाज़ में किसी मिशनरी को लायँगे तो जहाज और माल दोनों ज़ब्त कर लिये जायँगे। यह आज्ञा निरी राजनीतिक कारणों से ही जारी की गई थी। हिदेयोशी को ख़तरे की आशंका हुई। उसे लगा कि मुमकिन है ईसाई मिशनरी और उनके ज़रिये ईसाई बनाये हुए लोग राजनीतिक लिहाज़ से ख़तरनाक साबित हों। और उसका ख़याल ग़लत नहीं था।

थोड़े ही दिनों बाद एक घटना ऐसी हुई, जिससे हिदेयोशी को पूरा यक़ीन हो गया कि उसका डर सही था और उसे बहुत ग़ुस्सा आया। तुम्हें याद होगा कि 'मनिल्ला गैलियों' जहाज़ साल में एक बार फ़िलिपाइन और स्पेनी-अमेरिका के बीच आया-जाया करता था। झंझावात ने एक बार इसे बहाकर जापानी किनारे पर ला पटका। स्पेनी कप्तान ने उस जगह के जापानियों को दुनिया का नक़्शा दिखाकर और ख़ास तौर से स्पेन के राजा का लम्बा-चौड़ा साम्राज्य बताकर उन्हें डराना चाहा। लोगों ने कप्तान से पूछा कि स्पेन ने इतना बड़ा साम्राज्य कैसे पाया। उसने जवाब दिया कि यह तो बड़ी आसान बात है। पहले ईसाई मिशनरी गये और जब वहाँ के बहुत-से लोग ईसाई बन गये तो फ़ौज भेजी गई कि नये ईसाइयों से मिलकर वह वहाँ की सरकार को उलट दे। जब उसकी ख़बर हिदेयोशी के पास पहुँची तो वह बहुत ख़ुश नहीं हुआ, बल्कि ईसाई मिशनरियों का कट्टर विरोधी हो गया। उसने 'मनिल्ला गैलियों' को तो जाने दिया, लेकिन कुछ मिशनरियों और नये ईसाइयों को मरवा डाला।

जब आयेयासू शोगुन हुआ तो वह विदेशियों से ज़्यादा दोस्ती करने लगा। विदेशी व्यापार बढ़ाने में उसे ख़ास दिलचस्पी थी; ख़ासकर अपने बन्दरगाह येदो के साथ। लेकिन आयेयासू की मौत के बाद ईसाइयों पर अत्याचार फिर शुरू हो गया। उनके मिशनरी ज़बदस्ती निकाल दिये गए और जो जापानी ईसाई हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये थे, उनको ईसाइयत छोड़ने पर मजबूर किया गया। जापानी लोग विदेशियों की राजनीतिक चालों से इतने डरे हुए थे कि व्यापार की नीति भी बदल दी गई। वे किसी भी तरह विदेशियों को देश से बाहर रखना चाहते थे।

जापानियों की इस प्रतिक्रिया को हम समझ सकते हैं। लेकिन अचम्भे की बात यह है कि जापानियों की निगाह इतनी तेज थी कि उन्होंने साम्राज्यवाद के भेड़िये को मज़हब की भेड़ की खाल में भी पहचान लिया, हालाँकि यूरोपीयों से उनका कोई पाला नहीं पड़ा था। बाद के ज़माने में दूसरे देशों में अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों ने किस तरह मज़हब से बेजा फ़ायदा उठाया, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं।

और अब इतिहास में एक निराली चीज़ शुरू हुई। यह थी जापान की दरवाज़ा-बन्दी। दूसरों से अलग रहने की और दूसरों को दूर रखने की नीति समझ-बूझकर अपनाई गई और एक बार अपनाने के बाद इसे अद्भुत ख़ूबी के साथ निभाया गया। अंग्रेज़ों ने जब यह देखा कि उन्हें पसन्द नहीं किया जाता, तो १६२३ ई० में जापान जाना बन्द कर दिया। साल भर बाद स्पेनियों को, जिन्हें सबसे ज़्यादा ख़तरनाक समझा जाता था, देश से निकाल दिया गया। यह क़ानून बना दिया गया कि व्यापार के लिए सिर्फ़ ग़ैर-ईसाई ही विदेश जा सकते हैं और वे भी फ़िलीपाइन नहीं जा सकते। अन्त में, क़रीब बारह वर्ष बाद, १६३६ ई० में, जापान को सील बन्द कर दिया गया। पुर्तगाली निकाल दिये गए; सारे जापानी, चाहे ईसाई हों या ग़ैर-ईसाई, किसी भी काम से विदेश जाने से रोक दिये गए; और विदेश में रहने-वाला कोई भी जापानी वापस जापान नहीं आ सकता था; अगर आता तो उसके लिए मौत की सज़ा थी! सिर्फ़ कुछ डच लोग रह गए, पर उनको भी सख़्त हिदायत थी कि वे बन्दरगाहें न छोड़ें और न देश के अन्दर क़दम रक्खें। १६४१ ई० में ये डच भी नागासाकी बन्दरगाह के एक छोटे-से टापू में हटा दिये गए, जहाँ उन्हें बिलकुल क़ैदियों की तरह रखा गया। इस तरह सबसे पहले पुर्तगालियों के आने के ठीक निन्यानवें वर्ष बाद, जापान ने सारे विदेशी सम्पर्क तोड़ दिये और अपने को बन्द कर लिया।

१६४० ई० में एक पुर्तगाली जहाज़ राजदूत-मण्डल को लेकर आया, जिसने दुबारा व्यापार चालू करने की इजाज़त चाही। लेकिन उनकी कौन सुनता था। जापानियों ने राजदूतों को और जहाज़ के ज़्यादातर मल्लाहों को मार डाला और कुछ मल्लाहों को ज़िन्दा छोड़ दिया ताकि वे वापस जाकर ख़बर दे दें।

दो सौ वर्षों से ज़्यादा तक जापान का दुनिया से, और यहाँतक कि अपने पड़ौसी चीन और कोरिया से भी, क़तई सम्पर्क नहीं रहा। जापानी टापू में रहने-वाले कुछ डच और कभी-कभी आनेवाला कोई चीनी, जिनपर कड़ी नज़र रहती थी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बस बाहरी दुनिया से जोड़नेवाली ये ही कड़ियाँ थीं। सारी दुनिया से यह अलगाव बड़ी असाधारण चीज़ है। लिखित इतिहास के किसी भी काल में, और किसी भी देश में, इस तरह की दूसरी मिसाल नहीं पाई जाती। रहस्यमय तिब्बत या मध्य अफ़्रीका भी अपने पड़ौसियों से काफ़ी राह-रस्म रखते थे। अपने को सब तरफ़ से अलहदा कर लेना बहुत ख़तरनाक चीज़ होती है, व्यक्ति के लिए भी और राष्ट्र के लिए भी। लेकिन जापान इस ख़तरे को पार कर गया; उसके यहाँ अन्दरूनी शान्ति रही और उसने अपने लम्बे युद्धों का नुक़सान पूरा कर लिया। और अन्त में जब १८५३ ई० में उसने अपना दरवाज़ा और अपनी खिड़कियाँ खोलीं तो एक और असाधारण काम करके दिखला दिया। वह तेजी के साथ आगे झपटा, उसने खोये हुए समय की पूर्ति कर ली, दौड़कर यूरोपीय क़ौमों को पकड़ लिया और उन्हीं की चालों से उन्हें मात दे दी।

इतिहास की कोरी रूप-रेखा कितनी नीरस होती है और उसे पार करनेवाली शक़्लें कितनी झीनी और बेजान नज़र आती हैं! फिर भी कभी-कभी जब हम पुराने ज़माने की लिखी हुई कोई पुस्तक पढ़ते हैं, तो मुर्दा अतीत में भी मानो ज़िन्दगी भर जाती है, और रंगमंच मानो हमारे बिलकुल नज़दीक आ जाता है, और उस पर जीते-जागते और प्रेम और नफ़रत करनेवाले मानव डोलने लगते हैं। इन दिनों मैंने पुराने जापान की एक आकर्षक महिला श्रीमती मुरासाकी के बारे में पढ़ा है, जिसे हुए सैकड़ों वर्ष गुज़र गये—जिन गृह-युद्धों का मैंने इस पत्र में ज़िक्र किया है, उनसे बहुत पहले की बात है। इसने जापान सम्राट् के दरबार में अपने जीवन का लम्बा बयान लिखा है। इस बयान के मज़ेदार पुटवाले और भीतरी भेदों व दरबारी तक़ल्लुफ़ों की चर्चा से भरे अंश जब मैंने पढ़े तो श्रीमती मुरासाकी की मूर्ति मेरे सामने आ गई, और पुराने जापान के दरबार के सीमित पर कलामय जीवन का जीता-जागता चित्र मुझे नज़र आने लगा।

: ८२ :

यूरोप में खलबली

४ अगस्त, १९३२

कई दिन हो गये, मैंने तुम्हें पत्र नहीं लिखे; मुझे लिखे हुए क़रीब दो हफ़्ते तो ज़रूर हो गये होंगे। जेलख़ाने में भी, बाहरी दुनिया के समान ही, आदमी के चित्त की हालत बदलती रहती है। पिछले दिनों इन पत्रों के लिखने में, जिन्हें सिवाय मेरे और कोई नहीं देखता, मेरी तबीयत बिलकुल नहीं लगी। ये पत्र नत्थी करके रख दिये गए हैं और आज से महीनों या वर्षों बाद उस वक़्त तक पड़े रहेंगे जब शायद तुम उन्हें देख पाओगी, आज से महीनों और बरसों बाद! जब हम फिर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलेंगे और एक-दूसरे को अच्छी तरह देखेंगे और मुझे यह देखकर हैरत होगी कि तुम कितनी बढ़ गई हो और बदल गई हो! उस वक़्त हमारे सामने चर्चा के लिए बहुत-सी बातें और करने के लिए बहुत-से काम होंगे और तुम इन पत्रों पर कोई ध्यान नहीं दोगी। उस वक़्त तक इन पत्रों का अच्छा-खासा ढेर लग जायगा और मेरे जेल-जीवन के कितने ही सौ घंटे इनमें बन्द हो चुके होंगे।

लेकिन फिर भी मैं इन पत्रों को जारी रखूँगा और लिखे हुए पत्रों के ढेर को बढ़ाता रहूँगा। शायद तुम्हें इसमें दिलचस्पी हो; मुझे तो दिलचस्पी है ही।

अब हमें एशिया पर आये कुछ समय हो गया है और हमने भारत में, मलेशिया में, चीन में और जापान में इसके इतिहास का सिलसिला पकड़ रक्खा है। हमने यूरोप को, ठीक उस वक़्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी दिलचस्प हो रही थी, एकाएक छोड़ दिया था, वहाँ 'रिनेसाँ' यानी पुनर्जागरण हो रहा था; बल्कि यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था, क्योंकि सोलहवीं सदी में जिस यूरोप का विकास हम देखते हैं वह किसी पुराने काल की हूबहू नक़ल नहीं थी। यह नई चीज़ या अगर पुरानी चीज़ भी थी तो कम-से-कम उसका गिलाफ़ बिलकुल नया था।

यूरोप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी और परकोटे में बन्द जगह फटकर निकल रही थी। सैकड़ों वर्षों से सामन्त-प्रथा पर ढाले गए एक समाजी और आर्थिक ढाँचे ने सारे यूरोप को ढक रखा था और उसे अपने शिकंजे में दबा रखा था। कुछ समय तक इस खोल ने बढ़ोतरी को रोके रक्खा। लेकिन अब यह खोल जगह-जगह तड़कने लगा था। कोलम्बस और वास्को-द-गामा और समुद्री रास्तों के पहले खोजी इस खोल को तोड़कर बाहर निकल पड़े और अमेरिका और पूर्व के देशों से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की अतुल दौलत ने यूरोप में घिया दिया और परिवर्तन की गति तेज़ कर दी। यूरोप अपने तंग समुद्री दायरे से बाहर नज़र डालने लगा और उसका ख़याल दुनिया की तरफ़ दौड़ने लगा। संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ सामने खुल गईं। मध्यमवर्ग दिन-पर-दिन ज़्यादा ताक़तवर होने लगा और पश्चिमी यूरोप में सामन्त-प्रथा अधिकाधिक रुकावट बनने लगी।

सामन्त-प्रथा ज़माने के चलन से बाहर हो चुकी थी। बेहयाई के साथ किसान-वर्ग का शोषण इस प्रथा का असली तत्व था। इसके भीतर बेगार, बिना मजूरी का काम और ज़मींदार को दी जानेवाली तरह-तरह की खास लागें और वसूलियाँ थीं और यह ज़मींदार खुद ही न्यायाधीश भी होता था। किसानों की मुसीबतें इतनी ज़्यादा थीं कि, जैसा कि हमने देखा है, किसानों के दंगे और युद्ध अक़्सर भड़क उठा करते थे। ये किसान-युद्ध बढ़ने लगे और जल्दी-जल्दी होने लगे और इनके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ-साथ यूरोप के बहुत-से हिस्सों में आर्थिक क्रान्ति हो गई, जिसने सामन्त-प्रथा की जगह मध्यम-वर्ग का राज क़ायम कर दिया। इस क्रान्ति को लानेवाले ये ही किसान-विद्रोह थे।

लेकिन यह ख़याल न करना कि ये परिवर्तन फ़ौरन हो गये। इनमें बहुत दिन लगे और पचासों वर्षों तक यूरोप में गृह-युद्ध जारी रहा। इन युद्धों की वजह से वास्तव में यूरोप का बहुत बड़ा हिस्सा तबाह हो गया। ये सिर्फ़ किसानों के युद्ध नहीं थे, बल्कि जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, प्रोटेस्टेण्टों और कैथिलिकों के मज़हबी युद्ध थे, आज़ादी के राष्ट्रीय युद्ध थे—जैसे कि नीदरलैण्ड में हुए—और बादशाह के निरंकुश अधिकार के खिलाफ़ मध्यमवर्ग के विद्रोह थे। ये सब बातें बहुत चक्कर में डालनेवाली हैं। क्यों, हैं या नहीं? असल में ये हैं ही ऐसी चक्कर में डालनेवाली और पेचीदा। लेकिन अगर हम बड़ी-बड़ी घटनाओं और आन्दोलनों को नज़र में रखें तो इस घपले में से कुछ मतलब की बात निकल सकते हैं।

याद रखने की पहली बात यह है कि किसान-वर्ग में बड़ी तकलीफ़ और मुसीबत फैली हुई थी, जिसके नतीजों से किसान-युद्ध हुए। याद रखने की दूसरी बात है मध्यमवर्ग का उदय और पैदावारवालों की बढ़ोतरी। चीज़ों के बनाने में मज़दूरों का उपयोग बढ़ा और व्यापार ज्यादा चेता। तीसरी बात याद रखने की यह है कि ईसाई-संघ सबसे बड़ा ज़मींदार था। उसका बहुत ज़बर्दस्त निहित स्वार्थ था, इसलिए लाज़िमी तौर पर वह अपनी भलाई इसीमें समझता था कि सामन्तशाही क़ायम रहे। वह ऐसा कोई परिवर्तन नहीं चाहता था कि जिससे उसकी दौलत और जायदाद का बहुत बड़ा हिस्सा हाथ से निकल जाय। इसलिए जब रोम से मज़हबी विद्रोह उठा तो आर्थिक क्रान्ति के साथ उसका मेल मिल गया।

इस महान् आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ या उसके पीछे-पीछे समाज, मज़हब और राजनीति—हर दिशा में परिवर्तन होने लगे। अगर तुम सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के यूरोप पर दूर से और काफ़ी लम्बी-चौड़ी नज़र डालो तो तुम्हारी समझ में आ जायगा कि ये सारी हलचलें, आन्दोलन और परिवर्तन किस तरह आपस में गुंथे और जुड़े हुए थे। आम तौर पर इस ज़माने के तीन आन्दोलनों पर ज़ोर दिया जाता है—'रिनेसाँ' या पुनर्जागरण, 'रिफ़ार्मेशन' या सुधार, और 'रेवोल्यूशन' या क्रान्ति। लेकिन याद रखो कि इन सबसे पीछे आर्थिक मुसीबत और हलचल थी, जिसकी वजह से आर्थिक क्रान्ति पैदा हुई और सारे परिवर्तनों में यही सबसे ज्यादा महत्व का था।

'रिनेसाँ' असल में विद्या का पुनर्जन्म था, जिसमें कला, विज्ञान और साहित्य और यूरोपीय भाषाओं की तरक्की हुई। सुधार-आन्दोलन रोमन ईसाई-संघ के खिलाफ़ विद्रोह था। वह ईसाई-संघ में फैले हुए भ्रष्टाचार के खिलाफ़ जनता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विद्रोह था; वह यूरोप के राजाओं का पोप के उन दावों के ख़िलाफ़ भी विद्रोह था कि वह उन सबके ऊपर है; और तीसरे वह ईसाई-संघ को अन्दर से सुधारने की एक कोशिश थी। क्रान्ति राजाओं पर अंकुश लगाने और उनके अधिकारों को सीमित करने के लिए मध्यमवर्ग की राजनीतिक लड़ाई थी।

इन सब आन्दोलनों के पीछे एक और कारण भी था—छपाई। तुम्हें याद होगा कि अरबों ने कागज़ बनाना चीनियों से सीखा था और यूरोप ने अरबों से सीखा। फिर भी सस्ता और काफ़ी मात्रा में कागज़ बनने में बहुत दिन लग गये। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में यूरोप के अलग-अलग हिस्सों—हालैण्ड, इटली, इंग्लैण्ड, हंगरी, वग़ैरा, में किताबें छपने लगीं थीं। ख़याल करो कि कागज़ और छपाई का प्रचार होने के पहले दुनिया किस तरह की रही होगी। आज हम लोग कागज़ और पुस्तकों और छपाई के इतने आदी हो गए हैं कि इन चीज़ों से ख़ाली दुनिया की कल्पना भी करना बहुत मुश्किल है। छपी हुई किताबों के बिना बहुत-से आदमियों को लिखना-पढ़ना तक भी सिखाना क़रीब-क़रीब नामुमकिन है। पुस्तकों को बड़ी मेहनत से हाथ से नक़ल करना पड़े और वे बहुत थोड़े लोगों तक पहुँच सकें, पढ़ाई ज़्यादातर ज़बानी करनी पड़े और विद्यार्थियों को हर बात ज़बानी याद करनी पड़े, यह बात पुरानी क़िस्म के मकतबों और पाठशालाओं में अभीतक पाई जाती है।

कागज़ और छपाई के चलन से बहुत बड़ा परिवर्तन पैदा हो गया। छपी हुई स्कूली और दूसरी किताबें प्रकाशित होने लगीं। बहुत जल्दी ही पढ़ने-लिखने-वालों की संख्या बढ़ गई। जितना ही लोग ज़्यादा पढ़ते हैं, उतना ही ज़्यादा सोचने लगते हैं (लेकिन यह बात विचारों से भरी पुस्तकों पर ही लागू होती है; आजकल जो ज़्यादातर रद्दी किताबें निकल रही हैं, उनके बारे में नहीं)। और जितना ज़्यादा आदमी सोचता है उतना ही ज़्यादा वह मौजूदा हालतों की छान-बीन करता है और उनकी आलोचना करता है। इसका नतीजा अक़्सर यह होता है कि मौजूदा व्यवस्था को लोग चुनौती देने लगते हैं। अज्ञान परिवर्तन से हमेशा डरता है। वह अनजानी बातों से डरता है, इसलिए लीक पर ही चलना पसन्द करता है, चाहे उसमें उसे कितनी ही मुसीबत क्यों न हो। अपने अन्धेपन में वह गिरता-पड़ता आगे चला जाता है। लेकिन सही अध्ययन से ज्ञान की कुछ मात्रा हासिल हो जाती है और आँखें कुछ खुल जाती हैं।

कागज़ और छपाई के ज़रिये आंखों के इस तरह खुल जाने की वजह से ही उन तमाम बड़े आन्दोलनों को ज़बर्दस्त मदद मिली, जिनका अभी हम ज़िक्र कर चुके हैं। पहले-पहल छपनेवाली पुस्तकों में बाइबिलें थीं और बहुत लोग, जिन्होंने अबतक बाइबिल का सिर्फ़ लातीनी मूल-पाठ सुना था और समझा न था, अब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे अपनी ही भाषा में पढ़ सकते थे। इस पढ़ने ने उन्हें अवसर हर चीज़ के गुण-दोष देनेवाला बना दिया और पादरियों से कुछ मुक्त कर दिया। स्कूली-किताबें भी बहुत बड़ी संख्या में छपने लगीं। इससे आगे हम यूरोप की भाषाओं को तेजी के साथ तरक्क़ी करती पाते हैं। अभी तक लातीनी भाषा ने उन्हें दबा रखा था।

इस ज़माने का यूरोप का इतिहास महान् व्यक्तियों के नामों से भरा पड़ा है। उनसे हमारा बाद में परिचय होगा। हमेशा, जब कभी कोई देश या महाद्वीप अपनी बढ़ोतरी रोकनेवाले खोल को तोड़कर बाहर निकलता है तो वह कई दिशाओं में तीर की तरह आगे बढ़ जाता है। इस बात को हम यूरोप में पाते हैं और इस काल का यूरोपीय इतिहास सबसे ज्यादा दिलचस्प और जानकारी देनेवाला है। क्योंकि इसी समय में आर्थिक और दूसरे महान् परिवर्तन हुए। भारत के या चीन के इसी काल के इतिहास का इसके साथ मुक़ाबला करो। जैसा मैंने तुमको बताया है, ये दोनों देश उस समय यूरोप से बहुत-सी बातों में आगे थे। फिर भी भारत और चीन के इतिहासों में एक तरह की निष्क्रियता है और उसीके मुक़ाबले में इस काल के यूरोपीय इतिहास का रूप गतिशील है। भारत और चीन में महान् शासक और महापुरुष हुए और ऊँचे दर्जे की संस्कृति थी, लेकिन जनता, खास तौर से भारत में, बिलकुल चेतनाहीन और निष्क्रिय दिखाई देती है। आम लोग शासकों के परिवर्तन को बिना किसी ऐतराज़ के बर्दाश्त कर लेते थे। मालूम होता है कि उन्हें साध लिया गया था और वे हुक्म बजाने के इतने आदी हो गये थे कि सत्ता को चुनौती देना उनके लिए असम्भव था। इसलिए उनका इतिहास कहीं-कहीं दिलचस्प होते हुए भी, जन-आन्दोलनों के इतिहास की बनिस्बत शासकों और घटनाओं का लेखा ही ज्यादा है। मैं यक़ीन के साथ नहीं कह सकता कि यह बात चीन के बारे में कहाँ तक सच है, लेकिन भारत के मामले में तो ज़रूर यह बात सैकड़ों वर्षों से सच होती रही है। और इस काल में भारत में आनेवाली तमाम बुराइयाँ हमारे देशवासियों की इसी बुरी हालत के नतीजे हैं।

भारतवासियों में एक दूसरा झुकाव यह देखा जाता है कि वे पीछे देखना चाहते हैं, आगे नहीं। हम हन ऊँचाइयों की तरफ़ देखते हैं, जिनपर हम कभी बैठे थे; उन ऊँचाइयों की तरफ़ नहीं, जिन पर पहुँचने की आशा रखते हैं। मतलब यह कि हमारे देशवासी गुज़रे हुए ज़माने के लिए अफ़सोस करते रहे और आगे क़दम बढ़ाने के बजाय, जिस किसीने भी हुक्म चला दिया उसीका हुक्म बजाते रहे। अन्त में जाकर साम्राज्य अपनी ताक़त पर उतने नहीं टिके रहते जितने अपने अधीन लोगों की गुलामी की भावना पर।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ८३ :

'रिनेसां' या पुनर्जागरण

५ अगस्त, १९३२

उस हलचल और मुसीबत से, जो सारे यूरोप में फैल रही थी, रिनेसाँ का सुन्दर फूल पैदा हुआ। पहले यह इटली की ज़मीन में उगा, लेकिन प्रेरणा और पुष्टि के लिए उसने सदियों को लाँघकर पुराने यूनान की तरफ़ देखा। यूनान से इसने सौन्दर्य का प्रेम सीखा और शरीर के इस रूप-सौन्दर्य में इसने एक नई चीज़ जोड़ दी, जो ज़्यादा गहरी थी, जो मन से पैदा हुई थी और भावना से सम्बन्ध रखती थी। यह शहरी उपज थी और उत्तर इटली के शहरों ने इसे आसरा दिया। फ़्लोरेन्स ख़ासतौर से शुरू की 'रिनेसाँ' का घर था।

तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में फ़्लोरेन्स इटालवी भाषा के दो महान् कवि, दान्ते और पेत्रार्क पैदा कर चुका था। मध्यकाल में यह यूरोप की आर्थिक राजधानी बन गया था, जहाँ बड़े-बड़े साहूकार इकट्ठे होते थे। यह धनवानों और ऐसे लोगों का छोटा-सा गणराज्य था, जिनकी बहुत तारीफ़ नहीं की जा सकती और जो खुद अपने महापुरुषों के साथ अक्सर बुरा बर्ताव करते थे। इस शहर को 'चंचल फ़्लोरेन्स' कहा गया है। लेकिन साहूकारों और अत्याचारी व निरंकुश शासकों के होते हुए भी इस शहर ने पन्द्रहवीं सदी के लिए पिछले दिनों में तीन निराले आदमी पैदा किये—लिओनार्दो द विंची, माइकेल ऐंजिलो और राफ़ाएल। ये तीनों बहुत महान् कलाकार और चित्रकार हुए हैं। लिओनार्दो और माइकेल ऐंजिलो, दूसरी बातों में भी बढ़े-चढ़े थे। माइकेल ऐंजिलो अद्भुत मूर्तिकार था। ठोस संगमरमर से विशाल मूर्तियाँ गढ़कर निकालता था। वह बहुत बड़ा वास्तु-शिल्पकार भी था और रोम के सेन्ट पीटर के विशाल गिरजे का नक़्शा बहुत-कुछ उसीने बनाया था। उसने बहुत लम्बी, क़रीब ९० वर्ष की उम्र पाई और अपने मरने के दिन तक वह सेन्ट पीटर के गिरजे में जुटा रहा। वह अन्दर से दुखी था और चीज़ों की ऊपरी सतह के नीचे कुछ-न-कुछ ढूंढ़ा करता था। वह हमेशा सोचता रहता था और हमेशा अद्भुत कामों की कोशिश में रहता था। एक बार उसने कहा था, "आदमी दिमाग़ से चित्र बनाता है, हाथ से नहीं।"

इन तीनों में उम्र में सबसे बड़ा लिओनार्दो था और कई बातों में सबसे अद्भुत भी था। सच तो यह है कि वह अपने ज़माने का सबसे निराला आदमी था और याद रक्खो कि यह वह युग था, जिसमें कितने ही महापुरुष पैदा हुए। महान् चित्रकार और मूर्तिकार तो वह था ही, पर साथ-ही-साथ वह महान् विचारक और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञानी भी था। हमेशा प्रयोग करता था, हमेशा बातों की तह में पहुँचने की कोशिश करता था और यह जानने की फ़िक्र में रहता था कि किसी बात की असली वजह क्या है। वह उन महान् विज्ञानियों में गिना जाता है, जिन्होंने शुरू-शुरू में आधुनिक विज्ञान की बुनियाद डाली। उसने कहा है—"कृपालु प्रकृति इस बात की कोशिश में रहती है कि तुम दुनिया में हर जगह कुछ-न-कुछ सीखो।" उसने जो कुछ पढ़ा था, खुद ही पढ़ा था। तीस वर्ष की उम्र में उसने लातीनी भाषा और गणित का अध्ययन शुरू किया। वह एक बड़ा इंजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल इस बात का पता चलाया कि आदमी के शरीर में ख़ून गर्दिश करता है। वह मनुष्य-शरीर की बनावट पर मोहित था। उसने कहा है—"बुरी आदतों और तंग विचार के असभ्य लोग मनुष्य-शरीर जैसे सुन्दर औज़ार और हड्डी-चमड़े के जटिल साधन के क़ाबिल नहीं हैं। उन्हें तो खाना भरने और फिर उसे बाहर निकालने के लिए सिर्फ़ एक थैला चाहिए, क्योंकि वे अन्न-नली के सिवा और कुछ नहीं हैं!" वह खुद शाकाहारी था और जानवरों को बहुत प्यार करता था। उसका एक दस्तूर यह था कि वह बाज़ार में पिंजरा-बन्द चिड़ियों को ख़रीदकर उन्हें उसी वक़्त छोड़ देता था।

उड्डयन यानी हवा में उड़ने की कोशिश लिओनार्दो की कोशिशों में सबसे ज़्यादा अद्भुत थी। उसे कामयाबी तो नहीं मिली, लेकिन कामयाबी के रास्ते में वह काफ़ी बढ़ गया था। उसके सिद्धान्तों और प्रयोगों को आगे बढ़ानेवाला उसके बाद कोई दूसरा नहीं हुआ। अगर उसके बाद उसीकी तरह के दो-तीन व्यक्ति और हो गये होते तो शायद आजकल का हवाई जहाज़ आज से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही ईजाद हो चुका होता। यह अद्भुत और विचित्र आदमी १४५२ ई० में पैदा हुआ और १५१९ ई० में मरा। कहते हैं, उसका जीवन "प्रकृति के साथ सवाल-जवाब था।" वह हर वक़्त सवाल करता रहता और प्रयोगों के ज़रिये उनके हल निकालने की कोशिश में लगा रहता। भविष्य को पकड़ने की कोशिश में वह सदा आगे बढ़ता नज़र आता था।

मैंने फ़्लोरेन्स के इन तीनों व्यक्तियों का ज़िक्र किया है, खासकर लिओनार्दो का, क्योंकि वह मेरा मन-भावता है। साज़िशों से और ज़ालिम व दग़ाबाज़ शासकों से भरा हुआ, फ़्लोरेन्स के गणराज्य का इतिहास कुछ ज़्यादा भला और सिखानेवाला नहीं है। लेकिन फ़्लोरेन्स को बहुत-सी बातों के लिए क्षमा किया जा सकता है; यहाँतक कि हम उसके सूदख़ोरों को भी माफ़ कर सकते हैं! क्योंकि उसने बहुत सारे महापुरुष पैदा किये। उसके इन महान् सुपुत्रों का साया उसपर अभी तक है और जब कोई इस सुन्दर शहर की सड़कों पर होकर गुज़रता है या मध्य-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालीन पुलों के नीचे बहती हुई मनोहर आर्नो नदी को देखता है तो उसके ऊपर जादू-सा छा जाता है और गुज़रा ज़माना मूर्त और सजीव हो उठता है। दान्ते सामने से निकलता है और उसकी प्यारी बीआत्रिस अपने पीछे फूलों की हलकी-सी सुगन्ध उड़ाती हुई गुज़र जाती है। लिओनार्दो तंग गलियों में टहलता हुआ दिखाई देता है—विचारों में डूबा हुआ, और जीवन व प्रकृति के रहस्यों का ध्यान करता हुआ।

इस तरह रिनेसाँ इटली में पन्द्रहवीं सदी में फूला-फला और वहाँ से धीरे-धीरे दूसरे पश्चिमी देशों की तरफ़ फैल गया। महान् कलाकारों ने मूर्तियों और चित्रों में जान डालने की कोशिश की और यूरोप की चित्रशालाएँ और संग्रहालय उनकी बनाई हुई तस्वीरों और मूर्तियों से भरे पड़े हैं। सोलहवीं सदी के अन्त में इटली में कला का उभार बैठने लगा। सत्रहवीं सदी में हॉलैण्ड में बड़े-बड़े चित्रकार पैदा हुए। इनमें रेम्ब्रान्त सबसे ज़्यादा मशहूर है। स्पेन में इसी समय वेलस्क्वेज़ हुआ। लेकिन अब मैं ज़्यादा नामों का ज़िक्र नहीं करूँगा। उनकी संख्या बहुत ज़्यादा है। अगर तुमको बड़े-बड़े उस्ताद चित्रकारों में दिलचस्पी हो तो चित्रशालाओं में जाकर उनकी रचनाओं को देखो। उनके नामों का कोई महत्व नहीं। जिस कला और सौन्दर्य को उन्होंने जन्म दिया, वही हमारे लिए एक सन्देश है।

इस काल में, यानी पन्द्रहवीं से सत्रहवीं सदी तक, विज्ञान ने भी धीरे-धीरे आगे रास्ता तैयार किया और अपने लिए जगह बना ली। ईसाई-संघ से उसे सख्त लड़ाई करनी पड़ी, क्योंकि ईसाई-संघ यह नहीं मानता था कि लोग सोचें और प्रयोग करें। उसके खयाल में तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाता था और तारे आसमान में अपनी जगह पर जड़े हुए थे। जो कोई इसके खिलाफ़ कहता, वह काफ़िर था और इनक्विज़िशन उसे सज़ा दे सकती थी। इसपर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्डवासी ने इस विश्वास को चुनौती दी और साबित किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इस तरह उसने विश्व के बारे में आजकल के विचारों की बुनियाद रखी। इसका जीवन-काल १४७३ से १५४३ ई० था। किसी तरह वह अपने क्रान्तिकारी और काफ़िरी मतों के लिए ईसाई-संघ के गुस्से से बच गया। पर उसके बाद जो हुए, उनकी क़िस्मत इतनी अच्छी नहीं थी। जिओर्दानो ब्रूनो नामक इटालवी को १६०० ई० में रोम में ईसाई-संघ ने इसलिए ज़िन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर ज़ोर देता था कि पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है और तारे खुद भी सूर्य हैं। इसके समकालीन गैलीलियो को भी, जिसने दूरबीन ईजाद की थी, ईसाई-संघ ने धमकी दी थी। लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नहीं था और उसने अपनी राय वापस ले लेने में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ही खैर समझी। इसलिए उसने ईसाई-संघ के सामने क़बूल कर लिया कि उसने बेवक़ूफ़ी से यह ग़लती की थी, और वास्तव में पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिन जेलख़ाने में रहना पड़ा था।

सोलहवीं सदी के प्रमुख वैज्ञानिकों में हार्वी हुआ, जिसने पूरी तौर से यह साबित कर दिया कि ख़ून गर्दिश करता है। सत्रहवीं सदी में आइज़क न्यूटन हुआ, जिसका नाम संसार के सबसे महान् वैज्ञानिकों में गिना जाता है और जो एक महान् गणितज्ञ था। इसने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के नियम का, यानी इस बात का पता लगाया कि चीज़ें ज़मीन पर क्यों गिरती हैं। इस तरह उसने प्रकृति का एक और रहस्य खोल डाला।

इतनी बात, या इतनी थोड़ी-सी बात तो विज्ञान के बारे में हुई। इस काल में साहित्य भी आगे बढ़ा। सब जगह फैली हुई नई भावना ने तरुण यूरोपीय भाषाओं पर भी ज़बर्दस्त असर डाला। ये भाषाएँ कुछ दिन से पल रही थीं और हमने देखा कि इटली ने महान् कवि भी पैदा किये थे। इंग्लैण्ड में चॉसर[1] हुआ। लेकिन लातीन, जो विद्वानों की और ईसाई-संघ की भाषा थी, इन सबपर हावी थी। ये गँवारू भाषाएँ यानी 'वरनाक्यूलर' थीं और यह शब्द बहुत-से लोग अभी तक अजीब तौर पर भारतीय भाषाओं के लिए इस्तेमाल करते हैं। इन भाषाओं में लिखना शान के ख़िलाफ़ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, काग़ज़ और छपाई ने, इन भाषाओं को बढ़ावा दिया। इटालवी भाषा पहले-पहल मैदान में आई, फिर फ़ान्सीसी और अंग्रेज़ी और स्पेनी और सबसे आख़िर में जर्मन। सोलहवीं सदी में फ़ान्स के कुछ नौजवान लेखकों ने पक्का इरादा कर लिया कि लातीन में न लिखकर अपनी भाषा में ही लिखेंगे, अपनी ही 'गँवारू भाषा' की तरक्क़ी करेंगे ताकि वह अच्छे-से-अच्छे साहित्य का उपयुक्त माध्यन बन सके।

इस तरह यूरोप की भाषाओं ने प्रगति की और वे धनी और शक्तिशाली बनीं, और उनका आज का खरा रूप बना। मैं मशहूर लेखकों के ज़्यादा नाम नहीं गिनाऊँगा, दो-चार का ही ज़िक्र करूँगा। इंग्लैण्ड में १५६४ से १६१६ ई० तक मशहूर नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद ही सत्रहवीं सदी में 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' का लेखक अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ़ान्स में सत्रहवीं सदी में देकार्त नामक दार्शनिक और मॉलियर नामक नाटककार हुआ। मॉलियर ने पेरिस के बड़े सरकारी नाटक-घर कोमि फ़ान्स्वाज़ की नींव डाली। स्पेन में शेक्सपियर का समकालीन थरवान्तेज़ हुआ, जिसने 'दॉन क्विक्सोत' नामक पुस्तक की रचना की।

---

[1] अंग्रेज़ी भाषा का आदि कवि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक और नाम का भी मैं ज़िक्र करूँगा, उसकी महानता के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि वह मशहूर है। यह नाम मैकियावेली का है, जो फ़्लोरेन्स का रहने-वाला था। वह पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियों का मामूली राजनीतिज्ञ था, लेकिन उसने 'प्रिन्स' नाम की एक पुस्तक लिखी, जो बहुत मशहूर हुई। इस पुस्तक से उस ज़माने के राजाओं और राजनीतिज्ञों के विचारों की झलक मिल जाती है। मैकिया-वेली ने लिखा है कि सरकार के लिए मज़हब की ज़रूरत है, इसलिए नहीं कि जनता को सदाचारी बनावे, बल्कि इसलिए कि उसपर हुकूमत करने में मदद मिले और उसे दबाकर रखा जा सके। शासक का यह कर्तव्य भी हो सकता है कि वह ऐसे मज़हब का समर्थन करे, जिसे वह झूठा समझता हो! मैकियावेली ने लिखा है: "राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ मनुष्य और पशु का, शेर और लोमड़ी का नाटक कैसे खेला जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना चाहिए और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुक़सान होता हो . . .। मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि हमेशा ईमानदार होना बहुत हानिकर होता है; लेकिन इसके विपरीत, ख़ुदा-परस्त और दीनदार, दयावान और भक्त के स्वांग रचना लाभदायक है। नेकी के आडम्बर से ज़्यादा फ़ायदेमन्द और दूसरी चीज़ नहीं है।"

क्यों, कितनी बुरी बात है। जो राजा जितना ही ज़्यादा बदमाश, उतना ही वह अच्छा! अगर औसत राजा के दिमाग़ की यूरोप में उस वक़्त यह हालत थी तो वहाँ बराबर झगड़े बने रहना कोई ताज्जुब की बात नहीं। लेकिन इतनी दूर जाने की क्या ज़रूरत है? आजकल की साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी बहुत-कुछ मैकियावेली के राजा की तरह ही बर्ताव करती हैं। सदाचार के आडम्बर के नीचे लालच, ज़ुल्म और बे-उसूलापन छिपे रहते हैं; सभ्यता के मुलायम दस्ताने में हैवान का ख़ूनी पंजा छिपा रहता है।

: ८४ :

प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह और किसानों का युद्ध

८ अगस्त, १९३२

पन्द्रहवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक के यूरोप के बारे में कई पत्र मैं लिख चुका हूँ। मध्य-युगों के गुज़रने, किसानों की महा मुसीबत, मध्यमवर्ग के उदय, और अमेरिका की और पूर्व जाने के समुद्री रास्तों की खोज, और यूरोप में कला, विज्ञान और भाषाओं की प्रगति के बारे में मैंने कुछ-न-कुछ तुमको बता दिया है। लेकिन तसवीर की रूप-रेखा पूरी करने के लिए इस ज़माने की बाबत अभी बहुत कुछ कहना बाक़ी है। ध्यान रहे कि मेरे दो आख़िरी पत्र, और वह पत्र, जो मैं समुद्री

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोम के विरुद्ध बग़ावत

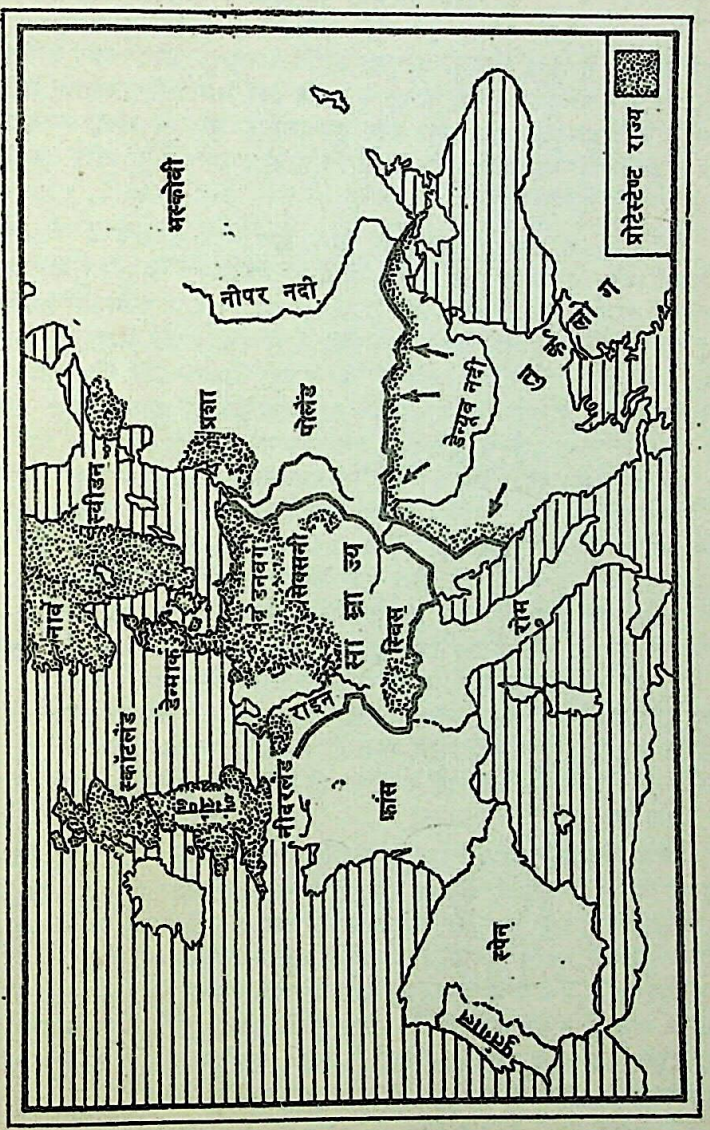

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रास्तों के बारे में लिख चुका हूँ, यह पत्र जो लिख रहा हूँ, और शायद आगे लिखे जानेवाले और भी एक-दो पत्र, ये सब यूरोप के इसी ज़माने से ताल्लुक़ रखते हैं। हालाँकि मैं जुदा-जुदा आन्दोलनों और हलचलों के बारे में अलग-अलग लिख रहा हूँ, लेकिन ये सब बातें क़रीब-क़रीब एक ही ज़माने में हुईं और एक-दूसरी पर असर भी डालती रहीं।

'रिनेसाँ' के समय के पहले ही रोमन ईसाई-संघ के ढाँचे में खड़खड़ाहट होने लगी थी। यूरोप के राजा और क़ौमें दोनों ईसाई-संघ के जुल्मों को महसूस करने लगे थे और कुछ बड़बड़ाने लगे थे और उनका विश्वास डगमगाने लगा था। तुम्हें याद होगा कि सम्राट् फ़ेडरिक द्वितीय की पोप से काफ़ी झड़प हुई थी और उसने ईसाइयत से छेक दिये जाने की भी कुछ परवाह न की थी। अविश्वास और इन लक्षणों से रोम चिढ़ गया और उसने इस कुफ़्र को कुचल देने का फ़ैसला कर लिया। इसी इरादे से 'इनक्विज़िशन' क़ायम की गई और सारे यूरोप में, उन सब आदमियों को, जिन्हें काफ़िर बतलाया जाता था, और उन सब औरतों को जिनपर डायनें होने का जुर्म लगाया जाता था, जला दिया गया। प्राहा के जॉन हस को चालबाज़ी से जला दिया गया; इसपर बोहेमिया में उसके अनुयायियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। रोमन ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ विद्रोह की इस नई भावना को 'इनक्विज़िशन' के सारे आतंक भी दबा न सके। वह फैलती ही गई और इसमें शक नहीं कि इसके साथ किसानों का वह असन्तोष भी जुड़ गया, जो बड़े ज़मींदार ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ उनमें पैदा हो गया था। बहुत जगह राजाओं ने भी अपने स्वार्थ की ख़ातिर इस भावना को उकसाया। उनकी ईर्ष्या व लालच भरी आँखें, ईसाई-संघ की विशाल सम्पत्ति पर लगी हुई थीं। पुस्तकों व बाइबिलों की छपाई ने भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई आग को और भी भड़काया।

सोलहवीं सदी की शुरुआत में, जर्मनी में, मॉर्टिन लूथर पैदा हुआ जो आगे चलकर रोम के ख़िलाफ़ विद्रोह का एक महान् नेता होनेवाला था। वह एक ईसाई पादरी था। एक बार जब वह रोम गया तो वहाँ ईसाई-संघ के भ्रष्टाचार और विलास ने उसके दिल को ग्लानि से भर दिया। यह मतभेद बढ़ता ही गया, यहाँतक कि रोमन ईसाई-संघ के दो टुकड़े हो गये और पश्चिमी यूरोप, धर्म व राजनीति दोनों के मामलों में दो खेमों में बँट गया। पूर्वी यूरोप और रूस का पुराना कट्टर यूनानी ईसाई-संघ इस झगड़े से अलग ही रहा। जहाँतक उसका ताल्लुक़ था वह खुद रोम को ही सच्ची ईसाइयत से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटेस्टेण्ट' विद्रोह शुरू हुआ। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कहा गया कि यह रोमन ईसाई-संघ के कई कट्टर उसूलों का 'प्रोटेस्ट' यानी विरोध करता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। तभीसे पश्चिमी यूरोप में ईसाइयत के दो मुख्य भाग हो गये हैं—रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट भी कितने ही फ़िरक़ों में बँटे हुए हैं। ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ इस आन्दोलन को 'रिफ़ॉर्मेशन' कहते हैं। असल में ईसाई-संघ के भ्रष्टाचार और उसकी निरंकुश सत्ता, दोनों के ख़िलाफ़ जनता का विद्रोह था। इसके साथ ही बहुत-से राजा यह चाहते थे कि पोप का उनपर हुक्म चलाना हमेशा के लिए ख़त्म हो जाय। वे अपने राजनीतिक मामलों में पोप की दस्तन्दाज़ी से बहुत चिढ़े हुए थे। इसके अलावा रिफ़ॉर्मेशन का एक तीसरा पहलू भी था। और वह यह कि ईसाई-संघ के वफ़ादार अनुयायी उसकी बुराइयों का भीतर से सुधार करने की कोशिश में थे।

शायद तुम्हें दो ईसाई-संघों—फ़ान्सिस्कन और डोमिनिकन—की याद होगी। सोलहवीं सदी में, क़रीब-क़रीब उसी वक़्त, जब मॉर्टिन लूथर का बल बढ़ रहा था, लोयोला-निवासी इग्नेशियस नामक स्पेनी ने एक नया ईसाई-संघ क़ायम किया। उसने इसका नाम 'सोसायटी ऑफ़ जीज़स' (यीशु की समिति) रखा और इसके सदस्य जेजुइट कहलाये। इन जेजुइटों की चीन और पूर्व की यात्राओं का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। यह 'जीज़स-संघ' एक बड़ी निराली जमात थी। रोमन ईसाई-संघ और पोप की कारगर सेवा के लिए पूरा वक़्त देनेवाले आदमी तैयार करना इसका मक़सद था। वह बड़ी सख़्त तालीम देता था और इसमें वह इतना कामयाब हुआ कि उसने चर्च के बड़े ही मुस्तैद और वफ़ादार सेवक पैदा किये। ये सेवक लोग ईसाई-संघ के इतने वफ़ादार थे कि बिना कोई तर्क किये आँख मींचकर उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे और उन्होंने अपना सबकुछ उसीपर निछावर कर दिया था। ईसाई-संघ के हित के लिए वे ख़ुशी से अपनी क़ुरबानी देने को तैयार रहते थे। उनके बारे में सचमुच यह मशहूर था कि ईसाई-संघ की सेवा में वे भलाई-बुराई का बिलकुल विचार नहीं करते थे। ईसाई-संघ के हित में सबकुछ उचित था और माफ़ था।

यह निराली जमात रोमन ईसाई-संघ की सबसे बड़ी मददगार साबित हुई। इन लोगों ने न सिर्फ़ उसका नाम और सन्देश ही दूर-दूर के देशों तक पहुँचाया, बल्कि यूरोप में उसका चरित्र भी ऊँचा उठा दिया। कुछ तो सुधार के अन्दरूनी आन्दोलन से, और ज़्यादातर प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह के डर से, रोम में भ्रष्टाचार बहुत कम हो गया। इस तरह 'रिफ़ॉर्मेशन' ने ईसाई-संघ को दो हिस्सों में बाँट दिया और साथ ही कुछ हद तक उसका अन्दरूनी सुधार भी कर दिया।

ज्यों-ज्यों प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह पनपा, यूरोप के कुछ राजा व बादशाहों ने एक दल की हिमायत की, कुछने दूसरे की। इसका मज़हबी भावनाओं से कोई वास्ता नहीं था। यह तो बहुत-कुछ कूटनीति का मामला था और इसके पीछे लाभ की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावना थी। हैप्सबर्ग वंश का चार्ल्स पंचम उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् था। अपने पिता और दादा की शादी के परिणाम-स्वरूप, उसे संयोग से विरासत में एक बड़ा साम्राज्य मिल गया था, जिसमें आस्ट्रिया, जर्मनी (नाम मात्र को) स्पेन, नेपल्स और सिसली, नीदरलैण्ड और स्पेनी अमेरिका शामिल थे। उन दिनों शादी के ज़रिये, अपनी रियासत का विस्तार करने का यह तरीक़ा यूरोप में अच्छा चल निकला था। इसी वजह से, ख़ुद किसी क़ाबिल न होते हुए भी, चार्ल्स का आधे यूरोप पर राज करने का संयोग बन गया और कुछ दिन तो वह बहुत-बड़ा आदमी नज़र आने लगा था। उसने प्रोटेस्टेण्टों के ख़िलाफ़ पोप की मदद करने का फ़ैसला किया। 'रिफ़ॉर्मेशन' का ख़याल साम्राज्य के ख़याल से मेल नहीं खाता था। लेकिन बहुत-से छोटे-छोटे जर्मन राजाओं ने प्रोटेस्टेण्टों का साथ दिया और सारे जर्मनी में रोमन और लूथरन, दो फ़िसादी फ़िरक़े बन गये। इसका क़ुदरती नतीजा यह हुआ कि जर्मनी में गृह-युद्ध छिड़ गया।

इंग्लैण्ड में बहु-विवाहित बादशाह हेनरी अष्टम ने पोप के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों, का, या यों कहो कि ख़ुद अपना, साथ दिया। उसकी ललचाई आँखें ईसाई-संघ की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोड़कर उसने मठों और गिरजों की सारी उपजाऊ ज़मीनें ज़ब्त कर लीं। पोप से सम्बन्ध तोड़ने का एक निजी कारण यह भी था कि वह अपनी पत्नी को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से शादी करना चाहता था।

फ़्रांस में कुछ अजीब ही हालत थी। वहाँ बादशाह का प्रधान मन्त्री मशहूर कार्डिनल रिशैल्यू था और राज्य का असली शासक वही था। रिशैल्यू ने फ़्रांस को रोम और पोप के पक्ष में रक्खा और अपने यहाँ प्रोटेस्टेण्टों का ख़ूब दमन किया। लेकिन राजनीतिक साज़िशें ऐसी होती हैं कि उसीने जर्मनी में प्रोटेस्टेण्ट मत को बढ़ावा दिया ताकि जर्मनी में गृह-युद्ध हो जाय और वह कमज़ोर हो जाय और उसमें फूट पड़ जाय। फ़्रान्स और जर्मनी की आपसी दुश्मनी यूरोप के इतिहास में एक अटूट धागे की तरह चली आ रही है।

लूथर सबसे बड़ा प्रोटेस्टेण्ट था और उसने रोम की सत्ता का विरोध किया। लेकिन यह ख़याल न कर लेना कि वह मज़हब के मामले में उदार था। वह उतना ही कट्टर था जितना कि पोप जिससे, वह लड़ रहा था। इसलिए 'रिफ़ॉर्मेशन'-से यूरोप में कोई मज़हबी आज़ादी नहीं आई। इसने एक नये ढंग के मज़हबी-दीवाने पैदा कर दिये—"प्यूरिटन"[1] और कैलविनिस्ट। कैलविन प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के बाद के नेताओं में से था। वह अच्छा संगठन करनेवाला था और कुछ दिनों तक

---

[1] १६वीं और १७वीं सदियों में इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेण्ट लोगों का एक समुदाय, जो सादगी पर ज़ोर देता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेनेवा शहर की बागडोर उसके हाथ में रही। क्या तुम्हें जेनेवा के पार्क में 'रिफ़ॉर्मेशन' के उस बड़े स्मारक की याद है, जिसकी दूर-दूर तक फैली हुई दीवारों पर कैलविन वग़ैरा की मूर्तियाँ हैं? कैलविन इतना कट्टर था कि उसने बहुत-से लोगों को सिर्फ़ इसलिए जलवा दिया था कि वे उससे सहमत नहीं होते थे और स्वतन्त्र विचारक थे।

लूथर और प्रोटेस्टेण्टों की आम लोगों ने भी खूब मदद की, क्योंकि उनमें रोमन ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ बड़ा ज़बर्दस्त असन्तोष था। जैसा मैं बतला चुका हूँ, किसान वर्ग बड़ी मुसीबत में था और बार-बार दंगे होते थे। ये दंगे बढ़कर जर्मनी में बाक़ायदा किसान-युद्ध की सूरत में बदल गये। बेचारे ग़रीब किसान उस बुरी प्रणाली के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए, जो उनको पीस रही थी और उन्होंने बहुत ही मामूली और वाजिब हक़ों की माँग की—यानी यह कि ग़ुलाम-काश्तकार की प्रथा उठा दी जाय और उन्हें मछली मारने और शिकार करने के हक़ दिये जायँ। लेकिन इन मामूली हक़ों को भी नहीं माना गया और जर्मनी के सामन्तों ने हर तरह की बर्बरता से उन्हें कुचलने की कोशिश की। और उस महान् सुधारक लूथर का क्या रुख था? क्या उसने ग़रीब किसानों का साथ दिया और उनकी वाजिब माँगों का समर्थन किया? नहीं बल्कि किसानों की इस माँग पर कि ग़ुलाम-प्रथा तोड़ दी जाय उसने कहा—"इस शर्त से तो सब आदमी बराबर हो जायँगे और ईसा का आध्यात्मिक राज्य बदलकर एक बाहरी सांसारिक राज्य बन जायगा। असम्भव! पृथ्वी का कोई ऐसा राज्य रह ही नहीं सकता, जिसमें सब व्यक्ति बराबर हों। कुछको आज़ाद, दूसरों को ग़ुलाम; कुछको राजा, दूसरों को प्रजा, रहना ही पड़ेगा।" उसने किसानों को लानत दी और कहा कि उन्हें मार डालना ज़रूरी है "इसलिए जो लोग भी ऐसा कर सकते हों, वे उनको (किसानों को) खुल्लम-खुल्ला या छिपकर काट डालें, क़त्ल कर डालें और छुरों से भोंक दें, और समझ लें कि एक बाग़ी से बढ़कर ज़हरीला, बुरा और निपट शैतान कोई नहीं है। तुम उसे मार डालो, जैसे तुम पागल कुत्ते को मार डालते हो। अगर तुम उसपर टूट नहीं पड़ोगे तो वह तुमपर और सारे देश पर टूट पड़ेगा।" एक मज़हबी नेता और सुधारक के मुँह से निकलनेवाली यह कैसी प्यारी भाषा है!

इन सब बातों से साफ़ हो जाता है कि स्वतन्त्रता और मुक्ति की सारी बातें सिर्फ़ ऊँचे वर्ग के लोगों के लिए थीं, जनता के लिए नहीं। क़रीब-क़रीब हरेक युग में जनता की ज़िन्दगी जानवरों से कुछ ज़्यादा अच्छी नहीं रही है। लूथर के मुताबिक उनकी ज़िन्दगी ऐसी ही बनी रहनी चाहिए, क्योंकि विधाता का ऐसा ही विधान है। रोम के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह का सबसे बड़ा कारण जनता की आर्थिक मुसीबत था। उसने इसे अपने साथ लेकर अपना मतलब बनाया। लेकिन जब यह अन्देशा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने लगा कि कहीं ये ग़ुलाम-किसान बहुत आगे न बढ़ जायँ और अपनी ग़ुलामी से छुटकारा न पा लें—(यह छोटी-सी बात काफ़ी थी), तो प्रोटेस्टेण्ट नेता उनको कुचलने के लिए राजाओं से मिल गये। जनता के दिन अभी बहुत दूर थे। नया युग, जो उदय हो रहा था, मध्यमवर्ग के लोगों का युग था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों की मुठभेड़ों और युद्धों के बीच, इस वर्ग को, अटल रूप से, सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर चढ़ता हुआ देखा जा सकता है।

जहाँ कहीं भी यह आगे बढ़ता हुआ मध्यमवर्ग काफ़ी मज़बूत था, वहाँ-वहाँ प्रोटेस्टेण्ट मत फैल गया। प्रोटेस्टेण्टों के भी कई वर्ग और फ़िरक़े थे। इग्लैण्ड में बादशाह खुद ईसाई-संघ का प्रधान—'दीन-रक्षक' बन गया, और व्यवहार में ईसाई-संघ खत्म हो गया और सरकार का बस एक महकमा बन गया। तबसे इंग्लैण्ड का ईसाई-संघ वैसा ही चला आ रहा है।

दूसरे मुल्कों में, खासतौर से जर्मनी, स्वीज़रलैण्ड और नीदरलैण्ड में, दूसरे फ़िरक़ों का महत्त्व बढ़ा। कैलविन मत खूब फैला, क्योंकि वह मध्यमवर्ग के विकास से मेल खाता था। मज़हबी मामलों में कैलविन के मन में भयंकर वैर-भाव था। ग़ैर-ईसाइयों पर तरह-तरह के ज़ुल्म किये जाते थे और उनको जला दिया जाता था और दीनदारों पर कड़ा अनुशासन था। लेकिन व्यापार के मामलों में, उसका उपदेश बढ़ते हुए उद्योग-धन्धों और व्यापार के ज़्यादा अनुकूल था, हालाँकि रोमन उपदेश ऐसा नहीं था। व्यापार के मुनाफ़ों को बरकत दी जाती थी और लेन-देन को बढ़ावा दिया जाता था। इस तरह नये मध्यमवर्ग ने पुराने मज़हब का यह नया तर्जुमा अंगीकार कर लिया और वह बड़े मज़े से धन कमाने में जुट गया। उन्होंने सामन्त सरदारों के खिलाफ़ अपनी लड़ाई में जनता का उपयोग कर लिया था। अब, सरदारों पर विजय हासिल करने के बाद, उन्होंने जनता को धता बताई, या उसकी छाती पर चढ़ बैठे।

लेकिन अब भी मध्यमवर्ग को बहुत-सी रुकावटों का सामना करना बाक़ी था। अभी बादशाह उनके रास्ते का काँटा था। बादशाह ने सामन्तों से लड़ने में शहर के लोगों का साथ दिया था। अब सामन्तों के कमज़ोर हो जाने पर बादशाह की ताक़त बहुत बढ़ गई और मालूम होता था कि उसने मैदान मार लिया। उसके और मध्यमवर्गों के बीच खींचतान अभी शुरू नहीं हुई थी।

: ८५ :

सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के यूरोप में निरंकुशता

२६ अगस्त, १९३२

मैं फिर बड़ा लापरवाह हो गया। इन पत्रों का लिखे हुए मुझे बहुत दिन हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये हैं। यहाँ मुझसे न तो कोई जवाब तलब करनेवाला है और न कोई बढ़ावा ही देनेवाला है। इसीलिए मैं अक्सर ढीला पड़ जाता हूँ और दूसरे कामों में लग जाता हूँ। अगर हम साथ होते तो शायद यह बात न होती। क्यों ठीक है न? लेकिन अगर तुम और मैं एक दूसरे से बात-चीत कर सकते तो मुझे इन पत्रों के लिखने की ज़रूरत ही क्यों पड़ती?

पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें यूरोप के उस ज़माने का हाल लिखा था, जब वहाँ बड़ी उथल-पुथल थी और बड़ा परिवर्तन हो रहा था। उन पत्रों में सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के बड़े-बड़े परिवर्तनों का ज़िक्र किया गया था। ये परिवर्तन उस आर्थिक क्रान्ति के साथ या बाद में आये, जिसने मध्य-युगों का अन्त करके मध्यमवर्ग को ऊपर चढ़ा दिया था। आखिरी पत्र में मैंने पश्चिमी यूरोप के ईसाई साम्राज्य के टूटने और दो फ़िरक़ों, प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथलिक, में बँट जाने का ज़िक्र किया था। इन दोनों फ़िरक़ों की मज़हबी लड़ाई का खास जंगी मैदान जर्मनी बना हुआ था, क्योंकि वहाँ दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर की जोड़ के थे। पश्चिमी यूरोप के दूसरे देश भी कुछ हद तक इस झगड़े में उलझे हुए थे। लेकिन इंग्लैण्ड यूरोप के इन मज़हबी लड़ाई-झगड़ों से अलग रहा। अपने बादशाह हेनरी अष्टम के राज में इस देश ने बिना किसी अन्दरूनी गड़बड़ के रोम से अपना नाता तोड़ लिया और अपना निजी ईसाई-संघ क़ायम कर लिया, जो कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट ईसाई-संघों के बीच का था। हेनरी मज़हब की कुछ भी परवाह नहीं करता था। उसे तो ईसाई-संघ की ज़मीनों की ज़रूरत थी; वह उसने लेलीं। वह दूसरी शादी करना चाहता था, सो वह भी उसने करली। इस तरह रिफ़ॉर्मेशन का सबसे बड़ा नतीजा यह हुआ कि राजा और बादशाह पोप की लगाम से बरी हो गये।

जिस वक़्त 'रिनेसाँ' और 'रिफ़ॉर्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उथल-पुथल यूरोप के नक़शे को बदल रहे थे, उस वक़्त वहाँ राजनीति के पीछे की ज़मीन कैसी थी? सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में यूरोप का नक़शा किस तरह का था? इन दो सौ वर्षों में यूरोप का नक़शा सचमुच बदलता जा रहा था। इसलिए हमें सोलहवीं सदी के शुरू के नक़शे पर ग़ौर करना चाहिए।

दक्षिण-पूर्व में तुर्क लोग क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाये हुए थे और उनका साम्राज्य हंगरी की तरफ़ बढ़ रहा था। दक्षिण-पश्चिमी कोने में अरबी विजेताओं के वंशज मुसलमान सरासीन ग्रैनेडा से खदेड़े जा चुके थे और फ़र्दिनेन्द व आइज़ाबेला के जुड़वाँ शासन में स्पेन एक ईसाई शक्ति बनकर उठ चुका था। स्पेन में ईसाइयों और मुसलमानों की सदियों की मुठभेड़ ने, स्पेनवासियों को अपने कैथलिक मज़हब से, दिली जोश और कट्टरपन के साथ, चिपके रहने को मजबूर कर दिया था। स्पेन में ही भयंकर 'इनक्विज़िशन' क़ायम हुई। अमेरिका की खोज के जादू

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वहाँ से आनेवाली दौलत के असर से स्पेन यूरोप की राजनीति में सबसे आगे हिस्सा लेने लगा था।

नक़शे पर फिर निगाह दौड़ाओ। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स लगभग वैसे ही थे जैसे कि आज हैं। नक़शे के बीच में एक साम्राज्य है, जो बहुत-सी जर्मन रियासतों में बँटा हुआ है, जिनमें से हरेक क़रीब-क़रीब स्वाधीन थीं। राजाओं, ड्यूकों पादरियों, निर्वाचकों, वग़ैरा के मातहत छोटी-छोटी रियासतों का यह अजीब जमघट था। इसमें ख़ास रियायतोंवाले कुछ शहर भी थे, और उत्तर के व्यापारी शहरों ने मिलकर एक संघ भी बना लिया था। फिर स्वीज़रलैण्ड का गणराज्य था, जो असल में तो स्वाधीन था, लेकिन अभी तक बाक़ायदा स्वाधीन माना नहीं गया था। वेनिस का गणराज्य और उत्तर इटली के और भी कई नगर गणराज्य थे। रोम के चारों ओर पोप की ज़मींदारी थी, जो पोप की रियासत कहलाती थी। इसके दक्षिण में नेपल्स और सिसली के राज्य थे। पूर्व में, जर्मन साम्राज्य और रूस के बीच में, पोलैण्ड था और हंगरी का बड़ा राज्य था, जिसपर उस्मानी तुर्कों की छाया पड़ रही थी। दूर-पूर्व में रूस था, जो 'सुनहरे क़बीले' के मंगोलों के चंगुल से निकलकर एक नया शक्तिशाली राज्य बन रहा था। उत्तर और पश्चिम में कुछ और भी देश थे।

सोलहवीं सदी के शुरू में यूरोप का यह नक़शा था। १५२० ई० में चार्ल्स पंचम बादशाह हुआ। यह हैप्सबर्ग खानदान का था और, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, स्पेन, नेपल्स और सिसली के राज्यों की और नीदरलैण्ड की विरासत इसके हाथ लग गई। यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहों की शादियों की वजह से यूरोप के बहुत-से देशों और क़ौमों के स्वामी ही बदल गये। करोड़ों जनता और बड़े-बड़े देश सिर्फ़ विरासत में मिल गये। कहीं-कहीं वे दहेजों में दिये गए। बम्बई का टापू इसी तरह इंग्लण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी पत्नी, ब्रैगेंज़ा (पुर्तगाल) की कैथरीन, के साथ दहेज में मिला था। इसलिए चतुराई के साथ शादियाँ करके हैप्सबर्गों ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पंचम इसका अध्यक्ष हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और ख़ासतौर पर इसलिए मशहूर था कि वह ख़ूब खाता था। लेकिन उस वक़्त तो अपने बड़े साम्राज्य के कारण वह यूरोप में बड़ा भारी-भरकम जँच रहा था।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी साम्राज्य का अध्यक्ष हुआ। इसके ज़माने में यह साम्राज्य सभी ओर, और ख़ासकर पूर्वी यूरोप की ओर फैला। तुर्क लोग ठेठ वियेना के दरवाज़ों तक पहुँच गये, मगर इस सुन्दर पुराने शहर को जीतने में ज़रा-सी कसर रह गई। लेकिन हैप्सबर्ग सम्राट् उनके रोब में आ गया और उसने सुलेमान को ख़िराज देकर उससे पिण्ड छुड़ाना ही ठीक समझा। पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् का तुर्की के सुलतान को ख़िराज

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देना ज़रा ग़ौर करने की बात है। सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर है। उसने सम्राट् का ख़िताब अपने-आप ही ले लिया, क्योंकि वह अपने-आपको पूर्वी बिज़ैन्तीन सीज़रों का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय में क़ुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनाने का काम बड़े ज़ोरों से हुआ और बहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गईं। इटली में कलाओं का जैसा पुनर्जीवन हो रहा था वैसा ही पूर्व में भी होता हुआ नज़र आ रहा था। कला की यह हलचल सिर्फ़ क़ुस्तुन्तुनिया में ही नहीं थी, बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के ख़ुरासान में भी बड़े सुन्दर चित्र बनाये जा रहे थे।

हम देख चुके हैं कि किस तरह उत्तर-पश्चिम से बाबर ने आकर भारत में एक नया राजवंश क़ायम किया। यह १५५६ ई० की बात है, जब चार्ल्स पंचम यूरोप में सम्राट् था और सुलेमान क़ुस्तुन्तुनिया में राज कर रहा था। बाबर और उसके गौरवशाली वंशजों के बारे में हमें आगे बहुत-कुछ कहना है। यहाँ तो सिर्फ़ यह बात ध्यान में रखने की है कि बाबर ख़ुद रिनेसाँ के नमूने का राजा था, हालाँकि वह उस वक़्त के यूरोपीय नमूनों से कहीं अच्छा था। था तो वह हौसलेबाज़, पर फिर भी वीर योद्धा था, जिसे साहित्य और कला का व्यसन था। उस समय इटली में भी ऐसे राजा थे जो इसी तरह के हौसलेबाज़ और साहित्य और कला के प्रेमी थे और जिनके छोटे-छोटे दरबारों में ऊपरी तड़क-भड़क थी। फ़्लोरेन्स का मेदिची वंश और बोर्जिया परिवार उस समय मशहूर थे। लेकिन इटली के ये राजा, और उस वक़्त यूरोप के भी ज्यादातर राजा, मैकियावेली के सच्चे अनुयायी थे। ये भलाई-बुराई का विचार न करनेवाले, साज़िश करनेवाले और अत्याचारी थे, और अपने विरोधियों के लिए ज़हर का प्याला और क़ातिल का छुरा भी इस्तेमाल करते थे। शूरवीर बाबर की इस झुण्ड से तुलना करना वैसा ही अनुचित है, जैसा कि इनके टुच्चे राजदरबारों की दिल्ली या आगरे के मुग़ल सम्राटों—अकबर, शाहजहाँ, वग़ैरा—के दरबार से तुलना करना बेमेल है। कहा जाता है कि ये मुग़ल दरबार बड़े शानदार थे और शायद इतनी दौलत और शान-शौक़तवाले दरबार कभी रहे ही नहीं।

यूरोप का ज़िक्र करते-करते हम, अनजाने ही भारत की बातों को ले बैठे। लेकिन मैं तुम्हें यह जतलाना चाहता था कि यूरोपीय रिनेसाँ के समय भारत और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। उस समय तुर्की, ईरान, मध्य एशिया और भारत में भी कला की हलचलें शुरू हो रही थीं। चीन में मिंङ राजाओं का अमन-चैन-वाला और ख़ुशहाल ज़माना था जबकि कला की चीज़ों का उत्पादन बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँचा हुआ था। लेकिन रिनेसाँ-काल की यह सारी कला, शायद चीन को छोड़कर, बहुत-कुछ दरबारी कला थी। यह जनता की कला न थी। इटली में कुछ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
महान् कलाकारों के बाद जिनमें से कइयों के नाम मैं लिख चुका हूँ, पिछले रिनेसाँ की कला बिलकुल नीचे दर्जे की और मामूली बन गई।

इस तरह सोलहवीं सदी का यूरोप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट राजाओं के बीच बँटा हुआ था। उस वक़्त राजाओं की गिनती थी, प्रजा की नहीं। इटली, आस्ट्रिया, फ़ान्स और स्पेन कैथलिक थे; जर्मनी आधा कैथलिक और आधा प्रोटेस्टेण्ट था; इंग्लैण्ड सिर्फ़ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था, कि उसके बादशाह की ऐसी मर्ज़ी थी। और चूँकि इंग्लैण्ड प्रोटेस्टेण्ट था, इसलिए आयर्लैण्ड के लिए कैथलिक बने रहने की यह काफ़ी वजह थी, क्योंकि इंग्लैण्ड उसे जीतने और सताने की कोशिश करता था। लेकिन यह कहना सिर्फ़ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मज़हब किसी गिनती में न था। अन्त में जाकर जनता के मज़हब का भी असर पड़ा और इसके कारण बहुत-सी लड़ाइयाँ और क्रान्तियाँ हुईं। मज़हबी पहलू को राजनीतिक या आर्थिक पहलुओं से अलग करना मुश्किल है। मेरे ख़याल से, मैं तुम्हें पहले ही यह बतला चुका हूँ कि रोम के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह ख़ासतौर पर वहीं हुआ, जहाँ नया व्यापारी-वर्ग ज़ोर पकड़ रहा था। इससे हम समझ सकते हैं कि मज़हब और व्यापार के बीच कोई कड़ी थी। इसी तरह बहुत-से राजा लोग मज़हबी सुधारों से इसलिए डरते थे कि कहीं इसकी आड़ में अन्दरूनी क्रान्ति न फैल जाय और उनका तख़्ता न उलट दिया जाय। अगर कोई आदमी पोप की मज़हबी सत्ता के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने की हिम्मत कर सकता था तो फिर यह भी सम्भव था कि वह बादशाह या राजा की सत्ता को भी मानने से इन्कार कर दे। यह मत बादशाहों के लिए बड़ा ख़तरनाक था। वे अभी तक राजाओं के राज करने के दैवी अधिकार को ही पकड़े बैठे थे। प्रोटेस्टेण्ट राजा भी इसे छोड़ने के लिए तैयार न थे।

फिर भी, बावजूद रिफ़ॉर्मेशन के, यूरोप में बादशाहों का बोलबाला था और यूरोप में वे पूरे सत्ताधारी थे। पहले कभी वे इतने निरंकुश न थे, क्योंकि बड़े-बड़े सामन्ती अमीर-सरदार उनपर लगाम लगाते रहते थे और अ सर उनकी सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यमवर्ग के लोग इन अमीर-सरदारों से खुश न थे और न बादशाह ही इनको पसन्द करता था। इसलिए व्यापारी-वर्ग और किसान-वर्ग की मदद से बादशाह ने सामन्ती अमीरों को कुचल दिया और खुद पूरा सत्ताधारी बन बैठा। हालाँकि मध्यमवर्ग ने अपनी शक्ति और अपना महत्व बहुत बढ़ा लिये थे, मगर अभी वह इतना ताक़तवर नहीं हुआ था कि बादशाह के कामों में दख़ल दे सके। लेकिन कुछ ही दिनों में मध्यमवर्ग बादशाह के बहुत-से कामों का विरोध करने लगे। ख़ासकर उन्होंने बार-बार लगाये जानेवाले भारी करों का और मज़हब में दख़ल देने का विरोध किया। बादशाह को ये बातें बिलकुल अच्छी न लगीं। वह इस बात से चिढ़ गया कि इन लोगों ने उसके किसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी काम का विरोध करने की गुस्ताख़ी की। इसलिए उसने इनको जेलों में ठूंस दिया और दूसरी सज़ाएँ भी दीं। उन दिनों मनमाने तौर पर लोगों को क़ैद कर दिया जाता था, जैसा कि आजकल भारत में हो रहा है, क्योंकि हम अंग्रेज़ सरकार के आगे सिर झुकाने से इन्कार करते हैं। बादशाह व्यापार में भी दखल देता था। इससे हालत और भी बिगड़ती गई और बादशाह का विरोध ज़ोर पकड़ने लगा। बादशाहों की तानाशाही के ख़िलाफ़ मध्यमवर्ग की यह अधिकारों की लड़ाई सदियों तक चलती रही और इसे ख़त्म हुए ज़्यादा समय नहीं हुआ। कई बादशाहों के सिर उड़ा दिये जाने के बाद कहीं जाकर बादशाहों के दैवी अधिकार का ख़याल हमेशा के लिए दफ़न कर दिया गया, और बादशाहों की अक़्ल ठिकाने लगा दी गई। कुछ देशों में यह जीत जल्दी हो गई और कुछ में देर से। आगे के पत्रों में हम इस लड़ाई के उतार-चढ़ाव का ज़िक्र करेंगे।

लेकिन सोलहवीं सदी के यूरोप में क़रीब-क़रीब सब जगह बादशाह की धाक थी—पूरे तौर पर नहीं, बल्कि क़रीब-क़रीब। तुम्हें याद होगा कि स्वीज़रलैण्ड के ग़रीब पहाड़ी किसानों ने हैप्सबर्ग के बादशाह को चुनौती देने की हिम्मत दिखलाई थी और अपनी आज़ादी हासिल कर ली थी। इस तरह निरंकुशता और तानाशाही के यूरोपीय सागर में स्वीज़रलैण्ड का छोटा-सा किसान गणराज्य एक टापू के समान था, जिसमें बादशाहों के लिए कोई जगह न थी।

जल्द ही एक दूसरे देश—नीदरलैण्ड—में भी मामले ने तूल पकड़ा और जनता व मज़हब की आज़ादी की लड़ाई लड़ी गई और जीत ली गई। यह एक छोटा-सा देश है, लेकिन यह लड़ाई बड़ी ज़बर्दस्त थी, क्योंकि यह उस ज़माने में यूरोप की सबसे ज़बर्दस्त शक्ति—स्पेन के ख़िलाफ़ लड़ी गई थी। इस तरह नीदरलैण्ड ने यूरोप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इंग्लैण्ड में भी जनता की आज़ादी के लिए एक लड़ाई हुई, जिसमें एक बादशाह को अपना सिर गँवाना पड़ा और उस वक़्त की पार्लमेण्ट की जीत हुई। इस तरह नीरदलैण्ड और इंग्लैण्ड ने निरंकुशता के ख़िलाफ़ मध्यमवर्ग की लड़ाई में सबसे आगे क़दम बढ़ाया। और चूंकि इन देशों में मध्यमवर्ग की जीत हुई, इसलिए नई हालतों का फ़ायदा उठाकर यह और देशों से आगे बढ़ गया। दोनों ने, आगे चलकर, शक्तिशाली जंगी बेड़े बनाये; दोनों ने दूर-दूर देशों से व्यापार क़ायम किया और दोनों ने एशिया में साम्राज्य की नींव रक्खी।

इन पत्रों में हमने अभी तक इंग्लैण्ड के बारे में ज़्यादा नहीं लिखा है। लिखने के लिए कुछ था भी नहीं; क्योंकि इंग्लैण्ड यूरोप का कोई ज़्यादा महत्ववाला देश नहीं था। लेकिन अब एक परिवर्तन आता है और, जैसा कि आगे बताया जायगा, इंग्लैण्ड बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़ता है। हम 'मैग्नाकार्टा', पार्लमेण्ट की शुरुआत,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसानों के झगड़ों और राजवंशों के आपसी युद्धों का ज़िक्र कर चुके हैं। इन युद्धों में बादशाहों के हाथों से खून और हत्याएँ आमतौर पर काफ़ी हुईं। सामन्ती अमीर-सरदारों की एक बहुत बड़ी संख्या लड़ाई के मैदानों में काम आई, जिससे उनका बल बहुत घट गया। ट्यूडरों का नया राजवंश गद्दी पर बैठा, जिन्होंने निरंकुश राजाओं का पार्ट खूब अदा किया। आठवाँ हेनरी ट्यूडर था और उसकी पुत्री एलिज़ाबेथ भी ट्यूडर थी।

सम्राट् चार्ल्स पंचम के बाद साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। स्पेन और नीदरलैण्ड उसके पुत्र फ़िलिप द्वितीय के हिस्से में आये। उस वक़्त सबसे शक्तिशाली बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे यूरोप के ऊपर सिर उठाये हुए था। तुम्हें याद होगा कि पेरू और मैक्सिको उसके क़ब्ज़े में थे और अमेरिका से सोने की नदी उसके यहाँ बही चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्तीज़ और पिज़ारो के बावजूद भी स्पेन नई हालतों से फ़ायदा नहीं उठा सका। व्यापार में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसे अगर परवाह थी तो ऐसे मज़हब की, जो बड़ा ही कट्टर और ज़ालिम था। सारे देश में इनक्विज़िशन की तूती बोलती थी और काफ़िर कहे जानेवालों को भयंकर यातनाएँ दी जाती थीं। समय-समय पर बड़े आम जलसे किये जाते थे और इन 'काफ़िर' स्त्री-पुरुषों के झुण्ड-के-झुण्ड बादशाह, शाही खानदान, राजदूतों और हज़ारों मनुष्यों के सामने बड़ी-बड़ी चिताओं पर ज़िन्दा जला दिये जाते थे। ये सार्वजनिक अग्नि-काण्ड ईसाइयत के नियम कहलाते थे। ये बातें आज कितनी भयंकर और खूँख्वार मालूम पड़ती हैं। पर इस ज़माने का यूरोप का इतिहास मारकाट, दिल दहलानेवाले व वहशियाना ज़ुल्मों और मज़हबी कट्टरपन से इस क़दर भरा हुआ है कि उसपर विश्वास करना मुश्किल है।

स्पेन का साम्राज्य ज़्यादा दिनों तक न टिक सका। छोटे-से हॉलैण्ड की बहादुर लड़ाई ने उसे बिलकुल हिला डाला। कुछ दिनों बाद, १५८८ ई० में, इंग्लैण्ड को जीतने की कोशिश बिलकुल बेकार गई और स्पेन की फ़ौजों को ले जानेवाला 'अजय आर्मेडा' नामक जंगी बेड़ा इंग्लैण्ड तक पहुँच भी न सका। समुद्री तूफ़ान ने उसे तहस-नहस कर डाला। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योंकि 'आर्मेडा' की कमान करनेवाला व्यक्ति समुद्र या जहाज़ों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। वास्तव में उसने बादशाह फ़िलिप द्वितीय के पास जाकर "यह विनीत प्रार्थना भी की थी कि उसे इस ओहदे की ज़िम्मेदारी से बरी कर दिया जाय, क्योंकि उसे समुद्री लड़ाई की मोर्चा-बन्दी का कुछ भी ज्ञान न था और न वह अच्छा नाविक ही था। लेकिन बादशाह ने जवाब दिया कि स्पेन के बेड़े का संचालन तो खुद खुदा करेगा!"

इस तरह धीरे-धीरे स्पेन का साम्राज्य भी ग़ायब होता गया। चार्ल्स पंचम के ज़माने में यह कहा जाता था कि उसके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। यही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहावत आजकल के एक घमण्डी और मद में चूर साम्राज्य के बारे में भी अक्सर दोहराई जाती है।

: ८६ :

नीदरलैण्ड की आज़ादी की लड़ाई

२७ अगस्त, १९३२

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बतलाया था कि सोलहवीं सदी में क़रीब-क़रीब सारे यूरोप में बादशाह सबके ऊपर कितने हावी हो गये थे। इंग्लैण्ड में ट्यूडर थे और स्पेन और आस्ट्रिया में हैप्सबर्ग थे। रूस, जर्मनी और इटली के ज्यादातर हिस्सों में निरंकुश एकतन्त्री राजा थे। इस तरह का बादशाह, जो निजी हैसियत से एकतन्त्री राज करता था और सारा साम्राज्य जिसकी बहुत-कुछ निजी जायदाद समझा जाता था, उसका नमूना शायद फ़्रान्स ही था। कार्डिनल रिशैल्यू नामक एक बड़े योग्य मन्त्री ने फ़्रान्स और उसकी बादशाहत को मज़बूत बनाने में बड़ी मदद की। फ़्रान्स का हमेशा यह ख़याल रहा है कि उसकी मज़बूती और सुरक्षा जर्मनी की कमज़ोरी में है। इसलिए रिशैल्यू ने, जो खुद एक कैथलिक पादरी था और फ़्रान्स में प्रोटेस्टेण्टों को बड़ी बेरहमी से कुचल रहा था, जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टों को उलटा उकसाया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्मनी में अन्दरूनी लड़ाई-झगड़ा और अशान्ति बढ़े, जिससे वह कमज़ोर हो जाय। यह नीति सफल भी खूब हुई। जैसा कि आगे ज़िक्र किया जायगा, जर्मनी में बहुत ही बुरा गृह-युद्ध हुआ, जिसने देश का सत्यानाश कर दिया।

फ़्रान्स में भी सत्रहवीं सदी के बीच में गृह-युद्ध हुआ, जो फ़्रान्स का युद्ध कहलाता है। लेकिन बादशाह ने अमीर-सरदारों और व्यापारियों दोनों को कुचल दिया। अमीर-सरदारों के हाथ में असली ताक़त तो रह ही नहीं गई थी, लेकिन अपनी तरफ़ मिलाये रखने के लिए बादशाह ने उन्हें बहुत-सी रियायतें दे दीं। उनको टैक्सों से क़रीब-क़रीब बरी कर दिया गया था। अमीर-सरदार वर्ग और पादरी वर्ग दोनों ही टैक्सों से बरी थे। टैक्सों का सारा बोझ आम जनता पर और खासकर किसानों पर पड़ता था। इन ग़रीब दुखी अभागों को ऐंठकर जो धन इकट्ठा किया गया, उससे बड़े-बड़े आलीशान महल बनाये गए और बादशाह बड़े ठाट-बाट वाले दरबार से घिरा रहता था। पेरिस के पास वर्साई तुमने देखा है, उसकी तुमको याद होगी। वहाँ के आलीशान महल, जिनको देखने के लिए आजकल लोग जाते हैं, सत्रहवीं सदी में फ़्रान्स के किसानों के खून से बने थे। वर्साई एक निपट निरंकुश ग़ैर-ज़िम्मेदार राजाशाही का चिह्न था, इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं है कि वर्साई फ़्रान्स की उस राज्यक्रान्ति का हरकारा बनी, जिसने सारी राजाशाही को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही खत्म कर दिया। लेकिन उन दिनों राज्य-क्रान्ति के दिन बहुत दूर थे। उस समय चौदहवाँ लुई बादशाह था, जो 'महान् बादशाह' कहलाता था, और वह 'सूर्य' था, जिसके चारों तरफ़ उसके दरबार के ग्रह चक्कर लगाते रहते थे। उसने बहत्तर साल के बहुत ही लम्बे समय तक, यानी १६४३ से १७१५ ई० तक, राज किया और उसका प्रधान मन्त्री माज़ारिन नामक एक दूसरा बड़ा कार्डिनल था। ऊपर-ऊपर तो बड़ा राग-रंग और विलास था और साहित्य, विज्ञान और कला पर शाही कृपा थी, लेकिन शान-शौक़त की इस झीनी चादर के नीचे बड़ी मुसीबत और तड़प थी। वह सुन्दर नक़ली बालों और गोटे के कफ़ों और नफ़ीस पोशाकों की दुनिया थी, लेकिन जिस शरीर पर ये चीज़ें पहनी जाती थीं, उसे शायद ही कभी नहलाया जाता था, और वह मैल और गन्दगी से भरा रहता था।

हम सबपर शान-शौक़त और तड़क-भड़क का बहुत बड़ा असर पड़ता है, इसलिए अगर अपने लम्बे राज में चौदहवें लुई ने यूरोप पर खूब प्रभाव डाला तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। वह बादशाहों में नमूना समझा जाता था और दूसरे उसकी नक़ल करने की कोशिश करते थे। लेकिन यह 'महान् बादशाह' आख़िर था क्या? मशहूर अंग्रेज़-लेखक कार्लाइल ने लिखा है—"अपने चौदहवें लुई पर से बादशाहत का चोग़ा उतार दो तो सिवा एक भद्दी दो-जड़ोंवाली मूली के, जिसमें बेढंगा सिर तराशा हुआ हो, और कुछ नहीं रहता।" यह बयान सख्त ज़रूर है, मगर शायद बहुत-से लोगों पर चाहे बादशाह हों या प्रजा—लागू होता है।

चौदहवें लुई का इतिहास हमको १७१५ ई० तक, यानी अठारहवीं सदी के शुरू तक ले आता है। इस बीच यूरोप के दूसरे मुल्कों में बहुत-कुछ हो गया था और इनमें से कुछ घटनाएँ हमारे ध्यान देने लायक़ हैं।

नीरदलैण्ड का स्पेन के खिलाफ़ विद्रोह का हाल मैं तुमको बतला चुका हूँ। उनकी बहादुरी की लड़ाई अच्छी तरह ग़ौर करने लायक़ है। जे० एल० मोटले नामक एक अमरीकी ने आज़ादी की इस लड़ाई का मशहूर हाल लिखा है, और उसने इस इतिहास को बड़ा रोचक और लुभावना बना दिया है। साढ़े तीन सौ वर्ष पहले यूरोप के इस छोटे-से कोने में जो कुछ हुआ, उसके इस वर्णन से बढ़िया कोई उपन्यास मैं नहीं जानता। इस पुस्तक का नाम 'राइज़ ऑफ़ दि डच रिपब्लिक'[1] है और मैंने इसे जेल में पढ़ा है।

नीदरलैण्ड में हॉलैण्ड और बेल्जियम दोनों शामिल हैं। इनका नाम ही

[1] यह पुस्तक हिन्दी में 'नरमेध' के नाम से 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित हो चुकी है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बतलाता है कि ये नीची ज़मीन में हैं। हॉलैण्ड का अर्थ है 'धँसी हुई ज़मीन'। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से वास्तव में नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए विशाल समुद्री-बाँध और दीवारें बनाई गई हैं। ऐसे देश के निवासी, जहाँ बराबर समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मज़बूत समुद्र-यात्री होते हैं और जो लोग अक्सर समुद्र-यात्राएँ करते रहते हैं वे तिजारती बन जाते हैं। इसलिए नीदरलैण्ड के निवासी तिजारती हो गये। वे ऊनी कपड़ा और दूसरी चीज़ें तैयार करते थे और पूर्वी देशों के गरम मसाले भी उनके यहाँ पहुँचते थे। नतीजा यह हुआ कि ब्रुसेल्स, घेन्त और ख़ासकर ऐन्तवर्प जैसे मालदार और तिजारती शहर वहाँ खड़े हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशों से व्यापार बढ़ता गया वैसे-वैसे इन शहरों की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में ऐन्तवर्प यूरोप का तिजारती केन्द्र बन गया। कहते हैं कि उसकी मण्डी में रोज़ पाँच हज़ार व्यापारी इकट्ठे होकर आपस में सौदे किया करते थे; उसके बन्दर में एक साथ ढाई हज़ार जहाज़ लंगर डाले रहते थे। रोज़मर्रा लगभग पाँच सौ जहाज़ वहाँ आते-जाते थे। इन्हीं व्यापारी वर्गों के हाथ में इन शहरों के शासन की बागडोर थी।

व्यापारियों की यह ठीक ऐसी जाति थी, जो 'रिफ़ॉर्मेशन' के नये मज़हबी विचारों की ओर खिंच सकती थी। यहाँपर और ख़ासकर उत्तरी भागों में, प्रोटेस्टेण्ट मत फैलने लगा। विरासत के संयोग ने हैप्सबर्ग के चार्ल्स पंचम और उसके बाद उसके पुत्र फ़िलिप द्वितीय को नीदरलैण्ड् का शासक बना दिया। इन दोनों में से कोई भी किसी भी तरह की राजनीतिक या मज़हबी आज़ादी बर्दाश्त नहीं कर सकता था। फ़िलिप ने शहरों की रियायतों को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो दमन और अत्याचार के लिए बदनाम हो गया है। इनक्विज़िशन क़ायम हुई और एक 'ख़ूनी परिषद्' बनाई गई, जिसने हज़ारों को ज़िन्दा जला दिया या फाँसी पर लटका दिया।

यह एक बड़ी लम्बी कहानी है, जिसे मैं यहाँ बयान नहीं कर सकता। जैसे-जैसे स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उससे टक्कर लेने की ताक़त भी लोगों में बढ़ती गई। उनमें प्रिन्स विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज, या 'ख़ामोश विलियम' नामक एक ऐसा महान् और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुक़ाबला एल्वा का ड्यूक नहीं कर सकता था। १५६८ ई० में इनक्विज़िशन ने तो, कुछ गिने-चुने आदमियों को छोड़कर, नीदरलैण्ड के सारे निवासियों को एक ही फ़ैसले में काफ़िर क़रार देकर मौत की सज़ा दे डाली। यह हैरतभरा फ़ैसला इतिहास में बे-मिसाल है, जिसने तीन-चार लाइनों में ही तीस लाख आदमियों को सज़ा दे दी।

शुरू में तो यह लड़ाई नीदरलैण्ड के अमीर-सरदारों और स्पेन के बादशाह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बीच ही मालूम दी। दूसरे देशों में बादशाह और अमीर-सरदारों की जो लड़ाइयाँ चल रही थीं, क़रीब-क़रीब उन्हीं जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीर-सरदारों को ब्रुसेल्स में फांसी के तख़्ते पर चढ़ना पड़ा। इन फांसी दिये जानेवालों में काउण्ट एग्मौन्त नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर-सरदार भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तंगी हुई तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे जब व्यापारी-वर्ग की जेबों पर असर पड़ा तो वे लोग बिगड़ खड़े हुए। इसके साथ-साथ कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच भी लड़ाई चल रही थी।

स्पेन एक बड़ा ज़बर्दस्त राज्य था, जिसे अपने बड़प्पन का पूरा घमण्ड था; उधर नीदरलैण्ड में सिर्फ़ व्यापारी लोगों और निकम्मे व फ़िज़ूल-ख़र्च अमीर-सरदारों के कुछ सूबे थे। दोनों का कोई मुक़ाबला न था। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया। बार-बार क़त्लेआम होते रहते थे; पूरी-की-पूरी आबादियाँ मौत के घाट उतार दी जाती थीं। मनुष्यों के प्राण हरने में एल्वा और उसके सेनापति चंगेजखाँ और तैमूर की होड़ कर रहे थे। कभी तो वे इन मंगोलों से भी आगे बढ़ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के बिना-सीखे पुरुष और अक्सर स्त्रियाँ भी एल्वा के सीखे-सिखाये सैनिकों से जल और थल पर तबतक लड़ते रहते थे जबतक कि भूख से लाचार न हो जाते। स्पेन की ग़ुलामी की बनिस्बत अपनी प्यारी-से-प्यारी तमाम चीज़ों का सत्यानाश तक भी अच्छा समझकर हॉलैण्ड-निवासियों ने स्पेन की फ़ौजों को डुबाने व भगा देने के लिए समुद्री-बाँध तोड़ डाले और उत्तरी सागर का पानी भीतर आने दिया। जैसे-जैसे लड़ाई गहरी होती गई वैसे-ही-वैसे उसमें निर्दयीपन भी आता गया और दोनों पक्ष हद से ज़्यादा बेरहम हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना है। इसे आखिरी दम तक वीरता के साथ बचाने की कोशिश की गई, लेकिन अन्त वही हुआ—सदा की तरह स्पेन के हाथों क़त्लेआम और लूटपाट। अल्कमार पर भी घेरा डाला गया, लेकिन वह बाँध तोड़कर बच गया। और लाइडन को जब दुश्मनों ने घेर लिया तो भूख और बीमारी से हज़ारों आदमी मर गये। लाइडन के पेड़ों में एक भी हरा पत्ता बाक़ी न रहा; लोगों ने सब खा डाले। घूरों पर जूठन के टुकड़ों के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तों तक से छीना-झपटी करते, लेकिन फिर भी वे लड़े जाते थे, और शहर की दीवारों पर से सूखकर काँटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे, और स्पेनवालों से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर ज़िन्दा रहेंगे, लेकिन हार न मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाक़ी न रहेगा तो विश्वास रक्खो कि हममें से हरेक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी अत्याचारी से अपनी स्त्रियों की, अपनी स्वतन्त्रता की और अपने मज़हब की रक्षा के लिए बचा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्खेगा। अगर ईश्वर भी क्रोध करके हमारे लिए विनाश का विधान कर दे और हमें किसी तरह की राहत न दे, तो भी हम तुम्हें भीतर घुसने से रोकने के लिए अपने-आपको हमेशा तैयार रक्खेंगे। जब हमारी आख़िरी घड़ी आ जायगी तो हम ख़ुद अपने ही हाथों से शहर में आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियाँ व बच्चे, सब एक साथ आग में जलकर मर जायँगे, लेकिन अपने घरों को हरगिज़ अपवित्र न होने देंगे और न अपनी स्वतन्त्रता को रौंदा जाने देंगे।"

लाइडन के निवासियों में ऐसा जोश था। लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कहीं से सहायता की सूरत नज़र नहीं आती थी, वैसे ही उनकी निराशा भी बढ़ती जाती थी। आख़िर उन्होंने हॉलैण्ड की जागीरों के अपने दोस्तों को बाहर सन्देश भेजा। इन जागीरों ने यह ज़बर्दस्त फ़ैसला किया कि लाइडन को शत्रुओं के हाथ में जाने देने से तो अच्छा है कि अपने प्यारे देश को पानी में डुबो दिया जाय। "खोये हुए देश से डूबा हुआ देश ही भला है।" और उन्होंने घोर संकट में पड़े हुए अपने साथी शहर को यह उत्तर भेजा—"ऐ लाइडन, हम तुझे संकट में छोड़ने की बनिस्बत यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरों से नष्ट हो जायँ!"

आख़िरकार एक के बाद दूसरा समुद्री-बाँध तोड़ दिया गया और हवा की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस आया और उसके साथ हॉलैण्ड के जहाज़ भोजन और सहायता लेकर आ पहुँचे। और इस नये दुश्मन समुद्र से भयभीत होकर स्पेन के सैनिक सिर पर पाँव रखकर भाग खड़े हुए। इस तरह लाइडन बच गया और उसके निवासियों की वीरता की यादगार में १५७५ ई० में लाइडन का विश्वविद्यालय क़ायम किया गया, जो आज तक मशहूर है।

वीरता की ऐसी कितनी ही कहानियाँ हैं, और दहलानेवाले हत्याकाण्डों की भी हैं। सुन्दर एण्टवर्प में बड़ा भयंकर हत्याकाण्ड हुआ और लूटमार हुई, जिसमें आठ हज़ार आदमी मारे गये। इसे 'स्पेन का कोप' कहा गया था।

लेकिन इस महान् लड़ाई में हॉलैण्ड ने ही ज़्यादातर हिस्सा लिया, नीदरलैण्ड के दक्षिणी हिस्से ने नहीं। स्पेन के शासक घूंस और दबाव से नीदरलैण्ड के बहुत-से अमीर-सरदारों को अपनी तरफ़ मिला लेने में सफल हो गये और उनके ज़रिये उन्हीं-के देशवासियों को कुचलवाया। उनको इस बात से बड़ी मदद मिली कि दक्षिण में प्रोटेस्टेण्टों से कैथलिकों की संख्या बहुत ज़्यादा थी। उन्होंने कैथलिकों को मिलाने की कोशिश की और कुछ हद तक वे सफल भी हो गये। और भला अमीर-सरदार! शर्म की बात है कि इन लोगों में से बहुत-से स्पेन के बादशाह की कृपा और अपने लिए धन-दौलत हासिल करने की ख़ातिर देश-द्रोह और धोखेबाज़ी में कितने नीचे गर गये थे; देश भले ही जहन्नुम में चला जाय!

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीदरलैण्ड की विधान-सभा में भाषण देते हुए विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज ने कहा था—"नीदरलैण्ड को कुचलने वाले नीदरलैण्ड के ही लोग हैं। एल्वा का ड्यूक जिस बल की डींग मारता है, वह अगर तुम्हारा ही—नीदरलैण्ड के शहरों का—दिया हुआ नहीं है, तो कहाँ से आया? उसके जहाज़, रसद, धन, हथियार, सिपाही, ये सब कहाँ से आये? नीदरलैण्ड के लोगों के पास से।"

इस तरह, आख़िरकार स्पेनवाले नीदरलैण्ड के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने में कामयाब हुए, जो आज मोटे तौर पर बेल्जियम कहलाता है। लेकिन लाख कोशिश करने पर भी वे हॉलैण्ड को क़ाबू में न ला सके। ग़ौर करने की अजीब बात यह है कि लड़ाई के दौरान, क़रीब-क़रीब उसके ख़त्म होने तक, हॉलैण्ड ने स्पेन के फ़िलिप द्वितीय की अधीनता से कभी इन्कार नहीं किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके स्वतन्त्र अधिकारों को मंजूर कर लेता। लेकिन अन्त में उनको उससे नाता तोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। उन्होंने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़, गणराज्य बनने के लिए मजबूर कर दिया। उस ज़माने की बादशाही परम्परा इतनी ज़बर्दस्त थी।

हॉलैण्ड में यह लड़ाई कितने ही वर्षों तक चली। १६०९ ई० में कहीं जाकर हालैण्ड स्वाधीन हुआ। लेकिन नीदरलैण्ड में असली लड़ाई १५६७ से १५८४ ई० तक हुई। स्पेन का फ़िलिप द्वितीय जब विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के हाथों मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस ज़माने में यूरोप का नेक-चलन ऐसा था। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें असफल हुईं। १५८४ ई० में छठवीं बार की कोशिश सफल हुई और यह महापुरुष—जो हॉलैण्ड भर में 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया; लेकिन उसका काम पूरा हो चुका था। बलिदान और कष्ट की भट्टी में उलकर उच गणराज्य—हॉलैण्ड तैयार हो गया था। अत्याचारी और निरंकुश शासकों के ख़िलाफ़ खड़े होने से हरेक देश और क़ौम को लाभ होता है। इससे साधना मिलती है और बल बढ़ता है। बलशाली और अपने पाँवों पर खड़ा रहनेवाला हॉलैण्ड बहुत जल्दी एक बड़ी समुद्री शक्ति बन गया और दूर-पूर्व तक फैल गया। बेल्जियम, जो हॉलैण्ड से अलग हो गया था, स्पेन के ही क़ब्ज़े में रहा।

यूरोप की इस तसवीर को पूरा करने के लिए अब हमें जर्मनी की तरफ़ देखना चाहिए। यहाँ १६१८ से १६४८ ई० तक एक भयंकर गृह-युद्ध चला, जो 'तीस साल का युद्ध' कहलाता है। यह युद्ध कथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच हुआ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जर्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस में, और सम्राट् से, लड़े। और फ़्रान्स के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टों को शह दी, सिर्फ़ इसलिए कि यह गड़बड़ी और बढ़ जाय। अन्त में स्वीडन का बादशाह गुस्तावस अदोल्फ़स—जो 'उत्तर का सिंह' कहलाता था—चढ़कर आया और उसने सम्राट् को हराकर प्रोटेस्टेण्टों को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के ग़ुलाम सिपाही लुटेरे बन गये थे। उन्होंने चारों तरफ़ लूट-खसोट मचा रक्खी थी। यहाँतक कि फ़ौजों के सेनापति भी सिपाहियों की तनख़्वाह या ख़ूराक के लिए पैसा न रहने पर लूटमार करने लगे। और ख़याल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक होता रहा! हत्याकाण्ड, विनाश और लूटमार साल-दर-साल चलते रहे। ऐसी हालत में व्यापार बिलकुल नहीं हो सकता था, और न खेती-बाड़ी ही हो सकती थी। इसलिए दिन-पर-दिन खाने की चीज़ें कम होती गईं और भुखमरी बढ़ने लगी। और इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि डाकू बढ़ने लगे और लूटमार ज़्यादा होने लगी। जर्मनी एक तरह से पेशेवर और पैसे के ग़ुलाम सिपाही पैदा करने-वाली जगह बन गया।

आख़िरकार यह लड़ाई ख़त्म हुई—जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी बाक़ी न रहा! लेकिन जर्मनी को यह नुक़सान पूरा करने और अपनी हालत सुधारने में बहुत लम्बा वक़्त लगा। १६४८ ई० में वेस्ट-फ़ैलिया की सन्धि से इस गृह-युद्ध का अन्त हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् सिर्फ़ परछाईं और बिना अधिकारवाली छाया बन गया। फ़्रान्स ने एक बड़ा टुकड़ा, अल्सास, ले लिया, और उसे दो सौ वर्षों से ज़्यादा अपने क़ब्ज़े में रक्खा। बाद में उसे मजबूर होकर यह टुकड़ा फिर से नये जर्मनी को दे देना पड़ा। लेकिन १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के बाद फ़्रान्स ने इसे फिर ले लिया। इस तरह इस सन्धि से फ़्रान्स को फ़ायदा हुआ। लेकिन अब जर्मनी में एक दूसरी शक्ति पैदा हो गई, जो आगे चलकर फ़्रान्स के रास्ते का काँटा बनी। यह प्रशिया था, जिस पर हॉएनज़ॉलर्न का घराना राज करता था।

वेस्ट-फ़ैलिया की सन्धि ने, आख़िरी तौर पर स्वीज़रलैण्ड और हॉलैण्ड के गणराज्यों को मान लिया।

मैंने तुम्हें युद्धों, हत्याकाण्डों, लूटमार और मज़हबी कट्टरपन की कैसी कहानी सुनाई है! लेकिन यही उस रिनैसाँ के बाद का यूरोप था, जबकि क्रिया-शक्ति फूट पड़ी थी और कला और साहित्य की हलचलें ज़ोर पकड़ रही थीं। मैंने यूरोप की तुलना एशिया के देशों से की है और उस नई ज़िन्दगी का ज़िक्र किया है जो उस वक़्त यूरोप में पैदा हो रही थी। इस नई ज़िन्दगी को मुश्किलें पार करके आगे बढ़ते हुए हर कोई देख सकता है। नये बालक और नई व्यवस्था का जन्म बड़ी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तकलीफ़ों के साथ हुआ करता है। जब नींव में आर्थिक खोखलापन हो तो उसके ऊपर के समाज और राजनीति दोनों डाँवाडोल होने लगते हैं। यह तो ज़ाहिर है कि यूरोप में नया जीवन पैदा हो रहा था। लेकिन इसके चारों ओर कितना जंगली बर्ताव है! उस ज़माने का यह उसूल था कि "झूठ बोलने की विद्या ही राज करने की विद्या है।" उस वक़्त का सारा वातावरण ही धोखेबाज़ियों और साज़िशों, हत्या और ज़ुल्म के धुएँ से घुट रहा था, और ताज्जुब तो यह होता है कि लोग इसे बर्दाश्त किस तरह करते थे!

: ८७ :

इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया

२९ अगस्त, १९३२

अब हम कुछ वक़्त इंग्लैण्ड के इतिहास को देंगे। अभी तक हमने ज़्यादातर इसे दरगुज़र किया है, क्योंकि मध्य युगों में वहाँ कोई ऐसी दिलचस्पी की बात नहीं हुई। यह देश फ़ान्स और इटली से भी पिछड़ा हुआ था। हाँ, ऑक्सफ़ोर्ड विश्व-विद्यालय बहुत पहले विद्या का केन्द्र मशहूर हो चुका था और कुछ दिन बाद केम्ब्रिज भी मशहूर हुआ। वाइक्लिफ़, जिसके बारे में मैं पहले लिख चुका हूँ, ऑक्सफ़ोर्ड की ही देन था।

इंग्लैण्ड के शुरू के इतिहास में दिलचस्पी की मुख्य बात पार्लमेण्ट का विकास है। शुरू से ही अमीर-सरदारों की यह कोशिश थी कि बादशाह के अधिकारों को सीमित कर दिया जाय। १२१५ ई० में मैग्नाकार्टा बना। इसके कुछ दिन बाद पार्लमेण्ट की शुरुआत दिखलाई पड़ती है। शुरू-शुरू की ये बातें अधकचरी-सी थीं। बड़े-बड़े अमीर-सरदार और पादरी ही आगे चलकर लॉर्ड-सभा का रूप बन गये। लेकिन आखिरकार सबसे महत्व की जो चीज़ बनी, वह थी एक चुनी हुई परिषद्, जिसमें नाइट लोग छोटे-छोटे ज़मींदार और शहरों के कुछ प्रतिनिधि शामिल थे। यही चुनी हुई परिषद् विकसित होकर कॉमन्स सभा बन गई। ये दोनों परिषदें या सभाएँ ज़मींदारों और धनवान लोगों की थीं। कॉमन्स-सभा के लोग भी कुछ धनवान ज़मींदारों और व्यापारियों के प्रतिनिधि थे।

कॉमन्स सभा के हाथ में कोई अधिकार नहीं था। वे लोग बादशाह के पास अर्ज़ियाँ भेजते थे और लोगों की शिकायतें पेश करते थे। धीरे-धीरे वे टैक्सों के मामले में भी दखल देने लगे। उनकी मर्ज़ी के बिना नये टैक्स लगाना या वसूल करना बहुत मुश्किल था, इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे में उनकी मंज़ूरी लेने का रिवाज शुरू कर दिया। आमदनी व खर्च पर अधिकार हमेशा एक बड़ी ताक़त होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और खासकर कॉमन्स-सभा का जैसे-जैसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अधिकार बढ़ता गया वैसे-ही-वैसे उसका बल और मान भी बढ़ते गए। कॉमन्स सभा और बादशाह में अक्सर मतभेद होने लगा। लेकिन फिर भी पार्लमेण्ट एक बोदी चीज़ थी और ट्यूडर शासक, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ, क़रीब-क़रीब निरंकुश राजा थे। लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पार्लमेण्ट से लड़ाई मोल लेना टाल जाते थे।

इंग्लैण्ड यूरोप की कट्टर मज़हबी लड़ाइयों से बचा रहा। मज़हबी झगड़ों, दंगे-फ़िसादों और कट्टरपन की बहुत ज़्यादती रही, और स्त्रियों की एक बड़ी संख्या को ज़िन्दा जलाने की शर्मनाक कार्रवाई की गई, क्योंकि उन्हें डायनें समझा गया था। लेकिन यूरोप के मुक़ाबले में इंग्लैण्ड में फिर भी शान्ति रही। हेनरी अष्टम के साथ-साथ इंग्लैण्ड भी प्रोटेस्टेण्ट हो गया, यह माना गया। देश में बहुत-से कैथलिक ज़रूर थे, मगर बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट भी थे। लेकिन नया 'चर्च ऑफ़ इंग्लैण्ड' यानी इंग्लैण्ड का ईसाई-संघ कुछ-कुछ इन दोनों के बीच का था; और हालाँकि वह अपने को प्रोटेस्टेण्ट कहता था मगर प्रोटेस्टेण्ट की बनिस्बत कैथलिक ज़्यादा था, और सच पूछें तो वह राज्य का एक महकमा था, जिसका अध्यक्ष खुद बादशाह था। हाँ, रोम और पोप से रिश्ता बिलकुल टूट चुका था और बहुत-से 'पोपलीला-विरोधी' दंगे हुए। महारानी एलिज़ाबेथ (यह आठवें हेनरी की पुत्री थी) के वक़्त में पूर्वी देशों के और अमेरिका के जो नये समुद्री-रास्ते खुले और व्यापार की नई-नई गुंजाइशें हुईं उन्होंने बहुत-से लोगों को लुभाया। स्पेन और पुर्तगाल के जहाज़ियों की सफलता से मोहित होकर और दौलत हासिल करने के लालच से इंग्लैण्ड ने भी समुद्र का रास्ता पकड़ा। सर फ़ान्सिस ड्रेक वग़ैरा शुरू में समुद्री-डाकू बन गये और अमेरिका से आनेवाले स्पेन के जहाज़ों को लूटने लगे। इसके बाद ड्रेक ने दुनिया का चक्कर लगाने के लिए ज़बर्दस्त समुद्र-यात्रा की। सर वाल्टर रैले ने अतलान्तिक सागर को पार करके उस देश के पूर्वी किनारे पर बस्ती डालने की कोशिश की, जिसे आज अमेरिका का संयुक्त राज्य कहते हैं। कुँवारी महारानी एलिज़ाबेथ के सम्मान में इसे वर्जिनिया[1] का नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था, जो अमेरिका से तमाखू पीने का रिवाज यूरोप में लाया। इसके बाद स्पेनी आर्मेडा आया और इस घमण्ड-भरे धावे की पूरी नाकामयाबी ने इंग्लैण्ड का हौसला बहुत बढ़ा दिया। इन बातों का बादशाह और पार्लमेण्ट के झगड़े से कोई ताल्लुक नहीं है, सिवाय इसके कि लोगों का ध्यान इन बातों में लग गया और विदेशी मामलों की तरफ़ बट गया। लेकिन ट्यूडरों के ज़माने में भी भीतर-ही-भीतर आग सुलग रही थी।

एलिज़ाबेथ का ज़माना इंग्लैण्ड के सबसे ज़्यादा चमकदार ज़मानों में गिना जाता है। एलिज़ाबेथ एक महान् रानी थी और उसके समय में इंग्लैण्ड में कई महान्

[1] अंग्रेज़ी में क्वाँरी स्त्री को वर्जिन (Virgin) कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मवीर पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी नाइटों से भी बढ़कर थे इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपियर इन सबसे ऊँचा नज़र आता है। इसके नाटक आज वास्तव में सारे संसार में मशहूर हैं, हालांकि इसके खुद के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। यह उस प्रतिभाशाली मण्डली में से एक था, जिसने अंग्रेज़ी भाषा के भण्डार को बहुत-से बेशक़ीमती रत्नों से भर दिया है, जो हमारे दिल में खुशी भर देते हैं। एलिज़ाबेथ के ज़माने की छोटी-छोटी गीत-कविताओं में भी एक निराला रस है जो औरों में नहीं पाया जाता। बड़ी सीधी-सादी और मीठी-से-मीठी भाषा में ये हर्ष से फुदकती चली जाती हैं और दैनिक जीवन की बातें अपने निराले ही ढंग से कहती हैं। इस ज़माने का ज़िक्र करते हुए लिटन स्ट्राची नामक एक अंग्रेज़ समालोचक ने लिखा है कि "एलिज़ाबेथ-काल की इस शानदार मण्डली की ज़ोरदार और शानदार भावना ने इंग्लैण्ड को एक ही चमत्कारी पीढ़ी में नाटकों की ऐसी शानदार विरासत भेंट की है, जो दुनिया में आज तक बेजोड़ है।"

भारत में अकबर महान् की मृत्यु के ठीक दो वर्ष पहले, १६०३ ई० में, एलिज़ाबेथ की मृत्यु हुई। उसके बाद स्कॉटलैण्ड का मौजूदा बादशाह गद्दी पर बैठा, क्योंकि उत्तराधिकारियों की वंश-परम्परा में वही सबसे नज़दीकी था। वह जेम्स प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा और इस तरह इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड मिलकर एक राज्य बन गये। जिस चीज़ को इंग्लैण्ड खून-खराबी से न पा सका वही शान्ति के साथ हो गई। जेम्स प्रथम राजाओं के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेण्ट को पसन्द नहीं करता था। वह एलिज़ाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और जल्दी ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसी के राज में इंग्लैण्ड के बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और अमेरिका में बसने के लिए १६२० ई० में 'मेफ़्लावर' नामक जहाज़ से रवाना हो गये। वे जेम्स प्रथम के निरंकुश तरीक़ों से सहमत नहीं थे, और इंग्लैण्ड के नये 'ईसाई-संघ' को नापसन्द करते थे, क्योंकि वे उसे कम प्रोटेस्टेण्ट समझते थे। इसलिए वे अपने घर और देश को छोड़कर अतलान्तिक सागर के पार नई जंगली भूमि के लिए रवाना हो गये। वे उत्तरी किनारे की एक जगह पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू-प्लेमाउथ नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही उपनिवेशी वहाँ पहुँचे और धीरे-धीरे पूर्वी तट के सहारे-सहारे इन बस्तियों की तादाद बढ़ते-बढ़ते तेरह तक पहुँच गई। अन्त में ये उपनिवेश मिलकर अमेरिका का संयुक्त राज्य बन गये। लेकिन यह तो अभी बहुत आगे की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। १६२५ ई० में, इसके गद्दी पर बैठने के बाद, बहुत जल्दी झगड़ा ऊपर आ गया। इसलिए १६२८ ई० में पार्लमेण्ट ने उसको

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक "अधिकारों का प्रार्थनापत्र" पेश किया, जो इंग्लैण्ड के इतिहास में एक मशहूर खरीता है। इस प्रार्थना-पत्र में कहा गया था कि बादशाह पूरी तरह अपनी मर्ज़ी पर चलनेवाला शासक नहीं है और वह बहुत-सी बातें नहीं कर सकता। वह ग़ैर-क़ानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ़्तार करवा सकता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बातें नहीं कर सकता था, जो आज बीसवीं सदी में भारत का अंग्रेज़ वाइसराय कर सकता है—यानी आर्डिनेन्स जारी करना और उनके मातहत लोगों को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमेण्ट को भंग कर दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उस पर लोग बहुत नाराज़ थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौक़ा ही ताक रही थी। दो साल बीते भी न थे कि १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ़ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत-से अमीर-सरदार और फ़ौज का बड़ा हिस्सा था, और दूसरी तरफ़ थी पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लन्दन के नागरिक। कई वर्षों तक यह युद्ध खिंचता रहा, और अन्त में पार्लमेण्ट की तरफ़ एक महान् नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा ज़बर्दस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला व्यक्ति था। कार्लाइल[1] ने क्रॉमवैल के बारे में लिखा है—"युद्ध के अन्धकारमय खतरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस समय जबकि सब निराश हो जाते थे, उसके भीतर आशा आग के खम्भे की तरह चमकती थी।" क्रॉमवैल ने एक नई सेना तैयार की—इसके सिपाहियों को 'लौह शरीर'[2] कहते थे—और उसे अपने खुद के अनुशासन में बँधे जोश से भर दिया। पार्लमेण्ट की फ़ौज के 'प्यूरिटन्स'[3] ने चार्ल्स के 'कैवेलियर्स' (घुड़सवारों) का मुक़ाबला किया। अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का क़ैदी हो गया।

---

[1] कार्लाइल अंग्रेजी भाषा का बहुत बड़ा इतिहासकार और निबन्ध-लेखक हो गया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनीतिक विचारों पर उसका बड़ा भारी प्रभाव था। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। इसका समय सन् १७९५ से १८८१ ई० है। इसने 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' (फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति) नामक मशहूर पुस्तक लिखी है।

[2] Ironsides

[3] इंग्लैण्ड के ईसाई-संघ का एक सुधारक फिरक़ा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्लमेण्ट के बहुत-से सदस्य अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की नई सेना इस बात को सुनना भी नहीं चाहती थी और इस सेना के एक अफ़सर कर्नल प्राइड ने बेधड़क पार्लमेण्ट भवन में घुसकर ऐसे सदस्यों को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफ़ाई कहा जाता है। यह उपाय बड़ा सख्त था और वह पार्लमेण्ट का गौरव बढ़ानेवाला नहीं था। अगर पार्लमेण्ट ने बादशाह की निरंकुशता का विरोध किया तो यहाँ अब खुद उसीकी सेना ऐसी शक्ति बन गई, जो उसके क़ानूनों की कुछ परवाह नहीं करती थी। क्रान्तियों का यही ढंग हुआ करता है।

कॉमन्स सभा के बचे हुए सदस्यों ने—जिन्हें 'रम्प[1] पार्लमेण्ट' का नाम दिया गया था—लॉर्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुक़दमा चलाने का फ़ैसला कर लिया और उसे "ज़ालिम, देश-द्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु" घोषित करके मौत की सज़ा दे दी। १६४७ ई० में इस आदमी का, जो उनका बादशाह रह चुका था और शासन करने के अपने दैवी अधिकार की बात करता था, लन्दन के 'व्हाइट हॉल' में सिर उड़ा दिया गया।

बादशाह भी साधारण मनुष्यों की तरह ही मरते हैं। इतिहास बतलाता है कि वास्तव में इनमें से बहुतों की मौत हत्या से ही हुई है। निरंकुशता और बादशाहत गुप्त-हत्या और हत्या को जन्म देते हैं और इंग्लैण्ड के बादशाहों ने अब तक काफ़ी गुप्त-हत्याएँ करवाई थीं। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने-आपको अदालत बना लेने की गुस्ताख़ी करना, बादशाह पर मुक़दमा चलाना, उसे मौत की सज़ा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिलकुल नई और हैरत में डालनेवाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अंग्रेज़ों ने, जो हमेशा से रूढ़िवादी और जल्द परिवर्तन के विरोधी रहे हैं, इस तरह से यह मिसाल पेश कर दी कि एक ज़ालिम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए। लेकिन यह काम सारी अंग्रेज़ जाति का नहीं समझना चाहिए, जितना कि क्रॉमवैल के अनुयायी 'लौह-शरीरों' का।

इस घटना से यूरोप के बादशाहों, सीज़रों, राजाओं और राजाओं के छुटभइयों के दिल दहल गये। अगर आम लोग इतने गुस्ताख़ हो जायँ और इंग्लैण्ड की मिसाल पर चलने लगें तो उनका क्या हाल होगा! अगर बस चलता तो इनमें से कितने ही इंग्लैण्ड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैण्ड की बागडोर उन दिनों किसी निकम्मे बादशाह के हाथों में न थी। पहली बार इंग्लैण्ड एक गणराज्य बना था और उसकी रक्षा करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी सेना तैयार थी। क्रॉमवैल क़रीब-क़रीब तानाशाह (डिक्टेटर) था। वह 'लॉर्ड प्रोटैक्टर',

[1] बची-खुची।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यानी रक्षक सरदार कहलाता था। उसके कड़े और कुशल शासन में इंग्लैण्ड का बल बढ़ने लगा और उसके जहाज़ी बेड़ों ने हॉलैण्ड, फ़्रान्स और स्पेन के बेड़ों को मार भगाया। पहली ही बार इंग्लैण्ड यूरोप की प्रधान समुद्री-शक्ति बन गया।

लेकिन इंग्लैण्ड का यह गणराज्य ज्यादा दिन नहीं टिका। चार्ल्स प्रथम की मौत के बाद ग्यारह वर्ष भी न बीतने पाये कि १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु हो गई और दो वर्ष बाद गणराज्य का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र, जिसने भागकर विदेशों में शरण ली थी, इंग्लैण्ड लौट आया। उसका स्वागत किया गया और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स एक कमीना और बदनाम व्यक्ति था और बादशाहत को वह सिर्फ़ मौज उड़ाने का साधन समझता था। लेकिन वह चतुर इतना था कि पार्लमेण्ट का ज्यादा विरोध नहीं करता था। सच तो यह है कि उसे फ़्रान्स के बादशाह से चोरी-छिपे धन मिलता था। क्रॉमवैल के समय मे इंग्लैण्ड ने यूरोप में जो पद हासिल किया था, वह जाता रहा। यहांतक कि हॉलैण्ड का जहाज़ी-बेड़ा टेम्स नदी में घुंसकर अंग्रेज़ी बेड़े को आग लगा गया।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने फ़ौरन ही पार्लमेण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स दीनदार कैथलिक था और पोप की प्रभुता को इंग्लैण्ड में फिर से क़ायम करना चाहता था। लेकिन मज़हब के बारे में अंग्रेज़ लोगों के विचार चाहे जैसे रहे हों—और ये विचार काफ़ी धुंधले भी थे, लेकिन ज्यादातर लोग पोप और पोपलीला से बिलकुल चिढ़े हुए थे। इस व्यापक भावना के खिलाफ़ जेम्स कुछ भी न कर सका। उलटे पार्लमेण्ट की नाराज़गी मोल लेने पर उसे जान बचाने के लिए फ़्रान्स भाग जाना पड़ा।

एक बार फिर पार्लमेण्ट ने बादशाह पर विजय पाई, लेकिन इस बार बिलकुल शान्ति के साथ और बिना गृह-युद्ध के। देश बिना बादशाह का हो गया था। लेकिन अब इंग्लैण्ड दुबारा गणराज्य होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अंग्रेज़ अपने ऊपर एक सरदार चाहता है। इससे भी ज्यादा वह शाही शान-शौक़त और तड़क-भड़क से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश हुई और वह उसे उस ओरेंज राजवंश में मिल गया, जिसने, सौ वर्ष पहले, स्पेन के खिलाफ़ नीदरलैण्ड की महान् लड़ाई का नेतृत्व करने के लिए 'विलियम दि साइलैण्ट' दिया था। इस वक़्त ओरेंज का शाहज़ादा एक दूसरा विलियम था, जिसने इंग्लैण्ड के राजवंश की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी १६८८ ई० में इंग्लैण्ड के जुड़वां नरेश बना दिये गए। अब पार्लमेण्ट सर्वोपरि थी और पार्लमेण्ट में भेजे हुए प्रतिनिधियों के ज़रिये जनता के हाथ में अधिकार देनेवाली इंग्लैण्ड की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी। उस दिन से आजतक किसी भी ब्रिटिश बादशाह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या बेगम की यह हिम्मत नहीं हुई है कि पार्लमेण्ट की सत्ता को चुनौती दे। लेकिन सीधे तौर पर विरोध करने या चुनौती देने के अलावा भी साज़िशें करने और असर डालने के सैकड़ों तरीक़े हो सकते हैं, और कई अंग्रेज़ बादशाहों ने इन उपायों का सहारा लिया है।

पार्लमेण्ट सर्वोपरि बन चुकी थी। लेकिन यह पार्लमेण्ट थी क्या? यह ख़याल न करना कि वह इंग्लैण्ड की जनता की प्रतिनिधि थी। वह तो उसके एक छोटे-से हिस्से की प्रतिनिधि थी। जैसा कि उसके नाम से ज़ाहिर होता है, लॉर्ड सभा तो लॉर्डों या बड़े-बड़े ज़मींदारों और पादरियों की प्रतिनिधि थी। कॉमन्स सभा भी ऐसे धनवान लोगों की सभा थी जो कि या तो ज़मीन-ज़ायदादों के मालिक थे या बड़े-बड़े व्यापारी। वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को था। आज से सौ वर्ष पहले तक इंग्लैण्ड में कितने ही 'जेबी निर्वाचन क्षेत्र' थे, यानी ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र जो वास्तव में कुछ लोगों की जेबों में ही रहते थे। सारे निर्वाचन-क्षेत्र में सदस्य को चुननेवाले सिर्फ़ एक या दो ही वोटर होते थे! कहा जाता है कि १७९३ ई० में कॉमन्स सभा के ३०६ मेम्बरों का चुनाव सिर्फ़ १६० व्यक्तियों ने किया था। ओल्डसारम नामक एक छोटे-से गाँव से दो सदस्य पार्लमेण्ट में भेजे जाते थे। इससे तुमको पता लगेगा कि ज़्यादातर जनता को वोट देने का अधिकार न था और पार्लमेण्ट में उनका कोई प्रतिनिधि नहीं था। कॉमन्स सभा लोक-सभा होने का कोई दावा नहीं कर सकती थी। वह उन नये मध्यम वर्गों की भी प्रतिनिधि नहीं थी, जो नगरों में पैदा हो रहे थे। वह तो सिर्फ़ ज़मींदार वर्ग और कुछ धनी व्यापारियों की प्रतिनिधि थी। पार्लमेण्ट की सीटें बाक़ायदा बेची और ख़रीदी जाती थीं और रिश्वतख़ोरी का बाज़ार ख़ूब गर्म था। ये सब बातें सौ वर्ष पहले, यानी ठेठ १८३२ ई० तक होती थीं, जबकि बहुत आन्दोलन के बाद एक शासन-सुधार क़ानून पास हुआ और कुछ ज़्यादा लोगों को वोट देने का अधिकार मिला।

हम देखते हैं कि बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय का मतलब था मुट्ठी-भर धनवानों की विजय। असल में इंग्लैण्ड पर शासन करनेवाले यही मुट्ठी-भर ज़मींदार थे, जिनमें इक्के-दुक्के व्यापारी भी शामिल थे। बाक़ी के तमाम वर्गों का, जिनसे कि लगभग सारा राष्ट्र बना हुआ था, इसमें कोई भी हाथ नहीं था।

इसी तरह तुम्हें याद होगा कि स्पेन से बड़ी लड़ाई के बाद हॉलैण्ड का जो गणराज्य बना, वह भी धनवानों का ही गणराज्य था।

विलियम और मेरी के बाद मेरी की बहिन इंग्लैण्ड की महारानी हुई। १७१४ ई० में जब इसकी मृत्यु हुई तो यह दिक़्क़त फिर हुई कि आगे कौन बादशाह बनाया जाय। आख़िरकार पार्लमेण्ट को बादशाह चुनने के लिए जर्मनी जाना पड़ा। उन्होंने एक जर्मन को चुना, जो उस वक़्त हैनोवर का शासक था, और उसे इंग्लैण्ड

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जॉर्ज प्रथम बना दिया। शायद पार्लमेण्ट ने उसे इसलिए चुना कि वह भोंदू था और ज़रा भी चतुर न था, और एक बेवक़ूफ़ बादशाह रखने में कम ख़तरा था बनिस्बत एक ऐसे चतुर बादशाह के, जो पार्लमेण्ट के कामों में टाँग अड़ावे। जॉर्ज प्रथम अंग्रेज़ी तक न बोल सकता था; इंग्लैण्ड का बादशाह अंग्रेज़ी भाषा नहीं जानता था। उसका पुत्र भी, जो जॉर्ज द्वितीय हुआ, वह भी अंग्रेज़ी नहीं जानता था। इस तरह इंग्लैण्ड में 'हैनोवर का राजघराना' या हैनोवर राजवंश क़ायम हुआ, जो आजतक वहाँ राज कर रहा है।[1] इसे राज करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि राज और शासन तो पार्लमेण्ट करती है।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच बहुत रगड़े-झगड़े हुए। आयर्लैण्ड को जीतने की कोशिशें और बग़ावतें और हत्याएँ, एलिज़ाबेथ और जेम्स प्रथम के शासन-काल में बराबर होती रहीं। आयर्लैण्ड के उत्तर में, अल्स्टर में जेम्स ने बहुत-सी ज़मीन-जायदाद ज़ब्त कर ली और स्कॉटलैण्ड से प्रोटेस्टेण्टों को लाकर उस क्षेत्र में बसा दिया। तब से ये प्रोटेस्टेण्ट उपनिवेशी वहीं रह रहे हैं और आयर्लैण्ड के दो टुकड़े हो गये हैं; आयरवासी और स्कॉटलैण्ड के उपनिवेशी या रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। दोनों के बीच में बड़ी कट्टर दुश्मनी रही है और इंग्लैण्ड ने तो इस फूट से फ़ायदा उठाया ही है। राज करनेवाले हमेशा से ही फूट डालकर शासन करने की नीति में विश्वास रखते हैं। आजकल भी आयर्लैण्ड के सामने सबसे बड़ी समस्या अल्स्टर की है।

इंग्लैण्ड के गृह-युद्ध के ज़माने में आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ों की बहुत हत्याएँ हुईं। क्रॉमवैल ने बेरहमी के साथ इसका बदला आयरवासियों की हत्याएँ करके निकाला। इस बात को आयरवासी आज तक बड़ी दुश्मनी के साथ याद करते हैं। इसके बाद और लड़ाइयाँ हुईं, समझौते हुए, सन्धियाँ हुईं, और अंग्रेज़ों ने इन्हें तोड़ भी डाला। आयर्लैण्ड की तड़प का यह इतिहास बड़ा लम्बा और दुखभरा है।

यह जानकर तुम्हें शायद दिलचस्पी होगी कि गुलिवर्स ट्रैवल्स[2] का लेखक जोनाथन स्विफ़्ट इसी ज़माने में, यानी १६६७ से १७४५ ई० में, हुआ था। इस मशहूर पुस्तक का बाल-साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है, लेकिन वास्तव में वह

---

[1] सन् १९३९-४५ के दूसरे महायुद्ध में हैनोवर राजवंश का नाम बदलकर विण्डसर राजवंश रख दिया गया।

[2] 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' में डॉक्टर गुलिवर की यात्राओं का बड़ा दिलचस्प बयान है। एक बार वह एक-एक इंच के मनुष्यों के देश में जा पहुँचा और दूसरी बार ५०-६० फ़ुट लम्बे मनुष्यों के देश में।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस ज़माने के इंग्लैण्ड पर एक तीखा व्यंग है। 'रॉबिन्सन क्रूसो'[1] का लेखक डेनियल डेफ़ो भी स्विफ़्ट का समकालीन था।

: ८८ :

बाबर

३ सितम्बर, १९३२

अब ज़रा भारत की तरफ़ लौट चलें। हमने यूरोप को काफ़ी समय दिया है और कई पत्रों में, उथल-पुथल, लड़ाई-झगड़ों और युद्धों की गहराई को जानने की और सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में वहाँ क्या हो रहा था, यह समझने की कोशिश की है। मैं नहीं जानता कि यूरोप के इस ज़माने के बारे में तुम्हारे क्या विचार हुए होंगे। तुम्हारे ख़याल चाहे जो कुछ हों, पर वे ज़रूर बहुत खिचड़ी होंगे, और इसमें ताज्जुब की भी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय यूरोप एक बड़ा अजीब और झमेलों से भरा देश था। लगातार और वहशियाना लड़ाइयाँ, मज़हबी कट्टरपन और अत्याचार, जिसकी मिसाल इतिहास में दूसरी जगह मिलनी मुश्किल है, बादशाहों की निरंकुशता और 'दैवी अधिकार', गिरा, हुआ धनिक-वर्ग, और जनता का शर्मनाक शोषण। चीन इससे सदियों आगे बढ़ा हुआ मालूम होता था—वह एक सुसंस्कृत, कलाप्रिय, उदार और क़रीब-क़रीब अमन-चैन वाला देश था। फूट और गिरावट होते हुए भी भारत बहुत-सी बातों में चीन की बराबरी का दावा कर सकता था।

लेकिन इंग्लैण्ड का भी एक दूसरा और ख़ुशनुमा पहलू दिखाई पड़ रहा था। आधुनिक विज्ञान की शुरुआत नज़र आ रही थी और जनता की आज़ादी की भावना ज़ोर पकड़कर बादशाही सिंहासनों को डाँवाडोल कर रही थी। इनकी सतह के नीचे और इनकी व बहुत-सी दूसरी हलचलों की वजह थी पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के यूरोपीय देशों में व्यापार व उद्योगों का विकास। बड़े-बड़े शहर बस रहे थे, जो दूर देशों से व्यापार करनेवाले सौदागरों से भरे थे और कारीगरों की उद्योगों की हलचलों से गूँज रहे थे। सारे पश्चिमी यूरोप में 'शिल्प-संघ' यानी शिल्प-कारों और कारीगरों के संघ बन रहे थे। ये ही व्यापारी और औद्योगिक वर्ग 'बुर्जुआ' यानी नया मध्यमवर्ग कहलाये। यह वर्ग बढ़ा तो सही, लेकिन इसके रास्ते में बहुत-सी राजनीतिक, समाजी और मज़हबी रुकावटें आईं। राजनीतिक और

---

[1] 'रॉबिन्सन क्रूसो' अंग्रेज़ी की एक बड़ी मशहूर और दिलचस्प किताब है। इसमें एक मल्लाह की कहानी है, जिसने लगभग बीस वर्ष अकेले ही एक टापू पर बिताये थे और अपने लिए सब तरह की सहूलियतें इकट्ठा कर ली थीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाजी व्यवस्था में सामन्तशाही के निशान अब भी बाक़ी थे। यह प्रथा बीते हुए युग की थी। वह इस ज़माने से मेल नहीं खाती थी और व्यापार और उद्योग में रुकावट भी डालती थी। सामन्त-सरदार तरह-तरह के टोल और टैक्स वसूल करते थे, जिनसे व्यापारी वर्ग को झुंझलाहट पैदा होती थी। इसलिए मध्यमवर्ग ने सामन्ती-वर्ग से सत्ता छीनने की कोशिश शुरू की। बादशाह भी इन सामन्ती अमीर-सरदारों से नाराज़ था, क्योंकि ये लोग उसके अधिकारों में भी दख़ल देना चाहते थे। इसलिए इन सामन्ती-सरदारों के ख़िलाफ़ बादशाह और मध्यमवर्ग दोनों मिलकर एक हो गये और इन्होंने उनके असली दबदबे को मिटा दिया। नतीजा यह हुआ कि बादशाह और भी ज्यादा शक्तिशाली और निरंकुश हो गया।

इसी तरह यह भी महसूस किया गया कि उन दिनों पश्चिमी यूरोप का मज़हबी संगठन और चालू मज़हबी विचार व व्यापार करने के ढंग भी व्यापार और उद्योग की तरक्क़ी में रुकावट डाल रहे थे। खुद मज़हब भी बहुत-सी बातों में सामन्तशाही से जुड़ा हुआ था, और जैसाकि मैं तुमको बतला चुका हूँ, ईसाई-संघ सबसे बड़ा सामन्ती ज़मींदार था। पिछले बहुत वर्षों से कितने ही व्यक्ति और गिरोह रोमन ईसाई-संघ की आलोचना करने और उसकी सत्ता को चुनौती देने के लिए पैदा होते रहे थे। लेकिन वे कुछ ज्यादा परिवर्तन न ला सके। मगर अब सारा बढ़ता हुआ मध्यमवर्ग परिवर्तन चाहता था, इसलिए सुधार का आन्दोलन बड़ा ज़बर्दस्त बन गया।

ये सब परिवर्तन, और इनके अलावा कितने ही दूसरे परिवर्तन, जिनपर हम पहले एक साथ विचार कर चुके हैं, उस क्रान्ति के अलग-अलग पहलू और रुख थे, जिसने मध्यमवर्ग को सामने ला दिया। पश्चिमी यूरोप के सब देशों में क़रीब-क़रीब यही प्रक्रिया हुई होगी, लेकिन अलग-अलग देशों में वह अलग-अलग समय में हुई। इस समय और इसके बहुत दिन बाद तक भी, उद्योगों के लिहाज़ से पूर्वी यूरोप बहुत पिछड़ा हुआ था। इसलिए वहाँ कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

चीन और भारत में भी शिल्प-संघ थे और शिल्पकारों और कारीगरों की एक बड़ी भारी संख्या थी। उद्योग-धन्धे यूरोप के मुक़ाबले में ही और बहुत-कुछ उससे भी ज्यादा आगे बढ़े हुए थे। लेकिन अभी यहाँ विज्ञान का उतना विकास नहीं था जितना यूरोप में था और न यहाँ की जनता में आज़ादी की यूरोप-जैसी उमंग थी। दोनों देशों में मज़हबी आज़ादी और नगरों, गाँवों और संघों में मुक़ामी आज़ादी की पुरानी परम्पराएँ चली आ रही थीं। बादशाह की शक्ति और निरंकुशता की लोगों को ज़रा भी परवाह न थी जबतक कि उनके मुक़ामी मामलों में दख़ल न दिया जाता हो। दोनों देशों ने एक समाजी संगठन बना लिया था, जो बहुत दिनों से टिका हुआ था और जो यूरोप के ऐसे किसी भी संगठन से ज्यादा टिकाऊ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। शायद इस संगठन के टिकाऊपन और मज़बूती ने ही विकास को रोक रक्खा था। हमने देखा है कि भारत में फूट और गिरावट का नतीजा अन्त में यह हुआ कि उत्तरी भाग पर मुग़ल बाबर ने क़ब्ज़ा कर लिया। मालूम होता है कि लोग आज़ादी के प्राचीन आर्य-विचारों को बिलकुल भूल गये थे और उनमें तावेदारी की और किसी भी शासक की अधीनता क़बूल करने की आदत हो गई थी।[1] यहाँ तक कि देश में एक नई चेतना लेकर आनेवाले मुसलमान भी औरों की ही तरह पतित और खुशामदी हो गये।

इस तरह ताज़गी और क्रियाशक्ति के उन गुणों से भरा हुआ यूरोप, जिनकी पूर्वी दुनिया की पुरानी सभ्यताओं में कमी दिखाई देती थी, धीरे-धीरे इनसे आगे बढ़ता जा रहा था। उसके निवासी संसार के कोने-कोने में फैल रहे थे। व्यापार और धन के लालच ने उसके जहाज़ियों को अमेरिका और एशिया की ओर खींच लिया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुर्तगालियों ने मलक्का के अरब साम्राज्य का अन्त कर दिया था। उन्होंने भारत के किनारे-किनारे और पूर्वी समुद्रों में सब जगह अपनी चौकियाँ बना ली थीं। लेकिन जल्द ही मसाला-व्यापार पर उनके क़ब्ज़े को हॉलैण्ड, और इंग्लैण्ड इन दो नई शक्तियों ने चुनौती देना शुरू कर दिया। पुर्तगाली पूर्व से खदेड़ दिये गए और उनका पूर्वी साम्राज्य और व्यापार नष्ट हो गया। कुछ हद तक हॉलैण्ड ने पुर्तगाल की जगह ले ली और बहुत-से टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया। १६०० ई० में महारानी एलिज़ावेथ ने लन्दन के व्यापारियों की एक कम्पनी, 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' को भारत में तिजारत करने का फ़रमान दिया और दो साल बाद 'डच ईस्ट इण्डियन कम्पनी' बनी। इस तरह यूरोप का एशिया को हड़पने का ज़माना शुरू होता है। बहुत दिनों तक तो यह मलाया और पूर्वी टापुओं तक ही सीमित रहा। मिंङ राजाओं और सत्रहवीं सदी के बीच में आनेवाले मंचुओं के राज में चीन यूरोप के लिए बहुत बलवान था। जापान तो इतना आगे बढ़ गया कि उसने १६४१ ई० में सब विदेशियों को बाहर निकाल दिया और अपने देश को बाहरवालों के लिए बिलकुल बन्द कर दिया। और भारत में क्या हुआ? भारत की कहानी को हम बहुत पीछे छोड़ आये हैं, इसलिए अब इस कमी को पूरा करना चाहिए। जैसा कि हम देखेंगे, नये मुग़ल राजवंश के अधीन भारत एक शक्तिशाली राजाशाही बन गया था, और यूरोप के हमले का ज़रा भी खतरा या मौक़ा न था। लेकिन समुद्रों पर यूरोप का क़ब्ज़ा पहले ही हो चुका था।

इसलिए अब हम भारत की तरफ़ वापस आते हैं। यूरोप, चीन, जापान और मलेशिया में हम सत्रहवीं सदी के अन्त तक आ पहुँचे हैं, और अठारहवीं सदी

---

[1] कोउ नृप होउ हमहि का हानी
चेरि छाड़ि अब होब कि रानी—तुलसीदास

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के किनारे पर हैं। लेकिन भारत में अभी तक हम सोलहवीं सदी के शुरू में ही हैं, जबकि बाबर यहाँ आया था।

१५२६ ई० में दिल्ली के बोदे और टुच्चे अफ़ग़ान सुलतान पर बाबर की विजय से भारत में एक नया ऐतिहासिक ज़माना और नया साम्राज्य—मुग़ल साम्राज्य शुरू होता है। बीच में थोड़े समय को छोड़कर यह १५२६ से १७०७ ई० तक, यानी १८१ वर्ष तक, रहा। ये वर्ष उसकी शक्ति और शान के थे, जबकि भारत के महान् मुग़ल की कीर्त्ति सारे एशिया और यूरोप में फैल गई थी। इस राजवंश के छै बड़े शासक हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया और मराठों, सिखों, वग़ैरा ने उसमें से रियासतें बाँट लीं। इनके बाद अंग्रेज़ आये, जिन्होंने केन्द्रीय सत्ता की टूट-फूट और देश में फैली हुई गड़बड़ से फ़ायदा उठाकर धीरे-धीरे अपनी हुकूमत जमा ली।

मैं बाबर के बारे में पहले ही कुछ कह चुका हूँ। चंगेज़खाँ और तैमूर के वंश का होने की वजह से इसमें कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और सैनिक योग्यता थे। लेकिन चंगेज़ के ज़माने से अबतक मंगोल बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा सुसंस्कृत और ख़ुशदिल व्यक्ति उस ज़माने में मिलना मुश्किल था। उसमें फ़िरक़ापरस्ती बिलकुल न थी, न मज़हबी कट्टरपन था, और न उसने अपने पुरखों की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और ख़ुद भी फ़ारसी का कवि था। वह फूलों और बाग़ों से प्यार करता था और भारत की गर्मी में उसे अक़्सर अपने देश मध्य एशिया की याद आ जाती थी। अपने संस्मरणों में उसने लिखा है—"फ़रग़ाना में बनफ़शा के फूल बड़े प्यारे होते हैं; वहाँ तो गुलेलाला और गुलाब के ढेर हैं।"

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरक़न्द का शासक हुआ तब वह सिर्फ़ ग्यारह वर्ष का बच्चा था। यह काम आसान न था। उसके चारों तरफ़ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र में छोटे लड़के और लड़कियाँ स्कूल जाते हैं, उस उम्र में उसे तलवार लेकर लड़ाई के मैदान में जाना पड़ा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे जीत लिया और अपनी तूफ़ानी ज़िन्दगी में उसे बहुत ख़तरों का सामना करना पड़ा। इसपर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकांक्षा उसे आगे हाँकती रही। काबुल को जीतकर वह सिन्ध नदी पार करके भारत में आया। उसके साथ फ़ौज तो थोड़ी-सी थी, लेकिन उसके पास नई तोपें थीं, जो उन दिनों यूरोप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही थीं। अफ़ग़ानों की जो बड़ी भारी फ़ौज उससे लड़ने आई वह इस छोटी-सी लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फ़ौज और उसकी तोपों के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ और कितनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही बार उसके भाग्य का पलड़ा डाँवाडोल हो गया था। एक बार जब वह बहुत ख़तरे में था तो उसके सेनापतियों ने उसे उत्तर की ओर वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बड़ा जीवटवाला था और उसने कहा कि पीछे हटने से तो वह मौत का सामना करना अच्छा समझता है। शराब का प्याला उसे बहुत प्यारा था। लेकिन अपनी ज़िन्दगी में इस संकट के समय उसने शराब छोड़ देने का फ़ैसला किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। संयोग से वह जीत गया और उसने शराब छोड़ने की अपनी क़सम को अन्त तक निभाया।

बाबर को भारत में आये चार वर्ष भी न बीते थे कि उसकी मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगड़ों में ही बीते और उसे ज़रा भी आराम न मिला। वह भारत के लिए एक अजनबी ही रहा और यहाँ के बारे में कुछ न जान सका। आगरे में उसने एक शानदार राजधानी की नींव डाली और क़ुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर इमारत बनानेवाले को बुलाया। यह वह समय था जब शानदार सुलेमान क़ुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनवा रहा था। सीनन एक मशहूर उस्मानी शिल्पकार था। उसने अपने प्रिय शिष्य यूसुफ़ को भारत भेजा।

बाबर ने अपनी ज़िन्दगी की यादें लिखी हैं और इस मज़ेदार पुस्तक में इस व्यक्ति की गहरी झलकियाँ मिलती हैं। उसने भारत का और उसके जानवरों, फूलों, पेड़ों, फलों का वर्णन किया है, यहाँतक कि मेढ़कों को भी नहीं छोड़ा है! वह अपने वतन के ख़रबूज़ों, अंगूरों और फूलों के लिए तरसता है। भारतवासियों के बारे में हद दर्जे की निराशा ज़ाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक़ तो उनके पक्ष में एक भी अच्छी बात नहीं है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयों में फँसे रहने की वजह से वह भारतवासियों को पहचान न सका और सुसंस्कृत वर्गों के लोग इस नये विजेता से दूर-दूर भी रहे। शायद एक नया आनेवाला दूसरे देश के निवासियों के जीवन, और उनकी सभ्यता में आसानी से घुलमिल नहीं सकता। कुछ भी हो, उसे न तो अफ़ग़ानों में—जो कुछ दिनों से भारत में राज कर रहे थे और न ज़्यादातर भारतवासियों में ही कोई तारीफ़ की चीज़ नज़र आई। वह हर बात पर अच्छी तरह ग़ौर करनेवाला था और एक विदेशी की तरफ़दारी का ख़याल रखते हुए भी उसके बयानों से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत उस वक़्त बहुत ख़राब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ़ बिलकुल नहीं गया।

बाबर ने लिखा है—"हिन्दुस्तान का साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौड़ा, घना बसा हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की भी सीमाओं पर समुद्र है। उसके उत्तर में काबुल, ग़ज़नी और कन्धार हैं। सारे हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली है।" यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि बाबर सारे भारत को एक देश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझता था, हालाँकि जब वह यहाँ आया था तब देश कई रियासतों में बँटा हुआ था। भारत की एकता की यह भावना इतिहास में शुरू से चली आ रही है।

भारत का विवरण देते हुए बाबर लिखता है :

"यह एक निराला और नफ़ीस मुल्क़ है। हमारे मुल्क़ों के मुक़ाबले में यह एक अलग ही दुनिया है। इसके पहाड़ और नदियाँ, इसके जंगल और मैदान, इसके जानवर और पौधे, इसके निवासी और उनकी भाषा, इसकी हवाएँ और बरसातें, सब अलग ही तरह के हैं...सिंधे को पार करते ही जो ज़मीन, पेड़, पत्थर, घुमक्कड़ क़बीले, और लोगों के ढंग और रस्म-रिवाज, दिखलाई पड़ते हैं, वे ठेठ हिन्दुस्तान के ही हैं। यहाँतक कि यहाँ के साँप भी दूसरी तरहके हैं।... हिन्दुस्तान के मेंढक ग़ौर करने लायक़ हैं। हालाँकि ये उसी क़िस्म के हैं, जिस क़िस्म के हमारे यहाँ होते हैं, लेकिन ये पानी की सतह पर छै-सात गज़ तक दौड़ सकते हैं।"

इसके बाद वह भारत के जानवरों, फूलों, पेड़ों और फलों की एक सूची देता है। और फिर यहाँ के रहनेवालों का ज़िक्र करता है :

"मुल्क़ हिन्दुस्तान में आनन्द के कोई ऐसे साधन नहीं हैं, जिनके लिए इसकी तारीफ़ की जाय। यहाँ के निवासी सुरूप नहीं हैं। उन्हें मित्र-मण्डली के आनन्द का, या दिल खोलकर एक दूसरे से मिलने का, या आपसी घरू बर्ताव का कुछ भी ज्ञान नहीं है। उनमें न तो प्रतिभा है, न दिमाग़ की सूझ-बूझ, न शिष्टाचार की नम्रता, न दया या सहानुभूति, न दस्तकारी के कामों की योजना बनाने और उनपर अमल करने की मौलिकता या यान्त्रिक आविष्कार-बुद्धि, न नक़शे और इमारतें बनाने का हुनर या ज्ञान। उनके यहाँ न तो अच्छे घोड़े हैं, न अच्छा माँस, न अंगूर और न खरबूजे, न अच्छे फल, न बर्फ़, न ठंण्डा पानी, न बाज़ारों में अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम, न मदरसे, न मोमबत्तियाँ, न मशालें, यहाँतक कि शमादान भी नहीं हैं।"

इसपर यह पूछने को तबीयत हो उठती है कि आख़िर उनके यहाँ है क्या ? मालूम होता है बाबर ने ये बातें उस वक़्त लिखी होंगी जब वह शायद बिलकुल ऊब चुका होगा। बाबर आगे कहता है—

"हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह बहुत बड़ा मुल्क़ है और यहाँ सोना और चाँदी बरसते हैं।...भारत में एक सुभीता यह भी है कि यहाँ हर पेशे और व्यापार के काम करनेवालों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की संख्या इतनी ज्यादा है कि उसका कोई अन्त ही नहीं। किसी काम या धन्धे के लिए जब चाहो तब एक जमात तैयार है, जिनके यहाँ वही काम-धन्धा युगों से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है।"

बाबर की यादियों से मैंने कुछ लम्बे बयान यहाँ नक़ल किये हैं। ऐसी पुस्तकों से हमको किसी व्यक्ति का जितना ज्यादा अन्दाज़ा होता है, उतना उसके बारे में किसी बयान से नहीं।

१५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर क़िस्सा है। उसका पुत्र हुमायूँ बीमार पड़ा, और कहते हैं कि उसके प्रेम में बाबर खुद अपना जीवन भेंट चढ़ाने के लिए तैयार हो गया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूँ अच्छा हो गया और इस घटना के कुछ ही दिन बाद बाबर की मृत्यु हो गई।

बाबर की लाश को लोग काबुल ले गये और वहाँ उसी बाग में उसे दफ़नाया, जो बाबर को बहुत पसन्द था। जिन फूलों के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्हीं के पास चला गया।

: ८९ :

अकबर

४ सितम्बर, १९३२

अपनी सिपहसालारी और सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर भारत का बहुत-सा भाग जीत लिया था। उसने दिल्ली के अफ़ग़ान सुलतान को हरा दिया और बाद में इतिहास के एक मशहूर वीर, चित्तौड़ के रण-बाँकुरे राणा सांगा, की नेतागिरी में लड़नेवाले राजपूतों को हराया, जो ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूँ के लिए छोड़ गया। हुमायूँ बहुत सुसंस्कृत और विद्वान् था, लेकिन अपने पिता की तरह सिपाही न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आखिर १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, बिहार के शेरख़ाँ नामक अफ़ग़ान सरदार ने उसे हराकर भारत से बाहर निकाल दिया। इस तरह यह दूसरा महान् मुग़ल इधर-उधर छिपता हुआ और बड़ी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी भाग-दौड़ की हालत में, राजपूताना के रेगिस्तान में, नवम्बर १५४२ ई० में, उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह पुत्र आगे जाकर अकबर के नाम से मशहूर हुआ।

हुमायूँ भागकर ईरान पहुंचा और वहाँ के बादशाह शाह तहमास्प ने उसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकबर का साम्राज्य

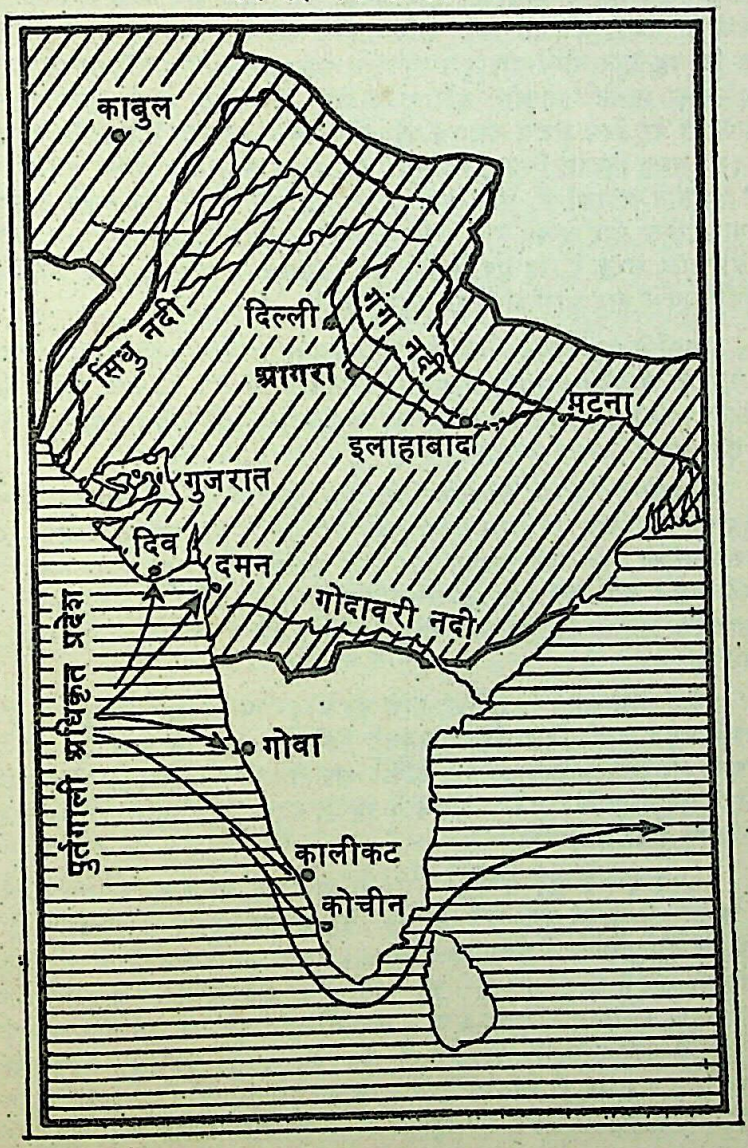

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरण दी। इस अर्से में उत्तरी भारत में शेरखाँ का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पाँच वर्ष तक राज किया। इस थोड़े-से समय में ही उसने बतला दिया कि वह बहुत योग्य और कुशल व्यक्ति था। वह प्रतिभाशाली संगठक था, और उसका शासन क्रियाशील और कुशल था। अपने युद्धों के बीच भी उसने काश्तकारों पर टैक्स लगाने की एक नई और अच्छी मालगुज़ारी प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह रूखा और कठोर व्यक्ति था, लेकिन भारत के सारे अफ़ग़ान शासकों में, और बहुत-से दूसरे शासकों में भी, वह बेशक सबसे ज्यादा क़ाबिल और अच्छा था। लेकिन जैसा कि अक्सर कुशल निरंकुश शासकों का हाल हुआ करता है, वह खुद ही अपने सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था, इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढाँचा टुकड़े-टुकड़े हो गया।

हुमायूँ ने इस गड़बड़ी से फ़ायदा उठाया और १५५६ ई० में वह एक सेना लेकर ईरान से लौटा। उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर आ बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन के लिए नहीं। छै महीने बाद ही वह ज़ीने पर से गिरकर मर गया।

शेरशाह और हुमायूँ के मक़बरों का मुक़ाबला करने से एक दिलचस्प बात मालूम होती है। अफ़ग़ान शेरशाह का मक़बरा बिहार में सहसराम में है और यह इमारत उसीकी तरह रूखी, मज़बूत और शाही बनावट की है। हुमायूँ का मक़बरा दिल्ली में है। एक निखारदार और सुडौल इमारत है। पत्थर की इन इमारतों से, साम्राज्य के लिए सोलहवीं सदी के इन दो विरोधियों के बारे में अच्छा अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

अकबर उस समय सिर्फ़ तेरह साल का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखाँ, जिसे खानबाबा भी कहते हैं, इसकी निगरानी और रक्षा करनेवाला था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस निगरानी से और दूसरे लोगों के इशारे पर चलने से तंग आ गया। उसने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

१५५६ ई० के शुरू से १६०५ ई० के अन्त तक, यानी क़रीब पचास वर्ष तक, अकबर ने भारत पर राज किया। वह ज़माना यूरोप में नीदरलैण्ड के विद्रोह का और इंग्लैण्ड में शेक्सपियर का था। अकबर का नाम भारत के इतिहास में जगमगा रहा है और कभी-कभी कुछ बातों में वह हमें अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहले का एक बौद्ध सम्राट् और ईसा के बाद सोलहवीं सदी का एक मुसलमान सम्राट्, दोनों एक ही ढंग से और क़रीब-क़रीब एक ही आवाज़ में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह खुद भारत की ही आवाज़ हो, जो उसके दो महान् पुत्रों के ज़रिये बोल रही हो। अशोक के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बारे में हम सिर्फ़ उतना ही जानते हैं जितना उसने खुद पत्थरों पर तराशा हुआ छोड़ा है। लेकिन अकबर के बारे में हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो समकालीन इतिहासकारों के लम्बे विवरण मिलते हैं। और जो विदेशी उससे मिलने आये थे—खासकर जेज़ुइट लोग, जिन्होंने उसे ईसाई बनाने की ज़ोरदार कोशिश की थी—उन्होंने भी लम्बे-चौड़े बयान लिखे हैं।

यह बाबर की तीसरी पीढ़ी में था। लेकिन मुग़ल लोग अभी इस देश के लिए नये थे। वे विदेशी समझे जाते थे और उनका क़ब्ज़ा फ़ौजी ताक़त के बल पर था। अकबर के राज ने मुग़ल राजवंश की जड़ जमा दी और उसको यहीं की धरती का और पूरी तरह भारतीय नज़रियेवाला बना दिया। इसीके राज में यूरोप में 'महान् मुग़ल' का खिताब काम में लाया जाने लगा। वह बहुत निरंकुश था और उसके हाथों में बे-लगाम सत्ता थी। मालूम होता है कि उस वक़्त भारत में राजा के अधिकारों पर रोक-थाम लगाने की कोई हलकी-सी चर्चा तक नहीं थी। संयोग से अकबर एक बुद्धिमान् स्वेच्छाचारी था और वह भारत के लोगों की भलाई के लिए जी-तोड़ कोशिश करता रहता था। एक तरह से वह भारतीय राष्ट्रीयता का जन्मदाता माना जा सकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था, और मज़हब लोगों को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने समझ-बूझकर, समान भारतीय राष्ट्रीयता के आदर्श को, फूट डालनेवाले मज़हबी दावों के ऊपर, रख दिया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह तो सफल नहीं हुआ, लेकिन यह अचम्भे की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी कोशिशों को कितनी ज़्यादा सफलता मिली।

लेकिन फिर भी अकबर को जो कुछ सफलता मिली, वह अकेले उसीकी, दूसरों की मदद के बिना, नहीं थी। जबतक कि ठीक समय न आ गया हो और आस-पास की हालतें मदद न करें तबतक कोई भी मनुष्य महान् कामों में सफल नहीं हो सकता। महापुरुष खुद अपना चौगिर्द तैयार करके ज़माने को जल्दी बदल सकता है। लेकिन महापुरुष खुद भी तो ज़माने का और ज़माने के चौगिर्द का ही फल होता है। इसी तरह अकबर भी भारत के उस ज़माने का फल था।

पिछले एक पत्र में मैंने तुमको बतलाया था कि जिन दो संस्कृतियों और मज़हबों का इस देश में साथ आ पड़ा था, उन दोनों के समन्वय के लिए भारत में कैसी ख़ामोश ताक़तें काम कर रही थीं। मैंने तुमको भवन-निर्माण की नई शैली और भारतीय भाषाओं, खासकर उर्दू या हिन्दुस्तानी, के विकास के बारे में लिखा था। और मैं तुमको रामानन्द, कबीर और गुरु नानक जैसे सुधारक और धर्म-गुरुओं के बारे में भी लिख चुका हूँ, जिन्होंने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के एक-से पहलुओं पर ज़ोर देकर और उनके बहुत-से रीति-रस्म और आडम्बरों की निन्दा करके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने की कोशिश की थी। उस समय समन्वय की यह भावना चारों ओर फैली हुई थी। और अकबर के ऐसे दिमाग़ ने, जो हर बात को बारीकी से महसूस करता था और ग्रहण करता था, जब इस भावना को हज़म किया तो उसमें बहुत बड़ा ज़बाबी असर हुआ होगा। वास्तव में वह इस भावना का सबसे बड़ा व्याख्या करनेवाला बन गया।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुँचा होगा कि उसका बल और राष्ट्र का बल इसी समन्वय से बढ़ सकते हैं। वह एक बहुत बहादुर, लड़ाका और कुशल सेनानायक भी था। अशोक की तरह वह लड़ाइयों से नफ़रत नहीं करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह स्नेह की विजय को ज़्यादा अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज़्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह पक्के इरादे के साथ हिन्दू सरदारों और हिन्दू जनता का स्नेह हासिल करने में जुट गया। उसने ग़ैर-मुस्लिमों से वसूल किया जानेवाला जज़िया और हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने ख़ुद अपना विवाह एक ऊँचे राजपूत घराने की लड़की से किया। बाद में उसने अपने पुत्र का विवाह भी एक राजपूत लड़की से किया। और उसने ऐसी मिली-जुली शादियों को बढ़ावा दिया। उसने अपने साम्राज्य के ऊँचे-से-ऊँचे ओहदों पर राजपूत सरदारों को मुक़र्रर किया। उसके सबसे बहादुर सिपहसालारों और सबसे योग्य वज़ीरों और सूबेदारों में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनों के लिए काबुल का सूबेदार बनाकर भेजा था। देखा जाय तो राजपूतों को और अपनी हिन्दू-प्रजा को मनाने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ़ जाता था कि मुसलमान-प्रजा के साथ अक़्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओं की सद्भावना हासिल करने में सफल हुआ और उसकी नौकरी करने और उसे सम्मान देने के लिए चारों ओर से लगभग सभी राजपूत इकट्ठे होने लगे, सिवाय मेवाड़ के राणा प्रताप के, जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाम के लिए भी अपना सम्राट् मानने से इन्कार कर दिया। लड़ाई के मैदान में हार जाने पर भी उसने अकबर का ताबेदार बनकर मौज-मज़े का विलासी जीवन बिताने की बनिस्बत जंगल में छिपते फिरना ज़्यादा पसन्द किया। ज़िन्दगी भर यह अभिमानी राजपूत दिल्ली के महान् सम्राट् से लड़ता रहा, और इसने उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। अपने जीवन के आख़िरी दिनों में उसे कुछ सफलता भी मिली। इस रण-बाँकुरे राजपूत की यादगार राजपूताना की एक बेशक़ीमती थाती है, और इसके नाम के साथ कितनी ही गाथाएँ जुड़ गई हैं।

इस तरह अकबर ने राजपूतों को अपनी तरफ़ कर लिया और वह जनता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्यारा बन गया। वह पारसियों और उसके दरबार में आनेवाले जेज़ुइट पादरियों तक से अच्छा बर्ताव करता था। लेकिन उसकी इस उदारता और इस्लामी शरीयत के खिलाफ़ कुछ कार्रवाइयों से मुसलमान अमीर-सरदार उससे नाराज़ हो गये और उसके खिलाफ़ कई विद्रोह भी हुए।

मैंने अकबर की तुलना अशोक से की है। लेकिन इस तुलना से तुम कहीं भुलावे में न पड़ जाना। बहुत-सी बातों में वह अशोक से बिलकुल अलग तरह का था। वह बड़ी ऊँची उमंगोंवाला था, और अपने जीवन के अन्त समय तक वह अपना साम्राज्य बढ़ाने की धुन में चढ़ाइयाँ करता रहा। जेज़ुइट लोगों ने लिखा है—

"वह चौकस और पारखी दिमाग़वाला था; वह समझ-बूझ का पक्का, मामलों में दूरदर्शी और इन सबके अलावा दयालु, मिलनसार और उदार था। इन गुणों के साथ उसमें बड़े-बड़े जोखिम के कामों को उठाने और पूरा करने की हिम्मत भी थी. . . । वह बहुत-सी बातों में दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे में जानने का इच्छुक रहता था; उसे न सिर्फ़ सैनिक और राजनीतिक बातों का ही बल्कि बहुत-से कला-कौशल का भी गहरा ज्ञान था. . . । जो लोग उसकी ज़ात पर हमला करते थे उनपर भी इस राजा की रहमदिली और नम्रता की रोशनी पड़ती रहती थी। उसे ग़ुस्सा बहुत ही कम आता था। अगर कभी आता था तो उसका आवेश भयंकर हो जाता था; लेकिन उसका यह ग़ुस्सा ज़्यादा देर टिकता न था।"

याद रहे कि यह बयान किसी चापलूस मुसाहिब का नहीं है, लेकिन दूसरे देश के रहनेवाले अजनबी का है, जिसे अकबर को ग़ौर से देखने के काफ़ी मौक़े मिलते थे।

शरीर में अकबर असाधारण बलवान और चुस्त था, और वह जंगली और खूंखार जानवरों के शिकार से ज़्यादा और किसी चीज़ से प्रेम नहीं करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना बहादुर था कि उसे अपनी जान तक की बिलकुल परवाह न थी। उसकी अद्भुत शक्ति का अन्दाज़ा आगरे से अहमदाबाद की उस मशहूर कूच से लगाया जा सकता है, जो उसने नौ दिन में पूरी की थी। गुजरात में विद्रोह हो गया था और अकबर एक छोटी-सी सेना के साथ राजपूताना के रेगिस्तान को लाँघकर साढ़े चार सौ मील की दूरी तय करके वहाँ जा धमका। यह एक असाधारण करतब था। यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि उस ज़माने में न तो रेलें थीं और न मोटरें।

लेकिन इन गुणों के अलावा महान् पुरुषों में कुछ और भी होता है; उनमें कुछ चुम्बक जैसा आकर्षण होता है, जो लोगों को अपनी तरफ़ खींचता है। अकबर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यह जिस्मानी आकर्षण-शक्ति और मोहनी बहुत ज्यादा मिक़दार में थी; जेज़ुइट लोगों के अद्भुत विवरण के मुताबिक़ उसकी बस में करनेवाली आँखें "इस तरह झिलमिलाती थीं जिस तरह सूर्य की रोशनी में समुद्र।" फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है, अगर यह व्यक्ति हमको आज भी मोहता हो और उसका शाही व मर्दाना स्वरूप उन ढेरों लोगों से बहुत ऊँचा दिखलाई पड़ता हो, जो सिर्फ़ बादशाह हुए हैं?

विजेता की हैसियत में अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, कश्मीर, और सिन्ध अपने साम्राज्य में मिला लिये। मध्य भारत और दक्षिण भारत में भी उसकी जीत हुई और उसने खिराज वसूल किया। लेकिन मध्य-प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराना उसकी शान को नहीं बढ़ाता। दुर्गावती एक बहादुर और अच्छी शासक थी और उसने अकबर को कुछ नुक़सान नहीं पहुँचाया था। लेकिन ऊँचा चढ़ने की हविस और साम्राज्य की लालसा इन छोटी-मोटी अड़चनों की बिलकुल परवाह नहीं करतीं। दक्षिण में भी उसकी सेनाएँ अहमदनगर में राजा की जगह शासन करनेवाली मशहूर चाँदबीबी से लड़ीं। इस महिला में बहादुरी और काबलियत थी और उसने लड़ाई में जो लोहा लिया उसका असर मुग़ल फ़ौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने उसीके माफ़िक शर्तों पर सुलह मंजूर कर ली। बदक़िस्मती से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ नाराज़ सिपाहियों ने उसे मार डाला।

अकबर की फ़ौजों ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है; जयमल ने बड़ी वीरता से चित्तौड़ की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयंकर 'जौहर' व्रत फिर हुआ और चित्तौड़ जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारों तरफ़ बहुत-से क़ाबिल नायब जमा कर लिये, जो उसके बड़े वफ़ादार थे। इनमें मुख्य फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल दो भाई थे, और एक था बीरबल, जिसके बारे में अनगिनती कहानियाँ आज तक प्रचलित हैं। अकबर का वित्तमन्त्री था टोडरमल। इसीने लगान की सारी प्रणाली को बदला था। तुम्हें यह जानकर अचम्भा होगा कि उन दिनों ज़मींदारी-प्रथा न थी और न ज़मींदार थे, न ताल्लुक़ेदार। राज्य खुद किसानों या रैयत से लगान वसूल करता था। यही आजकल रैयतवारी प्रणाली कहलाती है। आजकल के ज़मींदार अंग्रेज़ों के बनाये हुए हैं।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे अच्छे सेनापतियों में से था। अकबर के दरबार में एक और मशहूर आदमी था—महान् गायक तानसेन, जिसे आज भारत के सारे गवैये अपना गुरु मानते हैं।

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहाँ उसने किला बनवाया। इसके बाद उसने आगरे से पन्द्रह मील दूर फ़तहपुर सीकरी में एक नया शहर बसाया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहाँ शेख सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम सन्त रहते थे। यहाँ उसने एक आलीशान शहर बनवाया, जो उस वक़्त के एक अंग्रेज़-यात्री के शब्दों में "लन्दन से भी ज्यादा बड़ा" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद में उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का दोस्त और वज़ीर अबुलफ़ज़ल लिखता है—"बादशाह सलामत आलीशान इमारतों के खाके सोचते हैं और अपने दिल और दिमाग़ की सूझ को पत्थर और मिट्टी का जामा पहना देते हैं।"

फ़तहपुर सीकरी और उसकी खूबसूरत मस्जिद, उसका ज़बर्दस्त बुलन्द दरवाज़ा और बहुत-सी दूसरी सुन्दर इमारतें आज भी मौजूद हैं। यह शहर उजड़ गया है और उसमें किसी तरह की हलचल अब नहीं है; लेकिन उसकी गलियों में और उसके चौड़े सहनों में एक मिटे हुए साम्राज्य की छायाएँ आज भी चलती-फिरती मालूम होती हैं।

हमारा मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है, लेकिन जगह यह ज़रूर बहुत प्राचीन है, और प्रयाग तो यहाँ रामायण के युग से चला आ रहा है। इलाहाबाद का क़िला अकबर का बनवाया हुआ है।

अकबर का जीवन एक विशाल साम्राज्य को जीतने और मज़बूत बनाने में लगा रहा होगा। लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और विचित्र गुण नज़र आता है। यह थी उसकी बेहद जिज्ञासा और सचाई की खोज। जो कोई किसी भी विषय पर रोशनी डाल सकता था, उसे बुलाया जाता था और उससे सवाल किये जाते थे। अलग-अलग मज़हबों के लोग इबादतखाने में उसके चारों तरफ़ बैठते थे और हरेक इस महान् बादशाह को अपने मज़हब में शामिल करने की उम्मीद रखता था। वे अक़्सर एक दूसरे से झगड़ पड़ते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहसें सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल पूछता रहता था। मालूम होता है, उसे यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी खास मज़हब या फ़िरक़े ने नहीं ले रक्खा है और उसने यह ऐलान कर दिया था कि वह संसार के सारे मज़हबों में आपसी उदारता के सिद्धान्त को मानता है।

उसके शासनकाल के एक इतिहास-लेखक बदायूंनी[1] ने, जो ऐसे बहुत-से मजमों में शामिल होता रहा होगा, अकबर के बारे में मज़ेदार बयान लिखा है, जो मैं यहाँ देना चाहूँगा। बदायूंनी खुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर की इन कार्रवाइयों को बिलकुल नापसन्द करता था। वह लिखता है—

---

[1] बदायूंनी का पूरा नाम मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिर बदायूंनी (बदायूं का रहनेवाला) था। इसने मुग़ल साम्राज्य का इतिहास लिखा है, जिसके हरेक पन्ने पर इसके कट्टरपन की छाप है। यह हिन्दुओं से बहुत चिढ़ता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जहाँपनाह हरेक की रायें इकट्ठी करते थे, ख़ासकर ऐसे लोगों की जो मुसलमान नहीं थे, और उनमें से जो कोई बात उनको पसन्द आती, उसे रख लेते और जो उनके मिज़ाज के ख़िलाफ़ होतीं और उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ जातीं उन सबको फेंक देते थे। शुरू बचपन से जवानी तक और जवानी से बुढ़ापे तक, जहाँपनाह बिलकुल अलग-अलग तरह की हालतों में से और सब तरह के मज़हबों, दस्तूरों और फ़िरक़ेवाराना अक़ीदों में से गुज़रे हैं, और जो कुछ किताबों में मिल सकता है उस सबको उन्होंने, छाँटने के अपने ख़ास गुण से, इकट्ठा किया है, और तहक़ीक़ात की उस रूह से इकट्ठा किया है, जो हर इस्लामी उसूल के ख़िलाफ़ है। हर तरह उनके दिल के आईने पर किन्हीं मूल उसूलों की बुनियाद पर एक नक़शा खिंच गया है और उनपर जो-जो असर पड़े हैं, उन सबके नतीजे से उनके दिल में पत्थर की लकीर की तरह धीरे-धीरे यह यक़ीन जमता गया है कि सब मज़हबों में समझदार आदमी हैं और सब क़ौमों में परहेज़गार, सोचनेवाले और चमत्कारी ताक़तोंवाले आदमी हैं। अगर कोई सच्चा इल्म इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सचाई किसी एक ही मज़हब में कैसे बन्द हो सकती है?..."

तुम्हें याद होगा कि इस ज़माने में यूरोप में मज़हबी मामलों में बड़ा ज़बर्दस्त बैर-भाव फैला हुआ था। स्पेन, नीदरलैण्ड और दूसरे देशों में इनक्विज़िशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कैल्विनिस्ट दोनों एक-दूसरे को बर्दाश्त करना घोर पाप समझते थे।

अकबर ने वर्षों तक सब मतों के आचार्यों से अपनी मज़हबी चर्चाएँ और बहसें जारी रक्खीं, यहाँतक कि अन्त में वे सब उकता गये और उन्होंने अकबर को अपने-अपने ख़ास मज़हब में मिला सकने की आशा छोड़ दी। जब हरेक मज़हब में सचाई का कुछ-न-कुछ अंश था तो वह उनमें से किसी एक को कैसे चुन सकता था? जेज़ुइट लोगों के लिखे मुताबिक़ वह कहा करता था—"चूँकि हिन्दू लोग अपने सिद्धान्तों को ठीक मानते हैं और इसी तरह मुसलमान और ईसाई भी मानते हैं; तो फिर हम इनमें से किसको अपनावें?" अकबर का सवाल बड़ा वाजिब था, लेकिन जेज़ुइट लोग इससे चिढ़ते थे और उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है—"इस बादशाह में हम उस नास्तिक की-सी आम ग़लती देखते हैं जो दलील को ईमान का दास बनाने से इन्कार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमज़ोर दिमाग़ न पा सके, उसे सच न मानता हुआ वह उन मामलों को अपने अधूरे फ़ैसले पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो मानव-ज्ञान की सर्वोच्च सीमा से भी परे हैं।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज़्यादा नास्तिक हों उतना ही अच्छा!

अकबर का लक्ष्य क्या था, यह साफ़ नहीं मालूम पड़ता। क्या वह इस सवाल को ख़ाली राजनीतिक निगाह से देखता था? सबके लिए एक-सी राष्ट्रीयता ढूँढ़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकालने के इरादे से कहीं वह अलग-अलग मज़हबों को ज़बर्दस्ती एक ही रास्ते में तो नहीं डालना चाहता था ? या क्या उसकी नीयतों और उसकी तलाशों की जड़ में मज़हब था; मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा ख़याल इधर झुकता है कि वह मज़हबी सुधारक की बनिस्बत राजनीतिज्ञ ही ज़्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उसने सचमुच एक नये मज़हब 'दीन इलाही' का ऐलान कर दिया, जिसका इमाम वह खुद था। दूसरी बातों की तरह धार्मिक मामलों में भी उसके दबदबे को कोई चुनौती नहीं दे सकता था और दण्डवत्, क़दम-बोसी, वग़ैरा, नफ़रत पैदा करनेवाली ढेरों चीज़ें होती थीं। यह नया मज़हब चला नहीं। हुआ यह कि इसने मुसलमानों को चिढ़ा दिया।

अकबर सत्तावाद का तो पूरा निचोड़ था। फिर भी यह सोचना दिलचस्प है कि राजनीतिक उदार विचारों का उस पर क्या जवाबी असर हुआ होता। अगर मज़हबी विश्वास की स्वतन्त्रता मानी जाती थी तो जनता को ज़्यादा राजनीतिक आज़ादी क्यों नहीं ? विज्ञान की तरफ़ वह ज़रूर खूब खिंचा होता। बदक़िस्मती से ये विचार, जिन्होंने उस समय यूरोप के कुछ लोगों को परेशान करना शुरू कर दिया था, उस समय के भारत में चालू नहीं हुए थे। छापेखानों का भी कोई उपयोग नज़र नहीं आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा था। यह जानकर तुमको सचमुच ताज्जुब होगा कि अकबर अनपढ़ था, यानी वह पढ़-लिख नहीं सकता था। लेकिन फिर भी वह उच्च शिक्षित था और किताबें पढ़वाकर सुनने का बड़ा भारी शौक़ीन था। उसकी आज्ञा से बहुत-सी संस्कृत पुस्तकों का फ़ारसी में अनुवाद किया गया था।

यह भी मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओं के सती होने की प्रथा को बन्द करने का हुक्म निकाला था और युद्ध-बन्दियों को ग़ुलाम बनाये जाने की भी मनाही कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, क़रीब पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर, १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरा के पास सिकन्दरे में एक खूबसूरत मक़बरे में दफ़न की हुई है।

अकबर के शासनकाल में उत्तर भारत में और ज़्यादातर काशी में एक व्यक्ति हुआ, जिसका नाम संयुक्तप्रान्त[1] के हरेक देहाती की ज़बान पर है। वहाँ वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है, जितना अकबर या दूसरा कोई बादशाह नहीं हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है, जिन्होंने हिन्दी में रामचरित-मानस या रामायण लिखी है।

---

[1] आज का उत्तर प्रदेश।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

। ९० ।

भारत में मुग़ल-साम्राज्य का पतन और अन्त

९ सितम्बर, १९३२

मेरी इच्छा होती है कि अकबर के बारे में तुम्हें कुछ और बतलाऊँ लेकिन इस इच्छा को दबाना पड़ेगा। मगर पुर्तगाली पादरियों के लेखों में से कुछ और बातें यहाँ देने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता। उनकी राय दरबारी मुसाहिबों की राय से बहुत ज्यादा महत्व रखती है और यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जब अकबर ईसाई न बना तो उसकी तरफ़ से उनको बहुत निराशा भी हुई थी। फिर भी वे लिखते हैं, "वह वास्तव में एक महान् बादशाह था; क्योंकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जो अपनी प्रजा में एक-साथ फ़रमाबरदारी, इज्ज़त, प्रेम और भय पैदा कर सके। यह बादशाह सबका प्यारा था, बड़े आदमियों पर सख्त, छोटे आदमियों पर मेहरबान, और सब लोगों के साथ न्याय करनेवाला, चाहे वे ऊँच हों या नीच, पड़ौसी हों या अजनबी, ईसाई हों या मुसलमान या हिन्दू; इसलिए हरेक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष में हैं।" जेज़ुइट लोग आगे कहते हैं—"अभी वह राजकीय मामलों में मशगूल है या अपनी प्रजा के लोगों को मुजरे दे रहा है, तो दूसरे ही क्षण वह ऊँटों के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोड़ता हुआ या लकड़ी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नज़र आता था; और इन सब कामों को वह इतनी होशियारी से करता था मानो खुद अपने ही खास पेशे को कर रहा हो।" हालांकि वह एक शक्तिशाली और निरंकुश राजा था, लेकिन वह हाथ से काम करने को अपनी शान के खिलाफ़ नहीं समझता था, जैसा कि आजकल के कुछ लोग खयाल करते हैं।

आगे चलकर यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोड़ा खाना खाता था और साल में सिर्फ़ तीन या चार महीने ही माँस खाता था...। सोने के लिए वह बड़ी मुश्किल से रात के तीन घण्टे निकालता था...। उसकी याददाश्त ग़ज़ब की थी। उसके हज़ारों साथी थे, लेकिन वह सबके नाम जानता था; अपने घोड़ों के, हिरनों के और कबूतरों तक के नाम भी उसे याद थे!" इस अद्भुत स्मरण-शक्ति के बारे में यक़ीन करना मुश्किल है, और शायद यह बयान कुछ बढ़ा-चढ़ाकर भी लिखा गया हो। लेकिन इसमें कोई शक़ नहीं कि उसका दिमाग़ अद्भुत था। "हालांकि वह पढ़-लिख नहीं सकता था लेकिन अपनी बादशाहत में होनेवाली तमाम बातें उसे मालूम रहती थीं।" और "उसकी ज्ञान हासिल करने की लगन" ऐसी थी कि वह "सब बातें एक साथ सीखने की कोशिश करता था जैसे कोई भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही कौर में निगल जाना चाहता हो।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह पूरा निरंकुश था। और, हालाँकि उसने प्रजा को बहुत हद तक सुरक्षित कर दिया था और किसानों पर से टैक्सों का बोझ भी हलका कर दिया था, लेकिन उसका दिमाग़ शिक्षा और सिखाई के ज़रिये जनता का स्तर ऊँचा उठाने की तरफ़ नहीं गया। वह युग हर जगह निरंकुशशाही का था, मगर दूसरे निरंकुश राजाओं के मुक़ाबले में बादशाह और इन्सान की हैसियत में अकबर सबसे ज़्यादा तेज़ी से चमकता है।

हालाँकि अकबर बाबर की तीसरी पीढ़ी में था, लेकिन भारत में मुग़ल राजवंश की नींव डालनेवाला असल में यही था। चीन में कुबलइखाँ के युआन राजवंश की तरह, अकबर के बाद मुग़ल बादशाहों का राजवंश भारतीय बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मज़बूत बनाने के लिए जो महान् काम किया था, उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजवंश उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज़्यादा राज करता रहा।

अकबर के बाद तीन और क़ाबिल बादशाह हुए, लेकिन उनमें कोई असाधारण बात नहीं थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए बड़ी गन्दी छीना-झपटी होती। महलों की साज़िशें और उत्तराधिकार की लड़ाइयाँ होती थीं। पुत्रों का पिताओं से विद्रोह, भाइयों का भाइयों से विद्रोह, हत्याएँ और रिश्तेदारों की आँखें फोड़ी जाना—मतलब यह कि निरंकुशता और स्वेच्छाचारी शासन के साथ चलनेवाली तमाम घिनौनी बातें होती थीं। शान-शौक़त और तड़क-भड़क तो ऐसी थीं कि उनकी बराबरी कहीं न थी। तुम्हें याद होगा कि यह वह ज़माना था जब फ़्रान्स में चौदहवाँ लुई, जो 'सूर्य-जैसा राजा' कहलाता था, राज करता था और जिसने वर्साई बनवाया था और जिसका दरबार शान-शौक़त-वाला था। लेकिन महान् मुग़लिया शान-शौक़त के सामने लुई की शान-शौक़त फीकी पड़ जाती थी। शायद ये मुग़ल बादशाह उस ज़माने के बादशाहों में सबसे ज़्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और बीमारियाँ फैल जाती थीं और बेशुमार आदमियों का सफ़ाया कर देती थीं। जबकि दूसरी तरफ़ बादशाही दरबार विलास में डूबा रहता था।

अकबर के समय की मज़हबी उदारता उसके पुत्र जहांगीर के राज में भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे मिटती गई और ईसाइयों और हिन्दुओं पर कुछ अत्याचार होने लगे। बाद में, औरंगज़ेब के राज में, मन्दिरों को तोड़कर, और बदनाम जज़िया टैक्स दुबारा जारी करके, हिन्दुओं को जान-बूझकर सताने की कोशिश की गई। साम्राज्य की नींव की जो ईंटें अकबर ने इतनी मेहनत से जमाई थीं, वह इस तरह एक-एक करके खोद डाली गईं और साम्राज्य एकदम लड़खड़ा कर गिर पड़ा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकबर के बाद जहांगीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की परम्परा को जारी रक्खा, लेकिन शायद उसे सरकारी कामों की बनिस्बत कला व चित्रकारी और बाग़ों व फूलों में ज़्यादा दिलचस्पी थी। उसके यहाँ बढ़िया चित्रशाला थी। वह हर साल कश्मीर जाता था और मेरे खयाल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नामों के मशहूर बाग़ इसीने बनवाये थे। जहांगीर की बेग़म—या यों कहो कि उसकी बहुत-सी बेग़मों में एक—सुन्दरी नूरजहां थी, जिसके हाथों में सिंहासन के पीछे राज की असली बागडोर थी। ऐतमादुद्दौला की क़ब्र पर खूबसूरत इमारत जहांगीर के ही राज में बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूँ तो वास्तुकला के इस रत्न को देखने की कोशिश करता हूँ ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आँखों की प्यास बुझा सकूँ।

जहांगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहां गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष, यानी १६२८ से १६५८ ई० तक शासन किया। यह फ़्रान्स के चौदहवें लुई का समकालीन था और इसके राज में जहाँ मुग़लों की तड़क-भड़क सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच गई, वहाँ उसकी गिरावट के बीज भी साफ़ नज़र आने लगे थे। बादशाह के बैठने के लिए अनमोल रत्नों से जड़ा हुआ मशहूर तख़्ते-ताऊस बनाया गया। और फिर आगरे में जमना के किनारे वह सुन्दरता का सपना ताजमहल बना। शायद तुम जानती हो कि यह उसकी प्यारी बेग़म मुमताजमहल का मक़बरा है। शाहजहां ने बहुत-से ऐसे काम किये, जिनसे उसके नाम और उसकी इज़्ज़त पर बट्टा लगता है। वह मज़हब के मामले में उदार नहीं था और जब दक्षिण में और गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा तो उसने अकाल-पीड़ितों की राहत के लिए कुछ भी नहीं किया। उसकी प्रजा की इस कम्बख्ती और ग़रीबी के मुक़ाबले में उसकी दौलत और शान घिनौनी दिखाई पड़ती हैं। फिर भी पत्थर और संगमरमर में उसने दिलक़श सौंदर्य के जो चमत्कार छोड़े हैं, उनके लिए शायद उसकी बहुत-सी बातें माफ़ की जा सकती हैं। इसीके समय में मुग़ल वास्तुकला अपनी चोटी पर पहुँची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की विशाल जामा मस्जिद, और दिल्ली के महलों में दीवाने-आम और दीवाने-खास बनवाये। इन इमारतों में ऊँचे दरजे की सादगी है; इनमें से कुछ तो बड़ी विशाल लेकिन सुघड़ और सुडौल हैं, और उनकी सुन्दरता परियों जैसी है।

लेकिन इस परियों-जैसी सुन्दरता के पीछे ग़रीबी की मारी हुई वह प्रजा थी, जो इन महलों की क़ीमत चुकाती थी और जिसके ज़्यादातर लोगों के पास रहने को मिट्टी के झोंपड़े भी न थे। बे-लगाम जुल्मी शासन का बोलबाला था और सम्राट् या उसके बड़े नायब और सूबेदार अगर किसीसे नाखुश हो जाते तो उसे भयानक सज़ाएँ दी जाती थीं। दरबार की साज़िशों में मैकियावेली के उसूलों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दौर-दौरा था। अकबर की रहमदिली, उदारता और अच्छी शासन-व्यवस्था बीती बातें हो गई थीं। हालतें गड़बड़ी की तरफ़ जा रही थीं।

इसके बाद आख़िरी महान् मुग़ल औरंगज़ेब आया। उसने अपने शासन की शुरुआत अपने पिता को क़ैद में डालकर की। उसने १६५९ से १७०७ ई० तक अड़तालीस वर्ष राज किया। अपने दादा जहांगीर की तरह वह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न अपने पिता शाहजहां की तरह वास्तुकला से। वह कड़ी सादगी से रहनेवाला भगत था और कट्टर मज़हबी था और अपने मज़हब के सिवा दूसरे किसी मज़हब को बर्दाश्त नहीं करता था। दरबार की तड़क-भड़क तो क़ायम रही पर अपने व्यक्तिगत निजी जीवन में औरंगज़ेब सादा-मिज़ाज और संन्यासी जैसा था। उसने इरादा करके हिन्दुओं को सताने की नीति चलाई। इरादा करके ही उसने अकबर की सबको राज़ी रखने की और समन्वय की नीति उलट दी, और जिस नींव पर अभी तक साम्राज्य टिका हुआ था, उसे इस तरह उखाड़ डाला। उसने हिंदुओं पर जज़िया टैक्स फिर लगा दिया; जहांतक हो सका हिन्दुओं से सब ओहदे छीन लिये; जिन राजपूत सरदारों ने अकबर के समय से इस राजवंश की सहायता की थी, उन्हींको नाराज़ करके राजपूतों से लड़ाई मोल ले ली। उसने हज़ारों हिन्दू मन्दिरों को तुड़वा डाला और इस तरह बहुत-सी सुन्दर पुरानी इमारतें धूल में मिला दीं। जहां एक तरफ़ दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुण्डा उसके क़ब्ज़े में आ गये थे और दूर दक्षिण से उसे ख़िराज मिलने लगा था, वहां दूसरी तरफ़ इस साम्राज्य की नींव ढीली होकर दिन-पर-दिन कमज़ोर होती जा रही थी और चारों तरफ़ दुश्मन पैदा हो रहे थे। जज़िया के विरोध में हिन्दुओं की तरफ़ से जो अर्ज़ी उसे पेश की गई थी, उसमें लिखा था कि यह टैक्स "इन्साफ़ का विरोधी है; उसी तरह यह अच्छी नीति के दायरे में भी नहीं आता, क्योंकि यह देश को ग़रीब कर देगा; इसके अलावा यह एक बिलकुल नई चीज़ है और हिन्दुस्तान के क़ानूनों को भंग करनेवाला है।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी, उसके बारे में उसमें लिखा था—"जहांपनाह के राज में बहुत-से लोग साम्राज्य के खिलाफ़ हो गये हैं, जिसका लाज़िमी नतीजा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जायँगे क्योंकि सब जगह बेरोकटोक बरबादी और लूट-खसोट का बाज़ार गर्म हो रहा है। आपकी प्रजा पैरों तले रौंदी जाती है; आपके साम्राज्य का हरेक सूबा ग़रीब होता जा रहा है, आबादी कम हो रही है और कठिनाइयां बढ़ती जा रही हैं।"

आम लोगों में फैली हुई यह तबाही उन भारी परिवर्तनों की भूमिका थी, जो अगले पचास-साठ वर्षों में भारत में होनेवाले थे। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद महान् मुग़ल साम्राज्य का एकदम और पूरी तरह पतन इन्हीं परिवर्तनों में से एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। महान् परिवर्तनों और महान आन्दोलनों के पीछे हमेशा आर्थिक कारण हुआ करते हैं। हम देख चुके हैं कि यूरोप और चीन के बड़े-बड़े साम्राज्यों के पतन से पहले और साथ-साथ, आर्थिक पतन हुआ और बाद में क्रान्ति हुई। यही हाल भारत में हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यों का अन्त हुआ करता है, उसी तरह मुग़ल साम्राज्य का अन्त भी उसीकी अन्दरूनी कमज़ोरियों की वजह से हुआ। वह बिलकुल तहस-नहस हो गया। लेकिन हिन्दुओं में विद्रोह की जो नई चेतना पैदा हो रही थी और जो औरंगज़ेब की नीति की वजह से उफ़ान पर आगई थी, उसने इस अन्त को लाने की प्रक्रिया में बहुत मदद पहुँचाई। लेकिन एक तरह की यह मज़हबी हिन्दू राष्ट्रीयता औरंगज़ेब के राज से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और सम्भव है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरंगज़ेब इतना कट्टर और तास्सुबी हो गया हो। मराठे, सिक्ख, वग़ैरा इस हिन्दू जागृति के भाले की नोक थे और, जैसा कि मैं अगले पत्र में लिखूंगा, मुग़ल साम्राज्य का तख्ता अन्त में इन्होंने ही उलट दिया। लेकिन विरासत में मिली इस जायदाद से वे कुछ लाभ न उठा सके। जबकि ये लोग लूट के माल के लिए आपस में लड़ रहे थे, अंग्रेज़ चुपचाप और चालाकी के साथ घुस आये और उसे हथिया बैठे।

तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जब मुग़ल-सम्राट् फ़ौज के साथ कूच करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था। वह एक बड़ी ज़बर्दस्त चीज़ होती थी, जिसका घेरा तीस मील और आबादी क़रीब पाँच लाख होती थी! इस आबादी में सम्राट् के साथ चलनेवाली फ़ौज तो होती ही थी, लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखों दूसरे लोग और सैकड़ों बाज़ार होते थे। इन्हीं चलते-फिरते डेरों में उर्दू, यानी 'लश्कर' की भाषा, का विकास हुआ।

मुग़ल-काल के बहुत-से छबि-चित्र अब भी मिलते हैं, जिनकी चित्रकला बड़ी बारीक़ और नफ़ीस है। सम्राटों की तसवीरों की तो एक पूरी चित्रशाला ही मिलती है। बाबर से लगाकर औरंगज़ेब तक तमाम बादशाहों के व्यक्तित्व को ये तसवीरें बड़ी खूबी के साथ प्रकट करती हैं।

मुग़ल-सम्राट् दिन में कम-से-कम दो बार झरोखे में से लोगों को दर्शन दिया करते थे और अर्ज़ियाँ लिया करते थे। जब १९११ ई० में अंग्रेज़ सम्राट् जार्ज पंचम दिल्ली में ताजपोशी के दरबार के लिए भारत आये थे तो उनका भी मुजरा इसी तरह करवाया गया था। अंग्रेज़ लोग अपने-आपको मुग़लों का गद्दीनशीन समझते हैं और इसलिए वे तड़क-भड़क और बेहूदा प्रदर्शन में मुग़लों की नकल उतारने की कोशिश करते हैं। मैं तुमको बतला चुका हूँ कि अंग्रेज़ बादशाह को मुग़ल बादशाहों का ख़िताब 'क़ैसरे हिन्द' तक दे दिया गया है। आज भी दुनिया भर में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी शान-शौक़त और नुमायशी ठाट-बाट शायद और कहीं न मिले, जितना भारत में इंग्लैण्ड के वाइसराय के व्यक्तित्व के साथ लगा हुआ है।

मैंने तुम्हें अभी तक यह नहीं बताया है कि पिछले मुग़ल बादशाहों का विदेशियों के साथ कैसा ताल्लुक़ था। अकबर के दरबार में पुर्तगाली पादरियों पर ख़ास कृपा रहती थी और यूरोप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह पुर्तगालियों के ही ज़रिये से था। अकबर इनको यूरोप की सबसे ज़्यादा शक्तिशाली क़ौम समझता था, क्योंकि समुद्रों पर इनका क़ब्ज़ा था। अंग्रेज़ों का उस वक़्त पता भी न था। अकबर की गोवा लेने की बड़ी इच्छा थी और उसने उसपर हमला भी किया मगर सफलता न मिली। मुग़ल लोग समुद्र-यात्रा को पसन्द नहीं करते थे और जहाज़ी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है, क्योंकि उस ज़माने में पूर्व बंगाल में जहाज़ बनाने का काम ज़ोरों से चल रहा था। लेकिन ये जहाज़ ज़्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर हमला कर सकने की यह लाचारी मुग़ल-साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब जहाज़ी शक्तियों का समय आ गया था।

जब अंग्रेज़ लोगों ने मुग़ल दरबार में आने की कोशिश की तो पुर्तगालियों को उनसे डाह हुई और उन्होंने जहांगीर के कान उनके ख़िलाफ़ भरने में कोई कसर न उठा रक्खी। लेकिन इंग्लैण्ड के जेम्स प्रथम का राजदूत सर टामस रो १६१५ ई० में किसी तरह जहांगीर के दरबार में जा पहुँचा। उसने सम्राट् से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर लीं और ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की नींव जमा दी। इसी बीच अंग्रेज़ी बेड़े ने भारतीय समुद्र में पुर्तगाल के बेड़े को हरा दिया। इंग्लैण्ड का सितारा आसमान में ऊँचा चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम में डूब रहा था। डचों और अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे पुर्तगालियों को पूर्वी समुद्रों से बाहर निकाल दिया और तुम्हें याद होगा कि मलक्का का बड़ा बन्दरगाह भी १६४१ ई० में डचों के हाथ आ गया था। १६२९ ई० में हुगली में शाहजहां और पुर्तगालियों के बीच युद्ध हुआ। पुर्तगाली बाक़ायदा ग़ुलामों का व्यापार करते थे और लोगों को ज़बर्दस्ती ईसाई बना रहे थे। पुर्तगाली बड़ी बहादुरी से लड़े, लेकिन मुग़लों ने हुगली पर क़ब्ज़ा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार के इन युद्धों से थक गया। उसने साम्राज्य की होड़ से पीछा छुड़ाया; लेकिन वह गोवा और दूसरी कई जगहों से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका क़ब्ज़ा है।

इसी दौरान में अंग्रेज़ों ने मद्रास और सूरत के पास, भारत के समुद्र-तट के नगरों में, कारख़ाने खोल दिये। मद्रास की नींव भी उन्होंने ही १६३९ ई० में डाली। १६६२ ई० में इंग्लैण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथरीन ऑफ़ ब्रैगेन्ज़ा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनों बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरंगज़ेब के शासनकाल में हुई। पुर्तगालियों के ऊपर विजय के नशे में चूर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यह सोचकर कि मुग़ल-साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा है, १६८५ ई० में लड़ाई के ज़रिये भारत की और ज़्यादा ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की। लेकिन उसे नुक़सान उठाना पड़ा। इंग्लैण्ड से जंगी जहाज़ दौड़े हुए आये और औरंगज़ेब के राज्य में दो जगह, यानी पूर्व में बंगाल पर और पश्चिम में सूरत पर हमले किये गए। लेकिन अभी मुग़लों में उनको बुरी तरह हरा देने की ताक़त थी। अंग्रेज़ों ने इससे नसीहत ली और आगे के लिए वे बहुत सावधान हो गये। औरंगज़ेब की मृत्यु पर भी, जबकि मुग़ल-शक्ति लड़खड़ाती हुई दिखाई दे रही थी, वे बहुत वर्षों तक कोई बड़ा हमला करने से पहले आगा-पीछे सोचते रहे। १६९० ई० में जॉब चार्नोक ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मद्रास, बम्बई और कलकत्ता, इन तीनों शहरों की नींव अंग्रेज़ों के हाथों से डाली गई और शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेज़ों के ही उद्योग से बढ़े।

अब फ़्रान्स ने भी भारत में क़दम रक्खा। एक फ़्रान्सीसी व्यापारी कम्पनी बनी और १६६८ ई० में उसने सूरत में और कुछ दूसरी जगहों में कारखाने खोले। कुछ साल बाद उसने पांडिचेरी शहर खरीद लिया, जो पूर्वी तट पर सबसे बड़ा तिजारती बन्दरगाह बन गया।

१७०७ ई० में क़रीब नब्बे वर्ष की बड़ी उम्र में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई। उसके छोड़े हुए बेशक़ीमती माल को, यानी भारत को, हथियाने के लिए लड़ाई-झगड़े का मैदान तैयार हो गया। एक तो ख़ुद उसी के निकम्मे वंशज और कुछ बड़े-बड़े सूबेदार थे; उधर मराठे और सिक्ख थे; दूसरी तरफ़ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दान्त लगाये हुए थे; और समुद्र-पार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अंग्रेज़ और फ़्रान्सीसी थे। बेचारे भारतवासियों की चिन्ता किसे थी?

: ९१ :

सिक्ख और मराठे

१२ सितम्बर, १९३२

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों में भारत एक अजीब पैवन्दकारी का नमूना बना रहा। सैरबीन की तरह उसके नज़ारे हर घड़ी बदलते रहते थे, पर वे कोई बहुत सुन्दर नहीं थे। ऐसा ज़माना ले-भग्गुओं के या ऐसे लोगों के लिए बड़ा बढ़िया होता है, जो साधनों और उपायों की परवाह नहीं करते और मौक़े का फ़ायदा उठाने में न तो डरते हैं और न भले-बुरे का कुछ विचार करते हैं। इसलिए सारे भारत में इस तरह के मौक़ा-परस्त पैदा हो गये। इन मौक़ा-परस्तों में एक तो ख़ुद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत के ही रहनेवाले थे; दूसरे वे थे, जो उत्तर-पश्चिम की सीमाओं से आ रहे थे और तीसरे वे लोग थे, जो अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों की तरह समुद्र-पार से आये थे। हरेक आदमी या गिरोह अपनी-अपनी चाल चलता था और बाक़ी सबको जहन्नुम में भेजने के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को ख़त्म कर देते थे; लेकिन बाद में ये दोनों आपस में ही लड़ मरते थे। रियासतें हड़पने के लिए, जल्दी से मालदार बनने के लिए, और लूटमार करने के लिए, जी-तोड़ कोशिशें की जा रही थीं। लूट-मार ज्यादातर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के साथ होती थी, लेकिन कभी-कभी व्यापार के झीने पर्दे में भी छिपकर होती थी। और इस सबके पीछे था खिसकता हुआ मुग़ल-साम्राज्य, जो 'चेशायर की बिल्ली'[1] की तरह ऐसा ग़ायब हो रहा था कि उसकी मुस्कराहट भी बाक़ी न रही थी। बेचारे नाम के बादशाह को या तो पेन्शन दे दी जाती थी या वह दूसरों का क़ैदी हो जाता था।

लेकिन ये सब उथल-पुथल और हलचल और तोड़-मरोड़ उस क्रान्ति के बाहरी लक्षण थे, जो सतह के नीचे हो रही थी। पुरानी आर्थिक व्यवस्था टूट रही थी; सामन्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह ख़त्म हो रही थी। ये चीज़ें देश की नई हालतों से मेल नहीं खाती थीं। यही सिलसिला हम यूरोप में देख चुके हैं और व्यापारी वर्ग की तरक्क़ी भी देख चुके हैं, जिसे स्वेच्छाचारी शासकों ने रोक दिया था। सिर्फ़ इंग्लैण्ड में, और कुछ हद तक हालैण्ड में, बादशाहों को दबा दिया गया था। जिस समय औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा, उस समय इंग्लैण्ड में वह थोड़े दिन का गणराज्य चल रहा था, जो चार्ल्स प्रथम की फाँसी के बाद बना था। और औरंगज़ेब के ही शासनकाल में जेम्स द्वितीय के भाग जाने से, और १६६८ ई० में पार्लमेण्ट की विजय से, इंग्लैण्ड की क्रान्ति पूरी हुई। इंग्लैण्ड में जो पार्लमेण्ट-जैसी एक आधी लोक-सत्तावाली परिषद् थी, उससे इस लड़ाई में बहुत मदद मिली। वह एक ऐसी चीज़ थी, जो सामन्त सरदारों के और बाद में बादशाह के ख़िलाफ़ खड़ी की जा सकती थी।

यूरोप के बहुत-से दूसरे देशों में और ही तरह की हालतें थीं। फ़ान्स में भी अभी तक महान् सम्राट् चौदहवाँ लुई था, जो औरंगज़ेब के लम्बे शासन-काल भर में उसका समकालीन रहा और उसके भी आठ वर्ष बाद मरा। वहाँ क़रीब-क़रीब अठारहवीं सदी के अन्त तक स्वेच्छाचारी शासन जारी रहा, जबकि फ़ान्स की इतिहास-प्रसिद्ध राज्य-क्रान्ति के रूप में ज़बर्दस्त विस्फोट हुआ। जर्मनी में, जैसा कि हम देख चुके हैं, सत्रहवीं सदी का ज़माना बड़ा भयानक था। इसी सदी में 'तीस साल का युद्ध' हुआ, जिसने देश के टुकड़े-टुकड़े करके उसका सत्यानाश कर दिया।

---

[1] 'एलिस इन दि वंडरलैंड' नाम की कहानी की पुस्तक में बयान की हुई एक कल्पित बिल्ली, जो सदा मुस्कराती रहती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अठारहवीं सदी में भारत की हालत का मुक़ाबला कुछ-कुछ जर्मनी की उस हालत से किया जा सकता है, जो वहाँ तीस साल के युद्ध के ज़माने में थी। लेकिन यह मुक़ाबला ज़्यादा आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। दोनों देशों में आर्थिक ढाँचा टूट रहा था और पुराने सामन्त-वर्ग के लिए कोई जगह नहीं रही थी। हालाँकि भारत में सामन्तशाही आख़िरी साँसें ले रही थी, लेकिन उसका अन्त बहुत दिनों तक नहीं हुआ। और क़रीब-क़रीब नष्ट होने पर भी उसका ऊपरी रूप बना ही रहा। असल में आज दिन भी भारत में और यूरोप के कुछ हिस्सों में सामन्तशाही के बहुत-से बचे-खुचे निशान बाक़ी हैं।

मुग़ल-साम्राज्य इन्हीं आर्थिक परिवर्तनों के कारण भंग हुआ, लेकिन इस मौक़े से फ़ायदा उठाकर सत्ता छीनने के लिए कोई मध्यमवर्ग मौजूद न था। इंग्लैण्ड की तरह इन वर्गों का प्रतिनिधि-जैसा कोई संगठन या परिषद् भी न थे। हद दरजे के अत्याचारी शासन ने आम लोगों को बहुत-कुछ चापलूस बना दिया था और आज़ादी की जो कुछ भी पुरानी भावनाएँ थीं, वे क़रीब-क़रीब भुलाई जा चुकी थीं। लेकिन, जैसा कि आगे चलकर इसी पत्र में ज़िक्र किया जायगा, कुछ-कुछ सामन्त-वर्ग ने, कुछ-कुछ मध्यमवर्ग ने और कुछ-कुछ किसानों ने सत्ता छीनने की कोशिशें कीं और इनमें से कुछ कोशिशें सफलता के नज़दीक भी पहुँच गईं। ध्यान देने की ख़ास बात यह है कि सामन्तशाही के पतन, और मध्यमवर्ग के उदय के बीच मालूम होता है, अन्तर पड़ गया, क्योंकि मध्यमवर्ग में अभी सत्ता-ग्रहण करने की काफ़ी तैयारी नहीं थी। जब इस तरह का अन्तर पड़ जाता है तो ज़रूर गड़बड़ और उथल-पुथल होती है, जैसा कि जर्मनी में हुआ। यही हाल भारत में भी हुआ। छोटे-छोटे बादशाह और राजा देश पर अपना-अपना क़ब्ज़ा जमाने के लिए लड़ने लगे। लेकिन वे सब एक सड़ी हुई व्यवस्था के रूप थे, इसलिए उनकी नींव मज़बूत न थी। उनको एक नये ही वर्ग के लोगों से लड़ना पड़ा, जो इंग्लैण्ड के मध्यमवर्ग के नुमाइन्दे थे और जो उन्हीं दिनों अपने देश में विजय हासिल कर चुका था। इंग्लैण्ड का यह मध्यमवर्ग सामन्त-वर्ग से ऊँची समाजी व्यवस्था का प्रतिनिधि था। वह उन नई हालतों से मेल खाता था, जो संसार में पैदा हो रही थीं; उसका संगठन ज़्यादा अच्छा और कारगर था; उसके पास ज़्यादा अच्छे हथियार और औज़ार थे, जिनके ज़रिये वह ज़्यादा कारगर तरीकों से लड़ सकता था; और समुद्र पर भी उसका अधिकार था। भारत के सामन्ती राजाओं का इस नई शक्ति के मुक़ाबले में ठहरना असम्भव था और इसके सामने वे एक-एक करके ख़त्म होते गये।

इस पत्र की यह भूमिका काफ़ी लम्बी हो गई। अब हमको ज़रा पीछे चलना चाहिए। औरंगज़ेब के शासन के पिछले दिनों में जनता के जो विद्रोह हुए और हिन्दुओं में जो धार्मिक राष्ट्रीयता जागी, उनका ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्र में भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर चुका हूँ। अब मैं इस बारे में कुछ और बतलाऊँगा। मुग़ल-साम्राज्य के अलग-अलग हिस्सों में कुछ-कुछ धार्मिक स्वरूपवाले जन-आन्दोलन शुरू होते दिखलाई पड़ने लगे थे। कुछ समय तक तो ये आन्दोलन शान्ति से चलते रहे; राजनीति से इनका कोई ताल्लुक़ न था। हिन्दी, मराठी, पंजाबी, वग़ैरा देशी भाषाओं में गीत और भजन बने, जिनका ख़ूब प्रचार हुआ और जिनसे जनता में चेतना पैदा हो गई। लोकप्रिय धर्म-प्रचारकों के पीछे बहुत-से पन्थ बन गये। आर्थिक परिस्थितियों के दबाव ने जल्द ही इन पन्थों का ध्यान राजनीतिक सवालों की तरफ़ खींचा। शासक-वर्ग यानी मुग़ल-साम्राज्य से रगड़े-झगड़े होने लगे। नतीजा यह हुआ कि पन्थ पर दमन हुआ। इस दमन ने शान्ति के रास्ते चलनेवाले पन्थ को सैनिक बिरादरी के रूप में बदल दिया। सिक्खों और दूसरे कई पन्थों का विकास इसी तरह हुआ। मराठों का इतिहास ज़्यादा उलझा हुआ है, लेकिन वहाँ भी यही दिखलाई पड़ता है कि धर्म और राष्ट्रीयता ने मिलकर मुग़लों के ख़िलाफ़ तलवार उठाई। मुग़ल-साम्राज्य का नाश अंग्रेज़ों के हाथों से नहीं हुआ, बल्कि इन मज़हबी राष्ट्रीय आन्दोलनों और ख़ासकर मराठों की वजह से हुआ। इन आन्दोलनों को औरंगज़ेब की मज़हबी वैर की नीति से क़ुदरती तौर पर बल मिला। यह भी सम्भव है कि अपनी हुकूमत के ख़िलाफ़ इस बढ़ती हुई मज़हबी चेतना ने औरंगज़ेब को और भी ज़्यादा कट्टर व तास्सुबी बना दिया हो।

१६६९ ई० में ही मथुरा के जाट किसानों ने बलवा कर दिया। बार-बार उनको दबाया गया, लेकिन वे तीस साल से ऊपर तक, यानी औरंगज़ेब की मृत्यु तक, बार-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नज़दीक है, यानी ये बलवे राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा बलवा सतनामियों ने किया, जो साधारण लोगों का एक हिन्दू पन्थ था। इसलिए यह भी ग़रीब आदमियों का बलवा था और अमीरों, हाक़िमों, वग़ैरा के विद्रोहों से बिलकुल अलग तरह का था। उस समय का एक मुग़ल अमीर-सरदार इनके बारे में नफ़रत से लिखता है कि यह "ख़ून के प्यासे पाजी बाग़ियों का गिरोह था, जिसमें सुनार, बढ़ई, भंगी, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल थे।" उसकी राय में ऐसे 'नीच लोगों' को अपने से ऊँचे लोगों के ख़िलाफ़ बलवा करने में शर्म आनी चाहिए थी!

अब हम सिक्खों की तरफ़ आते हैं और उनके इतिहास का सिलसिला कुछ समय पहले से शुरू करेंगे। तुम्हें याद होगा कि मैंने गुरु नानक का ज़िक्र किया था। इनकी मृत्यु बाबर के भारत में आने के कुछ ही साल बाद हो गई। वह उन लोगों में से थे, जिन्होंने हिन्दू-धर्म और इस्लाम को एक ही मंच पर लाने की कोशिश की। इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए, जो इन्हींकी तरह शान्तिप्रिय थे, और सिर्फ़ धर्म की बातों में ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्वर्ण मन्दिर के लिए ज़मीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म का केन्द्र बन गया है।

इसके बाद पाँचवें गुरु अर्जुनसिंह हुए, जिन्होंने ग्रन्थसाहब का संकलन किया। यह बानियों और भजनों का संग्रह है और सिक्खों का पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। एक राजनीतिक अपराध के लिए जहांगीर ने अर्जुनसिंह को यन्त्रणाएँ[1] देकर मरवा डाला। सिक्खों के इतिहास की घड़ी बस यहीं से बदल गई। गुरु के साथ अन्याय और बेरहमी के इस बर्ताव ने उनमें ग़ुस्सा भर दिया और उन्होंने तलवारें उठा लीं। छठवें गुरु हरगोविन्द के समय में वे एक सैनिक बिरादरी बन गये; और तबसे हुकूमत के साथ उनकी अक्सर मुठभेड़ होने लगीं। गुरु हरगोविन्द खुद दस साल तक जहांगीर की क़ैद में रहे। नवें गुरु तेग़बहादुर औरंगज़ेब के ज़माने में हुए। औरंगज़ेब ने इनको इस्लाम क़बूल करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको क़त्ल करवा डाला। दसवें और आख़िरी गुरु गोविन्दसिंह थे। उन्होंने सिक्खों को एक बलशाली सैनिक सम्प्रदाय बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के बादशाह से लड़ना था। ये औरंगज़ेब की मृत्यु के एक साल बाद मरे। इनके बाद से अबतक कोई गुरु नहीं हुआ। कहते हैं कि गुरु के अधिकार अब सारे सिक्ख-सम्प्रदाय में हैं, जो 'ख़ालसा' कहलाता है।

औरंगज़ेब की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सिक्खों ने बग़ावत कर दी। इसे दबा तो दिया गया, लेकिन सिक्ख लोग अपना बल बढ़ाते रहे और पंजाब में अपनी हैसियत को मज़बूत बनाते रहे। आगे चलकर, इसी सदी के अन्त में, पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत पैदा होनेवाली थी।

ये सब बग़ावतें तो दिक़्क़त में डालनेवाली थी हीं, पर मुग़ल-साम्राज्य को असली ख़तरा दक्षिण-पश्चिम में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति से था। शाहजहां के राज्य में ही शाहजी भोंसले नामक एक मराठा सरदार ने सिर उठाया था। वह पहले तो अहमदनगर की रियासत में और बाद में बीजापुर रियासत में हाक़िम रहा था। लेकिन मराठों का गौरव और मुग़ल-साम्राज्य को थर्रा देनेवाला अगर कोई था तो वह इसका पुत्र शिवाजी था, जिसका जन्म १६२७ ई० में हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू कर दी और पूना के पास पहला क़िला जीत लिया। वह एक वीर सेना-नायक, छापामारों का आदर्श नेता और हौसलेदार था। उसने बहादुर और मज़बूत पहाड़ियों का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया, जो उसपर जान देते थे। इनकी मदद से उसने बहुत से क़िलों पर क़ब्ज़ा

---

[1] यन्त्रणा—शरीर को भयंकर पीड़ा पहुँचाना—जैसे गर्म लोहे से दागना, भाले चुभोना, शिकंजे में कसना वग़ैरा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया और औरंगज़ेब के सिपहसालारों को खूब परेशान किया। १६६५ ई० में उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहाँ अंग्रेज़ों का कारखाना था, और शहर को लूट लिया। बातों में आकर वह आगरे में औरंगज़ेब के दरबार में भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक स्वाधीन राजा का-सा वर्ताव नहीं किया गया तो उसे लगा कि उसे नीचा दिखलाया गया है और उसका अपमान किया गया है। उसे वहाँ क़ैद कर लिया गया, लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगज़ेब ने उसे राजा का खिताब देकर अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई छेड़ दी। दक्षिण के मुग़ल हाक़िम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी हिफ़ाज़त के लिए उसे धन देने लगे। यही वह इतिहास-प्रसिद्ध 'चौथ' यानी लगान का चौथा अंश थी, जिसे मराठे लोग जहाँ जाते वहीं वसूल करते थे। इस तरह मराठों की शक्ति तो बढ़ती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमज़ोर होता गया। १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बड़े ठाट-बाट के साथ राजमुकुट पहना। १६८० ई० में, उसकी मृत्यु तक वह बराबर जीत-पर-जीत हासिल करता रहा।

तुम्हें मराठा प्रदेश के केन्द्र पूना शहर में रहते हुए कुछ समय हो गया है और तुम्हें मालूम हो गया होगा कि वहाँ के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते हैं और उनकी कितनी पूजा करते हैं। जिस धार्मिक राष्ट्रीय जागृति का ज़िक्र मैं अभी कर चुका हूँ, उसका यह नमूना था। आर्थिक संकट और आम जनता की तबाही ने ज़मीन तैयार कर दी थी; और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठी सन्त-कवियों ने अपनी कविताओं और भजनों से इसमें खाद डाल दी। इस तरह मराठों को जागृति और एकता हासिल हुई और ठीक उसी समय एक तेजस्वी सेनानी पैदा हो गया, जो उनका नेता बनकर जीत दिलानेवाला था।

शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुग़लों ने यन्त्रणाएँ देकर मरवा डाला, लेकिन कुछ धक्कों के बाद मराठों की ताक़त फिर बढ़ने लगी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य हवा में ग़ायब होने लगा। सारे सूबेदार राजधानी से अपना ताल्लुक़ तोड़कर स्वाधीन बन बैठे। बंगाल अलग हो गया। यही हाल अवध और रुहेलखण्ड का हुआ। दक्षिण में वज़ीर आसफ़जाह ने एक राज्य क़ायम किया, जो आजकल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम आसफ़जाह का वंशज है। औरंगज़ेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य क़रीब-क़रीब ख़त्म हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा, बिना साम्राज्यवाले नाम के कई बादशाह एक-के-बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर होता गया वैसे-ही-वैसे मराठों की ताक़त बढ़ती गई। उनका प्रधान मंत्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा पर हावी होकर असली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ताधारी बन बैठा। पेशवाओं की गद्दी, जापान के शोगुनों की तरह, पुश्तैनी मानी जाने लगी और राजा पीछे ढकेल दिया गया। दिल्ली का सम्राट् इतना कमज़ोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण में चौथ वसूल करने के मराठों के अधिकार को मंज़ूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी संतोष न हुआ और उसने गुजरात, मालवा और मध्य भारत पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। १७३७ ई० में उसकी फ़ौजें ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुँचीं। ऐसा मालूम होता था कि भारत पर सिर्फ़ मराठों का ही क़ब्ज़ा होनेवाला है। सारे देश में उनकी धाक थी। लेकिन १७३९ ई० में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ से अचानक एक हमला हुआ, जिसने ताक़त की तराज़ू का पलड़ा उलट दिया और उत्तर-भारत का नक़शा ही बदल दिया।

: ९२ :

भारत में अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर अंग्रेज़ों की विजय

१३ सितम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि दिल्ली के मुग़ल-साम्राज्य की हालत बहुत ख़राब थी। असल में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के लिहाज़ से तो उसकी कोई हस्ती ही न थी। लेकिन दिल्ली और उत्तर भारत का इससे भी ज़्यादा पतन होनेवाला था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, भारत में उन दिनों ले-भग्गुओं का बोलबाला था। उत्तर-पश्चिम से एक लुटेरों के राजा ने अचानक आकर धावा बोल दिया और बहुत-सी ख़ून-ख़राबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत हो गया। यह नादिरशाह था, जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहां के बनवाये हुए मशहूर तख़्ते-ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयंकर आफ़त १७३९ ई० में आई और इसने उत्तर भारत को पस्त कर दिया। नादरिशाह ने अपने राज्य की सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढ़ा ली। इस तरह अफ़ग़ानिस्तान भारत से अलग हो गया। महाभारत और गान्धार के ज़माने से लगाकर भारत के सारे इतिहास में अफ़ग़ानिस्तान का भारत से नज़दीकी रिश्ता रहा था। लेकिन वह कटकर अलग जा पड़ा।

सत्रह वर्ष के भीतर ही दिल्ली पर एक और धावामार लुटेरा चढ़कर आया। यह अहमदशाह दुर्रानी था, जो अफ़ग़ानिस्तान में नादिरशाह का उत्तराधिकारी था। लेकिन इन हमलों के होते हुए भी मराठों की शक्ति लगातार बढ़ती ही गई; और १७५८ ई० में पंजाब पर भी इनका क़ब्ज़ा हो गया। उन्होंने इन सब जीते हुए हिस्सों पर कोई संगठित सरकार क़ायम करने की कोशिश नहीं की। वे तो अपनी मशहूर 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वहीं के लोगों पर छोड़ देते थे। इस प्रकार उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत में मिल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की लड़ाइयां

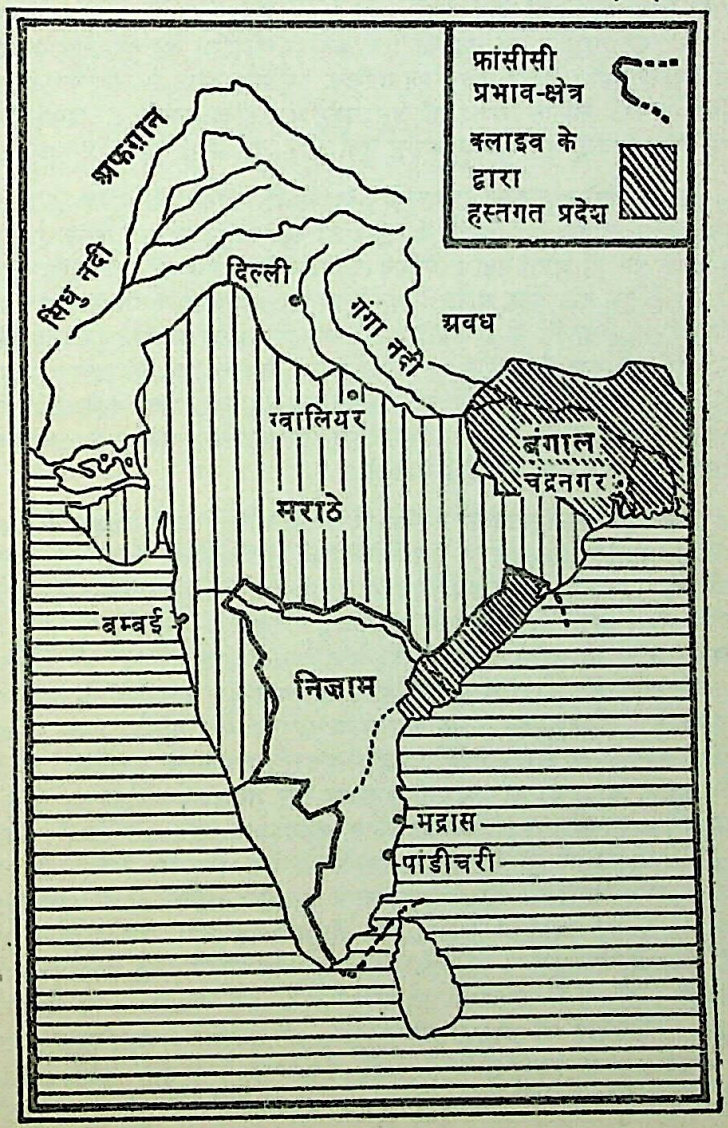

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। लेकिन इसके बाद ही एक बड़ी रुकावट सामने आई। उत्तर-पश्चिम से दुर्रानी फिर चढ़ आया और उसने १७६१ ई० में पानीपत के पुराने जंगी मैदान में औरों की मदद से मराठों की एक बड़ी भारी फ़ौज को बुरी तरह हराया। अब दुर्रानी तमाम उत्तर-भारत का मालिक बन बैठा और उसे रोकनेवाली कोई शक्ति न थी। लेकिन विजय की इस घड़ी में उसे ख़ुद अपने ही आदमियों में झगड़े और विद्रोह का सामना करना पड़ा और वह अपने देश लौट गया।

कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठों की हुकूमत के दिन पूरे हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जो बड़ा फल वे हासिल करना चाहते थे वह उनके हाथ से जाता रहा। लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर सुधार ली और वे एक बार फिर भारत में सबसे ज़बर्दस्त अन्दरूनी ताक़त बन गये। मगर इसी अर्से में, जैसा कि मैं आगे बताऊँगा, इससे भी ज़्यादा ज़बर्दस्त दूसरी शक्तियाँ प्रकट हुईं, जो कुछ पीढ़ियों तक के लिए भारत के भाग्य का निबटारा करनेवाली थीं। इसी समय में कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत समझे जाते थे। इनमें सबसे प्रमुख ग्वालियर का सिन्धिया था; बड़ौदा का गायकवाड़ और इन्दौर का होल्कर भी इन्हींमें से थे।

अब हमें दूसरी घटनाओं पर विचार करना चाहिए, जिनका ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। दक्षिण भारत में इस ज़माने की सबसे बड़ी हक़ीक़त अंग्रेज़ों और फ़्रान्सीसियों की लड़ाई है। अठारहवीं सदी में यूरोप में इंग्लैण्ड और फ़्रान्स की अक़्सर मुठभेड़ें होती रहती थीं और उनके प्रतिनिधि भारत में भी एक दूसरे से लड़ते थे। लेकिन कभी-कभी यूरोप में दोनों देशों में बाक़ायदा सुलह होने पर भी भारत में ये लड़ते रहते थे। दोनों तरफ़ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले हौसलेबाज़ थे, जिनकी हद से ज़्यादा कामना थी धन और शक्ति हासिल करना। इसलिए इनके बीच घोर प्रतियोगिता होना क़ुदरती बात थी। फ़्रान्सीसियों में उस समय सबसे ज़्यादा ज़ोरदार आदमी दूप्ले था और अंग्रेज़ों में क्लाइव। दूप्ले ने दो रियासतों के आपसी झगड़ों में दख़ल देने का फ़ायदेमन्द खेल शुरू किया; पहले तो वह अपने सिखाये हुए सिपाही किराये पर दे देता और बाद में रियासत हड़प जाता। फ़्रान्सीसियों का प्रभाव बढ़ने लगा; लेकिन अंग्रेज़ों ने भी बहुत जल्दी उनके तरीक़ों को अपना लिया और उससे भी आगे बढ़ गये। भूखे गिद्धों की तरह दोनों गड़बड़ी की ताक में रहते थे और उस वक़्त ऐसी गड़बड़ काफ़ी मिल भी जाती थी। दक्षिण में जब कभी उत्तराधिकार के बारे में झगड़ा होता तो शायद अंग्रेज़ एक दावेदार की और फ़्रान्सीसी दूसरे की तरफ़दारी करते दिखाई पड़ते थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगड़े (१७४६–१७६१ ई०) के बाद इंग्लैण्ड ने फ़्रान्स पर विजय पाई। भारत में अंग्रेज़ हौसलेबाज़ों को अपने देश की पूरी हिमायत थी;

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन दूप्ले और उसके साथियों को फ़ान्स से ऐसी कोई सहायता नहीं मिली। यह ताज्जुब की बात नहीं है। भारत में रहनेवाले अंग्रेज़ों की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सेदार दूसरे लोग थे, और वे पार्लमेण्ट और सरकार पर असर डाल सकते थे; लेकिन फ़ान्सीसियों के ऊपर उस वक़्त पन्द्रहवाँ लुई (महान् सम्राट् चौदहवें लुई का पोता और उत्तराधिकारी) था, जो मज़े के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े ने भी इसमें बहुत मदद पहुँचाई। अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी दोनों ही भारतीय सैनिकों को, जो सिपाही कहलाते थे, फ़ौजी तालीम देते थे; और चूँकि इन सिपाहियों के पास देशी फ़ौजों से अच्छे हथियार होते थे, और इनका अनुशासन भी उनसे अच्छा होता था, इसलिए इनकी बड़ी माँग रहती थी।

बस, अंग्रेज़ों ने भारत में फ़ान्सीसियों को हरा दिया और चन्द्रनगर व पांडिचेरी के फ़ान्सीसी शहरों को बिलकुल तहस-नहस कर डाला। यह बर्बादी ऐसी हुई कि दोनों जगह एक भी मकान साबत न बचा। इस समय से फ़ान्सीसियों का भारत की रंगभूमि से हटना जारी हो गया, हालाँकि बाद में उन्हें पांडिचेरी और चन्द्रनगर फिर मिल गये और आज भी उनके क़ब्ज़े में हैं, लेकिन इनका महत्व कुछ नहीं है।[1]

इस ज़माने में अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों का जंगी-मैदान सिर्फ़ भारत ही न था। यूरोप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहों में भी लड़े। कनाडा में भी अंग्रेज़ों की जीत हुई। लेकिन थोड़े दिन बाद ही इंग्लैण्ड अमेरिका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा और फ़ान्स ने इन उपनिवेशों को मदद देकर अंग्रेज़ों से अपना बदला चुकाया। लेकिन इन सब बातों के बारे में हम आगे के किसी पत्र में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

फ़ान्सीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेज़ों के रास्ते में और क्या रुकावटें रह गई थीं? पश्चिम में, मध्य-भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निज़ाम भी था। लेकिन उसकी ज़्यादा बिसात नहीं थी। हाँ, दक्षिण में एक नया और शक्तिशाली दुश्मन हैदरअली था। वह पुराने विजयनगर-साम्राज्य के बचे-खुचे टुकड़ों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बंगाल सिराजुद्दौला नामक एक बिलकुल निकम्मे आदमी के मातहत था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक ख़याल-ही-ख़याल रह गया था। लेकिन काफ़ी मज़ेदार बात यह है कि १७५६ ई० तक, यानी नादिरशाह के हमले के बहुत बाद तक, जिसने केन्द्रीय सरकार की छाया तक मिटा दी थी, अंग्रेज़ लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के

[1] सन् १९५४ में भारत की ये फ़ान्सीसी बस्तियाँ स्वतन्त्र भारत और फ़ान्स के आपसी सुलहनामे के अनुसार भारत के अधिकार में आ गई हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिह्न-रूप नज़राने भेंट करते रहे। तुम्हें याद होगा कि औरंगज़ेब के समय में एक बार बंगाल में अंग्रेज़ों ने सिर उठाने की कोशिश की थी। लेकिन वे बुरी तरह हारे थे और इस हार ने उनका दिमाग़ इतना ठंडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालांकि उत्तर की हालत तो मानो किसी पक्के इरादेवाले आदमी को खुला न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नामक अंग्रेज़, जिसकी उसके देशवासी एक महान् साम्राज्य-निर्माता की तरह तारीफ़ करते हैं, ऐसा ही पक्के इरादेवाला आदमी था। अपनी ज़ात से और अपने कारनामों से वह मिसाल पेश करता है कि साम्राज्य किस तरह खड़े किये जाते हैं। वह बड़ा दिलेर, हौसलेबाज़ और हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाज़ी और धोखेबाज़ी से भी नहीं चूकता था। बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अंग्रेज़ों की बहुत-सी कार्रवाइयों से चिढ़ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढ़कर आया और उसने कलकत्ते पर क़ब्ज़ा कर लिया। 'काल-कोठरी' की कही जानेवाली दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। किस्सा यों बताया जाता है कि नवाब के हाकिमों ने बहुत-से अंग्रेज़ों को रात भर एक छोटी-सी और दम घोंटनेवाली कोठरी में बन्द कर दिया और उनमें बहुत-से आदमी दम घुटने से मर गये। यह हरकत बेशक जंगली और दिल दहलानेवाली है, लेकिन यह सारा क़िस्सा एक ऐसे आदमी के बयान पर निर्भर है जो ज़्यादा भरोसे के लायक़ नहीं माना जाता। इसलिए बहुत-से लोगों का ख़याल है कि यह सारा क़िस्सा ज़्यादातर झूठा है और कम-से-कम बढ़ा-चढ़ाकर बनाया हुआ तो ज़रूर है।

नवाब ने कलकत्ते पर क़ब्ज़ा करके जो कामयाबी हासिल की उसका बदला क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इसके लिए इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वज़ीर मीर जाफ़र को ग़द्दारी करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज़, जिसका क़िस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर अपने ही ढँग से काम किया। जालसाज़ी और धोखे-बाज़ी के ज़रिये रास्ता साफ़ करके क्लाइव ने १७५७ ई० में नवाब को पलासी की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लड़ाइयाँ हुआ करती हैं, उनके मुक़ाबले में यह लड़ाई छोटी थी, और इसे तो क्लाइव ने असल में अपनी साज़िशों से, लड़ाई शुरू होने के पहले ही, क़रीब-क़रीब जीत लिया था। लेकिन पलासी की इस छोटी-सी लड़ाई का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल के भाग्य का फ़ैसला कर दिया। भारत में ब्रिटिश राज्य की शुरुआत अक्सर पलासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाज़ी की इस गन्दी नींव पर भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की इमारत खड़ी हुई। लेकिन सब साम्राज्यों और साम्राज्य-निर्माताओं का क़रीब-क़रीब यही ढँग होता है।

भाग्यचक्र के इस अचानक परिवर्तन ने बंगाल के हौसलेबाज़ और लालची

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज़ों का दिमाग़ आसमान पर चढ़ा दिया। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकनेवाला कोई न रहा। बस, क्लाइव की सरदारी में उन्होंने बंगाल के खज़ाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल ख़ाली कर डाला। क्लाइव ने क़रीब २५ लाख रुपये नक़द अपनी नज़र किये और इतने पर भी सन्तोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की बड़ी क़ीमती जागीर भी हड़प कर ली! बाक़ी के सब अंग्रेज़ों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत के लिए बड़ी शर्मनाक छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों का लालच और अविवेक तो सब मर्यादाओं को पार कर गये। अंग्रेज़ लोग बंगाल के नवाब-विधाता बन गये और अपनी मर्ज़ी के माफ़िक़ नवाबों को बदलने लगे। हरेक परिवर्तन के साथ घूस और भारी-भारी नज़राने चलते थे। शासन की ज़िम्मेदारी उनपर न थी; यह तो बेचारे बदलते हुए नवाब का काम था। उनका काम तो था जल्दी-से-जल्दी मालदार बन जाना।

कुछ वर्ष बाद, १७६४ ई० में, अंग्रेज़ों ने बक्सर में एक और लड़ाई जीती। इसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली के नाम के बादशाह ने भी उनकी मातहती क़बूल करली। उन्होंने उसे पेन्शन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अंग्रेज़ों के प्रभुत्व को चुनौती देनेवाला कोई न रहा। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे, उससे उनको सन्तोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीक़े निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अब वे उन ज़कातों को, जो देशी माल के व्यापारियों को देनी पड़ती थीं, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू हो गये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अंग्रेज़ों की यह पहली चोट थी।

उत्तर भारत में अंग्रेज़ों की हैसियत अब ऐसी हो गई थी कि शक्ति और दौलत तो उनके हाथ में थी, लेकिन ज़िम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी-लुटेरों को यह पता लगाने की ज़रूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार, बेईमानी के व्यापार, और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फ़र्क़ है। ये वे दिन थे जब अंग्रेज़ लोग भारत से मालामाल होकर इंग्लैण्ड लौटते थे और 'नवाब' कहलाते थे। अगर तुमने थैकरे[1] का 'वैनिटी फेयर' पढ़ा है तो उसमें आये हुए ऐसे ही एक घमण्डी आदमी का तुमको ख़याल होगा।

राजनीतिक जोख़िम और गड़बड़ें, वर्षा की कमी, और अंग्रेज़ों की हड़पने की नीति, इन सबका नतीजा यह हुआ कि १७७० ई० में बंगाल और बिहार में एक बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। कहा जाता है कि इन इलाक़ों की एक-तिहाई से ज़्यादा आबादी ख़त्म हो गई। इस दिल दहलानेवाली संख्या का ख़याल तो

[1] विलियम मेकपीस थैकरे—इंग्लैण्ड का मशहूर उपन्यासकार।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करो! कितने लाख आदमी भूख से तड़प-तड़पकर मर गये! इलाके-के-इलाके वीरान हो गये और वहाँ जंगल पैदा हो गये, जिन्होंने उपजाऊ खेतों और गाँवों को ढक दिया। भूख से मरनेवालों की मदद के लिए किसीने कुछ नहीं किया। नवाब के पास न तो ताक़त थी, न सत्ता और न इरादा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ताक़त और सत्ता तो थी, लेकिन वे कोई ज़िम्मेदारी या इरादा महसूस नहीं करते थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना था और उन्होंने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी क़ाबलियत और खूबी के साथ किया कि तुम्हें ताज्जुब होगा कि भयंकर अकाल और एक-तिहाई आबादी के नाश के बावजूद भी उन्होंने बचे हुए लोगों से मालगुज़ारी की पूरी रक़म वसूल कर ली! असल में उन्होंने तो मालगुज़ारी से भी ज्यादा वसूली करली और सरकारी रिपोर्ट में कहा गया कि यह काम उन्होंने 'ज़ोर-ज़बर्दस्ती के साथ' किया। भयानक आफ़त से बचे हुए भूख से अधमरे और कम्बख्त लोगों से जो ज़बर्दस्ती और जुल्म के साथ वसूली की गई, उसके वहशीपन को पूरी तरह खयाल में लाना भी मुश्किल है।

बंगाल में फ़ान्सीसियों पर विजय के बावजूद दक्षिण में अंग्रेज़ों को बड़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ा। आखिरी विजय मिलने से पहले उनको कई बार हारना और नीचा देखना पड़ा। मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था। वह एक कुशल और खूंखवार सेनानायक था और उसने अंग्रेज़ी फ़ौजों को बार-बार हराया। १७६९ ई० में उसने ठेठ मद्रास के क़िले के नीचे अपने माफ़िक़ सुलह की शर्तें लिखवा लीं। दस साल बाद उसे फिर बहुत हद तक सफलता मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों की राह का कांटा बन गया। टीपू को पूरी तौर पर हराने में मैसूर के दो युद्ध और हुए और कई साल लग गये। फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पुरखा अंग्रेज़ों की छत्रछाया में राजा की गद्दी पर बिठलाया गया।

१७८२ ई० में दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेज़ों को हराया। उत्तर में ग्वालियर के सिन्धिया का दबदबा था और दिल्ली का बेचारा अभागा सम्राट् उसकी मुट्ठी में था।

इसी अर्से में इंग्लैण्ड से वॉरन हेस्टिंग्ज़ भेजा गया। वह यहाँ का पहला गवर्नर जनरल हुआ। ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारत के मामलों में दिलचस्पी लेने लगी। हेस्टिंग्ज़ भारत के अंग्रेज़ शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है, लेकिन उसके समय में भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत भ्रष्ट और बुराइयों से भरा हुआ मशहूर था। हेस्टिंग्ज़ की बहुत-सा रुपया ऐंठने की कई मिसालें मशहूर हो चुकी हैं। जब हेस्टिंग्ज़ इंग्लैण्ड लौटा तो भारत के प्रशासन के बारे में पार्लमेंट के सामने उसपर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इल्ज़ाम लगाया गया, लेकिन बहुत दिन मुक़दमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया। इससे पहले पार्लमेंट ने क्लाइव की भी निन्दा की थी और इसपर उसने तो सचमुच आत्महत्या ही कर ली। इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इनपर मुक़दमे चलाकर इंग्लैण्ड ने अपने मन को समझा लिया, लेकिन दिल-ही-दिल में वह इनकी क़द्र करता था और उनकी नीति से फ़ायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था। क्लाइव और हेस्टिंग्ज़ की भले ही निन्दा की गई हो, लेकिन ये लोग साम्राज्य-निर्माताओं के नमूने हैं, और जबतक ग़ुलाम क़ौमों पर ज़बर्दस्ती साम्राज्य लादे जायँगे और उनको निचोड़ा जायगा, तबतक ऐसे लोग आगे आवेंगे और क़द्र हासिल करेंगे। शोषण के तरीक़े अलग-अलग युगों में भले ही बदलते रहें, लेकिन भावना वही रहती है। ब्रिटिश पार्लमेंट ने क्लाइव की निन्दा भले ही की हो, लेकिन इन लोगों ने लंदन के व्हाइट हाल[1] में इंडिया ऑफिस[2] के सामने ही, उसकी एक मूर्ति खड़ी कर रक्खी है; इंडिया ऑफिस के भीतर उसकी आत्मा आज तक निवास करती हैं और भारत में अंग्रेज़ों की नीति को ढालती है।

हेस्टिंग्ज़ ने अंग्रेज़ों के अँगूठे के नीचे भारतीय राजाओं को कठपुतलियों की तरह रखने की नीति शुरू की। ऊपरी तड़क-भड़क व खाली दिमाग़वाले जो ढेरों महाराजा और नवाब भारत के रंगमंच पर अकड़ते फिर रहे हैं और अपने-आपको नफ़रत की चीज़ बना रहे हैं, उसके लिए हमें हेस्टिंग्ज़ की कुछ दाद देनी चाहिए।

भारत में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा वैसे-ही-वैसे मराठों, अफ़ग़ानों सिक्खों, बरमियों, वग़ैरा से बहुत-से-युद्ध हुए। लेकिन इन युद्धों के बारे में निराली बात यह थी कि हालांकि ये इंग्लैण्ड के फ़ायदे के लिए लड़े जाते थे, लेकिन इनका खर्चा भारत के सिर पड़ता था। इंग्लैण्ड या इंग्लैण्ड के निवासियों पर कोई बोझ नहीं पड़ता था। वे तो मज़े से फ़ायदा उठाते रहते थे।

याद रहे कि भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी, जो एक व्यापारी कम्पनी थी, राज कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का क़ब्ज़ा बढ़ता जा रहा था, लेकिन भारत का भाग्य ज़्यादातर व्यापारी मौक़ा-परस्तों की एक मंडली के हाथों में था। शासन ज़्यादातर व्यापार था और व्यापार ज़्यादातर लूट था। इनके बीच में भेद की रेखा बड़ी बारीक थी। कम्पनी अपने हिस्सेदारों को हर साल १०० फ़ी सदी, १५० फ़ी सदी, और २०० फ़ी सदी से ऊपर ज़बर्दस्त मुनाफ़े बाँटती थी। इसके अलावा भारत में उसके एजेंट अपने लिए अच्छी रक़में बना लेते थे, जैसा कि हम क्लाइव के मामले

---

[1] व्हाइट-हाल (White Hall) लन्दन का वह भाग है, जिसमें सरकारी दफ़्तर हैं।

[2] इंडिया-ऑफिस—लंदन में भारत-सचिव का दफ़्तर।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में देख चुके हैं। कम्पनी के कर्मचारी व्यापार के ठेके भी ले लेते थे और इस तरह बहुत जल्द बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। भारत में कम्पनी की हुकूमत इस तरह की थी।

। ९३ ।

चीन का एक महान् मंचू-शासक

१५ सितम्बर, १९३२

मैं बिलकुल घबरा गया हूं और मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूं। बड़ी भयानक खबर यह आई है कि बापू ने अनशन करके जान दे देने का इरादा कर लिया है। मेरी छोटी-सी दुनिया, जिसमें उन्होंने इतनी बड़ी जगह घेर रक्खी है, थरथरा रही है और लड़खड़ा रही है, और मुझे चारों तरफ़ अंधेरा और सुनसान नज़र आ रहा है। एक साल से ज्यादा हुआ तब मैंने उनको उस जहाज़ के डेक पर खड़े हुए देखा था, जो उन्हें भारत से दूर पश्चिम को ले जा रहा था—उसके बाद नहीं देखा, और उनकी वह तसवीर रह-रहकर मेरी आँखों के आगे आ जाती है। क्या उन्हें अब मैं दुबारा नहीं देखूंगा? जब मुझे शंका होगी और नेक सलाह की ज़रूरत होगी या जब मैं मुसीबत और रंज में होऊंगा और मुझे प्यार-भरी तसल्ली की ज़रूरत होगी तब मैं किसके पास जाऊंगा? जब हमारा प्यारा सरदार, जिसने हमको प्रेरणा दी है और जो हमारा रहनुमा रहा है, चला जायगा तो हम सब क्या करेंगे? हाय! भारत एक बदक़िस्मत देश है, जो अपने महान् पुरुषों को इस तरह मरने देता है; और भारत के लोग ग़ुलाम हैं और उनके दिमाग़ भी ग़ुलामी के-से हैं, जो खुद आज़ादी को तो भूल बैठे हैं और ज़रा-ज़रा-सी न-कुछ बातों पर झगड़े-टंटे करते रहते हैं।

मेरी तबीयत लिखने को बिलकुल नहीं कर रही है और मैंने तो पत्रों के इस सिलसिले को खत्म तक कर देने का विचार किया है। लेकिन यह एक बेवकूफ़ी की बात होगी। इस कोठरी में पड़ा-पड़ा मैं क्या कर सकता हूं, सिवाय इसके कि पढ़ूं, लिखूं और विचार करूं? और जब मैं उकता जाता हूं और परेशान हो जाता हूं तो तुम्हारा खयाल करने और तुमको पत्र लिखने से ज्यादा तसल्ली मुझे और किस बात में मिल सकती है? रंज और आँसू इस दुनिया में कोई अच्छे साथी नहीं हैं। बुद्ध ने कहा है कि "सागर में जितना पानी है, उससे भी ज्यादा आंसू वह चुके हैं", और कमबख्त दुनिया जबतक ठीक-ठिकाने पर आवेगी तबतक न मालूम कितने आँसू और बहाये जायंगे। हमारा कर्त्तव्य अभी तक हमारे सामने पड़ा है। एक बड़ा काम हमको अब भी बुला रहा है, और जबतक वह काम पूरा न हो जाय तबतक हमको या हमारे पीछे आनेवालों को चैन नहीं मिल सकता। इसलिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने अपने मामूली ढर्रे को जारी रखने का इरादा कर लिया है और मैं पहले की तरह ही तुमको पत्र लिखता रहूँगा।

मेरे आखिरी कुछ पत्र भारत के बारे में थे और जो बयान मैंने लिखा है उसका पिछला हिस्सा कुछ नसीहत देनेवाला नहीं है। भारत चारों खाने चित्त पड़ा था और हरेक लुटेरे और ले-भग्गू का शिकार हो रहा था। पूर्व में उसके महान् भाई चीन की हालत इससे बहुत अच्छी थी और अब हमें चीन की तरफ़ ही चलना चाहिए।

तुम्हें याद होगा कि मैंने तुमको मिङ-काल के ख़ुशहाल दिनों का हाल लिखा था और यह बतलाया था कि किस तरह उसमें ख़राबियाँ और फूट घुस गईं और चीन के उत्तरी पड़ौसी मंचुओं ने हमला करके उसे जीत लिया। १६५० ई० से आगे के वर्षों में सारे चीन में मंचू लोगों के क़दम मज़बूती के साथ जम गये। इस आधे-विदेशी राजवंश के मातहत चीन मज़बूत हो गया और दूसरों पर हमले तक करने लगा। मंचू लोग एक नई स्फूर्ति लेकर आये, और जहाँ एक ओर वे चीन के घरू मामलों में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहाँ वे अपनी फ़ालतू शक्ति को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ़ अपना साम्राज्य बढ़ाने में खर्च करते थे।

नया राजवंश शुरू-शुरू में अक्सर कुछ समर्थ शासक पैदा करता है और बाद में धीरे-धीरे नालायक़ों में उसका अन्त हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ असाधारण योग्यतावाले और लायक़ शासक और राजनीतिक पैदा हुए। कांङ-ही दूसरा सम्राट् हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ़ आठ वर्ष की थी। इक १ठ वर्षों तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा, जो अपने ज़माने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बड़ा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसने जो जगह हासिल की है, वह न तो इस वजह से है, और न उसकी सिपाहियाना बहादुरी की वजह से। उसका नाम इसलिए अमर हुआ है कि वह एक राजनीतिज्ञ था और साहित्य में खास रुचि लेता था। वह १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट् रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक वह फ़्रान्स के महान् सम्राट चौदहवें लुई का समकालीन रहा। इन दोनों ने बहुत ही लम्बे अर्से तक राज किया, और रेकार्ड क़ायम करने की इस दौड़ में बहत्तर वर्ष राज्य करके लुई ने बाज़ी मार ली। इन दोनों की तुलना एक दिलचस्प चीज़ है। लेकिन यह तुलना सब तरह से लुई को ही नीचे गिरानेवाली है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी क़र्जों का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिलकुल कमज़ोर बना दिया। मज़हबी मामलों में भी वह उदार नहीं था। कांङ-ही कन्फ़्यूशियस का पक्का अनुयायी था, लेकिन वह दूसरे मज़हबों की तरफ़ उदार था। उसके राज में, और असल में पहले चार मंचू सम्राटों के राज में, मिङ-संस्कृति से कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई। उसका ऊंचा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें तरक्क़ी भी हुई। उद्योग-धन्धे, कला-कौशल, साहित्य और शिक्षा उसी तरह फूलते-फलते रहे जैसे कि मिंङों के ज़माने में। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनों का बनना जारी रहा। रंगीन छपाई का आविष्कार हुआ और ताम्बे पर नक्क़ाशी का काम जेजुइट लोगों से सीखा गया।

मंचू शासकों की नीतिकुशलता और सफलता का भेद इस बात में था कि वे चीन की संस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। चीन के विचारों और संस्कृति को अपनाकर भी उन्होंने कम सभ्य मंचुओं की शक्ति और क्रियाशीलता को खोया नहीं। इस तरह से कांङ-ही एक असाधारण और अजीब खिचड़ी था, यानी दर्शन और साहित्य को लगन के साथ अध्ययन करनेवाला, संस्कृति की हलचलों में डूबा हुआ और साथ ही कुशल सेनानायक, जिसे मुल्क जीतने का ज़रा ज़्यादा शौक़ था। वह साहित्य और कला-कौशल का कोई नया शौक़ीन या दिखाऊ प्रेमी न था। उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाज़ा तुम उसके साहित्य से ताल्लुक़ रखनेवाले कामों में नीचे लिखी तीन रचनाओं से लगा सकती हो, जो उसकी सलाह से और ज़्यादातर ख़ुद उसी की देखरेख में तैयार की गई थीं।

तुम्हें याद होगा कि चीनी भाषा में चिह्न हैं; शब्द नहीं। कांङ-ही ने चीनी भाषा का एक कोश (डिक्शनरी) तैयार करवाया। यह एक ज़बर्दस्त ग्रंथ था जिसमें चालीस हज़ार से ज़्यादा चिह्न थे और उनका इस्तेमाल बतलानेवाले कितने ही फ़िक़रे थे। आज तक भी उसकी जोड़ का कोई ग्रंथ नहीं है।

कांङ-ही के उत्साह ने हमें जो एक और रचना दी, वह एक बड़ा भारी सचित्र विश्वकोश है, जो कई सौ जिल्दोंवाला एक अद्भुत ग्रंथ है। यह एक पूरा पुस्तकालय था; इसमें हरेक बात को लिया गया था, हरेक विषय पर विचार किया गया था। कांङ-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ ताम्बे के ठप्पों से छापा गया।

महत्व की जिस तीसरी रचना का मैं यहाँ ज़िक्र करूँगा, वह थी सारे चीन के साहित्य का निचोड़, यानी ऐसा कोश, जिसमें शब्दों को और पुस्तकों के अंशों को जमा किया गया और उनका मुक़ाबला किया गया था। यह भी एक असाधारण काम था, क्योंकि इसके लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन ज़रूरी था। कवियों, इतिहास-लेखकों और निबन्ध-लेखकों की रचनाओं की पूरी-पूरी इबारतें इसमें दी गई थीं।

कांङ-ही ने साहित्य के मैदान में और भी कितने ही काम किये। लेकिन किसी पर भी छाप डालने के लिए ये तीन ही काफ़ी हैं। इनमें से किसी की भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रंथ मेरी निगाह में नहीं आता, सिवाय उस बड़ी 'ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' के, जिसे बनाने में कितने ही विद्वानों ने पचास वर्ष से ज़्यादा मेहनत की और जो अभी कुछ ही वर्ष हुए पूरी हुई है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांङ-ही ईसाई मज़हब और ईसाई मिशनरियों की तरफ़ काफ़ी झुका हुआ था। वह विदेशों के साथ व्यापार को बढ़ावा देता था और उसने चीन के सारे बन्दरगाह इसके लिए खोल दिए थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि यूरोप के लोग बदमाशी करते हैं और उन पर पाबन्दी लगाने की ज़रूरत है। उसे यह शक हो गया, जिसके लिए काफ़ी सबूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारों के साम्राज्यवादियों के साथ साज़िशें कर रहे हैं। इससे उसे ईसाइयत की तरफ़ अपना उदार रवैया छोड़ देना पड़ा। बाद में कैन्टन के चीनी फ़ौजी अफ़सर से जो रिपोर्ट मिली, उससे उसके सन्देह मज़बूत हो गये। इस रिपोर्ट में बतलाया गया था कि फ़िलिपाइन और जापान में, यूरोप की सरकारों और उनके सौदागरों और मिशनरियों के बीच में कितना नज़दीक़ी ताल्लुक़ था। इसलिए इस अफ़सर ने यह सिफ़ारिश की थी कि बाहरी हमलों और विदेशियों की साज़िशों से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाइयत के प्रचार को बन्द किया जाय।

यह रिपोर्ट १७१७ ई० में पेश की गई थी। पूर्वी देशों में विदेशियों की साज़िशों पर और उनकी उन नीयतों पर यह काफ़ी रोशनी डालती है, जिनकी वजह से इन देशों को विदेशी व्यापार और ईसाइयत के प्रचार पर पाबन्दी लगानी पड़ी। तुम्हें शायद यह याद होगा कि जापान में भी ऐसी ही घटना हुई थी, जिसकी वजह से इस देश को दूसरों के लिए बन्द कर दिया गया था। अक्सर यह कहा जाता है कि चीनी व दूसरे लोग पिछड़े हुए और जाहिल हैं और विदेशियों से नफ़रत करते हैं और उनकी तिजारत के रास्ते में दिक्क़तें पैदा करते हैं। लेकिन सच तो यह है कि हमने इतिहास का जो सिंहावलोकन किया है, उससे यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि बहुत पुराने ज़माने से भारत, चीन व दूसरे देशों के बीच खूब आवा-जाई होती थी। विदेशियों या विदेशी व्यापार से नफ़रत करने का तो कोई सवाल ही न था। सच तो यह है कि बहुत वर्षों तक तो विदेशी मंडियों पर भारत का ही क़ब्जा रहा। जब विदेशी व्यापारियों के रिसाले खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी यूरोप की शक्तियों के साम्राज्य को बढ़ाने के काम में लाये जाने लगे, तभी जाकर पूर्व में उनको सन्देह की नज़र से देखा जाने लगा।

कैन्टन के अफ़सर की रिपोर्ट को चीन की बड़ी राज्य परिषद् ने विचार करके मंजूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट् कांङ-ही ने उसके मुताबिक़ कार्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियों के प्रचार पर सख्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी कर दिये।

अब मैं थोड़ी देर के लिए ख़ास चीन को छोड़कर तुम्हें एशिया के उत्तर की ओर, यानी साइबेरिया, ले जाना चाहता हूं और यह बतलाना चाहता हूं कि यहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौड़ा मैदान सुदूर-पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। मैं कह चुका हूँ कि चीन का मंचू साम्राज्य बड़ा सरज़ोर था। इसमें मंचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मंगोलिया और उसके परे तक भी फैला हुआ था। सुनहरे क़बीले के मंगोलों को बाहर निकालकर रूस भी एक मज़बूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानों की तरफ़ बढ़ रहा था। ये दोनों साम्राज्य अब साइबेरिया में आकर मिलते हैं।

एशिया में मंगोलों का तेजी के साथ कमज़ोर होकर गिर जाना इतिहास की एक अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और यूरोप में बजता था और जिन्होंने चंगेज़खां और उसके वंशजों के मातहत उस वक़्त की दुनिया का ज्यादातर हिस्सा जीत लिया था, बिलकुल भुला दिये गए। तैमूर के ज़माने में कुछ दिनों तक उन्होंने फिर सिर उठाया था, लेकिन उसका साम्राज्य उसीके साथ खत्म हो गया। उसके बाद उसके वंश के कुछ लोग, जो तैमूरिया कहलाते थे, मध्य एशिया में हुकूमत करते रहे और हमको मालूम है कि उनके दरबारों में चित्रकला की एक मशहूर क़लम का विकास हुआ। भारत में आनेवाला बाबर तैमूरिया था। लेकिन इन तैमूरिया शासकों के बजाय रूस से लगाकर अपनी जन्मभूमि मंगोलिया तक सारे एशिया में मंगोल जाति गिरकर अपना सारा महत्व खो बैठी। उसने ऐसा क्यों किया, यह कोई नहीं बतला सकता। कुछ लोगों की राय है कि आबहवा का इसमें कुछ हाथ है, दूसरे लोगों की दूसरी राय है। जो कुछ भी हो, आज तो इन पुराने विजेताओं और हमलावरों पर खुद ही सब तरफ़ से हमले हो रहे हैं।

मंगोल साम्राज्य के तहस-नहस हो जाने के बाद क़रीब-क़रीब दो सौ वर्षों तक एशिया में होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवीं सदी के पिछले हिस्से में रूसियों ने ज़मीन के रास्ते चीन को राजदूत भेजे। उन्होंने मिङ्-सम्राटों से राजनयिक सम्बन्ध क़ायम करने की कोशिश की, लेकिन कामयाब नहीं हुए। थोड़े दिन बाद ही यरमक नामक एक रूसी डाकू ने क़ज्ज़ाक़ों के एक दस्ते का नायक बनकर यूराल पहाड़ों को लाँघा और सिबिर के छोटे-से राज्य को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ़ लगातार आगे ही बढ़ते गये, यहाँ तक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशान्त महासागर तक पहुँच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हुई। दोनों में लड़ाई हुई, जिसमें रूसियों की हार हुई। १६८९ ई० में दोनों देशों में नरखिन्स्क की सन्धि हुई। सरहदें तय कर दी गईं और व्यापार के बारे में समझौता किया गया। यूरोप के एक देश के साथ चीनियों की यह पहली सन्धि थी। इस सन्धि से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूस का आगे बढ़ना तो रुक गया, लेकिन कारखानों के व्यापार में बड़ी भारी तरक्क़ी हुई। उस ज़माने में महान् पीटर रूस का ज़ार था और वह चीन से नज़दीक़ी ताल्लुक़ क़ायम करना बहुत चाहता था। उसने कांङ-ही के पास दो बार राजदूत भेजे और बाद में चीन के दरबार में एक स्थायी राजदूत मुक़र्रर कर दिया।

चीन में तो बहुत पुराने ज़माने से ही विदेशी राजदूत आते रहते थे। शायद मैं किसी पत्र में ज़िक्र कर चुका हूँ कि रोमन सम्राट् मार्क ऑरेलो एन्तोनिन ने ईसा के बाद दूसरी सदी में एक राजदूत-मंडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब १६५६ ई० में हालैण्ड और रूस के राजदूत-मंडल चीन के दरबार में पहुंचे तो वहाँ उन्होंने महान् मुग़ल के राजदूत देखे। ये ज़रूर शाहजहाँ के भेजे हुए होंगे।

: ९४ :

चीनी सम्राट् का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र

१६ सितम्बर, १९३२

मालूम होता है कि मंचू सम्राट् ग़ैर-मामूली तौर पर लम्बी उम्रवाले होते थे। कांङ-ही का पोता चियन-लंङ चौथा सम्राट् हुआ। इसने भी १७३६ से १७९६ ई० तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अर्से तक राज किया। दूसरी बातों में भी यह अपने दादा के ही समान था। इसकी भी ख़ास दिलचस्पी दो बातों में थी, साहित्य के काम और साम्राज्य का विस्तार। इसने रक्षा करने लायक साहित्य के सब ग्रंथों की बड़ी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बड़ी तफ़सील के साथ इनका सूचीपत्र बनाया गया। इसके लिए सूचीपत्र शब्द मौजूं नहीं है, क्योंकि हरेक ग्रंथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं, वे सब लिखी गईं और साथ ही उनपर आलोचना की टिप्पणियाँ भी जोड़ दी गईं। शाही पुस्तकालय का यह बड़ा तफ़सीली सूचीपत्र चार हिस्सों में था—प्राचीन ग्रन्थ यानी कन्फ़्यूशियन मत के ग्रंथ, इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड़ का ग्रंथ दुनिया में और कहीं नहीं है।

इसी ज़माने में चीनी उपन्यासों, छोटी कहानियों और नाटकों का विकास हुआ और ये बड़े ऊँचे दर्जे तक जा पहुंचे। यह बात ध्यान देने लायक़ है कि उन दिनों इंग्लैण्ड में भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनों और चीनी कला की दूसरी नफ़ीस चीज़ों की यूरोप में माँग थी और इसकी तिजारत का ताँता बन्ध रहा था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह प्रथम मंचू सम्राट् के ज़माने में शुरू हुआ। इंग्लैण्ड में चाय शायद चार्ल्स द्वितीय के ज़माने में पहुंची। अंग्रेज़ी के मशहूर डायरी-लेखक सेम्युएल पेपीज़ की डायरी में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

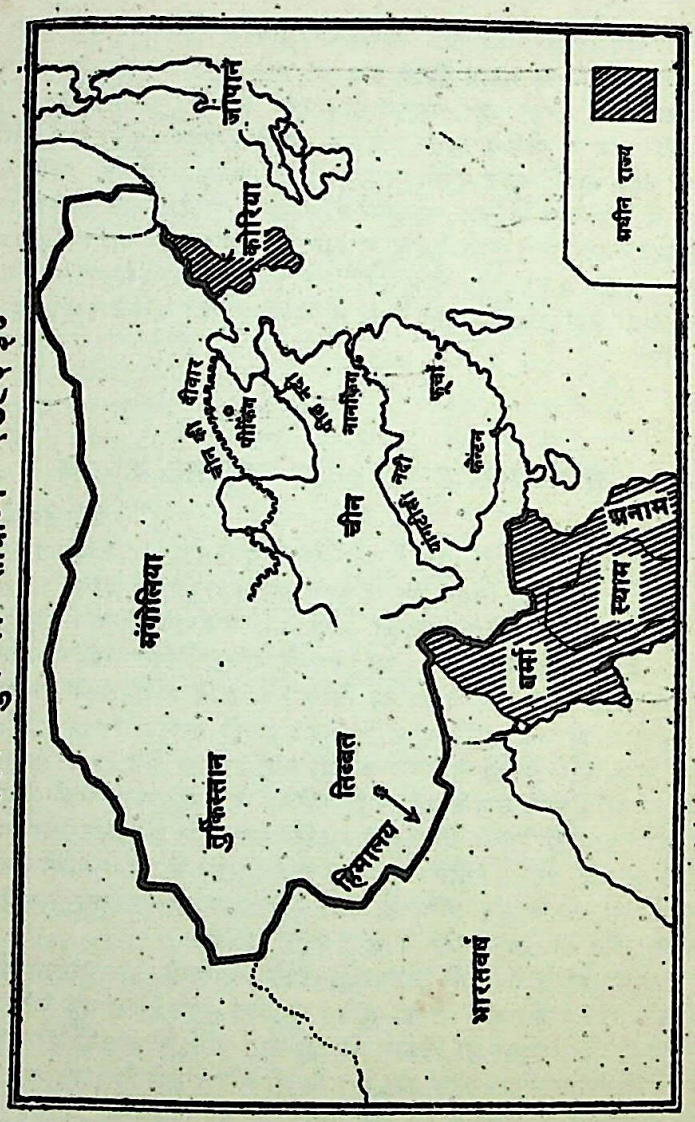

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६६० ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे में एक इन्दिराज है। चाय के व्यापार में बड़ी ज़बर्दस्त तरक्क़ी हुई और दो सौ वर्ष बाद, १८६० ई० में, अकेले फ़ूचू नामक चीनी बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड़ पौंड चाय बाहर भेजी गई। बाद में दूसरी जगहों में भी चाय की खेती होने लगी, और जैसा कि तुमको मालूम है, आजकल भारत और लंका में चाय बहुतायत से पैदा होती है।

चियन-लुंङ ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर क़ब्ज़ा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, १७९० ई०, में, नेपाल के गुरखों ने तिब्बत पर चढ़ाई की। इस पर चियन-लुंङ ने न केवल गुरखों को तिब्बत से ही मार भगाया बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी साम्राज्य की तावेदार रियासत बनने को मजबूर कर दिया। नेपाल पर यह विजय एक मार्के की सफलता है। चीन की फ़ौज का तिब्बत और फिर हिमालय को लाँघना, और गुरखों जैसी लड़ाका क़ौम को, ख़ास उन्हींके घर में हरा देना अचम्भे की बात है। सिर्फ़ बाइस वर्ष बाद, १८१४ ई० में ऐसी घटना हुई कि भारत के अंग्रेज़ों का नेपाल से झगड़ा हो गया। उन्होंने नेपाल को एक फ़ौज भेजी, लेकिन उसे बड़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ा, हालांकि उसे हिमालय नहीं लाँघना पड़ा था।

चियन-लुंङ के शासन के आखिरी वर्ष में यानी १७९६ ई० में जो साम्राज्य सीधा उसके क़ब्ज़े में था, उसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली तावेदार रियासतें थीं कोरिया, अनाम, स्याम और बरमा। लेकिन देश-विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बड़े खर्चीले खेल हैं। इसमें बड़ा भारी खर्चा होता है और टैक्सों का भार बढ़ता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा ग़रीबों पर ही पड़ता है। उस वक़्त आर्थिक परिवर्तन भी हो रहे थे, जिससे असन्तोष की आग और भी बढ़ी। देशभर में राज्य के खिलाफ़ गुप्त समितियाँ क़ायम हो गईं। इटली की तरह चीन भी गुप्त समितियों के लिए काफ़ी मशहूर रहा है। इनमें से कुछ के नाम भी मज़ेदार थे, जैसे श्वेत-कमल समिति; दैवी-न्याय समिति; श्वेत-पंख समिति; स्वर्ग और पृथ्वी समिति।

इस दौरान में सब तरह की पाबन्दियों के होते हुए भी विदेशी व्यापार बढ़ रहा था। पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैन्टन तक पैर फैला रक्खे थे, इसलिए पाबन्दियाँ सबसे ज्यादा इसी को अखरती थीं। जैसा कि हम आगे के पत्रों में देखेंगे, यह ज़माना वह था, जबकि औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारी जानेवाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैण्ड इसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगुआ बन रहा था। भाप का इंजन ईजाद हो चुका था और नये तरीक़ों और मशीनों के इस्तेमाल से काम आसान होरहा था और पैदावार बढ़ रही थी—ख़ासकर सूती माल की। यह जो फ़ालतू माल बन रहा था, उसका बिकना भी ज़रूरी था, इसलिए नई-नई मण्डियाँ तलाश की जाती थीं। इंग्लैण्ड बड़ा ख़ुशक़िस्मत था कि ठीक इसी वक़्त भारत उसके क़ब्ज़े में था, जिससे वह यहाँ अपने माल को ज़बर्दस्ती बिकवाने का इन्तज़ाम कर सकता था, जैसाकि उसने असल में किया भी, लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व में एक राजदूत-मंडल पेकिंग भेजा। उस समय जार्ज तृतीय इंग्लैण्ड का बादशाह था। चियन-लुंङ ने राजदूतों को दरबार में मुलाक़ात के लिए बुलाया और दोनों ओर से नज़राने दिये-लिये गए। लेकिन सम्राट् ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियों में कुछ भी हेर-फेर करने से इन्कार कर दिया। चियन-लुंङ ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था, वह बड़ा मज़ेदार ख़रीता है और मैं उसमें से एक लम्बा हिस्सा यहाँ देता हूँ। उसमें लिखा है:

"...ऐ बादशाह, तू बहुत-से समुद्रों की सीमाओं से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फ़ायदा उठाने की विनीत इच्छा से मजबूर होकर तूने एक राजदूत-मंडल भेजा है, जो अदब के साथ तेरी अर्ज़ी लेकर आया है....। अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीज़ें भी सौग़ात में भेजी हैं। मैंने तेरी अर्ज़ी को पढ़ा है। जिन हार्दिक शब्दों में वह ढाली गई है उनसे तेरी आदर-भरी नम्रता ज़ाहिर होती है जो बहुत ज़्यादा तारीफ़ के लायक़ है।....

"सारी दुनिया पर राज करनेवाला होते हुए भी मेरी निगाह में सिर्फ़ एक ही लक्ष्य है, यानी बेदाग़ शासन क़ायम रखना और राज्य के कर्त्तव्यों को निभाना; अजीब और बेशक़ीमती चीजों से मुझे दिल-चस्पी नहीं है। मुझे....तेरे देश की बनी हुई चीज़ों की ज़रूरत नहीं है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओं का आदर करे और भविष्य में इससे भी ज़्यादा भक्ति और वफ़ादारी दिखलावे, ताकि तू सदा हमारे सिंहासन की छत्रछाया में रहकर अपने देश के लिए आगे को अमन और ख़ुशहाली हासिल कर सके।....

"डर से काँपते हुए हुक्म बजा, और लापरवाही मत कर!"

तीसरे जार्ज और उसके मन्त्रियों ने जब यह उत्तर पढ़ा होगा तो वे ज़रा सक्ते में आ गये होंगे। लेकिन ऊँची सभ्यता में जो पक्का विश्वास और शक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जो बड़प्पन इस जवाब में झलकता है, उनका आधार असल में टिकाऊ न था। मंचू सरकार मज़बूत दिखलाई पड़ती थी और लिन-लुंङ के अधीन वह मज़बूत थी भी। लेकिन बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था उसकी नींव को खोखला कर रही थी। जिन गुप्त समितियों का मैंने ज़िक्र किया है, वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थीं। असली दिक़्क़त यह थी कि देश को इन नये आर्थिक परिवर्तनों के अनुकूल नहीं बनाया जा रहा था। दूसरी तरफ़ पश्चिम के देश इस नई व्यवस्था के अगुआ थे। वे बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर-दिन मज़बूत होते जाते थे। सम्राट् चियन-लुंङ ने इंग्लैण्ड के जार्ज तृतीय को जो बड़ा गर्वीला जवाब भेजा था उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इंग्लैण्ड और फ़ान्स ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमण्ड को धूल में मिला दिया।

लेकिन चीन के बारे का यह क़िस्सा तो मैं अपने दूसरे पत्र में बयान करूँगा। १७९६ ई० में, चियन-लुंङ की मृत्यु पर हम अठारहवीं सदी के लगभग अन्त तक पहुँच जाते हैं। लेकिन इस सदी के खत्म होने से पहले अमेरिका और यूरोप में बहुत-सी असाधारण घटनाएँ हो चुकी थीं। असल में यूरोप में होनेवाले युद्धों और झगड़ों के ही कारण लगभग पच्चीस वर्ष तक चीन में यूरोप का दबाव कम रहा। इसलिए अगले पत्र में हम यूरोप की तरफ़ रुख़ करेंगे और अठारहवीं सदी के शुरू से कहानी का सिलसिला शुरू करेंगे। और भारत तथा चीन की घटनाओं से उसका मेल मिलावेंगे।

लेकिन इस पत्र को समाप्त करने के पहले मैं पूर्व में रूस की प्रगति का हाल तुमको बतलाऊँगा। रूस और चीन के बीच १६८१ ई० की नरखिन्स की सन्धि के बाद करीब डेढ़-सौ वर्ष तक पूर्व में रूस का प्रभाव बढ़ता ही गया। १७२८ ई० में वितुस बेरिंग नामक एक डेनमार्क-निवासी कप्तान ने, जो रूस में नौकर था, एशिया और अमेरिका को अलग करनेवाले जलडमरूमध्य की खोज की। शायद तुम जानती हो कि यह डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर बेरिंग का जल-डमरूमध्य कहलाता है। बेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुँचा और उसे उसने रूसी इलाका घोषित कर दिया। अलास्का समूरों[1] के लिए बहुत मशहूर है, और चूँकि समूरी खालों की चीन में बड़ी भारी माँग थी, इसलिए रूस और चीन के बीच समूरी खालों का एक ख़ास व्यापार क़ायम हो गया। अठारहवीं सदी के अन्त में समूरी खालों वग़ैरा की माँग चीन में इस क़दर बढ़ गई कि रूस इनको कनाडा की हडसन खाड़ी से इंग्लैण्ड के रास्ते मंगवाकर, साइबेरिया में बैकाल झील के पास

---

[1] समूर—अलास्का (उत्तरी अमेरिका) में एक लोमड़ी होती है, जिसके बाल बहुत मुलायम होते हैं। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते हैं, जो बड़े क़ीमती होते हैं। अंग्रेज़ी में समूर के बालों को फर (Fur) कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कियाख्ता की समूरी खालों की बड़ी भारी मंडी को भेजने लगा। ये समूरी खालें कितनी ज़बर्दस्त यात्रा करके आती थीं।

ज़रा परिवर्तन के लिए यह पत्र इस तरह के मेरे ज्यादातर पत्रों से छोटा है। मुझे उम्मीद है कि यह परिवर्तन तुम पसन्द करोगी।

: ९५ :

अठारहवीं सदी के यूरोप में विचारों की लड़ाई

१० सितम्बर, १९३२

अब हम वापस यूरोप की तरफ़ चलेंगे और उसके बदलते हुए भाग्य पर ग़ौर करेंगे। यह उन ज़बर्दस्त परिवर्तनों की शुरुआत का वक़्त है, जिनका असर संसार के इतिहास पर पड़ा। इन परिवर्तनों को समझने के लिए हमको भीतरी तहों में झांकना पड़ेगा और यह जानने की कोशिश करनी पड़ेगी कि लोगों के दिमाग़ में क्या-क्या बातें चक्कर लगा रही थीं। क्योंकि जो कुछ क्रिया हमको दिखलाई पड़ती है, वह विचारों और आवेशों, निजी भावनाओं और अन्ध-विश्वासों, उम्मीदों और दहशतों की गुत्थी का नतीजा होती है; और जबतक कि हम किसी क्रिया के साथ-साथ उसके कारणों पर विचार न करें तबतक अकेले उसे समझना मुश्किल हो जाता है। लेकिन यह आसान नहीं है, और अगर मैं इतिहास की खास-खास घटनाओं को ढालनेवाले इन कारणों और प्रेरक ताक़तों पर ठीक तौर से लिखने लायक़ भी होऊँ, तो भी मैं यह कभी न चाहूँगा कि इन पत्रों को और भी ज्यादा नीरस और बोझिल बना दूं। मुझे डर रहता है कि कभी-कभी किसी विषय के बारे में, या किसी नज़रिये के बारे में अपने जोश में मैं ज़रूरत से ज्यादा गहराई में न पहुँच जाऊँ। लेकिन मैं लाचार हूँ। तुम्हें यह बर्दाश्त करना पड़ेगा। फिर भी हम इन कारणों की ज्यादा गहराई में नहीं जा सकते। लेकिन इनको छोड़ देना भी परले सिरे की बेवक़ूफ़ी होगी; और अगर हम ऐसा करें भी तो इतिहास की मोहिनी और महत्व को नहीं देख पायेंगे।

सोलहवीं सदी में और सत्रहवीं सदी के पहले हिस्से में यूरोप में जो उथल-पुथल और हलचलें मचीं उन पर हमने विचार कर लिया है। सत्रहवीं सदी के बीच में वैस्टफैलिया की सन्धि हुई (१६४८ ई०), जिससे उस भीषण 'तीस साला युद्ध' का अन्त हो गया। एक साल बाद ही इंग्लैण्ड का गृह-युद्ध खत्म हो गया और चार्ल्स प्रथम का सिर उड़ा दिया गया। इसके बाद कुछ-कुछ शान्ति के दिन आये। यूरोप का महाद्वीप बिलकुल पस्त हो गया था। अमेरिका के और दूसरी जगहों के उपनिवेशों के साथ व्यापार से यूरोप में धन आने लगा, जिससे कुछ राहत मिली और वर्गों की आपसी तनातनी कम हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंग्लैण्ड में ऐसी बिना हिंसा की क्रान्ति हुई कि जिसने दूसरे जेम्स को निकाल बाहर किया और पार्लमेण्ट को विजयी बना दिया (१६८८ ई०)। असली लड़ाई तो पार्लमेण्ट ने चार्ल्स प्रथम के खिलाफ़ गृह-युद्ध में जीती थी। इस अहिंसक क्रान्ति ने तो खाली उसी फ़ैसले पर मुहर लगा दी, जो चालीस साल पहले तलवार के ज़ोर से हासिल हुआ था।

इस तरह इंग्लैण्ड में बादशाह का महत्व कम हो गया। लेकिन यूरोप में, सिवाय स्वीज़रलैण्ड और हालैण्ड-जैसे कुछ छोटे-छोटे इलाक़ों के, हालत इससे उलटी थी। वहाँ तो अभी निरंकुश और मनमौजी राजाओं का बोलबाला था और फ़्रान्स के महान् बादशाह चौदहवें लुई को नमूना व आदर्श मानकर उसकी नक़ल की जाती थी। यूरोप में सत्रहवीं सदी क़रीब-क़रीब चौदहवें लुई की ही सदी थी। यूरोप के राजा लोग पूरी शान-शौक़त व दौलतमन्दी व बेवकूफ़ी के साथ निरंकुशता का खेल खेल रहे थे, आगे आनेवाले बुरे नतीजे की उनको कोई फ़िक्र न थी, और न इंग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम पर जो बीती उससे ही नसीहत लेना चाहते थे। उनका दावा था कि देश की सारी सत्ता और सारी दौलत उनकी ही है और देश तो मानो उनकी निजी जागीर है। चार सौ साल से ज्यादा हुए तब हालैण्ड के इरैस्मस नामक एक विद्वान् ने लिखा था:

> "बुद्धिमानों को तमाम चिड़ियों में एक ईगल ही बादशाह का नमूना नज़र आया है, जो न तो सुन्दर है, न सुरीला, न खाने लायक़, बल्कि मुर्दा-खोर, भुक्खड़, सबकी घृणा का पात्र, सबकी लानत का पात्र और नुक़सान पहुंचाने की बहुत बड़ी ताक़त रखनेवाला, बल्कि नुकसान पहुंचाने की इच्छा में सबसे बढ़कर है।"

आज बादशाहों का क़रीब-क़रीब लोप हो चुका है और जो बचे हैं, वे कुछ पुराने ज़माने के बचे-खुचे चिह्न हैं, उनके हाथ में कुछ भी ताक़त नहीं है। अब हम उनको दरगुज़र कर सकते हैं। लेकिन उनकी जगह दूसरे और उनसे भी ज्यादा खतरनाक आदमियों ने ले ली है। और नये युग के इन लोहे, तेल, चांदी व सोने के साम्राज्यवादी बादशाहों का सही चिह्न अब भी ईगल ही है।

यूरोप की बादशाहतें मज़बूत केन्द्रीय सत्तावाले राज्य बन गये। सरदार और असामी के पुराने सामन्तशाही विचार खत्म हो चुके थे, या हो रहे थे। देश एक इकाई और एक हस्ती है—यह नया खयाल इसकी जगह ले रहा था। रिशेल्यू और मैज़ारिन नामक दो बहुत योग्य मन्त्रियों के समय में फ़्रान्स इसका अगुआ बना। इस तरह राष्ट्रीयता का और कुछ हद तक देशभक्ति का उदय हुआ। मज़हब, जो अभी तक मनुष्यों के जीवन का सबसे ज्यादा महत्ववाला तत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, अब ओझल होने लगा और उसकी जगह नये विचारों ने ले ली, जैसा कि मैं इसी पत्र में आगे चलकर बताऊँगा।

सत्रहवीं सदी का इस वजह से और भी ज्यादा महत्व है कि उसमें आधुनिक विज्ञान की नींव पड़ी और सारी दुनिया की हाट बन गई। इस विशाल नई हाट ने क़ुदरती तौर पर यूरोप की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को उलट दिया और इसके बाद यूरोप, एशिया और अमेरिका में जो कुछ भी हुआ वह तभी समझ में आ सकता है जब इस नई हाट को नज़र के सामने रक्खा जाय। बाद में विज्ञान की तरक़्क़ी हुई और इसने इस संसार-व्यापी हाट की माँग को पूरा करने के साधन पैदा कर दिये।

अठारहवीं सदी में उपनिवेश और साम्राज्य बढ़ाने की होड़ का, जो ख़ासकर इंग्लैण्ड और फ़्रान्स के बीच चली, नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ़ यूरोप में ही बल्कि कनाडा, और जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, भारत में भी, युद्ध छिड़ गये। सदी के बीच में इन युद्धों के बाद फिर कुछ कम अशान्ति का ज़माना आया। यूरोप की ऊपरी सतह शान्त और बे-हलचल नज़र आने लगी। यूरोप के सारे शाही दरबार बहुत ही सभ्य, शाइस्ता और मंजे हुए भद्र पुरुषों और महिलाओं से भरे थे। लेकिन यह शान्ति सिर्फ़ ऊपरी सतह पर थी। भीतर-ही-भीतर खलबली मच रही थी और नये विचारों व भावनाओं से लोगों के दिमाग़ परेशान और उथल-पुथल हो रहे थे, और दरबारों की लुभावनी मंडली और ऊपर के वर्गों को छोड़कर, बाक़ी के ज्यादातर लोगों को बढ़ती हुई ग़रीबी की वजह से दिन-पर-दिन ज्यादा मुसीबतें झेलनी पड़ रही थीं। इसीलिए अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप में जो शान्ति नज़र आती थी वह बड़ी धोखा देनेवाली थी; वह तो आनेवाले तूफ़ान की सूचना देनेवाली थी। १७८९ ई० की १४वीं जुलाई को यूरोप की सबसे बड़ी बादशाहत की राजधानी पेरिस में तूफ़ान की शुरुआत हुई। इस तूफ़ान में यह बादशाहत और सैकड़ों ही दूसरे पुराने और काई-लगे रिवाज और रियायतें बह गये।

इस तूफ़ान की और बाद में होनेवाले परिवर्तन की तैयारी फ़्रान्स में, और कुछ-कुछ यूरोप के दूसरे देशों में भी, बहुत दिनों से नये विचारों के कारण हो चुकी थी। मध्य युगों के शुरू से अख़ीर तक यूरोप में मज़हब का ही सबसे ज्यादा बोलबाला था। बाद में रिफार्मेशन के ज़माने में भी यही हालत रही। हरेक सवाल पर, चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक, मज़हबी नज़रियेसे विचार किया जाता था। मज़हब एक संगठित चीज़ थी और उसका अर्थ था पोप और ईसाई संघ के दूसरे ऊँचे अधिकारियों की मर्ज़ी। समाज का संगठन बहुत-कुछ ऐसा ही था, जैसा भारत में जातियों का। शुरू में जाति का मतलब था समाज का पेशों या क़ौमों के मुताबिक़ बँटवारा। मध्य युगों में समाज के बारे में लोगों के जो विचार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे उनकी जड़ में पेशों के मुताबिक़ समाजी वर्गों की यही भावना थी। हरेक वर्ग में, भारत की हरेक जाति की तरह, बराबरी की भावना थी। लेकिन किन्हीं दो या ज़्यादा जातियों के बीच में विषमता थी। समाज का सारा ढाँचा ही इस विषमता की नींव पर खड़ा था और कोई इसपर ऐतराज़ करनेवाला न था। इस व्यवस्था से जिनको तक़लीफ़ होती थी, उनसे कहा जाता था कि "इसका इनाम तुमको स्वर्ग में मिलेगा। इस तरह मज़हब इस अन्यायी समाजी व्यवस्था को क़ायम रखने की कोशिश करता था और परलोक की बात करके लोगों का ध्यान इस तरफ़ से हटाने की कोशिश करता था। जो अमानतदारी का उसूल कहलाता है, उसका भी प्रचार करता था, यानी यह कि धनवान आदमी एक तरह से ग़रीबों का अमानतदार है; ज़मींदार अपनी ज़मीन को काश्तकार की 'अमानत' की तरह रखता है। एक बड़ी बेतुकी सूरत को समझने का ईसाई-संघ का यही तरीक़ा था। इससे धनवानों का तो कुछ बिगड़ता न था, पर ग़रीबों को कोई तसल्ली नहीं होती थी। भूखे पेट में भोजन की जगह स्थानपत की समझावनों से काम नहीं चल सकता।

कैथलिकों और प्रोटेस्टेण्टों के सख़्त मज़हबी युद्ध, कैथलिकों व कैलविन के अनुयाइयों का मज़हबी-वैर-भाव और इनक्विज़िशन, ये सब इस घोर मज़हबी और सम्प्रदायी नज़रिये के ही नतीजे थे। ज़रा इसका विचार तो करो! कहा जाता है कि यूरोप में ज़्यादा करके प्यूरिटनों ने लाखों स्त्रियों को डायनें बतलाकर ज़िन्दा जला डाला। विज्ञान के नये विचारों को दबाया जाता था, क्योंकि ये ईसाई-संघ के नज़रिये से टक्कर खानेवाले समझे जाते थे। ज़िन्दगी के बारे में यह मत स्थिर और जड़ था; प्रगति का कोई सवाल ही न था।

हम देखते हैं कि सोलहवीं सदी से लगाकर आगे ये विचार धीरे-धीरे बदलते हुए दिखाई देते हैं। विज्ञान का उदय होता है और मज़हब का सबको जकड़नेवाला शिकंजा ढीला पड़ जाता है; राजनीति और अर्थशास्त्र मज़हब से अलग समझे जाते हैं। कहते हैं कि सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में बुद्धिवाद, यानी अन्धविश्वास के मुक़ाबले में तर्क, बढ़ता है। यह माना जाता है कि मज़हबी उदारता की विजय वास्तव में अठारहवीं सदी ने ही क़ायम की। कुछ हद तक यह सही भी है। लेकिन इस विजय का असली मतलब यह था कि लोग अपने मज़हब को अब उतना महत्व नहीं देते थे जितना पहले दिया करते थे। यह उदारता क़रीब-क़रीब लापरवाही थी। जब लोगों में किसी बात के लिए बहुत ज़्यादा जोश होता है तो उस बारे में सहनशील रहना उनके लिए दुश्वार होता है; लेकिन जब वे उस बात की परवाह नहीं करते सिर्फ़ तभी वे इनायत के साथ अपनी उदारता का ढिंढोरा पीटते हैं। उद्योगवाद और बड़ी मशीनों के प्रचार के साथ मज़हब की तरफ़ से लोग और भी ज़्यादा लापरवाह हो गये। विज्ञान ने यूरोप की पुराने विश्वासों की जड़ें ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोखली कर दीं; नये उद्योगों और नई अर्थ-व्यवस्था ने नये सवाल पैदा कर दिये, जिन्होंने लोगों का ध्यान खींच लिया। इस तरह यूरोप में लोगों ने मज़हबी विश्वासों और रूढ़ियों के सवालों पर एक दूसरे का सिर फोड़ने की आदत छोड़ दी (लेकिन पूरी तरह नहीं); इसके बजाय अब उनमें आर्थिक व समाजी मुद्दों पर सिर-फुटव्वल होने लगी।

यूरोप के इस मज़हबी ज़माने की तुलना आजकल के भारत से करना दिलचस्प भी है और नसीहत देनेवाला भी। तारीफ़ और मज़ाक दोनों में अक्सर यह कहा जाता है कि भारत तो मज़हबी और आध्यात्मिक देश है। उसका मुक़ाबला यूरोप से किया जाता है, जो बेदीन और विलासी जीवन को ज़रूरत से ज्यादा पसन्द करनेवाला कहा जाता है। जहाँतक भारतीय नज़रिये पर मज़हब का रंग चढ़ा हुआ है, वहाँतक तो वास्तव में यह 'मज़हबी' भारत सोलहवीं सदी के यूरोप से ग़ैर-मामूली तौर पर मेल खाता है। अलबत्ता इस मुक़ाबले को बहुत ज्यादा नहीं बढ़ाया जा सकता। लेकिन यह ज़ाहिर है कि क्या तो हमारा मज़हबी विश्वास और रूढ़ियों पर ज़रूरत से ज्यादा ज़ोर देना, क्या राजनीतिक और आर्थिक सवालों को मज़हबी फ़िरक़ों के हितों से जोड़ना, क्या हमारे साम्प्रदायिक झगड़े और इसी तरह के सवाल, ये सब वैसी ही घटनाएँ हैं जैसी मध्यकालीन यूरोप में हुई थीं। व्यावहारिक व जड़वादी यूरोप, और आध्यात्मिक व परलोकवादी पूर्व, इनका कोई सवाल ही नहीं है। पश्चिम और पूर्व के बीच यह फ़र्क़ इस बात में है कि पश्चिम तो अपनी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ उद्योग-प्रधान और मशीनों का खूब उपयोग करनेवाला प्रदेश है, और पूर्व में अभी उद्योग-धन्धे प्रारम्भिक अवस्था में हैं और वह कृषि-प्रधान प्रदेश हैं।

यूरोप में मज़हबी उदारता और बुद्धिवाद का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। शुरू-शुरू में पुस्तकों से इसे ज्यादा मदद नहीं मिली। क्योंकि लोग ईसाइयत की खुल्लम-खुल्ला आलोचना करने से डरते थे। ऐसा करने का नतीजा था क़ैद या और कोई सज़ा। एक जर्मन दार्शनिक को प्रशिया से इसलिए निकाल दिया गया था कि उसने कनफ़्यूशियस की बहुत ज्यादा तारीफ़ कर दी थी। यह ईसाइयत का अपमान समझा जाता था। लेकिन अठारहवीं सदी में, जबकि ये नये विचार ज्यादा साफ़ और व्यापक हो गये, तो इन विषयों के बारे में पुस्तकें निकलने लगीं। बुद्धिवाद व दूसरे विषयों पर उस समय का सबसे मशहूर लेखक वाल्तेयर नामक एक फ़ान्सीसी था, जिसको क़ैद करके देश से निकाल दिया गया और जो अन्त में जिनेवा के पास फ़र्नी में जाकर रहा। जेल में उसे कागज़ और क़लम-दवात नहीं दिये गए। इसलिए उसने पुस्तकों की लाइनों के बीच-बीच में सीसे के टुकड़ों से कविताएँ लिखीं। बहुत थोड़ी उम्र में ही वह मशहूर हो गया। वास्तव में जब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी असाधारण योग्यता ने लोगों का ध्यान खींचा तब वह सिर्फ़ दस ही साल का था। वाल्तेयर को अन्याय और कट्टरपन से सख्त नफ़रत थी और वह इनके ख़िलाफ़ बहुत लड़ा। उसकी मशहूर पुकार थी "इन बदनाम चीज़ों को नष्ट कर दो।"[१] वह बड़ी उम्र तक, यानी १६९४ से १७७८ ई० तक जिया और उसने बहुत सारी पुस्तकें लिखीं। चूंकि वह ईसाइयत की आलोचना करता था, इसलिए कट्टर ईसाई उससे सख्त नफ़रत करते थे। अपनी एक पुस्तक में उसने लिखा है कि "जो आदमी बिना जाँच-पड़ताल किये किसी मज़हब को कबूल कर लेता है, वह उस बैल के समान है जो अपने कन्धे पर जुआ रखवा लेता है।" लोगों को बुद्धिवाद और नये विचारों की तरफ़ झुकाने में वाल्तेयर की रचनाओं का बड़ा भारी असर पड़ा। फ़र्नी में उसका पुराना मकान अब भी बहुत लोगों के लिए एक तीर्थस्थान है।

एक और महान् लेखक, जो वाल्तेयर का समकालीन लेकिन उम्र में उससे छोटा था, जीन जैक रूसो था। उसका जन्म जिनेवा में हुआ था और जिनेवा को उस पर बड़ा गर्व था। क्या तुमको वहाँपर उसकी मूर्ति की याद है? धर्म और राजनीति पर रूसो के लेखों से बड़ा हो-हल्ला मच गया। लेकिन फिर भी उसके नये और बहुत कुछ निडर समाजी और राजनीतिक मतों ने बहुतों के दिमाग़ में नये विचारों और नये इरादों की आग सुलगा दी। उसके राजनीतिक विचार आज पुराने पड़ गये हैं, लेकिन उन्होंने फ़्रान्स के लोगों को महान् राज्य-क्रांति के लिए तैयार करने में ज़बर्दस्त हिस्सा लिया। रूसो ने राज्यक्रान्ति का प्रचार नहीं किया। शायद उसे किसी क्रान्ति की उम्मीद भी न थी। लेकिन उसकी पुस्तकों और उसके विचारों ने लोगों के दिमाग़ में ऐसा बीज ज़रूर बो दिया, जिसका फल क्रान्ति के रूप में प्रकट हुआ। इसकी सबसे मशहुर पुस्तक 'सोशल काण्ट्रैक्ट' यानी 'समाजी मुआहिदा' है और वह इस मशहूर वाक्य से शुरू होती है (मैं याददाश्त से लिख रहा हूँ); "मनुष्य जन्म से मुक्त है, लेकिन वह सब जगह जंज़ीरों में जकड़ा हुआ है।"[२]

रूसो एक महान् शिक्षा-शास्त्री भी था और उसके सुझाये हुए शिक्षा के बहुत से नये तरीक़े आजकल स्कूलों में बरते जाते हैं।

अठारहवीं सदी में फ़्रान्स में वाल्तेयर और रूसो के अलावा और भी बहुत से नामी विचारक और लेखक हुए। मैं सिर्फ़ मान्तेस्क्यू[१] के नाम का ज़िक्र और

---

[१] Ecrasez I infame.

[२] Man is born free, but is everywhere in chains.

[१] मान्तेस्क्यू—(१६८९-१७५५) फ़्रान्स का प्रसिद्ध विचारक, तत्ववेत्ता और इतिहासकार। १७४८ ई० में इसकी मशहूर किताब 'Esprit des Lois' प्रकाशित हुई, जिससे उसके गहरे अध्ययन का पता लगता है। यह पुस्तक इतनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करूँगा जिसने कई पुस्तकें लिखीं। पेरिस में इसी के समय में एक विश्वकोश भी प्रकाशित हुआ जो दिदरो और राजनीतिक व समाजी विषयों के दूसरे विद्वान् लेखकों के लेखों से भरा था। सच तो यह है कि फ़ान्स दार्शनिकों और विचारकों से भरा हुआ नज़र आता था। इतना ही नहीं, इनकी रचनाएँ भी खूब पढ़ी जाती थीं और इन्हें यह सफलता हासिल हुई कि हज़ारों साधारण लोग इन्हीं की तरह सोचने-विचारने लगे और इनके मतों पर चर्चा करने लगे। इस तरह फ़ान्स में एक ऐसा ज़ोरदार लोकमत पैदा हो गया, जो मज़हबी वैर-भाव और राजनीतिक व समाजी रियायतों के ख़िलाफ़ था। लोगों पर स्वतन्त्रता की एक धुंधली इच्छा का भूत-सा सवार हो गया। लेकिन अजीब बात तो यह है कि न तो जनता ही और न दार्शनिक लोग ही बादशाह से पिण्ड छुड़ाना चाहते थे। उस समय गणराज्य की भावना आम नहीं थी, और जनता तो सिर्फ़ यही उम्मीद करती थी कि उसे अफ़लातून के बताये हुए दार्शनिक बादशाह से मिलता-जुलता एक आदर्श राजा मिले, जो उनकी तक़लीफ़ों को दूर करे और उनको इन्साफ़ और थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता दे दे। कम-से-कम दार्शनिकों ने ऐसा ही लिखा है। इस बारे में शक होने लगता है कि आख़िर मुसीबतों की मारी जनता बादशाह को कितना चाहती थी!

इंग्लैण्ड में फ़ान्स की तरह राजनीतिक विचारों का कोई विकास नहीं हुआ। कहा जाता है कि अंग्रेज़ राजनीतिक जन्तु नहीं होता, लेकिन फ़ान्सीसी होता है। इसके अलावा १६८८ ई० की क्रान्ति ने भी तनाव कुछ कम कर दिया था। लेकिन कुछ वर्ग अब भी काफ़ी रियायतों का उपभोग कर रहे थे। नई आर्थिक घटनाओं ने, जिनका ज़िक्र जल्दी ही किसी अगले पत्र में करूँगा, और व्यापार और अमेरिका व भारत की उलझनों में, अंग्रेज़ों का दिमाग़ लगा हुआ था। जब सामाजिक तनातनी बहुत बढ़ गई तो एक काम-चलाऊ समझौते ने जुदा होने के ख़तरे को दूर कर दिया। फ़ान्स में इस तरह के समझौते की गुंजाइश न थी, और इसी-लिए तख़्ता उलट गया।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इंग्लैण्ड में आजकल के उपन्यास का विकास अठारहवीं सदी के बीच में हुआ। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' और 'रॉबिन्सन क्रूसो' अठारहवीं सदी के शुरू में लिखे गए थे, जैसा कि मैं पहले ही बतला चुका हूँ। इनके बाद असली उपन्यास निकले। इस वक़्त इंग्लैण्ड में पुस्तकें पढ़नेवालों की एक नई जनता सामने आई।

अठारहवीं सदी में ही गिबन नामक एक अंग्रेज़ ने अपना मशहूर ग्रन्थ[1]

लोकप्रिय हुई कि उस ज़माने में भी, १८ महीने के अन्दर उसके २२ संस्करण हो गये। उसके विचारों के कारण चर्च ने उसपर ज़बर्दस्त आक्रमण किया था।

[1] Decline and Fall of the Roman Empire.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखा। रोमन साम्राज्य का बयान करते समय अपने किसी पिछले पत्र में मैं गिबन और उसकी पुस्तक का ज़िक्र कर चुका हूँ।

: ९६ :

महान् परिवर्तनों के पहले का यूरोप

२४ सितम्बर, १९३२

हमने अठारहवीं सदी में यूरोप के, और खासकर फ़्रान्स के, नर-नारियों के दिलों में ज़रा झाँकने की कोशिश की है। यह सिर्फ़ एक झाँकी ही रही है, जिसने हमको कुछ नये विचारों को पैदा होते हुए और पुराने विचारों से टक्कर लेते हुए दिखलाया है। अभी तक हम परदे के पीछे रहे हैं, लेकिन अब हम यूरोप के असल रंगमंच के खिलाड़ियों पर निगाह डालेंगे।

फ़्रान्स में बूढ़ा चौदहवाँ लुई आखिरकार १७१५ ई० में मरने में कामयाब हो ही गया। वह कई पीढ़ियों को लाँघकर ज़िन्दा रहा। और उसके बाद उसका पोता पन्द्रहवाँ लुई के नाम से गद्दी पर बैठा। फिर उनसठ वर्ष का लम्बा शासन चला। इस तरह चौदहवें और पन्द्रहवें लुई, फ़्रान्स के इन दो एक के बाद दूसरे बादशाहों ने कुल १३१ वर्ष राज किया। बेशक यह दुनिया का एक रिकार्ड है। चीन के दो मंचू बादशाह काङ-ही और चियन-लुङ, हरेक ने साठ-साठ वर्ष राज किया, लेकिन ये एक सिलसिले से नहीं हुए और इन दोनों के बीच में एक तीसरे का भी राज रहा।

असाधारण लम्बाई के अलावा पन्द्रहवें लुई का शासन-काल खास तौर पर घिनौने भ्रष्टाचार और साज़िशों के लिए मशहूर है। राज्य के सारे साधन बादशाह के ऐश-आराम के लिए इस्तेमाल होते थे। दरबारी लोग अपना उल्लू सीधा करने में लगे रहते थे, जिसमें अनाप-शनाप खर्च होता था। दरबार के जो स्त्री या पुरुष बादशाह को खुश कर लेते थे उनको मुफ़्त की जमींदारियाँ और फ़ालतू ओहदे बख्शे जाते थे, जिनका मतलब था बिना मेहनत की आमदनी। और इन सबका बोझ जनता पर बराबर बढ़ता जाता था। निरंकुशता, निकम्मापन और भ्रष्टाचार बड़े मज़े से हाथ मिलाये हुए आगे बढ़ रहे थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर सदी के खत्म होते-न-होते वे अपने रास्ते के किनारे पर पहुँच गये और गहरी खाई में जा गिरे! ताज्जुब तो यह है कि रास्ता इतना लम्बा निकला और गिरावट इतनी देर बाद आई। पन्द्रहवाँ लुई जनता के इन्साफ़ और बदले से बच गया! इसका सामना तो उसके उत्तराधिकारियों सोलहवें लुई को १७७४ ई०में करना पड़ा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकम्मेपन और नीचपन के बावजूद भी पन्द्रहवें लुई को राज्य में अपनी परम सत्ता के बारे में कोई सन्देह न था। वह सबकुछ था और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ करने से रोकनेवाला कोई न था। पेरिस में १७७६ ई० में एक सभा के सामने बोलते हुए उसने जो शब्द कहे थे, वे सुनने लायक़ हैं:

"राज्य-सत्ता पूरे तौर पर सिर्फ़ मेरे ही अपने में निवास करती है....। सिर्फ़ मुझको ही, बिना किसी का सहारा या मदद लिये, क़ानून बनाने का पूरा हक़ है। प्रजा के बन्दोबस्त का एकमात्र स्रोत मैं ही हूँ; मैं ही उसका सबसे बड़ा रक्षक हूँ। मेरी प्रजा की मुझसे अलहदा कोई हस्ती नहीं है; राष्ट्र के अधिकार और हित, जो कुछ लोगों के दावे के मुताबिक़ बादशाह से कोई अलग चीज़ हैं, वे ज़रूरी तौर पर मेरे ही अधिकार और हित हैं और मेरी ही मुट्ठी में रहते हैं।"

अठारहवीं सदी के ज़्यादातर समय में फ़्रान्स का शासक इस तरह का था कुछ दिनों तक तो यूरोप में उसका दबदबा मालूम होने लगा था। लेकिन बाद में दूसरे राजाओं और राष्ट्रों के ऊँचे हौसलों से उसकी टक्कर हुई और उसे हार माननी पड़ी। फ़्रान्स के कुछ पुराने प्रतिद्वन्द्वियों का भी यूरोप के रंगमंच पर कोई प्रमुख पार्ट न रहा। लेकिन उनकी जगह लेनेवाले और फ़्रान्स की शक्ति को चुनौती देनेवाले दूसरे पैदा हो गये। थोड़े दिन की शाही शान-शौक़त भुगतकर घमण्डी स्पेन यूरोप में, और दूसरी जगहों में भी, नीचे गिर गया। लेकिन अमेरिका और फ़िलिपाइन टापुओं में बड़े-बड़े उपनिवेश अब भी उसके क़ब्ज़े में थे। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग भी, जिन्होंने साम्राज्य के सिरमौर होने का और उसके ज़रिये यूरोप की नेतागिरी का ठेका-सा ले रक्खा था, अब पहले जैसे बड़े नहीं रह गये थे। आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नहीं थी; एक दूसरी रियासत प्रशिया आगे बढ़ गई थी और आस्ट्रिया के बराबर महत्ववाली बन गई थी। आस्ट्रिया की राजगद्दी के उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुए और बहुत दिनों तक मेरिया थैरेसा नाम की एक महिला उस पर बैठी रही।

तुम्हें याद होगा कि १६४८ ई० की वैस्टफ़ैलिया की सन्धि ने प्रशिया को यूरोप की एक महत्वशाली शक्ति बना दिया। वहाँ पर हॉयनत्सोलर्न का घराना राज कर रहा था और दूसरे जर्मन राजवंश, आस्ट्रिया के हैप्सवर्ग घराने, की सत्ता को चुनौती दे रहा था। छियालीस वर्ष तक, यानी १७४० से १७८६ ई० तक, प्रशिया पर फ़ेडरिक ने राज किया, जो फ़ौजी कामयाबियों के कारण महान् कहलाता है। यूरोप के दूसरे राजाओं की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा था, लेकिन उसने दार्शनिक का चोग़ा पहन लिया था और वाल्तेयर से दोस्ती करने की कोशिश की थी। उसने एक बलशाली फ़ौज तैयार कर ली थी और वह एक सफल सेनापति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। वह अपने-आपको वृद्धिवादी कहता था और सुनते हैं कि वह कहा करता था कि "हरेक को यह छुट्टी रहनी चाहिए कि वह जिस तरह चाहे स्वर्ग में जाय।"

सत्रहवीं सदी से यूरोप में फ़्रान्स की संस्कृति का बोलबाला रहा। अठारहवीं सदी के बीच के समय में इसने और भी ज़ोर पकड़ा और वाल्तेयर को सारे यूरोप में ज़बर्दस्त शोहरत मिली। वास्तव में कुछ लोग तो इस सदी को 'वाल्तेयर की सदी' कहते हैं। यूरोप के तमाम राजदरबारों में, यहाँतक कि पिछड़े हुए सेंट पीटर्सबर्ग में भी, फ़्रान्सीसी साहित्य पढ़ा जाता था। और सभ्य और शिक्षित लोग फ़्रान्सीसी भाषा में लिखना और बोलना पसन्द करते थे। मसलन प्रशिया का फ़्रैडरिक महान् क़रीब-क़रीब हमेशा फ़्रान्सीसी भाषा में ही लिखता और बोलता था। उसने तो फ़्रान्सीसी भाषा में कविता भी लिखने की कोशिश की और वाल्तेयर से प्रार्थना की कि उसे ठीक कर दे व निखार दे।

प्रशिया के पूर्व में रूस था, जो आगे आनेवाले ज़माने का भय बनना शुरू हो गया था। चीन के इतिहास की चर्चा करते वक़्त हम लिख चुके हैं कि किस तरह रूस साइबेरिया में फैलकर प्रशान्त महासागर तक जा पहुँचा और सागर पार करके अलास्का तक भी पहुँच गया। सत्रहवीं सदी के अन्त में रूस में महान् पीटर नामक ज़ोरदार शासक था। रूस में परम्परा से जो पुराने मंगोली रक्त-ज़ब्त और नज़रिये चले आ रहे थे, पीटर उनको ख़त्म करना चाहता था। वह रूस का, आजकल की भाषा में, 'पश्चिमीकरण' चाहता था, यानी उसे पश्चिम जैसा सभ्य व उन्नत बनाना चाहता था। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओं से भरी हुई पुरानी राजधानी मास्को को छोड़ दिया और अपने लिए एक नया शहर और नई राजधानी बसाई। यह उत्तर में नीवा नदी के किनारे और फिनलैण्ड की खाड़ी के मुहाने पर सेंटपीटर्सबर्ग था। यह शहर सुनहरी गुम्बज़दार छतों व गुम्बज़ोंवाले मास्को से बिलकुल अलग तरह का था; वह ज़्यादातर पश्चिमी यूरोप के बड़े शहरों-जैसा था। पीटर्सबर्ग पश्चिमीकरण का प्रतीक बन गया और रूस यूरोप की राजनीति में ज़्यादा हिस्सा लेने लगा। शायद तुम्हें मालूम होगा कि पीटर्सबर्ग नाम अब नहीं रहा है। पिछले बीस वर्षों में उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदल कर पेत्रोग्राद किया गया और दूसरी बार लेनिनग्राद हुआ। आजकल यही नाम चालू है।

पीटर महान् ने इस रूस में बहुत-से परिवर्तन किये। उनमें से एक का मैं यहाँ पर ज़िक्र करूँगा, जो तुम्हें दिलचस्प मालूम होगा। उसने स्त्रियों को घरों में बन्द रखने के रिवाज को, जिसे 'तरेम' कहते थे, और जो उन दिनों रूस में जारी था, ख़त्म कर दिया। पीटर का ध्यान भारत की तरफ़ भी था और वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत के महत्व को समझता था। उसने अपने वसीयतनामे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लिखा है; "याद रखो कि भारत का व्यापार सारी दुनिया का व्यापार है; और जो अकेला उसे मुट्ठी में रख सकता है, वही यूरोप का डिक्टेटर होगा।" भारत पर प्रभुत्व हासिल करने के बाद इंग्लैण्ड की शक्ति जिस तेज़ी से बढ़ी उससे पीटर के आखिरी शब्दों की सचाई साबित हो जाती है। भारत के शोषण से इंग्लैण्ड को गौरव और धन मिला, जिसने कई पीढ़ियों तक उसे संसार की सबसे बड़ी शक्ति बना दिया।

एक तरफ़ एशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ़ रूस के बीच में पोलैण्ड था। वह एक पिछड़ा हुआ देश था, जहाँ के किसान बहुत ग़रीब थे। वहाँ कोई व्यापार और उद्योग-धन्धे न थे और न बड़े-बड़े शहर थे। उसका संविधान भी अजीब-सा था, जिसमें बादशाह चुना हुआ होता था और सत्ता सामन्ती अमीरों के हाथों में रहती थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताक़तवर होते गये, पोलैण्ड कमज़ोर होता गया। प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनों ही उसे हड़पना चाहते थे।

लेकिन वह पोलैण्ड का ही बादशाह था, जिसने १६८३ ई० में वियेना पर आखिरी हमला करनेवाले तुर्कों को मार भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर सिर न उठा सके। उनकी जीवट खत्म हो चुकी थी और पलड़ा धीरे-धीरे पलट रहा था। आगे से वे अपना बचाव करने में ही रहे और धीरे-धीरे यूरोप में तुर्की साम्राज्य सिकुड़ने लगा। लेकिन जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, यानी अठारहवीं सदी के पहले हिस्से में, तुर्की दक्षिण-पूर्वी यूरोप में एक शक्तिशाली देश था और उसका साम्राज्य वल्कान की रियासतों से लगाकर हंगरी के परे पोलैण्ड तक फैला हुआ था।

दक्षिण में इटली कई रियासतों में बँटा हुआ था और यूरोप की राजनीति में उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहलेवाला दबदबा नहीं रहा था और राजा और बादशाह उसकी इज्ज़त तो करते थे, लेकिन राजनीतिक मामलों में उसे कुछ पूछते भी न थे। धीरे-धीरे यूरोप में एक नया ढाँचा, यानी बड़ी शक्तियों का ढाँचा, पैदा हो रहा था। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ केन्द्रीय सत्तावाले राजशाही राज्य राष्ट्रीयता की भावना के विकास में मदद कर रहे थे। लोग अपने-अपने देशों का विचार एक निराले तरीक़े से करने लगे थे, जो आजकल तो बहुत फैल गया है। लेकिन इस ज़माने के पहले एक असाधारण बात थी। फ़ान्स, इंग्लैण्ड या ब्रिटैनिया, इतालिया और इसी तरह की दूसरी सूरतें प्रकट होने लगीं थीं। ये राष्ट्र के प्रतीक-से मालूम होने लगे। कुछ दिन बाद उन्नीसवीं सदी में, ये शक्लें लोगों के दिमाग़ में मूर्त्तिमान होने लगीं और उनके दिलों पर अजीब तौर से असर डालने लगीं। ये प्रतीक नई देवियाँ बन गये, जिनकी वेदी पर हरेक देश-भक्त को पूजा करनी पड़ती है और जिसके नाम पर और जिसके लिए देश-भक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग लड़ते हैं और एक दूसरे की हत्या करते हैं। तुम जानती हो कि 'भारत-माता' की भावना किस तरह हमारे दिलों को हिलाती है और किस तरह लोग इस पौराणिक और ख़याली मूरत के लिए खुशी-खुशी मुसीबतें झेलते हैं और मर मिटते हैं। दूसरे देशों के लोग भी अपनी मातृभूमि के लिए इसी तरह की भावना महसूस करते थे। लेकिन ये सब तो बाद की बातें हैं। अभी तो मैं तुमको यह बतलाना चाहता हूँ कि अठारहवीं सदी में राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की इस भावना ने जड़ पकड़ी। फ़ान्सीसी दार्शनिकों ने इस प्रगति को बढ़ाया और फ़ान्स की महान् राज्य-क्रान्ति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

ये राष्ट्र ही 'शक्तियाँ' थे ; बादशाह आते-जाते रहते थे, लेकिन राष्ट्र बना रहता था। इन शक्तियों में से कुछ धीरे-धीरे दूसरी शक्तियों से ज़्यादा महत्ववाली बन गईं। मसलन अठारहवीं सदी के शुरू में फ़ान्स, इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस साफ़ तौर पर 'बड़ी शक्तियाँ' थीं। स्पेन की तरह कुछ और भी शक्तियाँ कहने को बड़ी थीं, लेकिन उनका पतन हो रहा था।

इंग्लैण्ड बहुत तेजी के साथ दौलत में और महत्व में बढ़ रहा था। एलिज़ाबेथ के वक़्त तक वह यूरोप के लिहाज़ से कोई महत्व का देश न था और दुनिया के लिहाज़ से तो और भी कम महत्व का था। उसकी आबादी थोड़ी थी; शायद उस वक़्त वह साठ लाख से ज़्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी बहुत कम है। लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद इंग्लैण्ड ने अपने-आपको नई परिस्थितियों के मुताबिक़ बना लिया और वह आगे बढ़ने लगा। स्पेन से पिण्ड झुड़ाने के बाद हालैण्ड ने भी ऐसा ही किया।

अठारहवीं सदी में अमेरिका और एशिया में उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी मची। इसमें यूरोप की कई शक्तियों ने हिस्सा लिया, मगर ख़ास होड़ सिर्फ़ इंग्लैण्ड और फ़ान्स इन दोनों में ही रही। इस दौड़ में, अमेरिका में भी और भारत में भी, इंग्लैण्ड बहुत आगे हो लिया था। पन्द्रहवें लुई के निकम्मे शासन में होने के अलावा फ़ान्स, यूरोप की राजनीति में बहुत ज़्यादा उलझा हुआ था। १७५६ से १७६३ ई० तक यूरोप, कनाडा और भारत में भी इन दोनों शक्तियों में व औरों में इस बात का निपटारा करने के लिए युद्ध हुए कि किसका प्रभुत्व हो। यह युद्ध 'सात साल का युद्ध' कहलाता है। इसके एक टुकड़े को हम भारत में देख चुके हैं, जिसमें फ़ान्स की हार हुई थी। कनाडा में भी इंग्लैण्ड की विजय हुई। यूरोप में इंग्लैण्ड ने वह नीति बरती जिसके लिए वह मशहूर हो चुका है, यानी पैसा देकर अपनी ओर से दूसरों को लड़वाना। फ़ैडरिक महान् इंग्लैण्ड का साथी था।

इस सात साल के युद्ध का नतीजा इंग्लैण्ड के लिए बहुत फ़ायदेमन्द रहा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत और कनाडा, दोनों ही देशों में उसका कोई भी यूरोपीय प्रतियोगी बाक़ी न रहा। समुद्रों पर भी उसकी नौ-सेना का दबदबा क़ायम हो गया। इस तरह इंग्लैण्ड की ऐसी हैसियत हो गई कि वह अपने साम्राज्य को जमावे और बढ़ावे और संसार की एक बड़ी शक्ति बन जाय। प्रशिया का भी महत्व बढ़ा।

इस लड़ाई-झगड़े से यूरोप फिर पस्त हो गया और सारे महाद्वीप में फिर पहले से कुछ ज्यादा शान्ति नज़र आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस को पोलैण्ड की रियासत हड़पने से न रोक सकी। पोलैण्ड की ऐसी हालत न थी कि इन शक्तियों से लड़ता, इसलिए ये तीनों भेड़िये उस पर टूट पड़े और इन्होंने बार-बार उसके हिस्से बाँट कर पोलैण्ड के आज़ाद देश का अन्त कर दिया। सन् १७७२, १७९३ और १७९५ ई०, में तीन बार बँटवारे हुए। पहले बँटवारे के बाद पोलैण्ड के लोगों ने, जो पोल कहलाते हैं, अपने देश को सुधारने और मजबूत बनाने के लिए ज़बर्दस्त कोशिश की। उन्होंने पार्लमेण्ट क़ायम की और वहाँ कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पोलैण्ड के चारों तरफ़ के निरंकुश राजाशाहों के मुँह खून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसके अलावा पार्लमेण्टों से उनको नफ़रत थी। इसलिए पोलों की देश-भक्ति और महान् वीर कोसियस्को के नेतृत्व में बहादुरी के साथ लड़ाई के बावजूद १७९५ ई० में यूरोप के नक़शे पर पोलैण्ड का निशान बाक़ी न रहा। उस वक़्त पोलैण्ड तो मिट गया; लेकिन पोलों ने अपनी देश-भक्ति को ज़िन्दा रक्खा और आज़ादी का सपना फिर भी देखते रहे। एक सौ तेईस वर्ष बाद उनका सपना सच्चा हुआ और यूरोप के महायुद्ध के बाद पोलैण्ड फिर एक स्वाधीन देश के रूप में प्रकट हुआ।

मैं लिख चुका हूँ कि अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप में थोड़ा-बहुत अमन था। लेकिन वह ज्यादा टिक न सका, क्योंकि वह ज्यादातर ऊपरी सतह पर ही था। उस सदी में जो बहुत-सी घटनाएँ हुईं उनको भी मैं बतला चुका हूँ। लेकिन असल में अठारहवीं सदी तीन घटनाओं, तीन क्रान्तियों, के लिए मशहूर है, और इन सौ वर्षों में यूरोप में और जो कुछ भी हुआ, वह इन तीन घटनाओं के सामने हेच मालूम होता है। ये तीनों क्रान्तियाँ इस सदी के आख़िरी पच्चीस वर्षों में हुईं। ये क्रान्तियाँ तीन अलग-अलग क़िस्मों की थीं—राजनीतिक, उद्योगी और समाजी। राजनीतिक क्रान्ति अमेरिका में हुई। यह वहाँ के अंग्रेज़ी उपनिवेशों का विद्रोह था, जिसका नतीजा यह हुआ कि 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका', यानी अमेरिका का संयुक्त राज्य, का स्वाधीन गणराज्य बना, जो हमारे आज के ज़माने में इतना शक्तिशाली होनेवाला था। उद्योगी क्रान्ति इंग्लैण्ड में शुरू हुई। वहाँ से पहले तो वह पश्चिम यूरोप के दूसरे देशों में फैली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फिर दूसरी जगहों में। हालाँकि यह क्रान्ति बिना किसी मारकाट के हुई, लेकिन बहुत दूर तक असर डालनेवाली थी और सारी दुनिया की ज़िन्दगी पर जितना इसका असर पड़ा उतना इससे पहले इतिहास में लिखी हुई किसी भी घटना का नहीं पड़ा। इसका नतीजा हुआ भाप और बड़ी मशीन और आख़िर में उद्योगवाद की उन अनगिनती शाखाओं का आना, जो आज हम अपने चारों तरफ़ देख रहे हैं। फ़्रान्स की महान् राज्य-क्रान्ति समाजी क्रान्ति थी, जिसने न केवल फ़्रान्स की राजाशाहीं का ही अन्त कर दिया, बल्कि बहुत-सी रियासतों को भी ख़त्म कर दिया और नये-नये वर्गों को आगे ला दिया। इन तीनों क्रान्तियों पर हम ज़रा खुलासा तौर पर अलग-अलग विचार करेंगे।

हम देख चुके हैं कि इन परिवर्तनों की शुरुआत से पहले यूरोप में राजाशाही का ज़ोर था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड में पार्लमेण्ट तो थीं, लेकिन उनकी बागडोर अमीरों और धनवानों के हाथ में थी। क़ानून बनाये जाते थे तो धनवानों के लिए और उनके माल, अधिकारों और हक़ों की हिफ़ाज़त के लिए। शिक्षा भी सिर्फ़ धनवान और हक़दार वर्गों के लिए थी। असल में खुद सरकार ही इन वर्गों के लिए थी। उस ज़माने की एक सबसे बड़ी समस्या ग़रीबों की समस्या थी। हालाँकि ऊपर के लोगों की हालत में कुछ सुधार हुआ, लेकिन ग़रीबों की मुसीबतें वैसी ही बनी रहीं, बल्कि ज्यादा बढ़ गईं।

अठारहवीं सदी भर में यूरोप के राष्ट्र गुलामों का बे-रहम और बे-दर्द व्यापार करते रहे। वैसे तो यूरोप में गुलामी खत्म हो चुकी थी, हालाँकि काश्तकारों की हालत, जिन्हें असामी कहते थे, गुलामों से बेहतर न थी। लेकिन अमेरिका की खोज के बाद गुलामों का पुराना व्यापार अपनी सबसे ज्यादा बे-रहम सूरत में फिर चेत गया। स्पेनियों और पुर्तगालियों ने इसकी इस तरह शुरुआत की कि वे अफ़्रीका के किनारों पर से हब्शियों को पकड़-पकड़कर अमेरिका ले जाने लगे और उनसे खेतों में काम लेने लगे। इस कमीने व्यापार में इंग्लैण्ड ने भी भरपूर हिस्सा लिया। जिन अफ़्रीकियों को जंगली जानवरों की तरह शिकार करके और पकड़कर और फिर जंज़ीरों में कसकर अमेरिका को लादा जाता था, उनकी भयंकर तकलीफ़ों का अन्दाज़ा लगाना तुम्हारे लिए, या किसी के लिए भी मुश्किल है। हज़ारों तो वहाँ पहुँचने के पहले ही चल बसते थे। इस दुनिया में जितने लोगों ने मुसीबतें झेली हैं, उनमें सबसे ज्यादा मुसीबतों का भार शायद हब्शियों पर ही पड़ा है। उन्नीसवीं सदी में गुलामी की प्रथा क़ानूनन मिटा दी गई और इंग्लैण्ड इस बात में अगुआ रहा। अमेरिका में इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृह-युद्ध हुआ। आज अमेरिका के संयुक्त राज्य में बसनेवाले करोड़ों हब्शी इन्हीं गुलामों की सन्तान हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं इस पत्र को यह बतलाकर अच्छे सुर में ख़त्म करूंगा कि इस सदी में जर्मनी और आस्ट्रिया में संगीत का बड़ा भारी विकास हुआ। तुम जानती हो कि यूरोपीय संगीत में जर्मन लोग आगे हैं। इनमें से कुछ बड़े-बड़े संगीतज्ञों के नाम सत्रहवीं सदी में भी सामने आते हैं। दूसरे देशों की तरह ही यूरोप में भी संगीत क़रीब-क़रीब मज़हबी रस्मों का अंग था। धीरे-धीरे ये दोनों अलग होने लगे और संगीत ख़ुद ही कला बन गया, जिसका मज़हब से कोई रिश्ता न रहा। मोत्सार्त (मोज़ार्ट) और बीथोवन—ये दो नाम अठारहवीं सदी में रोशन होते हैं। दोनों बाल-गन्धर्व थे: दोनों ही प्रतिभाशाली राग रचनेवाले थे। यह अजीब बात है कि बीथोवन, जो शायद पश्चिम का सबसे महान् राग रचनेवाला माना जाता है, बिलकुल बहरा हो गया था, और जिस अद्भुत संगीत की रचना उसने दूसरों के लिए की उसे वह ख़ुद नहीं सुन सकता था। लेकिन उस संगीत को पकड़ने से पहले उसके हृदय ने ज़रूर उसे गाकर सुनाया होगा।

: ९७ :

बड़ी मशीन का आगमन

२६ सितम्बर, १९३२

अब हम उसकी चर्चा करेंगे जो औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है। इसकी शुरुआत इंग्लैण्ड में हुई, इसलिए इंग्लैण्ड में ही हम संक्षेप में इस पर ग़ौर करेंगे। मैं इसके लिए कोई ठीक सन नहीं बतला सकता, क्योंकि यह परिवर्तन जादू की तरह किसी ख़ास साल में नहीं हुआ। लेकिन फिर भी वह काफ़ी तेज़ी के साथ हुआ और अठारहवीं-सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्षों से कम में ही उसने ज़िन्दगी की सूरत बदल दी। इन पत्रों में तुमने और मैंने, दोनों ने दुनिया की शुरुआत से लगाकर हज़ारों वर्षों के इतिहास के सिलसिले का सिंहावलोकन किया है और बहुत-से परिवर्तन हमारी निगाह में आये हैं। लेकिन ये सब परिवर्तन, जो कभी-कभी बहुत बड़े भी हुए, लोगों की ज़िन्दगी और रहन-सहन के ढँग को गहराई के साथ नहीं बदल सके। अगर सुक़रात या अशोक या जूलियस सीज़र भारत में अकबर के दरबार में अचानक चले आते, या अठारहवीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड या फ़्रान्स में पहुंच जाते, तो बहुत-से परिवर्तन उनकी नज़र में आते। इनमें से कुछ परिवर्तनों को वे पसन्द करते और कुछ को नापसन्द। लेकिन सरसरी तौर पर, कम-से-कम बाहर से, वे दुनिया को पहचान लेते, क्योंकि विचारों में उन्हें बहुत फ़र्क़ नहीं मालूम होता। और जहाँ तक ऊपरी बातों से ताल्लुक़ है वे अपने को बिलकुल अजनबी नहीं महसूस करते। अगर वे सफ़र करना चाहते तो घोड़े पर या घोड़ा-गाड़ी पर करते, जैसाकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ज़माने में किया करते थे; और सफ़र में वक़्त भी क़रीब-क़रीब उतना ही लगता।

लेकिन इन तीनों में से एक भी अगर हमारे ज़माने की दुनिया में आ जाय तो उसे बड़ा ज़बर्दस्त अचम्भा होगा। और यह अचम्भा बहुत करके उसके लिए दर्दभरा भी हो सकता है। वह देखेगा कि आजकल लोग तेज-से-तेज घोड़े से भी ज़्यादा तेजी के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज़्यादा तेजी के साथ, सफ़र करते हैं। रेल, स्टीमर, मोटर और हवाई-जहाज़ में वे अद्भुत तेजी के साथ सारी दुनिया में दौड़ते-फिरते हैं। फिर उसकी दिलचस्पी तार, टेलीफ़ोन, बेतार के तार, छापेखानों से प्रकाशित होनेवाली अनगिनती किताबों, अख़बारों और सैकड़ों दूसरी चीज़ों में होगी, जो सब अठारहवीं सदी और उसके बाद की उद्योगों की क्रान्ति के लाये हुए उद्योगों के नये तरीकों के नतीजे हैं। सुक़रात या अशोक या जूलियस सीज़र इन नये तरीक़ों को पसन्द करेंगे या नापसन्द, यह मैं नहीं कह सकता, लेकिन इसमें शक नहीं कि वे उनको अपने ज़माने के तरीक़ों से बिलकुल अलग तरह के पायेंगे।

औद्योगिक क्रान्ति ने दुनिया को बड़ी मशीन दी। उसने मशीन-युग या यान्त्रिक युग की शुरुआत की। पहले भी मशीनें ज़रूर थीं, लेकिन इतनी बड़ी नहीं, जितनी कि नई मशीनें! मशीन है क्या? वह इन्सान को उसके काम में मदद देनेवाला बड़ा औज़ार है। आदमी औज़ार बनानेवाला जन्तु कहा जाता है और अपनी ज़िन्दगी के शुरू से वह औज़ार बनाता रहा है और उनको अच्छा बनाने की कोशिश करता रहा है। दूसरे जानवरों में, जिनमें से बहुत-से उससे ज़्यादा ताक़तवर थे, उसका प्रभुत्व औज़ारों की ही वजह से क़ायम हुआ था। औज़ार उसके हाथ का ही बढ़ा हुआ रूप है; या उसे तीसरा हाथ भी कह सकते हैं। मशीन औज़ार का बढ़ा हुआ रूप है। औज़ार और मशीन ने मनुष्य को पशु-जगत् से ऊपर उठा लिया। इन्होंने मनुष्य-समाज को प्रकृति की ग़ुलामी से छुड़ाया। औज़ार और मशीन की मदद से मनुष्य के लिए चीज़ें बनाना आसान हो गया। वह ज़्यादा चीज़ें बनाने लगा और फिर भी उसे ज़्यादा फ़ुरसत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की कलाओं में और विचारों में व विज्ञान में प्रगति हुई।

लेकिन बड़ी मशीन और उसके सब साथी निरी बरकतें ही नहीं साबित हुए। अगर इसने सभ्यता की तरक़्क़ी में मदद दी है तो लड़ाई और बर्बादी के भयंकर हथियार ईजाद करके वहशीपन को बढ़ाने में मदद की है। अगर इसने चीज़ों की बहुतायत पैदा की है तो यह बहुतायत जनता के लिए नहीं बल्कि कुछ थोड़े-से लोगों के लिए हुई है। इसने तो दौलतमन्दों के ऐश-आराम और ग़रीबों की ग़रीबी के अन्तर को पहले से भी ज़्यादा बढ़ा दिया है। यह मनुष्य का औज़ार और सेवक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के बजाय उसका स्वामी बनने का दावा करने लगी है। एक तरफ़ तो इसने सहयोग, संगठन, समय की पाबन्दी वग़ैरा गुण सिखाये हैं; दूसरी तरफ़ लाखों की ज़िन्दगी को एक ऐसा नीरस ढर्रा और ऐसा मशीनी बोझ बना दिया है, जिसमें ज़रा भी खुशी और आज़ादी नहीं है।

लेकिन मशीन से जो बुराइयाँ पैदा हुई हैं, उसके लिए हम उस बेचारी को क्यों दोष दें? दोष तो मनुष्य का है जिसने उसका दुरुपयोग किया है, और समाज का है, जिसने उससे पूरा फ़ायदा नहीं उठाया। यह तो ध्यान में भी नहीं आ सकता कि दुनिया या कोई देश, उद्योग की क्रान्ति से पहले के पुराने ज़माने को लौट जाय; और यह बात न तो ज़रूरी मालूम होती है, न बुद्धिमानी की कि हम लोग कुछ बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए उद्योगवाद की लाई हुई बहुत सारी अच्छी चीज़ों को फेंक दें। चाहे जो हो, मशीन तो अब आ गई और बनी रहेगी। इसलिए हमारे सामने सवाल यही है कि उद्योगवाद की लाभकारी चीज़ों को रख लें और उसके साथ जो बुराइयाँ चिपक गई हों, उनसे पिण्ड छुड़ायें। इससे पैदा होनेवाली दौलत से हमको फ़ायदा उठाना चाहिए, लेकिन इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि यह दौलत उन लोगों में बराबर बँट जाय जो उसे पैदा करते हैं।

इस पत्र में मेरा इरादा तुम्हें इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के बारे में कुछ बतलाने का था। लेकिन जैसी कि मेरी आदत है, मैं असली बात से अलग हट गया हूँ और उद्योगवाद के नतीजों की चर्चा करने लगा हूँ। मैंने तुम्हारे सामने वह समस्या रख दी है, जो आज लोगों को परेशान कर रही है, लेकिन यहाँ तक आ पहुँचने से पहले हमको पिछले कल की बातों से निबटना है; उद्योगवाद के नतीजों पर विचार करने से पहले हमको यह जाँच करना है कि वह कब और कैसे आया। मैंने यह भूमिका इतनी लम्बी इसलिए की है कि तुमको इस क्रान्ति का महत्व महसूस करा सकूँ। यह कोरी राजनीतिक क्रान्ति न थी, जिससे चोटी पर के बादशाह और शासक बदल गये हों। यह ऐसी क्रान्ति थी, जिसका असर सब वर्गों पर और असल में हर आदमी पर पड़ा। मशीन और उद्योगवाद की विजय का मतलब था मशीन पर क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्गों की विजय। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, राज वही वर्ग करता है, जो पैदावार के साधनों पर क़ब्ज़ा रखता है। पुराने ज़माने में उपज का सबसे बड़ा ज़रिया सिर्फ़ ज़मीन थी, इसलिए जो लोग ज़मीन के मालिक यानी ज़मींदार थे, उन्हींका बोलबाला था। सामन्तशाही के ज़माने में भी यही हाल रहा। इसके बाद ज़मीन के अलावा दूसरी तरह की दौलत सामने आई और ज़मींदार-वर्ग के लोगों की सत्ता में पैदावार के नये साधनों के मालिकों का साझा हो गया और अब बड़ी मशीन आती है, जिससे उसपर क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्ग क़ुदरती तौर पर आगे आ जाते हैं और मालिक बन बैठते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन पत्रों के सिलसिले में मैं कई बार तुमको बतला चुका हूँ कि शहरों के बुर्जुआ यानी मध्यमवर्गों का महत्व किस तरह बढ़ा और किस तरह वे सामन्ती अमीर-सरदारों से लड़ते रहे और कहीं-कहीं कुछ हदतक विजयी भी हुए। मैंने तुमको सामन्तशाही के पतन का हाल बतलाया है और शायद तुम्हारे दिल में यह ख़याल पैदा कर दिया है कि इस नये मध्यमवर्ग ने उसकी जगह ले ली। अगर ऐसा है तो मैं अपनी ग़लती सुधारना चाहता हूँ, क्योंकि मध्यमवर्ग ने बहुत धीरे-धीरे तरक्क़ी की और यह तरक्क़ी उस ज़माने में नहीं हुई, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। फ़्रान्स में राज्य-क्रान्ति ने और इंग्लैण्ड में इसी तरह की क्रान्ति के डर ने कहीं जाकर मध्यमवर्ग को ऊपर उठने का मौक़ा दिया। इंग्लैण्ड की १६८८ ई० की क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि पार्लमेण्ट की विजय हो गई, लेकिन तुम्हें याद होगा कि ख़ुद पार्लमेण्ट भी लोगों की एक छोटी-सी संख्या की, और ख़ासकर ज़मींदारों की, प्रतिनिधि थी। शहरों के कुछ बड़े-बड़े व्यापारी उसमें भले ही घुस जाते हों, लेकिन असल में व्यापारी-वर्ग, यानी मध्यमवर्ग के लिए उसमें कोई जगह न थी।

इसलिए राजनीतिक सत्ता उन लोगों के हाथों में थी, जो ज़मींदारियों के मालिक थे। इंग्लैण्ड में ऐसा ही था और दूसरे देशों में तो और भी ज़्यादा था। ज़मींदारी पिता से पुत्र को विरासत में मिलती थी। इसलिए राजनीतिक सत्ता ख़ुद भी एक मौरूसी हक़ बन गई। मैं इंग्लैण्ड के 'जेबी निर्वाचन क्षेत्रों' यानी पार्लमेण्ट में प्रतिनिधि भेजनेवाले ऐसे चुनाव-क्षेत्रों के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ, जिनमें सिर्फ़ कुछ गिने-चुने निर्वाचक होते थे। ये गिने-चुने निर्वाचक आमतौर पर किसी की मुट्ठी में होते थे और इसलिए वह निर्वाचन-क्षेत्र उसकी जेब में समझा जाता था। ऐसे चुनाव लाज़िमी तौर पर एक तमाशा होते थे; ख़ूब रिश्वतें चलती थीं और वोट व पार्लमेण्ट की सीटें बिकती थीं। बढ़ते हुए मध्यमवर्ग के कुछ मालदार लोग इस तरह से पार्लमेण्ट की सीट ख़रीद सकते थे। लेकिन जनता के लोग दोनों में से एक तरफ़ भी निगाह नहीं डाल सकते थे। उनको तो कोई मौरूसी हक़ या सत्ता मिलती न थी, और ज़ाहिर है कि वे सत्ता ख़रीद भी नहीं सकते थे। इसलिए जब धनवान और हक़दार लोग उनकी छाती पर बैठकर उन्हें चूसते थे तो वे कर ही क्या सकते थे? पार्लमेण्ट में या पार्लमेण्ट के मेम्बरों के चुनाव में भी उनकी कोई आवाज़ न थी। सत्ताधारी लोग उनके बाहरी प्रदर्शनों तक से बहुत नाराज़ होते थे और इन्हें बलपूर्वक दबा दिया जाता था। वे बिखरे हुए, कमज़ोर और असहाय थे। लेकिन जब ज़ुल्मों और मुसीबतों का प्याला भर गया तो वे क़ानून और व्यवस्था को भूलकर दंगा कर बैठे। इस तरह इंग्लैण्ड में अठारहवीं सदी में ग़ैर-क़ानूनी हरकतों का बहुत ज़ोर रहा। जनता की माली हालत आमतौर पर बहुत ख़राब थी। छोटे-छोटे काश्तकारों की ज़मीनें छीनकर और उन्हें ज़बर्दस्ती बेदख़ल करके बड़े-बड़े ज़मींदार अपनी जागीरें बढ़ाने की कोशिशें कर रहे थे,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे यह हालत और भी बुरी होती जा रही थी। गाँवों की शामलाती ज़मीन भी हड़प ली जाती थी। ये सब बातें जनता की मुसीबतों को बढ़ानेवाली थीं। शासन में कोई आवाज़ न होने के कारण भी आम लोग नाराज़ थे और कुछ ज्यादा स्वतन्त्रता के लिए दबीदबी-सी माँग करते थे।

फ़्रान्स में तो हालत और भी खराब थी, जिसने वहाँ राज्य-क्रान्ति करा दी। इंग्लैण्ड में बादशाह का महत्व कुछ नहीं रहा था और सत्ता ज्यादा लोगों के हाथ में आ गई थी। इसके अलावा इंग्लैण्ड में फ़्रान्स की तरह के राजनीतिक विचारों का विकास नहीं हुआ था। इसलिए इंग्लैण्ड एक बड़े भारी विस्फोट से बच गया और वहाँ परिवर्तन ज़रा धीरे-धीरे हुए। इसी अर्से में उद्योगवाद और नये आर्थिक ढाँचे की वजह से जल्दी-जल्दी होनेवाले परिवर्तनों ने चाल को तेज कर दिया।

अठारहवीं सदी में इंग्लैण्ड की राजनीतिक हालत का पिछवाड़ा यही था। खासकर विदेशी कारीगरों के आ बसने से इंग्लैण्ड घरेलू उद्योग-धन्धों में बहुत आगे बढ़ गया। यूरोप के मज़हबी युद्धों ने बहुत-से प्रोटेस्टेण्टों को अपने देश और घर छोड़कर इंग्लैण्ड में शरण लेने के लिए मजबूर किया। जिस समय स्पेनवाले नीदरलैण्ड के विद्रोह को कुचलने की कोशिश कर रहे थे उस समय बहुत-से कारीगर नीदरलैण्ड से भागकर इंग्लैण्ड आ गये। कहा जाता है कि इनमें से तीस हज़ार इंग्लैण्ड के पूर्वी भाग में बस गये और रानी एलिज़ाबेथ ने उनको इस शर्त पर वहाँ बसने की आज्ञा दी कि हरेक घर में एक अंग्रेज को काम सिखाने के लिए रक्खा जाय। इससे इंग्लैण्ड को अपने कपड़ा-उद्योग को बनाने में मदद मिली। जब यह उद्योग जम गया तो अंग्रेज़ों ने नीदरलैण्ड के बने हुए कपड़े का इंग्लैण्ड में आना रोक दिया। उधर नीडरलैण्ड अभी तक आज़ादी के भयानक युद्ध में फँसा हुआ था, जिससे उसके उद्योग-धन्धों को नुक़सान पहुँच रहा था। नतीजा यह हुआ कि जहाँ पहले नीडरलैण्ड के कपड़ों से भरे हुए जहाज़-के-जहाज़ इंग्लैण्ड जाया करते थे, वहाँ बहुत जल्दी न सिर्फ़ यह बन्द हो गया—बल्कि उलटे अंग्रेज़ी कपड़े नीदरलैण्ड की तरफ़ जाने लगे और इनकी मिक़दार बढ़ती ही गई।

इस तरह बेलजियम के वॉलून लोगों ने अंग्रेज़ों को कपड़ा बुनना सिखाया। बाद में फ़्रान्स से प्रोटेस्टेण्ट शरणार्थी ह्यूजिनॉट आये और इन्होंने अंग्रेज़ों को रेशमी कपड़ा बुनना सिखाया। सत्रहवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप के बहुत-से होशियार कारीगर इंग्लैण्ड चले आये और अंग्रेजों ने इनसे बहुत-से धन्धे सीखे, जैसे—कागज़, काँच, चाभी के खिलौने और जेबी व दीवार की घड़ियाँ, बनाना।

इस तरह इंग्लैण्ड, जो अभी तक यूरोप का एक पिछड़ा हुआ देश था, महत्व में और दौलत में बढ़ने लगा। लन्दन की भी बढ़ोत्तरी हुई और वह सौदागरों और व्यापारियों की मालामाल होती हुई आबादीवाला काफ़ी महत्व का बन्दरगाह बन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। एक दिलचस्प कहानी से हमको पता लगता है कि सत्रहवीं सदी के रूप में ही लन्दन एक बड़ा भारी बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र था। इंग्लैण्ड का बादशाह जेम्स प्रथम, जो चार्ल्स प्रथम का—जिसका सिर उड़ा दिया गया था—पिता था, बादशाह की निरंकुशता व दैवी अधिकार को पूरी तरह माननेवाला था। वह पार्लमेण्ट और लन्दन के इन कल के छोकरे व्यापारियों को पसन्द नहीं करता था। और उसने ग़ुस्से में आकर लन्दन के नागरिकों को, अपनी राजधानी ऑक्सफ़ोर्ड ले जाने की, धमकी दी। लन्दन के लार्ड मेयर पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ और उसने कहा—"मुझे उम्मीद है कि हिज़ मैजेस्टी हमारे लिए टेम्स नदी तो छोड़ जाने की इनायत करेंगे!"

पार्लमेण्ट की मदद पर यही मालदार व्यापारी-वर्ग था और इसीने चार्ल्स प्रथम के साथ होनेवाली लड़ाई में उसे खूब रुपया दिया था।

इंग्लैण्ड में जो सब उद्योग-धन्धे पैदा हुए वे घरेलू उद्योग या कुटीर-उद्योग कहलाते हैं। यानी कारीगर या दस्तकार लोग आमतौर पर अपने घरों में या छोटे-छोटे गिरोहों में काम करते थे। हरेक धन्धे के दस्तकारों की 'गिल्ड' या समितियाँ होती थीं, जो भारत की बहुत-सी जातियों से मिलती-जुलती थीं, लेकिन जिनमें इन जातियों का-सा मज़हबी तत्व नहीं होता था। दस्तकारियों के उस्ताद शागिर्द रखते थे और उनको अपने हुनर सिखलाते थे। जुलाहों के निजी करघे होते थे, कातनेवाले निजी चरखे रखते थे? कताई का खूब प्रचार था और यह धन्धा लड़कियाँ और औरतें फ़ालतू वक़्त में करती थीं: कहीं-कहीं छोटे-छोटे कारख़ाने होते थे जहाँ बहुत-से करघे इकट्ठे कर लिये जाते थे और जुलाहे मिलकर काम करते थे। लेकिन हरेक बुनकर अपने करघे पर अलग ही काम करता था, और चाहे वह इस करघे पर अपने घर ही काम करता या दूसरे बुनकरों और उनके करघों के साथ किसी दूसरी जगह काम करता, इन दोनों बातों में कोई असली फ़र्क़ न था। यह छोटा कारखाना बड़ी मशीनोंवाले आधुनिक कारख़ानों से बिलकुल अलग तरह का था।

उस ज़माने में उद्योग-धन्धों का यह घरेलू दर्जा सिर्फ़ इंग्लैण्ड में ही नहीं बल्कि दुनिया भर के हरेक देश में, जहाँ उद्योग-धन्धे होते थे, फूल-फल रहा था। मसलन भारत में ये घरेलू उद्योग-धन्धे बहुत उन्नत थे। इंग्लैण्ड में घरेलू-उद्योग-धन्धे क़रीब-क़रीब बिलकुल ख़त्म हो गये, लेकिन भारत में अब भी बहुत-से मौजूद हैं। भारत में बड़ी मशीन और घरेलू करघा दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, और इन दोनों का मिलान और फ़र्क़ देखा जा सकता है। तुम जानती हो कि हम जो कपड़ा पहनते हैं वह खादी है। यह हाथ-कता और हाथ-बुना है। और इसलिए पूरी तरह भारत की कुटीरों व कच्ची झोपड़ियों में बना हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नये मशीनी आविष्कारों ने इंग्लैण्ड के घरेलू उद्योग-धन्धों की काया ही पलट दी। मशीनें आदमी का काम दिन-पर-दिन ज्यादा करने लगीं और उनके ज़रिये कम मेहनत से ज्यादा माल पैदा करना आसान हो गया। ये आविष्कार अठारहवीं सदी के बीच में शुरू हुए और इनका ज़िक्र हम अगले पत्र में करेंगे।

मैंने थोड़े में अपने खादी-आन्दोलन का ज़िक्र किया है। इसके बारे में यहाँ मैं ज्यादा नहीं लिखना चाहता। लेकिन मैं तुमको बतला देना चाहता हूँ कि यह आन्दोलन या चरखा बड़ी मशीन से मुक़ाबला करने के लिए नहीं है। बहुत-से लोग इस ग़लती में पड़ जाते हैं और यह ख़याल करने लगते हैं कि चरखे का अर्थ है मध्य-युगों को लौट जाना और मशीनों व उद्योगवाद के सब फलों को रद्दी समझकर फेंक देना। यह सब ग़लत है। हमारा आन्दोलन यक़ीनी तौर पर न तो उद्योगवाद के ही खिलाफ़ है और न मशीनों और कारख़ानों के। हम तो चाहते हैं कि भारत को सबसे अच्छी चीज़ें मिलें और जहाँतक हो सके बहुत जल्दी मिलें। लेकिन भारत की मौजूदा हालत को, और ख़ासकर अपने किसानों की भयंकर ग़रीबी को देखते हुए, हम उनसे अनुरोध करते हैं कि वे अपने फ़ालतू समय में सूत कातें। इस तरह वे न सिर्फ़ कुछ हद तक अपनी हैसियत सुधारते हैं, बल्कि विदेशी कपड़े पर हमारी उस निर्भरता को भी कम करते हैं, जिसकी वजह से हमारे देश की इतनी दौलत बाहर जाती रहती है।

: ९८ :

इंग्लैण्ड में उद्योगी क्रान्ति की शुरुआत

२२ सितम्बर, १९३२

अब मैं तुमको कुछ मशीनी आविष्कारों के बारे में बतलाना चाहता हूँ, जिन-की वजह से पैदावार के तरीक़ों में बड़ा ज़बर्दस्त फ़र्क़ पड़ गया। आज हम उनको किसी मिल या कारख़ानों में देखते हैं तो वे हमको कुछ ज्यादा पेचीदा नहीं लगते। लेकिन पहले-पहल उनका विचार करना और उनका आविष्कार करना बड़ी मुश्किल बात थी। सबसे पहला आविष्कार १७३८ ई० में हुआ जब 'के' नामक एक अंग्रेज़ ने कपड़ा बुनने की सरकवाँ ढरकी बनाई। इस आविष्कार के पहले बुनकर के हाथ की ढरकी का धागा लम्बे फैले हुए ताने के तारों में धीरे-धीरे पिरोया जाता था। सरकवाँ ढरकी के ज़रिये यह काम बहुत जल्दी होने लगा, जिससे बुनकर दूना माल तैयार करने लगे। इसका मतलब यह हुआ कि अब बुनकर पहले से बहुत ज्यादा सूत काम में ला सकता था। सूत की इस बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में कतवारियों को बड़ी दिक्क़त हुई और वे भी अपनी पैदावार बढ़ाने की कुछ तरकीब निकालने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोशिश करने लगे। १७६४ ई० में हारग्रीव्ज ने कातने की 'जेनी' का आविष्कार करके इस समस्या को कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचर्ड आर्कराइट और दूसरे लोगों ने और-और आविष्कार किये, जल-शक्ति का और बाद में भाप-शक्ति का इस्तेमाल होने लगा। शुरू में ये सब आविष्कार सूती कपड़े के उद्योग में काम में लाये गए और सूती कपड़े के कारखाने या मिलें धड़ा-धड़ खड़े होने लगे। इसके बाद इन नये तरीक़ों को उपयोग में लानेवाला ऊनी कपड़ों का उद्योग था।

इसी अर्से में, १७६५ ई० में, जेम्स वाट ने भाप का इंजन बनाया। यह एक बड़ी भारी घटना थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारखानों को चलाने में भाप का इस्तेमाल होने लगा। इन नये कारखानों के लिए कोयले की ज़रूरत पड़ी, इसलिए कोयले के उद्योग की तरक्क़ी हुई। कोयले के इस्तेमाल से लोहा गलाने के, यानी कच्चे लोहे को गलाकर शुद्ध धातु अलग करने के, नये तरीके ईजाद हुए। इसपर लोहे का उद्योग बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। नये-नये कारखाने कोयले की खानों के पास बनाये जाने लगे, क्योंकि वहाँ कोयला सस्ता पड़ता था।

इस तरह इंग्लैण्ड में तीन नये उद्योगों—कपड़ा, लोहा और कोयला—का विकास हुआ और कोयले के क्षेत्रों और दूसरी माक़ूल जगहों में कारखाने खड़े होने लगे। इंग्लैण्ड की काया ही पलट गई। हरे-हरे खुशनुमा देहात के बजाय अब बहुत-सी जगह ये क़ारखाने पैदा हो गये, जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियाँ धुआँ उगलकर आस-पास अँधेरा करने लगीं! कोयलों के ऊँचे टीलों और कूड़े-कचरे के ढेरों से घिरे हुए ये कारखाने कुछ सुन्दर चीज़ें नहीं थीं। इन कारखानों के पास बसनेवाले उद्योगी नगर भी कोई सुन्दर चीज़ें न थे। वे तो किसी तरह खड़े कर लिये गये थे, क्योंकि मिल-मालिकों का तो असली मक़सद था रुपया बनाते रहना। ये नगर भद्दे, बड़े और गन्दे थे, और भूखों मरते मज़दूरों को मजबूरी से इन नगरों और कारखानों की बड़ी बुरी और तन्दुरुस्ती ख़राब करनेवाली हालतों में रहना पड़ता था।

तुम्हें याद होगा कि मैं लिख चुका हूँ कि बड़े जमींदारों ने छोटे-छोटे काश्तकारों को ज़बर्दस्ती बेदखल कर दिया था और बेकारी बढ़ी; इससे इंग्लैण्ड में दंगे हुए और ग़दर मच गया। शुरू-शुरू में इन नये उद्योगों ने हालत और भी ख़राब कर दी। खेती-बाड़ी को नुक़सान पहुँचा और बेकारी बढ़ने लगी। वास्तव में जैसे ही कोई नया आविष्कार होता, वैसे ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम की जगह मशीनें ले लेतीं। उसका फल यह होता था कि बहुत बार मज़दूर लोग नौकरी से निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमें बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। इनमें से बहुत-से नई मशीनों से नफ़रत करने लगे और उनको तोड़ डालने की भी कोशिशें करने लगे। ये लोग 'मशीन तोड़' कहलाने लगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोप में 'मशीन-तोड़ी' का एक लम्बा इतिहास है, जो सोलहवीं सदी से शुरू होता है, जबकि जर्मनी में एक मामूली मशीनी करघा ईजाद हुआ था। इटली के एक पादरी की १५७९ ई० में लिखी गई एक पुरानी पुस्तक में इस करघे के बारे में लिखा है कि डैनज़िग की नगर-परिषद् ने "इस डर से कि आविष्कार सैकड़ों कारीगरों को दर-दर का भिखारी बना देगा, मशीन को नष्ट करवा दिया और आविष्कार करनेवाले को चुपचाप गला घोंटकर या पानी में डुबोकर मरवा डाला!" इस आविष्कार करनेवाले का इस तरह झटपट सफ़ाया कर दिये जाने पर भी सत्रहवीं सदी में यह मशीन फिर प्रकट हुई और इसकी वजह से सारे यूरोप में दंगे-फ़िसाद हुए। इसके इस्तेमाल को रोकने के लिए कितनी ही जगह क़ानून बनाये गए और कहीं-कहीं तो बीच बाज़ार में सब लोगों के सामने इसमें आग लगाई गई। अगर यह मशीन जिस समय ईजाद हुई थी उसी समय इस्तेमाल में आ जाती तो सम्भव है इसके बाद दूसरे आविष्कार होते और मशीन-युग ज़रा ज़ल्दी आ जाता। लेकिन सिर्फ़ यही बात कि इसका इस्तेमाल नहीं किया गया यह साबित करती है कि उस समय की हालतों में इसका वक़्त नहीं आया था। जब वक़्त आ गया तो इंग्लैण्ड में बहुत-से दंगे-फ़िसाद होने पर भी मशीन की सत्ता क़ायम हो गई। मज़दूरों की मशीन के लिए नाराज़गी क़ुदरती बात थी। लेकिन धीरे-धीरे वे जान गये कि दोष मशीन का नहीं, बल्कि उस तरीक़े का था, जिससे वह थोड़े-से लोगों के फ़ायदे के लिए काम में लाई जाती थी। लेकिन अब हमको इंग्लैण्ड में मशीन और कारख़ानों के विकास की तरफ़ लौटना चाहिए।

नये कारख़ाने बहुत-से कुटीर-उद्योगों और घरेलू काम करनेवालों को खा गये। इन घरेलू काम करनेवालों के लिए मशीन से होड़ करना सम्भव न था, इसलिए या तो उनको अपने पुराने हुनरों और धन्धों को छोड़कर उन्हीं कारख़ानों में मज़दूरी तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे नफ़रत करते थे, या बेकारों में शामिल होना पड़ता था। कुटीर-उद्योगों का विनाश एकदम तो नहीं हुआ, लेकिन हुआ काफ़ी तेजी के साथ। सदी के अन्त तक, यानी क़रीब १८०० ई० तक बहुत-से बड़े-बड़े कारख़ाने नज़र आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफेन्सन के 'रॉकेट' नामक मशहूर इंजन के साथ भाप से चलनेवाली रेलें शुरू हुईं। इस तरह सारे देश में, और उद्योग-धन्धों व जीवन के लगभग सारे कामों में, मशीन दिन-पर-दिन आगे बढ़ती गई।

यह दिलचस्प बात है कि सारे आविष्कार करनेवाले, जिनमें से बहुतों का ज़िक्र मैंने नहीं किया है, दस्तकारों के वर्ग में पैदा हुए थे। इसी वर्ग में से शुरू-शुरू के बहुत-से उद्योगी नेता निकले। लेकिन उनके आविष्कारों का, और इनकी वजह से पैदा होनेवाले कारख़ानों के ढंग का, नतीजा यह हुआ कि मालिक और मज़दूर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बीच की खाई और भी ज़्यादा चौड़ी हो गई। कारखाने का मज़दूर मशीन का सिर्फ़ एक किर्रा बन गया और उन ज़बर्दस्त आर्थिक ताक़तों के हाथ में असहाय हो गया, जिनको वह समझ तक नहीं सकता था; उनपर क़ाबू पाना तो दूर रहा। दस्तकार और कारीगर को सबसे पहले खटका तो तभी हुआ था जब उन्हें पता लगा कि नये कारखाने उन लोगों से होड़ कर रहे हैं और चीज़ें इतनी सस्ती बनाकर बेच रहे हैं, जितनी सस्ती अपने सादे और आदिम औज़ारों से घर पर बनाकर बेचना उनके लिए सम्भव न था। कोई क़सूर न होते हुए भी उनको अपनी छोटी-छोटी दूकानें बन्द करनी पड़ीं। अगर वे अपने ही हुनर को नहीं चला सकते थे तो नये हुनर में सफल होना तो दूर की बात थी। बस, वे बेकारों की फ़ौज में शामिल हो गये और भूखों मरने लगे। अंग्रेज़ी कहावत है कि "भूख कारखानेदार का ड्रिल-सारजैण्ट[1] है," और इसी भूख ने आख़िर इन कारीगरों को नौकरी की तलाश में नये कारखानों के दरवाज़ों पर ला पटका। मालिकों ने उनकी तरफ़ ज़रा भी दया नहीं दिखाई। उन्होंने इन्हें काम तो दिया, लेकिन सिर्फ़ कौड़ी भर मज़दूरी पर, जिसके लिए इन कम्बख्त मज़दूरों को कारखानों में अपना ख़ून पानी कर देना पड़ता था। औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक भी दम घोंटनेवाली और गन्दी जगहों में, दिन-रात पिसते थे। यहाँतक कि उनमें से बहुत-से तो थकान के मारे ग़श खाकर गिर पड़ते थे। लोग कोयले की खानों के अन्दर ठेठ नीचे सारे-सारे दिन काम करते थे और महीनों तक उनको सूरज के दर्शन न होते थे।

लेकिन यह ख़याल न कर बैठना कि इन सबकी वजह मालिकों का ज़ुल्म ही थी। वे दिल से बेरहम कभी न थे; दोष तो उस प्रणाली का था। वे तो जिस तरह हो अपना व्यापार बढ़ाना चाहते थे और दुनिया की दूर-दूर की मंडियाँ दूसरे देशों से छीनना चाहते थे, और ऐसा करने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे। नये कारखानों के बनाने में और मशीनें ख़रीदने में बहुत रुपया ख़र्च होता है। यह रुपया तभी वापस मिलता है, जब कारखाना चालू हो जाय और उसका माल बाज़ार में बिकने लगे। इसलिए नये कारखाने बनाने के लिए इन कारखानों के मालिकों को किफ़ायत से चलना पड़ता था और जब माल बिककर रुपया आ जाता था तो भी नये-नये कारखाने डालते चले जाते थे। इंग्लैण्ड में जल्दी उद्योगीकरण होने से ये लोग दुनिया के दूसरे देशों से आगे बढ़े हुए थे और इससे फ़ायदा उठाना चाहते थे—और वास्तव में उन्होंने फ़ायदा उठाया भी। बस, अपना व्यापार बढ़ाने और ज़्यादा धन कमाने की बदहवास लालसा में वे उन बेचारे

---

[1] ड्रिल-सारजैण्ट यानी फ़ौज को ड्रिल—क़वायद करानेवाला अफ़सर, जिसकी आज्ञा पर फ़ौज चलती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज़दूरों का ख़ून चूसते थे, जिनकी मेहनत उनकी दौलत पैदा करने का ज़रिया थी।

उद्योग-धन्धों की यह नई प्रणाली बलवानों के हाथों निर्बलों के शोषण के लिए ख़ासतौर पर अनुकूल थी। सारे इतिहास में हम बलवानों के हाथों निर्बलों को चूसा जाता देखते हैं। कारखानों की प्रणाली ने इसे और भी आसान कर दिया। क़ानून में तो ग़ुलामी नहीं थी, लेकिन सच तो यह है कि भूखों मरनेवाला मज़दूर, यानी कारखाने का मज़दूर ग़ुलाम, पुराने ज़माने के ग़ुलामों से किसी तरह अच्छी हालत में न था। क़ानून हमेशा मालिकों का ही साथ देता था। मज़हब भी उन्हीं के पक्ष में था और ग़रीबों से कहता था कि इस जन्म में अपने फूटे भाग्य को बर्दाश्त करो और अगले जन्म में स्वर्गीय मुआवज़े की आशा करो। शासक वर्गों ने तो वास्तव में अपने सुभीते की फ़िलासफ़ी बना ली थी कि समाज के लिए ग़रीबों का होना ज़रूरी है और इसलिए कम मज़दूरी देना नेकी है। अगर अच्छी मज़दूरी दी जायगी तो ग़रीब लोग मौज उड़ाने की कोशिश करेंगे और कड़ी मेहनत न करेंगे। विचार करने का यह तरीक़ा बड़ा तसल्ली देनेवाला और फ़ायदेमन्द था। क्योंकि कारखानेदारों और दूसरे मालदार लोगों के दौलत बटोरने के स्वार्थ से यह बिलकुल ठीक मेल खाता था।

इस ज़माने का इतिहास बड़ा दिलचस्प और नसीहत देनेवाला है। इससे कितनी जानकारी हासिल होती है। हम देख सकते हैं कि अर्थशास्त्र पर और समाज पर पैदावार के इन मशीनी तरीक़ों का कितना ज़बर्दस्त असर पड़ता है। सारा समाजी तख़्ता ही उलट जाता है, नये-नये वर्ग आगे आते हैं और सत्ता हासिल करते जाते हैं; कारीगरों का वर्ग कारखानों का मज़दूरी कमानेवाला वर्ग बन जाता है। साथ-ही-साथ नई अर्थ-व्यवस्था से मज़हब और नीति के बारे में भी लोगों के विचार नये साँचे में ढल जाते हैं। मनुष्य-जाति के आम लोगों के यक़ीन उनके हितों या वर्ग-भावनाओं के साथ-साथ दौड़ते हैं, और जब क़ानून बनाने की ताक़त उनके हाथ में आ जाती है तो वे अपने हितों की हिफ़ाज़त के लिए क़ानून बनाने में ख़ूब सावधानी रखते हैं। अलबत्ता इस सारी नेकी को, हर तरह की दिखावट के साथ किया जाता है, और हर तरह से भरोसा दिया जाता है कि क़ानून की तह में सिर्फ़ मनुष्य-जाति की भलाई करने का ही मक़सद है। हम भारत वासियों को भारत के अंग्रेज़ वाइसरायों और दूसरे अफ़सरों की ऐसी दिखावटी नेक भावनाओं का काफ़ी तजुर्बा है। हमसे हमेशा कहा जाता है कि भारत की भलाई के लिए वे लोग कितनी मेहनत करते हैं। लेकिन दूसरी तरफ़ वे आर्डिनेन्सों और संगीनों के ज़ोर से हम पर राज करते हैं और हमारे देशवासियों के कलेजे का ख़ून चूसते हैं। हमारे ज़मींदार लोग कहते हैं कि वे काश्तकारों से कितनी मुहब्बत करते हैं, लेकिन उनको निचोड़ने और उनसे कसकर लगान वसूल करने में ज़रा भी नहीं हिचकते, यहाँतक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उन बेचारों के पास सिवाय भुखमरे शरीरों के और कुछ नहीं छोड़ते। हमारे पूंजीपति और बड़े-बड़े मिल-मालिक मज़दूरों के लिए अपनी नेक-नीयती का भरोसा दिलाते हैं, लेकिन यह नेक-नीयत अच्छी मज़दूरी या मज़दूरों को ज्यादा सहूलियतें देने में प्रकट नहीं होती। सारे मुनाफ़े नये-नये महल बनवाने में खर्च हो जाते हैं; मज़दूरों की कच्ची झोंपड़ियों को सुधारने में नहीं।

ताज्जुब है कि लोग अपने-आपको और दूसरों को किस क़दर धोखा देते हैं, अगर ऐसा करना उनके हित में हो। इसलिए हम अठारहवीं सदी और उसके बाद के अंग्रेज़ मालिकों को मज़दूरों की हालत सुधारने की सारी कोशिशों में अड़ंगा डालते हुए पाते हैं। उन्होंने कारखानों के बारे में क़ानून और मज़दूरों के लिए अच्छे मकान बनाने पर ऐतराज़ किया और यह मानने से इन्कार किया कि उनकी मुसीबतों के इन कारणों को दूर करना समाज का फ़र्ज़ है। वे तो यह सोचकर तसल्ली कर लेते थे कि सिर्फ़ निकम्मे लोग ही दुःख उठाते हैं। कुछ भी हो; वे तो मज़दूरों को अपने-जैसा आदमी भी नहीं समझते थे। उन्होंने 'मुक्त-व्यापार'[1] की एक नई फ़िलासफ़ी बनाई, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार में वे जो मन में आवे सो करें और सरकार उसमें कोई दखल न दे। उन्होंने दूसरे देशों से पहले चीज़ बनाने के कारखाने खोले थे, इसलिए वे उनसे आगे थे और अब तो वे सिर्फ़ यही चाहते थे कि रुपया कमाने के लिए उनको खुली छूट मिल जाय। मुक्त-व्यापार का न्याय क़रीब-क़रीब एक दैवी मत बन गया, जिसमें यह माना जाता था कि इसमें हरेक को मौक़ा मिलता था, बशर्ते कि वह फ़ायदा उठा सके। आगे बढ़ने के लिए हरेक स्त्री और पुरुष को बाक़ी संसार से लड़ना पड़ता था और अगर इस लड़ाई में बहुत-से काम आ जाते थे तो इसमें हर्ज क्या था?

इन पत्रों के दौरान में मैं तुमको आदमी-आदमी के आपसी सहयोग की प्रगति के बारे में लिख चुका हूँ, जो सभ्यता का आधार रहा था। लेकिन 'मुक्त-व्यापार' के न्याय और नये पूंजीवाद ने जंगल का क़ानून[2] चालू कर दिया। कार्लाइल ने इसे 'शूकर-नीति'[3] नाम दिया है। जीवन और व्यापार का यह नया क़ानून किसने बनाया? मज़दूरों ने तो नहीं। उन बेचारों की तो सुनता ही कौन था। इसके बनानेवाले तो ऊँचे वर्ग के सफल मिल-मालिक थे, जो इसे बेवक़ूफ़ी की भावना बताकर

---

[1] Laissez Faire.

[2] जंगल का कानून—बलवानों के द्वारा निर्बलों के नाश का नियम, जिसके अनुसार मनुष्य के सिवा संसार के सब प्राणी आचरण करते हैं। जंगल में छोटे जानवरों को बड़े जानवर मारकर खा जाते हैं और उनसे बड़े उनको मारकर खा जाते हैं।

[3] 'Pig Philosophy.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी सफलता में किसी तरह की दस्तंदाज़ी नहीं चाहते थे। बस, स्वतन्त्रता की और मिल्कियत के हक़ की दुहाई देकर वे इसका भी विरोध करते थे कि लोगों के निजी मकानों की क़ानून के ज़ोर से सफ़ाई कराई जाय और माल में मिलावट करना रोका जाय।

मैंने अभी पूंजीपति शब्द का इस्तेमाल किया है। किसी-न-किसी रूप में पूंजीवाद बहुत दिनों से सब देशों में चला आ रहा था, यानी जमा किये हुए धन से उद्योग चलाये जाते थे। लेकिन बड़ी मशीन और उद्योगवाद के आने का नतीजा यह हुआ कि कारखानों में माल तैयार करने के लिए बहुत ज्यादा रुपये की ज़रूरत पड़ने लगी। यह 'उद्योग की पूंजी' कहलाती थी और पूंजीवाद शब्द आजकल उस अर्थ-व्यवस्था के लिए काम में लाया जाता है, जो उद्योगी क्रान्ति के बाद पैदा हुई। इस व्यवस्था के अन्दर पूंजीपति, यानी पूंजी के मालिक, कारखानों के मालिक थे और उनके मुनाफ़े कमाते थे। उद्योगीकरण के साथ-साथ पूंजीवाद सारी दुनिया में फैल गया, सिवाय सोवियत रूस और शायद कुछ दूसरे देशों के। पूंजीवाद अपनी शुरुआत के दिनों से ही अमीर और ग़रीब के भेद पर ज़ोर देता रहा है। उद्योग-धन्धों के मशीनीकरण से माल की पैदावार बहुत ज्यादा बढ़ गई और इसलिए दौलत भी खूब पैदा होने लगी। लेकिन यह नई दौलत एक छोटी-सी जमात ही की जेब में जाती थी—यानी नये उद्योगों के मालिकों की जेबों में। मज़दूर ग़रीब के ग़रीब ही बने रहे। इंग्लैण्ड में मज़दूरों की हालत बहुत ही धीरे-धीरे सुधरी, और वह भी ज्यादातर भारत व दूसरे देशों की लूट की बदौलत, लेकिन उद्योगों के मुनाफ़े में मज़दूरों का हिस्सा बहुत कम था। उद्योगी क्रान्ति और पूंजीवाद ने पैदावार की समस्या को हल कर दिया। लेकिन जो नई दौलत पैदा हुई, उसके बँटवारे की समस्या इनसे हल नहीं हुई। धनवानों और धनहीनों की पुरानी कशमकश सिर्फ़ जारी ही न रही, बल्कि और भी तीखी हो गई।

उद्योगों की क्रान्ति अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में हुई। यह वही समय था, जब अंग्रेज़ लोग भारत व कनाडा में लड़ रहे थे। यही 'सात साल की लड़ाई' का भी समय था। इन घटनाओं का एक-दूसरी पर बहुत बड़ा असर पड़ा। ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके नौकर-चाकरों (तुम्हें क्लाइव का नाम याद होगा) ने प्लासी की लड़ाई के बाद जो बेशमार रुपया भारत से लूटा उससे इन नये उद्योग-धन्धों को चालू करने में बड़ी मदद मिली। मैं इस पत्र में पहले लिख चुका हूँ कि उद्योगीकरण शुरू-शुरू में बड़े खर्चे का काम है। इसमें जो रुपया फँस जाता है, कुछ दिन तक उससे कुछ फ़ायदा नहीं मिलता। अगर बहुत-सा धन हाथ में न आ जाय, चाहे कर्ज़ से या दूसरी तरह से, तो जबतक उद्योग चल न निकले और रुपया न पैदा करने लगे तबतक उसका नतीजा ग़रीबी और मुसीबत ही होता है। इंग्लैण्ड

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यह असाधारण सौभाग्य था कि ठीक जिस वक़्त उसे अपने उद्योग-धन्धों और कारखानों को बढ़ाने के लिए रुपये की सबसे ज़्यादा ज़रूरत हुई तभी भारत से उसे देशुमार रुपया मिल गया।

इन नये कारखानों के बन जाने पर नई ज़रूरतें पैदा हुईं। कारखानों की बनी हुई चीज़ें तैयार करने के लिए कच्चे माल की ज़रूरत हुई। मसलन, कपड़ा बनाने के लिए रूई की ज़रूरत पड़ी। इससे भी ज़्यादा ज़रूरत थी नये-नये हाट-बाज़ारों की, जिनमें कारखानों में तैयार किया हुआ नया माल बेचा जा सके। कारखाने पहले खोलकर इंग्लैण्ड दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन इस पेशक़दमी के होते हुए भी उसे ऐसे हाट-बाज़ार मुश्किल से मिलते थे, जहाँ माल आसानी से बेचा जा सके। एक बार फिर भारत ने, अपनी मर्ज़ी के बिलकुल ख़िलाफ़, इंग्लैण्ड की यह दिक्क़त दूर कर दी। भारत में अंग्रेज़ों ने भारतीय उद्योग-धन्धों का सत्यानाश करने और भारत पर विलायती कपड़ा लादने के लिए सब तरह की चालबाज़ियों से काम लिया। इसका ज़्यादा हाल मैं आगे बताऊँगा। यहाँ यह बात ख़ास तौर पर ध्यान देने की है कि अंग्रेज़ों ने भारत पर जो क़ब्ज़ा कर रक्खा था और उसे ज़बर्दस्ती अपनी योजनाओं में बिठा लिया था, इससे इंग्लैण्ड की उद्योगी क्रान्ति को कितनी मदद मिली।

उन्नीसवीं सदी में उद्योगवाद सारी दुनिया में फैल गया और पूँजीवादी उद्योग का दूसरे देशों में भी उसी मोटे ढँग से विकास हुआ, जो इंग्लैण्ड में शुरू किया गया था। पूँजीवाद ने लाज़िमी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया क्योंकि हर जगह तैयार माल बनाने के लिए कच्चे माल की और तैयार माल को बेचने के लिए हाट-बाज़ारों की माँग बढ़ने लगी। बाज़ार और कच्चा माल हासिल करने का सबसे आसान तरीक़ा यही था कि उस देश पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। बस, ज़्यादा शक्तिशाली देशों में नये उपनिवेशों के लिए आपस में जंगलियों जैसी छीना-झपटी होने लगी। इस मामले में भी भारत पर क़ब्ज़ा और समुद्री ताक़त, इन दोनों वजहों से इंग्लैण्ड फ़ायदे में था। लेकिन साम्राज्यवाद और उसके नतीजों के बारे में मुझे आगे चलकर कुछ कहना है।

उद्योगों की क्रान्ति के आने से अंग्रेज़ी दुनिया पर लंकाशायर के बड़े-बड़े कपड़ा बनानेवालों, और लोहे के मालिकों और खानों के मालिकों का प्रभुत्व दिन-पर-दिन बढ़ता गया।

: ९९ :

अमेरिका का इंग्लैण्ड से नाता तोड़ना

२ अक्तूबर, १९३२

अब हम अठारहवीं सदी की दूसरी बड़ी क्रान्ति पर विचार करेंगे—यानी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिकी उपनिवेशों का इंग्लैण्ड से विद्रोह। यह तो निरी राजनीतिक क्रान्ति थी, जो न तो उद्योगी क्रान्ति जैसे बुनियादी महत्व की थी, जिस पर हम विचार कर चुके हैं, और न फ़्रान्स की उस राज्य-क्रान्ति की तरह थी, जो इसके थोड़े ही दिनों बाद होनेवाली थी और जिसने यूरोप की समाजी नींव को ही हिला डाला। लेकिन फिर भी अमेरिका में होनेवाला यह राजनीतिक परिवर्तन महत्व का था और इससे बड़े-बड़े नतीजे निकलनेवाले थे। उस वक्त जो अमेरिकी उपनिवेश आज़ाद हो गये थे वे आज बढ़कर दुनिया का सबसे शक्तशाली, सबसे मालदार और उद्योगों के लिहाज़ से सबसे ज़्यादा बढ़ा हुआ देश बन गये हैं।

तुम्हें 'मे' फ़्लावर' जहाज़ का नाम याद होगा, जो १६२० ई० में प्रोटेस्टेण्टों का एक जत्था इंग्लैण्ड से अमेरिका ले गया था। वे जेम्स प्रथम की निरंकुशता को नापसन्द करते थे, और उसके मज़हब को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे 'पिल्ग्रिम-फ़ादर्स' (यात्रिक-पितागण) कहलाते हैं, इंग्लैण्ड की ज़मीन को हमेशा के लिए सलाम करके अतलान्तिक समुद्र के पार एक नये अजनबी देश को चले गए। उनका इरादा वहाँ ऐसा उपनिवेश क़ायम करने का था, जिसमें उनको ज़्यादा आज़ादी रहे। वे उत्तर में उतरे और उस जगह का नाम उन्होंने न्यू-प्लाइमाउथ रक्खा। उत्तरी अमेरिका के समुद्री किनारे के दूसरे हिस्सों में इनसे पहले भी उपनिवेशी लोग जा बसे थे। इनके बाद बहुत-से और लोग भी जा पहुँचे और पूर्वी किनारे पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत-से छोटे-छोटे उपनिवेश क़ायम हो गये। वहां कैथलिक उपनिवेश थे; इंग्लैण्ड से आये हुए 'कैवेलियर' अमीर-सरदारों के क़ायम किये हुए उपनिवेश थे; और 'क्वेकर'[१] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया शहर का नाम पैन नामक क्वेकर नेता के ऊपर ही पड़ा है। वहाँ डच लोग भी बसते थे, जर्मनी व डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ़्रान्सीसी भी। इसमें सभी देशों के निवासी मिले हुए थे, लेकिन सबसे ज़्यादा संख्या अंग्रेज़ उपनिवेशियों की थी। डचों ने एक शहर बसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रक्खा। बाद में जब यह अंग्रेज़ों के हाथ में आया तो उन्होंने इसका नाम बदलकर न्यूयार्क कर दिया जो आजकल इतना मशहूर है।

अंग्रेज़ उपनिवेशी इंग्लैण्ड के बादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे।

---

[१] सन १६४९ ई० में विलियम फ़ॉक्स ने एक 'सोसाइटी आफ़ फ्रेण्ड्स' (मित्र-मण्डली) क़ायम की थी, जिसका उद्देश्य धर्म के 'ढकोसलों' को छोड़ देना और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगों का मुँह-बोला नाम 'क्वेकर' पड़ गया। अमेरिका में इस सोसाइटी का संगठन विलियम पैन ने किया था। इन लोगों का ज़बर्दस्त अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत-से लोगों ने अपने घर इसलिए छोड़ दिये थे कि वे इंग्लैण्ड में अपनी हालात से बेज़ार थे और बादशाह या पार्लमेण्ट के बहुत-से कामों को नापसन्द करते थे। लेकिन उनसे नाता तोड़ने की इच्छा बिलकुल न थी। दक्षिण के उपनिवेश, जिनमें कैवेलियर लोग और बादशाह के समर्थकों का ज़ोर था, इंग्लैण्ड से और भी ज़्यादा चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपनी-अपनी अलग-अलग ज़िन्दगी बिताते थे और एक-दूसरे से अलग तरह के थे। अठारहवीं सदी तक पूर्वी किनारे पर तेरह उपनिवेश थे, और ये सब इंग्लैण्ड के मातहत थे। उत्तर में कनाडा था और दक्षिण में स्पेन का इलाक़ा। इन तेरहों उपनिवेशों में जितनी डचों की या डेनमार्कवालों की या दूसरी बस्तियाँ थीं, वे सब इन्हीं में शामिल कर ली गई थीं और अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में थीं। लेकिन याद रहे कि ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के पास ही कुछ भीतर की तरफ़ थे। इनके परे पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक विशाल देश फैला हुआ था, जो आकार में इन तेरहों उपनिवेशों से क़रीब दस गुना बड़ा था। इन इलाक़ों में कोई यूरोपीय उपनिवेशी बसे हुए न थे। इनमें तो 'रेड इण्डियनों'[1] के जुदे-जुदे क़बीले या राष्ट्र बसते थे, और ये उन्हींके क़ब्ज़े में थे। इनमें मुख्य 'आइरोकोइस' थे।

अठारहवीं सदी के बीच में, जैसा कि तुम्हें खयाल होगा, इंग्लैण्ड और फ़्रान्स की संसार-व्यापी लड़ाई हुई। यह 'सात साल का युद्ध' (१७५६-१७६३ ई० तक) कहलाता है जो सिर्फ़ यूरोप में ही नहीं, बल्कि भारत और कनाडा में भी लड़ा गया। इंग्लैण्ड की जीत हुई और फ़्रान्स को कनाडा उसके हवाले करना पड़ा। इस तरह अमेरिका से फ़्रान्स का पत्ता कट गया और उत्तरी अमेरिका के सारे उपनिवेश इंग्लैण्ड के क़ब्ज़े में आ गये। कनाडा के सिर्फ़ क्यूबेक प्रान्त में ही कुछ फ़्रान्सीसी लोगों की आबादी थी; बाक़ी उपनिवेशों में अंग्रेज़ ही ज़्यादा थे। अजीब बात है कि क्यूबेक अभी तक 'ऐंग्लो-सैक्सन'[2] आबादी से घिरा हुआ फ़्रान्सीसी भाषा और संस्कृति का एक टापू-सा है। क्यूबेक प्रान्त के सबसे बड़े शहर माण्ट्रील

---

[1] कोलम्बस जब हिन्दुस्तान की तलाश में निकला तो अमेरिका जा पहुँचा। वहाँ के निवासियों को देखकर उसने उनको हिन्दुस्तानी समझा और तभी से उनको 'इंडियन' कहा जाने लगा। लेकिन जब मालूम हुआ कि ये लोग हिन्दुस्तानी न थे तो उनका ताम्बे जैसा रंग होने के कारण 'रेड इंडियन' का नाम दे दिया गया। ये लोग अब भी थोड़ी-बहुत तादाद में उत्तरी अमेरिका में पाये जाते हैं।

[2] इंग्लैण्ड के निवासी ऐंग्लो-सैक्सन जाति के माने जाते हैं। कहते हैं कि पहले-पहल जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त से लोग यहाँ आकर बसे थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(मॉण्ट रायल का बिगड़ा हुआ रूप) में, मैं समझता हूँ, फ़्रान्सीसी भाषा बोलनेवाले इतने ज़्यादा लोग हैं, जितने पेरिस के सिवा और किसी शहर में नहीं होंगे।

पिछले किसी पत्र में मैं ग़ुलामों के उस व्यापार का ज़िक्र कर चुका हूँ जो यूरोप के देशों ने अफ़्रीका से हब्शी मज़दूर पकड़-पकड़कर अमेरिका भेजने के लिए चला रक्खा था। यह भयानक और हौलनाक़ व्यापार ज़्यादातर स्पेनियों, पुर्तगालियों और अंग्रेज़ों के हाथों में था। अमेरिका में मज़दूरों की ज़रूरत थी, खासकर दक्षिणी राज्यों में, जहाँ तमाखू की खेती खूब होने लगी थी। अमेरिका के मूल निवासी 'रेड-इण्डियन' कहलानेवाले लोग, घुमक्कड़ थे और एक जगह टिककर रहना पसन्द नहीं करते थे। इसके अलावा उन्होंने ग़ुलामों की हालत में काम करने से भी इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे; तबाह हो जाना उन्होंने बेहतर समझा, और बाद में वे तबाह हो भी गये। उनका क़रीब-क़रीब सफ़ाया कर दिया गया और नई हालतों में वे ज़िन्दा न रह सके। इन लोगों में से, जो किसी समय सारे महाद्वीप में बसे हुए थे, आज बहुत कम बाक़ी बचे हैं।

चूँकि रेड-इंडियन लोग तो खेतों में काम करने के लिए मजबूर नहीं किये जा सके, और मज़दूरों की बड़ी भारी ज़रूरत थी, इसलिए अफ़्रीका के कम्बख़्त निवासियों को भयानक नर-आखेटों के ज़रिये पकड़ा जाता था, और जिस तरीक़े से उनको समुद्र पार भेजा जाता था, उसकी बेरहमी पर विश्वास करना मुश्किल है। ये अफ़्रीकी हब्शी वर्जिनिया, कैरोलिना और जॉर्जिया के दक्षिणी राज्यों को भेजे जाते थे, जहाँ इनकी टोलियाँ बनाकर इनसे ज़्यादातर तमाखू की बड़ी-बड़ी बाड़ियों में काम लिया जाता था।

उत्तरी राज्यों में हालतें इससे जुदा थीं। 'मे-फ़्लावर' जहाज़ में आये हुए 'पिल्ग्रिम फ़ादर्स' की पुरानी प्यूरिटन परम्पराएँ अभी तक चल रही थीं। वहाँ छोटे-छोटे घने फ़ार्म थे, दक्षिण की तरह विशाल बाड़ियाँ न थीं। इन फार्मों में ग़ुलामों की या मज़दूरों की ज़्यादा संख्या की ज़रूरत न थी। चूँकि नई ज़मीन की कमी न थी, इसलिए हरेक आदमी की कोशिश यही रहती थी कि अपना निजी फ़ार्म रखकर खुद-मुख्तार बना रहे। इसलिए इन बसनेवालों में बराबरी की भावना बढ़ने लगी।

इस तरह हम इन उपनिवेशों में दो आर्थिक प्रणालियों का विकास देखते हैं; एक तो उत्तर में, जो छोटे-छोटे फ़ार्मों और बराबरी के कुछ विचारों पर टिकी हुई थी, और दूसरी दक्षिण में, जिसका आधार बड़ी-बड़ी बाड़ियाँ और ग़ुलामी था। रेड-इंडियनों के लिए इन दोनों में से किसी में भी जगह न थी। इसलिए ये लोग, जो इस देश के मूल निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ़ खदेड़ दिये गए। रेड-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंडियनों के आपसी झगड़ों और आपसी फूट ने इस सिलसिले को और भी आसान कर दिया।

इंग्लैण्ड के बादशाह और बहुत-से अंग्रेज़ जमींदारों का इन उपनिवेशों में, खासकर दक्षिण में, बहुत रुपया फँसा हुआ था। वे इनसे जितना फ़ायदा हो सके, उठाने की कोशिश करते थे। सात साल के युद्ध के बाद अमेरिका के उपनिवेशों से रुपया वसूल करने के लिए खासतौर पर कोशिश की गई। इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट, जिसमें ज़मींदारों की ही तूती बोलती थी, उपनिवेशों के शोषण को तैयार बैठी थी और उसने बादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये गए और व्यापार पर पाबन्दियाँ लगा दी गईं। तुम्हें याद होगा कि इसी समय में भारत में भी अंग्रेज़ों ने बंगाल की गहरी लूट शुरू कर दी थी और भारत के व्यापार के रास्ते में हर तरह की रुकावटें डाली गई थीं।

उपनिवेशियों ने इन पाबन्दियों और नये टैक्सों का विरोध किया, लेकिन सात साल के युद्ध में विजय के बाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताक़त का इतना भरोसा हो गया था कि उसने इनके विरोध की ज़रा भी परवाह न की। उधर इस सात साल के युद्ध से उपनिवेशों ने भी बहुत-सी बातें सीख ली थीं। अलग-अलग उपनिवेशों या राज्यों के लोग आपस में मिले और एक दूसरे को जानने-पहचानने लगे। वे सिखाई हुई अंग्रेज़ी फ़ौजों के साथ फ़्रान्सीसी फ़ौजों के खिलाफ़ लड़ चुके थे और इस तरह लड़ने के तरीक़ों से और युद्ध के हौलनाक खेल से जानकार हो गये थे। इसलिए अपनी तरफ़ से ये उपनिवेशी भी ऐसी बात को सीधी तरह मानने के लिए तैयार न थे, जिसे वे अपने साथ अन्याय और ज़्यादती समझते थे।

१७७३ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय जबरन उनके सिर थोपनी चाही तो मामला क़ाबू से बाहर हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी में इंग्लैण्ड के बहुत-से मालदारों के हिस्से थे, जिससे वे उसकी कमाई में दिलचस्पी रखते थे। सरकार इन्हीं लोगों की मुट्ठी में थी, और शायद सरकार के मन्त्रियों का खुद भी ईस्ट-इंडिया कम्पनी के व्यापार में कुछ साझा था। इसलिए सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को अमेरिका चाय भेजने और वहाँ उसे बेचने की सहूलियत देकर व्यापार को मदद पहुँचाने की कोशिश की। लेकिन इससे उपनिवेशों के चाय के मुक़ामी व्यापार को धक्का पहुँचा और लोग बहुत नाराज़ हुए। इसलिए इस विदेशी चाय के बायकाट का फ़ैसला किया गया। दिसम्बर, १७७३ ई० में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय बोस्टन पर उतारी जाने लगी तो उसे रोका गया। कुछ उपनिवेशी रेड-इंडियानों का भेष बनाकर माल के जहाज़ों पर चढ़ गये और उन्होंने चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला और उनका समर्थन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनेवाली एक भारी भीड़ के सामने किया गया। यह एक चुनौती थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि बाग़ी उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध ठन गया।

इतिहास की घटनाएँ ठीक उसी तरह दुबारा कभी नहीं होतीं, फिर भी यह अजीब बात है कि कभी-कभी वे कितनी मिलती-जुलती होती हैं। बोस्टन में १७७३ ई० में चाय के समुद्र में फेंके जाने की यह घटना बड़ी मशहूर हो गई है। यह 'बोस्टन टी-पार्टी' कहलाती है। ढाई साल हुए, जब बापू ने अपनी नमक की लड़ाई और दांडी की महान् यात्रा और नमक पर धावे शुरू किये थे तो अमेरिका के बहुत-से लोगों को 'बोस्टन टी पार्टी' का ख़याल आ गया था और वे इस नई 'साल्ट-पार्टी' का उससे मिलान करने लगे। लेकिन असल में इन दोनों में बहुत बड़ा फ़र्क़ था।

डेढ़ साल बाद, १७७५ ई० में, इंग्लैण्ड और उसके अमेरिकी उपनिवेशों के बीच युद्ध ठन गया। उपनिवेश किस बात के लिए लड़ाई लड़ रहे थे? आज़ादी के लिए नहीं, न इंग्लैण्ड से अलहदा होने के लिए, यहाँतक कि जब लड़ाई शुरू हो गई और दोनों तरफ़ ख़ून बह चुका, तब भी उपनिवेशियों के नेता, इंग्लैण्ड के जार्ज तृतीय को 'मोस्ट ग्रेशस सॉव्रेन'[1] कहते रहे और अपने-आपको उसकी वफ़ादार प्रजा मानते रहे। यह बात बड़ी दिलचस्प है, क्योंकि ऐसी बात तुम्हें अक़्सर होती हुई दिखाई देगी। हालैण्ड में स्पेन का फ़िलिप द्वितीय बादशाह कहलाता था, हालाँकि उसकी फ़ौज के साथ भीषण लड़ाई छिड़ी हुई थी। बहुत वर्षों की लड़ाई के बाद कहीं जाकर हालैण्ड को मजबूर होकर अपनी स्वाधीनता की घोषणा करनी पड़ी। भारत में भी बहुत वर्षों तक शंका और हिचकिचाहट और उपनिवेशी स्वराज्य के ख़याल से खिलवाड़ करने के बाद, हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस ने, पहली जनवरी, १९३० ई० को पूर्ण स्वराज्य के हक़ में घोषणा की। अब भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो, मालूम होता है, स्वाधीनता के विचार से घबराते हैं और भारत में उपनिवेशी शासन की बातें करते हैं। लेकिन इतिहास हमको बतलाता है और हालैण्ड और अमेरिका की मिसालें ज़ाहिर कर देती हैं कि ऐसी लड़ाई का नतीजा सिर्फ़ स्वाधीनता ही हो सकता है।

१७७४ ई० में, उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ने से कुछ ही दिन पहले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमेरिका का कोई समझदार आदमी स्वाधीनता नहीं चाहता; और यही वाशिंगटन बाद में अमेरिका के गणराज्य का सबसे पहला राष्ट्रपति होनेवाला था! १७७४ ई० में युद्ध छिड़ जाने के बाद, उपनिवेशी

---

[1] 'महा कृपालु नरेश'—इंग्लैण्ड के बादशाह को सम्बोधन करने का पुराना तरीक़ा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेस के छियालीस प्रमुख सदस्यों ने वफ़ादार प्रजा की हैसियत से बादशाह जार्ज तृतीय की ख़िदमत में सुलह की और 'ख़ून बहना' रोकने की अर्ज़ी भेजी। इंग्लैण्ड और उसकी अमेरिकी सन्तान के बीच दुबारा मेल-जोल और अच्छी भावना क़ायम करने की उनकी ज़ोरदार तमन्ना थी। वे तो सिर्फ़ किसी तरह की उपनिवेशी सरकार चाहते थे और वाशिंगटन के शब्दों में ऐलान करते थे कि कोई भी समझदार आदमी स्वाधीनता नहीं चाहता। यह 'ओलिव-ब्रांच-पिटीशन'[१] कहलाई।

लेकिन दो साल भी न बीतने पाये थे कि इस अर्ज़ी पर दस्तख़त करनेवालों में से पच्चीस ने एक दूसरे ही ख़रीते पर दस्तख़त किये—वह थी 'स्वाधीनता की घोषणा।'

ज़ाहिर है कि उपनिवेशों ने कोई स्वाधीनता की ख़ातिर लड़ाई नहीं छेड़ी थी। उनकी शिकायतें तो टैक्सों और व्यापार पर पाबन्दियों के बारे में थीं। वे लोग उन पर उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ टैक्स लगाने के पार्लमेण्ट के हक़ को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका मशहूर नारा यह था कि 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई टैक्स नहीं'[२], क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट में उनका कोई प्रतिनिधि न था।

इन उपनिवेशों के पास कोई फ़ौज न थी, लेकिन एक विशाल देश ज़रूर था, जिसमें से ज़रूरत पड़ने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होंने एक फ़ौज तैयार की और आगे जाकर वाशिंगटन उनका प्रधान सेनापति हुआ। उनको कुछ सफलताएं भी मिलीं। और फ़्रान्स भी अपने पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड से बदला निकालने का अच्छा मौक़ा देखकर उपनिवेशों से मिल गया। स्पेन ने भी इंग्लैण्ड के ख़िलाफ़ युद्ध का ऐलान कर दिया। अब इंग्लैण्ड का पासा हलका हो गया, लेकिन युद्ध बहुत वर्षों तक चलता रहा। १७७६ ई० में उपनिवेशों का मशहूर 'स्वाधीनता का घोषणा-पत्र' निकला। १७८२ ई० में युद्ध ख़त्म हो गया, और १७८३ ई० में लड़नेवाले देशों ने पेरिस के सुलहनामे पर दस्तख़त कर दिये।

इस तरह अमेरिका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वाधीन गणराज्य बन गये, जनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका' यानी अमेरिका का संयुक्त राज्य नाम दिया गया। लेकिन बहुत दिनों तक इन राज्यों में आपसी फूट बनी रही और हरेक राज्य अपने-आपको क़रीब-क़रीब स्वाधीन मानता रहा। सबकी समान राष्ट्रीयता की भावना बहुत धीरे-धीरे पैदा हुई। यह एक विशाल देश था, जो पश्चिम की तरफ़

---

[१] 'ओलिव-ब्रांच' यानी जैतून के पेड़ की डाली। यूरोप में जैतून का पेड़ शान्ति का चिह्न समझा जाता है। इसलिए जैतून के पेड़ की डाली पेश करने का मतलब होता है शान्ति का प्रस्ताव करना।

[२] No taxation without representation.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैलता ही जा रहा था। आज की दुनिया का यह सबसे पहला बड़ा गणराज्य था—छोटा-सा स्वीज़रलैण्ड ही उस समय का दूसरा असली गणराज्य था। हालैण्ड गणराज्य ज़रूर था, लेकिन वह अमीर-वर्ग के हाथ में था। इंग्लैण्ड सिर्फ़ बादशाहत ही न था बल्कि वहाँ की पार्लमेण्ट एक छोटे-से धनवान ज़मींदार-वर्ग के हाथों में थी। इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स का गणराज्य एक नई तरह का देश था। यूरोप और एशिया के देशों की तरह उसका पुराना इतिहास कुछ नहीं था। सामन्तशाही का भी वहाँ कोई निशान न था, सिवाय दक्षिण में बागान प्रणाली और ग़ुलामी के। वहाँ पुश्तैनी अमीर-उमरा न थे। इसलिए मध्यम-वर्ग की तरक़्क़ी के रास्ते में कोई रुकावटें न थीं और वह तेजी के साथ बढ़ा। स्वाधीनता के युद्ध के समय वहाँ की आबादी चालीस लाख से भी कम थी। दो साल पहले; १९३० में, यह १२ करोड़ ३० लाख के क़रीब थी।

जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया राज्य का एक बड़ा ज़मींदार था। इस ज़माने के और महापुरुष, जो गणराज्य की नींव डालनेवाले माने जाते हैं, टामस पेन, बेन्जामिन फ़्रैंकलिन, पैट्रिक हेनरी टॉमस जेफरसन,[1] जॉन एडम्स,[2] और जेम्स मैडिसन[3] हैं। बैन्जामिन फ़्रैंकलिन, तो ख़ास तौर पर नामी आदमी था और यह बड़ा भारी वैज्ञानिक था। बच्चों की पतंगें उड़ाकर इसने यह साबित कर दिया कि बादलों की कौंध और बिजली एक ही चीज़ हैं।

१७७६ ई० की गणराज्य की घोषणा में कहा गया था कि "जन्म से सब मनुष्य बराबर हैं।" अगर बारीकी से देखा जाय तो यह बयान पूरी तौर पर सही नहीं है, क्योंकि कुछ कमज़ोर होते हैं, कुछ बलवान, कुछ दूसरों से ज़्यादा चतुर और समर्थ होते हैं। लेकिन इस बयान की तह में जो विचार है, वह बिलकुल साफ़ और तारीफ़ के लायक़ है। उपनिवेशी लोग यूरोप के सामन्तशाही वर्ग-भेद से छुटकारा पाना चाहते थे। यह अकेली ही बहुत आगे बढ़ी हुई बात थी। शायद 'स्वाधीनता की घोषणा' की रचना करनेवालों में से बहुतों पर फ़्रान्स के वाल्तेयर व रूसो और इनके बाद होनेवाले अठारहवीं सदी के दार्शनिकों और विचारकों का असर पड़ा था।

"सब लोग जन्म से बराबर हैं"—लेकिन फिर भी बेचारा हब्शी था, एक

---

[1] जेफरसन (१७४३–१८२६); अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति।
[2] एडम्स (१७३५–१८२६); अमेरिका का दूसरा राष्ट्रपति।
[3] मैडिसन (१७५१–१८३६); अमेरिका का चौथा राष्ट्रपति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ुलाम, जिसे कोई हक़ न थे ! उसे कौन पूछता था ? संविधान में उसकी क्या जगह थी ? उसके लिए कोई जगह न थी, और अभी तक भी नहीं हो पाई है। बहुत साल बाद उत्तर और दक्षिण के राज्यों में भीषण गृह-युद्ध हुआ, जिसके नतीजे से ग़ुलामी की प्रथा तोड़ दी गई। लेकिन हब्शियों की समस्या अमेरिका में अभी तक चली आती है।

: १०० :

बास्तील का पतन

७ अक्तूबर, १९३२

हम बहुत थोड़े में अठारहवीं सदी की दो क्रान्तियों का बयान कर चुके हैं। इस पत्र में मैं तुमको तीसरी, यानी फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में कुछ बतलाऊँगा। तीनों क्रान्तियों में फ़्रान्स की इस क्रान्ति ने सबसे ज़्यादा हलचल पैदा की। इंग्लैण्ड में शुरू होनेवाली उद्योगी क्रान्ति आमतौर पर महत्वभरी थी, लेकिन वह धीरे-धीरे आई और ज़्यादातर लोगों की तो वह निगाह में भी न आ सकी। उस समय उसका असली महत्व किसी ने महसूस नहीं किया। लेकिन दूसरी तरफ़ फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति चकित यूरोप पर एकदम बिजली की तरह गिर पड़ी। यूरोप अभी तक बहुत-से स्वेच्छाचारी राजाओं और सम्राटों के मातहत था। पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की हस्ती मिट चुकी थी, लेकिन कागज़ी तौर पर वह अब भी चल रहा था और उसके प्रेत की छाया अभी तक सारे यूरोप पर पड़ रही थी। बादशाहों व सम्राटों और दरबारों व राजमहलों की इस दुनिया में आम जनता की गहराई में से यह अद्भुत और डरावना जीव निकल पड़ा, जिसने सड़े हुए रिवाजों और हक़ों की ज़रा भी परवाह न की, और जिसने एक बादशाह को तख़्त से उठा फेंका तो दूसरों की भी यही हालत कर डालने का ख़ौफ़ पैदा कर दिया। फिर इसमें क्या ताज्जुब है, अगर यूरोप के बादशाह व ख़ास हक़दार तमाम लोग उस जनता के इस विद्रोह के आगे थर्राने लगे, जिसे उन्होंने इतने दिनों तक नाचीज़ समझा और कुचला था !

फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी की तरह फट पड़ी। लेकिन क्रान्तियाँ और ज्वालामुखी बिना सबब या बिना बहुत दिनों की तैयारी के अचानक नहीं फूट पड़ते। हम अचानक होनेवाले विस्फोट को देखकर ताज्जुब करते हैं; लेकिन ज़मीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताक़तें आपस में टकराया करती हैं और आगें सुलगा करती हैं। अन्त में ऊपर की पपड़ी उनको ज़्यादा देर दबाकर नहीं रख सकती और ये ज्वालाएँ आकाश तक उठनेवाली विकट लपटों के साथ फूट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ती हैं और पिघला हुआ पत्थर पहाड़ से नीचे बहने लगता है। ठीक इसी तरह ये ताक़तें, जो अन्त में क्रान्ति की शक्ल में फूटती हैं, समाज की सतह के नीचे बरसों तक खेला करती हैं। पानी गरम करने पर उबलता है, लेकिन तुम जानती हो कि खूब गर्म होने के बाद ही उसमें उबाल आता है।

विचार और आर्थिक हालतें ही क्रान्तियाँ पैदा करते हैं। बेवक़ूफ़ सत्ताधारी लोग, जिन्हें अपने विचारों से मेल न खानेवाली कोई चीज़ नज़र नहीं आती, यह समझते हैं कि क्रान्तियाँ बेचैनी फैलानेवालों के सबब से होती हैं। बेचैनी फैलानेवाले वे लोग होते हैं, जो मौजूदा हालतों से नाराज़ होते हैं और परिवर्तन चाहते हैं और उसके लिए जतन करते हैं। क्रान्ति के हरेक ज़माने में इनकी बहुतायत होती है; वे तो खुद ही उस ज़माने की उथल-पुथल और बेचैनी का नतीजा होते हैं। लेकिन हज़ारों और लाखों आदमी खाली एक बेचैनी फैलानेवाले के इशारे पर ही नहीं नाचने लगते हैं। ज्यादातर लोग सलामती को दुनिया में सबसे ज्यादा चाहते हैं; जो कुछ उनके पास है उसे वे छिन जाने के खतरे में नहीं डालना चाहते, लेकिन जब आर्थिक हालतें ऐसी हो जाती हैं कि इनकी रोज़मर्रा की मुसीबतें बढ़ती जाती हैं और जीवन बर्दाश्त से बाहर का बोझ बन जाता है, तो कमज़ोर-से-कमज़ोर भी जोखिम उठाने के लिए तैयार हो जाते हैं। तभी जाकर बेचैनी फैलानेवाले की आवाज़ पर कान देते हैं, जो उनको उनकी मुसीबत से निकालने का रास्ता बतलाता हुआ मालूम होता है।

अपने बहुत-से पत्रों में मैंने जनता की मुसीबतों और किसानों के बलबों का ज़िक्र किया है। एशिया और यूरोप के हरेक देश में किसानों के ऐसे विद्रोह हुए हैं, जिनकी वजह से बहुत खून-खराबी और जुल्मी दमन हुए हैं। किसानों को उनकी मुसीबतों ने क्रान्तिकारी कार्रवाइयों की ओर ज़बर्दस्ती ढकेला, लेकिन आम तौर पर उनको अपने लक्ष्य का ठीक-ठीक भान नहीं था। विचारों के इस धुंधलेपन, विचारधारा के इस अभाव के सबब से उनकी कोशिशें अक्सर बेकार हो गईं। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति में हम एक नई बात देखते हैं, कम-से-कम इतने बड़े पैमाने पर, और वह क्रान्ति करने की आर्थिक ढकेल के साथ विचारों का संगम। जहाँ ऐसा संगम होता है वहीं सच्ची क्रान्ति होती है, और सच्ची क्रान्ति जीवन और समाज की सारी रचना—राजनीतिक, समाजी, आर्थिक और मज़हबी—पर असर डालती है। अठारहवीं सदी के अख़ीरी वर्षों में हम फ़्रान्स में ऐसा ही होता हुआ पाते हैं।

मैं तुमको फ़्रान्स के बादशाहों के विलासी जीवन, निकम्मेपन व भ्रष्टाचार के बारे में, और आम जनता को पीसनेवाली ग़रीबी के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ। फ़्रान्स की जनता के दिमाग़ में जो उथल-पुथल मच रही थी, उसका भी कुछ ज़िक्र मैं कर चुका हूँ; और उन नये विचारों का भी, जिन्हें वाल्तेयर, रूसो और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मांतेस्क्यू और बहुत-से लोगों ने चलाया था। इस तरह आर्थिक मुसीबत, और विचारधारा का निर्माण, ये दो प्रक्रियाएँ साथ-साथ चल रही थीं और एक-दूसरी पर असर व जवाबी असर डाल रही थीं। किसी क़ौम की विचारधारा को बनाने में बहुत समय लगता है, क्योंकि नये विचार धीरे-धीरे छन-छनकर लोगों के पास पहुँचते हैं, और पुरानी रूढ़ियों व रायों को त्यागने के लिए लोग तैयार नहीं होते। अक्सर ऐसा होता है कि जबतक कोई नई विचारधारा क़ायम हो, और लोग विचारों के नये मेल को आख़िर कबूल करने लगें, तबतक खुद वे विचार ही समय से कुछ पिछड़े रह जाते हैं। यह दिलचस्पी की बात है कि अठारहवीं सदी के फ़ान्सीसी दार्शनिकों के विचारों का आधार यूरोप के उद्योगी युग से पहले का ज़माना था; और फिर भी क़रीब-क़रीब ठीक उसी समय में इंग्लैण्ड में उद्योगी क्रान्ति शुरू हो रही थी, जो उद्योग-धन्धों को और जीवन को इस क़दर बदल रही थी कि वास्तव में वह बहुत-से फ़ान्सीसी मतों की नींव ही खोखली कर रही थी। उद्योगी क्रान्ति का विकास असल में बाद में हुआ और फ़ान्सीसी विचारक दरअसल यह अन्दाज़ा न कर सके कि आगे क्या होनेवाला था। लेकिन फिर भी बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के आने के साथ-साथ उनके विचार, जिनपर फ़ान्स की राज्यक्रान्ति की विचारधारा बहुत हद तक टिकी हुई थी, कुछ ज़माने से पिछड़ गये थे।

कुछ भी हो, यह साफ़ है कि फ़ान्सीसी दार्शनिकों के इन विचारों और मतों का राज्यक्रान्ति पर बड़ा ज़बर्दस्त असर पड़ा। बलवों और विद्रोहों के रूप में जनता की कार्रवाइयों की बहुत-सी मिसालें पहले ही हो चुकी थीं; अब जगी हुई जनता के आन्दोलन की, या यों कहिये कि समझ-बूझकर आगे बढ़नेवाली जनता के आन्दोलन की, निराली मिसाल सामने आई। फ़ान्स की इस महान् राज्यक्रान्ति का महत्व इसी सबब से है।

मैं बतला चुका हूँ कि १७१५ ई० में पन्द्रहवाँ लुई अपने पड़दादा चौदहवें लुई का गद्दीनशीन हुआ और उसने उनसठ वर्षों तक राज किया। कहते हैं कि वह कहा करता था—'आप मरे जग प्रलय', और इसी के मुताबिक़ वह बर्ताव भी करता था। बड़े मज़े के साथ वह अपने देश को गहरे गड्ढे में गिरा रहा था। उसने इंग्लैण्ड की क्रान्ति और वहाँ के बादशाह का सिर उड़ा दिये जाने की घटना से भी कुछ सबक़ नहीं सीखा। उसके बाद, १७७४ ई० में उसका पोता सोलहवाँ लुई गद्दी पर बैठा, जो बड़ा बेवकूफ़ और काठ का उल्लू था। उसकी रानी मेरी एन्तोइनेत आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट् की बहन थी। यह भी बिलकुल बेवकूफ़ थी; लेकिन उसमें एक तरह की ज़िद का बल था, जिससे सोलहवाँ लुई पूरी तरह उसकी मुट्ठी में था। उसमें 'बादशाहों के दैवी अधिकार' का खयाल लुई से भी ज्यादा भरा हुआ था, और वह आम लोगों से नफ़रत करती थी। पति और पत्नी दोनों ही ने मिलकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बादशाहत के ख़याल को लोगों के लिए नफ़रतभरा बनाने में कोई कसर न रक्खी। राज्यक्रान्ति शुरू होने के बाद तक भी फ़्रान्स के लोगों का दिमाग़ बादशाहत के बारे में साफ़ नहीं था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामों से और बेवक़ूफ़ियों से गणराज्य को लाज़िमी कर दिया। लेकिन इनसे ज़्यादा बुद्धिमान लोग भी कुछ नहीं कर सकते थे। ठीक इसी तरह १९१७ ई० की रूसी राज्यक्रान्ति की शुरुआत के समय रूस के ज़ार और ज़रीना ने अजीब बेवक़ूफ़ी का बर्ताव किया था। यह विचित्र बात है कि जैसे-जैसे संकट गहरा होता जाता है वैसे-वैसे ये लोग और भी ज़्यादा बेवक़ूफ़ियाँ करते जाते हैं और इस तरह ख़ुद अपने ही विनाश का सामान तैयार करते हैं। एक प्रसिद्ध लातीनी कहावत इन पर ठीक तरह लागू होती है—"ईश्वर जिसका नाश करना चाहता है उसको पहले दीवाना बना देता है।" ठीक ऐसी ही कहावत संस्कृत में भी है—"विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।"

लड़ाइयों की जीत बादशाहत और तानाशाही की अक़्सर एक थूनी रही है। जब कभी देश में गड़बड़ पैदा होती है तो बादशाह या सरकारी गुट्ट, जनता का ध्यान उस तरफ़ से हटाने के लिए बाहर के देशों में फ़ौजी धावे मारने की ओर खींचता है। लेकिन फ़्रान्स में इन फ़ौजी कारनामों का नतीजा बुरा हुआ था। सात साल के युद्ध में फ़्रान्स की हार हुई और इससे बादशाहत को धक्का पहुँचा। दिवालियापन की दिन-पर-दिन नौबत आ रही थी। अमेरिका के स्वाधीनता-युद्ध में फ़्रान्स ने जो हिस्सा लिया, उसमें और रुपया खर्च हुआ। यह सब रुपया कहाँ से आता? अमीर-सरदारों व पादरियों को ख़ास रियायतें मिली हुई थीं। वे बहुत-से टैक्सों से बरी थे और अपनी रियायतों को ज़रा भी नहीं छोड़ना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ़ कर्ज़े चुकाने के लिए, बल्कि दरबार की फ़िज़ूलखर्ची के लिए भी, रुपया तो वसूल होना ही चाहिए था। जनता की या आम लोगों की कौन परवाह करता था? फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति पर लिखनेवाले थामस कार्लाइल नामक एक अंग्रेज़ लेखक ने इनका जो बयान किया है, वह मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। तुम देखोगी कि उसकी एक निराली शैली है, लेकिन वह अपनी क़लम से बड़े असर डालनेवाले ख़ाक़े खींचता है—

"श्रमजीवियों की हालत फिर ख़राब हो रही है। दुर्भाग्य की बात है! क्योंकि इनकी संख्या दो-ढाई करोड़ है। जिनको हम एक तरह की घुँधली घनी एकता के हैवानी, लेकिन घुँधले, बहुत दूर के, गँवारू भीड़ जैसे लोंदे में इकट्ठा करके कमीन, या ज़्यादा मनुष्यता से, 'जनता' कहते हैं। सचमुच जनता; लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि अगर अपनी कल्पना पर ज़ोर डालकर आप इनके साथ-साथ सारे फ़्रान्स में, इनकी मिट्टी की मड़ैयों में, इनकी कोठरियों और झोंपड़ियों में, चलें, तो मालूम होगा कि जनता सिर्फ़ इकाइयों की बनी हुई है। इसकी हरेक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इकाई का अपना अलग-अलग दिल है और रंग है; वह अपनी ही खाल में खड़ा है और अगर तुम उसे नोचोगे तो ख़ून बहने लगेगा।"

यह बयान १७८९ ई० के फ़्रान्स पर ही नहीं बल्कि १९३२ ई० के भारत पर कितनी अच्छी तरह फबता है! क्या हममें से बहुत-से लोग भारत की 'जनता' को, बीसियों करोड़ किसानों और मज़दूरों को, एक ढेर में इकट्ठा करके उन्हें एक दुखी और बेढंगा जानवर नहीं समझते? वे लोग बड़े लम्बे समय से बोझ ढोनेवाले जानवर ही रहे हैं, और अब भी हैं। हम उनके साथ 'सहानुभूति' दिखलाते हैं और उनकी भलाई करने की इनायतभरी बातें बनाते हैं। और फिर भी हम उनको अपनी ही तरह के व्यक्ति और मानव ख़याल नहीं करते। यह ख़ूब याद रखना चाहिए कि अपनी कच्ची झोंपड़ियों में वे अलग-अलग ज़िन्दगी बिताते हैं और तुम-सबकी ही तरह भूख और सर्दी और तक़लीफ़ महसूस करते हैं। हमारे बहुत-से राजनीतिज्ञ, जो क़ानून के पंडित हैं, संविधानों वग़ैरा की बातें करते हैं, लेकिन उन इन्सानों को भूल जाते हैं, जिनके लिए संविधान और क़ानून बनाये जाते हैं। हमारे देश की करोड़ों कच्ची झोंपड़ियों और शहरों के गन्दे मोहल्लों के निवासियों की राजनीति का अर्थ है भूखों को भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान।

सोलहवें लुई के राज में फ़्रान्स की यही हालत थी। उसके शासन-काल के ठीक शुरू में ही भुक्खड़ों के दंगे हुए। ये कई साल तक जारी रहे और फिर कुछ दिन शान्ति रही और बाद में फिर किसानों के बलवे हुए। दिज़ों में भोजन के लिए इसी तरह के एक दंगे के दौरान में वहाँ के गवर्नर ने भुखमरों से कहा—"घास उग आई है; खेतों में जाकर उसे चरो!" हज़ारों आदमी भीख माँगने का पेशा करने लगे। सरकारी तौर पर यह बतलाया गया था कि १७७७ ई० में फ़्रान्स में ग्यारह लाख भिखमंगे थे। जब हम इस ग़रीबी और कम्बख़्ती पर विचार करते हैं तो भारत की तस्वीर किस तरह बरबस हमारे सामने आ जाती है!

किसान लोग सिर्फ़ भोजन के ही भूखे न थे, ज़मीन के भी भूखे थे। सामन्त-प्रथा में अमीर-सरदार ज़मीन के मालिक थे और उसकी आमदनी का ज्यादातर हिस्सा उन्हीं की जेबों में जाता था। किसानों के कोई सुलझे हुए विचार न थे, न उनका कोई ठीक लक्ष्य था। लेकिन वे ज़मीन पर अपनी मिल्कियत चाहते थे और उन्हें कुचलनेवाली इस सामन्त-प्रथा से नफ़रत करते थे। सामन्तों से, पादरियों से और (भारत का फिर ख़याल करो!) नमक-कर से उन्हें सख़्त नफ़रत थी, जो ख़ास तौर पर ग़रीबों पर पड़ता था।

किसान-वर्ग की यही हालत थी, लेकिन फिर भी बादशाह और बेग़म रुपये के लिए हल्ला मचाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था, इसलिए कर्ज़े बढ़ते चले जा रहे थे। मेरी एन्तोइनेत का उपनाम 'मदाम देफ़िसित' यानी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'घाटा देवी' रख दिया गया। ज़्यादा रुपया वसूलने का कोई ढँग नज़र न आता था। आख़िरकार लाचार होकर सोलहवें लुई ने मई, १७८९ ई० में, 'स्टेट्स जनरल' की बैठक बुलाई। इस सभा में अमीर-सरदार, पादरी व साधारण लोग, इन तीन वर्गों के, जो राज्य की जागीरें कही जाती थीं, प्रतिनिधि होते थे। उसकी रचना ब्रिटिश पार्लमेण्ट से मिलती-जुलती थी जिसमें अमीर-सरदारों व पादरियों का 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' होता है और दूसरा 'हाउस ऑफ कामन्स' होता है। लेकिन इन दोनों में फ़र्क़ भी बहुत थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठकें कई सौ वर्षों से क़रीब-क़रीब क़ायदे से होती-चली आई थीं, और अपनी परम्पराओं, नियमों व काम करने के तरीक़ों के साथ वह अच्छी तरह जम चुकी थी। 'स्टेट्स जनरल' की बैठकें बहुत ही कम होती थीं और उसकी कोई परम्पराएँ नहीं थीं। दोनों संस्थाओं में ऊँचे वर्गों के ही प्रतिनिधि होते थे; ब्रिटिश 'हाउस ऑफ़ कामन्स' में तो 'स्टेट्स जनरल' से भी ज़्यादा प्रतिनिधि थे। किसान-वर्ग का प्रतिनिधि किसी में भी नहीं होता था।

४ मई, १७८९ ई० को वर्साई में बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन किया। लेकिन जल्दी ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनों जागीरों के प्रतिनिधियों को इकट्ठा क्यों बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' या मध्यमवर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगे और इस बात पर ज़ोर देने लगे कि उनकी मर्ज़ी के बिना कोई टैक्स नहीं लगाया जा सकता। उनके सामने इंग्लैण्ड की मिसाल थी, जहाँ कामन्स सभा ने अपना यह हक़ कायम कर लिया था। अमेरिका की ताज़ी मिसाल भी उनके सामने थी। वे इस ग़लत-फहमी में थे कि इंग्लैण्ड आज़ाद मुल्क़ था। असल में यह एक धोखा था, क्योंकि इंग्लैण्ड पर अमीर-वर्ग और ज़मींदार-वर्गों का क़ब्ज़ा व शासन था। ख़ुद पार्लमेन्ट पर भी इनका इजारा था, क्योंकि वोट देने का अधिकार बहुत ही कम लोगों को था।

बहरहाल, तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत दिखाई वही बादशाह लुई की बर्दाश्त से बाहर हो गई। उसने उनको सभा-भवन से बाहर निकलवा दिया। डिप्टी लोगों का वहाँ से चले जाने का कोई इरादा नहीं था। वे फौरन ही नज़दीक़ के एक टैनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होंने यह क़सम ली कि जबतक एक संविधान क़ायम न कर लेंगे तबतक न टलेंगे। यही 'टैनिस कोर्ट की शपथ' कहलाती है। इसके बाद वह खतरनाक घड़ी आई जब बादशाह ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी चाही और ख़ुद उसी के सिपाहियों ने उसका हुक्म मानने से इन्कार कर दिया। क्रान्ति में हमेशा नाज़ुक घड़ी तभी आती है जब फ़ौज, जो सरकार का खास पाया होती है, भीड़ में अपने भाइयों पर गोलियाँ चलाने से इन्कार कर देती है। लुई ने घबराकर हार मान ली और इसके बाद उसने अपनी आदत की बेवक़ूफ़ी से, विदेशी सेनाओं को बुलाने की साज़िश की कि वे उसकी प्रजा पर गोलियाँ चलावें।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता इसे बर्दाश्त न कर सकी और १४ जुलाई, १७८९ ई० को उन्होंने बास्तील[1] के पुराने जेलखाने पर क़ब्ज़ा करके कैदियों को रिहा कर दिया। यह दिन फ़ान्स के इतिहास में हमेशा याद रहेगा।

बास्तील का पतन इतिहास की एक महान् घटना है। इसने क्रान्ति की शुरुआत की; यह सारे देश में जनता के बलवों का लक्षण था; इसका अर्थ था फ़ान्स में पुरानी व्यवस्था, सामन्तशाही, महान् बादशाही और ख़ास रियायतों का अन्त; यह यूरोप के तमाम बादशाहों और सम्राटों के लिए ज़बर्दस्त और डरावना बदशगुन था। जिस फ़ान्स ने शानदार बादशाहों का फ़ैशन चलाया था, वही अब एक नया फ़ैशन चला रहा था, जिसने तमाम यूरोप को हैरत में डाल दिया। कुछ लोग इस कारनामे को देख कर डर से काँपने लगे। लेकिन बहुत-से लोग इसमें आशा की किरण और अच्छे दिनों के लक्षण देख रहे थे। चौदहवीं जुलाई आज तक फ़ान्स का राष्ट्रीय त्यौहार है और यह हर साल सारे देश में मनाया जाता है।

चौदहवीं जुलाई को पेरिस की बलवाई भीड़ के क़ब्ज़े में बास्तील आ गया। लेकिन सत्ताधारी लोग इतने अन्धे होते हैं कि इसके पहले दिन की, यानी १३ जुलाई की, शाम को वर्साई में एक शाही जलसा किया गया था। नाच और गाने के साथ बादशाह और रानी के सामने बाग़ी पैरिस पर होनेवाली भावी विजय की खुशी में 'टोस्ट'[2] पिये गए। अजीब बात है कि यूरोप में बादशाह की भावना कितनी ज़बर्दस्त थी! इस युग में हम लोग गणराज्यों के आदी हो गये हैं और बादशाहों पर ज़्यादा ध्यान नहीं देते। दुनिया के कुछ बचे-खुचे बादशाह बहुत फूंक-फूंककर क़दम रखते हैं कि उन पर कहीं मुसीबत न आ जाय। फिर भी ज़्यादातर लोग बादशाहत के विचार के विरोधी हैं। क्योंकि यह वर्ग-भेदों को बनाये रखती है और अलगाव व बड़प्पन की झूठी अकड़ की भावना को बढ़ाती है। लेकिन अठारहवीं सदी के यूरोप में यह बात न थी। उस समय के लोगों के लिए बिना बादशाह के देश की कल्पना करना ज़रा कठिन था। इसलिए हुआ यह कि लुई की बे क़ूफ़ी और लोगों की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ जाने की कोशिश के बावजूद भी उसे गद्दी से उतार

---

[1] बास्तील (Bastille) पेरिस शहर के बीच में एक पुराना और बहुत मज़बूत क़िला था, जिसमें राजनीतिक क़ैदी बन्द किये जाते थे और उनको तकलीफ़ें दी जाती थीं। पेरिस के लोगों ने इसपर हमला किया। लेकिन वे इसका कुछभी नहीं बिगाड़ सकते थे, अगर क़िले के भीतर सैनिक उनका साथ न देते।

[2] टोस्ट—शराब के प्याले को हाथ में लेकर, किसी व्यक्ति या घटना के उपलक्ष में पीना 'टोस्ट' पीना कहलाता है। यह रिवाज यूरोप में और यूरोप के रहनेवालों में अब भी मनाया जाता है और आजकल अंग्रेज़ी सभ्यता के भक्त भारतीय लोग भी इसकी नक़ल करने लगे हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने की कोई चर्चा न थी। क़रीब दो साल तक लोगों ने उसको और उसकी साज़िशों को बर्दाश्त किया और फ़ान्स ने बिना बादशाह के काम चलाने का फैसला तभी किया जब वह भागने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया।

लेकिन यह बाद की बात है। इस अर्से में 'स्टेट्स जनरल', राष्ट्रीय सभा बन गई और यह मान लिया गया कि बादशाह संविधान के मातहत चलनेवाला राजा है और उसके अधिकार सीमित हैं, यानी ऐसा राजा जो सभा के कहने के मुताबिक़ चले। लेकिन वह इस बात से नफ़रत करता था और मेरी ऐन्तोइनेत तो और भी ज़्यादा नफ़रत करती थी। पैरिस के लोग भी उनसे कोई ज़्यादा मोहब्बत नहीं करते थे और उन पर तरह-तरह की साज़िशें करने का शक भी करते थे। वर्साई, जहाँ बादशाह और रानी दरबार करते थे, पैरिस से इतनी दूर था कि राजघानी के लोग उन पर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतों और विलास के क़िस्सों और अफ़वाहों ने भी पैरिस के भूखे लोगों को भड़का दिया। बस, बादशाह और रानी पैरिस की त्विलरी[1] में एक बहुत-ही अजीब जुलूस में ले जाये गए।

क्रान्ति की यह कहानी मैं अपने अगले पत्र में भी जारी रक्खूंगा।

: १०१ :

फ़ान्स की राज्य-क्रान्ति

१० अक्तूबर, १९३२

फ़ान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में लिखने में मुझे ज़रा दिक़्क़त मालूम होती है। इस सबब से नहीं कि उसके लिए मसाला कम है, बल्कि इसलिए कि मसाला बहुत ज़्यादा है। यह क्रान्ति हैरत में डालनेवाले और सदा बदलते रहनेवाले एक नाटक की तरह थी, और ऐसी असाधारण घटनाओं से भरी हुई थी जो आज भी मोह लेती हैं, सहमा देती हैं और थर्रा देती हैं। राजाओं और राजनीतिज्ञों की राजनीति कोठरियों और खानगी कमरों में रहती हैं और उसपर रहस्य की चादर ढकी रहती है। बहुत से पाप चतुराई के पर्दे में ढँक जाते हैं. और ऊँचे हौसलों व हविसों का आपसी रगड़ा-झगड़ा शिष्टाचार की भाषा में छिप जाता है। यहाँ तक कि जब इस रगड़े-झगड़े की वजह से युद्ध छिड़ जाता है, और इन लोगों की हविस व हौसले की खातिर हज़ारों नौजवान मौत के मुँह में भेज दिये जाते हैं, तब भी ऐसी किन्हीं कमीनी नीयतों की चर्चा हमारे कानों को बुरी नहीं लगती। इसके बजाय हमसे तो ऐसे ऊँचे आदर्शों और महान् हितों की बातें की जाती हैं, जो भारी-से-भारी क़ुर्बानी चाहते हैं।

---

[1] त्विलरी (Tuilleries)—पैरिस का राजमहल, जिसमें सोलहवें लुई को क़ैद किया गया था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन क्रान्ति इससे बिलकुल अलग तरह की चीज़ है। उसका घर तो खेत, गली और बाज़ार में है और उसके तरीक़े भोंड़े और गँवारू होते हैं। क्रान्ति करनेवालों को राजाओं और राजनीतिज्ञों जैसी शिक्षा नहीं मिली हुई होती। उनकी भाषा दरबारी और शिष्ट नहीं हुआ करती, जिसमें ढेरों साज़िशें और चालबाज़ियाँ छिपी रहती हों। उनमें कोई रहस्य की बात नहीं होती, न उनके दिमागों की दौड़ किसी परदे में ढकी रहती है; यहाँ तक कि उनके शरीर पर भी ढकने को काफ़ी कपड़ा नहीं होता। राज्य-क्रान्ति में राजनीति ख़ाली राजाओं और पेशेवर राजनीतिज्ञों का खेल नहीं रह जाती। उसका ताल्लुक़ तो असलियतों से होता है और उनके पीछे होता है मनुष्य-स्वभाव और भूखे लोगों का ख़ाली पेट।

इसलिए १७८९ से १७९४ ई० तक इन बदशगुन पाँच वर्षों में हम फ़्रान्स में भूखी जनता के कारनामे देखते हैं। यही लोग डरपोक राजनीतिज्ञों को मजबूर करते हैं और उन्हीं के हाथों से बादशाहत, सामन्तशाही और ईसाई-संघ की रियायतों का अन्त करवाते हैं। यही लोग खूंख्वार 'मदाम गिलोतीन'[1] को भेंट चढ़ाते हैं, और जिन लोगों ने इनको पहले कुचला है और जिन लोगों पर ये अपनी नई मिली हुई आज़ादी के खिलाफ़ साज़िशें करने का सन्देह करते हैं, उनसे बड़ी बेरहमी के साथ बदला लेते हैं। यही फटे-हाल और नंगे पैरोंवाले लोग, कामचलाऊ हथियार लेकर अपनी राज्यक्रान्ति को ख़ातिर लड़ने के लिए जंगी-मैदान की ओर दौड़ते हैं और अपने खिलाफ़ एक होकर आनेवाली यूरोप की सिखाई हुई फ़ौजों को पीछे खदेड़ देते हैं। फ़्रान्स के ये लोग अद्भुत काम कर दिखाते हैं। लेकिन ज़बर्दस्त तनाव और लड़ाई-झगड़े के कुछ ही साल बाद क्रान्ति की शक्ति बीत जाती है और वह अपने ही खिलाफ़ उलटकर खुद अपनी ही सन्तान को खाने लगती है। और इसके बाद उलट-क्रान्ति होती है, जो क्रान्ति को हड़प कर जाती है और जिस आम जनता ने इतनी हिम्मत की थी और इतनी मुसीबतें झेली थीं, उसको दुबारा फिर 'ऊँचे' वर्गों के अधीन कर देती है। इस उलट-क्रान्ति में से तानाशाह और सम्राट् नेपोलियन का उदय होता है। लेकिन न तो यह उलट-क्रान्ति और न नेपोलियन, जनता को उसकी पुरानी जगह पर लौटा सके। क्रान्ति की बड़ी-बड़ी सफलताओं को कोई न मिटा सका; और उस दिन की प्यारी यादगार को, जब थोड़ी देर के लिए सही, सताये हुओं ने अपने जुये को उतार फेंका था, फ़्रान्सीसियों से, और वास्तव में यूरोप की दूसरी क़ौमों से, कोई न छीन सका।

क्रान्ति के शुरू के दिनों में बहुत-से दल और गिरोह प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे। एक तो बादशाह के हिमायती थे जो सोलहवें लुई को पूरा स्वेच्छाचारी बादशाह बना

[1] Guillotine—मध्यकालीन यूरोप में अपराधियों के सिर उड़ाने के काम में आनेवाली एक मशीन।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखने की थोथी आशा लगा रहे थे; दूसरे मद्धिम विचारोंवाले उदार लोग थे, जो संविधान चाहते थे और बादशाह को एक सीमित अधिकारोंवाला शासक बनाकर रखने को तैयार थे; तीसरे मद्धिम विचारोंवाले गणराज्यवादी थे, जो 'जिरोंद'[1] का दल कहलाते थे; चौथे गरम गणराज्यवादी थे, जो जैकोबिन[2] कहलाते थे, क्योंकि वे जैकोबिन कॉन्वेन्ट के भवन में अपनी सभाएँ किया करते थे। मुख्य दल यही थे और इन सबमें और इनके अलावा भी, बहुत-से हौसलेबाज़ थे। इन सब दलों और व्यक्तियों के पीछे थी फ़ान्स की, और ख़ासकर पैरिस की जनता, जो अपनी ही जमात के कितने ही गुमनाम नेताओं के इशारों पर चलती थी। विदेशों में, और ख़ासकर इंग्लैण्ड में, वे प्रवासी फ्रेंच अमीर-सरदार थे, जो क्रान्ति से मुँह छिपाकर भाग गये थे और लगातार उसके ख़िलाफ़ साज़िश कर रहे थे। यूरोप के सारे शक्तिशाली राज्य क्रान्तिकारी फ़ान्स के ख़िलाफ़ एक-जुट हो रहे थे। पार्लमेण्ट वाला लेकिन उच्चवर्ग की सत्तावाला इंग्लैण्ड, और यूरोप के बादशाह व सम्राट् भी आम जनता के इस अद्भुत धड़ाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल डालने की कोशिश मे थे।

बादशाहवादियों और बादशाह ने मिलकर साज़िश की, लेकिन इससे उन्होंने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। नेशनल असेम्बली में शुरू-शुरू में जिस दल का ज़ोर था वह मद्धिम उदार लोगों का था, जो कुछ-कुछ इंग्लैण्ड या अमेरिका की तरह का कोई संविधान चाहता था। उनका नेता था मिराबो[3]। लगभग दो वर्ष तक असेम्बली में इन्हींका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरू के दिनों की सफलताओं के जोश में इन्होंने कितनी ही बहादुराना घोषणाएँ कीं और कुछ महत्व के परिवर्तन भी किये। बास्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त, १७८९ ई० को, असेम्बली में एक ऐसी घटना हुई, जिसका किसीको गुमान भी न था। असेम्बली में सामन्ती अधिकारों और ख़ास रियायतों के तोड़ दिये जाने के सवाल पर विचार हो रहा था। उस समय फ़ान्स की हवा में कुछ ऐसी तासीर थी, जो लोगों के दिमाग़ में चढ़ गई थी,

---

[1] Girondei—यह फ़ान्स के एक प्रान्त का नाम है। जिरोंद दल के नेता ज्यादातर इसी प्रान्त के निवासी थे।

[2] फ़ान्स की राज्यक्रांति में भाग लेनेवाला एक शक्तिशाली राजनीतिक दल। ये लोग जेलियों की-सी टोपी पहनते थे, जो 'जैकोबिन कैप' के नाम से मशहूर हो गई और क्रान्ति का चिह्न मानी जाने लगी। इस दल की स्थापना १७८९ ई० में वर्साई में हुई और रोब्सपोयरी की हार के बाद इसका अन्त हो गया।

[3] १७४९–१७९१ के बीच का एक फ्रेंच राजनीतिज्ञ (बादशाह का विरोधी); नेशनल असेम्बली का प्रधान (१७९१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँतक कि सामन्ती सरदार भी कुछ देर के लिए आज़ादी की नई शराब के नशे में मतवाले हो गये थे। बड़े-बड़े अमीर-सरदार और ईसाई-संघ के ेता असेम्बली के भवन में उठ खड़े हुए और अपने सामन्ती अधिकारों और खास-हक़ों को छोड़ने में एक दूसरे से होड़ करने लगे। यह एक सच्चा और उदार संकेत था, हालाँकि कुछ साल तक इसका ज्यादा असर न हुआ। हक़दार-वर्ग के दिल में ऐसी उदार भावनाएँ कभी-कभी, लेकिन बहुत ही कम, उठती हैं, या शायद यह बात हो कि उसे यह महसूस होने लगता है कि ख़ास हक़ों का अन्त तो होनेवाला है ही, इसलिए बहती गंगा में हाथ धोने में ही भलाई है। थोड़े ही दिन हुए जबकि बापू ने छुआछूत को मिटाने के लिए अनशन किया था, तब भारत के सवर्ण हिन्दुओं ने इसी तरह का एक लासानी क़दम उठाया था और जादूकी तरह सारे देशमें सहानुभूति की लहर फैल गई थी। हिन्दुओं ने जिन जंज़ीरों में अपने बहुत-से भाइयों को जकड़ रक्खा था वे कुछ हद तक टूट गईं और हज़ारों मंदिरों के दरवाज़े, जो युगों से अछूतों के लिए बन्द थे, उनके लिए खुल गये।

बस, क्रान्तिकारी फ़्रान्स की नेशनल असेम्बली ने जोश में आकर कम-से-कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि किसानों की ग़ुलामी और रियायतें और सामन्ती अदालतें और अमीर-सरदारों व पादरियों को टैक्स की छूट और उपाधियाँ भी ये सब मिटा दी जायँ। यह अजीब बात है कि बादशाह तो बना रहा, लेकिन अमीर-वर्ग की उपाधियाँ छिन गईं।

तब असेम्बली ने आगे चलकर मानव-अधिकारों की एक घोषणा मंज़ूर की। इस मशहूर घोषणा का विचार शायद अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा से लिया गया था। लेकिन अमेरिका की घोषणा छोटी-सी व सीधी-सादी है; फ़्रान्स की लम्बी और ज़रा पेचीदा है। मानव-अधिकार वे अधिकार थे जो मनुष्य को समानता, स्वतन्त्रता और सुख दिलानेवाले माने गये थे। उस समय मानव-अधिकारों की यह घोषणा बड़ी ही दिलेर और हिम्मतभरी मालूम होती थी, और बाद के लगभग सौ वर्षों तक यह यूरोप के उदारों और लोकतन्त्रियों का परवाना बनी रही। लेकिन फिर भी आज यह ज़माने के माफ़िक़ नहीं है, और हमारे समय की किसी भी समस्या को हल नहीं करती। लोगों को यह पता लगाने में बहुत दिन लगे कि सिर्फ़ क़ानून की रू से समानता और वोट देने का हक़ सच्ची समानता, या स्वतन्त्रता या सुख नहीं दिला सकते, और यह कि जिनके हाथ में सत्ता है, उनके पास उनका शोषण करने के और भी तरीक़े हैं। फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति से अबतक राजनीतिक विचार बहुत आगे बढ़ गये हैं या बदल गये हैं; और शायद मानव-अधिकारों की घोषणा के उन लम्बे-चौड़े सिद्धान्तों को बहुत-से रूढ़िवादी भी आज मंज़ूर कर लेंगे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है, जैसा कि हम आसानी से देख सकते हैं, कि ये लोग सच्ची

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समानता और स्वतन्त्रता देने को तैयार हैं। वास्तव में यह घोषणा निजी मिल्क़ियत को बचाती थी। बड़े-बड़े अमीर-सरदारों की और ईसाई-संघ की जागीरें सामन्ती हक़ों और रियायतों से ताल्लुक़ रखनेवाले दूसरे सबबों से ज़ब्त की गई थीं। लेकिन सम्पत्ति रखने का हक़ पवित्र और अटल माना गया था। तुम शायद जानती हो कि आजकल के प्रगतिशील राजनीतिक विचारों के मुताबिक़ निजी सम्पत्ति एक बुराई है जो, जहाँतक हो सके, मिटा दी जानी चाहिए।

मानव-अधिकारों की घोषणा आज हमको शायद एक मामूली दस्तावेज़ मालूम पड़े। कल के दिलेर आदर्श अक्सर आज की एक मामूली-सी बात बन जाते हैं। लेकिन जिस समय इसका ऐलान किया गया था, उस समय इससे सारे यूरोप में ख़ुशी की लहर दौड़ गई थी और तमाम पीड़ितों व रौंदे हुओं को इसमें बेहतर दिनों की काफ़ी आशा नज़र आने लगी थी। लेकिन बादशाह ने इसे पसन्द नहीं किया; वह बदतमीज़ी से हैरत में आ गया और उसने इसपर मंज़ूरी देने से इन्कार कर दिया। वह अभी वर्साई में ही था। इसी समय हुआ यह कि पैरिस के लोगों की उपद्रवी भीड़, जिसके आगे स्त्रियाँ थीं, वर्साई के महलों पर चढ़ आई और उसने बादशाह से न सिर्फ़ यह घोषणा ही मंजूर करा ली, बल्कि उसे पैरिस चले जाने के लिए भी मजबूर कर दिया। जिस अजीब जुलूस का ज़िक्र मैंने पिछले पत्र के अन्त में किया है, वह यही था।

असेम्बली ने और भी बहुत-से उपयोगी सुधार किये। ईसाई-संघ की बड़ी लम्बी-चौड़ी मिल्क़ियत राज्य ने ज़ब्त कर ली। फ़्रान्स का अस्सी इलाक़ों में नया बँटवारा किया गया और मेरा ख़याल है कि यह बँटवारा आज तक चालू है। पुरानी सामन्ती अदालतों की जगह अच्छी क़ानूनी अदालतें क़ायम की गईं। यह सब अच्छे के लिए था, लेकिन इससे कुछ ज़्यादा मतलब हल नहीं हुआ। इससे न तो ज़मीन के भूखे किसान-वर्ग का ज़्यादा फ़ायदा हुआ और न शहरों के मामूली लोगों का, जो रोटी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की चाल रोक दी गई। जैसा मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, जनता, किसान-वर्ग और शहरों के आम लोगों का असेम्बली में कोई प्रतिनिधि नहीं था। असेम्बली पर मध्यमवर्ग का क़ब्ज़ा था, जिसका नेता मिराबो था, और ज्योंही उन्हें महसूस हुआ कि उनका मतलब पूरा हो गया, त्योंही उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो बादशाह लुई तक से साँठ-गाँठ करने लगे और सूबों के किसानों को गोलियों से भूनने लगे। उनका नेता मिराबो तो वास्तव में बादशाह का गुप्त सलाहकार बन गया। जिस जनता ने बास्तील पर हमला करके उस पर क़ब्ज़ा कर लिया था और जो यह सोचने लगी थी कि इस तरह उसने अपनी जंज़ीरें तोड़ डाली हैं, वही अब ताज्जुब के साथ देखने लगी कि क्या हो रहा है। उसकी आज़ादी अब भी उतनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही दूर मालूम होती थी जितनी पहले थी, और नई असेम्बली उसकी गर्दन पर इसी तरह सवार थी जिस तरह पुराने सरदार लोग।

असेम्बली में मात खाकर, क्रान्ति के केन्द्र पैरिस की जनता ने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति के निकास का दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह थी पैरिस की 'कम्यून' या म्यूनिसिपैलिटी। कम्यून ही नहीं बल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजनेवाले शहर के हरेक हलक़े में एक ज़िंदा संस्था थी, जो जनता से सीधा सम्पर्क रखती थी। कम्यून, और ख़ासकर हलक़े, क्रान्ति के झण्डा-बरदार और उदार व मध्यमवर्गी असेम्बली के मुक़ाबलेदार बन गये।

इसी बीच बास्तील के पतन की साल-गिरह आ गई और १४ जुलाई को पैरिस के निवासियों ने बड़ा भारी जलसा मनाया। इसे 'फेडरेशन का जलसा' कहा गया; और पैरिसवालों ने शहर को सजाने में दिल खोलकर मेहनत की, क्योंकि वे इस जलसे को अपना ही समझते थे।

१७९० और १७९१ ई० में क्रान्ति की ऐसी हालत थी। असेम्बली का सारा क्रान्तिकारी जोश ठंडा पड़ चुना था और वह सुधार करते-करते उकता गई थी; लेकिन पैरिस के लोग अभी तक क्रान्तिकारी जोश से खौल रहे थे, किसान-वर्ग अभी तक भूखों की तरह ज़मीन की तरफ़ ताक रहा था। यह हालत बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी; या तो क्रान्ति आगे बढ़ती या ख़त्म हो जाती। उदारदली नेता मिराबो १७९१ ई० में मर गया। बादशाह से गुपचुप साज़िशें करते रहने पर भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगों को रोक रक्खा था। २१ जून, १७९१ ई० को ऐसी घटना हुई, जिसने क्रान्ति की क़िस्मत का फ़ैसला कर दिया। यह था बादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेष बदलकर भाग जाना। वे किसी तरह सरहद तक पहुँच भी गये। लेकिन वेर्दून के पास वेरनीस के कुछ किसानों ने उन्हें पहचान लिया और उन्हें रोककर फिर पैरिस भेज दिया।

जहाँ तक पैरिस के निवासियों का ताल्लुक़ था वहाँतक बादशाह और रानी की इस हरकत ने उनकी क़िस्मत का फ़ैसला कर दिया। अब गणराज्य का विचार ख़ूब ज़ोर पकड़ने लगा। लेकिन फिर भी असेम्बली और उस समय की सरकार इतनी अनुदार थी और जनता की भावनाओं से इतनी दूर थी कि जो लोग लुई को राजगद्दी से उतार देने की माँग करते थे उनको वे गोलियों से भूनती रही। क्रान्ति के महान् नेता मारत के पीछे सत्ताधारी लोग बुरी तरह पड़ गये, क्योंकि उसने बादशाह की, भाग जाने के कारण, देशद्रोही कहकर निन्दा की थी। उसे पैरिस की ज़मींदोज़ नालियों में छिपना पड़ा, जिसकी वजह से उसे भयंकर चर्म-रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज़्यादा तक नाम के लिए लुई बादशाह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना जाता रहा। सितम्बर, १७९१ ई० में नेशनल असेम्बली का काल पूरा हो गया और उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्बली ने ले ली। यह भी उसीकी तरह मद्धिम विचारोंवाली थी और सिर्फ़ ऊँचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। वह फ़्रान्स के बढ़ते हुए जोश की प्रतिनिधि न थी। क्रान्ति का यह बुखार जनता में फैल गया और गरम प्रजातन्त्रवादी जैकोबिन लोगों की, जो जनता के ही लोग थे, ताक़त बढ़ने लगी।

उधर यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्र इन अजीब घटनाओं को चौकन्ने होकर देख रहे थे। थोड़े दिनों तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी ज़गह लूटमार में लगे रहे। वे पोलैण्ड के पुराने राज्य को खत्म करने में लगे हुए थे; लेकिन फ़्रान्स में घटनाएँ बड़े ज़ोरों से आगे बढ़ रही थीं और उनका ध्यान खींच रही थीं। १७९२ ई० में फ़्रान्स का आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध छिड़ गया। मैं तुम्हें यह बतला दूँ कि आस्ट्रिया इन दिनों नीदरलैण्ड के बेलजियमवाले हिस्से पर क़ब्ज़ा किये हुए था और उसकी सरहद फ़्रान्स से लगी हुई थी। विदेशी फ़ौजें फ़्रान्स के इलाक़े में घुस आईं और उन्होंने फ्रान्स की फ़ौजों को हरा दिया। लोगों का यह ख़याल था, और जिसके लिए सबब भी था, कि बादशाह उनसे मिला हुआ है, और सारे बादशाहवादियों पर दग़ाबाज़ी का सन्देह किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारों तरफ़ ख़तरे बढ़ने लगे वैसे-ही-वैसे पैरिस के लोग ज्यादा-ज्यादा भड़कने और घबराने लगे। उन्हें चारों तरफ़ भेदिये और देशद्रोही नज़र आने लगे। पैरिस की क्रान्तिकारी कम्यून ने इस संकट की घड़ी में आगे बढ़कर लाल झण्डा फहरा दिया, और यह ज़ाहिर कर दिया कि राज-दरबार की ग़द्दारी के ख़िलाफ़ जनता ने फ़ौजी क़ानून यानी मार्शल-ला जारी कर दिया है। उसने १० अगस्त, १७९२ ई० को बादशाह के महल पर भी धावा बोल दिया। बादशाह ने अपने स्विस[1] अंग-रक्षकों के हाथों जनता पर गोलियाँ चलवा दीं। लेकिन जीत आखिर जनता की ही हुई और कम्यून ने असेम्बली को मजबूर किया कि बादशाह को गद्दी से उतार कर क़ैद करे।

सब लोग जानते हैं कि आज यह लाल झण्डा सब जगह मज़दूरों का, समाजवाद और साम्यवाद का, झण्डा है। लेकिन पहले यह जनता के ख़िलाफ़ फ़ौजी क़ानून की घोषणा का सरकारी झण्डा हुआ करता था। मेरा ख़याल है, लेकिन मैं यक़ीन के साथ नहीं कह सकता, कि पैरिस कम्यून ने जब इस झण्डे का इस्तेमाल किया, तो जनता की ओर से उसका यही सबसे पहला इस्तेमाल था। और तभी से यह धीरे-धीरे मज़दूरों का झण्डा बनता गया।

बादशाह को गद्दी से उतारना और क़ैद करना काफ़ी न था। स्विस अंग-

---

[1] स्विट्ज़रलैण्ड के निवासी स्विस कहलाते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्षकों की गोलियाँ चलाने व बहुतों को मार डालने की कार्रवाई से भड़के हुए और देश के दुश्मनों व भेदियों के ख़िलाफ़ डर व गुस्से से भरे हुए पैरिस के लोग, जिन पर सन्देह करते उनको पकड़-पकड़ कर जेलों में ठूँसने लगे। गिरफ़्तार लोगों में बहुत-से ज़रूर क़सूरवार थे, लेकिन बहुत-से बेक़सूर आदमियों को भी गिरफ़्तार करके जेलों में डाल दिया गया। कुछ दिन बाद लोगों पर एक भयंकर जुनून सवार हुआ। उन्होंने क़ैदियों को जेल से निकालकर उनपर झूठ-मूठ का मुक़दमा चलाया और उनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। ये 'सितम्बर की हत्याएँ' कहलाती हैं और इनमें एक हज़ार से ज़्यादा आदमी मार डाले गए। पैरिस की उपद्रवी भीड़ को बड़े पैमाने पर ख़ून बहाने का यह पहला ही तजुर्बा था। ख़ून की प्यास बुझाने के लिए अभी तो और बहुत ख़ून बहना बाक़ी था!

सितम्बर में ही फ़्रान्स की फ़ौजों को आस्ट्रिया और प्रशिया की हमलावर फ़ौजों पर पहली बार जीत मिली। यह जीत वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई में मिली, जो छोटी तो थी लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने क्रान्ति को बचा लिया।

२१ सितम्बर, १७९२ ई० को नेशनल कन्वेन्शन बुलाया गया। यह असेम्बली की जगह लेनेवाली नई सभा थी। यह अपने पहले की दोनों असेम्बलियों से ज़्यादा आगे बढ़ी हुई थी। लेकिन कम्यून से फिर भी पिछड़ी हुई थी। कन्वेन्शन ने पहला काम यह किया कि गणराज्य की घोषणा कर दो। इसके बाद ही सोलहवें लुई का मुक़दमा हुआ; उसे मौत की सज़ा दी गई और २१ जनवरी, १७९३ ई० को उसे बादशाहत के पापों का बदला अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। उसे गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया, यानी गिलोतीन से उसका सिर उड़ा दिया गया। फ़्रान्स की जनता अब अपना पीछे लौटने का रास्ता बन्द कर चुकी थी। उसने आख़िरी क़दम बढ़ा दिया था और यूरोप के बादशाहों और सम्राटों को चुनौती दे दी थी। वे लोग अब पीछे नहीं लौट सकते थे। बादशाह के ख़ून से सनी हुई गिलोतीन की सीढ़ियों पर से ही क्रान्ति के महान् नेता दान्तों[1] ने जमा हुई भीड़ के सामने बोलते हुए इन दूसरे बादशाहों को अपनी ललकार सुनाई। उसने पुकारकर कहा—"यूरोप के बादशाह हमको चुनौती देना चाहेंगे; हम एक बादशाह का सिर उनके आगे फेंकते हैं!"

---

[1] दान्तों—(१७५९–१७९४); फ़्रान्स का एक वकील और क्रान्तिकारी नेता। 'सितम्बर की हत्याओं' का हुक्म इसीने दिया था। रोबेसपीर ने इसे हटा दिया और इसको गिलोतीन पर चढ़ाकर मार डाला गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: १०२ :

क्रान्ति और उलट-क्रान्ति

१ अक्तूबर, १९३२

बादशाह लुई मर चुका था, लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ़्रान्स में अद्भुत परिवर्तन हो चुका था। उसके निवासियों का ख़ून क्रान्ति की गर्मी से भभक रहा था; उनकी नसों में सनसनी दौड़ रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत सवार था। गणराज्यवादी फ़्रान्स तलवार खींचे खड़ा था; बाक़ी का यूरोप—'बादशाही यूरोप'—उसके खिलाफ़ था। गणराज्यवादी फ़्रान्स इन बोदे बादशाहों और राजाओं को बतला देना चाहता था कि स्वतन्त्रता के सूरज की गर्मी पाकर देशभक्त लोग किस तरह लड़ सकते हैं। वे लोग केवल अपनी नई मिली हुई स्वतन्त्रता के लिए ही नहीं, बल्कि बादशाहों और अमीर-सरदारों के सताये हुए दूसरे सब लोगों की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने को तैयार थे। फ़्रान्स के लोगों ने यूरोप के राष्ट्रों को अपना सन्देश भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे अपने शासकों के खिलाफ़ उठ खड़े हों, और यह घोषणा की कि ये लोग सब देशों की जनता के दोस्त और सब बादशाही सरकारों के दुश्मन हैं। उनकी पितृभूमि[1] फ़्रान्स स्वतन्त्रता की जननी बन गई, जिसकी वेदी पर बलिदान हो जाना आनन्द की बात थी और इस खूँख्वार जोश की घड़ी में उन्हें एक अद्भुत गीत मिल गया, जिसका स्वर उनके धधकते हुए भावों से मिला हुआ था और जिसने उन्हें ख़तरों की ज़रा भी परवाह न करते हुए और गीत गाते-गाते लड़ाई के मोर्चे की ओर दौड़ने के लिए और सब अड़चनों को लाँघने के लिए उकसाया। यह रूज़े द लिल का राइन की फ़ौजों के लिए रचा हुआ युद्ध-गीत था, जो तबसे 'मार्सेल्लास'[2] कहलाता है, और आज भी फ़्रान्स का राष्ट्रीय गीत है। फ़्रान्सीसी भाषा के इस गीत का भावार्थ यह है:

पितृभूमि के बच्चो, आओ !
गौरव का दिन आया है !
निष्ठुरता का ख़ूनी झंडा,
अपने सिर पर छाया है !
सुनो ख़ून के प्यासे सैनिक,
चारों ओर दहाड़ रहे ।
गोदी के लालों, ललनाओं,
की हत्या को उमड़ रहे ।

---

[1] यूरोप के लोग देश को मातृभूमि के बजाय पितृभूमि कहते हैं।
[2] Marseillaise.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैन्य सजाओ ! ओ नागरिको !
कर में तलवारें खींचो !
इन सबके अपवित्र ख़ून से,
अपने खेतों को सींचो !

वे लोग बादशाहों की बड़ी उम्र मनाने के निरर्थक गीत नहीं गाते थे। इसके बजाय वे मातृभूमि के पुनीत प्रेम और प्यारी स्वतन्त्रता के गाने गाते थे।

ओ पितृभूमि के पुण्य प्रेम !
आगे बढ़ने की राह दिखा !
प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रों
को तू रण में कर बल प्रदान !
प्रिय स्वतन्त्रते ! तू समर बीच
निज रक्षक-जन के प्राण बचा।

चीज़ों की ज़बर्दस्त तंगी थी। न तो काफ़ी खाना था, न कपड़े, न जूते। यहाँ-तक कि हथियार भी न थे। कितनी ही जगहों के नागरिकों से फ़ौज के लिए बूट और जूते दे देने को कहा गया। देशभक्तों ने बहुत तरह की ऐसी चीज़ें खाना छोड़ दिया, जिनकी फ़ौज के लिए ज़रूरत थी, और जिनकी कमी पड़ गई थी। कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमड़ा, रसोई के बरतन, कढ़ाइयाँ, बाल्टियाँ वग़ैरा, तरह-तरह की घरू काम की चीज़ें माँग ली गईं। पैरिस की गलियों में हज़ारों लुहारों के यहाँ हथौड़े चल रहे थे, क्योंकि सारी जनता, सारे नागरिक, नर-नारी, हथियार भी बनाने में मदद दे रहे थे। लोग बड़ी भारी तंगी उठा रहे थे; लेकिन इसकी क्या परवाह थी जब उनकी पितृभूमि फ़ान्स, सुन्दर फ़ान्स, फटे-हाल मगर आज़ादी का मुकुट पहने, खतरे में थी और दुश्मन उसके दरवाज़े पर खड़ा था ? बस, फ़ान्स के नौजवान उसे बचाने को दौड़े और भूख-प्यास की परवाह न करते हुए, विजय के लिए कूच करने लगे। कार्लाइल लिखता है, "ऐसा बहुत कमदेखा जाता है कि राष्ट्र की सारी-की-सारी जनता में ज़रा-सा भी भरोसे का होना माना जा सके; सिवाय उन चीज़ों में जिन्हें वह खा सके या घर-उठा सके। जब कमी कोई भरोसा मिल जाता है तो उसका इतिहास जोश भरनेवाला और ध्यान देने के क़ाबिल बन जाता है।" एक महान् उद्देश्य में यही भरोसा क्रान्ति के नर-नारियों में पैदा हुआ और याद रखने लायक़ दिनों में उन्होंने जो इतिहास रचा और जो क़ुर्बानियाँ बर्दाश्त कीं, उनमें अब भी हमें जोश दिलाने की और हमारे ख़ून की हरकत तेज करने की पूरी ताक़त है।

नये रंगरूटों की इन क्रान्तिकारी फ़ौजों ने, पूरी तरह फ़ौजी तालीम न मिलने पर भी, फ़ान्स की धरती पर से सब विदेशी फ़ौजों को मार भगाया और उसके बाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीदरलैण्ड के दक्षिणी हिस्से (बेलजियम, वग़ैरा) को भी आस्ट्रिया के चंगुल से छुड़ा दिया। हैप्सवर्गों ने हमेशा के लिए नीदरलैण्ड छोड़ दिया और वे फिर वापस न आये। यूरोप की सिखाई हुई और पेशेवर फ़ौज इन क्रान्तिकारी रंगरूटों के मुक़ाबिले में न ठहर सकी। सीखा हुआ सिपाही तनख़्वाह की खातिर लड़ता था और बड़ी सावधानी से लड़ता था; क्रान्तिकारी रंगरूट एक आदर्श के लिए लड़ता था और विजय के लिए भारी-से-भारी जोखिम उठाने को तैयार था। सीखा हुआ सिपाही ढेर-का-ढेर सामान लादे धीरे-धीरे चलता था; रंगरूट के पास लादने को कुछ सामान न था और वह तेजी के साथ चलता था। यानी क्रान्तिकारी फ़ौज युद्ध में एक नया ही नमूना थी और उनके लड़ने का ढँग भी बिलकुल नया था। उन्होंने युद्ध-कला के पुराने तरीक़ों को बदल दिया और कुछ हद तक वे यूरोप में अगले सौ वर्षों की फ़ौजों के लिए नमूना बन गईं। लेकिन इन फ़ौजों का असली बल इनके जोश और हौसले में था। इनका नारा; और असल में उस समय क्रान्ति का भी नारा, दान्तों के इस मशहूर वाक्य में आ जाता है: "पितृभूमि के दुश्मनों को परास्त करने लिए हममें दिलेरी, और भी ज़्यादा दिलेरी, हमेशा दिलेरी, चाहिए।"

युद्ध फैलने लगा। जल-सेना के सबब से इंग्लैण्ड एक ताक़तवर दुश्मन साबित हुआ। गणराज्यी फ़ान्स ने बड़ी भारी थल-सेना बना ली थी, लेकिन समुद्र पर वह कमज़ोर था। इंग्लैण्ड ने फ़ान्स के सारे बन्दरगाहों की नाकाबन्दी शुरू कर दी। फ़ान्स से भागे हुए लोग इंग्लैण्ड से ही करोड़ों की संख्या में जाली 'असाइनेत्स' या फ़ान्सीसी गणराज्य के नोट घड़ा-घड़ फ़ान्स भेजने लगे। इस तरह उन्होंने फ़ान्स की सिक्का-प्रणाली और अर्थ-व्यवस्था को बर्बाद करने की कोशिश की।

विदेशों के साथ यह युद्ध सबसे ज़्यादा महत्ववाली चीज़ बन गया और राष्ट्र की सारी ताक़त उसमें खर्च होने लगी। ऐसे युद्ध क्रान्तियों के लिए ख़तरनाक हुआ करते हैं, क्योंकि ये समाजी समस्याओं से ध्यान हटाकर उसे विदेशी शत्रु से लड़ने की तरफ़ लगा देते हैं, जिससे क्रान्ति का असली उद्देश्य घपले में पड़ जाता है। क्रान्ति के जोश की जगह युद्ध का जोश ले लेता है। फ़ान्स में ऐसा ही हुआ और जैसा कि हम देखेंगे, आखिरी दर्जा फ़ान्स का यह हुआ कि वहाँ एक ज़बर्दस्त जंगी सेनापति की तानाशाही क़ायम हो गई।

घरू झगड़े भी साथ-साथ चल रहे थे। फ़ान्स के पश्चिम में वान्दे में, कुछ तो वहाँ के किसानों के नई फ़ौजों में भरती होने से इन्कार करने की वजह से और कुछ बादशाहवादी नेताओं और फ़ान्स से भागे हुए लोगों की कोशिशों से, किसानों का ज़बर्दस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। क्रान्ति को सम्भालनेवाले और चलानेवाले तो असल में पैरिस के शहरी लोग थे; किसान-वर्ग राजधानी में तेजी से होनेवाले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तनों को और उनके महत्व को न समझ सके और पिछड़ गये। वान्दे का विद्रोह बड़ी बेहरमी के साथ दबा दिया गया। युद्ध में और ख़ासकर गृह-युद्ध में लोगों के हलके-से-हलके आवेग जाग उठते हैं और हमदर्दी तो दर-दर मारी फिरती है। लियों में क्रांति-विरोधी बलवा हुआ। इसे दबा दिया गया और किसीने यह प्रस्ताव किया कि सज़ा के तौर पर लियों का बड़ा शहर ही नष्ट कर दिया जाय! "लियों ने स्वतन्त्रता के खिलाफ़ युद्ध छेड़ा है; लियों अब नहीं बच सकता!" सौभाग्य से यह प्रस्ताव मंजूर नहीं किया गया, मगर फिर भी लियों को बड़ी मुसीबत झेलनी पड़ी।

इसी बीच में पैरिस में क्या हो रहा था? वहाँ किसका क़ब्ज़ा था? नई चुनी हुई कम्यून और उसके हलक़ों का शहर में अभी तक बोलबाला था। नेशनल कन्वेन्शन में शक्ति के लिए सारे गिरोहों में कशमकश चल रही थी, जिसमें ख़ास जिरोंदी यानी मद्धिम गणराज्यवादी और जैकोबिनी यानी गरम गणराज्यवादी। जैकोबिनी दल की जीत हुई और जून १७९३ ई० के शुरू में ही ज्यादातर जिरोंदी डिप्टी कन्वेन्शन से निकाल दिये गए। कन्वेन्शन ने अब सामन्ती हक़ों को हमेशा के लिए उठा देने की कार्रवाई की और जो ज़मीनें सामन्ती सरदारों के क़ब्ज़े में थीं, वे मुक़ामी कम्नों यानी म्यूनिसिपैलिटियों को वापस लौटा दी गईं, यानी ये ज़मीनें जनता की सम्पत्ति हो गईं।

कन्वेन्शन ने, जिसमें अब जैकोबिनी लोगों की तूती बोलती थी, दो कमेटियाँ मुक़र्रर कीं; एक तो सार्वजनिक कल्याण की और दूसरी सार्वजनिक बचाव की, और इनको लम्बे-चौड़े अधिकार दे दिये। ये कमेटियाँ—ख़ासकर सार्वजनिक बचाव कमेटी, जल्दी ही बड़ी शक्तिशाली बन बैठीं और लोग इनसे खौफ़ खाने लगे। इन्होंने कन्वेन्शन को एक-एक कदम आगे हाँकना शुरू किया, यहाँतक कि क्रान्ति 'आतंक'[1] के गहरे गड्ढे में जा पड़ी। भय की छाया अभी तक हरेक के ऊपर पड़ी हुई थी; विदेशी दुश्मनों का भय, जो उनको चारों तरफ से घेरे हुए थे; भेदियों और देश-द्रोहियों का भय, जिनकी संख्या बहुत थी। भय लोगों को अन्धा और खतरनाक बना देता है, और लगातार सिर पर सवार रहनेवाले इस भय से मजबूर होकर सितम्बर, १७९३ ई० में कन्वेन्शन ने एक भयंकर क़ानून पास किया, जो 'सन्देह-भाजनों का कानून' कहलाया। जिस किसीपर सन्देह या शक होता उसकी खैर न थी। और सन्देह किये जाने से कौन बच सकता था? एक महीने बाद कन्वेन्शन के बाईस जिरोंदी डिप्टियों पर क्रान्ति की अदालत के सामने मुक़दमा चलाया गया और उनको फौरन मौत की सज़ा दे दी गई।

---

[1]आतंक—क्रान्ति के बाद पैरिस में जो आतंक यानी दहशत का राज रहा, अंग्रेज़ी में उसे The Terror कहा जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह 'आतंक' का राज शुरू हुआ। मौत की सजा पाये हुए लोग हर रोज़ गिलोतीन पर ले जाये जाते थे; हर रोज़ इन क़ुर्बानी के बकरों से भरी हुई गाड़ियाँ जिन्हें 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियों की रोड़ी पर चूँ-चूँ करती और लड़खड़ाती हुई जाती थीं और लोग इन अभागों को चिढ़ाते थे। कन्वेन्शन में भी शासक-गुट्ट के खिलाफ़ बोलना खतरनाक था, क्योंकि इससे सन्देह पैदा होता था और सन्देह का नतीजा था मुक़दमा और गिलोतीन। कन्वेन्शन की वागडोर सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक बचाव की कमेटियों के हाथों में थी। ये कमेटियाँ, जिनके हाथों में ज़िन्दगी और मौत का पूरा अधिकार था, अपने अधिकार दूसरों को नहीं बाँटना चाहती थीं। इन्होंने पैरिस की कम्यून पर भी ऐतराज़ किया। असल में जो इनकी हाँ-में-हाँ नहीं मिलाते थे, उन सब पर इनको ऐतराज़ था। सत्ता में लोगों को भ्रष्ट कर देने की अजीब तासीर होती है। इसलिए इन कमेटियों ने उस कम्यून को कुचलना शुरू कर दिया, जो अपने हलक़ों समेत क्रान्ति की रीढ़ रही थी। पहले इन्होंने हलक़ों को कुचला और इन सहारों को काटकर फिर कम्यून को कुचल डाला। इस तरह क्रान्ति अक़्सर अपने आपको ही खा जाती है। पैरिस के हरेक हिस्से के ये हलक़े जनता को चोटी के नेताओं से मिलानेवाली कड़ियाँ थे। ये वे नसें थीं, जिनमें होकर क्रान्ति का उसे बल और जीवन देनेवाला लाल खून बहता था। १७९४ के शुरू में हलक़ों और कम्यून के कुचल दिये जाने का अर्थ था इस जीवन देनेवाले खून का रोक दिया जाना। अब से कन्वेन्शन और ये कमेटियाँ अपने ऊपर की सरकार का अंग बन गईं, जिनका जनता से कोई असली सम्पर्क न था और जो 'आतंक' के ज़रिये अपनी मर्ज़ी दूसरों पर लादती थीं—जैसा कि सब सत्ताधारियों का रवैया हुआ करता है। यह असली क्रान्तिकारी ज़माने के अन्त की शुरुआत थी। छै महीने तक यह 'आतंक' और जारी रहनेवाला था और क्रान्ति लस्टम-पस्टम चलनेवाली थी। लेकिन उसका अन्त तो दिखाई देने लगा था।

उथल-पुथल और परेशानी के इन दिनों में पैरिस और फ़्रान्स के नेता कौन थे? बहुत-से नाम सामने आते हैं। कैमिल देम्यूलां, जो १७८९ ई० में बास्तील के हमले का नेता था और जिसने दूसरे बहुत-से मौक़ों पर भी महत्व का हिस्सा लिया था। 'आतंक' के दिनों में नरमी की नीति का समर्थन करते हुए यह खुद गिलोतीन का शिकार हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी युवा पत्नी लूसिल भी इसके क़दमों पर चली और उसने पति के बिना ज़िन्दा रहने से मौत को बेहतर समझा। कदि फैब्र दि इंग्लैंतीन और सरकारी वकील फोकिये तिनविल, जिससे सब भय खाते थे। मारत, क्रान्ति का शायद सबसे महान् और क़ाबिल आदमी, जिसे एक नौजवान लड़की शारलौत कॉरदे ने छुरा भोंककर मार डाला; दान्तों, जिसका ज़िक्र मैंपहले भी दो बार कर चुका हूँ, जो दिलेर और शेरदिल था और बड़ा अच्छा व लोकप्रिय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषण देनेवाला था, लेकिन फिर भी उसका अन्त गिलोतीन पर हुआ; और इन सबसे ज्यादा मशहूर रोबेसपीर, जैकोबिनी दल का नेता और 'आतंक' के दिनों में कन्वेन्शन का क़रीब-क़रीब तानाशाह। यह तो एक तरह से 'आतंक' की मूर्ति ही बन गया था और लोग इसका नाम लेते हुए थर्राते थे। लेकिन इस व्यक्ति की ईमानदारी और देशभक्ति के बारे में कोई उंगली नहीं उठा सकता; लोग इसे 'शुद्ध' यानी कभी भ्रष्ट न होनेवाला कहते थे। लेकिन जीवन में इतना सादगी-पसन्द होते हुए भी वह ज़रूरत से ज्यादा अहंकारी था। और शायद वह यह खयाल करता था कि उससे मतभेद रखनेवाला हरेक आदमी गणराज्य व क्रान्ति का ग़द्दार है। क्रान्ति के बहुत-से बड़े-बड़े नेता, जो इसके साथी रह चुके थे, इसीके इशारे पर गिलोतीन के घाट उतार दिये गए; यहाँतक कि वह कन्वेन्शन, जो भेड़ की तरह इसके पीछे-पीछे चल रहा था, आखिर इसीके खिलाफ़ खड़ा हो गया। उन्होंने इसे ज़ालिम और अत्याचारी क़रार दिया और इसका व इसके अत्याचारों का अन्त कर दिया।

क्रान्ति के ये तमाम नेता नौजवान लोग थे; क्रान्तियाँ बुड्ढ़े आदमियों से नहीं हुआ करतीं। इन नेताओं में बहुत-से भारी-भरकम ज़रूर थे, लेकिन इस महान् नाटक में किसीका भी पार्ट, यहाँतक कि रोबेसपीर का भी, ज़ोरदार न रहा। क्रान्ति के तथ्य के सामने ये हेच मालूम पड़ते हैं; क्योंकि इन लोगों ने न तो क्रान्ति पैदा की थी और न उसकी बागडोर ही इनके हाथों में थी। वह तो एक ऐसा क़ुदरती इन्सानी भूचाल था जैसे कि इतिहास में समय-समय पर हुआ करते हैं; और जिनको समाजी हालतें व वर्षों की लगातार मुसीबतें और अत्याचार धीरे-धीरे, लेकिन न लौटनेवाले रास्ते पर तैयार करते हैं।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लड़ने-भिड़ने और गिलोतीन पर चढ़ाने के सिवा और कुछ न किया। सच्ची क्रान्ति से पैदा होनेवाली शक्ति हमेशा बहुत ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियों से युद्ध में खप गया था, लेकिन फिर भी बहुत-कुछ बच रहा था, और इसके ज़रिये काफ़ी ठोस काम किया गया। ख़ासकर राष्ट्रीय शिक्षा का सारा तरीक़ा ही बदल दिया गया। मीट्रिक-प्रणाली, जिसे आज स्कूल के सब बच्चे सीखते हैं, इसी समय जारी की गई थी और इसने तमाम बाटों को और लम्बाई व आयतन के तमाम नापों को आसान कर दिया। यह प्रणाली अब दुनिया के लगभग सारे सभ्य देशों में फैल गई है, लेकिन कट्टर-पन्थी इंग्लैण्ड अभी तक गज़ों, फ़र्लांगों, पौण्डों और हण्डरवेटों वग़ैरा की पुरानी प्रणाली से चिपका हुआ है। हम भारतवासियों को सेरों और मनों वग़ैरा के अलावा इन पेचीदा लम्बाइयों और तोलों को भी बर्दाश्त करना पड़ता है।[1]

---

[1] अब स्वतन्त्र भारत ने भी मीट्रिक-प्रणाली अपना ली है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़ायदे से, मीट्रिक प्रणाली का लाज़िमी नतीजा था कि गणराज्य का एक नया कैलेंडर भी बने ! यह २२ सितम्बर, १७९२ ई० से, यानी जिस दिन गणराज्य का ऐलान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया। सात दिन के सप्ताह की जगह दस दिन का सप्ताह कर दिया गया और दसवाँ दिन छुट्टी का रक्खा गया। महीने तो बारह ही रहे, मगर उनके नाम बदल दिये गए। कवि फ़ैब्र ने ऋतुओं के मुताबिक़ महीनों को बड़े प्यारे नाम दिये। बसन्त के तीन महीने 'जर्मिनल', 'फ्लोरेआल', 'प्रेरिआल' थे; गरमी के महीने 'मेसिदोर', 'थर्मिदोर', 'फ़्यूक्तिदोर' थे; पतझड़ के महीने 'वान्देम्यार', 'ब्रूमार', 'फ़्रिमार', रक्खे गये; सरदी के 'निवोज़', 'प्ल्यूविओज़', 'वान्तोज़', रक्खे गये। पर यह कैलेंडर गणराज्य के बाद ज़्यादा दिन न टिका।

कुछ दिन ईसाइयत के ख़िलाफ़ एक ज़बर्दस्त आन्दोलन हुआ और 'विवेक'[1] की पूजा तजवीज़ की गई। 'सत्य' के मन्दिर बनाये गए। यह आन्दोलन प्रान्तों में बहुत जल्द फैल गया। १७९३ ई० के नवम्बर में पैरिस के नोत्रदाम गिरजे में 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' का बड़ा भारी उत्सव मनाया गया और एक सुन्दर स्त्री को देवी बनाया गया। लेकिन रोबेसपीर इन मामलों में कट्टर था। उसने इस आन्दोलन को पसन्द नहीं किया। दान्तों ने भी नहीं किया। सार्वजनिक कल्याण की जैकोबिनी कमेटी भी इसके ख़िलाफ़ थी, इसलिए आन्दोलन के नेताओं को गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया। सत्ता और गिलोतीन के बीच में कोई ठहरने की जगह न थी। 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' उत्सव का तुर्की-बतुर्की जवाब देने के लिए रोबेसपीर ने 'सर्वोपरि' सत्ता के दूसरे जलसे का आयोजन किया। कन्वेन्शन के वोट से यह तय किया गया कि फ़्रान्स एक 'सर्वोपरि सत्ता' में विश्वास करता है ! रोमन कैथलिक मत फिर पसन्द किया जाने लगा।

पैरिस के हलक़ों को और कम्यून को कुचल दिये जाने के बाद हालत बड़ी तेजी से बिगड़ रही थी। जैकोबिन्नी दल सब पर हावी हो रहा था; सरकार की बागडोर उनके हाथों में थी, लेकिन उसमें आपसी फूट फैल रही थी। 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' के उत्सव के अगुआ हीबर्त और उसके समर्थकों को गिलोतीन पर चढ़ाया जाना जैकोबिनी दल में फूट का पहला बड़ा सबब हुआ। इसके बाद फैब्र दि इंग्लैंतीन का नम्बर आया; और जब १७९४ ई० के शुरू में दान्तों, कैमिली, देम्यूलां, वग़ैरा ने रोबेसपीर के हाथों बेहद लोगों को गिलोतीन पर चढ़ाये जाने का विरोध किया, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल, १७९४ ई० में दान्तों को फुर्ती के साथ क़त्ल कर दिया गया कि कहीं लोग दख़ल न डाल दें। इससे पैरिस की और प्रान्तों की जनता यह समझ गई कि क्रान्ति का अन्त हो चुका।

---

[1] विवेक (Reason)—भले-बुरे का, सत्य-असत्य का, ज्ञान।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक तंग-दिल गुट्ट का अधिकार हो गया। शत्रुओं से जो घिरा हुआ था और जनता से जिसका सम्पर्क टूट गया था, ऐसे इस गुट्ट को चारों तरफ़ दग़ाबाज़ी ही नज़र आने लगी, और 'आतंक' को ज़ोरदार बनाने के सिवा इसे अपने बचाव का कोई रास्ता न सूझा।

बस, आतंक का राज हो गया और गिलोतीन की तरफ़ जानेवाली तम्ब्रिल गाड़ियों में कुर्बानी के बकरों की संख्या पहले से भी ज्यादा हो गई। जून में एक नया कानून पास किया गया जो 'बाईसवीं प्रेरिआल' का क़ानून कहलाता है और जिसमें झूठी ख़बरें उड़ाना, लोगों को लड़ाना या भड़काना, सदाचार की जड़ काटना, और जनता के ईमान को बिगाड़ना, वग़ैरा जुर्मों के लिए मौत की सज़ा तजवीज़ की गई थी। जो कोई भी रोबेसपीर और उसके हिमायतियों से मतभेद रखता, वही इस क़ानून के लम्बे-चौड़े जाल में पकड़ा जा सकता था। झुण्ड-के-झुण्ड लोगों पर एक साथ मुक़दमे चलाएँ जाते थे और उन्हें सज़ाएँ दे दी जाती थीं। एक बार तो डेढ़-सौ आदमियों पर एक साथ मामला चलाया गया, जिनमें सज़ाएँ पाये हुए क़ैदी, बादशाहवादी, वग़ैरा, शामिल थे।

इस नये 'आतंक' का राज छियालीस दिन रहा। आख़िरकार नवीं थर्मिदोर यानी २७ जुलाई १७९४ ई० को दबी हुई बिल्ली ने झपट्टा मारा। कन्वेन्शन अचानक रोबेसपीर और उसके समर्थकों के ख़िलाफ़ हो गया और 'ज़ालिम-मुर्दाबाद' के नारे लगाते हुए उन्होंने इन सबको गिरफ़्तार कर लिया और रोबेसपीर को तो बोलने तक नहीं दिया। दूसरे दिन तम्ब्रिल उसे भी उसी गिलोतीन पर ले गई, जहाँ वह बहुतों को भेज चुका था। इस तरह फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति का अन्त हो गया।

रोबेसपीर की मृत्यु के बाद उदारदली क्रान्ति शुरू हुई। अब उदारदली आगे आये और इन लोगों ने जैकोबिनी लोगों को सताना और उनपर आतंक जमाना शुरू किया। 'लाल आतंक' के बाद 'सफ़ेद आतंक' की बारी आई। पन्द्रह महीने बाद, अक्तूबर, १७९५ ई० में कन्वेन्शन टूट गया और पाँच सदस्यों की एक 'डायरेक्टरी', सरकार बन गई। यह पूरी तरह मध्यमवर्ग की सरकार थी और इसने आम लोगों को दबाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ़्रान्स पर चार साल से ज्यादा शासन किया और अन्दरूनी झगड़ों के बाद भी गणराज्य की इतनी धाक और ताक़त थी कि वह देश के बाहर भी युद्धों में जीतती रही। उसके ख़िलाफ़ कुछ बग़ावतें भी हुईं, लेकिन वे सब दबा दी गईं। इसी तरह के एक विद्रोह को दबानेवाला गणराज्य की फ़ौज का एक नौजवान सेनानायक नेपोलियन बोनापार्त था, जिसने पेरिस की भीड़ पर गोलियाँ चलाने की हिम्मत की और बहुतों को मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोंका' करके मशहूर है। जब खुद गणराज्य की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी फ़ौज ही फ़ान्स की जनता को मारने के काम में लाई जा सकती थी, तो ज़ाहिर है कि क्रान्ति की छाया तक भी बाक़ी न रही होगी।

बस, क्रान्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही आदर्शवादियों के मीठे सपनों का और ग़रीबों की आशाओं का भी अन्त हो गया। लेकिन फिर भी जो बातें वह हासिल करना चाहती थी, उनमें से बहुत-सी हासिल हो गईं। कोई भी उलट-क्रान्ति अब किसानों की ग़ुलामी को वापस नहीं ला सकती थी, और बोर्बन बादशाह भी—बोर्बन फ़ान्स का एक राजवंश था—जब वापस आये तो उस ज़मीन को वापस न छीन सके जो किसान-वर्ग में बाँट दी गई थी। खेत में या शहर में काम करनेवाले साधारण आदमी की हालत इतनी अच्छी हो गई कि जितनी पहले कभी नहीं रही थी। सच तो यह है कि 'आतंक' के दिनों में भी उसकी हालत क्रान्ति के पहले से बेहतर थी। 'आतंक' उसके ख़िलाफ़ न था। वह तो ऊँचे वर्गों के ख़िलाफ़ था; हालाँकि आख़िरी वक़्त में कुछ ग़रीब लोगों को भी इससे तकलीफ़ें उठानी पड़ीं।

क्रान्ति धराशायी हो गई, लेकिन गणराज्य का ख़याल यूरोप भर में फैल गया और उसके साथ ही उन सिद्धान्तों का भी प्रचार हुआ, जिनका ऐलान 'मानव-अधिकारों की घोषणा' में किया गया था।

: १०३ :

हुकूमतों के ढंग

२७ अक्तूबर, १९३२

मैंने दो हफ्तों से कुछ नहीं लिखा। कभी-कभी मैं सुस्त हो जाता हूँ। यह ख़याल कि अब मेरी इस कहानी का अन्त नज़दीक आ रहा है, मुझे ज़रा रोक देता है। हम अठारहवीं सदी के अन्त तक तो पहुँच ही चुके हैं; अब उन्नीसवीं सदी के सौ वर्षों पर ग़ौर करना बाक़ी है। फिर हमें ठेठ आज तक पहुँचने में बीसवीं सदी के ठीक बत्तीस वर्ष रह जायेंगे। लेकिन इन बचे हुए एक सौ बत्तीस वर्षों का बयान बड़ा लम्बा होगा। बहुत नज़दीक होने के सबब से ये बहुत बड़े नज़र आते हैं और हमारे दिमाग़ों में भर जाते हैं, और पहले की घटनाओं से हमको ज़्यादा भारी मालूम होते हैं। जो कुछ आज हम अपने चारों तरफ़ देखते हैं, उसके ज़्यादातर हिस्से की जड़ें इन्हीं वर्षों के भीतर हैं, और वास्तव में पिछली सदी और उससे आगे की घटनाओं के घने जंगल में होकर तुमको ले जाना मेरे लिए आसान काम न होगा। शायद इससे मेरे जी चुराने की यही वजह हो! लेकिन मैं इस असमंजस में पड़ जाता हूँ कि जब अन्त में मनुष्य-जाति की यह कहानी १९३२ ई० तक आ पहुँचेगी और भूतकाल वर्तमान में मिलकर भविष्य की छाया के सामने ठहर जायगा, तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं क्या करूँगा ? प्यारी बेटी, तब मैं तुमको क्या लिखूंगा ? उस वक़्त मेरे लिए क्या बहाना रहेगा कि मैं क़लम लेकर बैठूँ और तुम्हारा ख़याल करूँ, या कल्पना करूँ कि तुम मेरे पास बैठकर बहुत-से सवाल पूछ रही हो, जिनका जवाब देने की मैं कोशिश करता हूँ ?

फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में मैं तीन पत्र लिख चुका हूँ; फ़्रान्स के इतिहास के थोड़े-से पाँच वर्षों के बारे में तीन लम्बी चिट्ठियाँ हैं। युगों की इस यात्रा के दौरान में हमने सदियों को एक-एक डग में पूरा कर दिया है और महाद्वीपों पर सरसरी निगाह डाली है। लेकिन यहाँ फ़्रान्स में, १७८९ से १७९४ ई० तक, हम काफ़ी देर ठहरे हैं; और फिर भी यह जानकर तुम्हें ताज्जुब होगा कि मैंने अपने बयान को छोटा करने की सख्त कोशिश की है, क्योंकि मेरे दिमाग़ में यह विषय भरा हुआ था और मेरी क़लम आगे दौड़ना चाहती थी। फ़्रान्स को राज्यक्रान्ति इतिहास में महत्व रखती है। वह इतिहास के एक ज़माने का अन्त और दूसरे की शुरुआत बतलाती है। लेकिन उसका नाटक-जैसा रूप हमको और भी ज़्यादा मोहता है और यह हम सबको बहुत-सी नसीहतें देती है। दुनिया में आज फिर उथल-पुथल हो रही है और हम लोग महान् परिवर्तनों के दरवाज़े पर खड़े हैं। अपने देश में भी हम क्रान्ति के समय में रह रहे हैं, फिर यह क्रान्ति मारकाट से चाहे कितनी ही दूर क्यों न हो। इसलिए हम फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति से और उस दूसरी महान् क्रान्ति से, जो रूस में हमारे ही समय में हमारी आँखों के सामने हुई है, बहुत कुछ सीख सकते हैं। इन दोनों क्रान्तियों जैसी जनता की सच्ची क्रान्तियाँ जीवन की कठोर असलियतों पर बड़ी तेज़ रोशनी डालती हैं। बिजली की चमक की तरह वे सामने की सारी ज़मीन को, और ख़ासकर अन्धेरी जगहों को, रौशन कर देती हैं। कम-से-कम कुछ देर के लिए अपना लक्ष्य बहुत साफ़ और अजीब तौर पर पास दिखाई देता है। दिल में विश्वास और शक्ति भर जाते हैं। शंका और हिचकिचाहट दूर हो जाती हैं। दूसरे नंबर की चीज़ पर समझौता करने का कोई सवाल नहीं रहता। क्रान्ति को बनानेवाले लोग तीर की तरह सीधे लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हैं, दायें-बायें नहीं देखते; और जितनी सीधी और तेज उनकी नज़र होती है, उतनी ही क्रान्ति आगे बढ़ती है। लेकिन यह सिर्फ़ क्रान्ति के चढ़ाव के वक़्त में ही होता है जबकि उसके नेता पहाड़ की चोटी पर होते हैं और जनता पहाड़ की ढाल पर चढ़ती है। लेकिन अफ़सोस ! एक वक़्त ऐसा आता है जब उनको पहाड़ से उतरकर नीचे की अन्धेरी घाटियों में भी आना पड़ता है। उस वक़्त विश्वास मन्दा पड़ जाता है और क्रिया-शक्ति कम हो जाती है।

१७७८ ई० में वाल्तेयर, जो क़रीब-क़रीब ज़िन्दगी भर देश-निकाले में रहा था, मरने के लिए पैरिस लौटा। उस समय वह चौरासी साल का था। पैरिस के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौजवानों को सम्बोधन कर उसने कहा था—"नौजवान बड़े भाग्यशाली हैं; वे आगे महान् बातें देखेंगे।" वास्तव में उन्होंने महान् बातें देखीं और उनमें भाग लिया क्योंकि ग्यारह साल बाद ही क्रान्ति शुरू हो गई। वह जरूरत से ज्यादा इन्तज़ार कर चुकी थी। सत्रहवीं सदी में महान् बादशाह चौदहवें लुई का कहना था कि "मैं ही सबसे बड़ा हूँ;" अठारहवीं सदी में उसके उत्तराधिकारी पन्द्रहवें लुई ने कहा—"मेरे बाद प्रलय हो जायगी"; और इस न्यौते के बाद सचमुच ही रेला आया, जो सोलहवें लुई और उसके साथियों को बहा ले गया। पाउडर लगे नक़ली बालों और रेशमी बिरजिसोंवाले अमीर-सरदारों के बजाय 'साक्यूलौत' यानी बिना बिरजिसवाले लोग आगे आये, और फ़ान्स का हरेक निवासी 'नागर' या 'नागरी' कहलाने लगा। नये गणराज्य का नारा था—"स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारा", जो सारे संसार को पुकार-पुकारकर सुनाया गया।

क्रान्ति के दिनों में 'आतंक' का खूब ज़ोर रहा। क्रान्ति की ख़ास अदालत मुक़र्रर किये जाने से लगाकर रोबेसपीर की मृत्यु तक के सोलह से भी कम महीनों में, लगभग चार हज़ार आदमी गिलोतीन पर चढ़ा दिये गए। यह एक बड़ी संख्या है, और जब यह ख़याल होता है कि कितने ही बेक़सूर आदमी गिलोतीन पर चढ़ा दिये गए होंगे तो दिल को बड़ा सदमा और रंज पहुँचता है। लेकिन फिर भी कुछ घटनाएँ याद रखने लायक़ हैं, जिससे हम फ़ान्स के इस 'आतंक' को तसवीर में ठीक जगह बिठाकर देख सकें। गणराज्य चारों तरफ़ शत्रुओं, देश-द्रोहियों और भेदियों से घिरा हुआ था और गिलोतीन पर चढ़ाये जानेवालों में से बहुत-से लोग गणराज्य के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे, जो उसके सत्यानाश की कार्रवाइयाँ कर रहे थे। 'आतंक' के आख़िरी दिनों में क़सूरवारों के साथ बेक़सूर भी पिस गये। जब दहशत सवार होती है तो आँखों पर पर्दा पड़ जाता है और तब क़सूरवार और बेक़सूर का भेद पहचाननना मुश्किल हो जाता है। फ़ान्स के गणराज्य को एक नाज़ुक घड़ी में लाफ़ेअत[1] जैसे अपने बड़े-बड़े सेनापतियों के भी विरोध और दग़ाबाजी का सामना करना पड़ा, तब अगर नेता लोग घबरा गये हों और उन्होंने अन्धाधुन्ध इधर-उधर मार-काट करनी शुरू कर दी हो तो इसमें अचम्भा ही क्या है?

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास में बतलाया है, यह बात भी ध्यान में रखने की है कि उस वक़्त इंगलण्ड, अमेरिका और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। फ़ौजदारी क़ानून, ख़ासकर सम्पत्ति को बचाने के बारे में, वहशियाना

[1] लाफ़ेअत—(१७५७–१८३४); फ़ान्सीसी सेनापति और राजनीतिज्ञ। यह अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम में अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ा था। १७८९ ई० में यह फ़ान्स की राज्यक्रान्ति का नेता था, लेकिन १७९२ ई० में वहाँ से भाग गया। नेपोलियन के बाद यह फिर राष्ट्रीय फ़ौज का सेनापति हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था और छोटे-छोटे अपराधों के लिए लोग फाँसी पर चढ़ा दिये जाते थे। कहीं-कहीं अब भी सरकारी तौर पर लोगों को यन्त्रणाएँ दी जाती थीं। वेल्स ने लिखा है कि फ्रान्स में 'आतंक' के राज में जितने आदमी गिलोतीन पर चढ़ाये गए, उतने ही समय में इंग्लैण्ड और अमेरिका में इससे कहीं ज्यादा आदमी इसी तरह फाँसी पर चढ़ा दिये गए थे।

उन दिनों जिस खौफ़नाक बेरहमी व बेदर्दी के साथ गुलामों का शिकार किया जाता था उसका भी खयाल करो। और युद्ध का और खासकर आधुनिक युद्ध का खयाल करो, जो हज़ारों नौजवानों को उठती जवानी में मटिया-मेट कर देता है। ज़रा और पास आकर अपने ही देश की तरफ़ देखो और हाल की घटनाओं पर विचार करो। तेरह साल हुए जब अमृतसर के जलियांवाला बाग़ में अप्रैल की एक शाम को, बसन्त के त्यौहार के दिन, सैकड़ों लोग मार डाले गए थे और हज़ारों बुरी तरह घायल कर दिये गए थे। और षड्यन्त्रों के ये सब मुक़दमे और खास अदालतें और आर्डिनेन्स, लोगों को डराने और दबाने की कोशिशों के सिवा और क्या हैं? दमन और आतंक की तेजी हुकूमत की हौलदिली का नाप हुआ करती है। हरेक हुकूमत, चाहे वह प्रतिगामी हो या क्रान्तिवादी, विदेशी हो या स्वदेशी, आतंक का सहारा तब लेती है जब उसे खुद अपनी ही हस्ती खतरे में मालूम पड़ती है। प्रतिगामी हुकूमत कुछ खास रियायतोंवाले लोगों की ओर से जनता के खिलाफ़ कार्रवाई करती है; क्रान्तिवादी हुकूमत जनता की तरफ़ से गिने-चुने खास रियायतियों के खिलाफ़ करती है। क्रान्तिवादी हुकूमत ज्यादा खरी और ईमानदार होती है; वह अक़्सर ज़ालिम और कठोर तो होती है, लेकिन उसमें छल-कपट या धोखाधड़ी नहीं होते। प्रतिगामी हुकूमत धोखेबाज़ी की हवा में रहती है, क्योंकि वह जानती है कि अगर उसका भेद खुल गया तो वह टिक न सकेगी। वह स्वतन्त्रता की बातें करती है, और इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ लगाती है कि वह खुद मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र है। वह इन्साफ़ की बात करती है, जिसका मतलब होता है मौजूदा व्यवस्था को क़ायम रखना, जिसके अन्दर वह पनपती है, हालांकि दूसरे लोग मरते हैं। तुर्रा यह कि वह क़ानून और व्यवस्था की दुहाई देती है, लेकिन इस फ़िकरे की आड़ में गोलियाँ चलाना, मारना, क़ैद करना, ज़बानबन्द करना, वग़ैरा, हरेक ग़ैरक़ानूनी और बेक़ायदा कार्रवाई करती है। 'क़ानून और व्यवस्था' के नाम पर हमारे सैकड़ों भाइयों को खास अदालतों के सामने पेश करके मौत की सज़ा दे दी गई है। इसीके नाम पर ढाई साल पहले अप्रैल के महीने में एक दिन, पेशावर में मशीनगनों ने हमारे सैकड़ों बहादुर पठान देश-भाइयों को निहत्था होने पर भी भून डाला। और इसी 'क़ानून और व्यवस्था' की दुहाई देकर ब्रिटिश हवाई फ़ौज हमारे सरहदी गाँवों में और इराक़ में बम बरसाती है और स्त्रियों, पुरुषों और छोटे-छोटे बच्चों को अन्धाधुन्ध मार डालती है या ज़िन्दगी भर के लिए अपा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिज कर देती है। लोग कहीं हवाई-जहाज़ की मार से बच न जायँ, इसके लिए किसी शैतानी दिमाग़ ने 'देर से फटनेवाले बम' ईज़ाद किये हैं। जो गिरकर कोई नुक़सान नहीं पहुँचाते मालूम पड़ते और कुछ देर तक फटते नहीं हैं। गाँवों के स्त्री-पुरुष, यह सोचकर कि ख़तरा निकल गया, अपने घरों को वापस लौट आते हैं और थोड़ी ही देर बाद बम फट जाते हैं, जिससे आदमियों का और सम्पत्ति का नाश हो जाता है।

करोड़ों के सिर पर रोज़मर्रा की भुखमरी की जो दहशत सवार रहती है उसका भी खयाल करो। हम अपने चारों तरफ़ ग़रीबी देखने के आदी हो गये हैं। हम समझते हैं कि मज़दूर और किसान उजड्ड लोग हैं और वे तकलीफ़ ज्यादा महसूस नहीं करते। अपनी आत्माओं की फटकार को ठंडी करने के लिए यह दलील कितनी फ़िज़ूल है! मुझे बिहार में झरिया की एक कोयले की खान में जाने की बात याद है, और ज़मीन की सतह के बहुत नीचे, कोयले के लम्बे-लम्बे काले और अन्धेरे दालानों में स्त्रियों और पुरुषों को काम करते देखकर मुझे जो सदमा पहुँचा, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। लोग खानों में काम करनेवालों के लिए आठ घंटे के दिन की बातें करते हैं, लेकिन कुछ लोग इसका भी विरोध करते हैं और सोचते हैं कि उनसे और भी ज्यादा काम लिया जाना चाहिए। जब मैं इस बहस को सुनता हूँ या पढ़ता हूँ तो मुझे अपनी उन ज़मीं-दोज़ अन्धेरे तहखानों में जाने की बात याद आ जाती है, जहाँ आठ मिनिट भी मेरे लिए पहाड़ हो गये थे।

फ़्रान्स का 'आतंक' एक भयंकर चीज़ था। लेकिन फिर भी ग़रीबी और बेकारी के राजरोग के मुकाबले में वह मक्खी के डंक-जैसा था। समाजी क्रान्ति का ख़र्चा, चाहे वह क्रान्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, इन बुराइयों से कम होता है; और उस युद्ध के ख़र्चों से भी कम होता है, जो मौजूदा राजनीतिक और समाजी व्यवस्था में बार-बार हमारे सिर पर आता रहता है। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति का आतंक बहुत बड़ा इसलिए दिखलाई पड़ता है कि बहुत-से खिताबधारी और अमीर-वर्ग के लोग उसके शिकार हुए। हम लोग इन खास-रियायती वर्गों की इज्ज़त करने के इतने आदी हो गये हैं कि जब ये लोग मुसीबत में होते हैं तो हमारी सहानभूति उनकी तरफ़ हो जाती है। दूसरों की तरह ही इनके साथ भी सहानुभूति रखना अच्छा है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन लोगों की संख्या बिलकुल कम होती है। हम उनके भले की कामना कर सकते हैं। लेकिन जिनसे असली मतलब है, वे तो आम लोग होते हैं, और हम थोड़ों की खातिर बहुतों को क़ुर्बान नहीं कर सकते। रूसो लिखता है—"जनता ही वास्तव में मनुष्य जाति है। जो जनता नहीं है वह इतनी छोटी चीज़ है कि उसे गिनने की भी तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत नहीं।"

इस पत्र में मैं तुमको नेपोलियन के बारे में लिखना चाहता था। लेकिन मेरा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिमाग़ भटक गया और मेरी क़लम दूसरी तरफ़ दौड़ गई और नेपोलियन पर ग़ौर करना अभी बाक़ी है। उसे हमारे दूसरे पत्र का इन्तज़ार करना पड़ेगा।

: १०४ :

नेपोलियन

४ नवम्बर, १९३२

फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति में से नेपोलियन का उदय हुआ। जिस गणराज्यी फ़्रान्स ने यूरोप के बादशाहों को चुनौती दी थी और उनसे लोहा लिया था, उसने इस नन्हे से कोर्सिका-निवासी के आगे घुटने टेक दिये। फ़्रान्स में उस समय एक अजीब तरह की जंगली खूबसूरती थी। फ़्रान्सीसी कवि बार्बिये ने फ़्रान्स की तुलना एक जंगली जानवर—सिर उठाये हुए व चमकदार, खालवाली एक शानदार और मनमौजी घोड़ी से, की है, जो खूबसूरत बदज़ात, ज़ीन, जोत और लगाम से ज़बर्दस्त भड़कनेवाली, ज़मीन पर पाँव पटकनेवाली, और अपनी हिनहिनाहट से दुनिया को डरानेवाली थी। यह शानदार घोड़ी कोर्सिका के इस नौजवान को सवारी देने के लिए राज़ी हो गई और उसने इससे बड़े-बड़े अजीब करतब करवाये। लेकिन उसने इसे सधा भी लिया और इस जंगली, मनमौजी जानवर का सारा जंगलीपन और अल्हड़पन दूर कर दिया। और उसने इससे इतना फ़ायदा उठाया और इसे इतना थका दिया कि इसने उसे भी गिरा दिया और खुद भी गिर पड़ी।

तो नेपोलियन किस तरह का आदमी था? क्या वह संसार का कोई महान् पुरुष था या, जैसा कि कहा जाता है, 'तक़दीर-देवी का पुत्र' या ज़बर्दस्त वीर था, जिसने इन्सानियत को बहुत-से बन्धनों से छुटकारा दिलाने में मदद दी? या, जैसा कि एच० जी० वेल्स वग़ैरा कहते हैं, वह खाली एक हौसलेबाज़ था, जिसने यूरोप को और उसकी सभ्यता को बड़ा भारी नुक़सान पहुँचाया? शायद इन दोनों बातों में सचाई है; या दोनों में सचाई का कुछ अंश है। हम सबमें अच्छाई और बुराई, बड़प्पन और छुटपन की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसी ही एक मिलावट था, लेकिन इस मिलावट में ऐसे असाधारण गुण मिले हुए थे, जो हममें से बहुतों में न मिलेंगे। उसमें साहस था और आत्म-विश्वास था; कल्पना थी और अद्भुत क्रिया-शक्ति थी और बड़े ऊँचे हौसले थे। वह बहुत बड़ा सेनानायक था और पुराने ज़माने के सिकन्दर और चंगेज़ जैसे सेनानियों की टक्कर का युद्ध-कला का उस्ताद था। लेकिन वह कमीना था और स्वार्थी और घमण्डी भी था। उसकी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी उमंग किसी आदर्श के पीछे दौड़ना नहीं थी, बल्कि खुद अपने लिए सत्ता की तलाश थी। उसने एक बार कहा था: "मेरी रखैल! सत्ता मेरी रखैल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

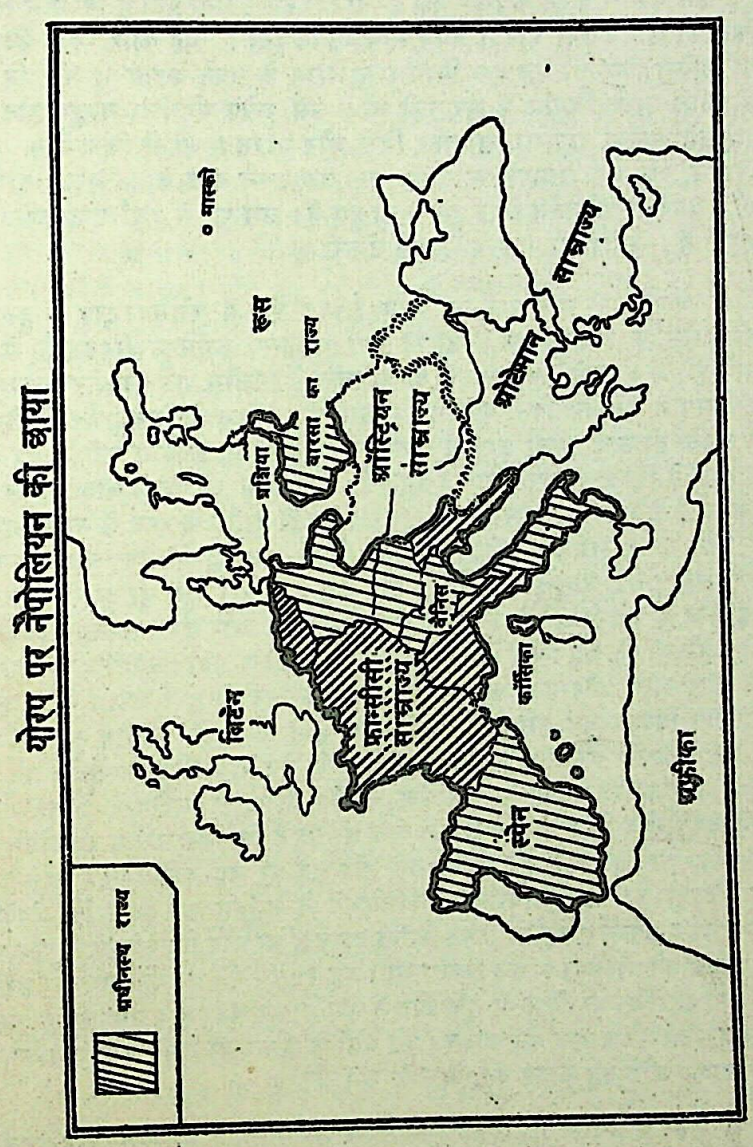

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है! इसे वश में करने के लिए मुझे इतनी दिक्क़त उठानी पड़ी है कि मैं न तो उसे किसीको छीनने दूंगा और न अपने साथ भोगने दूंगा!" वह क्रान्ति में से पैदा हुआ था लेकिन फिर भी वह एक विशाल साम्राज्य के सपने देखता था और सिकन्दर की जीतें उसके दिमाग़ में भर रही थीं। उसे यूरोप भी छोटा मालूम होता था। पूर्व उसे ललचा रहा था, खासकर मिस्र और भारत। अपनी ज़िन्दगी के शुरू के दौर में, जब वह सत्ताइस साल का था, तब उसने कहा था: "महान् साम्राज्य और ज़बर्दस्त परिवर्तन सिर्फ़ पूर्व में ही हुए हैं; उस पूर्व में जहाँ साठ करोड़ लोग बसते हैं। यूरोप तो एक छोटी-सी टेकरी है!"

नेपोलियन बोनापार्त का जन्म १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में हुआ था जो फ़्रान्स के मातहत था। उसकी रगों में फ़्रान्स, कोर्सिका और इटली के खून मिले हुए थे। उसने फ़्रान्स के एक फ़ौजी स्कूल में तालीम पाई थी और राज्यक्रान्ति के समय में वह जैकोबिनी क्लब का सदस्य था। लेकिन शायद वह जैकोबिनी लोगों में अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नहीं कि वह उनके आदर्शों में विश्वास करता था। १७९३ ई० में तूलों में उसे पहली जीत हासिल हुई। इस जगह के मालदार लोगों ने इस डर से कि कहीं क्रान्ति के राज में उनकी सम्पत्ति न छिन जाय, सचमुच अंग्रेज़ों को बुला लिया और बाक़ी बचा हुआ फ़्रान्सीसी जंगी-बेड़ा उनके हवाले कर दिया। इस आफ़त ने और ऐसी ही दूसरी आफ़तों ने नई-उम्र के गणराज्य को ज़बर्दस्त धक्का पहुँचाया और हरेक फ़ालतू आदमी को, और औरतों को भी, फ़ौज में भर्ती होने का हुक्म दिया गया। नेपोलियन ने वाशियों को पीस डाला और तूलों की लड़ाई में बड़ी उस्तादी के साथ हमला करके अंग्रेज़ों को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस साल की उम्र में वह सेनापति बन गया। कुछ ही महीनों में जब रोबेसपीर गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया तो यह आफ़त में फंस गया, क्योंकि इस पर रोबेसपीर के दल का आदमी होने का सन्देह किया गया। लेकिन सच तो यह है कि जिस दल में वह शामिल था उस दल का सिर्फ़ एक ही सदस्य था, और वह था खुद नेपोलियन! इसके बाद डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिनी होना तो दरकिनार वह तो उलट-क्रान्ति का नेता था और बिना किसी हिचकिचाहट के जनता को गोलियों से भून सकता था। यह १७९५ ई० का वही मशहूर 'छर्रों का झोंका' था, जिसका ज़िक्र मैं एक पिछले पत्र में कर चुका हूँ। उस दिन नेपोलियन ने गणराज्य को घायल कर डाला। दस वर्षों के भीतर ही उसने गणराज्य का अन्त कर डाला और वह फ़्रान्स का सम्राट् बन बैठा।

१७९६ ई० में वह इटली की फ़ौज का सेनापति हो गया और इटली के उत्तरी हिस्से पर बड़ी चतुराई से धावा करके उसने सारे यूरोप को चकित कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। फ़ान्स की फ़ौजों में क्रान्ति का जोश अभी कुछ बाक़ी था। लेकिन वे फटेहाल थीं, और उनके पास न ठीक कपड़े थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटेहाल और पाँवों में छाले पड़े हुए जत्थे को आल्प्स के पहाड़ों के ऊपर होकर ले गया और उनको आशा दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानों में पहुँचकर उनको खाना और आराम की चीज़ें सब मिलेंगी। दूसरी तरफ़ इटली के निवासियों को उसने आज़ादी का वचन दिया; वह उनको ज़ालिमों से छुड़ाने आ रहा था। लूट-खसोट के नज़ारे के साथ क्रान्तिवादी गपड़-सपड़ की यह कैसी विचित्र मिलावट थी! इस तरह उसने फ़ान्स और इटली दोनों के निवासियों की भावनाओं से बड़ी चालाकी के साथ फ़ायदा उठाया। चूँकि वह ख़ुद भी आधा इटालवी था, इसलिए उसका ख़ूब सिक्का जम गया। जैसे-जैसे उसे विजय मिलती गई, उसका रौब बढ़ने लगा और उसकी कीर्ति फैलने लगी। अपनी फ़ौज में भी वह बहुत-सी बातों में साधारण सिपाहियों के साथ तकलीफ़ें उठाता था और ख़तरे में उनके साथ रहता था; क्योंकि धावे में जहाँ कहीं सबसे ज़्यादा ख़तरा होता वहीं वह पहुँच जाता था। वह हमेशा सच्ची लियाक़त की तलाश में रहता था और इसके लिए वह तुरन्त लड़ाई के मैदान ही में इनाम दे देता था; अपने सिपाहियों के लिए वह पिता—एक बहुत नौजवान पिता!—के समान था, जिसे वे प्यार से 'छोटा-सा कार्पोरल' कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात, जो बीस-पच्चीस साल का यह नवयुवक सेनापति फ़ान्सीसी सिपाहियों का प्राणप्यारा बन गया हो?

तमाम उत्तरी इटली को विजय करके, आस्ट्रिया को हराकर, और वेनिस के पुराने गणराज्य का अन्त करके और वहाँ बड़ी भद्दी साम्राज्यशाही सुलह करके वह एक महान् विजयी और वीर बनकर पैरिस लौटा। फ़ान्स में उसका दबदबा क़ायम होना शुरू हो ही गया था। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सत्ता हथियाने का ठीक वक़्त नहीं आया है, इसलिए उसने एक फ़ौज लेकर मिस्र जाने का ढँग रचा। जवानी से ही पूर्व की यह पुकार उसके दिल में उठ रही थी और अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक लम्बे-चौड़े साम्राज्य के सपने उसके दिमाग़ में चक्कर लगाने लगे होंगे। भूमध्यसागर में अंग्रेज़ी जंगी-बेड़े से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुँचा।

मिस्र उन दिनों तुर्कों के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और मिस्र में असली राज मम्लूकों[1] का था, जो सिर्फ़ नाम

[1] मम्लूक—तुर्की के सुलतान अयूब के शरीर-रक्षक ग़ुलाम, जो उसकी मृत्यु (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र में राज करते रहे। सुलतान सलीम प्रथम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था, लेकिन अठारहवीं सदी में इन्होंने फिर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए तुर्की के सुलतान के मातहत थे। क्रान्तियों और आविष्कारों ने यूरोप को भले ही हिला डाला हो, लेकिन ये ममलूक अभी तक मध्य-युगों का ही ढँग अपनाये हुए थे। कहते हैं कि जब नेपोलियन क़ाहिरा पहुँचा तो एक ममलूक सूरमा रेशम के भड़कीले कपड़े और दमिश्क का ज़िरह-बख्तर (कवच) पहने घोड़े पर सवार होकर फ़्रान्स की फ़ौज के सामने आया और उसके नेता को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा! उस बेचारे पर गोलियों की बौछार की गई। इसके बाद जल्द ही नेपोलियन ने 'पिरैमिड्स की लड़ाई' जीती। वह नाटक-जैसे हाव-भाव बहुत पसन्द करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फ़ौज के सामने घोड़े पर खड़े होकर उसने कहा—"सिपाहियो! देखो, चालीस सदियाँ तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही हैं!"

नेपोलियन थल-युद्ध का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह जल-युद्ध लड़ना नहीं जानता था और शायद उसके पास योग्य समुद्री-सेनानायक भी नहीं थे। ठीक उन्हीं दिनों भूमध्यसागर में इंग्लैण्ड के जंगी-बेड़े की कमान एक ग़ैर-मामूली प्रतिभावाले आदमी के हाथों में थी। वह होरेशियो नेल्सन[1] था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह में घुस आया और नील नदी की लड़ाई में उसने फ़्रान्स के जंगी बेड़े को तबाह कर दिया। इस तरह परदेश में नेपोलियन फ़्रान्स से बिछुड़ गया। वह तो किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ़्रान्स पहुँच गया, लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फ़ौज' को क़ुर्बान कर दिया।

इन जीतों में और कुछ फ़ौजी नामवरी के बावजूद पूर्वी देशों का यह ज़बर्दस्त धावा असफल रहा। लेकिन दिलचस्पी की यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि नेपोलियन अपने साथ विशेषज्ञों, विद्वानों और प्रोफ़ेसरों की भीड़-की-भीड़, बहुत-सी किताबों और तरह-तरह के औज़ारों के साथ, मिस्र देश को ले गया था। इस 'इन्स्टीट्यूट' मण्डली में रोज़ चर्चाएँ होती थीं, जिनमें नेपोलियन भी बराबरी की हैसियत से भाग लेता था। इन विशेषज्ञों ने विज्ञान की खोजों का बहुत-सा अच्छा काम किया। यूनानी लिपि और मिस्र की चित्र-लिपि के दो भेद—इन तीन लिपियों में खुदा हुआ एक शिलालेख मिलने से तसवीरी लिखावट की पुरानी पहेली हल हो गई। यूनानी लिपि की सहायता से दूसरी दोनों लिपियों को पढ़ लिया गया। यह भी

अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नेपोलियन ने इन्हें हराया और १८११ ई० में सुलतान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।

[1] नेल्सन (१७५८–१८०५)—इंग्लैण्ड का बड़ा प्रसिद्ध और योग्य नौ-सेनापति। इसने कई समुद्री लड़ाइयाँ जीती थीं और इंग्लैण्ड का समुद्री गौरव बढ़ाया। यह ट्राफलगार के युद्ध में मारा गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिलचस्प बात है कि स्वेज़ पर नहर काटने की एक तज़वीज़ में नेपोलियन ने भी बहुत दिलचस्पी दिखलाई थी।

जब नेपोलियन मिस्र में था तो उसने ईरान के शाह और दक्षिण भारत के टीपू सुलतान के साथ कुछ बातचीत चलाई थी। लेकिन इनका फल कुछ न निकला क्योंकि उसके पास समुद्री ताक़त बिलकुल न थी। अन्त में समुद्री ताक़त ने ही नेपोलियन को पछाड़ दिया और उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड को ज़बर्दस्त बनानेवाली भी समुद्री ताक़त ही थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ़ान्स की हालत बहुत खराब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और लोगों को नापसन्द हो चुकी थी, इसलिए हरेक की आँखें नेपोलियन की तरफ़ लगी हुई थीं। वह तो सत्ता हथियाने को तैयार ही बैठा था। नवम्बर, १७९९ ई० में, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नेपोलियन ने अपने भाई ल्यूशन की सहायता से असेम्बली को ज़बर्दस्ती भंग कर दिया, और उस समय के जिस संविधान के मातहत डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी, उसका अन्त कर दिया। इस ज़बर्दस्ती के राजनीतिक धड़ाके[1] से, नेपोलियन ने हालत को क़ाबू में कर लिया। वह ऐसा इसलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमें भरोसा रखते थे। क्रान्ति का तो बहुत दिन पहले ही दिवाला निकल चुका था; लोकतन्त्र का भी अब लोप हो रहा था और एक लोकप्रिय सेनापति का डंका बज रहा था। एक नये संविधान का मसविदा बनाया गया, जिसमें तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से लिया गया था) रक्खे गये, लेकिन इन तीनों में प्रधान नेपोलियन था, जिसे पूरे अधिकार थे। वह प्रथम 'कौंसल' कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। संविधान पर चर्चा के दौरान में किसीने यह सुझाव दिया कि एक ऐसा राष्ट्रपति होना चाहिए, जिसके हाथ में कोई असली सत्ता न हो और जिसका मुख्य काम कागज़-पत्रों पर हस्ताक्षर करना हो और जो रस्मी तौर पर गणराज्य का प्रतिनिधि माना जाय, जैसे आजकल संवैधानिक बादशाह होते हैं या फ़ान्स का राष्ट्रपति है। मगर नेपोलियन तो सत्ता चाहता था, सिर्फ़ शाही पोशाक नहीं। उसे ऐसे शाही लेकिन बिना सत्तावाले राष्ट्रपति की कोई दरकार नहीं थी। उसने कहा—"इस मोटे सूअर को दूर करो!"

यह संविधान, जिसमें नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था, जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज़्यादा वोटरों ने उसे लगभग एक राय से मान लिया। इस तरह फ़ान्स की जनता ने इस झूठी आशा

[1] इसे फ़ान्सीसी भाषा में 'कू देता' (Coup d'etat) कहते हैं, और यह पद अंग्रेज़ी भाषा में भी प्रयोग किया जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कि वह उन्हें स्वतन्त्रता और सुख दिलायेगा, खुद ही सारी सत्ता नेपोलियन को भेंट कर दी।

लेकिन हम नेपोलियन के जीवन-इतिहास की सारी बातें नहीं लिख सकते। वह तो और सत्ता की दिन-पर-दिन बढ़ती हुई भूख से भरा पड़ा है। 'राजनीतिक धड़ाके' के बाद पहली ही रात को, जबकि नया संविधान बनने और मंज़ूर होने भी न पाया था, उसने क़ानूनी ज़ाब्ते का मसबिदा बनाने के लिए दो कमेटियाँ मुक़र्रर कर दीं। उसकी तानाशाही का यह पहला काम था। लम्बे वादविवाद के बाद, जिसमें नेपोलियन भी शामिल होता था, यह ज़ाब्ता १८०४ ई० में आख़िरी तौर पर मंज़ूर कर लिया गया। यह 'नेपोलियन कोड' नेपोलियन का क़ानूनी ज़ाब्ता कहलाया। क्रान्ति के विचारों या आज के पैमाने के लिहाज़ से यह क़ानून कुछ आगे बढ़ा हुआ नहीं था। लेकिन वह उस समय की हालतों से ज़रूर आगे बढ़ा हुआ था और सौ साल तक कई बातों में यह सारे यूरोप के लिए क़रीब-क़रीब नमूना बना रहा। नेपोलियन ने और भी कई तरह से प्रशासन में सादगी और मुस्तैदी पैदा की। वह हरेक काम में दख़ल देता था और छोटी-छोटी बातों को याद रखने की उसमें अजीब शक्ति थी। अपनी अद्भुत कार्यशक्ति और जीवट से वह साथियों और मन्त्रियों को थका डालता था। उस समय का उसका एक सहयोगी उसके बारे में लिखता है: "अपनी ढँग से चलनेवाली समझ-बूझ के साथ राज करता हुआ, प्रशासन करता हुआ और मोल-तोल करता हुआ, वह दिन में अठारह घंटे काम करता है। जितना शासन दूसरे बादशाहों ने सौ वर्षों में किया होगा उससे ज़्यादा इसने तीन वर्षों में कर लिया है।" यह बात ज़रूर बढ़ाकर कही गई है, लेकिन यह सही है कि अकबर की तरह नेपोलियन की भी याददाश्त असाधारण थी और उसका दिमाग़ पूरी तरह ढँग से चलनेवाला था। वह अपने बारे में कहता था: "जब मैं किसी बात को दिमाग़ से हटाना चाहता हूँ तो उसकी दराज़ बन्द कर देता हूँ और दूसरी दराज़ खोल देता हूँ। इन दराज़ों में रखी हुई चीज़ें कभी गड़बड़ नहीं होने पातीं और न वे मुझे परेशान करती हैं। मैं जब सोना चाहता हूँ सब दराज़ें बन्द कर देता हूँ और सो जाता हूँ।" वास्तव में यह देखा गया था कि लड़ाई होती रहती थी और वह ज़मीन पर लेट जाता था और आधा घंटे के क़रीब सो लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे समय के लिए लगन के साथ काम में जुट जाता था।

वह दस वर्ष के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था। सत्ता के ज़ीने की दूसरी सीढ़ी तीन साल बाद, १८०२ ई० में आई, जब उसने अपने-आपको उम्र भर के लिए कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार बढ़ा दिये गए। गणराज्य का अन्त हो चुका था, और वह सब तरह से राजा बन गया था, हालाँकि नाम के लिए राजा नहीं कहलाता था। और फिर जैसा कि होना ही था, उसने १८०४ ई० में जनता की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राय लेकर अपने-आपको सम्राट् ऐलान कर दिया। फ़्रान्स में वह ही सर्वेसर्वा था, लेकिन फिर भी इसमें और पुराने ज़माने के निरंकुश राजाओं में बहुत फ़र्क़ था। वह परम्परा और दैवी अधिकार को अपनी सत्ता का आधार नहीं बना सकता था। उसे तो अपनी सत्ता अपनी मुस्तैदी और जनता में अपनी लोकप्रियता के आधार पर रखनी थी। और वह भी खासकर किसानों में लोकप्रियता के आधार पर, जो हमेशा से उसके सबसे ज़्यादा हिमायती रहे थे; क्योंकि वे जानते थे कि इसी ने उनकी ज़मीनों को छिनने नहीं दिया था। नेपोलियन ने एक बार कहा था: "मैं गोल कमरों में बैठनेवालों और बकवास करनेवालों की राय की क्या परवाह करता हूँ। मैं तो सिर्फ़ एक ही राय को मानता हूँ, जो किसानों की राय है।" लेकिन लगभग लगातार चलनेवाले युद्धों के लिए अपने बेटों को भेंट देते-देते अन्त में किसान लोग भी तंग आ गये। जब यह सहारा छिन गया तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खड़ा किया था, वह लड़खड़ाने लगा।

दस वर्ष तक वह सम्राट् रहा और इन वर्षों में वह मार्के की चढ़ाइयाँ करता हुआ, और याद रखने लायक़ लड़ाइयाँ जीतता हुआ यूरोप के सारे महाद्वीप में दौड़ता फिरा। सारा यूरोप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था जैसा उसके पहले और बाद में आजतक किसी का न हुआ। मारेंगो (यह लड़ाई १८०० ई० में हुई, जब उसने अपनी फ़ौज के साथ स्वीज़रलैण्ड की बरफ़ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्तरलित्स, यैना, ईलू, फ़ीदलैंद, वाग्रम, वग़ैरा, उसकी ज़मीन पर जीती हुई मशहूर लड़ाइयों के नाम हैं। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस वग़ैरा, सब उसके सामने भरभराकर गिर पड़े। स्पेन, इटली, नीदरलैण्ड, राइन का कान्फ़ेडरेशन कहलानेवाला जर्मनी का बड़ा हिस्सा, पोलैण्ड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत हो गये। पुराना पवित्र रोमन साम्राज्य, जो बहुत दिनों से नाम के लिए रह गया था, अब बिलकुल ख़त्म हो गया।

यूरोप की बड़ी शक्तियों में से सिर्फ़ इंग्लैण्ड ही आफ़त से बच गया। इंग्लैण्ड को उसी समुद्र ने बचाया, जो नेपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। और समुद्र की दी हुई हिफ़ाज़त के सबब से इंग्लैण्ड उसका सबसे ज़बर्दस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मैं बतला चुका हूँ कि किस तरह नेपोलियन की ज़िन्दगी के शुरू में ही नेल्सन ने नील नदी की लड़ाई में उसके जंगी बेड़े को तबाह कर दिया था। २१ अक्तूबर, १८०५ ई० को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रेफ़ल्गर अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ़्रान्स और स्पेन के शामिल जंगी बेड़े पर और भी ज़बर्दस्त विजय हासिल की। इसी समुद्री लड़ाई के शुरू होने के पहले नेल्सन ने अपने बेड़े को यह मशहूर सन्देश दिया था: "इंग्लैण्ड को आशा है कि हरेक आदमी अपना फ़र्ज़ अदा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेगा।" नेल्सन तो विजय की घड़ी में मारा गया। लेकिन इस विजय ने, जिसे अंग्रेज़ लोग बड़े अभिमान से याद करते हैं और जिसकी यादगार लंदन के ट्रेफ़ल्गर स्क्वायर में नेल्सन-मीनार के रूप में बनी हुई है, नेपोलियन के इंग्लैण्ड पर धावा बोलने के सपने को नष्ट कर दिया।

नेपोलियन ने यूरोप के महाद्वीप के सारे बन्दरगाहों को इंग्लैण्ड के लिए रोक देने का हुक्म निकालकर इसका बदला लिया। इंग्लैण्ड की किसी तरह की भी आवा-जाही की मनाही कर दी गई और 'बनियों के राष्ट्र' इंग्लैण्ड को इस तरह क़ाबू में लाने का इरादा किया गया। उधर इंग्लैण्ड ने इन बन्दरगाहों की नाकाबन्दी कर दी और नेपोलियन के साम्राज्य व अमेरिका वग़ैरा दूसरे देशों के बीच होने-वाले व्यापार को रोक दिया। यूरोप में लगातार साज़िशें करके और नेपोलियन के दुश्मनों को तटस्थ (ग़ैर-तरफ़दार) राज्यों को दिल खोलकर सोना बाँट कर इंग्लैण्ड ने नेपोलियन से लड़ाई लड़ी। इस काम में उसे यूरोप के कई बड़े-बड़े मालदार घरानों से, खासकर रॉथ्सचाइल्ड घराने से, बड़ी मदद मिली।

इंग्लैण्ड ने नेपोलियन के ख़िलाफ़ एक और भी तरीक़ा काम में लिया, जो प्रचार का था। हमला करने का यह नया ही ढंग था, लेकिन तबसे यह बहुत आम हो गया है। फ़्रान्स के, और खासकर नेपोलियन के ख़िलाफ़ अख़बारों में आन्दोलन शुरू किया गया। तरह-तरह के लेख, पुस्तिकाएँ, समाचार-पत्रिकाएँ, नये सम्राट् का मखौल उड़ानेवाले कार्टून, और झूठी बातों से भरे हुए बनावटी संस्मरण लंदन से जारी होते थे और चोरी-छिपे फ़्रान्स में दाखिल कर दिये जाते थे। अख़बारों के ज़रिये झूठी बातों का प्रचार आजकल के युद्धों का वाक़ायदा अंग बन गया है। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के दौरान, युद्ध में भाग लेनेवाले सब देशों की सरकारों ने बड़ी बेहयाई के साथ अजीब-से-अजीब झूठी बातें फैलाईं और मालूम होता है इनको गढ़ने और प्रचार करने की कला में इंग्लैण्ड आसानी से सबसे आगे रहा। उसे तो नेपोलियन के समय से अबतक एक सदी की लम्बी तालीम भी मिल चुकी थी। हम भारत के लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह हमारे देश के बारे में सच्ची बातें दबा दी जाती हैं और यहाँ इंग्लैण्ड में ऐसी झूठी बातों का प्रचार किया जाता है कि देखकर हैरत होती है!

: १०५ :

नेपोलियन का कुछ और हाल

६ नवम्बर, १९३२

पिछले पत्र में हमने नेपोलियन की कहानी जहाँ छोड़ी है, वहीं से सिलसिला जारी रखना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेपोलियन जहाँ कहीं गया वहीं वह अपने साथ फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति की कुछ बातें लेता गया और जिन देशों को उसने जीता वहाँ लोग उसके आने से नाख़ुश नहीं हुए। वे लोग अपने बोदे और आधे सामन्ती शासकों से तंग आ गये थे, जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत मदद मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामन्तशाही उसके सामने टूटकर गिरने लगी। जर्मनी में तो ख़ासतौर पर सामन्तशाही का सफ़ाया हो गया। स्पेन में उसने इनक्विज़िशन का अन्त कर दिया। लेकिन राष्ट्रीयता की जिस भावना को उसने अनजान में पैदा किया था, वही उलटकर उसके पीछे पड़ गई और अन्त में इसी ने उसे परास्त कर दिया। वह पुराने बादशाहों और सम्राटों को नीचा दिखा सकता था, लेकिन अपने ख़िलाफ़ भड़के हुए सारे राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए और वर्षों तक उसकी शक्ति और उसके साधनों को निचोड़ते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वॉन स्तीअन नामक एक बड़े देशभक्त के झण्डे के नीचे संगठित हो गये। यह नेपोलियन का कट्टर दुश्मन बन गया। जर्मनी में मुक्ति का संग्राम हुआ। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसे ख़ुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री-शक्ति से मेल करके उसके पतन का सबब बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में यह मुश्किल था कि सारा यूरोप तानाशाह को बर्दाश्त कर लेता, या शायद ख़ुद नेपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद में कही थी: "मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसी पर नहीं है। मैं ख़ुद ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन रहा हूँ, और जो गाज मुझपर गिरी उसका कारण भी मैं ख़ुद ही हूँ।"

इस अद्भुत प्रतिभावाले व्यक्ति में कमज़ोरियाँ भी बहुत ही अनोखी थीं। उसमें हमेशा कुछ नई नवाबी का ठाठ रहा और उसके दिल में यह अजीब लालसा रही कि पुराने और बोदे बादशाह और सम्राट् उससे बराबरी का बर्ताव करें। उसने अपने भाई-बहनों को बड़े भद्दे तरीक़े से बढ़ाया, हालाँकि वे बिलकुल नालायक़ थे। ल्यूशन ही एक लायक भाई था, जिसने १७९९ ई० के राजनीतिक घड़ाके के दौरान एक संकट की घड़ी में नेपोलियन की सहायता की थी, लेकिन बाद में वह खटपट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयों को, जो घमण्डी और बेवक़ूफ़ थे, नेपोलियन ने कहीं का राजा और कहीं का शासक बना दिया। अपने कुटुम्ब को आगे बढ़ाने की उसमें एक अजीब और बेहूदा धुन थी। जब उस पर मुसीबत पड़ी तो इनमें से क़रीब-क़रीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजवंश क़ायम करने की भी बड़ी चाह थी। अपने जीवन के शुरू में, इटली पर चढ़ाई करने और नामी होने से पहले ही उसने जोज़ेफ़ीन दे बोहार्नाई नामक एक सुन्दर लेकिन चंचल औरत से विवाह कर लिया था। जब उससे कोई सन्तान न हुई तो नेपोलियन को बड़ी निराशा हुई, क्योंकि उसके दिल में तो राजवंश चलाने की लालसा थी। बस उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोज़ेफीन को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से विवाह करने का इरादा कर लिया, हालाँकि जोज़ेफ़ीन से वह प्रेम करता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्रांड-डचैस से विवाह करने की थी, लेकिन ज़ार ने इसकी इजाज़त नहीं दी। नेपोलियन भले ही लगभग सारे यूरोप का स्वामी हो, लेकिन रूस के शाही ख़ानदान में विवाह का ऊँचा हौसला करना ज़ार की राय में कुछ गुस्ताख़ी की बात थी! तब नेपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट् को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी का विवाह उसके साथ कर दे। उसकी कोख से एक लड़का पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ़ और मूर्ख थी और उसे बिलकुल नहीं चाहती थी और नेपोलियन के लिए वह बहुत बुरी पत्नी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफ़त आई तो वह उसे छोड़कर भाग गई और उसे बिलकुल ही भूल गई।

बड़े अचम्भे की बात है कि यह व्यक्ति जो कई बातों में अपनी पीढ़ी के लोगों से बहुत ऊँचा था, बादशाहत के पुराने विचारों से पैदा होनेवाली थोथी तड़क-भड़क का शिकार हो गया। और फिर भी बहुत बार, वह क्रान्ति की-सी बातें करता था और इन बोदे बादशाहों का मखौल उड़ाया करता था। उसने क्रान्ति और नई व्यवस्था से जान-बूझकर पीठ मोड़ ली थी; पुरानी व्यवस्था न तो उसके अनुकूल थी और न उसे अपनाने के लिए तैयार थी। इसलिए इन दोनों के बीच उसका पतन हो गया।

धीरे-धीरे फ़ौजी नामवरी की इस ज़िन्दगी का दुःखभरा अन्त होता है, जो होना ही था। ख़ुद उसके ही कुछ मन्त्री दग़ाबाज़ हो जाते हैं और उसके ख़िलाफ़ साज़िशें करते हैं; तैलीरैंद रूस के ज़ार से मिलकर साज़िश करता है और फ़्यूशे इंग्लैण्ड से मिलकर। नेपोलियन उनकी दग़ाबाज़ी पकड़ लेता है, लेकिन फिर भी ताज्जुब है कि उनकी सिर्फ़ लानत-मलामत करके उन्हें मन्त्रियों के पद पर रहने देता है! बर्नादोत नामक एक सेनापति उसके ख़िलाफ़ हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और ल्यूशन के सिवा उसके कुटुम्ब के सारे लोग बदमाशियाँ करते चले जाते हैं और उसकी जड़ भी काटते रहते हैं। फ़्रान्स में भी बेचैनी बढ़ती चली जाती है और उसकी तानाशाही बड़ी कठोर और बेदर्द हो जाती है और कितने ही लोग बिना मुक़दमे के जेलों में डाल दिये जाते हैं। उसका सितारा साफ़तौर पर नीचे गिरता हुआ मालूम होता है और तालाब को सूखता देख कर बहुत-सी मछलियाँ उसे छोड़ जाती हैं। उम्र ज़्यादा न होने पर भी वह शरीर से और दिमाग़ से कमज़ोर होता जाता है। ठेठ लड़ाई के बीच में कभी-कभी उसके पेट में वायु गोले का दर्द उठ खड़ा होता है। सत्ता भी उसे भ्रष्ट कर देती है। पुरानी चतुराई तो उसमें मौजूद है, लेकिन अब उसकी चाल भारी पड़ जाती है। वह अक़्सर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगा-पीछा सोचने में रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फ़ौजें भी पहले से ज्यादा मारी-मरकम हो गई हैं।

१८१२ ई० में ज़बर्दस्त फ़ौज के साथ वह रूस पर चढ़ाई करने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालों को हरा देता है और बिना ज्यादा लड़ाई के आगे बढ़ता चला जाता है। रूस की फ़ौजें लगातार पीछे हटती जाती हैं और लड़ने के लिए सामने नहीं आतीं। नेपोलियन की 'ग्रान्ड आर्मी' उनकी बेकार तलाश करती-करती अन्त में मास्को पहुँच जाती है। ज़ार तो घुटने टेकने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन दो व्यक्ति, एक तो फ़्रान्सीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना सहयोगी और सेनापति, और दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियों का नेता वैरन वान स्तीअन, जिसे नेपोलियन ने बाग़ी ऐलान कर दिया था, ज़ार को ऐसा करने से रोक देते हैं। रूसी लोग दुश्मन को घुएँ से भगा देने के लिए अपने प्यारे मास्को शहर में ही आग लगा देते हैं। जब मास्को के जलने की खबर सेंट पीटर्सबर्ग पहुँचती है तो स्तीअन, जो उस वक़्त खाना खा रहा था, अपना शराब का प्याला उठाकर कहता है: "इससे तीन-चार बार पहले भी मैं अपना सामान गँवा चुका हूँ। हमें तो ऐसी चीज़ों को फेंक देने का अभ्यासी बन जाना चाहिए। चूँकि हमें मरना तो है ही, इसलिए हमको बहादुरी दिखानी चाहिए!"

सर्दी का मौसम शुरू हो रहा था। नेपोलियन जलते हुए मास्को को छोड़कर फ़्रान्स लौटने का फैसला करता है। 'ग्रान्डआर्मी' बर्फ़ में होकर थकी-मान्दी धीरे-धीरे वापस घिसटती है। उधर रूस के क़ज़्ज़ाक, जो बराबर उसके दोनों ओर व पीछे-पीछे लगे हुए हैं, उसपर हमला करते हैं और छापे मारते हैं और पिछड़ जाने-वालों को मौत के घाट उतार देते हैं। कड़ी सर्दी और क़ज़्ज़ाक, दोनों मिलकर हज़ारों जानें ले लेते हैं और 'ग्रान्ड आर्मी' भूतों का-सा जुलूस बन जाती है, जिसमें सब लोग पैदल, फटेहाल, पाँवों में छाले पड़े हुए और ठंड से गले हुए, थकावट से लड़खड़ाते हुए चलते हैं। अपने गोलन्दाज़ों के साथ नेपोलियन को भी पैदल चलना पड़ता है। यह यात्रा बड़ी भयंकर और दिल तोड़नेवाली साबित होती है और वह ज़बर्दस्त फ़ौज कम होती-होती अन्त में क़रीब-क़रीब ग़ायब हो जाती है। सिर्फ़ मुट्ठी-भर लोग वापस लौट पाते हैं।

रूस की यह चढ़ाई ज़बर्दस्त चोट साबित हुई। इसने फ़्रान्स की जन-शक्ति को खत्म कर दिया और उससे भी ज्यादा यह हुआ कि इससे नेपोलियन पर बुढ़ापा छा गया; चिन्ताओं ने उसे पस्त कर दिया और वह लड़ाई-झगड़ों से ऊब गया। लेकिन फिर भी उसे चैन से नहीं बैठने दिया गया। दुश्मनों ने उसे घेर लिया और हालाँकि अभी तक वह फ़तह हासिल करनेवाला चतुर सेनापति था, लेकिन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फन्दा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तैलीरैंदे की साज़िशें बढ़ने लगीं और नेपोलियन के कुछ भरोसेदार मार्शल तक भी उसके ख़िलाफ़ हो गये। अन्त में उकताकर और तंग आकर नेपोलियन ने अप्रैल, १८१४ ई० में गद्दी छोड़ दी।

नेपोलियन के रास्ते से हटते ही यूरोपीय शक्तियों की एक बड़ी कांग्रेस यूरोप का नया नक़्शा तय करने के लिए वियेना में की गई। नेपोलियन को भूमध्य सागर से एक छोटे-से टापू एल्बा में भेज दिया गया। बोर्बन राजवंश का एक और लुई, जो गिलोतीन पर मारे गए लुई का भाई था, जहाँ कहीं छिपा पड़ा था, वहीं से निकालकर लाया गया और अठारहवें लुई के नाम से फ़ान्स की राजगद्दी पर बिठाया गया। इस तरह बोर्बन फिर वापस आ गये और उनके साथ बहुत-सी पुरानी ज़ालिमशाही भी वापस आ गई। बास्तील के पतन से लगातार अबतक पच्चीस वर्ष के सारे दिलेर कारनामों का बस यह अन्त हुआ! वियेना में बादशाह लोग और उनके मन्त्री लोग आपस में बहसें करते और लड़ते-झगड़ते थे, और जब इन बातों से फ़ुरसत पाते तो मौज उड़ाते थे। उन्होंने अब आराम की साँस ली। एक बड़ी भारी दहशत दूर हो गई थी और वे लोग खुलकर साँस ले सकते थे। नेपोलियन के साथ गद्दारी करनेवाला देश-द्रोही तैलीरैंदे बादशाहों और मन्त्रियों की इस भीड़ में बड़ा लोकप्रिय था और कांग्रेस में उसने बड़ा भारी भाग लिया। कांग्रेस में एक दूसरा मशहूर कूटनीतिज्ञ मैतरनिख था, जो आस्ट्रिया का पर-राष्ट्र-मन्त्री था।

एक वर्ष से कम समय में ही नेपोलियन तो एल्बा से तंग आगया और फ़ान्स बोर्बनों से। वह किसी तरह एक छोटी-सी नाव में वहाँ से भाग निकला और २६ फ़रवरी, १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर कॅन्स नामक जगह में किनारे पर आ गया। किसानों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। उसके ख़िलाफ़ भेजी गई फ़ौजों ने जब अपने पुराने सेनापति 'पेतित कार्पोरल' को देखा तो उन्होंने 'सम्राट् ज़िन्दाबाद' का नारा लगाया और उससे मिल गईं। बस, वह पैरिस पहुँचा और बोर्बन बादशाह जान बचाकर भाग गया। लेकिन यूरोप की बाक़ी सब राजधानियों में दहशत और घबड़ाहट फैल गई। वियेना में, जहाँ कांग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच-गान और दावतें एकदम बन्द हो गये। सबके ऊपर आनेवाले इस ख़तरे से बादशाह और मन्त्री अपने आपसी झगड़ों-टंटों को भूल गये और उनका सारा ध्यान नेपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के एक ही काम की तरफ़ लग गया। बस सारे यूरोप ने उसके ऊपर धावा बोल दिया। लेकिन फ़ान्स तो लड़ाइयों से उकता गया था। और नेपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष का ही था, और जिसे उसकी स्त्री मेरी लुई तक छोड़ भागी थी, अब एक थका हुआ बूढ़ा था। कुछ लड़ाइयों में उसकी जीत हुई, लेकिन अन्त में फ़ान्स में उतरने के ठीक सौ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिन बाद, वेलिंगटन[1] और ब्लूख़ार[2] के मातहत अंग्रेज़ी और प्रशियाई फ़ौजों ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू में उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लड़ाई में दोनों तरफ़ करारा मुक़ाबला था और यह बतलाना कठिन था कि जीत किसकी होगी। नेपोलियन की क़िस्मत बुरी निकली। उसके लिए इस लड़ाई में विजय हासिल करना बहुत सम्भव था, लेकिन अगर वह जीत भी जाता तो कुछ दिन बाद उसे सारे संगठित यूरोप के आगे घुटने टेकने पड़ते। अब चूंकि वह हार चुका था, इसलिए उसके बहुत-से मददगारों ने उसके ख़िलाफ़ होकर अपनी जानें बचानी चाहीं। अब लड़ना बेकार था, इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड़ दी और फ़्रान्स के एक बन्दरगाह में पड़े हुए एक अंग्रेज़ी जहाज़ पर जाकर अपने-आपको यह कहकर उसके कप्तान के हवाले कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैण्ड में रहना चाहता है।

लेकिन अगर वह इंग्लैण्ड या यूरोप से उदार और भद्र बर्ताव की उम्मीद रखता था, तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत ज़्यादा डरे हुए थे और एल्बा से उसके निकल भागने से वे ख़ूब समझ गये थे कि उसे बहुत दूर और कड़े पहरे में रक्खा जाना ज़रूरी है। इसलिए उसके विरोध करने पर भी उसे क़ैदी क़रार दिया गया और कुछ साथियों के साथ दक्षिण अतलान्तिक महासागर के सुदूर टापू सेन्ट हेलेना भेज दिया गया। वह 'यूरोप का क़ैदी' माना गया और कई राष्ट्रों ने सेन्ट हेलेना में उसपर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन उसपर निगरानी रखने की पूरी जिम्मेदारी असल में इंग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-ख़ासी फ़ौज रक्खी गई। उस समय वहाँ के रूसी कमिश्नर काउन्ट बालमेन ने सेन्ट हेलेना की इस एकान्त चट्टान के बारे में लिखा है कि यह "संसार की वह जगह है, जो सबसे ज़्यादा उदास, सबसे ज़्यादा अलग, सबसे ज़्यादा पहुँच से बाहर, बचाव के लिए सबसे ज़्यादा आसान, हमले के लिए सबसे ज़्यादा मुश्किल, और सबसे कम माफ़िक आनेवाली. . .है।" इस टापू का अंग्रेज़ गवर्नर एक बिलकुल उजड्ड और जंगली व्यक्ति था और वह नेपोलियन के साथ बड़ा गन्दा बर्ताव करता था। उसे टापू के

---

[1] ड्यूक आफ़ वेलिंगटन (१७६९–१८५२)। यह हिन्दुस्तान के गवर्नर लार्ड वैलज़ली का छोटा भाई आर्थर वैलज़ली था, जिसने उस ज़माने में हिन्दुस्तान में भी कई लड़ाइयाँ जीती थीं। १८२८ ई० में यह इंग्लैण्ड का प्राइम मिनिस्टर भी रहा था।

[2] प्रशिया का सेनापति (१७४२–१८१९)। इसने फ़्रान्स में कई बार नेपोलियन को हराया था। इसकी मदद के बिना वेलिंगटन के लिए वाटरलू का युद्ध जीतना असम्भव था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे ज्यादा ख़राब हिस्से में एक बहुत बुरे मकान में रक्खा गया और उसपर व उसके साथियों पर तरह-तरह की खिझानेवाली पाबन्दियाँ लगा दी गईं। कभी-कभी तो उसे पेट भर के अच्छा खाना भी नहीं मिलता था। उसे यूरोप में रहनेवाले मित्रों से पत्र-व्यवहार नहीं करने दिया जाता था, यहाँ तक कि अपने नन्हे पुत्र से भी नहीं, जिसे अपनी सत्ता के दिनों में उसने रोम के बादशाह की उपाधि दी थी। पत्र-व्यवहार तो क्या, उसके पुत्र की ख़बर तक उसके पास नहीं पहुँचने दी जाती थी।

यह अचम्भे की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना बर्ताव किया गया! लेकिन सेन्ट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ़ अपनी सरकार का औज़ार था, और मालूम होता है कि अंग्रेज़ सरकार की जान-बूझकर यह नीति थी कि क़ैदी के साथ बुरा बर्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। यूरोप की दूसरी शक्तियाँ इससे सहमत थीं। नेपोलियन की माता बूढ़ी होने पर भी सेन्ट हेलेना में अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी, लेकिन इन बड़ी शक्तियों ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। नेपोलियन के साथ जो कमीना बर्ताव किया गया, वह उस ख़ौफ़ का माप था, जो अभी तक यूरोप में उसके नाम से फैला हुआ था, हालाँकि उसके पर काट दिये गए थे और वह एक बहुत दूर के टापू में बेबस होकर पड़ा था।

साढ़े पाँच वर्ष तक उसने सेन्ट हेलेना में यह ज़िन्दा मौत बर्दाश्त की। छोटी-सी चट्टान से उस टापू में पिंजरा-बन्द होकर और रोज़ कमीनी ज़िल्लतें उठाकर, ज़बर्दस्त जीवट और ऊँचे हौसलेवाले इस व्यक्ति ने जो तक़लीफ़ें उठाई होंगी, उनकी कल्पना करना मुश्किल नहीं है।

नेपोलियन मई, १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की नफ़रत उसके पीछे पड़ी रही और उसके लिए एक बहुत बुरी क़ब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नेपोलियन के साथ किये गए बुरे बर्ताव और अत्याचार की ख़बर जैसे ही यूरोप पहुँची (उन दिनों ख़बरें बहुत देर में पहुँचा करती थीं) वैसे ही उसके ख़िलाफ़ इंग्लैण्ड समेत बहुत-से देशों में शोर मच गया। इंग्लैण्ड का पर-राष्ट्रमन्त्री केसलरे, जो इस बुरे बर्ताव के लिए सबसे ज्यादा ज़िम्मेदार था, इस वजह से, और अपनी कठोर घरू-नीति की वजह से बहुत बदनाम हो गया। उसे इसका इतना पछतावा हुआ कि उसने आत्महत्या कर ली।

महान् और ग़ैर-मामूली व्यक्तियों को आँकना मुश्किल होता है; और कोई शक नहीं है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक महान् और अनोखा व्यक्ति था। वह एक ववंडर जैसा था, मानो कुदरत का कोई ज़ोर हो। विचारों और कल्पनाओं से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और बेग़रज़ी भावनाओं के मूल्यों की क़द्र नहीं करता था। वह लोगों को कीर्ति और दौलत देकर वश में करने की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनपर असर डालने की कोशिश करता था। इसलिए जब कीर्ति और सत्ता का यह भण्डार खाली हो गया, तो जिन लोगों को उसने बढ़ाया था उन्हींको अपना बनाये रखने के लिए उसके पास कोई आदर्श व इरादे नहीं रहे। इसलिए बहुत-से उसे कमीनेपन के साथ दग़ा दे गये। मज़हब को तो वह ग़रीबों और दुखियों को उनकी कम्बख़्ती पर तसल्ली देनेवाला एक ज़रिया समझता था। ईसाइयत के बारे में उसने एक बार कहा था, "मैं ऐसे मज़हब को कैसे क़बूल कर सकता हूँ जो सुक़रात और अफ़लातून की निन्दा करता है।" जब वह मिस्र में था, उसने इस्लाम की तरफ़ रुझान इसलिए दिखलाया था कि उसके विचार से शायद ऐसा करने से वहाँ वह लोकप्रिय हो जाय। वह निपट ग़ैर-मज़हबी था, लेकिन फिर भी मज़हब को बढ़ावा देता था। क्योंकि वह इसे उस समय की समाजी व्यवस्था की थूनी समझता था। वह कहता था, "मज़हब ने स्वर्ग के साथ बराबरी की भावना का विचार जोड़ रक्खा है, जो ग़रीबों को धनवानों की हत्या करने से रोकता है। मज़हब का वही उपयोग है, जो चेचक के टीके का। वह चमत्कारों के लिए हमारी रुचि को ख़ुराक देता है और हमें नीम-हकीमों से बचाता है....। सम्पत्ति की असमानता से ही समाज टिकता है और सम्पत्ति की असमानता बिना मज़हब के ठहर नहीं सकती थी। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पड़ौसी ज़ायकेदार भोजनों की दावत उड़ा रहा है, उसे तसल्ली देनेवाली एक बात तो है आसमानी सत्ता में विश्वास और दूसरा यह विश्वास कि परलोक में माल का बँटवारा दूसरे ही ढँग से होगा।" सुनते हैं, अपनी ताक़त के घमण्ड में उसने कहा था—"अगर आकाश हमारे ऊपर गिरने लगे तो हम उसे अपने भालों की नोकों पर रोक लेंगे।"

उसमें महान् व्यक्तियों की-सी आकर्षण-शक्ति थी और उसने बहुत-से लोगों की वफ़ादार दोस्ती हासिल कर ली थी। अकबर की तरह उसकी निगाह में आकर्षण था। एक बार उसने कहा था—"मैंने तलवार बहुत कम खींची है। मैंने लड़ाइयाँ अपनी आँखों से जीती हैं, हथियारों से नहीं।" जिस आदमी ने सारे यूरोप को युद्ध में फँसा दिया, उसके मुँह से ये शब्द विचित्र मालूम होते हैं! बाद में, जबकि वह देश-निकाले में था, उसने कहा था कि ज़ोर-ज़बर्दस्ती करना कोई इलाज नहीं है और मनुष्य की आत्मा तलवार से भी ज़ोरदार है। उसने कहा था—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज़्यादा अचम्भा किस बात पर होता? इस बात पर कि किसी चीज़ का संगठन ज़बर्दस्ती के ज़ोर पर नहीं किया जा सकता। दुनिया में सिर्फ़ दो ही ताक़तें हैं—एक तो आत्मा और दूसरी तलवार। बहुत दूर चलकर आत्मा सदा तलवार पर विजय हासिल करेगी।" लेकिन बहुत दूर जाना उसके लिए नहीं बदा था। वह तो जल्दी में था, और अपनी ज़िन्दगी के शुरू में ही उसने तलवार का रास्ता चुन लिया था; तलवार से ही उसने विजय पाई और तलवार ही उसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतन का कारण हुई। फिर उसका कहना था—"युद्ध अब समय की चीज़ नहीं है; एक दिन ऐसा आयेगा जब बिना तोपों और संगीनों के जीतें हासिल हो जाया करेंगी।" परिस्थितियों ने उसे दबा दिया था—छलाँग भरनेवाले ऊँचे हौसले, युद्धों को जीतने में आसानी, और यूरोप के शासकों की इस कल के छोकरे के लिए नफ़रत और उसका ख़ौफ़, इन सबने उसे शान्ति के साथ जमने नहीं दिया। लड़ाइयों में वह बड़ी बेपरवाही के साथ लोगों की जानें झोंक देता था, लेकिन फिर भी यह कहा जाता है कि लोगों की तक़लीफ़ों को देखकर उसका दिल बहुत पसीज जाता था।

अपने निजी जीवन में वह बहुत सादा मिज़ाज था और काम के सिवा कभी किसी बात में ज़्यादती नहीं करता था। उसकी राय में "कोई मनुष्य चाहे जितना कम खाये, वह हमेशा ज़रूरत से ज़्यादा खाता है। ज़्यादा खाने से आदमी बीमार पड़ सकता है, कम खाने से कभी नहीं।" यही सादा जीवन था, जिसके सबब से उसकी तन्दुरुस्ती इतनी अच्छी थी और उसमें ज़बर्दस्त कार्य-शक्ति थी। वह जब चाहता, और जितना कम चाहता, सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर तक घोड़े पर सौ मील का सफ़र कर लेना उसके लिए कोई अनोखी बात न थी।

जैसे-जैसे उसके ऊँचे हौसले यूरोप के महाद्वीप को लाँघते हुए आगे बढ़ते गये, वैसे-वैसे वह यह सोचने लगा कि यूरोप एक राज्य है, एक इकाई है, जहाँ एक क़ानून और एक ही सरकार होनी चाहिए। "मैं सब राष्ट्रों को मिलाकर एक कर दूँगा।" बाद में सेन्ट हेलेना में अकेला रहते-रहते जब उसका दिमाग़ ठिकाने आया तो यह विचार फिर उसके दिल में अधिक विशाल रूप में पैदा हुआ। "कभी-न-कभी घटना-चक्र के बल से (यूरोप के राष्ट्रों का) यह मेल होगा। पहला धक्का लग चुका है और मुझे तो लगता है कि मेरी प्रणाली का अन्त होने के बाद यूरोप में संतुलन क़ायम करने का अगर कोई रास्ता है तो वह राष्ट्रों के संघ के द्वारा है।" सौ वर्ष से भी ज़्यादा समय के बाद यूरोप अब भी अँधेरे में टटोल रहा है और राष्ट्रों के संघ (लीग ऑफ़ नेशन्स) का प्रयोग कर रहा है!

उसने अपना आख़िरी वसीयतनामा लिखा, जिसमें अपने उस नन्हे पुत्र के नाम एक सन्देश छोड़ा, जिसे वह रोम का बादशाह कहता था और जिसके समाचार तक भी इतनी बेरहमी से उसके पास पहुँचने से रोक दिए गये थे। उसे आशा थी कि उसका पुत्र एक दिन राज करेगा इसलिए उसने उसे उपदेश दिया था कि वह शान्ति के तरीक़ों से राज करे और ज़ोर-ज़बर्दस्ती कभी न करे। मैं "यूरोप को हथियारों के ज़ोर से डराने को मजबूर हो गया था; लेकिन आजकल का तरीक़ा यह है कि दलील से समझा कर यक़ीन दिलाया जाय।" लेकिन पुत्र के भाग्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में राज करना नहीं लिखा था। नेपोलियन की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद वह जवानी में ही वियेना में मर गया।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग़ में तब आये जब वह देश-निकाले में था और जब उसकी अक़्ल ठिकाने आ गयी थी। या शायद उसने आगे के लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के दिनों में वह इतना ज़्यादा क्रियाशील आदमी था कि उसे दार्शनिक बनने की फ़ुरसत नहीं थी। वह तो सत्ता की वेदी पर पूजा करता था; उसका सच्चा और अकेला प्रेम सत्ता से था और वह उससे मोंड़े तौर पर नहीं बल्कि एक कलाकार की तरह प्रेम करता था। उसने कहा था—"मैं सत्ता से प्रेम करता हूँ, हाँ, प्रेम करता हूँ, लेकिन उस तरह जैसे एक कलाकार करता है; जैसे फ़िड्ल[1] बजानेवाला अपनी फ़िड्ल से करता है ताकि उसमें से चमत्कारी राग, स्वर और स्वर-लहरियाँ पैदा करे।" लेकिन बहुत ज़्यादा सत्ता की लालसा ख़तरनाक होती है और जो व्यक्ति या राष्ट्र इसके पीछे पड़ते हैं, उनका कभी-न-कभी पतन और नाश हो ही जाता है। बस नेपोलियन का भी अन्त हो गया, और यह अच्छा ही हुआ।

इधर फ़ान्स में बोर्बन राज कर रहे थे। लेकिन यह कहा जाता है कि बोर्बनों ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातों को भूले। नेपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ़ान्स उनसे तंग आ गया और उसने उन्हें उखाड़ फेंका। एक दूसरी राजाशाही क़ायम हुई और नेपोलियन की यादगार पर इज़्ज़त ज़ाहिर करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वान्दोम मीनार के ऊपर से हटा दी गई थी, फिर वहीं रख दी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढ़ापे में अन्धी हो गई थी, कहा—"सम्राट् एक बार फिर पेरिस लौट आया है।"

: १०६ :

संसार का सिंहावलोकन

१९ नवम्बर, १९३२

इस तरह नेपोलियन दुनिया के रंगमंच से, जिस पर वह इतने दिनों से हावी हो रहा था, विदा हुआ। इस बात को एक सदी से ज़्यादा वक़्त हो चुका है, और बहुत-से पुराने विवाद ठंडे पड़ चुके हैं। लेकिन, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, नेपोलियन के बारे में अभी तक लोगों में बड़ा मतभेद है। अगर वह किसी दूसरे ज़्यादा शान्ति के ज़माने में पैदा हुआ होता तो एक नामी सेनापति

---

[1] सारंगी की तरह का एक बाजा, जिसे वायोलिन भी कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ज्यादा कुछ न होता, और वह लोगों की नज़र में आये बिना ही चल बसा होता। लेकिन क्रान्ति और परिवर्तन ने उसे आगे बढ़ने का मौक़ा दिया, और उसने भी इससे पूरा लाभ उठाया। उसके पतन से और यूरोपीय राजनीति के मैदान से हट जाने से यूरोपवासियों को बड़ी राहत मिली होगी, क्योंकि वे लोग युद्ध से उकता गये थे। पूरी एक पीढ़ी से उन्होंने सच्ची शान्ति के दर्शन नहीं किये थे, और वे उसके लिए तरस रहे थे। वर्षों से उसके नाम से थर्राते रहने-वाले बादशाहों और राजाओं को तो इससे जितनी राहत मिली होगी, उतनी किसी दूसरे को नहीं।

हमने फ़्रान्स और यूरोप में बहुत वक़्त लगा दिया और अब हम उन्नीसवीं सदी में काफ़ी दूर तक आगे बढ़ आये हैं। आओ, अब हम दुनिया पर एक सरसरी नज़र डालें और देखें कि नेपोलियन के पतन के समय उसकी क्या हालत थी।

तुम्हें याद होगा कि यूरोप में पुराने बादशाह और उनके मन्त्री वियेना की कांग्रेस में इकट्ठा हुए थे। नेपोलियन का हौवा दूर हो गया था, और अब ये लोग अपना वही पुराना खेल खेल सकते थे और लाखों आदमियों के भाग्यों का अपनी मर्ज़ी के माफ़िक़ फ़ैसला कर सकते थे। न तो उन्हें इसकी कुछ परवाह थी कि लोग क्या चाहते हैं और न इस बात की कि क़ुदरती तौर पर और भाषा के लिहाज़ से किसी देश की सीमाएं क्या थीं। रूस का ज़ार, इंग्लैण्ड (प्रतिनिधि केसलरे), आस्ट्रिया (प्रतिनिधि मैतरनिख़) और प्रशिया, इस कांग्रेस में मुख्य शक्तियाँ थीं। और हाँ, चतुर, हाज़िर-जवाब और लोकप्रिय तैलीरेन्द भी, जो एक समय नेपोलियन का मन्त्री रह चुका था, और अब फ़्रान्स के बोर्बन बादशाह का मन्त्री था। इन लोगों ने नाचों और दावतों से मिली फ़ुरसत में यूरोप के उस नक़शे को फिर नये सिरे से बदल डाला, जिसे नेपोलियन ने इतना बदल दिया था।

अठारहवाँ बोर्बन लुई फिर फ़्रान्स की गद्दी पर थोप दिया गया। स्पेन में इन्क्विज़िशन फिर से जारी कर दी गई। वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए बाद-शाह गणराज्यों को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए उन्होंने हालैण्ड के पुराने डच गणराज्य को फिर से क़ायम नहीं किया। इसके बजाय उन्होंने हालैण्ड और बेल-जियम को मिलाकर नीदरलैण्ड नामक राज्य बना दिया। पोलैण्ड की फिर कोई अपनी अलग हस्ती न रही; प्रशिया, आस्ट्रिया, और खासकर रूस, उसे हड़प गये। वेनिस और उत्तरी इटली आस्ट्रिया को मिल गये। स्वीज़रलैण्ड और रिवेयरा के बीच का एक टुकड़ा फ़्रान्स का, और एक टुकड़ा इटली का मिलाकर सार्डीनिया की रियासत बना दी गई। मध्य यूरोप में एक अजीब और धुंधला-सा जर्मन महा-संघ था, लेकिन प्रशिया और आस्ट्रिया ही उसकी दो प्रधान शक्तियाँ बनी रहीं। इनके अलावा और भी परिवर्तन हुए। इस तरह वियेना कांग्रेस के अक़्लमन्दों ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह व्यवस्था दी कि लोगों को उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्ती इधर-उधर बाँट दिया, उन्हें ऐसी भाषा को बोलने के लिए मजबूर किया, जो उनकी अपनी न थी, और इस तरह आमतौर पर भविष्य के झगड़ों और युद्धों के बीज बो दिये।

१८१४-१५ ई० की वियेना कांग्रेस का ख़ास विषय था बादशाहों की हैसियत को एकदम मज़बूत बनाना। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति से वे बेहद दहल गये थे, इसलिए अब यह बेवक़ूफ़ी का ख़याल बना बैठे कि इन नये क्रान्तिकारी विचारों का फैलना रोक सकेंगे। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट् और प्रशिया के बादशाह ने तो अपनी और दूसरे बादशाहों की हैसियत बचाने के लिए 'पवित्र मित्र-मंडल' नाम का एक गुट्ट तक बना लिया था। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगा मानो हम फिर चौदहवें और पन्द्रहवें लुई के ज़माने में पहुँच गये हैं। सारे यूरोप में, यहाँ-तक कि इंग्लैण्ड तक में, तमाम उदार विचारों को दबाया जाने लगा। यूरोप के प्रगतिशील विचारों के लोगों को यह देखकर कितनी निराशा हुई होगी कि फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति की सख़्त तड़पन फ़िज़ूल गई!

यूरोप के पूर्व में तुर्की बहुत कमज़ोर हो गया था। वह धीरे-धीरे गिरावट की ओर जा रहा था। कहने को तो मिस्र तुर्की साम्राज्य में था, लेकिन असल में वह था आधा-स्वाधीन। १८२१ ई० में यूनान ने तुर्की शासन के ख़िलाफ़ विद्रोह किया और आठ वर्ष के युद्ध के बाद इंग्लैण्ड, फ़्रान्स और रूस की सहायता से आज़ादी हासिल कर ली। इसी युद्ध में अंग्रेज़ कवि बायरन यूनान की तरफ़ से एक स्वयंसेवक की तरह लड़ता हुआ मारा गया था। उसने यूनान के बारे में कुछ बहुत ही सुन्दर कविताएँ लिखी हैं, जिन्हें शायद तुम जानती भी हो।

यहाँ मैं दो राजनीतिक परिवर्तनों का भी ज़िक्र कर दूँ, जो १८३० ई० में यूरोप में हुए। बोर्बन बादशाहों के दमन और अत्याचारों से तंग आकर फ़्रान्स ने उन्हें फिर निकाल बाहर किया। लेकिन गणराज्य के बजाय एक दूसरा बादशाह बिठा दिया गया। यह था लुई फ़िलिप, जिसने कुछ अच्छा, और किसी हद तक एक संवैधानिक बादशाह की तरह, बर्ताव किया। उसने १८४८ ई० तक किसी तरह राज चलाया और फिर एक दूसरा व पहले से भी ज़्यादा बड़ा विस्फोट हो गया। बेलजियम में भी १८३० ई० में विद्रोह हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि बेलजियम और हालैण्ड अलग-अलग हो गये। यूरोप की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ तो गणराज्य प्रणाली की ज़बर्दस्त विरोधी थीं ही, इसलिए उन्होंने एक जर्मन राज-कुमार को बैलजियम की भेंट किया और उसे वहाँ का बादशाह बना दिया। एक और जर्मन राजकुमार यूनान का बादशाह बना दिया गया। मालूम होता है कि जर्मनी की ढेर सारी रियासतों में ऐसे राजकुमारों की हमेशा बहुतायत रहती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, जो किसी गद्दी के खाली होते ही मिल जाते थे। तुम्हें याद होगा कि इंग्लैण्ड का मौजूदा राजवंश जर्मनी की ही एक छोटी-सी रियासत हैनोवर से आया हुआ है।

१८३० ई० का साल यूरोप में व दूसरी कई जगहों—जर्मनी और इटली और खासकर पोलैण्ड—में विद्रोहों का था। लेकिन बादशाहों ने इन विद्रोहों को कुचल दिया। पोलैण्ड में रूसियों ने बड़ी बेरहमी से दमन किया, यहाँतक कि पोली भाषा का इस्तेमाल भी रोक दिया। १८३० ई० का यह साल, एक तरह से १८४८ ई० की भूमिका था और, जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे, यूरोप में यह वर्ष क्रान्ति का था।

इतना तो हुआ यूरोप के बारे में। अतलान्तिक महासागर के उस पार संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ़ फैल रहा था। वह यूरोप की आपसी लागडाटों और युद्धों से बहुत दूर था और उसके पास बेहद फ़ालतू ज़मीन थी, इसलिए वह बड़ी तेजी से तरक्क़ी करता हुआ यूरोप की बराबरी में आता जा रहा था। उधर दक्षिण अमेरिका में भी बड़े परिवर्तन हुए। सीधी तरह तो नहीं लेकिन हिरा-फिराकर ये नेपोलियन की वजह से हुए। जब नेपोलियन ने स्पेन जीता और अपने एक भाई को वहाँ की गद्दी पर बिठाया, तो दक्षिण अमेरिका के स्पेनी उपनिवेशों ने विद्रोह कर दिया। विचित्र बात है कि स्पेनी राजवंश के लिए अमेरिका के इन स्पेनी उपनिवेशों की वफ़ादारी ही उनकी स्वाधीनता का सबब बनी। लेकिन यह तो एक उसी वक़्त का बहाना था। चाहे कुछ देर बाद ही सही, लेकिन उपनिवेशों का स्पेन से ज़रूर नाता टूटता; क्योंकि दक्षिण अमेरिका में सब जगह स्वाधीनता की भावना ज़ोर पकड़ रही थी। दक्षिण अमेरिका की स्वाधीनता का बड़ा नायक था साइमन बोलिवर जो 'देशोद्धारक' के नाम से मशहूर है। दक्षिण अमेरिका के बोलिविया गणराज्य का नाम उसीके नाम पर रखा गया है। इस तरह जब नेपोलियन का पतन हुआ तब स्पेनी अमेरिका स्पेन से कट चुका था और अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहा था। नेपोलियन के बिदा हो जाने से इस लड़ाई में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा और यह स्पेन की नई सरकार के खिलाफ़ कई वर्षों तक चलती रही। यूरोप के कुछ बादशाह अमेरिकी उपनिवेशों के क्रान्तिकारियों को दबाने में अपने दोस्त स्पेन के बादशाह की मदद करना चाहते थे। लेकिन संयुक्त राज्य ने इस तरह के दख़ल को बिलकुल रोक दिया। उस समय मुनरो संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति था। उसने यूरोपीय शक्तियों को साफ़-साफ़ कह दिया कि अगर उन्होंने उत्तर या दक्षिण अमेरिका की किसी भी जगह टाँग अड़ाई तो उन्हें संयुक्त राज्य से लोहा लेना पड़ेगा। इस धमकी ने यूरोपीय शक्तियों को डरा दिया और तब से वे दक्षिण अमेरिका से बहुत-कुछ अलग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही रही हैं। यूरोप को दी गई मुनरो की यह धमकी 'मुनरो सिद्धान्त'[1] के नाम से मशहूर है। इसने दक्षिण अमेरिका के नये गणराज्यों को बहुत वर्षों तक लालची यूरोप के चंगुल से बचाये रक्खा और उन्हें विकास करने का मौक़ा दिया। यूरोप से तो उनकी अच्छी तरह रक्षा हो गई, लेकिन रक्षा करनेवाले—संयुक्त राज्य—से उनको बचानेवाला कोई न था। आज उनपर संयुक्त राज्य का ही दबदबा है, और छोटे-छोटे गणराज्यों में बहुत-से तो बिलकुल उसीकी मुट्ठी में हैं।

ब्राज़ील का विशाल देश पुर्तगाल का उपनिवेश था। स्पेन के अमेरिकी उपनिवेश जिस समय स्वाधीन हुए लगभग उसी वक़्त यह भी स्वाधीन हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि १८३० ई० के आस-पास सारा दक्षिण अमेरिका यूरोप के पंजे से निकल गया। उत्तरी अमेरिका में अलबत्ता कनाडा अंग्रेज़ों का उपनिवेश था।

अब हम एशिया की तरफ़ आते हैं। इस समय अंग्रेज़ भारत में पूरी तरह सबसे ज़बर्दस्त शक्ति बन गये थे। जिस वक़्त यूरोप में नेपोलियनी युद्धों का घमासान चल रहा था, अंग्रेज़ों ने इधर अपनी हैसियत को मज़बूत बना लिया और जावा पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। मैसूर का टीपू सुलतान परास्त किया जा चुका था। और १८१९ ई० में मराठों की सत्ता भी बिलकुल उखाड़ फेंकी गई थी। हाँ, पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत थी। सारे भारत में अंग्रेज़ घुस-पैठ कर रहे थे और फैलते जा रहे थे। पूर्व में असम मिला लिया गया था, और अराकान—बरमा—भी अगला निवाला बननेवाला था।

जबकि इधर भारत में अंग्रेज़ बढ़ रहे थे, उधर मध्य-एशिया में एक दूसरी यूरोपीय शक्ति—रूस आगे बढ़ रहा था। पूर्व में प्रशान्त महासागर तक और चीन तक तो वह पहुँच ही चुका था। अब यह मध्य-एशिया की छोटी-छोटी रियासतों को कुचलता हुआ ठेठ अफ़ग़ानिस्तान की सीमा तक आ गया था। भारत के अंग्रेज़ इस रूसी दैत्य को अपनी तरफ़ आता देख इतने डर गये कि घबराहट में, बिना रत्ती-भर हीले-बहाने के ही, अफ़ग़ानिस्तान से यद्ध छेड़ बैठे। लेकिन इसमें उनको बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी।

चीन में मंचुओं का राज था। व्यापार और मज़हब के नाम से आनेवाले विदेशियों की नीयत पर सन्देह करने की काफ़ी वजह होने से वे इन्हें रोकने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन विदेशी लोग चीन के दरवाज़े पर चिल्लाते-पुकारते और गड़बड़ी मचाते ही रहे, और अफ़ीम के व्यापार को खासतौर पर बढ़ावा

[1] Munroe Doctrine.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देते रहे। ईस्ट इंडिया कम्पनी को ब्रिटिश-चीन के व्यापार का ठेका मिला हुआ था। चीनी सम्राट् ने चीन में अफ़ीम का आना रोक दिया, लेकिन चोरी-छिपे उसका आयात जारी रहा और विदेशी लोग इस तरह अफ़ीम का ग़ैरक़ानूनी व्यापार करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड से युद्ध छिड़ गया, जिसे 'अफ़ीम का युद्ध' ठीक ही कहा जाता है, और अन्त में अंग्रेज़ों ने चीन के लोगों को अफ़ीम खरीदने के लिए मजबूर कर दिया।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें बतलाया था कि १६३४ ई० में जापान ने अपने-आपको बिलकुल बन्द कर लिया था। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक भी इस देश का दरवाज़ा सब विदेशियों के लिए बन्द था। लेकिन इसके बन्द परकोटे के अन्दर पुरानी शोगुनशाही कमज़ोर हो रही थी और नई हालतें पैदा हो रही थीं, जो पुरानी प्रणाली का एकदम खातमा करनेवाली थीं। दक्षिण-पूर्व एशिया के सुदूर दक्षिण में यूरोपीय शक्तियाँ ज़मीनों को हड़प करती जा रही थीं। फ़िलीपाइन द्वीप-समूह पर अभी तक स्पेनियों का क़ब्ज़ा बना हुआ था। अंग्रेज़ों और डचों ने पुर्तगालियों को वहाँ से मार भगाया था। वियेना की कांग्रेस के बाद डचों को जावा व दूसरे टापू वापस मिल गये। अंग्रेज़ सिंगापुर और मलाया प्रायद्वीप की तरफ़ फैलते जा रहे थे। अनाम, स्याम और बरमा अभी तक स्वाधीन थे, हालाँकि वे मौक़े-मौक़े पर चीन को खिराज दिया करते थे। मोटे तौर पर वाटरलू-युद्ध से १८३० ई० तक के पन्द्रह वर्षों के बीच दुनिया की राजनीतिक दशा इस तरह की थी। यूरोप साफ़ तौर पर दुनिया का मालिक बनता जा रहा था; और खुद यूरोप में पीछे लौटने की क्रिया ज़ोर पकड़ रही थी। सम्राटों और बादशाहों का, और इंग्लैण्ड की दक़ियानूसी पार्लमेण्ट तक का, यह खयाल बन गया था कि उन्होंने उदार विचारों को बिलकुल कुचल दिया है। उन्होंने इन विचारों को डिब्बे में बन्द कर देने की कोशिश की। लेकिन वे असफल ही रहे, और रह-रहकर विद्रोह होने लगे।

राजनीतिक परिवर्तन सारे क्षेत्र पर छाये हुए मालूम देते थे। लेकिन इनसे भी कहीं ज्यादा भारी बात थी उत्पादन, वितरण और आवागमन के तरीक़ों में क्रान्ति, जिसकी शुरुआत इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। चुपचाप, लेकिन बिना किसी रोक-टोक के, यह क्रान्ति यूरोप और उत्तरी अमेरिका में फैल रही थी और करोड़ों मनुष्यों के नज़रियों और ढँगों को, और जुदा-जुदा वर्गों के आपसी सम्बन्धों को बदल रही थी। मशीनों की खटाखट में से नये-नये विचार निकलते जा रहे थे और एक नई दुनिया तैयार हो रही थी। यूरोप दिन-पर-दिन ज्यादा कार्य-कुशल और संग-दिल—ज्यादा लोभी, साम्राज्यवादी और बेदर्द बनता जा रहा था। नेपोलियन की आत्मा इसमें घर कर गई मालूम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती थी। लेकिन यूरोप में भी ऐसे विचार पैदा हो रहे थे, जो आगे जाकर साम्राज्यवाद से टक्कर लेनेवाले और उसे उखाड़ फेंकनेवाले थे।

इस युग का साहित्य, काव्य और संगीत भी ऐसा है, जो चित्त को मोहित करता है। लेकिन मैं अपनी क़लम को अब ज्यादा दौड़ने न दूंगा। आज के लिए इसने काफ़ी काम कर लिया है।

: १०७ :

महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष

२२ नवम्बर, १९३२

नेपोलियन का पतन १८१४ ई० में हुआ; अगले साल वह एल्बा से लौटा और फिर उसकी हार हुई; लेकिन उसका सारा ढांचा १८१४ ई० में ही ढह चुका था। इसके ठीक सौ वर्ष बाद, १९१४ ई० में, महायुद्ध शुरू हुआ, जो लगभग सारी दुनिया में फैल गया और अपने चार वर्षों के समय में इसने ज़बर्दस्त तबाही और तक़लीफ़ें पहुँचाई। सौ वर्ष के इस काल पर हमें कुछ विस्तार के साथ विचार करना है। इस काल के शुरू में दुनिया की जैसी हालत थी, उसकी कुछ मोटी-मोटी बातें मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र में बतला चुका हूँ। मैं समझता हूँ कि अपने लिए यह मुनासिब होगा कि अलग-अलग देशों में इस सदी के अलग-अलग टुकड़ों की जाँच करने से पहले कुल मिलाकर पूरी सदी पर एक निगाह डाल ली जाय। इस तरह शायद हमें इन सौ वर्षों की खास-खास हलचलों का ज्यादा अच्छा ज्ञान हो जाय, और तब हम सारे दृश्य की सब चीज़ों को एक साथ देख सकें।

तुम्हें अपने-आप ही नज़र आ जायगा कि १८१४ से १९१४ ई० तक के ये सौ वर्ष ज्यादातर उन्नीसवीं सदी में पड़े हैं। इसलिए अगर हम इन वर्षों को उन्नीसवीं सदी कहकर पुकारें तो कोई हर्ज नहीं है, हालांकि यह बिलकुल सही तो नहीं होगा।

उन्नीसवीं सदी एक दिलकश ज़माना है। लेकिन हमारे लिए उसका अध्ययन कोई आसान काम नहीं है। यह सामने फैला हुआ एक लम्बा-चौड़ा दृश्य है, एक बड़ा चित्र है, और चूंकि हम उसके इतने नज़दीक़ हैं, इसलिए वह हमें पहले की सदियों की बनिस्बत ज्यादा बड़ा और ज्यादा घना मालूम होता है। जब हम इस सदी को गूंथनेवाले हज़ारों भागों को सुलझाने की कोशिश करते हैं, तो इसका बड़प्पन और इसकी पेचीदगी कभी-कभी तो हमको चकरा देती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सदी चमत्कारी मशीनी उन्नति की है। औद्योगिक क्रान्ति के पीछे-पीछे मशीनी क्रान्ति आई, और मशीनें मनुष्य के जीवन में दिन-पर-दिन ज्यादा ज़रूरी होती गईं। मशीनों ने उससे बहुत ज्यादा काम कर दिखाया, जितना मनुष्य ने पहले किया था। उनसे मनुष्य के काम की मशक्क़त दूर हो गई, क़ुदरती ताक़तों पर उसका आसरा कम हुआ और उसके लिए दौलत पैदा होने लगी। विज्ञान ने बहुत ज्यादा सहायता दी और आवा-जाई व माल-ढुलाई के साधनों की रफ़्तार तेज-पर-तेज होती चली गई। रेलगाड़ी आई और उसने घोड़ा-गाड़ियों की जगह ले ली; भाप के जहाज़ों ने हवा से चलनेवाले जहाज़ों की जगह ले ली, और उसके बाद आया ज़बर्दस्त और शानदार समुद्री जहाज़, जो एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को तेज रफ़्तार से और बिना नागा किये जाने आने लगा। इस सदी के अन्त में अपने-आप चलनेवाली गाड़ियाँ आईं और मोटरकारें तमाम दुनिया में फैल गईं। और इसके बाद आया हवाई जहाज़। इसी समय मनुष्य एक नये चमत्कार—बिजली—को क़ाबू में करके अपने काम में लेने लगा और तार व टेलीफ़ोन प्रकट हुए। इन बातों ने दुनिया का रूप बहुत बदल दिया। जैसे-जैसे संचार के साधनों का विकास हुआ और लोग दिन-पर-दिन ज्यादा तेज रफ़्तार से यात्रा करने लगे वैसे-ही-वैसे दुनिया सिकुड़ती हुई और छोटी होती हुई मालूम पड़ने लगी। आज तो हम इन सबके आदी हो गये हैं और इनपर ध्यान ही नहीं देते। लेकिन पुरानी बातों में ये सब सुधार और परिवर्तन हमारे इस जगत में नये आये हैं; ये सब पिछले सौ वर्षों में ही आये हैं।

साथ ही यह सदी यूरोप की, या यों कहो कि पश्चिमी यूरोप की, और ख़ासकर इंग्लैण्ड की, सदी थी। औद्योगिक और मशीनी क्रान्तियाँ वहीं शुरू हुईं और आगे बढ़ीं, और इनके सबब से पश्चिमी यूरोप दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ गया। समुद्री शक्ति और उद्योग-धन्धों में इंग्लैण्ड सबसे आगे था; लेकिन पश्चिमी यूरोप के दूसरे देश धीरे-धीरे इसकी बराबरी पर आ पहुँचे। इस नई मशीनी सभ्यता के सहारे अमेरिका का संयुक्त राज्य भी आगे बढ़ चला और रेलों ने उसे पश्चिम की तरफ़ प्रशान्त महासागर तक पहुंचा दिया, और इस तरह इस विशाल देश को एक राष्ट्र बना दिया। यह अपनी ही समस्याओं में और अपना विस्तार करने में इतना ज्यादा फँसा हुआ था कि यूरोप व बाक़ी दुनिया की झंझटों की तरफ़ ध्यान देने की उसे फ़ुरसत ही न थी। लेकिन यूरोप के किसी भी तरह के दखल का विरोध करने और रोकने की उसमें काफ़ी ताक़त थी। 'मुनरो सिद्धान्त' ने, जिसके बारे में मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र में लिख चुका हूँ, दक्षिण अमेरिका के गणराज्यों को यूरोप की लालची निगाहों से बचा लिया। इन गणराज्यों की नींव स्पेनियों और पुर्तगालियों ने डाली थी, इसलिए ये लातीनी गणराज्य कहलाते हैं। ये दोनों देश, और इटली व फ़्रान्स, लातीनी राष्ट्र कहलाते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। दूसरी तरफ़ यूरोप के उत्तरी देश ट्यूटानी हैं; इंग्लैण्ड ट्यूटनों[1] की ऐंग्लो सेक्सन शाखा है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग शुरू में इसी ऐंग्लो-सेक्सन नस्ल के थे, लेकिन बाद में तो सभी तरह के परदेसी वहाँ जा पहुँचे।

औद्योगिक और मशीनी मैदान में बाक़ी दुनिया पिछड़ी हुई थी और पश्चिम की नई मशीनी सभ्यता से होड़ नहीं कर सकती थी। पुराने कुटीर उद्योगों की बनिस्बत यूरोप के नये मशीन-उद्योगों से माल कहीं ज्यादा तेजी के साथ और ज्यादा बहुतायत से पैदा होने लगा। लेकिन इस माल को तैयार करने के लिए कच्चे माल की ज़रूरत थी, जो पश्चिमी यूरोप में नहीं मिलता था। साथ ही जब माल तैयार होता था, तो उसे बेचना भी ज़रूरी था, और इसलिए उसकी बिक्री के लिए हाट-बाज़ार ज़रूरी थे। इसलिए पश्चिमी यूरोप ऐसे मुल्क़ों की तलाश करने लगा जो उसे कच्चा माल दे सकें और उनका तैयार माल खरीद सकें। एशिया और अफ़्रीका कमज़ोर थे, इसलिए यूरोप उन पर भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ा। अपनी समुद्री-शक्ति और उद्योग-धन्धों में पहल के कारण इंग्लैण्ड साम्राज्य की दौड़ में सहज ही सबसे आगे रहा।

तुम्हें याद होगा कि गरम मसाले और अपनी ज़रूरत की दूसरी चीज़ें खरीदने के लिए यूरोपवाले पहले-पहल भारत और पूर्व-एशिया में पहुँचे थे। इस तरह पूर्व का माल यूरोप में आया और साथ ही पूर्व के करघों का बना हुआ तरह-तरह का कपड़ा पश्चिम में पहुँचा। लेकिन अब मशीन के विकास से यह सिलसिला उलटा हो गया। पश्चिमी यूरोप का सस्ता माल पूर्व में पहुँचने लगा और अंग्रेज़ी माल की बिक्री को बढ़ावा देने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इरादा करके भारत के कुटीर उद्योगों की हत्या कर डाली।

यूरोप बड़े लम्बे-चौड़े एशिया पर जमकर बैठ गया। उत्तर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारे महाद्वीप पर रूसी साम्राज्य पसर गया। दक्षिण में इंग्लैण्ड लूट के सबसे बड़े माल भारत पर मज़बूत शिकंजा जमाये बैठा था। पश्चिम में तुर्की साम्राज्य तीन-तेरह हुआ जा रहा था, और तुर्की का हवाला "यूरोप का मरीज़' कह कर दिया जाता था। नाम के स्वाधीन ईरान पर इंग्लैण्ड और रूस हावी थे। स्याम के एक छोटे-से टुकड़े को छोड़कर सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया—बरमा, हिंदचीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फ़िलीपाइन वग़ैरा—को यूरोप निगल चुका था। सुदूर पूर्व में यूरोप की सभी शक्तियाँ चीन को कुतर रही थीं और उससे एक के बाद दूसरी रियायतें ज़बर्दस्ती ऐंठी जा रही थीं।

---

[1] जर्मनी की एक प्राचीन आदि-वासी क़ौम।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिर्फ़ जापान तना हुआ खड़ा रहा और बराबरी की हैसियत से यूरोप से मुक़ाबले में डटा रहा। वह अपने अलगाव से बाहर निकल आया था और उसने अद्भुत तेजी के साथ अपने को नई हालतों के मुताबिक़ ढाल लिया था।

मिस्र के सिवा बाक़ी अफ़्रीका बहुत पिछड़ा हुआ था। वह यूरोप का कोई ज़ोरदार मुक़ाबला नहीं कर सकता था, इसलिए यूरोप की शक्तियाँ साम्राज्य की अन्धी दौड़ में इसपर टूट पड़ीं, और इस विशाल महाद्वीप को बाँट-कर खा गईं। इंग्लैण्ड ने मिस्र पर कब्ज़ा कर लिया, क्योंकि यह भारत के रास्ते में था, और फिर तो भारत पर क़ब्ज़ा जमाये रखने की लालसा ब्रिटिश नीति पर हावी हो गई। १८६९ ई० में स्वेज़ नहर खोली गई। इससे यूरोप और भारत के बीच का रास्ता बहुत छोटा हो गया। इस नहर के सबब से इंग्लैण्ड के लिए मिस्र की क़ीमत और भी बढ़ गई, क्योंकि वह नहर में गड़बड़ कर सकता था और इस तरह भारत के समुद्री-रास्ते पर उसका अधिकार था।

इस तरह, मशीनी क्रान्ति के नतीजे से सारी दुनिया में पूंजीवादी सभ्यता फैल गई और यूरोप का दबदबा हर जगह क़ायम हो गया। इसलिए इस सदी को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते हैं। लेकिन यह नया साम्राज्यवादी युग रोम और चीन, भारत और अरब, और मंगोलों की पुरानी साम्राज्यशाही से बहुत अलग ढँग का था। यह तो नये ढँग का साम्राज्य था, जो कच्चे माल और हाट-बाज़ारों का भूखा था। नया साम्राज्यवाद नये उद्योगवाद का बच्चा था। कहा जाता था कि "झण्डे के पीछे-पीछे व्यापार चलता है," और अक़्सर करके बाइबिल के पीछे-पीछे झण्डा चल रहा था। मज़हब, विज्ञान, स्वदेश-प्रेम, सभी को एक ही उद्देश्य के लिए भ्रष्ट किया जा रहा था, यानी दुनिया की ज़्यादा कमज़ोर और उद्योगों के मैदान में ज़्यादा पिछड़ी हुई जातियों का शोषण करना ताकि बड़ी-बड़ी मशीनों के स्वामी और उद्योग-धन्धों के सरदार मालदार होते चले जायँ। सत्य और प्रेम के नाम की दुहाई देनेवाला ईसाई मिशनरी अक़्सर साम्राज्यवाद की चौकी का काम करता था, और अगर कहीं उसका कुछ बिगड़ जाता, तो उसका देश इसी को वहाँ की ज़मीन हड़पने का और ज़बर्दस्ती रियायतें ऐंठने का बहाना बना लेता था।

उद्योग और सभ्यता के पूंजीवादी संगठन से इस तरह के साम्राज्यवाद का पैदा होना लाज़िमी था। पूंजीवाद ने ही राष्ट्रीयता की भावना को गहरा किया, और इसलिए इस सदी को तुम राष्ट्रीयता की सदी भी कह सकती हो। यह राष्ट्रीयता सिर्फ़ स्वदेश-प्रेम ही नहीं थी, बल्कि दूसरे सब देशों से नफ़रत करनेवाली थी। अपनी ज़मीन के टुकड़े की शान के गीत गाने और दूसरों की हिक़ारत से निन्दा करने का यही नतीजा हो सकता था कि जुदा-जुदा देशों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपसी झगड़े और लड़ाइयाँ हों। यूरोप के देशों की उद्योगी और साम्राज्यवादी होड़ ने हालत को और भी बिगाड़ दिया। १८१४-१५ ई० की वियेना की कांग्रेस ने यूरोप का जो नक़शा तय किया था वह भी एक और खिझानेवाला कारण था। इस नक़शे में कुछ क़ौमों को दबा दिया गया था और उन्हें ज़बर्दस्ती दूसरी क़ौमों की हुकूमत के नीचे रख दिया गया था। एक राष्ट्र के रूप में पोलैण्ड की हस्ती नहीं रही थी। आस्ट्रिया-हंगरी ठोक-पीटकर बनाया हुआ साम्राज्य था, जिसमें तरह-तरह की क़ौमें रहती थीं, जो एक दूसरे से दिली नफ़रत रखती थीं। दक्षिण-पूर्व यूरोप के तुर्की-साम्राज्य के वलकानी देशों में बहुत-सी ग़ैर-तुर्की क़ौमें थीं। इटली के टुकड़े करके बहुत-सी रियासतों में बाँट दिया गया था, और उसका एक हिस्सा आस्ट्रिया के अधीन था। यूरोप के इस नक़शे को बदल डालने के लिए युद्धों और क्रान्तियों के ज़रिये बार-बार कोशिशें की गईं। अपने पिछले पत्र में मैंने इनमें से कुछ का ज़िक्र किया है, जो वियेना के फ़ैसले के फ़ौरन ही बाद हुए थे। इस सदी के पिछले हिस्से में इटली ने अपने उत्तरी भाग से आस्ट्रिया का और मध्य-भाग से पोप का जुआ उतार फेंका और वह एक संगठित राष्ट्र बन गया। इसके थोड़े ही दिनों बाद प्रशिया के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण हुआ। जर्मनी ने फ़ान्स को हराया और नीचा दिखाया और उसकी सरहद के दो प्रान्त आलसस और लॉरेन छीन लिये, और उसी दिन से वह बदला चुकाने के सपने देखने लगा। पचास वर्ष के भीतर-ही-भीतर ख़ूनी और भयंकर बदला लिया जाने-वाला था।

दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ होने की वजह से इंग्लैण्ड यूरोपीय देशों में सबसे ज्यादा भाग्यशाली था। सारी बढ़िया चीज़ें उसके क़ब्ज़े में थीं और वह उस समय की हालत से ख़ूब राज़ी था। भारत नये ढंग से साम्राज्य का नमूना था और ऐसा दौलतमन्द देश था कि जिसके शोषण से सोने की नदी लगातार इंग्लैण्ड को बहती रहती थी। भारत पर इंग्लैण्ड की इस हुकूमत को दूसरे सब साम्राज्य बनानेवाले डाह की नज़र से देखते थे। वे दूसरी जगहों में भारत के नमूने का साम्राज्य बनाने की सोचने लगे। फ़ान्सीसी तो किसी हद तक सफल भी हो गये; जर्मनी ज़रा देर से मैदान में आया, और उसके लिए अब कुछ भी नहीं बचा था। इस तरह दुनिया भर में इन यूरोपीय "महाशक्तियों" के बीच राज-नीतिक तनाव पैदा हो गया। हरेक शक्ति ज्यादा-से-ज्यादा देशों को हड़प जाने की कोशिश में थी, और इसी उधेड़-बुन में लगी हुई एक शक्ति दूसरी शक्ति से टक्कर खा जाती थी। ख़ासकर इंग्लैण्ड और रूस के बीच तो बराबर तना-तनी बनी रहती थी, क्योंकि इंग्लैण्ड के भारतीय साम्राज्य को मध्य-एशिया की ओर से रूस का ख़तरा मालूम पड़ता था। इसलिए इंग्लैण्ड हमेशा रूस को मात देने की कोशिश करता रहता था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में, जब रूस ने तुर्की को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हराकर क़ुस्तुन्तुनिया पर दान्त लगाये, तो इंग्लैण्ड तुर्की की मदद के लिए मैदान में उतर आया और उसने रूस को पीछे खदेड़ दिया। तुर्की से कोई ख़ास प्रेम की वजह से इंग्लैण्ड ने ऐसा किया हो सो बात नहीं, बल्कि रूस का डर और भारत से हाथ धो बैठने का अन्देशा ही इसकी वजह थी।

जर्मनी, फ़ान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे इंग्लैण्ड के बराबर आ पहुँचे, इसलिए उद्योगों में इंग्लैण्ड की सबसे आगे रहने की हैसियत दिन-पर-दिन घटती गई। इस सदी के आख़िरी दिनों में मामला तूल पकड़ने लगा था। यूरोप की इन शक्तियों के ऊँचे हौसलों को पूरा करने के लिए दुनिया बहुत छोटी थी। ये शक्तियाँ आपस में एक दूसरी से डरती थीं और नफ़रत व डाह करती थीं, और इसी डर और नफ़रत ने उन्हें अपनी फ़ौजों और जंगी-जहाज़ों की संख्या बढ़ाने के लिए मजबूर किया। विनाश के इन साधनों के लिए बड़ी सरगर्मी से होड़ शुरू हुई। दूसरे मुल्कों से लड़ने के लिए अलग-अलग देशों में एक दूसरे से गठ-बंधन होने लगे और अन्त में यूरोप में दो तरह के गठ-बंधन आमने-सामने खड़े हो गये—एक का मुखिया था फ़ान्स, जिसमें इंग्लैण्ड भी गुप्त रूप से शामिल था, और दूसरे का मुखिया बना जर्मनी। यूरोप एक फ़ौजी छावनी बन गया था। उद्योग-धन्धों, व्यापार और हथियारों में दिन-पर-दिन भयंकर लाग-डाँट बढ़ती जा रही थी। हरेक पश्चिमी देश में धीरे-धीरे तंग राष्ट्रीयता की भावना जगाई जा रही थी, ताकि जनता को गुमराह करके उसमें पड़ौसी देशों के ख़िलाफ़ नफ़रत पैदा की जा सके और इस तरह उसे युद्ध के लिए तैयार रक्खा जा सके।

इस तरह अन्धी राष्ट्रीयता यूरोप पर हावी होने लगी। यह अजीब बात थी, क्योंकि आवा-जाई के साधनों की बढ़ती हुई रफ़्तार अलग-अलग देशों को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक ले आई थी और लोग भी बहुत ज़्यादा संख्या में जाने-आने लगे थे। ख़याल तो यह था कि जैसे-जैसे लोग अपने पड़ौसियों को ज़्यादा पहचानते जायँगे, उनकी तरफ़दारी कम होती जायगी और तंग ख़याली के बजाय उनका नज़रिया चौड़ा हो जायगा। कुछ हद तक ऐसा हुआ ज़रूर, लेकिन इस नये उद्योगी पूँजीवाद में समाज का समूचा ढाँचा ही ऐसा था कि उसने राष्ट्र-राष्ट्र, वर्ग-वर्ग और मनुष्य-मनुष्य में आपसी झगड़ा पैदा कर दिया।

पूर्व में भी राष्ट्रीयता बढ़ी। यहाँ इसका स्वरूप हुआ उन विदेशियों का डटकर मुक़ाबला करना, जो देश पर अधिकार जमाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे। शुरू में पूर्वी देशों के बचे-खुचे पुराने सामन्तों ने विदेशी सत्ता का मुक़ाबला किया, क्योंकि उन्हें अपनी हैसियत छिन जाने का अन्देशा था। वे असफल रहे जैसा कि होना लाज़िमी था। अब एक तरह के मज़हबी नज़रिये में रंगी हुई राष्ट्रीयता उठी। धीरे-धीरे यह मज़हबी रंग ग़ायब हो गया और पश्चिमी ढंग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। जापान विदेशी हुकूमत से तो बच गया, लेकिन वहाँ एक ज़ोरदार आधी-सामन्ती राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया गया।

एशिया ने तो शुरू से ही यूरोपीय हमलों का डटकर मुक़ाबला शुरू कर दिया था। लेकिन जब उसे पता लगा कि यूरोपीय फ़ौजों के हथियार बहुत शक्तिवाले और कारगर हैं, तो यह मुक़ाबला ठंडा पड़ गया। विज्ञान के विकास और मशीनी तरक्क़ी ने इन यूरोपीय फ़ौजों को पूर्व की उस समय की फ़ौजों से बहुत ज्यादा शक्तिशाली बना दिया था। इसलिए पूर्वी देश उनके सामने अपने को बिलकुल बेबस महसूस करने लगे और उन्होंने निराश होकर यूरोप के सामने सिर झुका दिया। कुछ लोगों का कहना है कि पूर्व आत्मा पर ज़ोर देता है और पश्चिम दुनिया की चीज़ों पर। इस तरह का कथन बहुत भ्रम में डालनेवाला है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में, जिस समय यूरोप हमलावर बनकर आया, उस समय पूर्व और पश्चिम का असली फ़र्क़ था पूर्व की मध्यकालीन हालत और पश्चिम की उद्योगी और मशीनी प्रगति। भारत और दूसरे पूर्वी देश शुरू-शुरू में सिर्फ़ यूरोप की फ़ौजी होशियारी से ही नहीं, बल्कि विज्ञान और उद्योगों में उसकी प्रगति से भी चौंधिया गये थे। इस सबके नतीजे से वे अपने-आपको फ़ौजी और उद्योगों के मामलों में गिरा हुआ महसूस करने लगे। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी राष्ट्रीयता पनपी और साथ ही विदेशी हमलों का विरोध करने और विदेशियों को निकाल बाहर करने की इच्छा ने भी ज़ोर पकड़ा। बीसवीं सदी के शुरू में ही एक घटना ऐसी घटी, जिसका एशिया के दिमाग़ पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। यह थी जापान का ज़ार-शाही रूस को हराना। छोटे-से जापान ने यूरोप की एक सबसे बड़ी और सबसे ज़बर्दस्त शक्ति को हरा दिया, इस बात ने बहुत लोगों को अचम्भे में डाल दिया; और पूर्व के लिए तो यह अचम्भा बहुत ही खुशी का था। जापान को अब विदेशी हमलावरी के खिलाफ़ लड़नेवाला एशिया का प्रतिनिधि माना जाने लगा, और उस समय तो वह सारे एशिया में बहुत लोकप्रिय हो गया। पर वास्तव में जापान एशिया का ऐसा कुछ प्रतिनिधि था नहीं; वह तो यूरोप की किसी भी शक्ति की तरह सिर्फ़ अपने ही स्वार्थ के लिए लड़ा था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब जापान की जीतों की ख़बरें आती थीं, तो मुझमें कितना जोश भर जाता था। उस वक़्त मैं लगभग तुम्हारी ही उम्र का था।

इस तरह, जैसे-जैसे यूरोप का साम्राज्यवाद ज्यादा हमलावर होता गया, वैसे-ही-वैसे पूर्व में उसका जवाब देने और विरोध करने के लिए राष्ट्रीयता बढ़ती गई। पश्चिम में अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में मंगोली राष्ट्रों तक, तमाम एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन खड़े होने लगे? शुरू में ये फूंक-फूंककर और मद्धिम चाल से आगे बढ़े और फिर अपनी माँगों में दिन-पर-दिन परले दर्जे के सरगर्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते गये। भारत में ये राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और बालपन के दिन थे। एशिया का विद्रोह शुरू हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी का हमारा सिंहावलोकन अभी पूरा होने को बहुत बाक़ी है। लेकिन यह पत्र काफ़ी लम्बा हो गया है, इसलिए खत्म होना चाहिए।

: १०८ :

उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें

२४ नवम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी को खासियत देनेवाले कुछ लक्षणों का और बड़ी-बड़ी मशीनों के आविष्कार होने के बाद पश्चिमी यूरोप के सिर पर सवार उद्योगों के पूंजीवाद से पैदा हुई बहुत-सी बातों का हाल बताया था। इन सबमें पश्चिमी यूरोप आगे क्यों बढ़ गया, इसका एक सबब था उसके पास कोयले और कच्चे लोहे की खानों का होना। बड़ी-बड़ी मशीनों के बनाने और चलाने के लिए कोयला और लोहा बहुत ज़रूरी थे।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता को पैदा किया। वैसे तो राष्ट्रीयता कोई नई चीज़ नहीं थी। यह पहले भी मौजूद थी, लेकिन अब ज्यादा सरगर्म और तंग होती गई। इसने एक ही साथ लोगों को एक डोरे में बाँधा भी और जुदा-जुदा भी किया; एक ही राष्ट्रीय इकाई में रहने-वाले आपस में एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक आ गये, लेकिन साथ ही उन लोगों से और भी ज्यादा दूर और अलग होते गये, जो दूसरी राष्ट्रीय इकाई में रहते थे। एक तरफ़ हरेक मुल्क़ में देश-भक्ति बढ़ी, तो दूसरी तरफ़ उसके साथ ही विदेशियों को नापसन्द किया जाने लगा और उन पर सन्देह किया जाने लगा। यूरोप के उद्योग-धन्धों में आगे बढ़े हुए देश एक दूसरे को शिकारी जानवरों की तरह घूर रहे थे। इंग्लैण्ड को लूट का माल सबसे ज्यादा मिल गया था, इसलिए वह ज़रूर उससे चिपका रहना चाहता था। लेकिन दूसरे देशों के, खासकर जर्मनी के, विचार से इंग्लैण्ड को हर जगह ज़रूरत से ज्यादा मिला हुआ था। इसलिए टकराहट बढ़ते-बढ़ते अन्त में खुली लड़ाई की नौबत आ गई। उद्योगी पूंजीवाद का सारा ढाँचा और उससे पैदा होनेवाले साम्राज्यवाद का नतीजा यही टकराहट और मुठभेड़ होता है। इनके भीतर ऐसी परस्पर-विरोधी बातें रहती हैं, जिनका आपस में कभी मेल ही नहीं हो सकता, क्योंकि उनका आधार होते हैं टक्कर, होड़ और शोषण। इस तरह पूर्व में साम्राज्यवाद ने जिस राष्ट्रीयता को पैदा किया, वही उसकी कट्टर दुश्मन बन गई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन इन विरोधी बातों के बावजूद भी पूँजीवादी सभ्यता ने बहुत-से काम के सबक़ सिखाये। इसने संगठन का पाठ पढ़ाया, क्योंकि बड़ी-बड़ी मशीनें और बड़े पैमाने के उद्योग तभी चल सकते हैं जब पहले उनका ख़ूब अच्छी तरह संगठन कर लिया जाय। इसने बड़े-बड़े कारोबारों में आपसी सहयोग करना सिखाया। इसने कार्य-कुशलता और वक़्त की पाबन्दी सिखाई।

इन गुणों के बिना बड़े कारखाने या रेलें चलाना सम्भव नहीं है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि ये गुण ख़ास पश्चिमी हैं और पूर्व में इनका अभाव है। लेकिन बहुत-सी दूसरी बातों की तरह इसमें भी पूर्व और पश्चिम का कोई सवाल नहीं है। इन गुणों का विकास उद्योगवाद की वजह से हुआ है; और क्योंकि पश्चिम का औद्योगीकरण हो गया है, इसलिए उसे ये गुण मिल गये हैं; उधर पूर्व अभी तक ज़्यादातर कृषि-प्रधान है, उद्योग-प्रधान नहीं, इसलिए उसमें इनका अभाव है।

उद्योगी पूँजीवाद ने एक और महान् सेवा की। इसने यह सिखाया कि मशीनी उत्पादन से यानी बड़ी-बड़ी मशीनों और कोयले और भाप की सहायता से दौलत किस तरह पैदा की जा सकती है। इससे उस पुराने अन्देशे की भी जड़ कट गई कि दुनिया में सब ज़रूरतें पूरी करने के साधन काफ़ी नहीं हैं और इसलिए ग़रीबों की बहुत बड़ी संख्या हरदम बनी रहेगी। विज्ञान और मशीनों की मदद से दुनिया की आबादी के लिए काफ़ी खाना और कपड़ा और ज़रूरत की हरेक चीज़ तैयार की जा सकती है। इस तरह उत्पादन की समस्या कम-से-कम ख़याली तौर पर तो हल हो गई, लेकिन वह बस यहीं ठहर गई। दौलत तो बेशक बहुतायत से होने लगी, लेकिन फिर भी ग़रीब ग़रीब ही बने रहे, बल्कि और भी ज़्यादा ग़रीब हो गये। यूरोपीय राज में तो पूर्वी और अफ़्रीकी देशों में एकदम नंगा और बेहया शोषण हो रहा था। वहाँ के अभागे निवासियों की परवाह करनेवाला कोई न था। लेकिन पश्चिमी यूरोप में भी ग़रीबी बनी ही रही और दिन-पर-दिन ज़्यादा ज़ाहिर होती गई! कुछ समय के लिए तो बाक़ी दुनिया के शोषण से पश्चिमी यूरोप में ख़ूब दौलत आई। इस दौलत का ज़्यादा हिस्सा उच्च वर्ग के कुछेक मालदार लोगों के पास रहा; हाँ, उसका थोड़ा-सा हिस्सा निचुड़कर ग़रीब वर्गों के पास भी पहुँच गया, और उनके रहन-सहन का स्तर कुछ ऊँचा हो गया। आबादी भी बहुत ज़्यादा बढ़ी।

लेकिन यह दौलत और रहन-सहन के स्तर में यह उन्नति, एशिया, अफ़्रीका और बिना उद्योग-धन्धोंवाले देशों के शोषित लोगों को मारकर आई। इस शोषण ने और दौलत की नदी ने कुछ अर्से के लिए पूँजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातों को ढक दिया। फिर भी धनवानों और ग़रीबों के बीच का फ़र्क़ बढ़ता गया;

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे एक-दूसरे से और भी दूर हो गये। ये दोनों दो अलग-अलग क़ौमें हो गईं, दो अलग-अलग राष्ट्र बन गये। उन्नीसवीं सदी के एक महान् अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ बेन्जामिन डिसरैली ने इनका बयान इस तरह किया है:

> "ये दो राष्ट्र, जिनमें कोई आपसी सम्पर्क नहीं है, कोई सहानुभूति नहीं है; जो एक दूसरे की आदतों, विचारों और भावनाओं से ऐसे अपरिचित हैं, मानो वे अलग-अलग भू-खण्डों के रहनेवाले हों या अलग-अलग ग्रहों के निवासी हों; जो अलग-अलग तरह के व्यवहारों से बने हैं, जिनका पोषण, अलग-अलग तरह के भोजन से हुआ है, जिनके आचार-व्यवहार के ढँग अलग-अलग हैं, और जिनका शासन भी एकसे क़ानूनों से नहीं होता....मालदार और ग़रीब!"

उद्योग-धन्धों की नई हालतें मज़दूरों की एक बड़ी संख्या को बड़े कारखानों में लाईं, और इस तरह कारखाने के मज़दूरों का एक नया वर्ग पैदा हुआ। ये लोग किसानों और खेत पर काम करने वाले मज़दूरों से बहुत-सी बातों में जुदा थे। किसान को बहुत-कुछ मौसमों और वर्षा के आसरे रहना पड़ता है। ये बातें उसके वश में नहीं हैं, और इसलिए वह सोचने लगता है कि उसकी मुसीबत और ग़रीबी दैवी कारणों से है। वह अन्धविश्वासी हो जाता है, आर्थिक कारणों का विचार नहीं करता, एक नीरस और निराश जीवन बिताने लगता है और अपने-आपको एक ऐसे निर्दयी भाग्य के भरोसे छोड़ देता है. जिसे वह बदल नहीं सकता। लेकिन कारखाने का मज़दूर मशीनों पर, इन्सान की बनाई हुई चीज़ पर, काम करता है; मौसमों और वर्षा की परवाह किये बिना वह माल तैयार करता रहता है; वह दौलत पैदा करता है, लेकिन वह देखता है कि इस दौलत का बड़ा हिस्सा दूसरों के पास चला जाता है और वह ग़रीब-का-ग़रीब ही बना रहता है। कुछ हद तक वह आर्थिक नियमों को भी काम करते हुए देखता है। इसलिए वह दैवी कारणों का विचार नहीं करता और किसान की तरह अन्ध-विश्वासी नहीं होता। अपनी ग़रीबी के लिए वह देवी-देवताओं को दोष नहीं देता; वह दोषी ठहराता है समाज को या सामाजिक व्यवस्था को, और ख़ासकर कारखाने के पूँजीपति मालिक को, जो उसकी मज़दूरी के मुनाफ़े का इतना बड़ा हिस्सा हज़म कर जाता है। वह वर्ग-चेतन बन जाता है; उसे कई तरह के वर्ग दिखाई देने लगते हैं, और वह देखता है कि ऊँचे वर्ग उसके वर्ग को नीच-नोचकर खा रहे हैं। इसका नतीजा होता है बेज़ारी और विद्रोह। बेज़ारी की शुरुआती शिकायतें धुंधली और धीमी होती हैं; शुरू के बलवे अन्धे, विचार-हीन और कमज़ोर होते हैं और सरकार उन्हें आसानी से कुचल देती है। क्योंकि वह भी तो अब बड़े कारखानों और उनकी शाखाओं को चलानेवाले मध्यम वर्ग के हितों की ही पूरी प्रतिनिधि होती है। लेकिन पेट की आग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ज्यादा दिनों तक दबाकर नहीं रक्खा जा सकता, और जल्द ही ग़रीब मज़दूर को अपने साथियों की एकता में ताक़त का एक नया भण्डार मिल जाता है। इसलिए मज़दूरों को बचाने और उनके अधिकारों की लड़ाई के वास्ते ट्रेड यूनियनें (मजदूर संघ) बनती हैं। शुरू में खुफ़िया तौर पर काम करती हैं, क्योंकि सरकार मज़दूरों को अपना संगठन भी नहीं करने देना चाहती। यह दिन-पर-दिन ज़ाहिर होता जाता है कि सरकार पूरी तरह से एक वर्ग की सरकार है, और हर तरह से उसी वर्ग की हिफ़ाज़त करने पर तुली होती है, जिसकी वह प्रतिनिधि होती है। क़ानून भी उसी वर्ग के लिए बनाये जाते हैं। धीरे-धीरे मज़दूर मज़बूती हासिल करते जाते हैं और उनकी ट्रेड-यूनियनें ताक़तवर संगठन बनती जाती हैं। अलग-अलग क़िस्म के मज़दूर देखते हैं कि सत्ताधारी शोषक-वर्ग के खिलाफ़ उनके हित असल में एक ही हैं। इसलिए अलग-अलग ट्रेड-यूनियनें आपस में सहयोग कर लेती हैं और एक देश के कामगरों का एक संगठित समुदाय बन जाता है। इससे अगला क़दम है अलग-अलग देशों के मज़दूरों का आपस में मिल जाना, क्योंकि वे भी यह महसूस करते हैं हैं कि उनके भी हित एक ही हैं और सबका एक ही दुश्मन है। इस तरह 'दुनिया के मज़दूरो एक हो जाओ' का नारा उठता है, और मज़दूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन क़ायम होते हैं। इस बीच पूंजीवादी उद्योग भी आगे बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है। इस तरह जहाँ कहीं भी उद्योगी पूंजीवाद फूलता-फलता है, वहीं मज़दूर-वर्ग पूंजीवाद के मुक़ाबले में खड़ा हो जाता है।

मैं बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ गया हूँ और अब मुझे पीछे लौटना चाहिए। लेकिन उन्नीसवीं सदी की यह दुनिया, बहुत-से परस्पर-विरोधी झुकावों का जंजाल है, जिन सबको नज़रों में रखना मुश्किल है। मैं सोचता हूँ कि पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद और राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता और दौलत और ग़रीबी की इस अजीब खिचड़ी से तुम क्या समझोगी? लेकिन जीवन खुद ही एक अजीब खिचड़ी है। यह जैसा भी है, वैसा ही इसे मानना चाहिए और समझना चाहिए, और तब सुधारना चाहिए।

बेमेल बातों के इस जंजाल ने यूरोप और अमेरिका के बहुत-से लोगों को सोच में डाल दिया। सदी की शुरुआत में नेपोलियन के पतन के बाद किसी यूरोपीय देश में स्वतन्त्रता का नाम भी नहीं था। कुछ देशों में तो बादशाहों का निरंकुश शासन था, और इंग्लैण्ड जैसे कुछ देशों में छोटे-से अमीर वर्ग और मालदार वर्ग के हाथों में हुकूमत थी। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, उदार तत्वों का हर जगह दमन किया जा रहा था। लेकिन इस पर भी अमेरिका और फ़्रान्स की राज्य-क्रान्तियों ने उदार विचारकों को लोकतंत्र और राजनीतिक स्वतन्त्रता के विचारों का बोध करा दिया था, और वे उसकी कद्र करने लगे थे। वास्तव में लोकतन्त्र ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य की और जनता की सब बुराइयों और तक़लीफ़ों का अकेला इलाज समझा जाने लगा। लोकतन्त्री आदर्श यह था कि कोई ख़ास रियायतें न हों, राज्य हरेक व्यक्ति को राजनीतिक और समाजी हैसियत से बराबर हैसियत का समझकर बर्ताव करे। यह ठीक है कि लोग कई बातों में एक-दूसरे से बहुत फ़र्क़ रखते हैं; कुछ लोग दूसरों की बनिस्बत ज़्यादा मज़बूत होते हैं, कुछ ज़्यादा बुद्धिमान और कुछ कम स्वार्थी होते हैं। लेकिन लोकतन्त्र में विश्वास रखनेवालों का कहना था कि मनुष्यों में चाहे जो फ़र्क़ हों, उनका राजनीतिक दर्जा एक ही रहना चाहिए और इसे वह हरेक को वोट का हक़ देकर क़ायम करना चाहते थे। आगे बढ़े हुए विचारक और उदार विचारोंवाले लोग लोकतन्त्र की ख़ूबियों में दिली विश्वास रखते थे, और उसे क़ायम करने के लिए सिर-तोड़ कोशिशें करते थे। पुरातन-पंथी और प्रगतिगामी लोगों ने उनका विरोध किया, जिससे हर जगह ज़बर्दस्त खींच-तान शुरू हो गई। कुछ देशों में क्रान्तियाँ भी हो गईं। वोट का अधिकार बढ़ाने, यानी पार्लमेण्ट के सदस्यों को चुनने का अधिकार कुछ ज़्यादा लोगों को दिये जाने से पहले इंग्लैण्ड भी गृह-युद्ध के किनारे ही खड़ा था। लेकिन धीरे-धीरे ज़्यादातर जगहों में लोकतन्त्र की विजय हुई, और इस सदी के अन्त तक पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में ज़्यादातर लोगों को कम-से-कम वोट का अधिकार तो मिल ही गया। लोकतन्त्र उन्नीसवीं सदी का एक महान् आदर्श रहा है, यहाँतक कि इस सदी को लोकतन्त्र की सदी भी कहा जा सकता है। अन्त में लोकतन्त्र की जीत हुई, लेकिन जब यह अन्त आया तो लोगों का इस पर से विश्वास ही उठने लगा। उन्होंने देखा कि यह ग़रीबी और मुसीबतों और पूँजीवादी प्रणाली की बहुत-सी परस्पर-विरोधी बातों को ख़त्म करने में नाकामयाब रही। भूखे आदमी को वोट का अधिकार मिलने से क्या फ़ायदा हुआ? और अगर उसका वोट या उसकी सेवाएँ एक समय के भोजन की क़ीमत में खरीदी जा सकती थीं तो उसे मिली हुई स्वतन्त्रता का क्या नाप था? इसलिए लोकतन्त्र बदनाम हो गया या यों कहना ठीक होगा कि राजनीतिक लोकतन्त्र लोगों की निगाह में गिर गया। लेकिन यह बात उन्नीसवीं सदी के दायरे से बाहर की है।

लोकतन्त्र का ताल्लुक़ स्वतन्त्रता के राजनीतिक पहलू के साथ था। निरंकुशता व दूसरी स्वेच्छाचारी हुकूमतों के ख़िलाफ़ यह एक उलटी-क्रिया थी। उस समय पैदा होनेवाली उद्योगी समस्याओं का या ग़रीबी का या वर्ग-संघर्ष का इसके पास कोई हल नहीं था। इस आशा से कि व्यक्ति निजी हितों को ध्यान में रखकर अपने को हर तरह से सुधारने की कोशिश करेगा और इस तरह समाज तरक्क़ी करेगा, इसने हरेक व्यक्ति को अपने रुझान के अनुसार काम करने की ख़याली आज़ादी पर ज़ोर दिया। यह दखल न देने की नीति थी, जिसके बारे में, मैं शायद अपने किसी पहले पत्र में लिख चुका हूँ। लेकिन व्यक्ति की आज़ादी का मत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चला नहीं, क्योंकि जिस आदमी को मज़दूरी पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता हो, उसका आज़ाद रहना बहुत दूर की बात है।

उद्योगी पूँजीवाद की प्रणाली में बड़ी भारी दिक्क़त यह पैदा हुई कि जो लोग काम करते और इस तरह समाज की सेवा करते थे, उन्हें बहुत कम मज़दूरी मिलती थी; सारा मुनाफ़ा मिलता था उन दूसरे लोगों को जो बिलकुल काम नहीं करते थे। इस तरह मुनाफ़ों का मेहनत से नाता तोड़ दिया गया। इसका नतीजा एक तरफ़ तो हुआ मेहनतकशों का पतन और ग़रीबी, और दूसरी तरफ़ ऐसे वर्ग का जन्म, जो उद्योग में किसी तरह का काम किये बिना, या उसकी दौलत में किसी तरह की तरक्क़ी किये बिना ही, उसके आसरे जीता था या यों कहो कि उसका खून चूसकर पनपता था। यह ऐसा था जैसे कि एक तो किसान-वर्ग, जो खेत पर काम करता है, और दूसरा ज़मींदार, जो खुद खेत पर काम किये बिना ही किसानों की मेहनत का फ़ायदा उठाता है। मेहनत के फल का यह बँटवारा बिलकुल अन्यायपूर्ण था; अन्याय को सदियों से सताये हुए किसान ने तो महसूस नहीं किया था, लेकिन मज़दूर ने महसूस किया, और बहुत नापसन्द किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, उसकी यह नाराज़गी बढ़ती चली गई। पश्चिम के सभी उद्योग-प्रधान देशों में ये फ़र्क़ साफ़ नज़र आने लगे और विचारवान व लगनवाले लोग इस उलझन को सुलझाने की कोशिश करने लगे। इस तरह वह विचारधारा पैदा हुई, जिसे समाजवाद कहा जाता है, जो पूँजीवाद की उपज है और उसका दुश्मन भी है, और जो शायद किसी दिन उसको उखाड़कर उसकी जगह ले लेगा। इंग्लैण्ड में तो इसने मद्धिम रूप ले लिया, लेकिन फ़्रान्स और जर्मनी में यह ज़्यादा क्रान्तिकारी था। संयुक्त राज्य अमेरिका में उसके विस्तार के मुक़ाबले में आबादी कम होने की वजह से बढ़ोतरी की काफ़ी गुंजाइश थी, इसलिए पूँजीवाद ने पश्चिमी यूरोप में जो अन्याय किये और जो मुसीबतें ढाईं वे उस हद तक अमेरिका में बहुत दिनों तक दिखाई नहीं दिये।

उन्नीसवीं सदी के बीच में जर्मनी में एक व्यक्ति पैदा हुआ, जो आगे चलकर समाजवाद का पैग़म्बर और समाजवाद के उस रूप का जनक माना जानेवाला था जो साम्यवाद कहलाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह सिर्फ़ धुंधले विचारोंवाला दार्शनिक या इल्मी सिद्धान्तों की चर्चा करनेवाला प्रोफ़ेसर नहीं था। वह एक व्यावहारिक दार्शनिक था और उसका तरीक़ा था विज्ञान की तकनीक को राजनीतिक व आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में लगाकर दुनिया के दुखों का इलाज खोज निकालना। उसका कहना था—"अबतक फ़िलासफ़ी का काम सिर्फ़ संसार की व्याख्या करना रहा है; साम्यवादी फ़िलासफ़ी का लक्ष्य होना चाहिए दुनिया को बदल देना।" ऐंजेल्स नामक एक दूसरे व्यक्ति के सहयोग से उसने 'साम्यवादी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोषणापत्र'[1] निकाला, जिसमें उसकी फिलासफ़ी की रूप-रेखा दी गई थी। बाद में उसने जर्मन भाषा में एक मोटी पुस्तक 'पूंजी'[2] लिखी, जिसमें उसने वैज्ञानिक ढँग से दुनिया के इतिहास की आलोचना की और यह बताया कि समाज का विकास किस दिशा में हो रहा है और इस प्रक्रिया की रफ़्तार किस तरह बढ़ाई जा सकती हैं। यहाँ मैं मार्क्स की फ़िलासफ़ी समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। लेकिन तुम्हें यह ज़रूर याद रखना चाहिए कि मार्क्स के इस महाग्रंथ का साम्यवाद के विकास पर ज़बर्दस्त असर पड़ा और आज यह साम्यवादी रूस की 'बाइबिल' बन गया है।

दूसरी मशहूर पुस्तक, जो इस सदी के बीच के लगभग इंग्लैण्ड में निकली, और जिसने बड़ी खलबली पैदा कर दी, डार्विन की 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़'[3] थी। डार्विन प्रकृति शास्त्री था, यानी वह प्रकृति (क़ुदरत) के और ख़ासकर बनस्पतियों व जीव-जन्तुओं के, निरीक्षण व अध्ययन में लगा रहता था। बहुत-से नमूनों की मदद से उसने यह बतलाया कि प्रकृति में वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं का विकास कैसे हुआ, प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया से किस तरह एक वर्ग दूसरे में बदल गया और किस तरह जीवों के सरल रूप धीरे-धीरे ज्यादा पेचीदा बन गये। इस तरह का वैज्ञानिक तर्क संसार की और जीव-जन्तुओं व मनुष्य की सृष्टि के बारे में कुछ मज़हबी उपदेशों के बिलकुल ख़िलाफ़ पड़ता था। इसलिए उस समय वैज्ञानिकों और इन उपदेशों में विश्वास रखनेवालों के बीच एक बड़ा वाद-विवाद पैदा हो गया। तथ्यों के बारे में असली झगड़ा इतना नहीं था, जितना सारी ज़िन्दगी की तरफ़ रुख के बारे में। तंग मज़हबी रुख ज्यादातर भय, जादू-टोना और अन्ध-विश्वास का था। तर्क को बढ़ावा नहीं दिया जाता था और लोगों से कहा जाता था कि जो कुछ उन्हें बतलाया जाय, उसी में विश्वास करें, यह सवाल न करें कि ऐसा क्यों होता है। बहुत-से विषय पवित्रता और दीनदारी के रहस्यवादी ग़िलाफ़ में लपेट दिये गए थे और उन्हें खोलने या छूने की मनाही थी। विज्ञान की भावना व तरीक़े इससे बिलकुल जुदा थे। विज्ञान तो हरेक चीज़ की खोज करना चाहता था, किसी बात को बिना किसी नतु-नच के मानने के लिए तैयार नहीं था, न किसी विषय की मानी हुई पवित्रता से डरकर भागनेवाला था। वह हरेक बात की गहराई में जाता था, अन्ध-विश्वासों को दूर भगाता था और सिर्फ़ उन्हीं बातों में विश्वास करता था, जो प्रयोग या तर्क से साबित की जा सकती हों।

पथराये हुए इस मज़हबी रुख के साथ लड़ाई में विज्ञान की भावना की जीत हुई। इन बातों पर विचार करनेवाले ज्यादातर लोग पहले ही, शायद अठारहवीं

---

[1] Communist Manifesto by Marx and Engels.
[2] Das Capital. [3] Origin of Species—"प्राणिवर्ग की उत्पत्ति"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदी से ही, बुद्धिवादी हो गये थे। तुम्हें याद होगा कि क्रान्ति से पहले फ्रान्स में दार्शनिक विचारों की लहर का मैंने तुमसे ज़िक्र किया था। लेकिन अब यह परिवर्तन समाज के अन्दर और भी गहरा पहुँच गया। औसत दर्जे के पढ़े-लिखे आदमी पर भी अब विज्ञान की प्रगति का असर पड़ने लगा। वह शायद इस विषय पर बहुत गहराई से विचार नहीं करता था और न विज्ञान के बारे में उसकी ज्यादा जानकारी ही थी। लेकिन फिर भी वह अपने सामने खुलनेवाले आविष्कारों और खोजों के हजूम से चकित हुए बिना न रह सका। रेल, बिजली, तार, टेलीफ़ोन, ग्रामोफ़ोन और ऐसी ही बहुत-सी चीज़ें एक के बाद दूसरी निकलती रहीं और ये सब विज्ञान के तरीक़ों की ही सन्तानें थीं। इनका विज्ञान की कामयाबियों के रूप में उत्साह से स्वागत किया गया। लोगों ने देखा कि विज्ञान ने सिर्फ़ मनुष्य का ज्ञान ही नहीं बढ़ाया बल्कि प्रकृति पर मनुष्य का क़ाबू भी बढ़ा दिया। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं कि अन्त में विज्ञान की जीत हुई और लोगों ने इस सारी शक्तियोंवाले नये देवता के सामने भक्ति-भाव से सिर झुका दिया। उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक बिलकुल निचन्त हो गये और अपने को अफ़लातून समझने लगे और उन्होंने अपनी पक्की रायें बना लीं। पचास वर्ष पहले के उन दिनों से अब तक विज्ञान ने बड़ी भारी प्रगति कर ली है, लेकिन आज का रुख, उन्नीसवीं सदी के उस निचन्ती व अफ़लातूनी रुख से बहुत जुदा है। आज का सच्चा विज्ञानी महसूस करता है कि ज्ञान का महासागर बहुत लम्बा-चौड़ा और असीम है, और हालाँकि वह इसे पार करने की कोशिश में है, फिर भी वह पहले के वैज्ञानिकों की दरिस्वत कम घमण्डी और कम हठी है।

उन्नीसवीं सदी का दूसरा मार्के का पहलू था पश्चिम में लोक-शिक्षा की भारी प्रगति। शासक वर्गों के बहुत-से लोगों ने इसका बड़े ज़ोरों से विरोध किया। उनका कहना था कि इससे आम लोग अपनी हालत से बेज़ार हो जायँगे, और राज-द्रोही, गुस्ताख़ व अ-ईसाई बन जायँगे! इस दलील के मुताबिक़ ईसाइयत का अर्थ है अज्ञान, और मालदारों व सत्ताधारियों का हुक्म राज़ी-राज़ी बजाना। लेकिन इस विरोध के बावजूद प्राइमरी स्कूल खोले गये और लोक-शिक्षा का फैलाव हुआ। उन्नीसवीं सदी की दूसरी बहुत-सी खास बातों की तरह यह भी नये उद्योगवाद का ही एक नतीजा था। क्योंकि बड़े-बड़े कारखानों और बड़ी मशीनों के लिए उद्योगी कुशलता की ज़रूरत थी और यह सिर्फ़ शिक्षा से ही पैदा की जा सकती थी। उस ज़माने के समाज को सब तरह के कारीगर मज़दूरों की सख्त ज़रूरत थी; उसकी यह ज़रूरत लोक-शिक्षा से पूरी हुई।

प्रारम्भिक शिक्षा के इस चौ-तरफ़ा फैलाव ने पढ़े-लिखे लोगों का एक बहुत बड़ा वर्ग पैदा कर दिया। ये शिक्षित तो नहीं कहे जा सकते थे, लेकिन पढ़-लिख

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते थे, और इस तरह अखबार पढ़ने की आदत चल पड़ी। सस्ते अखबार निकले और उनका बड़ा भारी प्रचार हुआ। लोगों के दिमाग़ों पर ये ज़बर्दस्त असर डालने लगे। यह असर ऐसा हुआ कि अक़्सर लोगों में ग़लतफ़हमियाँ फैला देते थे और उनकी भावनाओं को किसी पड़ौसी देश के खिलाफ़ उभाड़ देते थे, जिससे युद्ध ठन जाता था। लेकिन कुछ भी हो, 'प्रेस' यानी 'अखबारी-वर्ग' पक्के तौर पर ऐसी शक्ति बन गया, जिसे दर-गुज़र नहीं किया जा सकता था।

जो कुछ मैंने इस पत्र में लिखा है, वह ज्यादातर यूरोप पर, और खासकर पश्चिमी यूरोप पर, लागू होता है। कुछ हद तक उत्तरी अमेरिका पर भी लागू होता है। दुनिया के बाक़ी हिस्से और जापान व अफ़्रीका को छोड़कर तमाम एशिया और यूरोप की नीति को चुपचाप देखनेवाले और उसकी मार को सहनेवाले एजेण्ट रह गये। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी यूरोप की सदी थी। सारी तसवीर यूरोप से ही भरी हुई दिखाई देती थी; यूरोप दुनिया के रंगमंच के बीच में खड़ा हुआ था। पुराने ज़माने में ऐसे भी लम्बे-लम्बे अर्से हो चुके हैं, जबकि यूरोप पर एशिया का दबदबा था। ऐसे भी ज़माने थे जब मिस्र, ईरान, भारत, चीन, यूनान, रोम या अरब में सभ्यता और उन्नति के केन्द्र थे। मगर पुरानी सभ्यताओं की जान निकल गई और वे पथरा गईं और उनके सिर्फ़ निशान बाक़ी रह गये। परिवर्तन और उन्नति के जानदार तत्व उनमें से निकल गये और जान दूसरे मुल्कों में चली गई। अब यूरोप की बारी थी; और यूरोप इसलिए और भी ज्यादा हावी हो गया कि आवा-जाई के साधनों की प्रगति ने दुनिया के सब हिस्सों में आसानी से और बहुत जल्दी पहुँचना सम्भव कर दिया था।

उन्नीसवीं सदी ने यूरोपीय सभ्यता को फूलते-फलते देखा। इसे मध्यम-वर्गी (बुर्जुआ) सभ्यता कहा जाता है, क्योंकि उद्योगी पूंजीवाद से पैदा हुआ मध्यमवर्ग ही इस पर हावी था। मैं तुम्हें इस सभ्यता की बहुत-सी परस्पर-विरोधी और खराब बातें बतला चुका हूँ। हम भारत और पूर्व के निवासियों ने खास तौर पर इन खराबियों को देखा और उनकी मार सही। लेकिन कोई भी देश या क़ौम महानता के दर्जे पर नहीं पहुंच सकती, जबतक कि उसमें महानता का थोड़ा-बहुत माद्दा न हो। पश्चिमी यूरोप में वह माद्दा था। यूरोप की शान आखिर उसकी फ़ौजी ताक़त पर इतनी टिकी हुई नहीं थी, जितनी उन गुणों पर, जिन्होंने कि उसे महान् बनाया। यहाँ सब जगह जान और जानदारी और रचना-शक्ति की बहुतायत थी। बड़े-बड़े कवि, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, संगीतज्ञ, इंजीनियर और कर्मवीर वहाँ पैदा हुए। और इसमें कोई शक नहीं कि पश्चिमी यूरोप में एक अदना आदमी की हालत भी इतनी अच्छी थी, जितनी पहले कभी नहीं रही। लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क आदि राजधानियाँ दिन-पर-दिन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ते गईं; उनकी इमारतें दिन-पर-दिन ऊँची होती गईं, विलास बढ़ता गया, और विज्ञान ने मनुष्य की कड़ी मेहनत और मशक़्क़त को कम करनेवाले और जीवन का सुख व आनन्द बढ़ानेवाले हज़ारों तरीक़े ढूंढ़ निकाले। आसूदा लोगों के जीवन में मिठास और संस्कृति आ गई और वे कुछ हाल-मस्त, मग़रूर और नाज़ुक-मिज़ाज बन गये। यह सभ्यता की एक सुहावनी तिपहरी या शाम जैसी मालूम होती है।

इस तरह उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप की खुशनुमा और खुशहाल शक़्ल बन गई थी, और कम-से-कम ऊपर से ऐसा मालूम होता था कि यह मधुर संस्कृति और सभ्यता क़ायम रहेगी और सफलता-पर-सफलता हासिल करती जायगी। लेकिन अगर कोई इसकी तह के नीचे झाँककर देखता तो उसे एक अजीब हलचल और बहुत-से बदनुमा नज़ारे दिखाई देते। क्योंकि, बहुत करके यह खुशहाल संस्कृति सिर्फ़ यूरोप के ऊँचे वर्गों के लिए थी और बहुत-से देशों और बहुत-सी क़ौमों के शोषण पर टिकी हुई थी। तुम्हें इसमें कुछ परस्पर-विरोधी बातें, जिनका ज़िक्र मैंने किया था, और राष्ट्रीय वैर-भाव व साम्राज्यवाद की कठोर व ज़ालिम शक़्ल दिखाई देगी। तब तुम्हारा उन्नीसवीं सदी की इस सभ्यता के टिकाऊपन में या जादू में इतना विश्वास न रहेगा। इसका ऊपरी शरीर तो काफ़ी सुन्दर था, लेकिन इसके भीतर एक नासूर था; इसकी सेहत और प्रगति की तो बड़ी चर्चा थी, लेकिन इस मध्यमवर्गी सभ्यता के मर्म-स्थानों में दीमक लग गई थी।

और १९१४ ई० में एकदम भड़ाका हुआ। सवा चार वर्ष की लड़ाई के बाद यूरोप उसमें से बच ज़रूर निकला, लेकिन ऐसे भयंकर घावों के साथ, जो अभी तक भरे नहीं हैं। लेकिन इस बारे में मैं तुम्हें फिर बताऊंगा।

: १०९ :

भारत में युद्ध और विद्रोह

२७ नवम्बर, १९३२

हमने उन्नीसवीं सदी का काफ़ी लम्बा सिंहावलोकन किया है। आओ, अब हम दुनिया के कुछ हिस्सों पर ज़्यादा बारीक़ी से ग़ौर करें। हम भारत से शुरू करेंगे।

कुछ समय पहले मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेज़ों ने किस तरह अपने मुक़ाबलेदारों पर विजय पाई। नेपोलियनी युद्धों के दिनों में फ़्रान्सीसी यहाँ से पूरी तरह उखाड़ फेंके गये थे। मराठों, मैसूर के टीपू सुलतान और पंजाब के सिक्खों ने अंग्रेज़ों को कुछ समय तक रोके रक्खा, लेकिन वे ज़्यादा दिनों तक उनका मुक़ाबला नहीं कर सके। ज़ाहिर है कि अंग्रेज़ सबसे ज़्यादा ताक़तवर और हरबे-हथियारों से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लैस शक्ति थे। उनके हथियार बढ़िया थे, उनका संगठन बढ़िया था, और इन सबसे ऊपर उनकी समुद्री शक्ति थी, जिसका वे सहारा ले सकते थे। अगर वे हार भी जाते, जैसा कि अक्सर होता था, तो भी उन्हें उखाड़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि समुद्री रास्तों पर उनका क़ब्ज़ा होने की वजह से वे दूसरे साधनों की मदद ले सकते थे। लेकिन देशी ताक़तों के लिए तो हार का अक्सर मतलब था पूरी तबाही, जिसका कोई इलाज नहीं हो सकता था। अंग्रेज़ सिर्फ़ ज्यादा सामान से लैस, लड़ाके और अच्छी संगठन-शक्तिवाले ही न थे, बल्कि वे अपने मुक़ामी मुक़ाबलेदारों से कहीं ज्यादा चालाक भी थे, और उनकी आपसी दुश्मनियों से पूरा फ़ायदा उठाते रहते थे। इसलिए अंग्रेज़ों की ताक़त होनहार की तरह बढ़ती गई और एक-एक करके सब मुक़ाबलेदार पछाड़ दिये गए। एक को पछाड़ने में अक्सर दूसरों की भी मदद ली गई और फिर इनकी भी बारी आ गई। ताज्जुब की बात है कि भारत के ये सामन्ती सरदार उस समय ज़रा भी दूरन्देश न थे। बाहरी दुश्मन के खिलाफ़ आपस में मिलकर एक हो जाने का उन्होंने ख़याल तक नहीं किया। हरेक अकेले हाथों लड़ता था और हार जाता था, और यही उसका मानना था।

जैसे-जैसे अंग्रेज़ों की ताक़त बढ़ती गई, वह दिन-पर-दिन ज्यादा हमलावर और सरकश होती गई। वह किसी बहाने से, या बिना किसी बहाने के ही युद्ध छेड़ने लगी। ऐसे बहुत-से युद्ध हुए। उन सबका हाल लिख कर मैं तुम्हें उकताना नहीं चाहता। युद्ध कोई सुहावने विषय नहीं हैं, और इन्हें इतिहास में ज़रूरत से बहुत ज्यादा महत्व दे दिया गया है। लेकिन अगर मैं इनके बारे में थोड़ा-बहुत भी न कहूँ तो तसवीर अधूरी रह जायगी।

मैसूर के हैदरअली और अंग्रेज़ों के बीच हुए दो युद्धों का हाल मैं तुम्हें पहले बता चुका हूं। इनमें हैदरअली बहुत हद तक सफल रहा। उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों का कट्टर दुश्मन था। उसे ख म करने के लिए दो और युद्ध हुए, एक १७९० से १७९२ ई० तक और दूसरा १७९९ ई० में। टीपू लड़ता हुआ मारा गया। मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के खण्डहर देख सकती हो, जहाँ वह दफ़नाया गया था।

अब अंग्रेज़ों की सत्ता को चुनौती देनेवाले मराठे बाक़ी रह गये। पश्चिम में पेशवा था, और ग्वालियर का सिन्धिया, इन्दौर का होल्कर व कुछ दूसरे सरदार भी थे। लेकिन दो बड़े मराठे राजनीतिज्ञों की मृत्यु—ग्वालियर के महादजी सिन्धिया की १७९४ ई० में और पेशवा के मन्त्री नाना फड़नवीस की १८०० ई०—के बाद, मराठों की ताक़त तहस-नहस हो गई। फिर भी मराठों ने बहुत-सी टक्करें लीं, और १८१९ ई० में आख़िरी हार के पहले, उन्होंने अंग्रेज़ों को कई बार हराया। मराठे सरदार एक-एक करके हरा दिये गए; हरेक सरदार दूसरे को मदद न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुँचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धियाँ और होल्कर अंग्रेज़ों की प्रभुता क़बूल करके मातहती शासक बन गये। बड़ौदा के गायकवाड़ ने तो पहले ही विदेशी शक्ति के साथ समझौता कर लिया था।

मराठों का हाल ख़त्म करने के पहले मैं एक नाम का ज़िक्र कर देना चाहता हूँ, जो मध्य-भारत में काफ़ी मशहूर हो चुका है। यह नाम है अहिल्याबाई का, जो १७६५ से १७९५ ई० तक यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की रानी थी। जिस समय वह गद्दी पर बैठी, वह तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य के प्रशासन में वह बड़ी खूबी से सफल रही। अलबत्ता उसने पर्दा कभी नहीं किया। मराठों ने कभी पर्दे को नहीं माना। वह ख़ुद राज्य का कारोबार देखती थी, खुले दरबार में बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे-से गाँव से बढ़ाकर मालदार शहर बना दिया। उसने युद्धों को टाला, शान्ति क़ायम रक्खी, और अपने राज्य को ऐसे समय में ख़ुशहाल बनाया, जबकि भारत का ज़्यादातर हिस्सा उथल-पुथल की हालत में था। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं है कि आज भी वह मध्य-भारत में सती की तरह पूजी जाती है।

आख़िरी मराठा-युद्ध से कुछ ही पहले, १८१४ से १८१६ ई० तक, अंग्रेज़ों का नेपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाड़ी इलाक़े में उन्हें बड़ी दिक्क़तें उठानी पड़ीं, लेकिन आख़िर में उनकी जीत हुई और देहरादून का यह ज़िला, जहाँ पर जेल में बैठा हुआ मैं यह लिख रहा हूँ, और कुमायूँ और नैनीताल, अंग्रेज़ी हुकूमत में आ गये। तुम्हें शायद याद होगा कि चीन के बारे में एक पत्र में मैंने तुम्हें चीन की फ़ौज के अद्भुत कारनामों का हाल लिखा था कि वह तिब्बत को लाँघकर हिमालय के ऊपर होकर चली आई और गुरखों को उन्हीं के घर, नेपाल में, हरा गई। यह घटना ब्रिटिश-नेपाल युद्ध से सिर्फ़ बाईस बरस पहले की है। तबसे नेपाल ने बाक़ायदा चीन की अधीनता क़बूल कर ली, लेकिन मेरा ख़याल है कि अब वह बात नहीं है। नेपाल एक निराला देश है, जो बहुत पिछड़ा हुआ और बाक़ी दुनिया से बहुत कटा हुआ है। लेकिन फिर भी उसकी जगह बड़ी सुहावनी है और यह क़ुदरती दौलत का भण्डार है। कश्मीर और हैदराबाद की तरह यह मातहती राज्य नहीं है। यह स्वाधीन राज्य कहलाता है। लेकिन अंग्रेज़ इस बात की सावधानी रखते हैं कि इसकी स्वाधीनता सीमा के अन्दर ही रहे और नेपाल के बहादुर और रण-बाँकुरे लोग—गुरखे—भारत की अंग्रेज़ी फ़ौजों में भरती किये जाते हैं और उनका इस्तेमाल भारतवासियों को दबाये रखने के लिए किया जाता है।

पूर्व में बरमा असम तक फैल गया था। इसलिए लगातार आगे बढ़नेवाले अंग्रेज़ों से उसकी टक्कर होना लाज़िमी था। बरमा से तीन युद्ध हुए, और हर बार अंग्रेज़ उसका कोई-न-कोई इलाक़ा छीनते गये। १८२४-२६ ई० में होनेवाले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले युद्ध का नतीजा हुआ असम का अंग्रेज़ों की अधीनता में आना। १८५२ ई० के दूसरे युद्ध में दक्षिणी बरमा क़ब्ज़े में किया गया। उत्तरी बरमा, जिसकी राजधानी मांडले के पास आवा में थी, समुद्र से बिलकुल दूर कर दिया गया, और इस तरह कट जाने पर अंग्रेज़ों की मुट्ठी में आ गया। १८८५ ई० में, बरमा से तीसरा और आख़िरी युद्ध हुआ, और सारे देश पर अंग्रेज़ों ने अपना क़ब्ज़ा करके उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। लेकिन फ़र्ज़ी तौर पर बरमा चीन का ताबेदार था और बराबर चीन को ख़िराज भेजता रहता था। ध्यान देने की अनोखी बात यह है कि बरमा को साम्राज्य में शामिल करते वक़्त अंग्रेज़ लोग चीन भेजे जानेवाले इस ख़िराज को जारी रखने के लिए रज़ामन्द हो गये। इससे ज़ाहिर होता है कि १८८५ ई० में भी वे चीन की ताक़त से काफ़ी घबराते थे, हालाँकि चीन अपनी अन्दरूनी मुसीबतों में ऐसा फँसा हुआ था कि वह अपने ताबेदार बरमा पर हमला होते वक़्त उसकी मदद न कर सका। अंग्रेज़ों ने १८८५ ई० के बाद एक बार तो चीन को यह ख़िराज दिया और फिर बन्द कर दिया।

बरमा के युद्ध हमें १८८५ ई० तक ले आये हैं। मैं इन सबको एक साथ लेना चाहता था। लेकिन अब हमें दुबारा उत्तरी भारत की तरफ़, और इसी सदी के शुरू के भाग में, चलना चाहिए। पंजाब में रञ्जीतसिंह के मातहत एक महान् सिक्ख-राज्य क़ायम हो गया था। सदी के शुरू में ही रञ्जीतसिंह अमृतसर का स्वामी हुआ, और १८२७ ई० के क़रीब तमाम पंजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। १८३९ ई० में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद ही सिक्ख राज्य कमज़ोर हो गया और टूटने लगा। सिक्ख लोग इस पुरानी कहावत की मिसाल पेश करते हैं कि "मुसीबत में आदमी ऊँचा उठता है, और सफलता मिलने के बाद गिर जाता है।" जबतक सिक्ख एक अल्पसंख्यक गिरोह थे, जो जान बचाने के लिए भागे फिरते थे, तबतक पिछले मुग़ल बादशाहों के लिए भी उन्हें दबाना मुमकिन नहीं हुआ। लेकिन राजनीतिक सफलता मिलते ही उनकी इस सफलता की बुनियाद कमज़ोर पड़ गई। सिक्खों और अंग्रेज़ों के बीच दो युद्ध हुए, पहला १८४५-४६ ई० में और दूसरा १८४८-४९ ई० में। दूसरे युद्ध में अंग्रेज़ों की चिलियांवाला में करारी हार हुई। लेकिन अन्त में अंग्रेज़ पूरी तौर पर जीत गए और पंजाब अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। क्योंकि तुम कश्मीरी हो, इसलिए तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि अंग्रेज़ों ने कश्मीर को जम्मू के एक राजा गुलाबसिंह को पिचहत्तर लाख रुपये में बेचा था। गुलाबसिंह के लिए यह बढ़िया सौदा था; इस सौदे में बेचारे कश्मीरियों की तो कुछ पूछ ही नहीं थी। कश्मीर अब अंग्रेज़ों की एक मातहत रियासत है और वहाँ के मौजूदा महाराजा इसी गुलाबसिंह के वंशज हैं।

पंजाब के उत्तर की ओर, बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर, अफ़ग़ानिस्तान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, और अफ़ग़ानिस्तान के नज़दीक ही दूसरी ओर था रूस। मध्य-एशिया में रूसी साम्राज्य के विस्तार ने अंग्रेज़ों का दिल दहला दिया। उन्हें डर था कि रूस कहीं भारत पर हमला न कर बैठे। क़रीब-क़रीब उन्नीसवीं सदी भर में 'रूसी खतरे' की चर्चा रही। १८३९ ई० के करीब भारत के अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान की तरफ़ से रत्तीभर भी छेड़-छाड़ हुए बिना उसपर हमला कर दिया। उस वक़्त अफ़ग़ानिस्तान की सरहद ब्रिटिश भारत से दूर थी, और पंजाब का स्वाधीन सिक्ख राज्य बीच में पड़ता था। लेकिन फिर भी सिक्खों को अपना दोस्त बनाकर अंग्रेज़ों ने क़ाबुल पर धावा बोल दिया। लेकिन अफ़ग़ानिस्तान ने भी मार्के का बदला लिया। बहुतेरी बातों में अफ़ग़ान लोग चाहे कितने ही पिछड़े हुए हों, लेकिन उन्हें अपनी आज़ादी से प्रेम है, और उसकी हिफ़ाज़त के लिए वे अख़ीर दम तक लड़ने को तैयार रहते हैं। और इसीलिए, अफ़ग़ानिस्तान किसी भी हमलावर विदेशी फ़ौज के लिए हमेशा 'बर्रों का छत्ता' बना रहा है। हालांकि अंग्रेज़ों ने काबुल पर और अफ़ग़ानिस्तान के कई हिस्सों पर क़ब्ज़ा कर लिया था, लेकिन अचानक चारों तरफ़ विद्रोह भड़क उठे, अंग्रेज़ वापस खदेड़ दिये गए और सारी-की-सारी अंग्रेज़ी फ़ौज तहस-नहस हो गई। बाद में इस हार का बदला लेने के लिए एक और ब्रिटिश-हमला हुआ। अंग्रेज़ों ने काबुल पर क़ब्ज़ा करके, शहर के बड़े सायबानदार बाज़ार को बारूद से उड़ा दिया, और अंग्रेज़ी सिपाहियों ने शहर के बहुत-से हिस्सों में लूटमार की और आग लगा दी। लेकिन यह साफ़ ज़ाहिर हो गया कि अंग्रेज़ों के लिए बराबर युद्ध किये बिना अफ़ग़ानिस्तान पर क़ब्ज़ा बनाये रखना आसान नहीं था। इसलिए वे वहाँ से वापस लौट आये।

क़रीब चालीस वर्ष बाद, १८७८ ई० में, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर या शासक ने रूस से दोस्ती कर ली तो अंग्रेज़ फिर घबराये। बहुत हद तक इतिहास दोहराया गया। एक दूसरा युद्ध हुआ, अंग्रेज़ों ने इस देश पर हमला किया और उनकी जीत होती हुई दिखाई दे रही थी कि इतने में ही अफ़ग़ानों ने ब्रिटिश-राजदूत और उसके दल को मौत के घाट उतार दिया और अंग्रेज़ी फ़ौज को हरा दिया। अंग्रेज़ों ने इसका थोड़ा-बहुत बदला ले लिया और फिर इस 'बर्र के छत्ते' से दूर हट गये। इसके बहुत वर्षों बाद तक अफ़ग़ानिस्तान की अजीब हैसियत थी। अंग्रेज़ उसके अमीर को दूसरे विदेशों के साथ सीधा सम्बन्ध तो रखने नहीं देते थे, लेकिन साथ ही उसे हर साल बहुत बड़ी रक़म भी देते थे। तेरह वर्ष हुए, १९१९ ई० में, तीसरा अफ़ग़ान युद्ध हुआ, जिसके नतीजे से अफ़ग़ानिस्तान पूरी तरह स्वाधीन हो गया। लेकिन जिस ज़माने की हम इस समय चर्चा कर रहे हैं, यह बात उसके दायरे से बाहर है।

और भी कई छोटे-छोटे युद्ध हुए। इनमें से एक युद्ध, जो बहुत ही बे-ग़ैरती का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, १८४३ ई० में सिन्ध पर थोपा गया। वहाँ के ब्रिटिश एजेण्ट ने सिन्धियों को खूब धमकाया और झगड़ा मोल लेने के लिए उकसाया और फिर उन्हें कुचल कर प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया। और इस कारगुज़ारी के लिए अंग्रेज़ी अफ़सरों को ऊपरी मुनाफ़े के तौर पर इनाम का रुपया भी बाँटा गया। एजेण्ट (सर चार्ल्स नेपियर) के हिस्से की रक़म थी क़रीब सात लाख रुपये! ऐसी हालत में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उस ज़माने के भारत में बे-उसूले और हौसलेबाज़ अंग्रेज़ खिंचे चले आते थे।

१८५६ ई० में अवध भी मिला लिया गया। इस समय अवध के शासन की हालत बहुत ही बुरी थी। कुछ समय से यहाँ का शासन नवाब-वज़ीर कहे जाने-वाले लोगों के हाथों में था। शुरू में दिल्ली के मुग़ल बादशाह ने नवाब-वज़ीर को अवध में अपना नायब मुकर्रर किया था। लेकिन मुग़ल-साम्राज्य के पतन के बाद अवध स्वाधीन हो गया। पर ज्यादा दिन के लिए नहीं। पिछले नवाब-वज़ीर बिलकुल निकम्मे और हलके थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी चाहते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाज़ी की वजह से कर नहीं सकते थे। उनके हाथ में कोई असली अधिकार बाक़ी नहीं रह गया था और अंग्रेज़ों को अवध के अन्दरूनी शासन में कोई दिलचस्पी नहीं थी। बस, अवध टूक-टूक हो गया, और जैसा कि होना ही था, अंग्रेज़ी राज्य का हिस्सा बन गया।

युद्धों और राज्यों पर क़ब्ज़े किये जाने की मैं काफ़ी ही नहीं, शायद काफ़ी से भी ज्यादा चर्चा कर चुका हूँ। लेकिन ये सब एक बड़ी प्रक्रिया के ऊपरी संकेत थे, जो हो रही थी और जो रुक नहीं सकती थीं। अंग्रेज़ जिस समय भारत में आये, यहाँ की पुरानी अर्थ-व्यवस्था का टूटना शुरू हो चुका था। सामन्तीशाही की दीवारें तड़कने लगी थीं। अगर उस समय विदेशी न भी आये होते तो भी सामन्ती व्यवस्था इस देश में ज्यादा दिन टिकनेवाली न थी। यूरोप की तरह यहाँ भी धीरे-धीरे कोई नई व्यवस्था इसकी जगह ले लेती, जिसमें नये उत्पादक-वर्गों के हाथों में ज्यादा सत्ता होती। लेकिन यह परिवर्तन होने से पहले ही, जबकि दरार ही पड़ी थी, अंग्रेज़ आ पहुँचे और बिना किसी ख़ास दिक्कत के इस दरार में घुस पड़े। भारत में जिन राजाओं से वे लड़े और जिन्हें उन्होंने हराया, वे बीते हुए और अस्त होते हुए ज़माने की चीज़ें थीं। उनके सामने कोई ठोस भविष्य नहीं था। इस तरह इन परिस्थितियों में, अंग्रेजों को सफल होना ही था। उन्होंने भारत में सामन्ती व्यवस्था का अन्त जल्दी ला दिया। लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह अजीब बात है कि उन्होंने ऊपरी तौर से इसे सहारा लगाने की कोशिश की और इस तरह भारत को नई व्यवस्था की तरफ़ बढ़ने में रुकावटें डालीं।

इस तरह अंग्रेज़ भारत में इतिहास की एक ऐसी प्रक्रिया के कर्त्ता बन गये, जो सामन्ती भारत को नये ढंग के उद्योगी पूँजीवादी राज्य में बदल देनेवाली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। खुद अंग्रेज़ों ने इस बात को नहीं महसूस किया; और इसमें कोई शक नहीं कि वे सब राजा लोग भी, जो इनसे लड़े थे, इस बारे में कुछ नहीं जानते थे। काल के गाल में पड़ी हुई कोई भी व्यवस्था ज़माने की चेतावनियों को बहुत कम देख पाती है, बहुत कम महसूस करती है कि उसका उद्देश्य और काम पूरा हो चुका है, और इसलिए महाबली घटनाचक्र के हाथों बेइज़्ज़ती से खदेड़े जाने के पहले ही उसे शराफ़त के साथ हट जाना चाहिए। इतिहास की नसीहत को भी वह बहुत कम समझ पाती है, और इस बात को भी बहुत कम महसूस करती है कि दुनिया उसे, किसी के शब्दों में, 'इतिहास के कूड़ा-दान' पर छोड़ती हुई आगे बढ़ती चली जा रही है। इसी तरह भारत की सामन्ती व्यवस्था ने इन सब बातों को नहीं समझा और व्यर्थ ही अंग्रेज़ों से लड़ती रही। इसी तरह आज भारत में और पूर्व के दूसरे देशों में जमे हुए अंग्रेज़ भी यह नहीं समझते कि उनके दिन बीत चुके हैं, उनके साम्राज्य के दिन बीत चुके हैं, और दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य पर ज़रा भी तरस न खाती हुई उसे 'इतिहास के कूड़ादान' में फेंकती हुई आगे बढ़ती जा रही है।

लेकिन भारत में चालू सामन्ती व्यवस्था ने उस वक़्त, जबकि अंग्रेज़ लोग भारत में पैर पसार रहे थे, एक बार फिर सत्ता हासिल करने का और विदेशियों को निकाल बाहर करने का आख़िरी जतन किया। यह था १८५७ का महान् विद्रोह। देश भर में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ बड़ा असन्तोष और गुस्सा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति थी रुपया बटोरना और इसके सिवा कुछ नहीं करना। इस नीति ने उसके बहुत-से अफ़सरों की बेखबरी और लुटेरेपन के साथ मिलकर चारों तरफ़ घोर तबाही मचा दी। यहाँतक कि अंग्रेज़ों की भारतीय फ़ौज पर भी इसका असर पड़ा और कई छोटी-छोटी बग़ावतें हुईं। कितने ही सामन्ती सरदार और उनके वंशज अपने इन नये स्वामियों से क़ुदरती तौर पर सख़्त नाराज़ थे। इसलिए खुफ़िया तरीक़े से एक ज़बर्दस्त विद्रोह का संगठन किया गया। यह संगठन खासतौर से उत्तर प्रदेश के आस-पास और मध्य भारत में फैल गया, लेकिन, भारतवासी क्या करते हैं और क्या सोचते हैं, इस बारे में भारत के अंग्रेज़ इतने अन्धे रहते हैं कि सरकार को इसका गुमान तक नहीं हुआ। मालूम होता है कि कई जगहों पर एक ही साथ विद्रोह छिड़ने की तारीख मुक़र्रर की गई थी। लेकिन मेरठ की भारतीय फ़ौज की कुछ टुकड़ियों ने बहुत ज़ल्दबाज़ी करके १० मई १८५७ ई० को ग़दर कर दिया। इस अधपके विस्फोट ने विद्रोह के नेताओं के कार्यक्रम को गड़बड़ कर दिया, क्योंकि इससे सरकार चौकन्नी हो गई। फिर भी यह विद्रोह तमाम उत्तर प्रदेश और दिल्ली में और मध्य भारत व बिहार के कुछ हिस्सों में फैल गया। यह सिर्फ़ फ़ौजी विद्रोह नहीं था, बल्कि इन प्रदेशों में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ एक आम सार्वजनिक बग़ावत थी। महान् मुग़लों के सिलसिले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आखिरी मुग़ल कमज़ोर, बूढ़े और शायर बहादुरशाह को कुछ लोगों ने सम्राट् ऐलान कर दिया। इस विद्रोह ने बढ़कर नफ़रत के पात्र विदेशी के खिलाफ़ भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का रूप ले लिया, लेकिन यह स्वाधीनता उसी पुराने सामन्ती ढँग की थी, जिसके सरताज निरंकुश सम्राट् हुआ करते थे। आम लोगों के लिए इसमें कोई आज़ादी न थी। लेकिन फिर भी वह बहुत बड़ी संख्या में इसमें शामिल हो गये, क्योंकि एक तो वे अंग्रेज़ों के आने को ही अपनी तबाही और ग़रीबी का सबब समझते थे, और दूसरे कई जगहों में उनपर बड़े-बड़े ज़मींदारों का क़ाबू था। मज़हबी अदावतों ने भी लोगों को उकसाया। इस संग्राम में हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ने पूरा हिस्सा लिया।

कई महीनों तक उत्तर व मध्यभारत में अंग्रेज़ी राज मानो कच्चे धागे के सहारे लटका रहा। लेकिन विद्रोह की क़िस्मत का फ़ैसला ख़ुद भारतवासियों ने ही कर दिया। सिक्खों और गोरखों ने अंग्रेज़ों को मदद दी। दक्षिण में निज़ाम, उत्तर में सिन्धिया, और दूसरी कई रियासतें भी उनके साथ हो गईं। इन सब विमुखताओं के अलावा भी, ख़ुद विद्रोह में ही असफलता के बीज मौजूद थे। वह उस सामन्ती व्यवस्था के लिए लड़ रहा था, जिसके दिन बीत चुके थे; इसमें अच्छे नेताओं का अभाव था; इसका संगठन ठीक ढँग से नहीं हुआ था, और हर वक़्त आपसी कलह होती रहती थी। कुछ विद्रोहियों ने अंग्रेज़ों की बेरहमी से हत्याएँ करके भी अपने पक्ष पर कलंक लगा दिया। इस जंगली बर्ताव ने क़ुदरती तौर पर भारत के अंग्रेज़ों को कमर कसकर खड़ा कर दिया और उन्होंने उसी ढँग से, बल्कि उससे भी सैकड़ों-हज़ारों गुना ज़्यादा, बदला ले लिया। कहा जाता है कि कानपुर में पेशवा के वंशज नानासाहब ने सुरक्षा का वादा करके भी दग़ा करके अंग्रेज़ पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की हत्या का हुक्म दे दिया। इस घटना से अंग्रेज़ बहुत ज़्यादा ग़ुस्से में भर गये। इस भयानक दुर्घटना की याद दिलाने-वाला कानपुर में एक यादगार कुआ है।

दूर-दूर की कई जगहों पर अंग्रेज़ों को फ़िसादी भीड़ों ने घेर लिया। कभी-कभी तो उनके साथ अच्छा बर्ताव किया गया, लेकिन बहुत बार ख़राब। ज़बर्दस्त कठिनाइयाँ होते हुए भी वे खूब लड़े और बहादुरी से लड़े। अंग्रेज़ों के साहस और सहन-शक्ति की एक निराली मिसाल लखनऊ का घेरा है, जिसके साथ आउटरम और हेवलॉक के नाम जुड़े हुए हैं। १८५७ ई० में दिल्ली के घेरे ने और पतन ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद और कई महीनों तक अंग्रेज़ विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने में उन्होंने हर जगह दहशत फैला दी। बहुत बड़ी संख्या में लोगों को बड़ी बेदर्दी के साथ गोलियों से मार दिया गया, बहुत-से लोगों की तोप के मुँह धज्जियाँ बिखेर दी गईं और हज़ारों को सड़क के किनारे के पेड़ो पर फाँसी चढ़ा दिया गया। कहा जाता है कि नील नामक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अंग्रेज़ सेनापति इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते-भर आदमियों को फाँसी पर लटकाता हुआ चला गया, यहाँतक कि सड़क के किनारों का एक भी पेड़ ऐसा न बचा, जो फाँसी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे गाँव जड़-मूल से नष्ट कर दिये गए। यह सब एक बहुत ही भयानक और दर्दनाक क़िस्सा है और मुझमें इस सारे कड़वे सत्य का बखान करने की हिम्मत नहीं है। अगर नानासाहब ने जंगलीपन और दग़ाबाज़ी का बर्ताव किया, तो कितने ही अंग्रेज़ अफ़सर जंगलीपन में उससे सैकड़ों गुना आगे बढ़ गये। अगर अफ़सरों और नेताओं के अभाव में बाग़ी सिपाहियों के गिरोह बेरहम और नाग़वार करतूतों के दोषी ठहरते हैं, तो अपने अफ़सरों के मातहत सीखे हुए अंग्रेज़ सिपाही बेरहमी और जंगलीपन में उनसे कहीं आगे बढ़ गये थे। मैं दोनों की तुलना नहीं करना चाहता। दोनों ही तरफ की बातें अफ़सोस के क़ाबिल हैं। लेकिन हमारे एक-तरफ़ा इतिहास में भारतवासियों की दग़ाबाज़ी और बेरहमी का तो ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर बखान किया गया है, लेकिन दूसरी तरफ़ का ज़िक्र तक नहीं किया गया है। यह भी याद रखने की बात है कि एक संगठित सरकार फ़िसादी भीड़ की तरह बर्ताव करने लगे, तो उसकी बेरहमी के मुक़ाबले में फ़िसादी भीड़ की बेरहमी कुछ भी नहीं है। अगर आज भी तुम अपने प्रान्त के गाँवों में घूमो, तो तुम्हें ऐसे लोग मिलेंगे, जिन्हें रोंगटे खड़ी करनेवाली उन ज़ुल्मों की तसवीर और भयानक याद अभी तक बनी हुई है, जो विद्रोह को कुचलने में उनपर ढाये गए।

इस विद्रोह की दिल दहलानेवाली बातों, और उसके दमन के बीच, एक नाम सामने आता है, जो काली पृष्ठ-भूमिपर चमकता है। यह नाम है बीस साल की बाल-विधवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का बाना पहनकर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अपनी प्रजा की नेता बनकर मैदान में निकल आई। उसके जोश, उसकी लियाक़त और उसके बेधड़क साहस की बहुत-सी कहानियाँ कही जाती हैं। यहाँतक कि जिस अंग्रेज़ सेनापति ने उसका मुक़ाबला किया था, उसने भी उसे बाग़ी नेताओं में "सबसे श्रेष्ठ और सबसे बहादुर" कहा है। वह लड़ती हुई मैदान में काम आई।

१८५७-५८ ई० का विद्रोह सामान्ती भारत की आख़िरी टिमटिमाहट थी। इसने बहुत-सी बातों का अन्त कर दिया। इसने महान् मुग़लवंश का सिल-सिला ख़त्म कर दिया, क्योंकि बहादुरशाह के दोनों पुत्रों और एक पोते को हडसन नामक एक अंग्रेज़ अफ़सर ने दिल्ली ले जाते वक़्त बिना किसी वजह या उत्तेजना के, बड़ी बेदर्दी के साथ गोलियों से उड़ा दिया। इस तरह ज़लील होकर तैमूर, बाबर और अकबर के वंश का सिलसिला ख़त्म हो गया।

विद्रोह ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का भी अन्त कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार ने सीधी अपने हाथ में ले ली और अंग्रेज़ी गवर्नर-जनरल अब 'वाइसराय' के रूप में खिला। उन्नीस वर्ष बाद, १८७७ ई० में, इंग्लैण्ड की रानी ने, बिज़न्तीन साम्राज्य और सीज़रों की पुरानी उपाधि के भारतीय रूप 'क़ैसरे हिन्द' की उपाधि ले ली। मुग़ल राजवंश अब खत्म हो गया था। लेकिन निरंकुशता की भावना ही नहीं बल्कि उसके चिह्न भी बाक़ी रह गये, और इंग्लैण्ड में एक दूसरा महान् मुग़ल बैठ गया।

११०

भारतीय कारीगर की रोज़ी छिन जाती है

१ दिसम्बर, १९३२

भारत में उन्नीसवीं सदी के युद्धों का हाल हम खत्म कर चुके। मुझे इससे खुशी है। अब हम इस समय की दूसरी बड़ी-बड़ी घटनाओं पर विचार कर सकते हैं। लेकिन यह याद रखना कि इंग्लैण्ड को फ़ायदा पहुँचानेवाले ये युद्ध भारत के ही खर्चे पर लड़े गये थे। अंग्रेज़ों ने भारतवासियों को जीतने का खर्चा उन्हीं-से वसूलने का तरीक़ा बड़ी सफलता के साथ बरता। अपने पड़ौसी बरमियों और अफ़ग़ानों से भारतवासियों का कोई झगड़ा नहीं था, लेकिन इन्हें जीते जाने की क़ीमत भी उन्होंने अपनी जानें और अपना माल देकर चुकाई। इन युद्धों ने कुछ हद तक भारत को ग़रीब बना दिया, क्योंकि युद्ध का मतलब ही है दौलत का नाश। जैसा कि हम सिन्ध के मामले में देख चुके हैं, युद्ध का मतलब जीतनेवालों को लूट का माल मिलना भी है। ऐसे ही व दूसरे कारणों से पैदा हुई ग़रीबी के बावजूद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के खज़ाने में सोने और चांदी की नदी बहती रही, जिससे कि उसके हिस्सेदारों को भारी मुनाफ़े मिलते रहें।

मेरा खयाल है कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि भारत में अंग्रेज़ी सत्ता की शुरुआत के दिन उन क़िस्मत आज़मानेवाले व्यापारियों के दिन थे, जिन्होंने यहाँ तिजारत और लूटमार की अन्धाधुन्धी मचा रक्खी थी। इस तरह ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके कारिन्दे भारत की बेशुमार जमा दौलत ले गये। इसके बदले में भारत को वास्तव में कुछ भी नहीं मिला। मामूली तिजारत में कुछ आपसी देन-लेन हुआ करता है। लेकिन अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में, पलासी की लड़ाई के बाद से, सारी दौलत एक ही तरफ़—इंग्लैण्ड—को जाने लगी। इस तरह भारत की पुरानी सम्पत्ति का ज़्यादा हिस्सा छिन गया, और इसने परिवर्तन के गाढ़े समय में इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास में मदद पहुँचाई। भारत में तिजारत और नंगी-लूट पर टिका हुआ यह पहला ब्रिटिश-काल मोटे तौर पर, अठारहवीं सदी के अन्त के साथ खत्म हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज़ी राज का दूसरा काल सारी उन्नीसवीं सदी है, जिसमें भारत इंग्लैण्ड के कारख़ानों को भेजे जानेवाले कच्चे माल का एक ज़बर्दस्त भण्डार और वहाँ के तैयार माल की बिक्री के लिए एक हाट-बाज़ार बन गया। यह सब भारत की प्रगति और उसके आर्थिक विकास का ख़ून करके किया गया था। इस सदी के पहले भाग में भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था, जो एक व्यापारी कम्पनी थी और जो रुपया पैदा करने के उद्देश्य से क़ायम हुई थी। लेकिन बाद में ब्रिटिश पार्लमेण्ट भारतीय मामलों पर दिन-पर-दिन ज़्यादा ध्यान देने लगी। अन्त में, जैसा कि हमने पिछले पत्र में देखा है, १८५७-५८ ई० के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत के राज को सीधा अपने हाथ में ले लिया। लेकिन इससे बुनियादी नीति में कोई बड़ा फ़र्क़ नहीं पड़ा, क्योंकि सरकार उसी वर्ग की प्रतिनिधि थी, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मालिक था।

भारत और इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों के बीच साफ़ टक्कर थी। चूंकि सारी सत्ता इंग्लैण्ड के हाथ में थी, इसलिए इस टक्कर का फैसला हमेशा इंग्लैण्ड के ही हक़ में होता था। इंग्लैण्ड के उद्योगीकरण से पहले ही एक मशहूर अंग्रेज़ लेखक ने भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज के नुकसान पहुँचानेवाले नतीजों की तरफ़ इशारा कर दिया था। यह व्यक्ति था एडम स्मिथ, जिसे राजनीतिक अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। 'वैल्थ ऑफ़ नेशन्स'—यानी 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' नामक अपनी मशहूर किताब में, जो १७७६ ई० में ही प्रकाशित हो गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ज़िक्र करते हुए, वह कहता है—

> "चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार, जो सिर्फ़ व्यापारियों की कम्पनी से ही बनी हो, सबसे बुरी सरकार होती है।... राजा होने के नाते तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसीमें है कि उसके भारतीय उपनिवेश को भेजा जानेवाला यूरोपीय माल वहाँ सस्ते-से-सस्ता बिके और वहाँ से लाया हुआ माल यहाँ महंगा-से-महंगा बिके। लेकिन व्यापारी की हैसियत से उसका हित इससे बिलकुल उलटी बात में है। राजा के नाते तो उसके हित बिलकुल वही होने चाहिए, जो उसके राज के देश के हैं। लेकिन व्यापारियों की हैसियत से उसका हित उस देश के हितों से बिलकुल उलटा है।"

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जब अंग्रेज़ भारत में आये, उस समय यहाँ की पुरानी सामन्ती व्यवस्था नष्ट हो रही थी। मुग़ल-साम्राज्य के पतन ने भारत के कई हिस्सों में राजनीतिक हंगामा व गड़बड़ी पैदा कर दिये थे। लेकिन फिर भी, जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है—"अठारहवीं सदी में भारत एक बड़ा उद्योग-प्रधान और साथ ही बड़ा कृषि-प्रधान देश था,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भारतीय करघों का माल एशिया और यूरोप के बाज़ारों में बिकता था।" अपने इसी पत्र-व्यवहार में मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि प्राचीन काल में विदेशी बाज़ारों पर भारत का क़ब्ज़ा था। मिस्र की चार हज़ार वर्ष पुरानी मोमियाइयाँ बढ़िया भारतीय मलमल में लपेटी हुई मिली हैं। भारतीय कारीगरों की दस्तकारी पूर्व में और पश्चिम में मशहूर थी। देश का राजनीतिक पतन होने पर भी यहाँ के कारीगर अपने हाथ के हुनर को भूले नहीं थे। अंग्रेज़ और दूसरे विदेशी व्यापारी, जो भारत में तिजारत की तलाश में आते थे, यहाँपर विदेशी माल बेचने के लिए नहीं, बल्कि यहाँ की बनी हुई बढ़िया और नफ़ीस चीज़ें खरीदकर यूरोप में खूब मुनाफ़े पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू में अंग्रेज़ व्यापारी यहाँ के कच्चे माल से नहीं, बल्कि यहाँ के तैयार माल से खिंचकर यहाँ आये थे। यहाँ हुकूमत हासिल करने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के बने सूती, ऊनी, रेशमी और ज़री के माल का बड़ा लाभदायक व्यापार करती थी। कपड़े के उद्योग में, यानी सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने में इस देश की कला खास तौर पर ऊँचे दर्जे को पहुँच गई थी। रमेशचन्द्र दत्त के शब्दों में—"बुनाई लोगों का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई लाखों स्त्रियों का धन्धा था।" भारत के बने हुए कपड़े इंग्लैण्ड और यूरोप के दूसरे हिस्सों को, और चीन, जापान, बरमा, अरब, फ्रान्स और अफ़्रीका के कुछ हिस्सों को भेजे जाते थे।

क्लाइव ने बंगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, १७५७ ई० के समय का, बयान करते हुए लिखा है कि "यह नगर लन्दन के समान लम्बा-चौड़ा, घनी आबादीवाला और मालदार है। लेकिन फ़र्क़ यह है कि इस शहर में ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके पास लन्दन के मुक़ाबले में बहुत ही ज़्यादा सम्पत्ति है।" यह पलासी की लड़ाई के साल की बात है जब अंग्रेज़ों ने अपने क़दम बंगाल में पूरी तरह जमा लिये थे। राजनीतिक गिरावट के इस क्षण में भी बंगाल मालदार था और बहुत-से उद्योग-धन्धों से भरा-पूरा था और दुनिया के कई हिस्सों में अपना बढ़िया कपड़ा भेजता रहता था। ढाका शहर अपनी नफ़ीस मलमलों के लिए खास तौर पर मशहूर था और इन मलमलों का विदेशी व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

मतलब यह कि इस ज़माने का भारत निरे कृषि-प्रधान और देहाती दर्जे से बहुत ऊँचा बढ़ा हुआ था। यह ठीक है कि यह देश ज़्यादातर कृषि-प्रधान था, अब भी है, और आगे भी बहुत दिनों तक रहेगा। लेकिन उस समय यहाँ देहाती-जीवन और खेती के साथ-साथ नागरिक जीवन का भी विकास हो चुका था। इन नगरों में कारीगर और दस्तकार जमा होते थे। और सामूहिक रूप से माल तैयार करते थे, यानी छोटे-छोटे कारखाने थे, जिनमें सौ या सौ से ज़्यादा कारीगर काम करते थे। अलबत्ता इन कारखानों का मुक़ाबला बाद में आनेवाले मशीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग के बड़े-बड़े कारखानों से नहीं किया जा सकता। लेकिन उद्योगवाद के आने से पहले पश्चिमी यूरोप में, और ख़ासकर नीदरलैण्ड में, इस तरह के बहुत-से छोटे-छोटे कारखाने थे।

भारत इस समय परिवर्तनों की अवस्था में था। यह माल तैयार करनेवाला देश था और शहरों में एक मध्यम-वर्ग तैयार हो रहा था। इन कारखानों के मालिक पूँजीपति थे, जो कारीगरों को कच्चा माल देकर उनसे माल तैयार करवाते थे। इसमें शक नहीं कि समय आने पर ये लोग भी इतने शक्तिशाली हो जाते कि यूरोप की तरह सामन्ती वर्ग को हटाकर उसकी जगह ले लेते। लेकिन ठीक इसी समय अंग्रेज़ बीच में आ कूदे और नतीजा यह हुआ कि भारत के उद्योग-धन्धों को सख़्त चोट लगी।

शुरू-शुरू में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योग-धन्धों को बढ़ावा दिया, क्योंकि इनसे वे पैसा पैदा करते थे। विदेशों में भारतीय माल की बिक्री से इंग्लैण्ड में सोना-चांदी आते थे। लेकिन इंग्लैण्ड के कारखानेदार इस होड़ को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए अठारहवीं सदी के शुरू में उन्होंने अपनी सरकार को इंग्लैण्ड में आनेवाले भारतीय माल पर चुंगी लगाने पर आमादा कर दिया। कुछ भारतीय चीज़ों का इंग्लैण्ड में आना बिलकुल रोक दिया गया, और मेरे ख़याल से भारत के बने कुछ कपड़ों को पहनकर निकलना जुर्म तक क़रार दिया गया था। वे लोग अपने बायकाट पर क़ानून की मदद से अमल करा सकते थे। और यहाँ भारत में इन दिनों अंग्रेज़ी कपड़े के बायकाट की चर्चा ही किसी-को जेल पहुँचा देने के लिए काफ़ी है! भारतीय माल के बायकाट की इंग्लैण्ड की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी ज़्यादा नुक़सान की बात न थी, क्योंकि भारत के लिए और भी बहुत हाट-बाज़ार थे, लेकिन उस समय संयोग से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मारफ़त इंग्लैण्ड का भारत के बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा था, इसलिए उसने अब इरादा करके भारतीय उद्योगों का गला घोंटकर ब्रिटिश उद्योगों को आगे बढ़ाने की नीति शुरू की। अब अंग्रेज़ी माल बिना किसी चुंगी के भारत में आने लगा। यहाँ के दस्तकारों और कारीगरों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारखानों में काम करने के लिए तरह-तरह से सताया और मजबूर किया गया। यहाँ तक कि कितनी ही रवानगी चुंगियाँ, जो माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर चुकानी पड़ती थीं, लगाकर भारत के अन्दरूनी व्यापार के हाथ-पैर काट दिये गए।

भारत का कपड़े का उद्योग इतने अच्छे ढंग का था कि इंग्लैण्ड का बढ़ता हुआ मशीन उद्योग भी उससे बाज़ी न ले सका और उसकी रक्षा करने के लिए भारतीय माल पर अस्सी फ़ीसदी के क़रीब चुंगी लगानी पड़ी। शुरू उन्नीसवीं सदी में भारत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कुछ रेशमी और सूती कपड़े इंग्लैण्ड के बाज़ार में, वहाँ के बने माल से बहुत सस्ते दामों में बिका करते थे। लेकिन जब भारत में हुकूमत करनेवाली शक्ति, इंग्लैण्ड, भारतीय उद्योगों को कुचल डालने पर तुला हुआ था, तो यह हालत ज्यादा दिन नहीं रह सकती थी। फिर भारत के कुटीर-उद्योगों से बना हुआ माल, बढ़ते हुए मशीनी उद्योग से किसी भी हालत में ज्यादा दिन मुक़ाबला नहीं कर सकता था। मशीनी उद्योग भारी मिक़दार में माल तैयार करने का बड़ा कारगर तरीक़ा है, और इसलिए वह माल कुटीर-उद्योगों के माल से कहीं ज्यादा सस्ता पड़ता है। लेकिन इंग्लैण्ड ने ज़बर्दस्ती भारतीय उद्योगों का खातमा करने में जल्दी की, और भारत को मौक़ा नहीं दिया कि वह धीरे-धीरे अपने-आपको बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ बना ले।

इस तरह भारत, जो सैकड़ों वर्षों तक पूर्वी 'दुनिया का लंकाशायर' रहा था, और जो अठारहवीं सदी में यूरोप को बड़े पैमाने पर सूती माल देता रहता था, अब माल तैयार करनेवाले देश की हैसियत खो बैठा और ब्रिटिश माल का महज़ ग्राहक रह गया। मामूली हिसाब से मशीन भारत में आती ही, लेकिन ऐसा नहीं हुआ, बल्कि मशीन से बना हुआ माल बाहर से आया। भारत से विदेशों को माल ले जाने और बदले में सोना और चाँदी लाने की जो धारा बह रही थी, उसका रुख़ उलटा हो गया। अब विदेशी माल भारत में आने लगा, और यहाँ के सोना-चाँदी बाहर जाने लगे।

इस हमले का सबसे पहला शिकार हुआ भारत का कपड़ा उद्योग। और जैसे-जैसे इंग्लैण्ड में मशीनी उद्योग की तरक्क़ी होती गई वैसे-ही-वैसे भारत के दूसरे उद्योग भी कपड़ा-उद्योग की राह जाने लगे। आम तौर पर किसी भी देश की सरकार का यह फ़र्ज़ होता है कि वह उस देश के उद्योगों की रक्षा करे और उन्हें बढ़ावा दे। मगर रक्षा और बढ़ावा तो दूर, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगों से टक्कर लेनेवाले हरेक भारतीय उद्योग को कुचल दिया। भारत में जहाज़ बनाने का काम चौपट हो गया, धातुकार लोग अपना कारोबार न चला सके और काँच और कागज़ बनाने का धन्धा भी धीरे-धीरे कम हो गया।

शुरू में विदेशी माल बन्दरगाहोंवाले शहरों में और उन्हींके आस-पास के अन्दरूनी हिस्सों में पहुँचता था। जैसे-जैसे सड़कें और रेलें बनती गईं, विदेशी माल दिन-पर-दिन देश में अन्दर पहुँचता गया, यहाँतक कि इसने गाँवों से भी कारीगरों को निकाल बाहर किया। स्वेज़ नहर का सीधा रास्ता निकल आने से इंग्लैण्ड भारत के और भी नज़दीक हो गया। इसलिए अंग्रेज़ी माल यहाँ अब और भी सस्ता पड़ने लगा। इस तरह मशीनों का विदेशी माल दिन-पर-दिन ज्यादा आने लगा, और दूर-दूर के गाँवों तक में पहुँचने लगा। उन्नीसवीं सदी भर यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिलसिला जारी रहा, और वास्तव में कुछ हद तक, अब भी चल रहा है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों में इसमें रोक-थाम ज़रूर हुई, जिसपर हम आगे विचार करेंगे।

ब्रिटिश माल की, ख़ासकर कपड़े की, इस फैलती और पसरती प्रगति ने भारत के हाथ-उद्योगों की हत्या कर दी। लेकिन एक और पहलू इससे भी ज्यादा ख़तरनाक था। उन लाखों कारीगरों का क्या हुआ, जो बेकार बना दिये गए? बुनकरों और दूसरे कारीगरों की उस बड़ी संख्या का क्या हुआ, जो बेरोज़गार हो गये थे? इंग्लैण्ड में भी जब बड़े-बड़े कारख़ाने खुले तो कारीगर बेकार हो गये थे। उनको सख्त मुसीबतें उठानी पड़ीं। लेकिन उनको नये कारख़ानों में काम मिल गया, और इस तरह उन्होंने अपने को नई हालतों के अनुकूल बना लिया। भारत में इस तरह का कोई दूसरा उपाय नहीं था। यहाँ काम करने के लिए कोई कारख़ाने न थे। अंग्रेज़ नहीं चाहते थे कि भारत एक आधुनिक उद्योगी देश बन जाय, और इसलिए कारख़ानों को बढ़ावा नहीं देते थे। इसलिए बेचारे ग़रीब, बेघर, बेरोज़गार और भूखों मरते कारीगरों को धरती की शरण लेनी पड़ी। लेकिन धरती ने भी उनका स्वागत नहीं किया; उसपर पहले से ही काफ़ी आदमी थे, और अब फ़ालतू ज़मीन नहीं थी। कुछ तबाह कारीगरों ने तो किसी तरह खेती का काम अपना लिया, लेकिन ज्यादातर तो धरती-हीन मज़दूर बन गये और रोज़गार की तलाश में डोलने लगे। और अनगिनती लोग भूख से तड़प-तड़पकर ही मर गये होंगे। बतलाते हैं कि १८३४ ई० में भारत के अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल ने यह रिपोर्ट की—"वाणिज्य के इतिहास में ऐसी तबाही का शायद ही कोई दूसरी मिसाल मिले। सूती कपड़ा बुननेवाले जुलाहों की हड्डियों से भारत के मैदानों पर सफेदी छा गई है।"

इन बुनकरों और कारीगरों में से ज्यादातर क़स्बों और शहरों में रहते थे। अब चूंकि उनका रोज़गार जाता रहा, इसलिए उन्हें फिर धरती और गाँवों की तरफ़ लौटाना पड़ा। इससे शहरों की आबादी कम होती गई और गाँवों की बढ़ती गई। दूसरे शब्दों में, भारत शहरी कम और देहाती ज्यादा हो गया। देहातीकरण का यह सिलसिला उन्नीसवीं सदी भर जारी रहा, और अभी भी बन्द नहीं हुआ है। इस ज़माने के भारत के बारे में यह बड़ी ही अजीब बात है। तमाम दुनिया में मशीनी उद्योग और उद्योगीकरण का असर यह हुआ कि लोग गाँवों से खिच-खिचकर शहरों में आ गये। लेकिन भारत में उलटी गंगा बही। शहर और क़स्बे छोटे होते गये और उजड़ गये। और दिन-पर-दिन ज्यादा आदमी खेती के सहारे आ पड़े और बड़ी कठिनाई से गुज़ारा करने लगे।

बड़े उद्योगों के साथ-साथ उनके सहारे चलनेवाले बहुत-से छोटे-छोटे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धन्धे भी ग़ायब होने लगे। धुनाई, रँगाई और छींट-छपाई के काम कम होते गये, हाथ-कताई बन्द हो गई और लाखों घरों से चरखा उठ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि किसान-वर्ग की आमदनी का अतिरिक्त साधन जाता रहा, क्योंकि किसान को कुनबे के लोगों की कताई से खेती की आमदनी के अलावा ऊपर की आमदनी में मदद मिलती थी। मशीनी उद्योग के शुरू होने पर यही सब कुछ पश्चिमी यूरोप में भी हुआ था। लेकिन वहाँ परिवर्तन अपने-आप हुआ और अगर एक व्यवस्था का अन्त हुआ तो उसी समय दूसरी नई व्यवस्था का जन्म भी हो गया। लेकिन भारत में यह परिवर्तन ज़ोर-ज़बर्दस्ती से हुआ। माल तैयार करनेवाले कुटीर-उद्योगों की पुरानी व्यवस्था मार डाली गई, लेकिन नई व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ; ब्रिटिश उद्योगों के फ़ायदे की खातिर अंग्रेज़ सत्ताधारियों ने ऐसा होने ही नहीं दिया।

हम देख चुके हैं कि जिस समय अंग्रेज़ों ने यहाँ हुकूमत हासिल की, उस समय भारत माल तैयार करनेवाला खुशहाल देश था। क़ुदरती तौर से तो दूसरी मंज़िल यही होनी चाहिए थी कि देश को उद्योगोंवाला बनाया जाता और बड़ी-बड़ी मशीनें चालू की जातीं। लेकिन ब्रिटिश नीति के सबब से भारत आगे बढ़ने के बजाय पीछे चला गया। वह तो अब माल तैयार करनेवाला देश तक भी न रहा, और पहले से भी ज्यादा कृषि-प्रधान हो गया।

इस तरह बेरोज़गार कारीगरों और दूसरे लोगों की इतनी बड़ी संख्या का बोझ बेचारी अकेली खेती के सिर आ पड़ा। धरती पर ज़बर्दस्त बोझा पड़ गया, और फिर भी यह बराबर बढ़ता ही गया। भारत की ग़रीबी की समस्या की यही बुनियाद है और यही आधार है। हमारी ज्यादातर तकलीफ़ें इसी नीति के नतीजे हैं। और जबतक यह बुनियादी समस्या हल नहीं हो जाती, तबतक भारतीय किसान-वर्ग की और ग्राम-वासियों की ग़रीबी और मुसीबतों का अन्त नहीं हो सकता।

बहुत ज्यादा लोगों के पास खेती के सिवा और कोई दूसरा पेशा न होने और ज़मीन के सहारे ही लटके होने के कारण, उन्होंने अपने खेतों और अपने क़ब्ज़े की ज़मीनों को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट डाला। गुज़ारे के लिए और ज्यादा ज़मीन थी ही नहीं। ज़मीन का छोटा-सा टुकड़ा, जो हर किसान-कुनबे के पल्ले पड़ा, इतना छोटा था कि उससे उसका अच्छी तरह गुज़ारा नहीं हो सकता था। सुकाल के दिनों में भी ग़रीबी और आधा-पेट भोजन की हालत उनके सामने खड़ी रहती थी। और अक्सर करके तो अकाल की ही हालत रहती थी। इन लोगों को मौसमों, क़ुदरत की ताक़तों और बरसाती हवाओं की दया के ही आसरे रहना पड़ता था। अकाल पड़ते, भयंकर बीमारियाँ फैलतीं और ये लाखों को उठा ले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते। ये लोग गाँव के सूदखोर बनिये के पास पहुँचकर उससे रुपया उधार लेते थे, और इनका क़र्ज़ दिन-पर-दिन बढ़ता जाता और उसकी अदायगी की आशा और सम्भावना दूर होती जाती, और जीवन एक कमर-तोड़ भार बन जाता। भारत की आबादी के बहुत बड़े हिस्से की, उन्नीसवीं सदी में, अंग्रेज़ों के राज में यह हालत हो गई!

: १११ :

भारत के गाँव, किसान और ज़मींदार

२ दिसम्बर, १९३२

मैंने अपने पिछले पत्र में भारत में बरती गई अंग्रेज़ों की उस नीति का हाल बताया था, जिसका नतीजा हुआ यहाँ के कुटीर-उद्योग-धन्धों की मौत और कारीगरों का खेती और गाँवों की ओर खदेड़ा जाना। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, भारत की सबसे बड़ी समस्या है धरती पर इतने ज़्यादा ऐसे लोगों का बहुत ज़्यादा दबाव या भार पड़ना, जिनके पास और कोई धन्धा नहीं है। भारत की ग़रीबी का सबसे बड़ा कारण यही है। अगर ये लोग धरती से हटाकर दौलत पैदा करने वाले दूसरे पेशों में लगा दिये जा सकें तो वे न सिर्फ़ देश की दौलत को बढ़ायेंगे, बल्कि धरती पर दबाव बहुत कम हो जायगा और खेती भी चमक उठेगी।

अक़्सर यह कहा जाता है कि धरती पर यह ज़रूरत से ज़्यादा दबाव भारत की आबादी में बढ़ोतरी की वजह से है, न कि अंग्रेज़ों की नीति के सबब से। लेकिन यह दलील सही नहीं है। यह सच है कि भारत की आबादी पिछले सौ वर्षों में बढ़ गई है, लेकिन और भी तो बहुत-से देशों की आबादी बढ़ी है। वास्तव में यूरोप में, और खासकर इंग्लैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड और जर्मनी में, इस बढ़ोतरी का अनुपात बहुत ज़्यादा रहा है। किसी देश की या सारे संसार की आबादी की बढ़ोतरी और उसके गुज़ारे का, और जब ज़रूरत हो तब इस बढ़ोतरी को रोकने का, सवाल बड़े महत्व का है। मैं इस जगह इस सवाल को नहीं छेड़ना चाहता, क्योंकि इससे दूसरे मुद्दों में उलझन पैदा हो सकती है। लेकिन यह मैं ज़रूर साफ़ कर देना चाहता हूँ कि भारत में धरती पर दबाव पड़ने का असली कारण खेती के सिवा दूसरे पेशों की कमी होना है, न कि आबादी में बढ़ोतरी होना। भारत की मौजूदा आबादी के लिए शायद आसानी से गुंजाइश हो सकती है, और वह फूल-फल भी सकती है, बशर्ते कि दूसरे पेशे और उद्योग खुले हुए हों। हो सकता है कि आगे चलकर हमें आबादी की बढ़ोतरी के सवाल पर विचार करना पड़े।

आओ, अब हम भारत में ब्रिटिश नीति के दूसरे पहलुओं की जाँच करें। पहले हम गाँवों में चलेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने अक़्सर तुम्हें भारत की ग्राम-पंचायतों के बारे में लिखा है और यह बताया है कि किस तरह हमलों और परिवर्तनों के बीच भी उन्होंने अपनी हस्ती को क़ायम रक्खा। अभी क़रीब सौ वर्ष पहले, १८३० ई० में, भारत के अँग्रेज़ गवर्नर सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने इन ग्राम-पंचायतों का इस तरह बयान किया था—

"ग्राम-पंचायतें छोटे-छोटे गणराज्य हैं; अपनी ज़रूरत की क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ उनमें मौजूद है; और बाहरी सम्बन्धों से वे हर तरह स्वाधीन हैं। ऐसा मालूम होता है कि जहाँ कोई दूसरी चीज़ नहीं ठहर पाती, उनकी हस्ती क़ायम रहती है। ग्राम-पंचायतों का यह संघ, जिसमें हरेक पंचायत ख़ुद एक अलग छोटे-से राज्य के समान है, उनके सुख-शान्ति से रहने में, और उन्हें आज़ादी व स्वाधीनता से रहने में, बहुत हद तक सहायक होता है।"

वह बयान इस पुरानी गाँव प्रणाली की बड़ाई करनेवाला है। गाँवों की हालत का यह एक बिलकुल काव्यमय वर्णन है। इसमें कोई शक नहीं कि स्थानीय आज़ादी और स्वाधीनता, जो गाँवों को हासिल थीं, अच्छी चीज़ें थीं, और इनके सिवा और भी कई अच्छी बातें थीं। लेकिन साथ ही हमें इस प्रणाली के दोषों को भी नहीं भुला देना चाहिए। सारी दुनिया से विलग, अपने ही आसरे गाँव का जीवन बिताना किसी प्रगति में सहायक नहीं हो सकता था। बड़ी-बड़ी और उनसे बड़ी-बड़ी इकाइयों के आपसी सहयोग में ही उन्नति और प्रगति है। जितना ही ज़्यादा कोई व्यक्ति या समुदाय अपने ही हाल में मस्त रहता है, उतना ही ज़्यादा उसके अहंकारी, स्वार्थी और तंगदिल होते जाने का अन्देशा रहता है। शहरों के निवासियों के मुक़ाबले में गाँवों के लोग अक़्सर तंगदिल और अन्ध-विश्वासी होते हैं। इसलिए ग्राम-संस्थाएँ अपनी तमाम अच्छाइयों को रखते हुए भी, प्रगति के केन्द्र नहीं बन सकती थीं। बल्कि वे किसी हद तक ठेठ पुरानी और पिछड़ी हुई थीं। दस्तकारियाँ और उद्योग-धन्धे तो नगरों में ही फूलते-फलते थे। हाँ, बुनकर बहुत बड़ी संख्या में गाँवों में ज़रूर फैले हुए थे।

ग्राम-समुदाय एक दूसरे से ज़्यादा सम्पर्क रखे बिना ही अपना अलग जीवन क्यों बिताते थे, इसका असली कारण था आवा-जाई के साधनों का अभाव। गाँवों को एक दूसरे से जोड़नेवाली अच्छी सड़कें थीं ही नहीं। वास्तव में अच्छी सड़कों के इस अभाव ने ही देश की केन्द्रीय सरकार के लिए गाँवों के मामलों में बहुत ज़्यादा दख़ल देना कठिन बना दिया था। बड़ी नदियों के किनारों के, या आस-पास के क़स्बों और गाँवों के बीच तो नावों के ज़रिये आवा-जाई हो सकती थी। लेकिन ऐसी बड़ी नदियाँ भी तो नहीं थीं, जो इस तरह का साधन बन सकतीं। आवा-जाई के आसान साधनों की इस कमी ने अन्दरूनी व्यापार में भी रुकावट डाली।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का उद्देश्य सिर्फ़ रुपया कमाना और अपने हिस्सेदारों में मुनाफ़ा बाँटना ही रहा। सड़कों पर वह बहुत कम खर्च करती थी और शिक्षा, सफ़ाई व अस्पतालों वग़ैरा पर तो बिलकुल ही नहीं। लेकिन बाद में जब अंग्रेज़ों ने कच्चा माल खरीदने और अंग्रेज़ी मशीनों का बना माल बेचने पर अपना सारा ध्यान लगाया, तब आवा-जाई के साधनों के बारे में उन्होंने दूसरी नीति अपनाई। बढ़ते हुए विदेशी व्यापार की ज़रूरतें पूरी करने के लिए भारत के समुद्र-तट पर नये-नये शहर पैदा हो गये। ये शहर, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और बाद में कराँची,-विदेशों को भेजने के लिए रुई वग़ैरा कच्चा माल जमा करते और मशीनों का बना विदेशी माल, खासकर इंग्लैण्ड से आया हुआ, भारत में वितरण और बिक्री के लिए मंगाते थे। पश्चिम में जो लिवरपूल, मन्चेस्टर, बर्मिंघम, शेफ़ील्ड, जैसे बड़े-बड़े उद्योगी शहर बढ़ रहे थे, उनमें व इन नये शहरों में बहुत फ़र्क़ था। यूरोपीय शहर माल तैयार करने के बड़े-बड़े कारखानों वाले उत्पादक केन्द्र थे और इस माल को बाहर भेजने के लिए बन्दरगाह थे। इधर भारत के ये नये शहर कुछ भी उत्पादन नहीं करते थे। वे तो सिर्फ विदेशी तिजारत के गोदाम और विदेशी राज के चिह्न थे।

मैं अभी बता आया हूँ कि अंग्रेज़ों की नीति के कारण भारत दिन-पर-दिन देहाती बनता जा रहा था और लोग शहरों को छोड़-छोड़कर गाँवों की ओर धरती की तरफ़ जा रहे थे। इसके बावजूद और इस सिलसिले पर बिना कुछ असर डाले, समुद्र के किनारे ये नये शहर पैदा हो गये। ये शहर गाँवों को नहीं, बल्कि छोटे शहरों और क़स्बों को मिटाकर पैदा हुए थे। देहातीकरण का आम सिलसिला चलता ही रहा।

कच्चे माल को इकट्ठा करने और विदेशी सामान के वितरण में मदद देने के लिए समुद्र के किनारे के इन नये शहरों को देश के अन्दरूनी हिस्सों से जोड़ा जाना ज़रूरी था। राजधानियों और प्रान्तों के प्रशासन-केन्द्रों के रूप में कुछ दूसरे शहर भी खड़े हो गये। इस तरह आवा-जाई के अच्छे साधनों की ज़रूरत बहुत बढ़ गई। अब सड़कें बनाई गईं, और बाद में रेलें भी। सबसे पहला रेलमार्ग १८५३ ई० में बम्बई में डाला गया।

भारतीय उद्योग-धन्धों के नाश से पैदा होनेवाली बदलती हुई हालतों के अनुकूल ढलने में पुराने ग्राम-समुदायों को बड़ी कठिनाई हुई। लेकिन जब अच्छी सड़कें व रेलमार्ग और ज्यादा बने, और सारे देश में फैल गये, तब अन्त में गाँवों की पुरानी व्यवस्था भी, जो इतने अर्से से टिकी हुई थी, टूटकर खत्म हो गई। जब दुनिया उनके यहाँ पहुँचकर दरवाज़े खटखटाने लगी, तो गाँवों के छोटे-छोटे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गणराज्य उससे विलग होकर न रह सके। एक गाँव में चीज़ों की क़ीमतों का असर फ़ौरन ही दूसरे गाँवों की क़ीमतों पर पड़ने लगा, क्योंकि अब एक गाँव से दूसरे को चीज़ें आसानी से भेजी जा सकती थीं। वास्तव में, जैसे-जैसे दुनिया में सब जगह आवा-जाई के साधन बढ़ते गये, वैसे ही संयुक्त राज्य अमेरिका या कनाडा के गेहूँ की क़ीमत का असर भारत के गेहूँ की क़ीमत पर पड़ने लगा। इस तरह ज़ोरदार घटना-चक्र ने भारतीय ग्राम-प्रणाली को खींचकर अन्तर्राष्ट्रीय क़ीमतों के दायरे में ला पटका। गाँवों की पुरानी अर्थ-व्यवस्था टूक-टूक हो गई, और जब किसानों पर एक नई व्यवस्था ज़बर्दस्ती लाद दी गई, तो वे अचम्भा करते ही रह गये। अब यह किसान-वर्ग अपने गाँवों की हाट के बजाय दुनिया के हाट-बाज़ार के लिए अनाज व दूसरा सामान तैयार करने लगा। वह संसार-व्यापी उत्पादन और क़ीमतों के भँवर में फँस गया और दिन-पर-दिन ज़्यादा डूबता गया। पहले ज़मानों में फसल बिगड़ जाने पर भारत में अकाल पड़ते थे, और न तो लोगों के पास जमा किया हुआ कुछ होता था और न कोई ऐसे अच्छे साधन थे जिनसे देश के दूसरे भागों से अनाज मँगवाया जा सकता। इस तरह भोजन के अकाल पड़ते थे। लेकिन अब एक अजीब बात हुई। अब लोग बहुतायत के बीच या अनाज उपलब्ध होने पर भी भूखे मरने लगे। अगर अकाल के इलाक़े में अनाज उपलब्ध न हो तो रेलगाड़ियों या जल्दी के दूसरे साधनों के ज़रिये दूसरी जगहों से लाया जा सकता था। अनाज तो मौजूद था, लेकिन उसे खरीदने के लिए पैसा नहीं था। इस तरह अब अकाल पैसे का था, अनाज का नहीं। इससे भी ज़्यादा अजीब बात यह थी कि, जैसा मन्दी के पिछले तीन वर्षों में हमने देखा है, कभी-कभी फ़सल का बहुत ज़्यादा होना ही किसान-वर्ग की मुसीबत का कारण बन जाता था।

इस तरह पुरानी ग्राम-व्यवस्था ख़त्म हो गई, और पंचायतों की हस्ती मिट गई। लेकिन हमें इसके लिए कोई ज़्यादा अफ़सोस करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि इस प्रणाली के दिन बीत चुके थे और यह आजकल की हालतों से मेल नहीं खाती थी। लेकिन यहाँ भी यह प्रणाली तो टूट गई, लेकिन नई हालतों से मेल खानेवाली कोई नई ग्राम-व्यवस्था पैदा नहीं हुई। दुबारा तामीर और नये जन्म का यह काम अब भी हमारे करने के लिए बाक़ी है।

अभी तक हमने ज़मीन व किसानों पर ब्रिटिश नीति के अप्रत्यक्ष नतीजों का विचार किया है। अब हमको ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली नीति पर, यानी उस नीति पर, विचार करना है, जिसका किसान पर और धरती से ताल्लुक़ रखने-वाले सभी लोगों पर, सीधा असर पड़ा। मुझे डर है कि तुम्हारे लिए यह एक पेचीदा और ज़रा रूखा विषय होगा। लेकिन हमारा देश इन ग़रीब किसानों से भरा पड़ा है, इसलिए हमें यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि उनकी क्या तकलीफ़ें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और किस तरह हम उनकी सेवा कर सकते हैं और उनकी बुरी हालत को सुधार सकते हैं।

हम लोग ज़मींदारों, ताल्लुक़ेदारों और उनके असामियों के बारे में सुना करते हैं। असामी भी कई तरह के होते हैं, और असामियों के भी असामी होते हैं। मैं इन सबकी पेचीदगियों में तुम्हें नहीं ले जाना चाहता। मोटे तौर पर आजकल के ज़मींदार बिचौलिये हैं, यानी उनका दर्जा सरकार और काश्तकारों के बीच में है। काश्तकार उनका असामी है और वह उन्हें धरती के इस्तेमाल के बदले लगान देता है, क्योंकि धरती ज़मींदार की मिलकियत समझी जाती है। ज़मींदार इस लगान का कुछ हिस्सा मालगुज़ारी के रूप में अपनी ज़मीन के टैक्स के तौर पर सरकार को अदा करता है। इस तरह ज़मीन की उपज तीन हिस्सों में बँट जाती है; एक हिस्सा ज़मींदार को मिलता है, दूसरा सरकार को जाता है, और तीसरा जो बचता है, असामी-काश्तकार के पल्ले पड़ता है। यह ख़याल न करना कि ये हिस्से सब बराबर-बराबर होते होंगे। किसान खेत पर काम करता है, और यह उसीकी मेहनत, जुताई, बुआई और दर्जनों तरह की दूसरी कार्रवाइयों का नतीजा है कि ज़मीन से कुछ पैदा होता है। ज़ाहिर है कि अपनी मेहनत का फल उसे मिलना चाहिए। राज्य के सारे समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से हरेक व्यक्ति के फ़ायदे के लिए बहुत-से ज़रूरी काम पूरे करने होते हैं। सरकार का काम है कि सारे बच्चों की शिक्षा का इन्तज़ाम करे, अच्छी सड़कें और आवा-जाई के दूसरे साधन बनावे, अस्पताल और सफ़ाई की सेवाएं रक्खे, बाग़-बग़ीचे और अजायबघर और बहुत-सी दूसरी बातों का इन्तज़ाम करे। इसके लिए उसे रुपयों की ज़रूरत होती है, और इसलिए यह मुनासिब ही है कि ज़मीन की पैदावार में से वह एक हिस्सा ले ले। वह हिस्सा कितना होना चाहिए, यह सवाल दूसरा है। किसान जो कुछ राज्य को देता है, वह तो असल में सड़कों, शिक्षा, सार्वजनिक सफ़ाई, वग़ैरा, सरकारी सेवाओं के रूप में उसे वापस मिल जाता है या मिल जाना चाहिए। आजकल भारत की सरकार विदेशी है, और इसलिए हम उसे पसन्द नहीं करते। ठीक तरह से संगठित और आज़ाद देश में तो जनता ही राज्य होती है।

इस तरह ज़मीन की पैदावार के दो हिस्सों से तो हम निबट चुके—एक हिस्सा काश्तकार का और दूसरा राज्य का। तीसरा, जैसा कि हम देख चुके हैं, ज़मींदार या बिचौलिये को मिलता है। इसको पाने या इसका हक़दार होने के लिए वह क्या करता है? बिलकुल कुछ भी नहीं, या असल में कुछ भी नहीं। पैदावार के काम में बिना किसी तरह की मदद पहुँचाये ही वह पैदावार का एक बड़ा हिस्सा—अपना लगान—ले लेता है, इस तरह वह बग्घी का पाँचवा पहिया हो जाता है, जो न सिर्फ़ ग़ैर-ज़रूरी ही है, बल्कि एक रुकावट और ज़मीन पर बोझ भी है। और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ाहिर है कि जो व्यक्ति इस ग़ैर-ज़रूरी बोझ से सबसे ज़्यादा तकलीफ़ उठाता है वह है बेचारा काश्तकार, जिसे अपनी कमाई का हिस्सा निकालकर देना पड़ता है। यही कारण है कि बहुत-से लोगों का ख़याल है कि ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार बिलकुल ग़ैर-ज़रूरी बिचौलिया है, और ज़मींदारी एक बुरी प्रथा है, इसलिए बदल दी जानी चाहिए, जिसमें कि यह बिचौलिया उड़ जाय। इस समय यह ज़मींदारी प्रथा ख़ासकर भारत के तीन प्रान्तों में, यानी बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त में, जारी है।

दूसरे प्रान्तों में काश्तकार अपना लगान आमतौर पर सीधा राज्य को अदा करते हैं, कोई बिचौलिये वहाँ नहीं हैं। कभी-कभी ये लोग भू-स्वामी किसान कहलाते हैं; कहीं-कहीं, जैसे पंजाब में, उन्हें ज़मींदार कहा जाता है, लेकिन ये संयुक्त-प्रान्त, बंगाल और बिहार के बड़े-बड़े ज़मींदारों से जुदा होते हैं।

इस लम्बी-चौड़ी व्याख्या के बाद अब मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त में पनपनेवाली यह ज़मींदारी प्रथा, जिसके बारे में हम इन दिनों इतना सुनते रहते हैं, भारत में एक बिलकुल नई चीज़ है। यह अंग्रेज़ों की पैदा की हुई है। उनके आने से पहले इसकी हस्ती नहीं थी।

पुराने ज़माने में इस तरह के कोई ज़मींदार, ताल्लुक़ेदार या बिचौलिये नहीं होते थे। काश्तकार अपनी पैदावार का एक हिस्सा सीधा राज्य को देते रहते थे। कभी-कभी ग्राम-पंचायत गाँव के काश्तकारों की तरफ़ से यह काम कर देती थी। अकबर के ज़माने में उसके नामी वित्त-मंत्री राजा टोडरमल ने बड़ी सावधानी से ज़मीन की पैमाइश करवाई थी। सरकार या राज्य काश्तकार से पैदावार का तीसरा हिस्सा लेता था, जिसे काश्तकार चाहता तो नक़दी में भी अदा कर सकता था। आम-तौर पर करों का बोझ ज़्यादा नहीं था और वे बहुत धीरे-धीरे बढ़ाये गए थे। इसके बाद मुग़ल साम्राज्य के पतन का ज़माना आया। केन्द्रीय शासन कमज़ोर हो गया और करों की वसूली ठीक-ठीक नहीं हो सकी। तब वसूली का एक नया तरीक़ा पैदा हुआ। लगान वसूल करनेवाले तनख़्वाह पर नहीं, बल्कि एजेण्ट के तौर पर नियुक्त किये गए, जो वसूल हुई रक़म का दसवाँ हिस्सा अपने लिए रख सकते थे। इन्हें माल-गुज़ार, या कभी-कभी ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार कहा जाता था; लेकिन ख़याल रहे कि इन शब्दों का तब वह अर्थ नहीं होता था, जो आज किया जाता है।

जैसे-जैसे केन्द्रीय शासन ढीला पड़ता गया, यह प्रथा भी दिन-पर-दिन बिगड़ती गई। हालत यहाँतक पहुँची कि हर इलाके की मालगुज़ारी का नीलाम होने लगा और सबसे ऊँची बोली लगानेवाले को यह काम मिलने लगा। इसका अर्थ यह था कि जिसे यह काम मिलता, उसको बदनसीब काश्तकार से जितना चाहें उतना रुपया ऐंठने की खुली छूट रहती थी, और अपनी इस छूट का वह भर-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर फ़ायदा उठाता था। धीरे-धीरे ये मालगुज़ार मौरूसी होने लगे, क्योंकि सरकार इतनी कमज़ोर हो गई थी कि इन्हें हटा न सकी।

वास्तव में पहले-पहल बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मानी जानेवाली क़ानूनी हैसियत मुग़ल बादशाह की तरफ़ से काम करनेवाले मालगुज़ार की थी। १७६५ ई० में कम्पनी को दिये गए 'दीवानी' के पट्टे का यही मतलब था। इस तरह कम्पनी दिल्ली के मुग़ल बादशाह की दीवान-जैसी बन गई। लेकिन यह सब धोखा था। १७५७ ई० की पलासी की लड़ाई के बाद बंगाल में अंग्रेज़ों की ही तूती बोलती थी; बेचारे मुग़ल-सम्राट् के पास कहीं भी नाम को या बिलकुल अधिकार नहीं रहा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अफ़सर बेहद लालची थे। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इन लोगों ने बंगाल का ख़ज़ाना ख़ाली कर डाला, और जहाँ कहीं भी मौक़ा लगता पैसे पर ज़बर्दस्ती पंजा मारने में न चूकते थे। उन्होंने बंगाल और बिहार को निचोड़ डालने और ज़्यादा-से-ज़्यादा लगान वसूल करने की कोशिश की। उन्होंने छोटे-छोटे मालगुज़ार पैदा किये और लगान की माँग बहुत बुरी तरह बढ़ा दी। ज़मीन का लगान थोड़े ही दिनों में दुगुना हो गया और बड़ी बेदर्दी से वसूल किया जाने लगा और अगर कोई वक़्त पर लगान अदा न करता तो फ़ौरन बेदख़ल कर दिया जाता था। मालगुज़ार अपनी तरफ़ से यह बेरहमी और लालची लुटेरापन काश्तकारों पर ढाते; उनपर भारी-से-भारी लगान लगा दिया जाता, और उनके पट्टे छीन लिये जाते। पलासी की लड़ाई के बाद बारह वर्षों में यानी दीवानी की सनद दिये जाने के चार वर्षों में ही, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से, और साथ ही वर्षा न होने से, बंगाल और बिहार में ऐसा भयंकर अकाल पड़ा कि उसमें कुल आबादी का एक-तिहाई हिस्सा भर-खप गया। १७६९-७० ई० के इस अकाल की चर्चा मैं एक पिछले पत्र में कर चुका हूँ, और यह भी बता चुका हूँ कि इस अकाल के होते हुए भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगान की पाई-पाई वसूल करके छोड़ी। इस बारे में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफ़सरों की अनोखी मुस्तैदी का ज़िक्र ख़ास तौर पर किये जाने के लायक़ है। बीसियों लाख पुरुष, स्त्री और बच्चे मर गये, पर उन्होंने लाशों तक से रुपया वसूल कर लिया, ताकि इंग्लैण्ड के मालदारों को भारी-से-भारी मुनाफ़े बाँटे जा सकें।

इस तरह अगले बीस या कुछ अधिक वर्षों तक यही सिलसिला चलता रहा। अकाल होने पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी रुपया ऐंठती रही और उसने बंगाल के सुन्दर प्रान्त को तबाह कर दिया। बड़े-बड़े मालगुज़ार तक भिखारी हो गये, और सिर्फ़ इसीसे इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि मुसीबत के मारे काश्तकारों की क्या दुर्गति हुई होगी। हालत इतनी ख़राब हो गई कि ख़ुद ईस्ट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इण्डिया कम्पनी को चेतना पड़ा, और उसे सुधारने की कोशिश करनी पड़ी। उस समय का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस, जो खुद इंग्लैण्ड का एक बड़ा ज़मींदार था, भारत में अंग्रेज़ी ढंग के ज़मींदार पैदा करना चाहता था। पिछले कुछ अर्से से मालगुज़ार लोग ज़मींदारों की ही तरह बर्ताव कर रहे थे। कार्नवालिस ने इनके साथ समझौता करके इन्हें ज़मींदार ही मान लिया। नतीजा यह हुआ कि पहली बार भारत को यह नया बिचौलिया मिला, और बेचारे काश्तकार महज़ असामी रह गये। अंग्रेज़ों ने इन ज़मींदारों से अपना सीधा सम्बन्ध रक्खा और उन्हें अपने असामियों के साथ मनमानी करने को खुला छोड़ दिया। ज़मींदार की लालची लूट से बेचारे किसान को बचाने का कोई उपाय न था।

बंगाल और बिहार के ज़मींदारों के साथ १७९३ ई० में कार्नवालिस ने जो बन्दोबस्त किया था, वह 'दायमी बन्दोबस्त' कहलाता है। 'बन्दोबस्त' शब्द का अर्थ है हरेक जमींदार सरकार को जो लगान दे, उसकी रक़म तय किया जाना। बंगाल और बिहार के लिए यह बन्दोबस्त स्थायी या हमेशा के लिए कर दिया गया। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। बाद में जब उत्तर-पश्चिम में अवध और आगरा तक अंग्रेज़ी राज्य बढ़ गया, तब उनकी नीति बदल गई। फिर ज़मींदारों के साथ बंगाल की तरह स्थायी बन्दोबस्त न करके, अस्थायी यानी थोड़े समय का बन्दोबस्त किया गया। यह अस्थायी बन्दोबस्त समय-समय पर, आमतौर पर हर तीसवें साल, दुरुस्त किया जाता था और लगान की रक़म फिर नये सिरे से तय की जाती थी। वैसे हर बन्दोबस्त में यह रक़म बढ़ती ही जाती थी।

दक्षिण में मद्रास में और उसके आस-पास ज़मींदारी प्रथा चालू नहीं थी। वहाँ मौरूसी काश्तकारी थी और इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधा किसानों से बन्दोबस्त कर लिया। लेकिन वहाँ और हर जगह, कम्पनी के अफ़सरों की न बुझने-वाली हविस ने लगान की रक़में बहुत ऊँची तय कर दीं, और उन्हें बड़ी बेरहमी से ऐंठा गया। न देने पर फ़ौरन बेदखली थी; लेकिन बेचारा किसान कहाँ जाता? धरती पर ज़रूरत से ज्यादा दबाव होने की वजह से हमेशा उसकी माँग रहती थी; इसलिए भूखों मरते आदमी किन्हीं भी शर्तों पर उसे लेने को तैयार रहते थे। जब मुसीबतें झेलते-झेलते किसान और ज्यादा बर्दाश्त न कर सकते तो अक़्सर लड़ाई-झगड़े और किसानी दंगे हो जाया करते थे।

उन्नीसवीं सदी के बीच में बंगाल में एक नया अत्याचार शुरू हुआ। कुछ अंग्रेज़ नील का व्यापार करने की गरज़ से ज़मींदार बन बैठे। उन्होंने अपने असामियों से नील की खेती के बारे में बड़ी सख्त शर्तें कीं। उन्हें अपनी जोतों के कुछ नियत हिस्से से नील की खेती के लिए, और फिर उसे प्लाण्टर्स कहानेवाले अंग्रेज़ ज़मींदारों के हाथ एक बन्धी दर पर बेचने के लिए मजबूर किया गया। यह प्रथा बागान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्लाण्टेशन) प्रथा कहलाती है। असामियों पर लादी गई शर्तें इतनी सख्त थीं कि उनके लिए उनको पूरा करना बहुत मुश्किल था। तब बागानियों की मदद के लिए अंग्रेज सरकार आ पहुँची और उसने बेचारे किसानों से इन शर्तों के मुताबिक़ ज़बर्दस्ती नील की खेती कराने के लिए खास क़ानून बना दिये। इन क़ानूनों और इनके मातहत सज़ाओं के ज़रिये नील की खेती करनेवाले असामी कुछ बातों में इन बागानियों के चाकर और गुलाम हो गये। नील के कारखानों के कारिन्दे उनको डराते-धमकाते रहते थे, क्योंकि सरकार का सहारा पाकर ये अंग्रेज़ या भारतीय क़ारिन्दे अपने-आपको बिलकुल सुरक्षित समझते थे। अक़्सर, जब नील की क़ीमत गिर जाती, तब काश्तकार को चावल या कोई दूसरी फ़सल बोने में ज्यादा फ़ायदा रहता, लेकिन उसे ऐसा नहीं करने दिया जाता था। काश्तकार के लिए सख्त मुसीबत और तबाही थी। अन्त में इन जुल्मों से बेहद तंग आकर कीड़े ने भी करवट बदली। किसान वर्ग बागानियों के खिलाफ़ उठ खड़ा हुआ और उन्होंने एक कारखाने को लूट लिया। लेकिन वे कुचलकर दबा दिये गए।

इस पत्र में मैंने कुछ विस्तार के साथ उन्नीसवीं सदी के किसानों की हालत की एक तसवीर तुम्हें दिखाने की कोशिश की है। मैंने यह समझाने की कीशिश की है कि किस तरह भारतीय किसान की बुरी हालत बिगड़ती चली गई; किस तरह उसके सम्पर्क में आनेवाले हर आदमी ने उसे निचोड़ा; क्या लगान वसूल करने-वाले ने, क्या ज़मींदार ने, क्या बनिये ने, क्या बागानी और उसके कारिन्दों ने और क्या सबसे बड़े बनिये खुद अंग्रेज़ सरकार ने—चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मार्फ़त, चाहे सीधी तौर पर। क्यों कि इस सारे शोषण की जड़ में थी अंग्रेज़ों की वह नीति जो वे भारत में जान-बूझकर बरत रहे थे। कुटीर-उद्योगों का, उनकी जगह दूसरे उद्योग जारी करने की कोशिश किये बिना ही, उजाड़ दिया जाना; बेरोज़गार कारीगर को गाँव में खदेड़ दिया जाना, जिसकी वजह से ज़मीन पर ज़रूरत से ज्यादा दबाव पड़ता; ज़मींदारी; नील की खेती की बागान प्रथा; ज़मीन पर भारी टैक्स, जिसकी वजह से कसकर लगान लगाया जाना और बेरहमी से वसूल किया जाना; किसानों को सूदखोर बनियों के पास जाने के लिए मजबूर करना, जिनके फौलादी पंजे से वे कभी न निकल सकें; वक़्त पर लगान या मालगुज़ारी अदा न कर सकने की हालत में बेशुमार बेदखलियाँ; और इन सबके ऊपर पुलिस के सिपाही का, लगान वसूलनेवाले का और ज़मींदार और कारखाने के क़ारिन्दों का हमेशा अत्याचार जिसने किसानों की रही सही जान और आत्मा को भी नष्ट-जैसी कर दिया; इस सबका नतीजा न टलनेवाली दुर्दशा और ज़बर्दस्त आफ़त के सिवा और क्या हो सकता था?

भयंकर अकाल पड़े, जिनसे लाखों की आबादी मौत के मुंह में चली गई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अजीब बात तो यह कि जब ग़ल्ले की कमी थी और लोग उसके बिना भूखों मर रहे थे, उसी समय गेहूँ और दूसरे अनाज मालदार व्यापारियों के मुनाफ़े के लिए देश के बाहर भेजे जा रहे थे। लेकिन वास्तव में दुःख की बात अनाज की कमी की नहीं थी, क्योंकि अनाज तो रेल के ज़रिये देश के दूसरे हिस्सों से भी मँगाया जा सकता था, बल्कि खरीदने के साधनों के अभाव की थी। १८६१ ई० में उत्तर भारत में, खासकर हमारे प्रान्त में, भारी अकाल पड़ा, और कहा जाता है कि उस अकालवाले इलाक़े की ८½ फ़ीसदी आबादी मौत की भेंट हुई। पन्द्रह साल बाद, १८७६ ई० में, और दो वर्ष तक, एक और भयानक अकाल उत्तर, मध्य व दक्षिण भारत में पड़ा। संयुक्त प्रान्त की फिर सबसे ज़्यादा तबाही हुई और साथ ही मध्यभारत और पंजाब के कुछ हिस्सों की भी। क़रीब-क़रीब एक करोड़ आदमी काल के गाल में चले गए! बीस वर्ष बाद, १८९६ ई० में, लगभग इसी अभागे इलाक़े में, एक और भयंकर अकाल पड़ा, जैसा भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं पड़ा था। भयंकर मार ने उत्तर व मध्य-भारत की कमर तोड़ दी और उसे बिलकुल पस्त कर दिया। १९०० ई० में फिर एक और अकाल पड़ा।

इस छोटे-से पैरा में मैंने तुम्हें चालीस साल के अन्दर होनेवाले चार ज़बर्दस्त अकालों का हाल बताया है। इस दर्दनाक कहानी में जो भयानक मुसीबतें और दिल दहलानेवाली बातें भरी हुई हैं, उन्हें न तो मैं बयान कर सकता हूँ, न तुम महसूस कर सकती हो। असल बात यह है कि शायद मैं यह चाहता भी नहीं कि तुम यह महसूस करो, क्योंकि इससे ग़ुस्सा व कड़वाहट पैदा होंगे, और मैं नहीं चाहता कि इस छोटी-सी उम्र में तुम्हारे मन में कड़वाहट पैदा हो।

तुमने उस दिलेर अंग्रेज़ महिला फ्लोरेन्स नाइटिंगेल का नाम सुना है, जिसने पहले-पहल युद्ध में घायलों की सेवा का कारगर संगठन किया था। बहुत पहले ही, १८७८ ई० में, उसने लिखा था—"हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नहीं-नहीं शायद सारी दुनिया में, सबसे ज़्यादा दर्दभरा नज़ारा है।" "हमारे क़ानूनों के नतीजों" की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि "इन्होंने दुनिया के सबसे ज़्यादा उपजाऊ मुल्क़ में, और बहुत-सी ऐसी जगहों पर जहाँ अकाल नाम की कोई चीज़ ही नहीं है, एक पीस डालनेवाली, राज-रोग के समान आधी-भुखमरी की हालत" पैदा कर दी।

हमारे किसानों की धँसी हुई आँखों में शिकार किये जानेवाले जानवर जैसा डर झलकता है और मायूसी झलकती है। यह सच है कि इससे ज़्यादा दर्दभरा नज़ारा कोई दूसरा नहीं हो सकता। हमारा किसान-वर्ग इतने वर्षों से कितना बोझ उठाता चला आ रहा है! और हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि हममें से जो थोड़े-बहुत ख़ुशहाल हो पाये हैं, उन्होंने तो इस बोझ को कुछ बढ़ाया है। क्या

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशी और क्या भारतवासी, सभी लोगों ने सदियों से सताये हुए इस किसान का शोषण करने की कोशिश की है, और सभी इसकी पीठ पर सवारी गाँठे बैठे हैं। ऐसी हालत में उसकी कमर टूट रही हो तो इसमें ताज्जुब क्या है?

लेकिन, अन्त में बहुत दिन बाद, किसान को आशा की एक झलक दिखाई दी, अच्छे दिन आने और बोझा हलका होने की धीमी-सी आवाज़ उसके कानों में सुनाई दी। एक छोटा-सा व्यक्ति आया, जिसने उसकी आँखों में आँखें मिलाईं, उसके मुरझाये हुए दिल की तह तक पहुँचकर उसकी लम्बी पीड़ा को महसूस किया। इसकी नज़र में जादू था, छूने में आग थी, आवाज़ में सहानुभूति थी और दिल में एक जलन थी, और छलकता हुआ प्रेम था और जान निछावर करनेवाली वफ़ादारी थी। और जब किसानों ने, मज़दूरों ने, और उन सबने, जो पैरों तले रौंदे जा रहे थे, उसे देखा और उसकी आवाज़ सुनी, तो उनके मुर्दा दिलों में चेतना जाग उठी और वे खुशी से भर उठे; उनमें एक नई आशा का उदय हुआ और वे हर्ष के मारे चिल्ला उठे—"महात्मा गांधी की जय", और अपने कष्टों की घाटी से बाहर निकलने के लिए चल खड़े हुए। लेकिन जो पुरानी चक्की इतने दिनों तक इन्हें पीस रही थी, वह उन्हें आसानी से छोड़नेवाली नहीं थी। वह फिर चली, और उन्हें कुचलने के लिए उसने नये हथियार, नये क़ानून और आर्डिनेन्स निकाले, और जकड़ने के लिए नई ज़ंजीरें तैयार कीं। और आगे?—यह मेरे क़िस्से या इतिहास का भाग नहीं है। यह अभी आगे आनेवाले 'कल' की बात है और जब वह 'कल' 'आज' हो जायगा, तब हम सब कुछ जान जायँगे। क्या इसमें किसी को शक है?

: ११२ :

ब्रिटेन ने भारत पर राज कैसे किया?

५ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवीं सदी के भारत के बारे में तुम्हें मैं तीन लम्बे पत्र लिख चुका हूँ। यह एक लम्बी कहानी है और लम्बी छटपटाहट है, और अगर मैं इसे छोटी कर दूँ, तो मुझे डर है कि तुम्हारे लिए उसका समझना और भी ज़्यादा मुश्किल हो जायगा। दूसरे देशों या ज़मानों की बनिस्बत मैं भारत के इतिहास के इस ज़माने पर शायद ज़्यादा ज़ोर दे रहा हूँ। यह कोई अनोखी बात नहीं है। भारतवासी होने के नाते मेरी इसमें ज़्यादा दिलचस्पी है, और इसके बारे में ज़्यादा जानकारी होने की वजह से, मैं अच्छी तरह लिख भी सकता हूँ। इसके अलावा यह ज़माना हमारे लिए ऐतिहासिक दिलचस्पी से बहुत ज़्यादा महत्व रखता है। जिस आधुनिक भारत को आज हम पाते हैं, वह उन्नीसवीं सदी की इसी छटपटाहट में बना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ और गढ़ा हुआ है। इस समय भारत जैसा है, उसे अगर हमें समझना है, तो हमें उन कारणों को भी ज़रूर समझना होगा, जिन्होंने इसे बनाया या बिगाड़ा है। तभी हम समझदारी के साथ सेवा कर सकेंगे और तभी यह जान सकेंगे कि हमें क्या करना चाहिए और कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए।

भारत के इतिहास के इस काल का बयान अभी मैंने ख़त्म नहीं किया है। अभी तो मुझे बहुत-कुछ कहना है। इन पत्रों में मैं इसके एक या ज़्यादा पहलुओं को लूंगा और उसके बारे में कुछ बताने की कोशिश करूंगा। हरेक पहलू पर मैं अलग-अलग चर्चा करूँगा, ताकि उसे समझने में आसानी हो। अलबत्ता तुम देखोगी कि जिन प्रगतियों और परिवर्तनों का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ और जिनकी चर्चा इस पत्र में और अगले पत्रों में करूंगा, वे सब कम-बढ़ एक ही साथ हुए हैं, एक का दूसरे पर असर पड़ा है और इन्हीं दोनों ने उन्नीसवीं सदी के भारत को जन्म दिया है।

भारत में अंग्रेज़ों की इन करतूतों और काली करतूतों का हाल पढ़कर कभी-कभी तो तुम उनकी बरती हुई नीति पर और उससे पैदा हुई आम तबाही पर ग़ुस्सा करने लगोगी। लेकिन जो कुछ हुआ उसमें क़सूर किसका था ? क्या यह सब हमारी ही कमज़ोरी और ना-जानकारी का नतीजा नहीं था ? कमज़ोरी और बेवक़ूफ़ी हमेशा अत्याचारी शासन को न्यौता देनेवाली हुआ करती हैं। अगर अंग्रेज़ हमारी आपसी फूट से फ़ायदा उठा सकते हैं, तो यह हमारी ही ग़लती है कि हम आपस में झगड़ते हैं। जुदा-जुदा दलों की ख़ुदगर्ज़ी का सहारा लेकर अगर वे हममें फूट डाल सकते हैं और यूँ हमें कमज़ोर बना सकते हैं, तो ऐसा होने देना ख़ुद इस बात की निशानी है कि अंग्रेज़ हमसे ऊँचे हैं। इसलिए, अगर तुम्हें नाराज़ होना हो तो इस कमज़ोरी और आपसी लड़ाई पर नाराज़ होना, क्योंकि ये ही चीज़ें हमारी मुसीबतों के लिए ज़िम्मेदार हैं।

हम लोग अंग्रेज़ों के अत्याचार की बात करते हैं। लेकिन असल में यह अत्याचार है किसका ? कौन इससे फ़ायदा उठाता है ? सारी अंग्रेज़ जाति नहीं, क्योंकि ख़ुद उस जाति में लाखों बदनसीब और सताये हुए लोग हैं। और भारत-वासियों के कई छोटे-छोटे दल और वर्ग ऐसे हैं, जिन्होंने भारत के ब्रिटिश शोषण से कुछ-न-कुछ फ़ायदा उठाया है। तब हम भेद कहाँ करें ? वास्तव में यह सवाल व्यक्तियों का नहीं प्रणाली का है। हम एक भारी-भरकम मशीन के नीचे दबे रहे हैं, जिसने भारत के लाखों-करोड़ों को निचोड़ा और कुचला है। यह मशीन है उद्योगी पूंजीवाद से पैदा हुए नये साम्राज्यवाद की। इस शोषण का मुनाफ़ा ज़्यादातर इंग्लैण्ड को जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड में उसका लगभग सारा मुनाफ़ा कुछ ख़ास वर्गों को ही पहुँचता है। इसी तरह इस शोषण के मुनाफ़े का कुछ हिस्सा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में भी रहता है, और कुछ वर्ग उससे फ़ायदा उठाते हैं। इसलिए हमारा व्यक्तियों से या सारी अंग्रेज़-जाति से नाराज़ होना बेवक़ूफ़ी है। अगर कोई प्रणाली ग़लत है और हमें नुकसान पहुँचाती है, तो उसीको बदलना चाहिए। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उस प्रणाली को कौन चलाता है, और अक्सर भले आदमी भी किसी बुरी प्रणाली में पड़कर लाचार हो जाते हैं। दुनिया भर की नेकनीयती से भी कोई बालू और पत्थर को अच्छे भोजन में नहीं बदल सकता, चाहे जितना कोई उन्हें पकावे। मेरे खयाल से यही बात साम्राज्यवाद और पूंजीवाद पर भी लागू होती है। इनमें सुधार हो नहीं सकता; इनका अकेला असली सुधार है इनको जड़ से उखाड़ फेंकना। लेकिन यह मेरी अपनी राय है। कुछ लोग इससे मतभेद रखते हैं। तुम्हें किसी बात को ज्यों-का-त्यों मान लेने की ज़रूरत नहीं। जब समय आयगा, तुम अपने-आप अपने नतीजे निकाल सकोगी। लेकिन एक बात से ज्यादातर लोग सहमत हैं कि जो चीज़ खराब है, वह प्रणाली है, और इसलिए व्यक्तियों से खीझना बेकार है। अगर हम कोई परिवर्तन चाहते हैं, तो हमें इस प्रणाली पर हमला करके उसे बदल डालना चाहिए। इस प्रणाली के कुछ बुरे नतीजे हम भारत में देख चुके हैं। जब हम चीन, मिस्र और बहुत-से दूसरे देशों का विचार करते हैं, तो वहाँ भी हम उसी प्रणाली को, पूंजीवादी साम्राज्यवाद की उसी मशीन को, काम करते हुए और लोगों का शोषण करते हुए देखते हैं।

अब हम अपनी कहानी पर आते हैं। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जिस समय अंग्रेज़ भारत में आये, यहाँ के कुटीर-उद्योगों की हालत बहुत ऊँचे दर्जे पर थी। उत्पादन के तरीक़ों की क़ुदरती प्रगति के साथ, अगर उसमें बाहरी दख़ल न होता, तो सम्भव था कि कभी-न-कभी भारत में भी मशीनों का उद्योग आ जाता। लोहा और कोयला इस देश में मौजूद थे, और जैसा कि हम इंग्लैण्ड में देख चुके हैं, इन चीज़ों ने नये उद्योगवाद को बहुत मदद पहुँचाई और वास्तव में कुछ हद तक उसे पैदा किया। अन्त में यही भारत में भी हुआ होता। राजनीतिक हालतों में गड़बड़ी के सबब से शायद इसमें कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच अंग्रेज़ों ने टाँग अड़ा दी। ये लोग ऐसे देश और ऐसी क़ौम के प्रतिनिधि थे, जिसने अपने यहाँ के पुराने तरीक़ों को बदलकर बड़ी मशीन के नये उत्पादन को अपना लिया था। इससे यह खयाल किया जा सकता था कि ये लोग भारत में भी इसी तरह का परिवर्तन पसन्द करेंगे और यहाँ जिस वर्ग के लोगों के ज़रिये इस तरह का परिवर्तन पैदा होने की सम्भावना हो उसे बढ़ावा भी देंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। बल्कि उन्होंने वास्तव में इससे बिलकुल उलटा ही किया। भारत को अपना होनेवाला मुक़ाबलेदार मानकर उन्होंने उसके उद्योगों को नष्ट कर डाला और मशीनों के उद्योग को सचमुच चलने ही नहीं दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह हम भारत में एक निराली हालत पाते हैं। हम देखते हैं कि कि इस समय यूरोप में सबसे आगे बढ़े हुए ये अंग्रेज भारत में सबसे ज्यादा पिछड़े हुए और दक़ियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर रहे हैं। वे मरते हुए सामन्ती वर्ग को टेक देकर खड़ा कर रहे हैं; ज़मींदार पैदा कर रहे हैं; सैकड़ों अधीन देशी राजाओं को उनकी आधी-सामन्ती रियासतों में सहारा दे रहे हैं। वे भारत में जान-बूझकर सामन्तशाही को मज़बूत बना रहे हैं। ये ही अंग्रेज यूरोप में मध्यम-वर्ग की उस क्रान्ति के अगुआ थे, जिसने उन की पार्लमेण्ट को अधिकार दिलाया था; ये ही उस उद्योगी क्रान्ति में भी अगुआ थे, जिसके नतीजे से संसार में उद्योगी पूँजीवाद जारी हुआ। इन बातों में अगुआ होने के कारण ही वे अपने मुक़ाबलेदारों से कहीं आगे बढ़ गये और एक लम्बा-चौड़ा साम्राज्य क़ायम कर पाये।

अंग्रेज़ों ने भारत में इस तरह का व्यवहार क्यों किया, यह समझना मुश्किल नहीं है। पूँजीवाद की सारी बुनियाद गर्दन-मार होड़ और शोषण पर है, और साम्राज्यवाद इससे आगे के दर्जे का नाम है। इसलिए हाथ में सत्ता होने से अंग्रेज़ों ने अपने असली मुक़ाबलेदारों की हत्या कर डाली, और दूसरे मुक़ाबले-दारों की बढ़ोतरी को जान-बूझकर रोक दिया। जनता से मेल बढ़ा सकना उनके लिए सम्भव नहीं था, क्योंकि भारत में उनके रहने का सारा प्रयोजन ही जनता का शोषण करना था। शोषकों व शोषितों के हित कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए उन्होंने—अंग्रेज़ों ने—भारत में तबतक मौजूद सामन्तशाही के बचे-खुचे टुकड़ों का सहारा लिया। जब अंग्रेज़ यहाँ आये तभी इन लोगों में असली ताक़त कुछ भी बाक़ी नहीं थी; लेकिन इन्हें सहारा देकर खड़ा किया गया और देश की लूट का कुछ हिस्सा इन्हें दिया जाने लगा। लेकिन ऐसे वर्ग को, जिसकी उपयोगिता पहले ही ख़त्म हो चुकी थी, इस तरह का सहारा कुछ ही समय के लिए राहत पहुँचा सकता था; सहारे के हटते ही या तो वे ज़रूर धराशायी हो जाते या फिर अपने को नई हालतों के अनुकूल बना लेते। अंग्रेज़ों की कृपा के आसरे इस तरह की कुछ नहीं तो सात सौ छोटी-बड़ी देशी रियासतें थीं। इन बड़ी रिया-सतों में से हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर, बड़ौदा, ग्वालियर, वग़ैरा, कुछको तुम जानती हो। लेकिन यह विचित्र बात है कि इन रियासतों के ज्यादातर देशी नरेश पुराने सामन्ती सरदारों के वंशज नहीं हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कि ज्यादातर बड़े ज़मींदारों की कोई बहुत प्राचीन परम्पराएँ नहीं हैं। हाँ, उदयपुर का महा-राणा, जो सूर्यवंशी राजपूतों में सबसे बड़ा माना जाता है, ज़रूर एक ऐसा राजा है, जो अपनी वंशावली का पिछला सम्बन्ध इतिहास शुरू होने से पहले के एक धुँधले ज़माने के साथ जोड़ सकता है। जापान का राजा मिकादो ही शायद एक ऐसा मौजूदा व्यक्ति है, जो इस बात में उसकी बराबरी कर सकता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज़ी राज ने मज़हबी बैर-भावों को भी बढ़ावा दिया। यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है, क्योंकि अंग्रेज़ लोग ईसाइयत का दावा करते थे, फिर भी उनके आने से भारत में हिन्दू-धर्म और इस्लाम और भी ज्यादा कट्टर बन गये। कुछ हद तक यह प्रतिक्रिया लाज़िमी भी थी, क्योंकि विदेशी हमले से अपनी रक्षा करने के लिए किसी देश के मज़हब और संस्कृति कठोर बनने लगते हैं। इसी तरह से मुसलमानों के हमलों के बाद हिन्दू-धर्म में कट्टरपन आ गया, और जात-पाँत का भेद बढ़ गया। अब हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों ही में इस ढंग की प्रतिक्रिया हो गई। लेकिन इसके अलावा भी, ब्रिटिश सरकार ने दोनों मज़हबों के कट्टरपन्थी तत्वों को, सचमुच जानबूझकर और अनजान में, दोनों तरह से मदद पहुँचाई। अंग्रेज़ों को मज़हब में या मज़हब बदलने के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वे तो हर तरह रुपया पैदा करना चाहते थे। मज़हबी मामलों में किसी तरह की दस्तन्दाज़ी करने से डरते थे, कि कहीं लोग ग़ुस्से में आकर उनके ख़िलाफ़ खड़े न हो जायँ। इसलिए दस्तन्दाज़ी का शुबहा तक न होने देने के लिए वे यहाँ तक आगे बढ़ गये कि देश के मज़हबों को, या यों कहो कि मज़हबों के ऊपरी रूप को सचमुच बचाने व मदद देने लगे। इसका नतीज़ा अक़्सर यह हुआ कि यह ऊपरी रूप तो बना रहा, लेकिन भीतर कुछ न रहा।

कट्टर-पन्थियों की नाराज़गी के इस डर से सुधारों के मामले में भी सरकार इन्हीं लोगों का पक्ष लेने लगी। इस तरह सुधार का काम रुक गया। विदेशी सरकार के लिए कोई सामाजिक सुधार करना बहुत कठिन होता है; क्योंकि वह जो कुछ भी परिवर्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेंगे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्र कई बातों में परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे; यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में यह प्रगति बहुत धीमी रही। ख़ुद हिन्दू-शास्त्र में ज्यादातर रिवाज ही हैं, और रिवाज हमेशा बदलते और पैदा होते रहते हैं। हिन्दू-शास्त्र का यह लचीलापन अंग्रेज़ी राज में ग़ायब हो गया और उसकी जगह घोर कट्टर-पन्थियों की सलाह से बनाये गए कठोर क़ानूनी ज़ाब्तों ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब रुक गई। मुसलमान तो नई हालतों से और भी ज्यादा नाराज़ हुए और वे कूप-मण्डूक बन गये।

सती-प्रथा को, जिसमें हिन्दू विधवा अपने पति की चिता पर जल जाती थी, मिटाने के लिए अंग्रेज़ अपने को बहुत ज्यादा नेकनामी देते हैं। कुछ हद तक वे इसके हक़दार हैं भी, लेकिन सच तो यह है कि सरकार ने सिर्फ़ तभी क़दम उठाया जब राजा राममोहन राय के नेतृत्व में भारतीय सुधारकों ने इस प्रथा के ख़िलाफ़ बरसों आन्दोलन किया। इससे पहले दूसरे राजाओं ने भी, और ख़ासकर मराठों ने, इसे बन्द कर दिया था। गोवा में वहाँ के पुर्तगाली शासक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलबुक़र्क ने इस प्रथा को उठा दिया था। अंग्रेज़ों ने जो इस प्रथा को बन्द किया वह भारतवासियों के आन्दोलन और ईसाई पादरियों की कोशिशों का नतीजा था। जहाँ तक मुझे याद है, मज़हबी महत्त्व का सिर्फ़ यही एक सुधार है, जो ब्रिटिश सरकार ने किया है।

इस तरह अंग्रेज़ों ने देश के सब पिछड़े हुए और दक़ियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर लिया और उन्होंने यह कोशिश की कि भारत उनके उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करनेवाला बिलकुल कृषि-प्रधान देश बन जाय। भारत में कारख़ाने तरक़्क़ी न पा सकें, इसलिए उन्होंने यह किया कि भारत में मशीनों की आमद पर चुंगी लगा दी! दूसरे देशों ने अपने उद्योग-धन्धों को ख़ूब बढ़ावा दिया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जापान ने उद्योगीकरण की सरपट दौड़ लगाई। लेकिन भारत में ब्रिटिश सरकार ने उसकी मनाही कर दी। मशीनों पर इस चुंगी के कारण, जोकि १८६० ई० तक हटाई नहीं गई थी, भारत में कारख़ाना खोलने का ख़र्च, यहाँ पर मज़दूरी कहीं ज़्यादा सस्ती होने पर भी, इंग्लैण्ड से चौगुना पड़ता था। रुकावटें डालने की यह नीति प्रगति में देर भले ही कर सकती थी, घटनाओं के लाज़िमी बहाव को नहीं रोक सकती थी। सदी के बीच के क़रीब भारत में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेज़ी पूँजी से पटसन का उद्योग शुरू हुआ। रेशों के निकलने से उद्योगों की तरक़्क़ी में सहायता मिली और १८८० ई० में बम्बई और अहमदाबाद में कपड़े की मिलें खुलीं, जिनमें ज़्यादातर भारतीय पूँजी लगी थी। इसके बाद खनिज उद्योगों की बारी आई। धीरे-धीरे होनेवाला यह उद्योगीकरण कपड़े की मिलों के सिवा, ज़्यादातर अंग्रेज़ी पूँजी से हो रहा था। और यह सब कुछ हो रहा था सरकारी नीति के बावजूद भी। सरकार तो दख़ल न देने की नीति की दुहाई देती थी और कहती थी कि घटनाओं को अपने ढंग पर चलने दिया जाय और निजी तौर पर शुरू किये जानेवाले उद्योगों में दख़ल न दिया जाय। जब अठारहवीं और शुरू-उन्नीसवीं सदियों में भारतीय व्यापार ब्रिटिश व्यापार का मुक़ाबलेदार था, तब तो ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैण्ड में उसमें दख़ल देकर और उस पर भारी चुंगियाँ और पाबन्दियाँ लगाकर उसे कुचल दिया। और सबकुछ क़ाबू कर लेने के बाद वह अपनी दख़ल न देने की नीति की बात कर सकती थी! लेकिन असली बात तो यह है कि इस मामले में केवल उदासीन हों ऐसी बात नहीं थी। बल्कि उन्होंने तो कई भारतीय उद्योगों को, ख़ासकर बम्बई और अहमदाबाद के बढ़ते हुए कपड़ा-उद्योग को, सचमुच पनपने ही नहीं दिया। इन भारतीय मिलों के उत्पादन पर एक तरह का टैक्स या चुंगी लगाई गई, जिसे कपास पर उत्पादन-चुंगी का नाम दिया गया। इसका उद्देश्य था लंकाशायर के बने अंग्रेज़ी कपड़े को भारतीय कपड़े का मुक़ाबला करने में मदद पहुँचाना। क़रीब-क़रीब सभी देश अपने उद्योगों की रक्षा के लिए या

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आमदनी बढ़ाने की ग़रज़ से विदेशी माल पर चुंगी लगाते हैं। लेकिन भारत में अंग्रेज़ों ने एक बहुत ही अनोखी और निराली बात की। उन्होंने ख़ुद भारतीय माल पर ही चुंगी लगा दी! ज़बर्दस्त आन्दोलन होने पर भी, कपास पर यह चुंगी कुछ साल पहले तक जारी रही।

इस तरह सरकार की अड़ंगा-नीति के बावजूद भी भारत में धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धों की उन्नति होती गई। भारत के मालदार वर्ग उद्योगों के विकास के लिए दिन-पर-दिन ज़्यादा पुकार मचाते रहे। जहाँ तक़ मेरा ख़याल है, १९०५ ई० में कहीं जाकर सरकार ने एक 'वाणिज्य और उद्योग विभाग' क़ायम किया। लेकिन फिर भी, महायुद्ध छिड़ने से पहले तक, इस दिशा में उसने कुछ नहीं किया। औद्योगिक हालत की इस उन्नति ने शहरों के कारख़ानों में काम करने-वाले औद्योगिक मज़दूरों का एक वर्ग पैदा कर दिया। ज़मीन पर पड़नेवाला दबाव, जिसकी चर्चा मैं कर चुका हूँ, और देहाती इलाक़ों की अकाल-जैसी हालत, इन दोनों ने मिलकर बहुत-से गाँववालों को इन कारख़ानों में और बंगाल और असम में बढ़नेवाले बड़े-बड़े बागानों में ला पटका। इस दबाव की वजह से बहुत-से लोग दूसरे देशों का प्रवास करने को राज़ी हो गये, क्योंकि वहाँ उन्हें ज़्यादा मज़दूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज़्यादातर प्रवासी दक्षिण अफ़्रीका, फ़िजी, मॉरिशस और लंका गये। लेकिन इस परिवर्तन से मज़दूरों का कोई फ़ायदा नहीं हुआ। कुछ देशों में इन प्रवासी भारतीयों के साथ बिलकुल ग़ुलामों का-सा बर्ताव किया गया। असम के चाय-बागानों के मज़दूरों की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। बाद में हिम्मत हारकर और निराश होकर बहुतों ने चाय-बागानों को छोड़कर फिर अपने गाँवों को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गाँवों में भी उन्हें किसी ने नहीं अपनाया, क्योंकि उनके लिए अब कोई ज़मीन बाक़ी नहीं रही थी।

कारख़ानों के मज़दूरों को जल्दी ही मालूम हो गया कि थोड़ी-सी ज़्यादा मज़दूरी मिलने से उनका कुछ भला नहीं हुआ। शहर में हरेक चीज़ की क़ीमत ज़्यादा देनी होती थी, और शहरों का सारा रहन-सहन ही बहुत ज़्यादा ख़र्चीला था। रहने की जो जगहें उन्हें मिलती थीं, वे गन्दी, सीली, अँधेरी और तन्दुरुस्ती को बिगाड़नेवाली तंग कोठरियाँ होती थीं। जिन हालतों में उन्हें काम करना पड़ता था, वे भी बुरी थीं। गाँवों में उन्हें अक़्सर भूखों मरना पड़ता था, लेकिन धूप और ताज़ी हवा तो भरपूर मिल जाती थी। लेकिन कारख़ाने के मज़दूर के लिए न तो ताज़ी हवा थी, न काफ़ी धूप। उसकी मज़दूरी इतनी नहीं होती थी जो शहरी रहन-सहन के बढ़े हुए ख़र्चे को पूरा कर सके! स्त्रियों और बच्चों तक को बहुत घण्टों तक काम करना पड़ता था। गोदी के बच्चोंवाली माताएँ अपने बच्चों को अफ़ीम खिलाने लगीं, जिससे कि वे उनके काम में रुकावट न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डालें। उद्योगों के मज़दूरों को जिन हालतों में काम करना पड़ता था, वे ऐसी दुखदाई थीं। वे बहुत ही दुखी थे, और उनमें असन्तोष बढ़ रहा था। कभी-कभी निराशा से लाचार होकर वे हड़ताल भी कर देते थे। लेकिन वे बहुत ही बोदे और कमज़ोर थे, इसलिए उनके पूंजीपति मालिक, जिनकी पीठ पर अक़्सर सरकार का हाथ रहता था, आसानी से उन्हें कुचल देते थे। बहुत धीरे-धीरे और कड़वे अनुभवों के बाद उन्होंने सम्मिलित कार्रवाई का महत्व समझा। तब उन्होंने ट्रेड यूनियनें या मज़दूर-संघ बनाये।

यह न समझना कि यह बयान पिछली हालतों का है। मज़दूरों की हालत में इधर कुछ सुधार ज़रूर हुआ है, बेचारे मज़दूरों के बचाव के नाम पर कुछ क़ानून भी बनाये गए हैं; लेकिन आज भी अगर तुम कानपुर या बम्बई या कुछ दूसरी जगहों पर, जहाँ कारख़ाने हैं, जाकर देखो तो इन मज़दूरों के घरों को देखकर तुम्हारा दिल दहल जायगा।

अपने इस पत्र में और दूसरे पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें भारत में अंग्रेज़ों का और भारत में अंग्रेज़ी राज का हाल लिखा है। यह सरकार किस तरह की थी और कैसे चलती थी ? शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी, लेकिन उसकी पीठ पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट थी। १८५८ ई० के महान् विद्रोह के बाद ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने सीधा शासन सम्भाल लिया, और उसके बाद इंग्लैण्ड का बादशाह, या यूँ कहो कि बेगम, क्योंकि उस समय वहाँ मलिका राज करती थी, क़ैसरे-हिन्द बन गया। भारत में सबके ऊपर गवर्नर-जनरल था, जो वायसराय भी कहलाता था, और उसके नीचे अफ़सरों के दल-के-दल थे। भारत, जैसाकि बहुत-कुछ अब भी है, बड़े-बड़े प्रान्तों और देशी रियासतों में बाँट दिया गया था। देशी नरेशों की रियासतें मानी तो जाती थीं आधी-स्वाधीन, लेकिन वास्तव में वे पूरी तरह अंग्रेज़ों के अधीन थीं। हरेक बड़ी रियासत में एक अंग्रेज़ अफ़सर रहता था, जो रेज़िडेण्ट कहलाता था और जो शासन पर सरसरी निगाहबानी करता था। अन्दरूनी सुधारों में उसे कोई दिलचस्पी न थी, और उसे इससे कोई मतलब न था कि रियासत का शासन कितना ख़राब या दक़ियानूसी है। उसकी दिलचस्पी तो सिर्फ़ इस बात में थी कि रियासत में ब्रिटिश सत्ता को किस तरह ज़्यादा-से-ज़्यादा मज़बूत बनाया जाय।

भारत का क़रीब एक-तिहाई हिस्सा इन रियासतों में बँटा हुआ था। बाक़ी का दो-तिहाई हिस्सा सीधा ब्रिटिश सरकार के अधीन था। इसलिए यह दो-तिहाई हिस्सा ब्रिटिश भारत कहलाता था। ब्रिटिश भारत के सब ऊँचे अफ़सर अंग्रेज़ होते थे। हाँ, उन्नीसवीं सदी के अन्त में कुछेक भारतवासी इन ओहदों तक पहुँच गये। लेकिन फिर भी तमाम सत्ता और अधिकार अंग्रेज़ों के ही हाथ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में रहे, और अभी भी हैं। फ़ौजी अफ़सरों को छोड़कर बाक़ी के ये सब ऊँचे अफ़सर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। इस तरह भारत के सारे शासन की बागडोर इसी आई० सी० एस० सेवा के हाथों में थी। एक-दूसरे को मुक़र्रर करने वाले और अपने कामों के लिए जनता के कोई जवाबदार न होनेवाले अफ़सरों की ऐसी सरकार नौकरशाही कहलाती है।

इस आई० सी० एस० के बारे में हम बहुत-कुछ सुनते रहते हैं। इन लोगों का एक निराला दल बन गया है। कुछ बातों में वे बड़े मुस्तैद होते थे। वे शासन की व्यवस्था करते थे, ब्रिटिश हुकूमत को मज़बूत बनाते थे, और उसी सिलसिले में ख़ुद भी उससे ख़ूब फ़ायदा उठाते थे। ब्रिटिश-राज को जमाने में और टैक्स वसूल करने में सहायता देनेवाले सब सरकारी विभाग बड़ी होशियारी के साथ संगठित किये गए थे। दूसरे विभागों पर ध्यान नहीं जाता था। आई० सी० एस० के अफ़सरों को न तो जनता मुक़र्रर करती थी और न वे उसके जवाबदार थे, इसलिए वे उन दूसरे विभागों पर कोई ध्यान नहीं देते थे, जिनका जनता से सबसे ज़्यादा ताल्लुक़ था। जैसा कि ऐसी हालतों में होना लाज़िमी था, ये लोग मग़रूर और ढीठ हो गये और लोकमत को तुच्छ समझने लगे। अपने तंग और हद-बन्द नज़रिये की वजह से ये लोग अपने-आपको दुनिया में सबसे ज़्यादा अक़्लमन्द समझने लगे। उनके लिए भारत के हित का अर्थ था सबसे पहले अपनी नौकरशाही का हित। उन्होंने एक क़िस्म का आपसी तारीफ़ों का गुट्ट बना लिया और वे हमेशा एक-दूसरे की तारीफ़ें करते रहते थे। बेलगाम सत्ता और अधिकार का यही लाज़िमी नतीजा हुआ करता है, इसलिए ये इण्डियन सिविल सर्विस-वाले ही भारत के असली मालिक थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट इतनी दूर थी कि इनके कामों में दख़ल दे नहीं सकती थी, और देखा जाय तो उसे दख़ल देने का कोई मौक़ा भी न था, क्योंकि ये लोग उसके हितों को और ब्रिटिश उद्योग के हितों को साधते रहते थे। जहाँ तक भारतीय जनता के हितों का प्रश्न था, उनके बारे में उनपर कुछ ज़्यादा असर डालने का कोई रास्ता न था। वे इतने चिड़चिड़े हो गये थे कि अपनी मामूली-से-मामूली आलोचना को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

फिर भी इण्डियन सिविल सर्विस में कुछ भले, ईमानदार और क़ाबिल लोग भी हुए हैं। लेकिन वे न तो उस नीति के बहाव को बदल सकते थे और न उस धारा का रुख़ पलट सकते थे, जो भारत को अपने साथ खींचे लिये जा रही थी। आख़िर ये आई० सी० एस० वाले इंग्लैण्ड के उन औद्योगिक और आर्थिक हितों के एजेण्ट ही तो थे, जिनका ख़ास प्रयोजन था भारत का शोषण करना।

जहाँ-जहाँ इसके अपने और ब्रिटिश उद्योग के हितों का मामला था, वहाँ तो भारत की यह नौकरशाही हुकूमत मुस्तैद बन गई। लेकिन शिक्षा, सफ़ाई और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्पतालों पर और एक मज़बूत व प्रगतिशील राष्ट्र बनानेवाली दूसरी बहुत-सी कार्रवाइयों पर ध्यान नहीं दिया गया। वर्षों तक इन बातों का ख़याल तक नहीं किया गया। पुरानी गाँव-पाठशालाएँ ख़त्म हो गईं। फिर कहीं धीरे-धीरे और बड़ी बेदिली से कुछ शुरुआत की गई। शिक्षा की शुरुआत भी उन्होंने अपनी ख़ुद की ग़रज़ से ही की थी। तमाम ओहदों पर तो अंग्रेज़ लोग भरे हुए थे, लेकिन ज़ाहिर है कि छोटे ओहदों को और क्लर्कों यानी दफ़्तर के बाबुओं की जगहों को वे नहीं भर सकते थे। बाबुओं की ज़रूरत थी, सो इन बाबुओं को तैयार करने के लिए ही शुरू में अंग्रेज़ों ने स्कूल और कॉलेज खोले। तभी से, भारत में शिक्षा को ख़ास मंशा यही रही है; और इस शिक्षा से तैयार हुए ज़्यादातर लोग सिर्फ़ बाबू ही बनने के लायक़ हैं। लेकिन बाबुओं की संख्या जल्दी ही सरकारी व दूसरे दफ़्तरों की माँग से ज़्यादा बढ़ने लगी। बहुतों को नौकरी नहीं मिली, और इस तरह इन पढ़े-लिखे बेकारों का एक नया वर्ग बन गया।

इस नई अंग्रेज़ी शिक्षा में बंगाल सबसे आगे बढ़ गया और इसलिए शुरू में ज़्यादातर बाबुओं की भरती बंगालियों में से हुई। १८५७ ई० में तीन विश्व-विद्यालय कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में खोले गए। ध्यान देने लायक़ एक बात यह है कि मुसलमानों ने इस नई शिक्षा को दिल से नहीं अपनाया। इसलिए बाबू-गिरी और सरकारी नौकरियों की इस दौड़ में वे पिछड़ गये। बाद में यही उनकी शिकायतों का एक सबब बन गया।

एक और ध्यान देने लायक़ बात यह है कि जब सरकार ने शिक्षा की शुरुआत की तो लड़कियों को बिलकुल भुला दिया गया। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है। जो शिक्षा दी जा रही थी, उसकी मंशा थी बाबू लोग तैयार करना, और सिर्फ़ मर्द-बाबुओं की ही ज़रूरत थी, और पिछड़े हुए सामाजिक रिवाजों की वजह से उस समय सिर्फ़ मर्द ही मिलते थे। इसलिए लड़कियों की तरफ़ बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया और बहुत वर्षों के बाद जाकर कहीं उनके लिए छोटी-सी शुरुआत की गई।

: ११३ :

भारत की नई चेतना

७ दिसम्बर, १९३२

भारत में अंग्रेज़ी राज की नींव जिस तरह जमी और जिस नीति ने भारत की जनता में ग़रीबी और मुसीबत पैदा कर दी, यह मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। देश में शान्ति ज़रूर आई और बाक़ायदा शासन भी आया और मुग़ल साम्राज्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के टूटने से पैदा हुई गड़बड़ी के बाद ये दोनों ही बातें अच्छी हुईं। चोर-डाकुओं के संगठित दलों को दबा दिया गया। लेकिन खेतों और कारख़ानों में काम करनेवाले किसानों और मज़दूरों के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई मूल्य न था, क्योंकि अब वे नई हुकूमत की भारी चक्की में पीसे जा रहे थे। लेकिन मैं तुम्हें एक बार याद दिलाऊँगा कि किसी देश पर या क़ौम पर—इंग्लैण्ड पर या अंग्रेज़ों पर, नाराज़ होना ठीक नहीं है; क्योंकि वे भी हमारी ही तरह परिस्थितियों के शिकार थे। इतिहास के अध्ययन ने हमें बताया है कि जीवन अक़्सर बड़ा निर्दयी और कठोर होता है। इसपर तैश में आना या लोगों पर ख़ाली दोष लगाना बेवक़ूफ़ी है, और उससे कुछ नहीं बनता। बुद्धिमानी इसीमें है कि ग़रीबी, मुसीबत और शोषण के कारणों को समझने की और उन्हें दूर करने की कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं और घटना-क्रम की दौड़ में पिछड़ जाते हैं, तो लाज़िमी तौर पर मुसीबतें भुगतनी पड़ती हैं। भारत इसी तरह पिछड़ गया। वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज पुरानी लकीर का फ़क़ीर बन गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था बेताक़त और बेजान हो गई और बहाव रुक जाने से गन्दी होने लगी। ऐसी हालत में भारत को मुसीबतें झेलनी पड़ीं तो उसमें अचम्भे की बात नहीं है। संयोग से अंग्रेज़ इन मुसीबतों के निमित्त बन गये। अगर वे यहाँ न होते, तो शायद कोई दूसरे लोग इसी तरह का बर्ताव करते।

लेकिन अंग्रेज़ों ने भारत को एक बड़ा फ़ायदा ज़रूर पहुँचाया। उनकी नई और ज़ोरदार ज़िन्दगी की टक्कर ने ही भारत को हिला दिया और उसमें राजनीतिक एकता और राष्ट्रीयता पैदा कर दी। हालाँकि यह धक्का दुखदाई था, लेकिन हमारे प्राचीन देश और क़ौम में नई ज़िन्दगी पैदा करने के लिए शायद इसकी ज़रूरत भी थी। बाबू लोग तैयार करने के इरादे से दी जानेवाली अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतवासियों को पश्चिम में चालू विचारों के सम्पर्क में भी ला दिया। इससे अब अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का एक नया वर्ग बनने लगा। ये लोग हालाँकि संख्या में कम और जनता से अलग से थे, लेकिन फिर आगे चलकर नये राष्ट्रीय आन्दोलनों की रहनुमाई करनेवाले थे। ये लोग शुरू में तो इंग्लैण्ड के, और स्वतन्त्रता के बारे में अंग्रेज़ी विचारों के बड़े क़द्रदान थे। उन दिनों इंग्लैण्ड में लोग स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के बारे में बड़ी चर्चाएँ कर रहे थे। लेकिन ये सब बातें बे-सिर-पैर की थीं, और यहाँ भारत में इंग्लैण्ड सिर्फ़ अपने फ़ायदे के लिए अत्याचारी राज कर रहा था। लेकिन फिर भी कुछ अच्छी उम्मीदें लेकर यह आशा की जाती थी कि ठीक वक़्त आ जाने पर इंग्लैण्ड भारत को आज़ादी प्रदान कर देगा।

भारत पर पश्चिमी विचारों की टक्कर का कुछ असर हिन्दू-धर्म पर भी पड़ा। जनता पर तो कोई असर नहीं हुआ बल्कि, जैसा कि मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार की नीति ने तो जानकर कट्टरपन्थियों को ही मदद पहुँचाई। लेकिन सरकारी नौकरों और पेशेवर लोगों का जो नया मध्यमवर्ग बन रहा था, उनपर इसका असर हुआ। उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही बंगाल में हिन्दू-धर्म को पश्चिमी ढंग पर सुधारने का कुछ जतन किया गया था। इसमें शक नहीं कि पुराने ज़माने में हिन्दू-धर्म में अनगिनती सुधारक हो चुके हैं, जिनमें से कुछका ज़िक्र तो मैं इन पत्रों में कर चुका हूँ। लेकिन इस नये जतन पर तो साफ़-साफ़ ईसाइयत का और पश्चिमी विचारों का असर था। इस जतन के करनेवाले थे एक महान् व्यक्ति और बड़े विद्वान् राजा राममोहन राय, जिनके नाम का ज़िक्र सती-प्रथा के सिलसिले में आ चुका है। उन्हें संस्कृत, अरबी और कई दूसरी भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, और उन्होंने जुदा-जुदा मज़हबों का गहरा अध्ययन किया था। वे मज़हबी रीतियों और पूजा वग़ैरा के विरोधी थे और समाज-सुधार व स्त्री-शिक्षा के हिमायती थे। उन्होंने जो समाज क़ायम किया, वह ब्रह्मसमाज कहलाया। जहाँतक संख्या का ताल्लुक है, यह एक छोटी-सी संस्था थी, और अब भी वैसी ही है, और इसका दायरा बंगाल के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही रहा है। लेकिन बंगाल के जीवन पर इसका ज़बर्दस्त असर पड़ा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार इसका अनयायी बन गया और कविवर रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर बहुत वर्षों तक इस समाज के आधार और स्तम्भ रहे। इसके एक और प्रमुख सदस्य थे केशवचन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और मज़हबी सुधार-आन्दोलन चला। यह पंजाब में शुरू हुआ और स्वामी दयानन्द सरस्वती इसकी नींव डालनेवाले थे। उन्होंने आर्यसमाज नाम का एक दूसरा समाज क़ायम किया। इसने भी हिन्दू-धर्म में पीछे से पैदा हुई बहुत-सी रूढ़ियों का खण्डन किया और जात-पाँत के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ा। इस समाज की पुकार थी, "वेदों की शरण में आओ।" हालाँकि यह एक सुधार-आन्दोलन था, जिसपर साफ़ तौर से इस्लामी व ईसाई विचारों का असर पड़ा था, लेकिन असर में यह एक सरज़ोर लड़ाकू आन्दोलन था। और विचित्र बात यह हुई कि आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओं के बहुत-से सम्प्रदायों में इस्लाम के सबसे ज़्यादा नज़दीक पहुँचता था, इस्लाम का मुक़ाबला करनेवाला दुश्मन बन गया। यह अपना बचाव करनेवाले व एक गतिहीन हिन्दू-धर्म को सरगर्मी से अपना प्रचार करनेवाला मज़हब बना देने की कोशिश थी। इसका इरादा हिन्दू-धर्म में जान डालने का था। राष्ट्रीयता का पुट दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया। वास्तव में इस आन्दोलन के रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता अपना सिर ऊँचा कर रही थी। और चूँकि यह हिन्दू राष्ट्रीयता थी, इस वास्ते इसके लिए भारतीय राष्ट्रीयता बन जाना कठिन हो गया।

ब्रह्मसमाज की बनिस्बत आर्यसमाज का कहीं अधिक व्यापक प्रचार था,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खासकर पंजाब में। लेकिन इसके दायरे में ज्यादातर मध्यम-वर्ग के ही लोग थे। आर्यसमाज ने शिक्षा के मैदान में बहुत बड़ा काम किया है, और लड़कों व लड़कियों दोनों ही के लिए स्कूल और कॉलेज खोले हैं।

इस सदी में धर्म में निष्ठा रखनेवाले एक और नामी व्यक्ति हुए—रामकृष्ण परमहंस। ये उन दूसरों जैसे बिलकुल नहीं थे, जिनका इस पत्र में मैंने ज़िक्र किया है। उन्होंने सुधार के लिए किसी खण्डन-मण्डन करनेवाले समाज की स्थापना नहीं की। उन्होंने सेवा पर ज़ोर दिया, और "रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के कई भागों में निर्बलों व ग़रीबों की सेवा की यह परम्परा आज भी चला रहे हैं। रामकृष्ण के एक मशहूर शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए हैं, जिन्होंने व्याख्यान देने के बड़े मोहक और ज़ोरदार ढंग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह राष्ट्रीयता किसी तरह भी इस्लाम-विरोधी या दूसरों की विरोधी नहीं थी, न आर्यसमाज की तंग राष्ट्रीयता की तरह की थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता ही थी और इसका आधार हिन्दू-धर्म व हिन्दू-संस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात मालूम होती है कि उन्नीसवीं सदी में भारत में राष्ट्रीयता की शुरू की लहरों का रूप मज़हबी और हिन्दू था। इस हिन्दू राष्ट्रवाद में मुसलमान लाज़िमी तौर पर कोई हिस्सा नहीं ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अंग्रेज़ी शिक्षा से अपनेको दूर रखने के कारण नये विचारों का उनपर कम असर हुआ और उनमें दिमाग़ी हलचल बहुत ही कम थी। कई दशाब्दियों बाद उन्होंने अपने तंग दायरे से बाहर निकलना शुरू किया, और तब हिन्दुओं की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने इस्लामी जामा पहन लिया। वे इस्लामी परम्पराओं व संस्कृति की तरफ़ मुड़कर देखने लगे और उन्हें यह डर हो गया कि हिन्दुओं के बहुमत के कारण कहीं वे इन्हें खो न बैठें। लेकिन मुसलमानों का यह आन्दोलन बहुत दिन बाद, सदी के अन्त में, ज़ाहिर हुआ।

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के इन सुधारक और प्रगतिशील आन्दोलनों के बारे में एक और मज़ेदार बात यह है कि इन्होंने अपने पुराने मज़हबी विचारों और दस्तूरों को, जहाँतक हो सका, पश्चिम से आनेवाले नये वैज्ञानिक व राजनीतिक विचारों के मुताबिक ढालने की कोशिश की। न तो वे निडर होकर इन पुराने विचारों और दस्तूरों को चुनौती देने को और उन्हें कसौटी पर कसने को तैयार थे, न वे विज्ञान की दुनिया को और अपने चारों तरफ़ के और राजनीतिक व सामाजिक विचारों को दरगुज़र कर सकते थे। इसलिए उन्होंने यह साबित करने की कोशिश करके दोनों का मेल मिलाने का जतन किया, कि तमाम आधुनिक विचारों और प्रगति का मूल उनके मज़हबों की पुरानी पवित्र पुस्तकों में मिल सकता है। यह जतन लाज़िमी तौर पर विफल होना ही था। इसने लोगों को सही विचार करने से रोक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। साहस के साथ विचार करने और दुनिया को बदलनेवाली नई ताक़तों व विचारों को समझने के बजाय वे प्राचीन दस्तूरों और परम्पराओं के बोझ से दब गये थे। आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय वे हर वक़्त लुक-छिपकर पीछे की तरफ़ ताकते थे। अगर कोई अपनी गर्दन हमेशा मोड़े रहे और पीछे की तरफ़ देखता रहे, तो वह आसानी से आगे नहीं बढ़ सकता।

शहरों में धीरे-धीरे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का वर्ग बढ़ गया, और साथ-ही-साथ वकीलों, डॉक्टरों, वग़ैरा पेशेवर लोगों का, और सौदागरों व व्यापारियों का एक नया मध्यम वर्ग पैदा हो गया। पहले भी एक मध्यम-वर्ग था, लेकिन उसे अंग्रेज़ों की शुरू की नीति ने बहुत-कुछ कुचल दिया था। यह नया मध्यम-वर्ग अंग्रेज़ी-राज का सीधा नतीजा था; एक तरह से ये इस राज के टुकड़-खोर थे। जनता की लूट में से इन लोगों को भी थोड़ा-सा हिस्सा मिल जाता था; अंग्रेज़ शासक-वर्ग की रक़ाबियों भरी मेज़ से गिरी हुई जूठन के कुछ टुकड़े ये लोग उठा लेते थे। इस वर्ग में थे देश के अंग्रेज़ी प्रशासन में सहायता देनेवाले छोटे-छोटे अहलकार; अदालतों की क़ानूनी कार्रवाइयों में मदद देनेवाले और मुक़दमेबाज़ी से मालदार बननेवाले वकील-बैरिस्टर; और इंग्लैण्ड के व्यापार व उद्योग के आढ़तिये सौदागर, जो अपने मुनाफ़े या दलाली के लिए अंग्रेज़ी माल बेचते थे।

इस नये मध्यम-वर्ग के इन लोगों में ज़्यादातर हिन्दू थे। इसकी एक वजह तो यह थी कि मुसलमानों की बनिस्बत इनकी माली हालत कुछ बेहतर थी, और दूसरी यह थी कि इन लोगों ने अंग्रेज़ी शिक्षा को अपना लिया, जो सरकारी नौकरियों में और पेशों में घुसने का एक परवाना थी। मुसलमान आमतौर पर ज़्यादा ग़रीब थे। अंग्रेज़ों के हाथों यहाँ के उद्योग-धन्धों की बर्बादी के कारण जिन बुनकरों की रोज़ी जाती रही थी, उनमें ज़्यादातर मुसलमान जुलाहे थे। बंगाल में, जहाँ की मुस्लिम आबादी भारत के दूसरे सब प्रान्तों से ज़्यादा है, ये लोग ग़रीब काश्तकार और छोटे-छोटे भूमिया थे। ज़मींदार आमतौर पर हिन्दू थे; इसी तरह गाँव का बनिया भी हिन्दू होता था, जो लोगों को सूद पर रुपया उधार देता था, और गाँव का दूकानदार होता था। इस तरह ज़मींदार और महाजन दोनों ही काश्तकार को सताने और निचोड़ने की हैसियत में थे और अपनी इस हैसियत का वे पूरा फ़ायदा उठाते थे। इस तथ्य को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम तनाज़े की जड़ इसीमें है।

इसी तरह ऊँची जातियों के हिन्दू, खासकर दक्षिण में, दलित कही जानेवाली जातियों का, जो ज़्यादातर खेतों पर काम करती थीं, शोषण करते थे। पिछले दिनों, और खासकर बापू के उपवास के बाद से, दलित जातियों की यह समस्या बहुत ज़ोरों से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारों तरफ़ से हमले हो रहे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और सैकड़ों मन्दिर व दूसरे स्थान अछूतों के लिए खोल दिये गए हैं। लेकिन असली बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जबतक यह दूर नहीं होता, तबतक दलित जातियाँ दलित ही रहेंगी। अछूत लोग खेतिहर चाकर रहे हैं, जिन्हें ज़मीन का मालिक नहीं बनने दिया जाता था। उन्हें और भी कितने ही हक़ नहीं हैं।

हालाँकि सारा भारत और उसकी जनता दिन-पर-दिन ग़रीब होते गये, फिर भी नये मध्यम-वर्ग के मुट्ठी भर लोग कुछ हद तक ख़ुशहाल हो गये, क्योंकि देश के शोषण में इनको भी हिस्सा मिलता था। वकील-बैरिस्टरों व दूसरे पेशेवर लोगों व साहूकारों ने कुछ धन जमा कर लिया। इस धन को वे कारोबार में लगाना चाहते थे, ताकि उनको सूद की आमदनी होती रहे। बहुतों ने ग़रीबी के शिकार ज़मींदारों से ज़मीनें ख़रीद लीं और ख़ुद उनके मालिक बन गये। दूसरे लोग अंग्रेज़ी उद्योगों की अद्भुत सफलता देखकर भारत में भी कारख़ानों में रुपया लगाने की सोचने लगे। इस तरह भारतीय पूँजी इन बड़ी मशीनों के कारख़ानों में लगी और एक नया भारतीय उद्योगी पूँजीपति वर्ग पैदा होने लगा। यह हुआ क़रीब पचास साल पहले, यानी १८८० ई० के बाद।

जितने ये मध्यम-वर्गी लोग बढ़ते गए, उतनी ही उनकी हविस भी बढ़ती गई। उनकी इच्छा अब आगे-आगे बढ़ने की, ज़्यादा रुपया पैदा करने की, सरकारी नौकरियों में ज़्यादा जगहें पाने की, और कारख़ाने खोलने के लिए ज़्यादा सहूलियतें हासिल करने की होती गई। उन्होंने अंग्रेज़ों को अपने हर रास्ते में रुकावटें डालते हुए पाया। सब ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर अंग्रेज़ों ने अपना ठेका जमा रक्खा था और तमाम उद्योग-धन्धे उन्हींके फ़ायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए उन्होंने हलचल मचाई और नये राष्ट्रीय आन्दोलन की यहीं से शुरुआत हुई। १८५७ ई० के विद्रोह और उसके बेरहमी से दमन के बाद लोगों की कमर ऐसी टूट गई कि उनके लिए कोई भी हल्ला-गुल्ला या सरगर्म आन्दोलन करना कठिन हो गया। फिर से कुछ जान आने में उन्हें बहुत वर्ष लग गये।

लेकिन राष्ट्रीय भावनाएँ जल्दी ही फैलने लगीं और बंगाल इसमें सबसे आगे क़दम उठा रहा था। बंगाल में नई-नई पुस्तकें निकलने लगीं, जिनका बंगला साहित्य पर और साथ ही बंगाल में राष्ट्रीयता के विकास पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। हमारा मशहूर राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' बंकिमचन्द्र चटर्जी की ऐसी ही एक बंगला पुस्तक 'आनन्द मठ' से लिया गया है। 'नील दर्पण' नामक एक बंगला कविता ने भी बड़ी हलचल पैदा कर दी थी। इसमें नील की खेती की बागान-प्रथा से, जिसका कुछ हाल मैं तुम्हें बता चुका हूँ, बंगाल के किसानों की तबाही का बड़ा ही दर्दभरा वर्णन किया गया था।

इसी बीच भारतीय पूँजीपतियों की शक्ति भी बढ़ रही थी, और वे हाथ-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैर फैलाने के लिए ज़्यादा जगह माँग रहे थे। आख़िरकार, १८८५ ई० में नये मध्यम-वर्ग के इन तरह-तरह के तत्वों ने मिलकर अपने दावे की हिमायत के लिए एक संगठन बनाने का फ़ैसला किया। इस तरह १८८५ ई० में हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस की नींव पड़ी। जैसा कि तुम और भारत का बच्चा-बच्चा अच्छी तरह जानता है, यह संगठन पिछले वर्षों में बहुत बड़ा और ताक़तवर बन गया है। इसने जनता के हितों को हाथ में लिया, और कुछ हद तक यह उनकी हिमायती बन गई। इसने भारत में अंग्रेज़ी राज के आधार को ही ग़लत क़रार दिया और उसके खिलाफ़ जनता के बड़े-बड़े आन्दोलनों की रहनुमाई की। इसने स्वाधीनता का झण्डा उठाया और यह आज़ादी के लिए मर्दानगी के साथ लड़ी। लेकिन यह सबकुछ बाद का इतिहास है। कांग्रेस जब पहले-पहल क़ायम हुई, तब एक बहुत ही नर्म और फूँक-फूँककर क़दम रखनेवाली संस्था थी, जो अंग्रेज़ों के लिए अपनी वफ़ादारी का इक़रार करती थी और छोटे-छोटे सुधारों के लिए बड़ी आज़िज़ी से माँगें पेश करती थी। उस समय यह मध्यम-वर्ग के कुछ आसूदा लोगों की प्रतिनिधि थी, ग़रीब मध्यम-वर्ग तक के लोग इसमें शामिल नहीं थे। जनता का, यानी किसानों और मज़दूरों का तो इससे कोई ताल्लुक़ ही नहीं था। यह ख़ासकर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्गों की वकील थी, और इसकी सारी कार्रवाई हमारी सौतेली-भाषा अंग्रेज़ी में होती थी। इसकी माँगें ज़मींदारों, भारतीय पूँजीपतियों और नौकरियों की तलाश में रहनेवाले पढ़े-लिखे बेकारों की माँगें होती थीं। जनता को पीस डालनेवाली ग़रीबी पर या जनता की ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इसने नौकरियों के 'भारतीयकरण' की, यानी सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ों के बजाय भारतवासियों को ज़्यादा जगहें दी जाने की माँग की। इसने यह न देखा कि भारत की जो कुछ ख़राबी है, वह उस मशीन में है, जो जनता का शोषण करती है; और इसलिए इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह मशीन किसके हाथों में है—भारतवासियों के या विदेशियों के। कांग्रेस की दूसरी शिकायतें फ़ौज और सिविल सर्विस के अंग्रेज़ी अफ़सरों के ज़बर्दस्त खर्चों के बारे में, और भारत से इंग्लैण्ड को जानेवाले सोने-चाँदी की 'नाली' के बारे में, थी।

यह ख़याल न करना कि शुरू में कांग्रेस कितनी नर्म थी, यह बताकर मैं उसकी आलोचना कर रहा हूँ या उसके महत्व को कम करने की कोशिश कर रहा हूँ। मेरा मतलब नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि उन दिनों की कांग्रेस ने और उसके नेताओं ने बहुत बड़ा काम किया था। भारतीय राजनीति के कठोर तथ्यों ने इसे धीरे-धीरे, और बहुत-कुछ बिना मर्ज़ी के, दिन-पर-दिन ज़्यादा गर्म नीति अपनाने के लिए मजबूर किया। लेकिन अपने शुरू के दिनों में वह जैसी थी उसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकती थी। उन दिनों इसके संस्थापकों को आगे क़दम बढ़ाने के लिए बड़ी हिम्मत की ज़रूरत थी। आज जब भीड़-की-भीड़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे साथ है और इसके लिए हमारी तारीफ़ करती है, तब बहादुरी के साथ आज़ादी की बातें करना बड़ा आसान है। लेकिन किसी बड़े प्रयत्न में अगुआ बनना बड़ा कठिन है।

पहली कांग्रेस १८८५ ई० में बम्बई में हुई। बंगाल के उमेशचन्द्र बनर्जी इसके पहले अध्यक्ष थे। उन शुरू दिनों के दूसरे नामी व्यक्तियों के नाम हैं : सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी और फ़ीरोज़शाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊपर नज़र आनेवाला नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो 'भारत के वृद्ध पितामह' कहलाये और जिन्होंने सबसे पहले भारत के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का इस्तेमाल किया। एक नाम मैं और बताऊँगा, क्योंकि कांग्रेस के पुराने सेनानियों में से आज एक वही ज़िन्दा हैं और उन्हें तुम अच्छी तरह जानती हो। वह हैं पण्डित मदन-मोहन मालवीय[1]। पचास वर्ष से भी ज्यादा समय से वह भारत के हित के लिए जूझ रहे हैं, और बुढ़ापे व चिन्ताओं से जर्जर हो जाने पर भी अपनी जवानी के सपने को सच्चा बनाने के काम में अभी तक जुटे हुए हैं।

इस तरह कांग्रेस साल-दर-साल आगे बढ़ती गई, और मज़बूती हासिल करती गई। इससे पहले के दिनों की हिन्दू राष्ट्रीयता की तरह इसका नज़रिया तंग नहीं था। फिर भी यह बहुत-कुछ हिन्दू ही थी। कुछ मुसलमान नेता इसमें शामिल हुए, और इसके अध्यक्ष तक बने, लेकिन कुल मिलाकर मुसलमान इससे दूर ही रहे। उस समय के एक बड़े मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ थे। उन्होंने देखा कि शिक्षा की कमी ने, ख़ासकर आधुनिक शिक्षा की कमी ने, मुसलमानों का बहुत नुक़सान किया है, और उन्हें पिछड़ा हुआ रक्खा है। इसलिए उन्होंने यह महसूस किया कि राजनीति में टाँग अड़ाने से पहले मुसलमानों को इस शिक्षा के लिए रज़ामन्द करना चाहिए और अपनी सारी ताक़त इसीपर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग किया और अलीगढ़ में एक बढ़िया कॉलेज क़ायम किया, जो अब विश्वविद्यालय बन गया है। मुसलमानों की बहुत बड़ी संख्या ने सर सैयद की राय मानकर अपनेको कांग्रेस से अलग रक्खा। लेकिन उनकी छोटी-सी संख्या हमेशा कांग्रेस के साथ रही। यह याद रहे कि जब मैं बड़ी संख्या या छोटी संख्या की चर्चा करता हूँ तो उससे मेरा मतलब ऊँचे मध्यम-वर्ग के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों की बड़ी-संख्या या छोटी संख्या से होता है। हिन्दू जनता और मुसलमान जनता, दोनों ही का कांग्रेस से कोई वास्ता न था, और उन दिनों इनमें से बहुतों ने तो इसका नाम तक न सुना था। नीचे के मध्यम वर्गों तक पर उस समय इसका कोई असर नहीं हुआ था।

---

[1] पण्डित मदनमोहन मालवीय का देहान्त १९४६ ई० में हो गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेस बढ़ी, लेकिन कांग्रेस से भी तेज रफ़्तार से राष्ट्रीयता के विचार और आज़ादी की चाह बढ़ी। कांग्रेस की पहुंच का दायरा लाज़िमीतौर पर छोटा था, क्योंकि इस दायरे में सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग ही शामिल थे। कुछ हद तक इसने अलग-अलग प्रान्तों को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक लाने में और एकसा नज़रिया बनाने में मदद दी। लेकिन जनता में इसकी पैठ गहरी न होने के कारण इसकी ताक़त कुछ नहीं थी। एक पिछले पत्र में मैंने तुमसे एक घटना का ज़िक्र किया है, जिसने एशिया भर में भारी हलचल मचा दी थी। यह १९०४–५ ई० में छोटे-से जापान की भारी-भरकम रूस पर विजय थी। दूसरे एशियाई देशों के साथ-साथ भारत पर भी इसकी गहरी छाप पड़ी, यानी यहाँ के अंग्रेज़ी पढ़े-खिखे मध्यम-वर्गों पर असर पड़ा और उनका आत्म-विश्वास बढ़ गया। अगर यूरोप के एक सबसे ज़्यादा शक्तिशाली देश के ख़िलाफ़ जापान सफल हो सकता है तो भारत क्यों नहीं हो सकता ? बहुत अर्से से भारत के लोग अंग्रेज़ों के सामने छोटेपन की भावना के शिकार हो रहे थे। अंग्रेज़ों की लम्बी हुकूमत ने, और १८५७ के विद्रोह के वहशियाना दमन ने, उनकी हिम्मत पस्त कर दी थी। हथियार न रखने का क़ानून बनाकर उन्हें हथियार रखने से रोक दिया गया था। भारत में होनेवाली हरेक बात उन्हें यह याद दिलाती थी कि वे एक पराधीन जाति हैं, एक हीन जाति हैं। उन्हें दी जानेवाली शिक्षा तक भी उनमें हीनता की यही भावना भरती थी। बिगड़े हुए और झूठे इतिहास के ज़रिये उन्हें पढ़ाया जाता था कि भारत ऐसी भूमि है जहाँ सदा से अराजकता फैली रही है, और हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे का गला काटते रहे हैं और अन्त में अंग्रेज़ों ने ही आकर इस देश को इस बदनसीब बुरी हालत से छुटकारा दिलाया, और इसे अमन व खुशहाली दी। तथ्यों की और इतिहास की कोई परवाह न करके यूरोप के लोग यह समझते और ढिंढोरा पीटते रहते थे कि सारा-का-सारा एशिया वास्तव में एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप है, और इसलिए इसे यूरोपीय लोगों की ही हुकूमत में रहना चाहिए।

इसलिए जापान की विजय ने एशियावालों के लिए ताज़गी देनेवाली ज़बर्दस्त दवा का काम किया। भारत में हमारे बहुत-से लोगों में हीनता की जो भावना घर किये हुए थी, वह इससे कम हुई। राष्ट्रीयता के विचार, खासकर बंगाल और महाराष्ट्र में, चारों तरफ़ फैलने लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने बंगाल को जड़ से हिला दिया और देश भर में हलचल मचा दी। सरकार ने बंगाल के बड़े प्रान्त को (जिसमें उस समय बिहार भी शामिल था) दो हिस्सों में बाँट दिया, जिनमें एक हिस्सा पूर्वी बंगाल था। बंगाल के मध्यम-वर्ग की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता ने इस पर नाराज़ी ज़ाहिर की। उसे डर था कि अंग्रेज़ बंगाल के इस तरह टुकड़े करके उसे कमज़ोर करना चाहते हैं। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या ज़्यादा थी, इसलिए इस बँटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खड़ा हुआ। बंगाल भर में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ज़बर्दस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। ज़्यादातर ज़मींदार और भारतीय पूंजीपति भी इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले उसी समय 'स्वदेशी' का नारा उठाया गया और इसके साथ ही ब्रिटिश माल के बायकाट का भी, जिससे भारतीय उद्योग और पूंजी को अलबत्ता सहायता मिली। कुछ हद तक जनता में भी यह आन्दोलन फैल गया, और हिन्दू धर्म से भी इसने कुछ प्रेरणा ली। इसके साथ-साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा की विचार-धारा भी पैदा हुई और भारतीय राजनीति में पहली बार 'बम' सामने आया। बंगाल में आन्दोलन के एक नामी नेता अरविन्द घोष थे। वह अभी भी मौजूद हैं, लेकिन बहुत वर्षों से फ़्रान्सीसी भारत के पाण्डिचेरी शहर में आध्यात्मिक जीवन बिता रहे हैं।[1]

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी खलबली फैली हुई थी, और हिन्दू-धर्म के ही रंग में रँगी हुई जोशीली राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। वहाँ बालगंगाधर तिलक नामक एक महान् नेता हुए, जो भारत भर में लोकमान्य करके मशहूर हैं। तिलक एक बड़े विद्वान् थे; वह पूर्व की पुरानी परिपाटियों के भी उतने ही जानकार थे, जितने पश्चिम की नई परिपाटियों के; वह बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे; लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि वह जनता के एक महान् नेता थे। कांग्रेस के नेताओं की पहुँच अभी सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही थी; जनता उन्हें नहीं जानती थी; लेकिन तिलक नये भारत के पहले राजनीतिक नेता हुए, जो जनता तक पहुँचे और जिन्होंने उससे बल हासिल किया। उनके व्यक्तित्व से मज़बूती और न दबनेवाली दिलेरी का एक नया बल पैदा हुआ जिसने बंगाल में राष्ट्रीयता और बलिदान की नई भावना से जुड़कर भारतीय राजनीति की शक़्ल ही बदल दी।

१९०६, १९०७ और १९०८ ई० के इन हलचल-भरे दिनों में कांग्रेस क्या कर रही थी? राष्ट्रीय भावना की जागृति के इस समय में कांग्रेस के नेता राष्ट्र की रहनुमाई करने के बजाय, पीछे लटक रहे थे। उन्हें एक ठंडी किस्म की राजनीति की आदत हो गई थी, जिसमें जनता का दख़ल नहीं था। बंगाल का घधकता हुआ जोश उन्हें पसन्द नहीं था और न उन्हें महाराष्ट्र की वह नई और न झुकनेवाली नीति ही भाती थी जो तिलक के रूप में खड़ी थी। 'स्वदेशी' आन्दोलन को तो उन्होंने सराहा, लेकिन ब्रिटिश माल के बायकाट से वे हिचकते थे। कांग्रेस में अब दो दल हो गये—एक तिलक और कुछ बंगाली नेताओं के नीचे गर्म दल, और दूसरा कांग्रेस के पुराने नेताओं का नर्म दल। लेकिन नर्म दल के सबसे बड़े नेता एक नवयुवक गोपालकृष्ण गोखले थे, जो बड़े क़ाबिल व्यक्ति थे और जिन्होंने अपना जीवन सेवा के लिए अर्पित कर दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने-अपने दलों

[1] महर्षि अरविन्द की मृत्यु दिसम्बर, १९५० में हो गई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लेकर तिलक और गोखले एक दूसरे के सामने डटकर खड़े हो गये। इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि १९०७ ई० में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये और उसमें फूट पड़ गई। नर्म दलवालों का कांग्रेस पर अधिकार बना रहा, गर्म दलवाले निकाल बाहर किये गए। नर्म दलवाले जीत तो गये, लेकिन देश में अपनी लोकप्रियता खोकर, क्योंकि तिलक का दल ही जनता में बहुत ज़्यादा लोकप्रिय था। कांग्रेस कमज़ोर हो गई, और कुछ वर्षों तक उसका प्रभाव नाम को रह गया।

और इन वर्षों में सरकार का क्या हाल था? बढ़ती हुई भारतीय राष्ट्रीयता ने उसमें क्या प्रतिक्रिया पैदा की? सरकारों के पास, किसी ऐसी दलील या माँग का, जिसे वह पसन्द नहीं करतीं, जवाब देने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा हुआ करता है—डंडे का इस्तेमाल। बस, सरकार दमन पर उतर आई। उसने लोगों को जेलों में भरना शुरू किया, प्रेस-क़ानूनों से अख़बारों पर लगाम लगा दी गई और हरेक ऐसे आदमी के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नहीं करती थी, खुफ़िया पुलिस और जासूसों के दल-के-दल लगा दिये। उसी समय से सी० आई० डी० के आदमी भारत के बड़े-बड़े राजनीतिक नेताओं के हरदम के साथी बने हुए हैं। बंगाल के बहुत-से नेताओं को क़ैद की सज़ा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुक़दमा लोकमान्य तिलक का था, जिन्हें छै वर्ष की क़ैद की सज़ा दी गई थी, और जिन्होंने मांडले जेल में अपनी क़ैद के दिनों में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ[1] लिखा था। लाला लाजपतराय को भी देश-निकाला देकर बरमा भेज दिया गया।

लेकिन दमन से बंगाल को कुचलने में सफलता नहीं मिली। इसलिए कम-से-कम कुछ लोगों को तसल्ली देने के लिए झट-पट प्रशासन-सुधार का एक क़दम उठाया गया। उस समय की नीति, जो कि बाद में भी रही और आज भी है, राष्ट्रवादी दलों में फूट डालने की थी। यानी नर्म दलवालों को बढ़ावा देना और मिलाना, और गर्म दलवालों को कुचल देना। १९०८ ई० में मार्ले-मिन्टो-सुधारों के नाम से मशहूर नये सुधारों का ऐलान किया गया। इनसे नर्म दलवालों को मिलाने में सफलता हुई और वे इन सुधारों को पाकर खुश हो गये। नेताओं के जेल में होने के कारण गर्म दलवालों के हौसले टूट गये और राष्ट्रीय आन्दोलन कमज़ोर पड़ गया। लेकिन बंगाल में बंग-भंग के ख़िलाफ़ आन्दोलन जारी रहा और अन्त में सफल हुआ। १९११ ई० में ब्रिटिश सरकार ने बंग-भंग को फिर उलट दिया। इस विजय ने बंगालियों में नया साहस पैदा कर दिया। लेकिन १९०७ का आन्दोलन ठंडा पड़ चुका था, और भारत फिर राजनीतिक उदासीनता में जा पड़ा।

---

[1] गीता-रहस्य—तिलक ने यह ग्रन्थ मराठी में लिखा था, परन्तु इसका हिन्दी में तथा भारत की दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद हो गया है। इस ग्रन्थ में गीता के ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, नैतिक, आदि पहलुओं पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९११ ई० में ही यह ऐलान किया गया कि दिल्ली भारत की नई राजधानी होगी। दिल्ली—बहुत-से साम्राज्यों की राजधानी और बहुत-से साम्राज्यों की क़ब्र!

१९१४ ई० में, जिस समय यूरोप में महायुद्ध शुरू हुआ और सौ वर्ष का ज़माना ख़त्म हुआ, भारत की हालत इस तरह की थी। महायुद्ध का भारत पर भी ज़बर्दस्त असर पड़ा, लेकिन उसके बारे में मैं आगे कुछ कहूँगा।

आख़िरकार उन्नीसवीं सदी के भारत का हाल मैंने ख़त्म कर ही दिया। मैं अब तुमको आज से अठारह साल पहले तक ले आया हूँ। अब हम भारत को छोड़कर अगले पत्र में चीन चलेंगे, और दूसरे ढंग के साम्राज्यशाही शोषण की जाँच करेंगे।

: ११४ :

ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना

१४ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हें काफ़ी विस्तार के साथ भारत में हुई औद्योगिक व मशीनी क्रान्तियों का असर समझाया है और यह भी बताया है कि नये साम्राज्यवाद ने भारत में किस तरह काम किया। भारतवासी होने के नाते मैं तरफ़दार हूँ, इसलिए मुझे डर है कि मैं तरफ़दारी की नज़र से देखे बिना नहीं रह सकता। लेकिन मैंने यही कोशिश की है, और मैं चाहता हूँ कि तुम भी यही कोशिश करो कि इन सवालों पर, तथ्यों की सही जाँच करनेवाले वैज्ञानिक की तरह, विचार किया जाय, मामले के पक्ष को साबित करने पर तुले हुए राष्ट्रवादी की तरह नहीं। राष्ट्रीयता अपनी जगह पर अच्छी चीज़ है, लेकिन वह बेवफ़ा दोस्त है और ख़तरनाक इतिहासकार है। कितनी ही घटनाओं के बारे में वह हमें अन्धा बना देती है, और कई बार सचाई को तोड़-मरोड़ देती है, ख़ासकर जब उससे हमारा या हमारे देश का ताल्लुक़ हो। इसलिए हाल के भारतीय इतिहास पर विचार करते समय हमें सावधान रहना होगा; वरना कहीं ऐसा न हो जाय कि हम अपनी तमाम आफ़तों का दोष अंग्रेज़ों के सिर मढ़ने लगें।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ उद्योगपतियों और पूँजीपतियों ने भारत का किस तरह शोषण किया, यह देख चुकने के बाद अब हम एशिया के दूसरे बड़े देश, भारत के पुराने दोस्त और राष्ट्रों में प्राचीन, चीन की तरफ़ चलते हैं। यहाँ हम पश्चिमवालों को एक दूसरे ही ढंग का शोषण करते पायेंगे। भारत की तरह चीन किसी यूरोपीय देश का उपनिवेश या अधीन-राज्य नहीं बना। उन्नीसवीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटेन और चीन

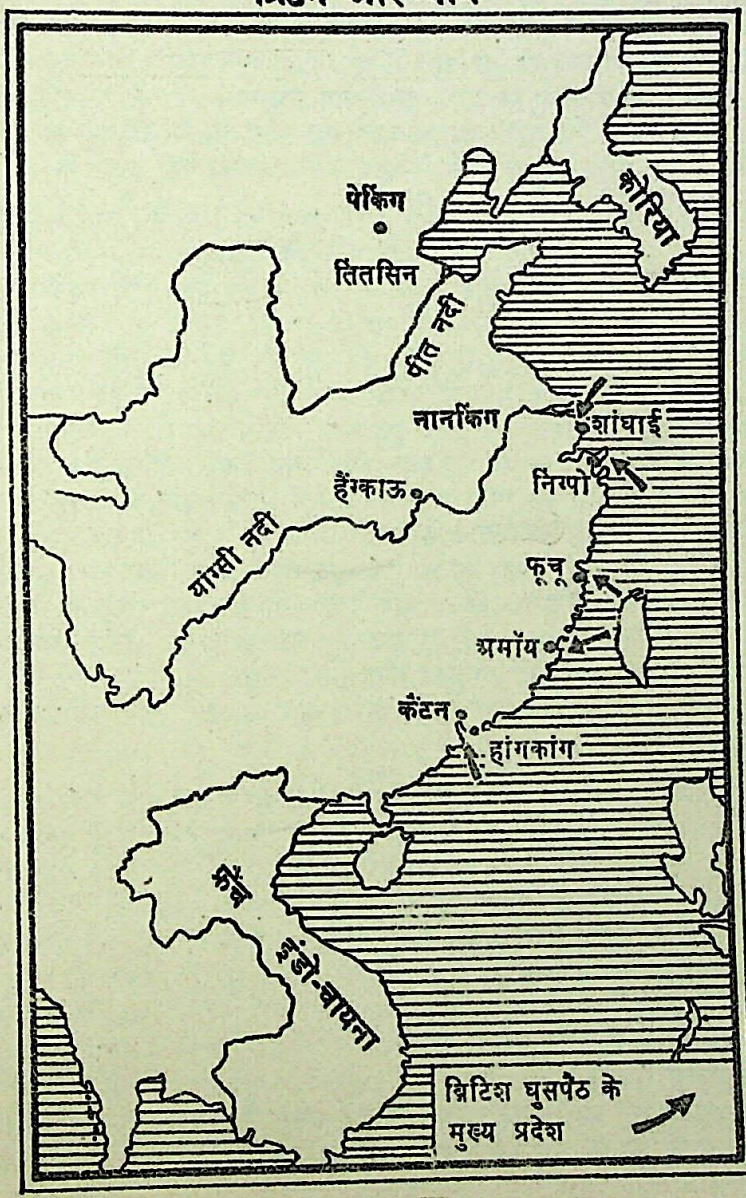

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदी के क़रीब बीच तक, वहाँ का केन्द्रीय शासन अपने देश को एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए काफ़ी ताक़तवर था, इसलिए वह इससे बच गया। जैसा कि हम देख आये हैं, भारत इससे सौ साल से भी ज्यादा पहले, मुग़ल साम्राज्य के अन्त के साथ ही टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। चीन उन्नीसवीं सदी में कमज़ोर तो हो गया, लेकिन फिर भी वह अन्त तक जमा रहा, और विदेशी शक्तियों की आपसी जलन ने उन्हें चीन की कमज़ोरी से बहुत ज्यादा फ़ायदा नहीं उठाने दिया।

चीन के बारे में आख़िरी पत्र (पत्र-संख्या ९४) में मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेज़ों ने चीन के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए क्या-क्या कोशिशें कीं। इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तृतीय के पत्र के उत्तर में मंचू-सम्राट् शियन-लुंङ ने, जो बड़ा ऊँचा और कृपा दिखानेवाला पत्र लिखा था, उसका एक लम्बा हिस्सा मैंने तुम्हें बताया था। यह १७९२ ई० की बात है। यह वर्ष तुम्हें यूरोप के उस समय के तूफ़ानी दिनों की याद दिलायेगा—यह फ़्रान्सीसी क्रान्ति का ज़माना था। इसके बाद ही नेपोलियन और उसके युद्ध आये। इस पूरे ज़माने में इंग्लैण्ड को दम मारने को भी फ़ुरसत न थी, वह जान हथेली पर लेकर नेपोलियन से लड़ रहा था। इस तरह नेपोलियन का अन्त होने तक और जान-में-जान आने तक चीन में अपना व्यापार बढ़ाने का इंग्लैण्ड के सामने सवाल ही न था। इसके फ़ौरन बाद, १८१६ ई० में, एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत-मंडल चीन भेजा गया। लेकिन दरबारी अदब-क़ायदे पूरा करने के बारे में कुछ दिक़्क़त पड़ने की वजह से चीनी सम्राट् ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाक़ात करना नामंज़ूर कर दिया और उसे वापस चले जाने का हुक्म दिया। इस क़ायदे का नाम 'कोतो' था, जो ज़मीन पर लेटकर दण्डवत् करने के समान था। शायद तुमने 'को-तोइंङ' शब्द सुना होगा।

इसलिए यह बात यहीं खत्म हो गई। इसी बीच एक नया व्यापार, यानी अफ़ीम का व्यापार, तेजी से बढ़ रहा था। इसे नया व्यापार कहना तो शायद ठीक न होगा, क्योंकि अफ़ीम पहले-पहल पन्द्रहवीं सदी में ही भारत से चीन पहुँच चकी थी। पुराने ज़माने में भारत ने चीन को बहुत-सी अच्छी चीज़ें भेजी थीं। पर भारत ने जितनी चीज़ें भेजीं, उनमें अफ़ीम वास्तव में एक बुरी चीज़ थी। लेकिन यह व्यापार बहुत थोड़ा था। उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय लोगों की वजह से, खासकर ब्रिटिश व्यापार की ठेकेदार ईस्ट इंडिया कम्पनी की वजह से, यह बढ़ने लगा। कहा जाता है कि पूर्व में डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाखू के साथ अफ़ीम मिलाकर पिया करते थे। इन्हींकी मार्फत चीन में भी तम्बाखू की तरह अफ़ीम पीने का रिवाज पहुँचा, लेकिन उससे भी ज्यादा नुकसान पहुँचानेवाले रूप में, क्योंकि यहाँ सिर्फ अफ़ीम पी जाने लगी। चीनी सरकार इस आदत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को छुड़ाना चाहती थी, क्योंकि लोगों पर इसका बुरा असर पड़ रहा था, और अफ़ीम का व्यापार देश का बहुत-सा धन बाहर खींचे ले जा रहा था।

१८०० ई० में चीनी सरकार ने एक शाही फ़रमान जारी करके अपने देश में किसी भी काम के लिए अफ़ीम का आना रोक दिया। लेकिन इस व्यापार से विदेशियों को बड़ा फ़ायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफ़ीम लाते रहे, और चीनी अहलकारों को रिश्वतें देकर अपना काम बनाते रहे। इस पर चीन-सरकार ने यह नियम बना दिया कि उसका कोई भी अहलकार विदेशी व्यापारियों से न मिलने पायें। किसी भी विदेशी को चीनी या मंचू भाषा सिखाने पर भी सख्त सज़ाएँ लगा दी गईं। लेकिन इन सब का कोई नतीजा नहीं निकला। अफ़ीम का व्यापार चलता ही रहा और रिश्वत और भ्रष्टाचार का बाज़ार गर्म हो गया। १८३४ ई० के बाद, जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ठेका छीन-कर तमाम अंग्रेज़ों के लिए यह व्यापार खोल दिया, तब तो वास्तव में हालत और भी ख़राब हो गई।

चोरी-छिपे ग़ैर कानूनी तौर पर अफ़ीम का लाया जाना एकदम बढ़ गया। तब आखिरकार चीन-सरकार ने इसे रोकने के लिए सख्त कार्रवाई करने का फैसला किया। इस काम के लिए एक ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से आनेवाली इस अफ़ीम की रोक के लिए लिन-सी-हो को स्पेशल कमिश्नर मुक़र्रर किया गया और उसने फ़ौरन ही तेजी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई की। वह दक्षिण के कैंटन नगर पहुँचा, जो इस ग़ैर-कानूनी व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र था, और वहाँ के तमाम विदेशी व्यापारियों को हुक्म दिया कि जितनी भी अफ़ीम उनके पास हो वह सब उसे सौंप दें। शुरू में तो उन्होंने इस हुक्म को मानने से इन्कार कर दिया। इस पर लिन ने इसके लिए उन्हें मजबूर किया। उसने उन्हें उनकी फैक्टरियों में बन्द कर दिया, उनके चीनी मज़दूरों और नौकरों से उनका काम छुड़वा दिया और बाहर से उनके पास रसद जाना रोक दिया। इस सख्ती और मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियों ने घुटने टेक दिये और अफ़ीम की बीस हजार पेटियाँ निकालकर उसके सामने धर दीं। अफ़ीम के इस भारी ढेर को, जो चोरी से भेजने के लिए ही इकट्ठा किया गया था, लिन ने नष्ट करवा दिया। उसने विदेशी व्यापारियों से यह भी कह दिया कि जब-तक जहाज़ का कप्तान अफ़ीम न लाने का वचन न दे देगा, तबतक कोई जहाज़ कैंटन में घुसने न पायेगा। अगर कोई इस वचन को तोड़ेगा तो चीनी सरकार जहाज़ और उसके सारे माल को ज़ब्त कर लेगी। लिन काम को पूरी तरह करने-वाला आदमी था। उसने सौंपे हुए काम को अच्छी तरह कर दिखाया, लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि इसके नतीजे चीन के लिए कितनी मुश्किल पैदा करनेवाले थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नतीजे ये हुए कि इंग्लैण्ड के साथ लड़ाई छिड़ गई, जिसमें चीन की हार हुई, उसे बेइज्ज़ती की सुलह करनी पड़ी, और वही अफ़ीम, जिसे चीन की सरकार रोकना चाहती थी, ज़बर्दस्ती चीन के हलक़ में ठूँसी गई। अफ़ीम चीन के लिए अच्छी चीज़ थी या बुरी, इस बात से कोई वास्ता न था। चीन की सरकार क्या चाहती थी, इससे भी कोई ज्यादा सरोकार न था। असली बात यह थी कि अफ़ीम के इस ग़ैरक़ानूनी व्यापार से अंग्रेज़ व्यापारियों को बड़ा भारी मुनाफ़ा होता था, और ब्रिटेन अपनी इस आमदनी का मारा जाना सहने को तैयार न था। कमिश्नर लिन ने जो अफ़ीम नष्ट करवादी थी, उसमें सबसे ज्यादा अंग्रेज़ व्यापारियों की थी। इसलिए राष्ट्रीय इज्ज़त के नाम पर अंग्रेज़ों ने १८४० ई० में चीन से युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध को 'अफ़ीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, क्योंकि यह चीन पर अफ़ीम लादने के हक़ के लिए लड़ा और जीता गया था।

कैंटन व दूसरी जगहों की नाकेबन्दी करनेवाले ब्रिटिश जंगी-बेड़े के ख़िलाफ़ चीन का कुछ बस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पड़ी, और १८४२ ई० में नानकिंग का सुलहनामा हुआ, जिसके मुताबिक़ पाँच बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए, जिसका उस समय मतलब था खासकर अफ़ीम का व्यापार, खोल दिये गए। ये पाँच बन्दरगाह थे कैंटन-शांघाई, अमॉय, निंगपो, और फ़्यूचू। इन्हें 'सुलहनामे के बन्दरगाह' कहा जाता था। कैंटन के पास के हांग-कांग टापू पर भी अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया, और जो अफ़ीम नष्ट करदी गई थी उसके हर्जाने के तौर पर और चीन पर जो युद्ध ज़बर्दस्ती डाला गया था, उसके खर्च के रूप में उन्होंने चीन से भारी रक़म ऐंठी।

इस तरह इंग्लैण्ड ने अफ़ीम की जीत हासिल की। चीन के सम्राट् ने इंग्लैण्ड की मलिका विक्टोरिया से, चीन पर ज़बर्दस्ती लादे गए अफ़ीम के व्यापार के भयंकर नतीजों का बहुत नर्मी के साथ ज़िक्र करते हुए ख़ुद अपील की। लेकिन मलिका की तरफ से कोई उत्तर न मिला। ठीक पचास वर्ष पहले इसी सम्राट् के पुरखे शियन-लुंङ ने इंग्लैण्ड के बादशाह के नाम इससे बिलकुल दूसरे ही ढंग का पत्र लिखा था!

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ चीन के वखेड़ों की यह शुरुआत थी। उसकी अलहदगी का अन्त हो गया। उसे विदेशी व्यापार मंजूर करना पड़ा, और साथ ही मंजूर करने पड़े ईसाई मिशनरी। इन ईसाई मिशनरियों ने साम्राज्यवाद की हरावल के रूप में चीन में बड़ा महत्व का काम किया। बाद में चीन पर जो-जो मुसीबतें आईं, उनका एक-न-एक कारण ये मिशनरी ही थे। इनका बर्ताव बड़ा गुस्ताखी भरा और ग़ुस्सा दिलानेवाला होता था, लेकिन चीनी अदालतों में उनपर मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता था। नये सुलहनामे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुसार पश्चिमी विदेशियों पर चीनी क़ानून और चीनी न्याय लागू नहीं हो सकता था। उनपर उन्हीं की अदालतों में मुक़दमा चल सकता था। यह 'बाह्य राज्य-क्षेत्र' हक़ कहा जाता था, जो अब भी मौजूद है, और जिसका बहुत विरोध किया जाता है। मिशनरियों ने जिन चीनियों को ईसाई बनाया, वे भी अब इस 'बाह्य राज्य-क्षेत्र' की ख़ास रियायतों की माँग करने लगे। वे किसी भी तरह इसके हक़दार न थे; लेकिन इससे क्या होता था, क्योंकि एक ताक़तवर साम्राज्यशाही राष्ट्र का प्रतिनिधि वह बड़ा मिशनरी उनकी पीठ पर था। इस तरह एक गाँव को दूसरे गाँव के खिलाफ़ लड़वा दिया जाता; और जब गाँववालों व दूसरे लोगों के धीरज की सीमा टूट जाती और वे मिलकर किसी मिशनरी पर टूट पड़ते और कभी-कभी उसकी हत्या भी कर देते, तब उसकी पीठ पर रहने वाली साम्राज्यशाही शक्ति आ धमकती, और कसकर बदला लेती। यूरोपीय शक्तियों के लिए चीन में उनके मिशनरियों की हत्याओं से बढ़कर फ़ायदेमन्द घटनाएँ और कोई नहीं हुईं, क्योंकि हरेक ऐसी हत्या को वे ख़ास रियायतें माँगने और ऐंठ लेने का सबब बना लेते थे।

चीन में एक सबसे भयंकर और ख़ूनी बलवा खड़ा करनेवाला भी एक नया ईसाई ही था। यह ताइपिंग का बलवा के नाम से मशहुर है, जो १८५० ई० के लगभग हूंङ-सिन-च्वान नामक एक आधे-पागल ने शुरू किया था। इस मज़हबी दीवाने को अनोखी सफलता मिली। वह "मूर्ति-पूजकों को मारो" का जंगी नारा लगाता हुआ सब तरफ़ गया और अनगिनती आदमी मारे गये। इस बलवे ने आधे से भी ज्यादा चीन को तबाह कर दिया, और बारह साल या इसीके क़रीब समय में अन्दाज़न दो करोड़ आदमी इसके कारण मौत के मुँह में चले गये। अलबत्ता इस बलवे और उसके साथ होनेवाले हत्याकाण्डों के लिए ईसाई मिशनरियों को या विदेशी शक्तियों को ज़िम्मेदार ठहराना ठीक नहीं है। शुरू-शुरू में तो मिशनरियों ने शायद इसकी ख़ैर मनाई, लेकिन बाद में उन्होंने यह कह दिया कि हूंङ से उनका कोई सरोकार नहीं है। लेकिन चीनी सरकार हमेशा यह विश्वास करती रही कि इसके ज़िम्मेदार मिशनरी लोग ही हैं। इस विश्वास से हम समझ सकते हैं कि ईसाई मिशनरियों की करतूतों से उस समय चीनी लोग कितने नाराज़ थे, और बाद में भी रहे। उनके लिए मिशनरी कोई मज़हब या नेकनीयती का दूत बनकर नहीं आया था, बल्कि साम्राज्यवाद का एजेण्ट था। जैसा कि किसी अंग्रेज़ लेखक ने कहा भी है—"चीनवालों के दिमाग़ में घटनाओं का यह सिलसिला बना हुआ है कि पहले मिशनरियों का आना, फिर जंगी जहाज़ों का पहुँचना, और उसके बाद ज़मीन हड़पना।" ये बातें ध्यान में रखनी चाहिए, क्योंकि चीन के बखेड़ों में मिशनरी बहुत बार सामने आता रहता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अनोखी बात है कि एक पागल मज़हबी दीवाने का उठाया हुआ यह बलवा पूरी तरह दबाये जाने से पहले इतनी बड़ी कामयाबी हासिल कर गया। इसकी असली वजह यह थी कि चीन में पुरानी व्यवस्था टूट रही थी। मेरा ख़याल है कि चीन पर जो पिछला पत्र मैंने तुम्हें लिखा था, उसमें मैंने तुम्हें वहाँ टैक्सों के बोझ का, बदलती हुई आर्थिक हालतों का और जनता के बढ़ते हुए असन्तोष का हाल बताया था। मंचू-सरकार के ख़िलाफ़ हर जगह गुप्त समितियाँ खड़ी हो रही थीं और हवा में बलवा भरा हुआ था। अफ़ीम और दूसरी चीज़ों के विदेशी व्यापार ने हालत को और भी ज़्यादा बिगाड़ दिया था। चीन में अलबत्ता पहले भी विदेशी व्यापार होता था, लेकिन इस समय हालत दूसरी थी। पश्चिम के बड़े-बड़े कल-कारखाने बड़ी तेजी से माल तैयार कर रहे थे, और वह सब-का-सब उन देशों में खप नहीं सकता था। इसलिए उन्हें बाहर के हाट-बाज़ार तलाश करने की ज़रूरत पड़ी। भारत में और चीन में बाज़ारों की तलाश के पीछे यही मजबूरी थी। इस विदेशी माल ने, और ख़ासकर, अफ़ीम ने पुरानी व्यापारी व्यवस्था को उलट दिया, और आर्थिक गुत्थी को और भी उलझा दिया। भारत की तरह चीनी बाज़ारों में भी चीज़ों की क़ीमतों पर दुनिया की क़ीमतों का असर पड़ने लगा। इन सब कारणों ने लोगों के असन्तोष और मुसीबतों को और भी बढ़ा दिया और ताइपिंग के बलवे को बल पहुँचाया।

यूरोपीय शक्तियों की बढ़ती हुई गुस्ताख़ी और दस्तन्दाज़ी के इन दिनों में चीन की यही हालत थी। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी कि यूरोपीय लोगों की माँगों का मुक़ाबला करने में चीन का कुछ बस न चला। इन यूरोपीय शक्तियों ने और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, जापान ने, चीन से ख़ास रियायतें और इलाक़े ऐंठने के लिए उसकी गड़बड़ और मुसीबतों से पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया। वास्तव में चीन का भी भारत जैसा ही हाल होता, और वह भी किसी एक या ज़्यादा यूरोपीय शक्ति का या जापान का अधीन राज्य या साम्राज्य हो जाता, अगर इन शक्तियों में आपसी होड़ न होती और एक-दूसरे के लिए दिलों में जलन न होती।

उन्नीसवीं सदी में चीन की अर्थ-व्यवस्था का टूट जाना, ताइपिंग का बलवा, ईसाई मिशनरियों की करतूतों और विदेशी हमलों की इस आम हालत को बताने में मैं अपने असली क़िस्से से भटक गया हूँ। लेकिन घटनाओं की कहानी को समझदारी से जानने के लिए इन बातों के बारे में कुछ-न-कुछ जानना ज़रूरी है; क्योंकि इतिहास की घटनाएँ किसी चमत्कार की तरह अचानक नहीं हुआ करतीं। बहुत-से कारणों के नतीजे से ही वे घटित होती हैं। लेकिन ये कारण अक़्सर ज़ाहिर नहीं होते; वे घटनाओं की सतह के नीचे छिपे रहते हैं। चीन के मंचू-शासक,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो अभी तक इतने महान् और शक्तिशाली थे, भाग्य-चक्र के इस अचानक परिवर्तन पर ज़रूर ही चकित रह गये होंगे। उन्होंने शायद यह नहीं देखा कि उनके पतन की ख़ास वजह उनके ही अतीत में समाई हुई थी; उन्होंने पश्चिम की औद्योगिक प्रगति को और चीन की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले उसके सत्यानाशी नतीजों को अच्छी तरह नहीं समझा। 'बर्बर' विदेशियों के अपने यहाँ ज़बर्दस्ती घुस आने पर उन्हें बहुत ग़ुस्सा आया। उस वक़्त के सम्राट् ने विदेशियों के इस घुस आने का ज़िक्र करते हुए एक मज़ेदार पुराने चीनी मुहाविरे का इस्तेमाल किया। उसने कहा कि मैं किसी आदमी को अपने बिस्तर के पास खर्राटे न लेने दूँगा! हालाँकि प्राचीन ग्रंथों के ज्ञान और विनोद से मुसीबत के समय गम्भीर विश्वास और ख़ूब धीरज की शिक्षा मिलती थी, लेकिन विदेशियों को पीछे हटाने के लिए वे काफ़ी नहीं थे।

नानकिंग की सुलह ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाज़े खोल दिये। लेकिन यह नहीं हो सकता था कि सारे मोटे-मोटे निवाले अकेला ब्रिटेन ही हड़प कर जाय। फ़्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका भी आ धमके और उन्होंने भी चीन के साथ व्यापारी सुलहनामे किये। चीन लाचार था और उसपर की जानेवाली यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती उसके दिलमें विदेशियों के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। अपने यहाँ इन 'बर्बरों' की मौजूदगी पर ही उसे बहुत ग़ुस्सा था। इधर विदेशियों की भूख बुझना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के शोषण की उनकी भूख बढ़ ही रही थी। ब्रिटेन फिर इसमें अगुआ बना।

विदेशियों के लिए यह बड़ा अच्छा मौक़ा था, क्योंकि चीन ताइपिंग के बखेड़े में उलझा होने के कारण कोई विरोध नहीं कर सकता था। इसलिए अब अंग्रेज़ युद्ध का कोई बहाना ढूँढ़ने लगे। १८५६ ई० में कैंटन के चीनी वाइसराय ने एक जहाज़ के चीनी मल्लाहों को समुद्री डकैती के अपराध में गिरफ़्तार कर लिया। यह जहाज़ चीनियों का था और इस मामले से विदेशियों का कोई सरोकार न था। लेकिन हांगकांग सरकार के दिये हुए परवाने की वजह से उसपर ब्रिटिश झण्डा फहराया हुआ था। इत्तफ़ाक़ की बात यह थी कि उस समय तक इस परवाने की मियाद भी ख़त्म हो चुकी थी। लेकिन फिर भी, नदी-किनारे के मेमने और भेड़िये के क़िस्से की तरह, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसीको युद्ध का बहाना बना लिया।

इंग्लैण्ड से चीन को फ़ौजें भेजी गईं। ठीक इन्हीं दिनों भारत में १८५७ का विद्रोह शुरू हो गया, और इसलिए इन सब फ़ौजों को भारत भेज दिया गया। विद्रोह के दबाये जाने तक चीन के युद्ध को इन्तज़ार करना पड़ा। १८५८ ई० में यह दूसरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी बीच फ़्रान्स ने भी इस युद्ध में शरीक होने का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बहाना ढूंढ़ निकाला; क्योंकि चीन में किसी जगह कोई फ़ान्सीसी मिशनरी मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी चीनियों पर टूट पड़े, जो उस समय ताइपिंग के बलवे में उलझे हुए थे। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों ने रूस और अमेरिका को भी इस युद्ध में शामिल होने को उकसाया, लेकिन वे राजी न हुए। मगर लूट में हिस्सा बँटाने को वे बिलकुल तैयार थे। असल में कोई लड़ाई हुई ही नहीं, और इन चारों शक्तियों ने चीन के साथ नई सन्धि करके ज्यादा-से-ज्यादा रियायतें ऐंठ लीं। विदेशी व्यापार के लिए और ज्यादा बन्दरगाह खुल गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का क़िस्सा अभी खत्म नहीं हुआ है। इस नाटक का अभी एक और अंक खेला जाना बाक़ी था, जिसका अन्त और भी ज्यादा दुखदाई हुआ। जब सन्धियाँ की जाती हैं तो दस्तूर के मुताबिक़ उससे ताल्लुक़ रखनेवाली सरकारों को उन्हें पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया था कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर में इन नई सन्धियों को पक्का कर दिया जाय। जब इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो खुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुँच गया। बाक़ी तीनों समुद्री-रास्ते से आये और उन्होंने अपनी नावों को पीहो नदी में होकर पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनों इस शहर को ताइपिंग के बलवाइयों से खतरा था और नदी पर क़िलेबन्दी की हुई थी। इसलिए चीन सरकार ने ब्रिटिश, फ़ान्स और अमेरिका के राजदूतों से नदी के रास्ते न आकर ज़रा उत्तर की तरफ होकर खुश्की के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ बेजा न थी। अमेरिकी राजदूत तो इसपर राज़ी हो गया; लेकिन ब्रिटिश और फ़ान्सीसी राजदूत नहीं हुए। क़िलेबन्दी होते हुए भी उन्होंने ज़बर्दस्ती नदी में होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियों ने उनपर गोलियाँ चला दीं और भारी नुक़सान के साथ उन्हें वापस लौटने को मजबूर किया।

मग़रूर और मदान्ध सरकारें, जो अपने सफ़र का रास्ता बदलने की चीन-सरकार की प्रार्थना तक सुनने को तैयार न थीं, इसे बर्दाश्त न कर सकीं। बदला लेने के लिए और ज्यादा फ़ौजें बुला भेजी गईं। १८६० ई० में उन्होंने पेकिंग के प्राचीन नगर पर धावा बोल दिया, और अपना बदला बर्बादी, लूट और नगर की सबसे ज्यादा अद्भुत इमारत को जलाने के रूप में निकाला। यह इमारत शाही ग्रीष्म महल, यून-मिंग-यून थी, जो शयिन-लुंङ के शासन-काल में पूरी हुई थी। इस महल में साहित्य और कला के अनमोल रत्न भरे हुए थे, जो चीन की सबसे सुन्दर चीज़ें थीं। काँसे की बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ, चीनी मिट्टी के अद्भुत बढ़िया बर्तन, दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तकें, चित्र और हर तरह के विचित्र नमूने और हुनर के काम, जिनके लिए चीन एक हज़ार वर्ष से मशहूर था, इसमें रखे हुए थे। जाहिल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हूश अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी सिपाहियों ने इन बेशक़ीमती चीज़ों को लूटा और कई दिनों तक जलती रहनेवाली भयंकर होलियों में झोंककर ख़ाक कर दिया! ऐसी हालत में हज़ारों वर्षों की संस्कृति के धनी चीनियों ने अगर इस वहशीपन पर अपने दिलों में दर्द महसूस किया और इन तोड़-फोड़ करनेवालों को सिर्फ़ हत्याएँ करनेवाले व बर्बाद करनेवाले जाहिल जंगली समझा तो इसमें क्या ताज्जुब है? इससे उन्हें हूणों, मंगोलों और पुराने ज़माने के दूसरे बहुत-से जंगली तबाहकारों की फिर याद हो आई होगी।

लेकिन विदेशी 'बर्बरों' को इस बात की क्या परवाह थी कि चीनी उनके बारे में क्या सोचते हैं। अपने जंगी-जहाज़ों और नये ढँग के लड़ाई के हथियारों के बीच वे अपने को सुरक्षित समझते थे। अगर सैकड़ों वर्षों में जमा की गई बहुमूल्य और दुर्लभ चीजें नष्ट हो गईं, तो उन्हें इससे क्या मतलब था? चीन की कला और संस्कृति की उन्हें परवाह ही क्या थी? उनके शब्दों में तो--

"चाहे कुछ भी हो, हमारे पास बड़ी तोप है, और उनके पास नहीं है।"

: ११५ :

चीन पर मुसीबतें

२४ दिसम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि किस तरह १८६० ई० में अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों ने पेकिंग के अद्भुत ग्रीष्म-भवन को तहस-नहस कर दिया। कहा जाता है कि चीनियों ने सुलह के झण्डे को नहीं माना, इसलिए उसकी सज़ा के तौर पर यह किया गया था। यह सच हो सकता है कि कुछ चीनी फ़ौजें इस तरह के अपराध की दोषी रही हों, लेकिन अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों ने जान-बूझकर जो वहशीपन बताया, वह तो किसी की समझ में आ ही नहीं सकता। कुछ नादान सिपाहियों का यह काम नहीं था, बल्कि ज़िम्मेदार अफ़सरों ने ही यह सबकुछ करवाया था। ऐसी बातें क्यों होती हैं? अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी सभ्य और सुसंस्कृत क़ौमें हैं, और कई बातों में आधुनिक सभ्यता की अगुआ हैं। और फिर भी ये लोग जो निजी जीवन में बड़े भले और दूसरों का ख़याल रखनेवाले होते हैं, सार्वजनिक व्यवहार में और दूसरी क़ौमों के साथ लड़ाई में अपनी सारी सभ्यता और भलमनसाहत भूल जाते हैं। व्यक्तियों के आपसी व्यवहार में और राष्ट्रों के आपसी बर्ताव में एक बड़ा अजीब भेद मालूम होता है। बच्चों, लड़कों और लड़कियों को ज्यादा स्वार्थी न बनने, दूसरों का ख़याल रखने और अच्छा बर्ताव करने की शिक्षा दी जाती है। हमारी सारी शिक्षा का इरादा हमें यही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबक़ सिखाना होता है, और कुछ हद तक हम यह सीखते भी हैं। पर जब युद्ध आते हैं, तो हम अपना पुराना सबक़ भूल जाते हैं और हमारे भीतर छिपा हुआ जानवर बाहर आ जाता है। इस तरह भले आदमी जानवरों की तरह बर्ताव करने लगते हैं।

एक ही बिरादरी के दो राष्ट्र भी, जैसे जर्मनी और फ़्रान्स जब एक-दूसरे से लड़ते हैं, तब भी ऐसा ही होता है। लेकिन जब जुदा-जुदा नस्लों के बीच लड़ाई होती है, एशिया और अफ़्रीका की नस्लों और क़ौमों के साथ यूरोपीय लोगों का मुक़ाबला होता है, तब हालत इससे भी बुरी हो जाती है। अलग-अलग नस्लें एक-दूसरी से परिचित नहीं होतीं, क्योंकि वे एक-दूसरी के लिए बन्द किताब की तरह होती हैं। और जहाँ अज्ञान है, वहाँ आपसी हमदर्दी नहीं होती। नस्लों की आपसी नफ़रत और दुश्मनी बढ़ती जाती हैं, और जब दो नस्लों के बीच लड़ाई छिड़ती है तब वह सिर्फ़ राजनीतिक युद्ध नहीं होता, बल्कि उससे कहीं बदतर नस्लों का युद्ध बन जाता है। इससे किसी हद तक यह समझ में आ जाता है कि १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह में जो दिल दहलानेवाली बातें हुईं, और एशिया व अफ़्रीका में हुकूमतें करनेवाली यूरोपीय शक्तियों ने जो ज़ुल्म और वहशीपन किये, उनका क्या सबब था।

यह सब बहुत दुखभरा और बेहूदा नज़र आता है। लेकिन जहाँ एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र पर, एक क़ौम की दूसरी क़ौम पर और एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर हुकूमत होती है, वहाँ बेचैनी, रगड़, और विद्रोह, और शोषित राष्ट्र, क़ौम या वर्ग का अपने शोषक से पीछा छुड़ाने की कोशिश, होना लाज़िमी है। आज के हमारे समाज का आधार यही एक दूसरे का शोषण है। इसीको पूंजीवाद कहते हैं और इसीसे साम्राज्यवाद पैदा हुआ।

उन्नीसवीं सदी के बड़े-बड़े कल-कारखानों ने और उद्योगों की उन्नति ने पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों को और संयुक्त राज्य अमेरिका को मालदार और शक्तिशाली बना दिया था। वे समझने लगे थे कि वे ही दुनिया के मालिक हैं, और दूसरी नस्लें उनसे बहुत हीन हैं और इसलिए उन्हें उनके लिए रास्ता छोड़ देना चाहिए। क़ुदरत की ताक़तों पर कुछ क़ाबू हो जाने की वजह से वे दूसरों के लिए मग़रूर और घमण्डी हो गये। वे इस बात को भूल गये कि सभ्य आदमी को क़ुदरत पर ही नहीं, बल्कि खुद अपने पर भी क़ाबू करना चाहिए। इसलिए हम देखते हैं कि इस उन्नीसवीं सदी में वे प्रगतिशील नस्लें, जो बहुत बातों में दूसरी नस्लों से आगे थीं, अक़्सर ऐसे बर्ताव कर बैठती थीं, जो पिछड़े हुए जंगली आदमी को भी शरमा दें। इससे तुमको यूरोपीय नस्लों का एशिया और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ़्रीका में न सिर्फ़ पिछली सदी का, बल्कि आज का भी, वर्ताव समझने में शायद मदद मिलेगी।

यह ख़याल न कर बैठना कि मैं अपने लोगों से या दूसरी नस्लों से यूरोपीय नस्लों की यह तुलना अपनी अच्छाई बताने की ग़रज़ से कर रहा हूँ। हर्गिज़ नहीं। हम सबमें काले धब्बे मौजूद हैं; बल्कि हमारे कुछ धब्बे तो काफ़ी बुरे हैं; वरना हम जितने नीचे गिर गये हैं, उतने न गिरते।

अब हम चीन वापस चलेंगे। ग्रीष्म-महल को नष्ट करके अंग्रेज़ और फ़्रान्सीसी अपनी ज़बर्दस्त ताक़त जतला चुके थे। इसके बाद उन्होंने चीन को पुरानी सन्धियों को पक्की करने के लिए मजबूर किया और उससे नई-नई रियायतें ऐंठ लीं। इन सन्धियों के मुताबिक़ चीन-सरकार को शंघाई में विदेशी अफ़सरों की मातहती में अपना एक तटकर विभाग बनाना पड़ा। इसका नाम रक्खा गया 'इम्पीरियल मैरिटाइम कस्टम्स' यानी शाही समुद्री तटकर।

इस बीच ताइपिंग का बलवा, जिसने चीन को कमज़ोर करके विदेशी ताक़तों को पैर फैलाने का मौक़ा दिया था, चल ही रहा था। आख़िरकार १८६४ ई० में चीनी गवर्नर ली-हुंङ-चांङ ने, जो चीन का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हो गया है, इसको पूरी तरह दबा दिया।

जब इंग्लैण्ड और फ़्रान्स चीन पर इस तरह आतंक जमाकर उससे ख़ास अधिकार और रियायतें ऐंठ रहे थे, उत्तर में रूस ने बिना ज़्यादा खून-खराबी के ही एक मार्के की कामयाबी हासिल कर ली। कुछ ही वर्ष पहले क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाने के भूखे रूस ने यूरोप में तुर्की पर हमला किया था। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स दोनों ही रूस की बढ़ती हुई ताक़त से डरते थे, इसलिए वे तुर्कों से जा मिले और १८५४-५६ ई० को क्रीमियन युद्ध में उन्होंने रूस को हरा दिया। पश्चिम में हार खाकर रूस ने पूर्व पर नज़र डालनी शुरू की और उसे बड़ी कामयाबी मिली। बिना लड़ाई के उपायों से चीन को फुसलाया गया कि वह व्लादीवोस्तोक के शहर व बन्दरगाह को समुद्र से लगे हुए उत्तर-पूर्वी प्रान्त समेत रूस के हवाले कर दे। रूस की इस कामयाबी की नामवरी एक नौजवान रूसी अफ़सर मुरावीफ़ को है। इस तरह तीन साल के युद्ध और पागलपन भरी बर्बादी के बाद भी इंग्लैण्ड और फ़्रान्स जितना फ़ायदा न उठा सके, उससे कहीं बहुत ज़्यादा रूस ने दोस्ताना तरीक़ों से हासिल कर लिया।

१८६० ई० में हालत इस तरह की थी। मंचूवंश का महान् चीनी साम्राज्य, जिसका फैलाव और दबदबा अठारहवीं सदी के अन्त तक लगभग आधे एशिया पर छा गया था, अब दीन-हीन हो गया था। सुदूर यूरोप की पश्चिमी शक्तियों ने उसे हरा दिया था, नीचा दिखा दिया था। दूसरे अन्दरूनी झगड़े-फ़िसादों ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य को क़रीब-क़रीब उलट दिया था। इन सब बातों ने चीन को जड़ से हिला दिया। ज़ाहिर था कि हालत अच्छी नहीं थी, इसलिए नई हालतों का और विदेशी ख़तरे का सामना करने के लिए देश के दुबारा संगठन का कुछ प्रयत्न किया गया। इसलिए १८६० ई० के वर्ष को, जबकि चीन ने विदेशियों के हमलों का मुक़ाबिला करने की तैयारी की, नये युग की शुरुआत समझनी चाहिए। चीन का पड़ौसी जापान भी इस समय इसी तरह की तैयारी में लगा हुआ था। इसलिए यह भी उसके लिए मिसाल बन गया। चीन की बनिस्बत जापान को कहीं ज्यादा सफलता मिली, लेकिन कुछ देर के लिए चीन भी विदेशी शक्तियों को रोके रहा।

चीन के एक हमदर्द दोस्त बर्लिङ्गेम नामक अमेरिका-निवासी के साथ एक चीनी प्रतिनिधि-मण्डल सन्धिवाले राष्ट्रों के यहाँ भेजा गया और इसने चीन के लिए पहले से कुछ अच्छी शर्तें हासिल करने में सफलता हासिल की। १८६८ ई० में चीन और अमेरिका के बीच एक नई सन्धि हुई, और इसकी दिलचस्प बात यह है कि इसमें चीन सरकार ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर मेहरबानी और रियायत के तौर पर अपने यहाँ के मज़दूरों को अमेरिका ले जाया जाना मंजूर कर लिया। संयुक्त राज्य अमेरिका अपने पश्चिमी प्रशान्त राज्यों को, ख़ासकर कैलिफ़ोर्निया को बढ़ाने में लगा हुआ था और वहाँ मज़दूरों की बहुत कमी थी। इसलिए उसने चीनी मज़दूरों को अपने यहाँ मँगवाया। लेकिन यह एक नये झगड़े का सबब बन गया। अमेरिकी लोग सस्ते चीनी मज़दूरों का विरोध करने लगे, इससे दोनों सरकारों के बीच तनातनी शुरू हो गई। बाद में अमेरिकी सरकार ने चीनी मज़दूरों का आना बन्द कर दिया। इस अपमानजनक बर्ताव पर चीनी जनता में बहुत नाराज़ी फैली और उन्होंने अमेरिकी माल का बायकाट कर दिया। लेकिन यह सब एक लम्बा क़िस्सा है, जो हमें बीसवीं सदी में पहुँचा देता है। हमें उसमें जाने की ज़रूरत नहीं।

ताइपिंग का बलवा अभी दब भी न पाया था कि मंचू-शासकों के खिलाफ़ एक और विद्रोह उठ खड़ा हुआ। यह ख़ास चीन में नहीं, बल्कि सुदूर पश्चिम में, एशिया के बीच में, तुर्किस्तान में हुआ था। यहाँ की ज्यादातर आबादी मुसलमानों की थी, इसलिए १८६३ ई० में यहाँ के मुस्लिम क़बीलों ने, जिनका नेता याक़ूबबेग था, विद्रोह करके चीनी अधिकारियों को निकाल बाहर किया। यह मुक़ामी विद्रोह दो कारणों से हमारे लिए दिलचस्प है। रूस ने चीन का कुछ इलाका हड़प करके इससे कुछ फ़ायदा उठाने की कोशिश की। वास्तव में जब कभी चीन मुसीबत में फँसा होता तभी यूरोपीय शक्तियों की यही खूब सधी-सधाई चालबाज़ी होती थी। लेकिन, यह देखकर सबको बड़ा ताज्जुब हुआ कि इस बार चीन ने रूस की कार्रवाई को मानने से इन्कार कर दिया और आखिर-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार हड़प की हुई ज़मीन उगलवा ली। इसकी वजह थी चीनी सेनापति त्सो-त्सुंङ-तांङ का मध्य-एशिया में याक़ूबबेग के ख़िलाफ़ अनोखा मोर्चा। इस सेनापति ने बड़े इतमीनान के साथ मामले को शुरू किया। बाग़ियों तक पहुँचने के पहले वह साल-पर-साल बिताता हुआ, धीरे-धीरे अपनी फ़ौज आगे बढ़ाता रहा। दो बार तो उसने अपनी फ़ौज को इतने दिनों तक एक जगह ठहराये रक्खा कि उसने अपने खाने के लिए अनाज बोकर फ़सल भी काट ली! फ़ौज के लिए रसद की समस्या हमेशा कठिन रहती है, और गोबी के रेगिस्तान को पार करते वक़्त तो यह भयानक हो गई होगी। इसलिए सेनापति त्सो ने इसे निराले ढँग से हल कर लिया। इसके बाद उसने याक़ूबबेग को हरा दिया और विद्रोह का अन्त कर दिया। कहा जाता है कि काशगर, तुरफ़ान और यारक़न्द में उसकी चढ़ाई भयानक और फ़ौजी लिहाज़ से अद्‌भुत है।

मध्य-एशिया में रूस के साथ सन्तोष के लायक़ फ़ैसला कर लेने के बाद चीनी सरकार को जल्दी ही अपने दूर तक फैले हुए, लेकिन टूक-टूक होनेवाले राज्य के दूसरे हिस्से में झगड़े का सामना करना पड़ा। यह झगड़ा चीन की मातहत रियासत अनाम में हुआ। फ़्रान्स का इस पर बहुत दिनों से दाँत था और चीन और फ़्रान्स के बीच लड़ाई छिड़ गई। इस बार फिर सबको ताज्जुब हुआ कि चीन ने अच्छा लोहा लिया और फ्रान्स से ज़रा भी नहीं दबा। १८८५ ई० में सन्तोष के लायक़ सन्धि हो गई।

चीन में इस नई मज़बूती के चिह्नों से साम्राज्यवादी शक्तियों पर गहरी छाप पड़ी। ऐसा मालूम होने लगा कि चीन अपनी १८६० ई० और इसके पहले की कमज़ोरी को दूर करके पनप रहा था। सुधारों की चर्चा चली और बहुत-से लोग यह समझने लगे कि चीन अपनी नाज़ुक हालत को पार कर गया है। इसी कारण, १८८६ ई० में इंग्लैण्ड ने बरमा को अपने साम्राज्य में मिलाते वक़्त चीन को हर दसवें साल दस्तूर के मुताबिक़ ख़िराज भेजने का वादा कर लिया।

लेकिन चीन की नाज़ुक हालत सुधरने में अभी बहुत कसर थी। अभी उसकी क़िस्मत में बहुत बेइज़्ज़ती, मुसीबतें और टूट-फूट बदी थीं। उसके अन्दर की ख़राबी सिर्फ़ उसकी फ़ौज या जंगी बेड़े की कमज़ोरी नहीं थी, बल्कि कोई बहुत गहरी चीज़ थी। उसका सारा सामाजिक व आर्थिक ढाँचा चूर-चूर हो रहा था। मैं बतला चुका हूँ कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में, जब मंचू-शासकों के ख़िलाफ़ गुप्त समितियाँ बन रही थीं, चीन की हालत बहुत ख़राब थी। विदेशी व्यापार ने और उद्योगोंवाले देशों के सम्पर्क के असर ने हालत को और बिगाड़ दिया था। १८६० ई० के बाद चीन में जो मज़बूती दिखाई दी, उसके पीछे असलियत कुछ नहीं थी। कुछ उत्साही अफ़सरों ने, खासकर ली-हुंङ-चांङ ने, इधर-उधर कुछ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक़ामी सुधार किये। लेकिन ये सुधार न तो समस्या की जड़ तक पहुँच सके, न चीन को कमज़ोर बनानेवाले रोग का इलाज ही कर सके।

इन वर्षों में चीन में जो ऊपरी मज़बूती दिखाई दी, उसकी ख़ास वजह यह थी कि शासन की लगाम एक ज़ोरदार शासक के हाथ में थी। यह थी एक अनोखी महिला, सम्राज्ञी राजमाता त्ज़ू-सी। जिस समय शासन की बागडोर उसके हाथों में आई, उस समय उसकी उम्र सिर्फ़ २६ साल की थी, क्योंकि नाम के लिए समाट् उसका दूध-मुँहा पुत्र था। सैंतालीस वर्ष तक उसने बड़ी मर्दानगी के साथ चीन पर शासन किया। उसने चुन-चुनकर मुस्तैद अफ़सर मुक़र्रर किये, और उनपर अपनी मर्दानगी की कुछ छाप लगा दी। इन बातों की व इस महिला की ही वजह से चीन ने इतनी बहादुराना मज़बूती दिखाई, जितनी वह बहुत वर्षों से नहीं दिखा सका था।

लेकिन इसी अर्से में सँकड़े समुद्र के उस पार जापान चमत्कार दिखा रहा था और ऐसा बदल रहा था कि बे-पहचान हुआ जा रहा था। इसलिए आओ अब हम जापान चलें।

: ११६ :

जापान तेजी से आगे दौड़ता है

२७ दिसम्बर, १९३२

जापान का हाल लिखे मुझे बहुत दिन हो गये हैं। पाँच महीने हुए मैंने तुम्हें (पत्र सं० ८१ में) बताया था कि सत्रहवीं सदी में इस देश ने कैसे विचित्र ढँग से अपने-आपको चारों तरफ़ से बन्द कर लिया था। १६४१ ई० से लेकर २०० वर्षों से ज्यादा तक, जापानी लोग बाक़ी दुनिया से बिलकुल अलग होकर रहे। इन २०० वर्षों ने यूरोप, एशिया और अमेरिका और अफ़्रीका तक में बड़े-बड़े परिवर्तन देखे। इस ज़माने में जो हलचल पैदा करनेवाली घटनाएँ हुईं, उनमें से कुछ का हाल मैं तुम्हें बता ही चुका हूँ। लेकिन इस एकान्तवासी राष्ट्र में इन घटनाओं की कोई खबर नहीं पहुँची; जापान की पुरातन-युगी सामती हवा को छेड़नेवाला कोई झोंका बाहरी दुनिया से न आया। ऐसा मालूम होता था मानो समय और परिवर्तन की चाल रोक दी गई हो और सत्रहवीं सदी बीच में ही बन्दी बना दी गई हो। क्योंकि, हालाँकि काल का पहिया घूम रहा था, लेकिन तसवीर वहीं ठहरी हुई मालूम देती थी। यह तसवीर थी सामन्ती जापान की, जिसमें ज़मींदार-वर्ग के हाथों में सत्ता थी। सम्राट् के हाथ में कोई अधिकार नहीं था, असली शासक शोगुन था, जो बड़े फ़िरक़े का मुखिया होता था। भारत के क्षत्रियों की तरह वहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापान का उत्कर्ष

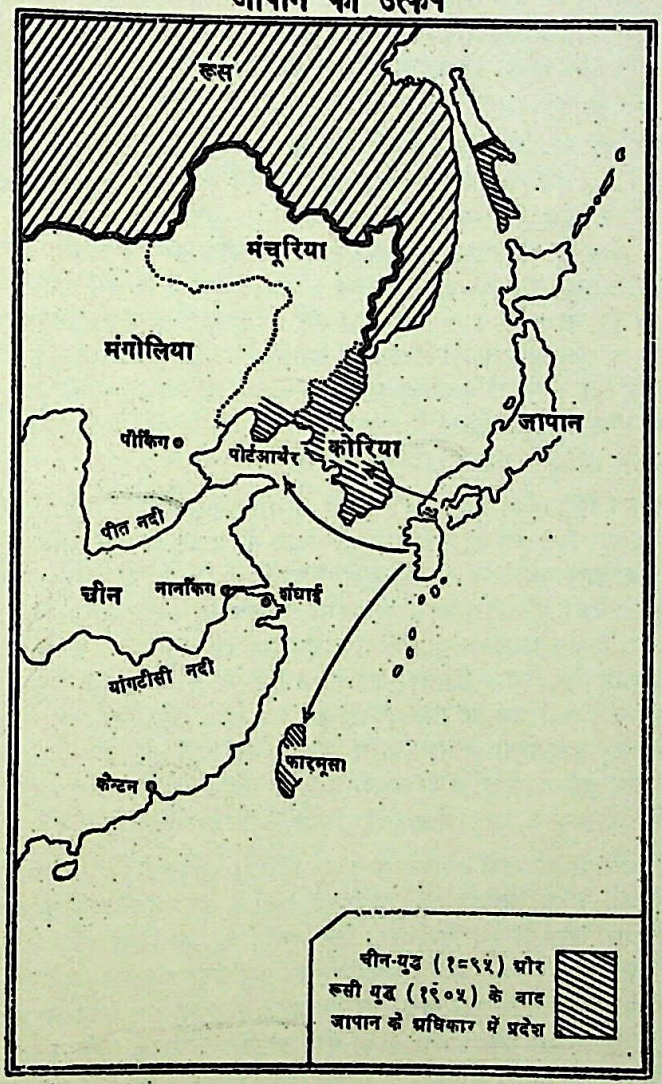

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी समूराई नाम की एक सैनिक जाति थी। सामन्ती सरदार और समूराई लोग ही शासक-वर्ग थे। सारे सरदार और फ़िरक़े अक्सर आपस में लड़ते रहते थे। लेकिन किसानों और दूसरे लोगों को सताने में और उनका शोषण करने में ये सब मिलकर एक हो जाते थे।

फिर भी जापान में शान्ति थी। लम्बे गृह-युद्धों के बाद, जिनसे देश पस्त हो गया था, वह शान्ति बड़ी सुखदाई थी। आपस में हमेशा लड़नेवाले बड़े-बड़े सरदारों में से कुछ को—दाइम्यो सरदारों को—पूरी तरह दबा दिया गया। गृह-युद्ध की तबाही को जापान धीरे-धीरे दुरुस्त करने लगा। लोगों का ध्यान अब उद्योग, कला, साहित्य और मज़हब की ओर ज़्यादा खिंचने लगा। ईसाई-मज़हब दबाया जा चुका था; अब बौद्ध-धर्म का दुबारा ज़ोर हुआ और बाद में शिन्तो-मत का, जो खास जापानी ढंग की पितरों की पूजा है। सामाजिक व्यवहार और सदाचार के मामलों में चीनी ऋषि कन्फ़्यूशस को आदर्श माना जाने लगा। दरबार के और अमीर-सरदारों के मंडलों में कला खूब पनपी। कई बातों में मध्य-युगों के यूरोप की-सी तसवीर सामने आ गई।

लेकिन परिवर्तनों को रोके रखना आसान नहीं होता। हालाँकि बाहरी लगाव बन्द कर दिये गए थे, लेकिन खुद जापान के अन्दर ही परिवर्तन काम कर रहा था; हाँ, इस परिवर्तन की चाल उससे बहुत धीमी थी, जो बाहरी सम्पर्क से होती। दूसरे देशों की तरह यहाँ भी सामन्ती व्यवस्था आर्थिक तबाही की तरफ़ जाने लगी। असन्तोष बढ़ गया, और शासन का प्रमुख होने के सबब से शोगुन इसका शिकार होने लगा। शिन्तो-पूजा की उन्नति की वजह से अब जनता सम्राट् का आदर करने लगी, क्योंकि उसे सूर्य का वंश-धर माना जाता था। इस तरह चारों ओर फैले हुए असन्तोषों से राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई और यही भावना, जिसकी नींव अर्थ-व्यवस्था के खण्डहरों पर थी, लाज़िमी तौर पर परिवर्तन लाने-वाली और जापान के दरवाज़े बाहरी दुनिया के लिए खोलनेवाली बन जाती।

जापान के दरवाज़े खोलने के लिए विदेशी शक्तियों ने बहुतेरी कोशिशें की थीं, लेकिन वे सब विफल रहीं। उन्नीसवीं सदी के लगभग बीच में संयुक्त राज्य अमेरिका इसमें खासतौर से दिलचस्पी लेने लगा। वह इन दिनों पश्चिम में कैलि-फ़ोर्निया तक फैल गया था, और सैनफ़्रान्सिस्को एक बड़ा बन्दरगाह बनता जा रहा था। चीन से जो नया व्यापार खुला था वह बड़ा आकर्षक था, मगर प्रशान्त महा-सागर को पार करना एक लम्बी यात्रा थी। इसलिए अमेरिकावाले चाहते थे कि इस लम्बी यात्रा में किसी जापानी बन्दरगाह पर ठहरकर रसद ले सकें। अमेरिका-वालों ने बार-बार जापान के दरवाज़े खुलवाने की जो कोशिशें कीं, उनकी यही वजह थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८५३ ई० में अमेरिकी जहाज़ों का एक दस्ता, अमेरिका के राष्ट्रपति का पत्र लेकर जापान आया। जापान ने भाप से चलनेवाले इन्हीं जहाज़ों को सबसे पहले देखा। साल भर बाद शोगुन दो बन्दरगाह खोलने के लिए राज़ी हो गया। जब अंग्रेज़ों, रूसियों और डचों ने यह सुना तो उन्होंने भी आकर शोगुन से इसी तरह सन्धियाँ कीं। इस तरह २१३ वर्ष बाद जापान के दरवाज़े फिर बाहरी दुनिया के लिए खुल गये।

लेकिन झगड़ा खड़ा होनेवाला था। विदेशी शक्तियों के आगे शोगुन ने अपने-आपको सम्राट् ज़ाहिर किया था। पर अब वह लोकप्रिय नहीं रहा था और उसके और उसकी विदेशी सन्धियों के खिलाफ़ ज़बर्दस्त खलबली मच गई। कुछ विदेशी मारे भी गये और इसका नतीजा यह हुआ कि विदेशी शक्तियों ने जहाज़ी हमला कर दिया। हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती गई; अन्त में, १८६७ ई० में शोगुन को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर किया गया। इस तरह तोकुगावा शोगुनशाही का अन्त हुआ, जो तुम्हें याद हो या न हो, १६०३ ई० में आयेयासू से शुरू हुई थी। यही नहीं, शोगुनशाही की सारी प्रथा ही, जो ७०० वर्षों से चली आ रही थी, खत्म हो गई।

नये सम्राट् को अब अपनी असली सत्ता मिल गई। मुत्सीहितो के नाम से उसी समय राजगद्दी पर बैठनेवाला यह सम्राट् सिर्फ़ चौदह वर्ष का लड़का था। इसने १८६७ से १९१२ ई० तक, यानी पैंतालीस वर्ष, राज किया। यह ज़माना 'मेईजी', यानी प्रबुद्ध शासन का युग कहलाता है। इसी सम्राट् के शासन-काल में जापान ने तेजी से प्रगति की और वह पश्चिमी देशों की नक़ल करके बहुत बातों में उनकी बराबरी करने लगा। एक पीढ़ी में पैदा किया हुआ यह परिवर्तन निराला है, और इतिहास में बे-मिसाल है। जापान एक बड़ा औद्योगिक देश हो गया और पश्चिमी राष्ट्रों के ढँग का साम्राज्यशाही व लुटेरा राष्ट्र बन गया। प्रगति के तमाम लक्षण उसमें मौजूद थे। उद्योग-धन्धों में तो वह अपने उस्तादों से भी आगे बढ़ गया। उसकी आबादी तेजी से बढ़ने लगी। उसके जहाज़ दुनिया का चक्कर लगाने लगे। वह एक बड़ी शक्ति बन गया, जिसकी आवाज़ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इज्ज़त के साथ सुनी जाने लगी। लेकिन फिर भी यह ज़बर्दस्त परिवर्तन राष्ट्र के दिल में ज्यादा गहरा न बैठ सका। परिवर्तनों को सिर्फ़ ऊपरी कहना भी ग़लत होगा, क्योंकि ये इससे ज्यादा गहरे थे। लेकिन शासकों का नज़रिया वही सामन्तशाही बना रहा; वे इस सामन्ती खोल के साथ बुनियादी सुधारों का मेल मिलाना चाहते थे। बहुत हद तक वे कामयाब-से भी नज़र आते थे।

जापान में इन महान परिवर्तनों के लिए जो लोग ज़िम्मेदार थे, वे अमीर-सरदार-वर्ग के कुछ दूरदर्शी लोग थे, जो 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञ' कहलाते थे। जब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापान में विदेशी-विरोधी दंगों के बाद विदेशी जंगी-जहाज़ों ने बम बरसाये तो जापानियों को अपनी बेकसी का भान हुआ और वे अपमान का कड़वा घूंट पीकर रह गये। लेकिन अपनी क़िस्मत को कोसने और सिर पीटने के बजाय उन्होंने इस हार और बेइज्ज़ती से सबक़ सीखने का फ़ैसला किया। 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञों' ने सुधार का एक कार्यक्रम बनाया और उसपर अमल किया।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो-प्रथा उठा दी गई। सम्राट् की राजधानी क्योतो से बदलकर जेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो (टोकियो) रक्खा गया। एक नये संविधान की घोषणा की गई, जिसमें पार्लमेण्ट की दो सभाओं की योजना थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था; ऊपरवाली के सदस्य नामज़द होते थे। शिक्षा, कानून, उद्योग, वग़ैरा, क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ में परिवर्तन हुए। कारखाने बने और आधुनिक ढँग की थल और जल-सेनाएँ तैयार की गईं। विदेशों से विशेषज्ञ लोग बुलवाये गए और जापानी विद्यार्थियों को यूरोप व अमेरिका भेजा गया—जैसा भारतीय लोग पहले किया करते थे, उस तरह बैरिस्टर वग़ैरा बनने के लिए नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ बनने के लिए।

यह सब 'बुजुर्ग' राजनीतिज्ञों ने सम्राट् के नाम पर किया, जो नई पार्लमेण्ट और दूसरी बातों के बावजूद क़ानून के लिहाज़ से जापानी साम्राज्य का एकतन्त्री राजा बना रहा। साथ-ही-साथ जैसे-जैसे इन सुधारों की प्रगति होती जाती थी, सम्राट्-पूजा का पंथ भी फैलता जाता था। यह भी एक अजीब गठजोड़ा था—एक तरफ़ तो कारखाने, आधुनिक उद्योग और कुछ-कुछ पार्लमेण्टी ढंग का शासन और दूसरी तरफ़ दैवी सम्राट् की मध्यकालीन पूजा। यह समझना मुश्किल है कि ये दोनों बातें, थोड़े समय के लिए भी, क्योंकर साथ-साथ चल सकती थीं। फिर भी दोनों साथ-साथ चलीं और आज दिन भी अलग नहीं हुई हैं। सम्राट् के लिए श्रद्धा की इस भावना का 'बजुर्ग राजनीतिज्ञों' ने दो तरह से फ़ायदा उठाया। उन्होंने सुधारों को उन कट्टरपंथी और सामन्ती वर्गों पर लादा, जो वैसे तो उनका विरोध करते लेकिन सम्राट् के नाम की धाक के आगे ढीले पड़ गये। दूसरी तरफ़ उन्होंने उन ज्यादा प्रगतिशील तत्वों को रोके रक्खा, जो तेजी से आगे बढ़कर सब तरह की सामन्तशाही से पिंड छुड़ाना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के इस पिछले भाग में चीन और जापान का यह फ़र्क़ ग़ौर करने लायक़ है। जापान तेजी के साथ पश्चिमी साँचे में ढलता जा रहा था और चीन, जैसा कि हम देख चुके हैं और आगे भी देखेंगे, बहुत ही अजीब कठिनाइयों में उलझता गया। ऐसा क्यों हुआ? चीन देश के विस्तार, भारी आबादी और क्षेत्रफल ने परिवर्तन होना कठिन बना दिया। भारत भी इसी भारी आबादी और क्षेत्रफल का शिकार है, जो स्पष्ट रूप में शक्ति के स्रोत मालूम होते हैं। चीन का शासन भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काफ़ी केन्द्रित नहीं था, यानी देश के हरेक हिस्से को बहुत हद तक स्थानीय शासन का अधिकार था। इसलिए केन्द्रीय सरकार के लिए देश के इन हिस्सों में दस्तन्दाज़ी करके जापान की तरह बड़े परिवर्तन करना आसान न था। एक बात यह भी है कि चीन की महान् सभ्यता हज़ारों वर्षों में बनी थी और उसके जीवन से ऐसी गुँथी हुई थी कि उसे सहज ही नहीं त्यागा जा सकता था। हम भारत और चीन की फिर इस बात से तुलना कर सकते हैं। दूसरी तरफ़ जापान ने चीन की सभ्यता की नक़ल की थी, इसलिए वह ज्यादा आसानी से उसे छोड़कर दूसरी को अपना सकता था। चीन की कठिनाइयों का एक और कारण था यूरोपीय शक्तियों का लगातार दखल। चीन एक लम्बा-चौड़ा महादेश था। जापान के टापुओं की तरह वह अपने-आपको बन्द करके नहीं रख सकता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा रूस से लगती थी, दक्षिण-पश्चिम में ब्रिटिश साम्राज्य था और दक्षिण में फ़्रान्स बढ़ा चला आ रहा था। ये यूरोपीय शक्तियाँ चीन से बड़ी-बड़ी रियायतें ऐंठने में क़ामयाब हो गई थीं और इन्होंने अपने बड़े व्यापारी हित बढ़ा लिये थे। इन हितों की वजह से उन्हें दस्तन्दाज़ी करने के बहुतेरे बहाने मिल जाते थे।

इस तरह जिस समय चीन अन्धे की तरह लड़खड़ा रहा था और अपने-आपको नई हालतों के अनुकूल बनाने की बेकार कोशिश कर रहा था, तब जापान तीर की तरह आगे बढ़ा जा रहा था। फिर भी एक और अजीब बात ध्यान देने लायक़ है। जापान ने पश्चिम की मशीनों और उद्योगों को तो अपना लिया, और आधुनिक थल व जल सेना बनाकर उन्नत औद्योगिक राष्ट्र का जामा पहन लिया। लेकिन यूरोप के नये विचारों और विचार-धाराओं को, व्यक्तिगत व सामाजिक आज़ादी की भावना को, और जीवन और समाज के बारे में वैज्ञानिक नज़रिये को, उसने आसानी से नहीं अपनाया। भीतर से वह सामन्ती और एकसत्तावादी बना रहा; उस विचित्र सम्राट्-पूजा से बँधा रहा, जिसे संसार के दूसरे देश कभी की छोड़ चुके थे। जापानियों की जोशीली और जान-निछावर करनेवाली देशभक्ति का सम्राट् के लिए वफ़ादारी से गहरा नाता था। राष्ट्रीयता और सम्राट्-पूजा का पंथ, दोनों साथ-साथ चल रहे थे। दूसरी तरफ़, चीन ने मशीनों को और उद्योगवाद को झटपट नहीं अपनाया। पर चीनियों ने, या कम-से-कम आधुनिक चीन ने, पश्चिमी विचारों व विचार-धाराओं का और वैज्ञानिक नज़रिये का स्वागत किया। ये विचार उन लोगों के अपने विचारों से ज्यादा दूर न थे। इस तरह हम देखते हैं कि हालांकि आधुनिक चीन पश्चिमी सभ्यता की भावना में ज्यादा घुल-मिल गया, पर जापान उससे आगे इसलिए बढ़ गया कि उसने भावना की परवाह न करके पश्चिमी सभ्यता का कवच पहन लिया। और चूंकि जापान यह कवच पहनकर मज़बूत बन गया था, इसलिए तमाम यूरोप ने उसकी सराहना की और उसे अपना हमजोली बना लिया। लेकिन चीन कमज़ोर था, उसके पास मशीन-गनें वग़ैरा नहीं थीं। इसलिए यूरोप-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वालों ने उसका अपमान किया, उसे उपदेश सुनाया और उसका शोषण किया; उसके विचारों की और विचारधाराओं की तनिक भी परवाह न की।

जापान न सिर्फ़ उद्योगों के तरीक़ों में ही, बल्कि साम्राज्यशाही हमलावरी में भी यूरोप के क़दमों पर चला। वह यूरोपीय शक्तियों की लीक पर चलनेवाला चेला था; बल्कि उससे भी कुछ ज़्यादा। उसने तो अक़्सर उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के साथ मेल नहीं खाता था। दो घोड़ों पर सवारी करने की कोशिश में वह आर्थिक संतुलन क़ायम न रख सका। टैक्सों के भारी बोझ के नीचे लोगों के असन्तोष की आवाज़ सुनाई देने लगी। अन्दरूनी झगड़ा रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली—युद्धों व विदेशों में साम्राज्यशाही कारनामों के ज़रिये लोगों का ध्यान बँटा दिया। उसके नये उद्योगों ने उसे कच्चे माल और बाज़ारों के लिए दूसरे देशों पर नज़र डालने के लिए मजबूर किया, जिस तरह कि औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैण्ड को और बाद में पश्चिमी यूरोप की दूसरी शक्तियों को बाहर नज़र डालने व देश जीतने के लिए मजबूर किया था। उसका उत्पादन बढ़ा और आबादी की भी तेज़ी के साथ बढ़ोतरी हुई। खाने की चीज़ों और कच्चे माल की दिन-पर-दिन ज़्यादा ज़रूरत होने लगी। ये सब उसे मिलें कहाँ से? उसके सबसे नज़दीकी पड़ौसी थे चीन और कोरिया। चीन में व्यापार की तो गुंजाइश थी, पर वह बहुत घना आबाद देश था। अलबत्ता, मंचूरिया में, जो चीनी साम्राज्य के उत्तर-पूर्वी प्रान्तों का इलाक़ा था, विकास के लिए, और उपनिवेश क़ायम करने के लिए, काफ़ी गुंजायश थी। इसलिए जापान की भूखी नज़र कोरिया और मंचूरिया पर पड़ी।

इधर पश्चिमी शक्तियाँ चीन से तरह-तरह के ख़ास अधिकार लेती जा रही थीं, बल्कि ज़मीन तक हड़प करने की कोशिश में थीं। इसे भी जापान ने चिन्ता की नज़र से देखा। उसे यह चीज़ बिलकुल पसन्द न आई। अगर ये शक्तियाँ उसके ठीक सामने महाद्वीप में जम जायें तो उसकी सुरक्षा ख़तरे में पड़ सकती थी और कम-से-कम महाद्वीप पर उसकी उन्नति में तो बाधा पड़ ही सकती थी।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाज़े खोले अभी बीस वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन की तरफ़ हमलावरी शुरू कर दी। कुछ मछुओं के बारे में एक छोटा-सा झगड़ा खड़ा हो गया। इन मछुओं का जहाज़ नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस, जापान को चीन से हर्जाना माँगने का मौक़ा मिल गया। पहले तो चीन ने इन्कार किया, इसपर उसे लड़ाई की धमकी दी गई। और चूँकि वह अनाम में फ़्रान्स के साथ युद्ध में उलझा हुआ था, उसे जापान के आगे झुकना पड़ा। यह १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम इसी क़िस्म की और जीतें हासिल करने के लिए निगाह दौड़ाने लगा। कोरिया को देखकर उसके मुँह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पानी आ रहा था। बस, एक तुच्छ बहाने को लेकर जापान ने झगड़ा खड़ा कर दिया और उस पर हमला बोल दिया, और उसे कुछ रक़म देने के लिए व जापानी व्यापार के लिए कुछ बन्दरगाहें खोलने के लिए मजबूर किया।

कोरिया बहुत अर्से से चीन का एक ताबेदार राज्य था। उसने चीन का सहारा माँगा, पर चीन मदद देने में असमर्थ था। जापान कहीं अपना प्रभाव बहुत ज़्यादा न बढ़ा ले, इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फ़िल-हाल तो जापान के आगे झुक जाय, लेकिन साथ ही जापान को मात देने के लिए यूरोपीय शक्तियों से भी सन्धियाँ कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया के लिए १८८२ ई० में खुल गया। लेकिन जापान को इतने से ही तसल्ली होनेवाली न थी। चीन की कठिनाइयों का फ़ायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल खड़ा किया और कोरिया को दोनों के शामिल इन्तज़ामवाली रियासत बनाने के लिए चीन को मजबूर कर दिया। इसका मतलब यह हुआ कि बेचारा कोरिया चीन और जापान दोनों का तावेदार राज्य बन गया। यह हालत तो तीनों के लिए बहुत ही असन्तोष का कारण थी। झगड़े की सूरत लाज़िमी थी। और जापान तो झगड़ा करना ही चाहता था। बस, उसने १८९४ ई० में चीन को युद्ध के लिए मजबूर कर दिया।

१८९४-९५ ई० का चीन-जापान-युद्ध जापान के लिए तो एक खिलवाड़-सा था। उसकी थल व जल सेनाएँ बिलकुल आधुनिक ढँग की थीं। चीनी लोग अभी तक पुराने ढँग के और ढीले-ढाले थे। जापान की हर तरफ़ विजय हुई और उसने चीन को ऐसी सन्धि करने के लिए मजबूर किया, जिसके मुताबिक़ वह भी चीन से सन्धि करनेवाली पश्चिमी शक्तियों का बराबरीवाला बन गया। कोरिया को स्वाधीन घोषित कर दिया गया, पर यह तो जापानी क़ब्ज़े का सिर्फ़ एक पर्दा था। मंचूरिया में पोर्ट-आर्थर के साथ लाओतुंग प्रायद्वीप, और साथ ही फारमूसा और कई दूसरे टापू भी, चीन को जापान की नज़र करने पड़े।

छोटे-से जापान के हाथों चीन की इस कड़ी पराजय ने दुनिया को अचम्भे में डाल दिया। सुदूर-पूर्व में एक शक्तिशाली देश के इस उठान को देखकर पश्चिमी शक्तियों को तो नाखुश होना ही था। चीन-जापान युद्ध के दौरान ही, जिस वक़्त जापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियों ने उसे आगाह कर दिया था कि अगर उसने चीन के महादेश में किसी बन्दरगाह पर क़ब्ज़ा किया तो वे उसे न मानेंगे। इस सूचना के बावजूद जापान ने पोर्ट-आर्थर के बड़े बन्दरगाहवाले लाओतुंग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन उसे उसके क़ब्ज़े में नहीं रहने दिया गया। रूस, जर्मनी और फ़्रान्स, इन तीनों बड़ी शक्तियों ने ज़ोर दिया कि वह इस प्राय-द्वीप को वापस दे दे और जापान को यह करना ही पड़ा; हालाँकि यह उसे बहुत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुरा लगा और उसे गुस्सा भी आया, क्योंकि अभी वह इन तीनों का सामना करने के लिए काफ़ी बलवान न था।

लेकिन जापान ने इस अपमान को याद रक्खा। यह बात उसके दिल में खटकती रही और इसने उसे और भी बड़ी लड़ाई की तैयारी के लिए मजबूर कर दिया। नौ वर्ष बाद यह लड़ाई रूस के साथ हुई।

इधर जापान ने, चीन को जीतकर अपनी हैसियत ऐसी बना ली कि वह सुदूर-पूर्व का सबसे ताक़तवर राष्ट्र बन गया। चीन की सारी कमज़ोरी ज़ाहिर हो गई थी और पश्चिमी शक्तियों के दिल से उसका डर बिलकुल जाता रहा था। मुर्दे पर या अधमरे शरीर पर टूटनेवाले गिद्धों की तरह वे उसपर टूट पड़ीं और अपने-अपने लिए ज्यादा-से-ज्यादा छीनने की कोशिशें करने लगीं। फ़ान्स, रूस, जर्मनी और इंग्लैण्ड, सभी चीनी समुद्र-तट पर बन्दरगाहों के लिए और खास अधिकारों के लिए छीना-झपटी करने लगे। रियायतों के लिए गंदा और बहुत ही भद्दा झगड़ा मच गया। छोटी-से-छोटी बात भी ज्यादा-से-ज्यादा खास अधिकार व रियायतें झपटने के लिए बहाना बनाई जाने लगी। चूँकि दो ईसाई मिशनरियों को किसी ने मार डाला, इसलिए पूर्व के शानतुंग प्रायद्वीप में कियाचू को जर्मनी ने ज़बर्दस्ती छीन लिया। चूँकि जर्मनी ने इस मुक़ाम पर क़ब्ज़ा कर लिया, इसलिए दूसरी शक्तियाँ भी लूट में अपने-अपने हिस्से के लिए ज़ोर देने लगीं। जिस पोर्ट-आर्थर से तीन वर्ष पहले उसने जापान को हटाया था, उसको अब रूस ने ले लिया। पोर्ट-आर्थर पर रूस के क़ब्ज़े के जवाबी दावे के तौर पर इंग्लैण्ड ने वी-हाई-वी ले लिया। फ़ान्स ने अनाम में एक बन्दरगाह और कुछ इलाक़े हड़प कर लिये। रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को बढ़ाने के इरादे से उत्तरी मंचूरिया में होकर रेल निकालने की इजाज़त भी ले ली।

यह बेशर्म छीना-झपटी एक अज़ीब-चीज़ थी। इस तरह इलाके या रियायतें देने में चीन को कुछ मज़ा थोड़े ही आ रहा था। जंगी-बेड़े की ताक़त बताकर और बमबारी की धमकी दिखा-दिखाकर उसे हर बार राज़ी होने के लिए मजबूर किया जाता था। इस बेहया बर्ताव को हम क्या कहें? दिन-दहाड़े की लूट? डाकेज़नी? पर साम्राज्यशाही का यही तरीक़ा है। कभी तो वह गुप्त रूप से काम करती है; कभी अपनी बदकारियों को नेक इरादों और दूसरों की भलाई के मक्कारी-भरे दिखावे के ग़िलाफ़ से ढकती है। लेकिन १८९८ ई० में, चीन में कोई ग़िलाफ़ या ढकना न था। उसका नंगापन अपनी सारी बदसूरती ज़ाहिर कर रहा था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ११७ :

जापान रूस को हराता है

२९ दिसम्बर, १९३२

पिछले पत्रों में मैं सुदूरपूर्व के बारे में लिखता आ रहा हूँ, और आज भी यही क़िस्सा ज़ारी रक्खूंगा। तुम्हें शायद ताज्जुब होगा कि मैं बीते ज़माने के इन लड़ाई-झगड़ों का बोझ तुम्हारे दिमाग़ पर क्यों लाद रहा हूँ। ये कोई मज़ेदार विषय नहीं हैं और अब गये-गुज़रे हो चुके हैं। मैं उन्हें महत्व नहीं देना चाहता। लेकिन सुदूरपूर्व में इन दिनों जो-कुछ हो रहा है, उसकी बहुत सारी बातों की जड़ें इन्हीं झगड़ों में हैं। इसलिए आजकल की समस्याओं को समझने के लिए भी इनका कुछ जानना ज़रूरी है। भारत की तरह चीन भी आज दुनिया की बड़ी समस्याओं में से एक है। इस समय भी जब मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, मंचूरिया पर जापानी क़ब्ज़े के बारे में बड़ी कड़वी बहस चल रही है।

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि १८९८ ई० में चीन से रियायतें ऐंठने के लिए कैसी छीना-झपटी मची हुई थी, जिनके पीछे पश्चिमी शक्तियों के जंगी-जहाज़ों का बल था। इन शक्तियों ने सब अच्छे-अच्छे बन्दरगाहों पर क़ब्ज़ा कर लिया था और इन बन्दरगाहों के पीछे फैले हुए इलाकों में भी खानें खोदने, रेलें बनाने, वग़ैरा के सब प्रकार के हक़ हासिल कर लिये थे। और फिर भी ज्यादा रियायतों की मांग जारी थी। विदेशी सरकारें चीन में अपने 'प्रभाव के क्षेत्रों' की चर्चा करने लगीं। आजकल की साम्राज्यशाही सरकारों के लिए किसी देश को बाँट खाने का यह एक मुलायम तरीक़ा है। क़ब्ज़े और इख्तियार (नियंत्रण) के भी कई दर्जे हुआ करते थे। किसी देश को या उसकी ज़मीन को जीतकर अपने राज्य में शामिल कर लेना तो पूरा क़ब्ज़ा करने के बराबर है। किसी रियासत का इन्तज़ाम अपने हाथ में रखना उससे कुछ उतरा हुआ है, 'प्रभाव का क्षेत्र' उससे भी कम है। लेकिन इन सबका रास्ता एक ही तरफ़ है। एक क़दम के बाद दूसरा क़दम अपने-आप उठ जाता है। वास्तव में, जैसाकि शायद हमें आगे चर्चा करने का मौक़ा आवे, क़ब्ज़ा करने का तरीक़ा पुराना और क़रीब-क़रीब त्यागा हुआ है क्योंकि इससे राष्ट्रीयता का झगड़ा खड़ा हो जाता है। किसी देश पर आर्थिक-नियंत्रण कर लेना और बाक़ी झंझटों में न पड़ना इससे कहीं ज्यादा सहूलियत की चीज़ है।

मतलब यह है कि चीन का बँटवारा होने ही वाला नज़र आ रहा था और जापान इससे पूरी तरह चौकन्ना हो उठा था। चीन पर उसकी विजय का फल पश्चिमी शक्तियों के हाथ में गया हुआ दिखाई दे रहा था और जापान खिसियाना-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सा होकर चीन के इस बँटवारे को देख रहा था। सबसे ज्यादा ग़ुस्सा तो उसे रूस के ऊपर आ रहा था, जिसने उसे तो पोर्ट-आर्थर नहीं लेने दिया और खुद हड़प लिया।

हाँ, एक बड़ी शक्ति ऐसी थी, जिसने चीन में रियायतों की इस छीना-झपटी में या उसके बँटवारे की योजनाओं में भाग नहीं लिया था। यह था अमेरिका का संयुक्त राज्य। इसके अलग रहने का कारण यह नहीं था कि वह दूसरी शक्तियों की बनिस्बत ज्यादा नेकनीयत था, बल्कि बात यह थी कि वह अपने ही लम्बे-चौड़े देश के विकास में मशग़ूल था। जैसे-जैसे अमेरिका का राज्य पश्चिम में प्रशान्त महासागर की ओर बढ़ता जाता था, विकास के लिए नये-नये इलाक़े तैयार होते जाते थे और उसकी सारी शक्ति व दौलत इसी में खप रही थी। यहाँ तक कि इस काम के लिए यूरोप की भी बहुत बड़ी पूँजी अमेरिका में लगाई जा रही थी। लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्त में अपनी पूँजी लगाने के लिए अमेरिकावाले भी बाहर नज़र दौड़ाने लगे। उसकी निगाह चीन पर गई और यह देखकर उसे बुरा लगा कि शायद एक दिन उसपर क़ब्ज़ा कर लेने के इरादे से यूरोपीय शक्तियाँ उसे 'प्रभाव के क्षेत्रों' में बाँटने पर उतारू थीं। इस बँटवारे में अमेरिका को हिस्सा नहीं मिल रहा था। सो अमेरिका ने चीन में 'खुला दरवाज़ा' कहलानेवाली नीति पर ज़ोर दिया। इसका मतलब यह था कि सभी देशों को चीन में व्यापार और धन्धे के लिए एक-सी सहूलियतें दी जायँ। दूसरी शक्तियाँ भी इसपर राज़ी हो गईं।

इस लगातार के आतंक से चीन की सरकार बहुत भयभीत हो उठी। उसे विश्वास हो गया कि सुधार व नये सिरे से संगठन किये बिना गति नहीं है। उसने इस दिशा में कोशिशें भी कीं, पर नई-नई रियायतों की लगातार माँगों के कारण सफलता मिलने का कोई ढँग नहीं था। कुछ वर्षों से राजमाता त्ज़ू-सी ने वैराग्य-सा ले लिया था। चीनी लोगों ने उसे मुसीबतों से बचानेवाली समझकर आशा-भरी नज़र से उसकी ओर देखा। सम्राट् को इस वक़्त कुछ साज़िश का वहम हो गया, इसलिए वह राजमाता को क़ैद करना चाहता था। लेकिन इस बूढ़ी महिला ने बदले में सारे अधिकार उससे छीनकर शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। जापान की तरह उसने कोई बुनियादी सुधारों का तो क़दम नहीं उठाया, पर सारा ध्यान एक आधुनिक सेना बनाने पर लगा दिया। उसने बचाव के लिए अन्दरूनी रक्षा-सेना के मुक़ामी दस्ते बनाने के लिए बढ़ावा दिया। ये मुक़ामी दस्ते अपने को 'ई हो तुआन' यानी 'पवित्र एकता के दल' कहते थे। कभी-कभी वे 'ई हो चुआन' यानी 'पवित्र एकता की मुष्टिका' भी कहलाते थे। बन्दरगाहों में रहनेवाले कुछ यूरोपीय लोगों ने इसी दूसरे नाम का अनुवाद कर डाला 'बाक्सर्स' यानी 'घूँसेबाज़'। एक कोमल पद का यह बड़ा भोंडा अनुवाद था।

ये 'घूँसेबाज़' विदेशी हमलों और चीन व चीनियों पर विदेशियों के ढाये

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये अनगिनत अपमानों के ख़िलाफ़ चीनी देशभक्ति की प्रतिक्रिया थे। उन्हें बदमाशी के पुतले दिखाई देने वाले इन विदेशियों से अगर कोई प्रेम न था तो इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं थी। खासकर ईसाई मिशनरी तो उन्हें बहुत ही बुरे लगते थे, क्योंकि इन्होंने बड़ा बुरा बर्ताव किया था। और चीनी ईसाइयों को तो वे देश-द्रोही मानते थे। वे उस पुरातन चीन के प्रतिनिधि थे, जो नई व्यवस्था से अपना बचाव करने का आख़िरी जतन कर रहा था। लेकिन इस तरह इस जतन के कामयाब होने की आशा नहीं थी।

इन देशभक्त, विदेशियों के दुश्मन, मिशनरियों के दुश्मन, व कट्टर-पन्थी लोगों का पश्चिमी लोगों के साथ रगड़ा-झगड़ा होना लाज़िमी था। लड़ाई-झगड़े हुए, एक अंग्रेज़ मिशनरी मारा गया, बहुत-से यूरोपीय लोग और कितने ही चीनी ईसाई भी मौत के घाट उतार दिये गए। विदेशी सरकारों ने इन देशभक्त 'घूँसेबाज़' आन्दोलन के दमन की माँग पेश की। जो लोग हत्याओं के अपराधी थे, उनको तो चीन की सरकार ने सज़ाएँ दे दीं, लेकिन ख़ुद अपनी ही औलाद को वह इस तरह कैसे दबा सकती थी? इसी बीच 'घूँसेबाज़' आन्दोलन तेजी से सब तरफ़ फैल गया। विदेशी राजदूतों ने घबराकर अपने जंगी-जहाज़ों से फ़ौजें बुला लीं। इससे चीनियों को और भी ख़याल हो गया कि विदेशी हमला शुरू हो गया है। बस, दोनों में ठन गई। जर्मन राजदूत मारा गया और पेकिंग के विदेशी दूतावास घेर लिये गए।

'घूँसेबाज़' आन्दोलन की सहानुभूति में चीन का बहुत बड़ा भाग विदेशियों के ख़िलाफ़ हथियार लेकर उठ खड़ा हुआ। लेकिन कुछ प्रान्तों के नायकों ने किसी का पक्ष नहीं लिया और इस तरह विदेशी शक्तियों को मदद पहुँचाई। इसमें शक़ नहीं कि राजमाता की सहानुभूति इन 'घूँसेबाज़ों' के साथ थी, लेकिन उसने खुल्लम-खुल्ला उनका साथ नहीं दिया। विदेशियों ने यह साबित करना चाहा कि घूँसेबाज़ ठेठ लुटेरे हैं। पर सच तो यह है कि १९०० ई० की यह बग़ावत विदेशियों के चंगुल को छुड़ाने के लिए देशभक्तों की एक कोशिश थी। राबर्ट-हार्ट चीन में एक बड़ा अंग्रेज़ अफ़सर था। वह उस समय तट-कर के महकमे का इन्स्पेक्टर जनरल था और ख़ुद भी दूतावासों के घेरे में घिर रहा था। उसने लिखा है कि चीनियों की भावनाओं का अपमान करने का दोष विदेशियों पर और खासकर ईसाई मिशनरियों पर है। और यह कि इस बग़ावत का "मूल देशभक्ति थी, इसका बहुत-कुछ लक्ष्य वाजिब था, इस बात पर कोई सवाल नहीं उठ सकता और इसपर जितना भी ज़ोर दिया जाय, थोड़ा है।"

दबे हुए चीन के यों अचानक उलट पड़ने से यूरोप की शक्तियाँ बहुत चिढ़ीं। उनके लिए यह वाजिब ही था कि उन्होंने पेकिंग में घिरे हुए अपने आदमियों को बचाने के लिए चटपट फ़ौजें भेजीं। दूतावासों को छुड़ाने के लिए एक जर्मन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेनापति की मातहती में एक अन्तर्राष्ट्रीय फ़ौज चल पड़ी। जर्मनी के क़ैसर ने अपनी फ़ौजों को हिदायत की कि चीन में जंगली हूणों की तरह व्यवहार करना। शायद इसी बात को याद करके महायुद्ध के वक़्त अंग्रेज़ लोग सब जर्मनों को हूण कहने लगे थे।

क़ैसर की हिदायत पर न सिर्फ़ उसीके सिपाहियों ने बल्कि सब विदेशी फ़ौजों ने अमल किया। पेकिंग को कूच करते समय रास्ते में जनता के साथ इन फ़ौजों का बर्ताव ऐसा था कि बहुतों ने तो इनके हाथों में पड़ने की बनिस्बत आत्महत्या कर लेना बेहतर समझा। उन दिनों चीनी औरतें अपने पैरों को छोटे-छोटे बना लिया करती थीं। इसलिए वे आसानी से भाग नहीं सकती थीं। इससे बहुतेरी स्त्रियों ने आत्मघात कर लिया। इस तरह मित्र-राष्ट्रों की फ़ौजें आगे कूच करती गईं अपने पीछे मौत, आत्महत्या और जलते हुए गाँवों की लीक छोड़ती गईं।

इन फ़ौजों के साथ जानेवाला एक अंग्रेज़ युद्ध-सम्वाददाता लिखता है—

"ऐसी भी बातें हैं, जिन्हें मैं नहीं लिख सकता और जो इंग्लैण्ड में नहीं छप सकेंगी, जो यह जता देंगी कि हमारी यह पश्चिमी सभ्यता जंगलीपन के ऊपर चढ़ा हुआ सिर्फ़ एक पतला खोल है। किसी भी युद्ध के बारे में असली सच्ची बातें आज तक नहीं लिखी गईं। यह युद्ध भी इसका अपवाद नहीं होगा।"

इन सेनाओं ने पेकिंग पहुँचकर दूतावासों को घेरे से छुड़ाया। उसके बाद पेकिंग की लूट हुई, जो "पिज़ारो"[1] के समय के बाद लूट-पाट का सबसे ज़बर्दस्त धावा कहा जा सकता है। पेकिंग के कीमती कला-भण्डार उन उजड्डों व असभ्यों के हाथों में पड़ गये, जिनको इनके मूल्य तक का ज्ञान न था। यह लिखते हुए खेद होता है कि मिशनरियों ने इस लूट-पाट में सबसे बड़ा हिस्सा लिया। विदेशियों के झुण्ड-के-झुण्ड घरों के बाहर नोटिस चिपकाते फिरते थे कि ये घर हमारे हैं। एक घर की क़ीमती चीज़ें बेचकर वे दूसरे बड़े मकान की तरफ़ बढ़ जाते थे।

इन शक्तियों की आपसी लाग-डाँट और कुछ संयुक्त राज्य अमेरिका के रुख के कारण भी, चीन का बँटवारा होने से रह गया। लेकिन उसको ज़िल्लत का कड़वे से कड़वा घूँट पीना पड़ा। उसपर हर तरह की बेइज़्ज़तियाँ लादी गईं; एक स्थायी विदेशी सेना पेकिंग में अड्डा जमाने और रेल-मार्ग का पहरा देने के लिए तैनात की गई; बहुत-से क़िले नष्ट कर दिये गए; किसी विदेशी-विरोधी समिति का सदस्य होनेवाले के लिए मौत की सज़ा तजबीज़ की गई; व्यापार के लिए और भी ज़्यादा ख़ास अधिकार लिये गए और हर्जाने के तौर पर एक

---

[1] एक स्पेनी नाविक (१४७१–१५४१ ई०)। इसने दक्षिण अमेरिका के पेरू देश को जीता था। वहाँ उसका जीवन हद से ज़्यादा बेरहमी के कामों में बीता। आख़िर में अपने ही एक सिपाही के हाथों उसकी मौत हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी भारी रक़म ऐंठी गई; और सबसे भयानक चोट यह हुई कि चीनी सरकार को मजबूर किया गया कि 'घूँसेबाज'-आन्दोलन के तमाम देशभक्त नेताओं को 'बाग़ी' करार देकर मौत की सज़ा दे। इसको नाम दिया गया था—"पेकिंग का मसविदा", जिसपर १९०१ ई० में दस्तखत हुए।

सारे चीन में, और खासकर पेकिंग के आसपास, जब ये घटनाएँ घट रही थीं, उस समय रूसी सरकार ने इस आम गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर साइबेरिया होकर मंचूरिया में बहुत-सी फ़ौजें भेज दीं। चीन लाचार था; विरोध ज़ाहिर करने के सिवा और कर ही क्या सकता था? लेकिन हुआ यह कि दूसरी शक्तियों को रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बड़े टुकड़े को हड़प जाना बहुत अखरा। इस नये गुल के खिलने से जापान को सबसे ज़्यादा चिन्ता और घबराहट हुई। बस, इन सब राष्ट्रों ने रूस को पीछे लौट जाने के लिए दबाया। और रूस की सरकार ने इसपर पुण्य-प्रकोप और अचम्भा दर्शाने की कोशिश की कि उसके नेक इरादों पर भी कोई सन्देह करे! और उसने इन शक्तियों को भरोसा दिया कि चीन की प्रभुता के अधिकारों में हाथ डालने का उसका तनिक भी इरादा नहीं है; मंचूरिया में रूसी रेल-मार्ग पर शान्ति होते ही वह अपनी फ़ौजें वहाँ से हटा लेगा। बस, सबको तसल्ली हो गई, और इसमें सन्देह नहीं कि मित्र-राष्ट्रों ने एक दूसरे को इस निराले परोपकार और नेकी के लिए बधाइयाँ भी दी होंगी। लेकिन फिर भी, रूसी फ़ौजें मंचूरिया में ही जमी रहीं, और ठेठ कोरिया तक फैल गईं।

मंचूरिया में और कोरिया तक इस तरह रूस के बढ़ जाने पर जापानियों को बड़ा ग़ुस्सा आया। चुपचाप लेकिन सरगर्मी के साथ वे युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्हें याद था कि किस तरह तीन शक्तियों ने मिलकर १८९५ ई० में चीन-युद्ध के बाद उन्हें पोर्ट-आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर न हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। संयोग से उन्हें इंग्लैण्ड एक ऐसी शक्ति मिल गई, जिसे रूस के बढ़ने से अन्देशा था और उसे रोकना चाहती थी। इसलिए १९०२ ई० में आंग्ल-जापानी गठ-बंधन हुआ, जिसका उद्देश्य यह था कि शक्तियों का कोई मेल सुदूरपूर्व में जापान या इंग्लैण्ड को ज़बर्दस्ती न दबा सके। जापान अब अपने-आपको खतरे से मुक्त समझने लगा और उसने रूस की तरफ़ ज़्यादा गर्म रुख इख्तियार कर लिया। उसने माँग की कि रूसी फ़ौजें मंचूरिया से हटा ली जायँ। लेकिन उस समय की मूर्ख ज़ारशाही सरकार जापान को हिक़ारत की नज़र से देखती थी और उसे यह भरोसा ही न था कि जापान लड़ने की हिम्मत करेगा।

१९०४ ई० के शुरू में दोनों देशों में युद्ध ठन गया। जापान इसके लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिलकुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार और सम्राट्-पूजा के पंथ से हाँके हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ़ रूस बिलकुल तैयार न था और उसकी निरंकुश सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबाकर ही शासन चला सकती थी। डेढ़ साल तक युद्ध चलता रहा और तमाम एशिया, यूरोप और अमेरिका ने जल और थल पर जापान की जीतों को देखा। क़ुर्बानी के अद्भुत कारनामों और ज़बर्दस्त मारकाट के बाद जापानियों के हाथ पोर्ट-आर्थर लगा। यूरोप से रूस ने जंगी-जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा लम्बे समुद्री रास्ते से सुदूरपूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हज़ारों मील के सफ़र से थका-थकाया यह ज़बर्दस्त बेड़ा जापान के समुद्र में पहुँचा और वहाँ जापान और कोरिया के बीच के सँकड़े समुद्री रास्ते में इसे इसके जलसेनानायक समेत जापानियों ने डुबो दिया। इस दुर्घटना में क़रीब-क़रीब सारा-का-सारा बेड़ा नष्ट हो गया।

हार-पर-हार से रूस की—ज़ारशाही रूस की—बुरी गत हो रही थी। रूस के पास ताक़त का बहुत बड़ा भण्डार था। क्या इसीने सौ वर्ष पहले नेपोलियन को नीचा नहीं दिखाया था? लेकिन उस वक़्त असली रूस, यानी रूस की जनता बोल उठी थी।

इन पत्रों के सिलसिले में मैं हमेशा रूस, इंग्लैण्ड, फ़्रान्स, चीन, जापान, वग़ैरा का ज़िक्र किया करता हूँ, मानो इनमें से हरेक देश कोई जीती-जागती हस्ती हो। यह मेरी एक बुरी आदत है, जो किताबों और अख़बारों से मुझमें आ गई है। मेरा मतलब वास्तव में उस समय की रूसी सरकार, अंग्रेज़ी सरकार, वग़ैरा से है। ये सरकारें एक छोटे-से गिरोह के सिवा किसीकी भी प्रतिनिधि न हों, या किसी एक वर्ग की हों, लेकिन उनको सारी जनता का प्रतिनिधि कहना या समझना ठीक नहीं। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ी सरकार, पार्लमेंट को चलाने-वाले ज़मींदारों और ऊँचे मध्यम-वर्ग के आसूदा लोगों की प्रतिनिधि कही जा सकती थी। जनता के बहुमत की शासन में कोई आवाज़ न थी। आज-कल कभी-कभी सुनते हैं कि भारत ने राष्ट्रसंघ में या गोलमेज़ परिषद् में या ऐसे ही दूसरे जलसे में अपना प्रतिनिधि भेजा है। यह बेहूदा बात है। ये नाम के प्रतिनिधि तबतक भारत के प्रतिनिधि नहीं हो सकते, जबतक कि भारत की जनता उनको न चुने। उनको तो भारत-सरकार नामज़द करती है, जो हालाँकि भारत-सरकार कहलाती है, पर है ब्रिटिश सरकार का ही एक विभाग। रूस में, रूस-जापान-युद्ध के समय निरंकुश शासन था। यह ज़ार "सारे रूसों का निरंकुश शासक" था और यह निरंकुश भी ऐसा कि महामूर्ख! मज़दूरों और किसानों को सेना के ज़ोर पर दबाकर रक्खा जाता था। मध्य-वर्गों तक की शासन में कोई आवाज़ न थी। इस ज़ुल्म के ख़िलाफ़ बहुतेरे रूसी नौज़वानों ने सिर उठाया और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ उठाया और आज़ादी की लड़ाई में अपना जीवन क़ुर्बान कर दिया। बहुतेरी लड़कियों ने भी यही रास्ता अपनाया। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि 'रूस' यह कर रहा था, वह कर रहा था, जापान से लड़ रहा था, तो मेरा मतलब सिर्फ़ ज़ारशाही सरकार से होता है, इससे ज्यादा कुछ नहीं।

जापानी युद्ध और उससे होनेवाली तबाही ने रूस की आम जनता पर और भी मुसीबतें ढाईं। सरकार पर दबाव डालने के लिए अक़्सर कारख़ानों के मज़दूर हड़ताल कर बैठते। २२ जनवरी, १९०५ ई० को हज़ारों निहत्थे किसान और मज़दूर एक पादरी के पीछे-पीछे जुलूस बनाकर ज़ार के सर्दी के महल में उसके पास पहुँचे कि अपने कष्टों से कुछ छुटकारा मिलने की प्रार्थना करें। उनकी बात सुनने के बजाय ज़ार ने उनपर गोलियाँ चलवा दीं। भयंकर हत्याकाण्ड मच गया, दो सौ आदमी मारे गये, और पीटर्सबर्ग की बर्फ़ ख़ून से लाल हो गई। उस दिन रविवार था और तभी से इस दिन को "ख़ूनी रविवार" कहा जाने लगा। देश में गहरी हलचल मच गई। मज़दूरों ने हड़तालें बोल दीं, जो बढ़कर क्रान्ति का एक क़दम बन गईं। १९०५ ई० की इस क्रान्ति को ज़ार की सरकार ने बड़ी बेरहमी से दबा दिया। कई कारणों से हमारे लिए यह क्रान्ति बड़ी दिलचस्प है। बारह वर्ष बाद रूस की शक़्ल को बदल डालनेवाली १९१७ ई० की महान् क्रान्ति के लिए इसने एक तरह से रास्ता तैयार किया। और १९०५ ई० को इसी विफल क्रान्ति में क्रान्तिकारियों ने एक नया संगठन क़ायम किया, जो बाद में इतना मशहूर हो गया। यह 'सोवियतों' का संगठन था।

जैसा कि मेरा ढँग है, मैं चीन और जापान और रूस-जापान-युद्ध का हाल तुम्हें बताते-बताते १९०५ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति की तरफ़ बहक गया। लेकिन मंचूरिया के इस युद्ध के समय रूस की अन्दरूनी हालत को समझाने के लिए ये चन्द बातें बताना ज़रूरी था। क्रान्ति के इसी क़दम की वजह से, और जनता में फैले हुए ग़ुस्से की वजह से ज़ार को जापान से सन्धि करनी पड़ी।

सितम्बर, १९०५ ई० की पोर्ट्समाउथ की सन्धि से रूस-जापान के युद्ध का अन्त हुआ। पोर्ट्समाउथ संयुक्त राज्य अमेरिका में है। अमेरिका के राष्ट्रपति ने दोनों पक्षों को वहाँ बुलाकर सन्धि-पत्र पर दस्तख़त कराये। इस सन्धि से अन्त में जापान को पोर्ट आर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पड़े थे। रूसियों ने जो रेल-मार्ग मंचूरिया में बनाया था, उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर में जो सैखैलीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर अपने तमाम दावों को छोड़ दिया।

बस, जापान जीत गया और बड़ी-बड़ी शक्तियों के सुरक्षित घेरे में जा घुसा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एशियाई देश जापान की विजय का एशिया के तमाम देशों पर बड़ा गहरा असर पड़ा। मैं तुम्हें बता चका हूँ कि लड़कपन में मैं भी इस विजय पर खूब लहका करता था। ऐसा ही जोश एशिया के बहुतेरे लड़कों, लड़कियों और बड़ों को आया करता था। यूरोप की एक महान् शक्ति हार गई, इसलिए एशिया यूरोप को अब फिर हरा सकता था, जैसा कि पहले वह कई बार कर चुका था। पूर्वी देशों में राष्ट्रीयता की लहर तेजी से फैलने लगी और 'एशिया एशियावालों के लिए', यह नारा सुनाई देने लगा। लेकिन यह राष्ट्रीयता सिर्फ़ पुराने ज़माने को लौट चलना या पुराने रिवाज़ों और विश्वासों से चिपके रहना न थी। लोगों ने देख लिया कि जापान की विजय का कारण यह था कि उसने यूरोप के नये औद्योगिक तरीक़ों को अपना लिया था। और ये विचार व तरीक़े पूर्वी देशों में दिन-पर-दिन लोगों में ज्यादा फैलने लगे।

: ११८ :

चीन गणराज्य बन जाता है

३० दिसम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि रूस पर जापान की विजय से एशिया के राष्ट्र खुशी से कैसे फूल गये। लेकिन इसका तुरन्त नतीजा तो यह हुआ कि हमलावर साम्राज्य-शाही शक्तियों के छोटे-से दल में एक शक्ति और शामिल हो गई। इसकी पहली चोट कोरिया पर पड़ी। जापान के उठने का अर्थ था कोरिया का गिरना। जबसे जापान ने अपने दरवाज़े दुनिया के लिए खोले, वह कोरिया को और मंचूरिया के कुछ भाग को अपना माल समझने लगा था। अलबत्ता वह बार-बार यह तो ऐलान करता रहता था कि चीन की अखण्डता को और कोरिया की स्वाधीनता को मानेगा। साम्राज्यशाही शक्तियों का यही तरीक़ा होता है कि वे लूटती भी जाती हैं और मक्कारी के साथ अपनी नेकनीयती का भरोसा भी दिलाती जाती हैं; गले भी काटती जाती हैं और यह ढिंढोरा भी पीटती जाती हैं कि जान बहुत पवित्र होती है। बस, जापान ने भी बड़े आडम्बर के साथ यह ऐलान कर दिया कि वह कोरिया में दखल न देगा, लेकिन साथ ही वह उसपर क़ब्ज़ा जमाने की अपनी पुरानी नीति पर भी अमल करता रहा। चीन और रूस दोनों से उसके जो युद्ध हुए थे वे भी कोरिया और मंचूरिया ही के लिए थे। वह एक-एक क़दम आगे बढ़ता जा रहा था और अब चीन व रूस की पराजय से उसका रास्ता साफ़ हो गया था।

अपनी साम्राज्यशाही नीति पर चलने में जापान को कभी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। वह खुल्लम-खुला हाथ मारता गया; अपनी मंशा को पर्दे में छिपाने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक की उसने परवाह नहीं की। चीन का युद्ध शुरू होने से पहले ही, १८९४ ई० में कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल में ज़बर्दस्ती घुसकर जापानियों ने वहाँ की महारानी को गद्दी से उतारकर क़ैद कर लिया, क्योंकि वह उनके कहे मुताबिक़ चलने को तैयार न थी। १९०५ ई० में रूसी युद्ध के बाद जापान की सरकार ने कोरिया के बादशाह को अपने देश की स्वाधीनता बेच देने और जापानी सत्ता को मानने के लिए मजबूर कर दिया। लेकिन यही काफ़ी न था। पाँच साल के अन्दर ही यह अभागा बादशाह गद्दी से उतार दिया गया और कोरिया जापानी साम्राज्य में मिला लिया गया। यह १९१० ई० की बात है। तीन हज़ार वर्ष के लम्बे इतिहास के बाद कोरिया राज्य की अलग हस्ती मिट गई। जिस बादशाह को इस तरह हटाया गया था वह उस राजवंश का था जो ५०० वर्ष पहले मंगोलों को अपने यहाँ से खदेड़ चुका था। लेकिन कोरिया अपने बड़े भाई चीन की तरह पथरा गया था और बँधे हुए पानी की तरह सड़ गया था, और इसकी उसे यह सज़ा भुगतनी पड़ी।

कोरिया को फिर उसका पुराना नाम दिया गया—'चोसेन' यानी सवेरे की शान्ति का देश। जापानियों ने वहाँ आधुनिक सुधार भी किये, पर कोरिया के लोगों की आत्मा को उन्होंने बड़ी बेदर्दी से कुचल दिया। बहुत वर्षों तक स्वाधीनता के लिए लड़ाई चलती रही, और बहुत-से उफ़ान भी आये। सबसे बड़ा उफ़ान १९१९ ई० में आया। कोरिया के लोग, ख़ासकर युवक और युवतियाँ, अपने से ज़बर्दस्त का मुक़ाबला होते हुए भी वीरता के साथ लड़ते रहे। एक बार की बात है कि स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले एक कोरियाई संगठन ने जब स्वाधीनता की बाक़ायदा घोषणा कर दी और जापानियों को ललकार बताई, तो कहते हैं कि उन लोगों ने पुलिस को टेलीफ़ोन करके अपनी कार्रवाई की सूचना भी दे दी! इस तरह अपने आदर्श के लिए उन्होंने जानबूझकर अपने-आपको बलिदान कर दिया। जापानियों ने कोरियाई लोगों का जिस तरह दमन किया, यह इतिहास का एक दुखभरा और काला अध्याय है। तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि कोरियाई नवयुवतियों ने, जिनमें से बहुत-सी कालेज से नई-नई निकली थीं, इस लड़ाई में बहुत बड़ा हिस्सा लिया।

अब चीन लौट चलना चाहिए। 'घूँसेबाज' आन्दोलन के दमन और १९०१ ई० की पेकिंग की सन्धि के बाद हमने उसे अचानक ही छोड़ दिया था। चीन पूरी तरह ज़लील हो चुका था। वहाँ सुधारों को फिर जन्म दिया गया। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगीं कि कुछ-न-कुछ किया ही जाना चाहिए। रूस-जापान युद्ध के समय चीन चुपचाप खड़ा देखता रहा, हालाँकि लड़ाई चीन के ही प्रदेश मंचूरिया में हो रही थी। जापान की विजय ने चीन के सुधारकों के हाथ मज़बूत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिये। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञान के अध्ययन के लिए बहुत-से विद्यार्थी यूरोप, अमेरिका, और जापान भेजे गये। अफ़सरों की नियुक्ति के लिए साहित्य की परीक्षाओं का पुराना तरीक़ा उठा दिया गया। यह अजीब तरीक़ा, जो चीन का एक ख़ास नमूना था, ठेठ हन् ख़ानदान के समय से, दो हज़ार वर्ष से, चला आ रहा था। इसकी फ़ायदेमन्दी तो बहुत पहले ही ख़त्म हो चुकी थी। और यह चीन की प्रगति को रोके हुए था। इसलिए इसका उठ जाना अच्छा ही हुआ। फिर भी अपनी तौर पर यह तरीक़ा युगों तक एक अनोखी चीज़ बना रहा। यह ज़िन्दगी के बारे में चीनियों के उस रवैये को प्रकट करता था, जो एशिया व यूरोप के बहुत-से देशों की तरह न तो सामन्ती था और न महन्ती। बल्कि इसका आधार विवेक पर था। चीनी लोग दुनिया के सब देशों के लोगों से कम मज़हबी रहे हैं; लेकिन नीति व क़ायदे के साथ ज़िन्दगी बिताने के अपने ढँग पर वे जिस कड़ाई से अमल करते रहे हैं वैसा किसी धर्म-परायण क़ौम ने भी नहीं किया। उन्होंने बुद्धिवादी समाज क़ायम करने का जतन किया। लेकिन चूंकि उन्होंने इसे अपने प्राचीन साहित्य के परकोटे में ही बन्द कर दिया, इससे प्रगति व ज़रूरी परिवर्तन रुक गये, और सड़ाँद व पथरावट पैदा हो गई। हम भारत के लोग इस चीनी बुद्धिवाद से बहुत-कुछ सीख सकते हैं, क्योंकि अभी तक हम लोग जात-पाँत, रूढ़िवादी मज़हबों, पोप-लीला और सामन्ती विचारों के पंजे में फँसे हुए हैं। चीन के महात्मा कन्फ़्यूशस ने अपने देशवासियों को एक चेतावनी दी थी, जो याद रखने लायक़ है—"जो लोग अलौकिक या ग़ैबी बातों में दख़ल रखने का ढोंग रचते हों, उनके साथ कोई ताल्लुक़ मत रक्खो। अगर तुमने अपने देश में अलौकिकवाद को पग जमाने दिया, तो उसका नतीजा भयंकर आफ़त होगा।" दुर्भाग्य से हमारे देश में चोटीधारी या जटा-जूटधारी या लम्बी दाढ़ीवाले या टेढ़े-मेढ़े तिलकधारी या भगवाँ वस्त्रधारी बहुत-से लोग ग़ैबी दूत बने फिरते हैं और साधारण जनता को मूँड़ते हैं।

लेकिन अपने सारे पुरातन बुद्धिवाद और संस्कृति के होते हुए भी चीन का वर्तमान से नाता टूट गया, इसलिए मुसीबत की घड़ी में उसे उसकी ये पुरानी संस्थाएँ कोई काम न आ सकीं। घटनाचक्र ने चीन के बहुत-से नौजवानों में नव-जीवन भर दिया और उन्हें बाहर जाकर लगन से ज्ञान-ज्योति तलाश करने के लिए मजबूर किया। इन घटनाओं ने बूढ़ी राजमाता को भी हिला दिया, और अब वह संविधान और स्वराज्य देने की बातें करने लगी और उसने विदेशों को, वहाँ के संविधानों का अध्ययन करने के लिए, कमीशन भी भेजे।

यों बूढ़ी राजमाता की मातहती में चीनी सरकार ने भी आख़िरकार आगे क़दम बढ़ाया, लेकिन जनता इससे भी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थी। १८९४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई० में ही, डा० सन-यात-सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार समिति' क़ायम कर दी थी। और चीन पर विदेशी शक्तियों ने जो अन्यायी और एक-तरफ़ा सन्धियाँ, जिन्हें चीनी लोग 'असमान सन्धियाँ' कहा करते हैं, ज़बर्दस्ती लादी थीं, उन पर विरोध ज़ाहिर करने के लिए बहुत-से लोग इस समिति में शामिल हो गये। यह समिति बढ़ने लगी और देश के नवयुवक इसकी तरफ खिंचने लगे। १९११ ई० में इसका नाम बदलकर 'कुओ-मिन-तांग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रक्खा गया और यह चीन की क्रान्ति का केन्द्र बन गया। इस आन्दोलन की जान डा० सन-यात-सेन संयुक्त राज्य अमेरिका को आदर्श मानते थे। वह गणराज्य चाहते थे, न कि इंग्लैण्ड-जैसी संविधानी राजशाही; और जापान-जैसी समाट्-पूजा तो हर्गिज़ भी नहीं। चीनियों ने अपने सम्राटों को पूजा की चीज़ कभी नहीं माना, फिर उनका मौजूदा शासक राजवंश तो 'चीनी' भी नहीं था। यह राजवंश मंचू था और जनता में मंचू-विरोधी भावना ख़ूब फैली हुई थी। जनता की इस खलबली ने ही बूढ़ी राजमाता को मजबूर किया था। लेकिन यह बूढ़ी महिला भावी संविधान की घोषणा करने के थोड़े ही दिन बाद मर गई। एक अजीब बात यह हुई कि राजमाता और इसका भतीजा सम्राट्, जिसे इसने गद्दी से उतारा था, दोनों नवम्बर, १९०८ ई० में चौबीस घंटों के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुहाँ बच्चा नाम के लिए सम्राट् हुआ।

अब फिर पार्लमेण्ट को बुलाने की माँग बुलन्द होने लगी। जनता की मंचू-विरोधी और राजशाही-विरोधी भावना ज़ोर पकड़ने लगी। क्रान्तिकारी भी ज़ोर पकड़ने लगे। इस समय चीन के एक प्रान्त का हाक़िम युआन-शी-काई ही ऐसा मज़बूत आदमी था, जो इनका मुक़ाबला कर सकता था। यह बूढ़ी लोमड़ी की तरह चालाक था, और संयोग से चीन की अकेली आधुनिक व होशियार सेना, जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ में थी। मंचू-शासकों ने बड़ी बेवक़ूफ़ी में आकर इसे चिढ़ा दिया और बर्ख़ास्त कर दिया, और इस तरह उन्होंने ऐसे अकेले व्यक्ति को खो दिया, जो उन्हें कुछ देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर, १९११ ई० में, यांगसी की घाटी में क्रान्ति भड़क उठी और बहुत जल्दी मध्य और दक्षिणी चीन के बड़े हिस्से में विद्रोह फैल गया। १९१२ ई० की पहली जनवरी को इन प्रान्तों ने गणराज्य का ऐलान कर दिया और नानकिंग को राजधानी बनाया। डा० सन-यात-सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि ज्योंही अपना मौक़ा मिले, हाथ मारे। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र, नन्हे सम्राट् के ऐवज़ राजकर रहा था) युआन को बर्ख़ास्त करके बाद में दुबारा बुलाया, इसका क़िस्सा भी दिलचस्प है। पुराने चीन में हरेक बात बड़े तक़ल्लुफ़ व अदब के साथ की जाती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस वक़्त युआन को बर्ख़ास्त करना ज़रूरी था, तब यह घोषणा की गई थी कि उसकी टाँग में तकलीफ़ है। वास्तव में सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टाँग बिलकुल मज़े में थी। और उसे बर्ख़ास्त करने का यह सिर्फ़ माना हुआ ढँग था। लेकिन युआन ने भी अपना बदला ले लिया। दो साल बाद, १९११ ई० में, जब सरकार के ख़िलाफ़ ग़दर और विद्रोह उठ खड़े हुए, तब रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। लेकिन युआन का इरादा तबतक जाने का नहीं था जब-तक उसकी शर्तें मंजूर न करली जायँ। उसने रीजेन्ट को जो जवाब भेजा, उसमें खेद के साथ कहा कि उसके लिए घर छोड़ना मुमकिन नहीं, क्योंकि टाँग में तक-लीफ़ होने की वजह से वह सफ़र नहीं कर सकता। लेकिन एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंजूर कर ली गईं तो उसकी टाँग भी फ़ौरन दुरुस्त हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो चुकी थी कि क्रान्ति नहीं रुक सकती थी। युआन भी इस क़दर चालाक था कि दोनों में से किसी पक्ष के साथ बँधकर अपनी हैसियत को खतरे में नहीं डालना चाहता था। आख़िरकार उसने मंचुओं को गद्दी छोड़ने की सलाह दी। इधर तो गणराज्य उनके मुक़ाबले में खड़ा था, और उधर उनके सेनापति ने उनका साथ छोड़ दिया था; इसलिए मंचू-शासकों के लिए दूसरा कोई चारा ही न था। १२ फरवरी, १९१२ ई० को गद्दी छोड़ने का फ़रमान निकाल दिया गया। इस तरह ढाई सदी से ज्यादा के याद रखने लायक़ शासन के बाद, मंचू-राजवंश ने चीन का रंगमंच ख़ाली कर दिया। एक चीनी कहावत के अनुसार "वे सिंह-जैसी गर्जना करते हुए आये और साँप की पूँछ की तरह ग़ायब हो गये।"

इसी १२ फरवरी के दिन नये गणराज्य की राजधानी नानकिंग में, जहाँ प्रथम मिंङ बादशाह का मक़बरा बना हुआ था, एक अजीब रस्म पूरी की गई; ऐसी रस्म जिसने पुरानी व नई बातों का भेद दर्शाते हुए उन्हें एक साथ ला दिया। गणराज्य के राष्ट्रपति सन-यात-सैन ने अपने मंत्रिमंडल के साथ मक़बरे पर जाकर पुराने तरीक़े से भेंटें चढ़ाईं। इस मौक़े पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"हम पूर्वी एशिया के लिए गणराज्य के ढँग के शासन का नमूना सबसे पहले पेश कर रहे हैं। जो लोग कोशिश करते हैं, उन्हें देर-सवेर सफलता मिलती ही है। नेकी का अन्त में ज़रूर इनाम मिलता है। फिर हम आज यह पछतावा क्यों करें कि विजय इतनी देर से आई?"

बहुत वर्षों तक, अपने देश में और निर्वासित रहकर, सन-यात-सेन चीन की आज़ादी के लिए जान लड़ाते रहे, और अन्त में सफलता आती दिखाई दी। लेकिन आज़ादी एक बेवफ़ा दोस्त है और सफलता हासिल करने से पहले उसकी पूरी क़ीमत चुकानी पड़ती है। अक़्सर वह हमें झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर बहलाती है; कठिनाइयाँ पैदा करके हमारी परीक्षा लेती है, और तब कहीं वह हासिल होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीन और डा० सेन की मंज़िल पूरी होने में अभी बहुत देर थी। बहुत वर्षों तक इस नये गणराज्य को अपनी ज़िन्दगी के लिए लड़ाई करनी पड़ी और आज इक्कीस वर्ष बाद भी, जबकि उसे बालिग़ हो जाना चाहिए था, उसका भविष्य डावाँडोल हो रहा है।

मंचुओं ने तो राजगद्दी छोड़ दी, लेकिन गणराज्य के रास्ते में युआन अभी तक अड़ा हुआ था। पता नहीं उसका क्या इरादा था। उत्तरी भाग उसके हाथ में था और दक्षिणी भाग गणराज्य के हाथ में। शान्ति की ख़ातिर और गृह-युद्ध बचाने के लिए, डा० सेन ने अपनेको मिटाकर राष्ट्रपति का पद छोड़ दिया और युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन कोई गणराज्यवादी नहीं था। वह तो अपनी बुलन्दी के लिए सत्ता हथियाने की फ़िराक़ में था। जिस गणराज्य ने उसे अपना राष्ट्रपति चुनकर इज्ज़त दी थी, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी शक्तियों से रुपया उधार लिया। उसने पार्लमेण्ट को बर्ख़ास्त कर दिया और कुओ-मिन्-तांग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि दो दल हो गये और डा० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक मुक़ाबले की सरकार क़ायम हुई। जिस फूट को बचाने के लिए डा० सेन ने भरसक जतन किया था, वही पैदा हो गई, और जिस समय महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारें थीं। युआन ने सम्राट् बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हुआ और थोड़े ही दिनों बाद मर गया।

: ११९ :

भारत के पूर्ववर्ती देश

३१ दिसम्बर, १९३२

फ़िलहाल हम सुदूरपूर्व की चर्चा को उठा रखते हैं। उन्नीसवीं सदी में हम भारत का भी कुछ हाल देख चुके हैं, और अब पश्चिम की तरफ़ यूरोप, अमेरिका और अफ़्रीका को चलने का वक्त आ गया है। पर मैं चाहता हूँ कि इस लम्बे सफ़र से पहले तुम ज़रा एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की भी एक झाँकी ले लो, ताकि हमें इसमें अबतक की जानकारी हो जाय। इन देशों पर ग़ौर किये काफ़ी समय हो चुका है। पिछले कुछ पत्रों में मैंने सरसरी तौर पर, और अलग-अलग तौर पर, इन देशों का—मलेशिया, इन्दोनेशिया, पूर्वी द्वीप-समूह और सुदूर भारत के नामों का ज़िक्र किया है, जो शायद सही भी नहीं है। मुझे सन्देह है कि इनमें से कोई भी नाम इस सारे इलाक़े को शामिल करता हो। लेकिन जब हम-तुम एक दूसरे की बातें समझ लें, तो नामों से क्या, लेना-देना ?

अगर आसानी से मिल सके तो ज़रा नक़्शे को देखो। तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्व में एक प्रायद्वीप दिखाई देगा, जिसमें बरमा, स्याम और आजकल का फ़्रान्सीसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत के पूर्ववर्ती देश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंद-चीन शामिल हैं। बरमा और स्याम के बीच ज़मीन की एक लम्बी ज़बान-सी निकली हुई है, जो आखरी छोर की तरफ़ चौड़ी होती गई है और जिसकी नोक पर सिंगापुर का शहर बसा हुआ है। यह मलाया प्रायद्वीप है। मलेशिया से लेकर आस्ट्रेलिया तक बहुत-से छोटे-बड़े टापू बिखरे हुए हैं, जिनकी अजीब शक्लें हैं और जिन्हें देखकर ऐसा मालूम होता है कि ये एशिया और आस्ट्रेलिया को मिलाने-वाले किसी बड़े भारी पुल के खण्डहर हैं। इन्हीं टापुओं का नाम पूर्वीद्वीप-समूह है। इनके उत्तर में फ़िलीपाइन के टापू हैं। किसी आधुनिक नक़शे से तुम्हें मालूम हो जायगा कि बरमा और मलाया अंग्रेज़ों के कब्ज़े में हैं, हिंद-चीन फ़्रान्स का है और इनके बीच में स्याम एक स्वाधीन देश है। डचों के क़ब्ज़े में इन्दोनेशिया, यानी सुमात्रा व जावा, और बोर्नियो, सेलिबीज़ व मलक्का के ज़्यादातर हिस्से हैं। ये टापू मसालों के लिए मशहूर हैं, और इन्होंने यूरोप के नाविकों को हज़ारों मील तूफ़ानी सागरों को लाँघकर आने के लिए खींचा है। फ़िलीपाइन टापू अमेरिका के अधीन हैं।

पूर्वी सागरों के इन देशों की यह मौजूदा हालत है। लेकिन तुम्हें याद होगा कि लगभग दो हज़ार वर्ष पहले भारतमाता के सपूतों ने इन देशों में जाकर उप-निवेश बसाये थे; कई सदियों तक इनमें बड़े-बड़े साम्राज्य फूले-फले, खूबसूरत शहर और अद्भुत इमारतें बनीं, बनिज-व्यापार की तरक्क़ी हुई और भारतीय व चीनी सभ्यताओं व संस्कृतियों का मेल हुआ।

इन देशों का (इनकी संख्या ७९ है) बयान करते हुए मैंने अपने एक पिछले पत्र में पूर्व में पुर्तगाली साम्राज्य के पतन का और ब्रिटिश और डच ईस्ट इंडिया कम्पनियों के उदय का ज़िक्र किया था। फ़िलीपाइन में तबतक स्पेनियों का ही राज था।

अंग्रेज़ों और डचों ने मिलकर पुर्तगालियों को मार भगाया था। वे क़ामयाब तो हो गये, लेकिन इन विजेताओं के बीच किसी तरह का प्रेम नहीं था और वे अक्सर आपस में लड़ा करते थे। १६२३ ई० में एक बार मलक्का में अम्बोयना के डच गवर्नर ने, डच-सरकार के खिलाफ़ साज़िश का इलज़ाम लगाकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के तमाम अंग्रेज़ कर्मचारियों को गिरफ़्तार करके मरवा डाला। यह थोकबन्द जल्लादी अम्बोयना का हत्याकाण्ड कहलाती है।

मैं चाहता हूँ कि तुम एक बात याद रक्खो। अपने शुरू के पत्रों में मैंने इसका ज़िक्र किया है। इस ज़माने में, यानी सत्रहवीं सदी के अन्दर और बाद में, यूरोप औद्योगिक देश न था। बाहर भेजने के लिए वहाँ बड़े पैमाने पर माल तैयार नहीं होता था। औद्योगिक क्रान्ति और बड़ी-बड़ी मशीनों के दिन अभी बहुत दूर थे। यूरोप की बनिस्बत एशिया ज़्यादा माल तैयार और निर्यात करनेवाला देश था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एशिया का जो माल यूरोप को जाता था, उसकी क़ीमत कुछ तो यूरोप के माल के रूप में और कुछ स्पेनी अमेरिका से आनेवाले धन से दी जाती थी। एशिया और यूरोप की यह तिजारत बड़े मुनाफ़े की थी। बहुत अर्से तक इसपर पुर्तगालियों का क़ब्ज़ा रहा, जिससे वे मालामाल हो गये। इसमें हिस्सा बँटाने के लिए ब्रिटिश और डच ईस्ट इंडिया कम्पनियाँ बनीं। लेकिन पुर्तगाली इस तिजारत को अपना ख़ास इजारा समझते थे, और उसमें किसी दूसरे को हिस्सा नहीं देना चाहते थे। फ़िलीपाइन में स्पेनियों के साथ तो उनका निभाव होता रहा, क्योंकि स्पेनियों की दिलचस्पी तिजारत की बनिस्बत ईसाइयत की तरफ़ ज़्यादा थी। लेकिन नई कम्पनियों की तरफ़ से आनेवाले अंग्रेज़ और डच हौसलेबाज़ों में रीति-नीति कुछ न थी। इसलिए बहुत जल्दी ही झड़प हो गई।

पूर्व में राज करते हुए पुर्तगालियों को सवा-सौ से ज़्यादा वर्ष हो गये थे। जिनपर उनका शासन था, उनमें वे ज़रा भी लोकप्रिय न थे और चारों तरफ़ असन्तोष था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड की दोनों तिजारती कम्पनियों ने इस असन्तोष से फ़ायदा उठा लिया और इन लोगों को पुर्तगालियों से पिंड छुड़ाने में मदद दी। लेकिन पुर्तगालियों ने जैसे ही जगह ख़ाली की, ये फ़ौरन ही उसमें जा बैठे। भारत और इन्दोनेशिया के राजा होने के नाते ये यहाँ के लोगों से भारी महसूलों और दूसरी सूरतों से ख़िराज वसूल करते थे। इससे यूरोप पर ज़्यादा बोझ पड़े बिना ही इन्हें अपना विदेशी व्यापार चलाने में मदद मिलती थी। पूर्वी देशों के माल की क़ीमत अदा करने में जो बड़ी दिक़्क़त यूरोप को पहले महसूस होती थी, वह इस तरह कम हो गई। लेकिन फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, इंग्लैण्ड ने रोक लगाकर और भारी चुंगियाँ लगाकर भारत के माल का अपने यहाँ आना बन्द करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रान्ति के आने तक यही हालत थी।

अंग्रेज़ों के हट जाने की वजह से, इन्दोनेशिया में डच-ब्रिटिश झगड़ा ज़्यादा न चला। अंग्रेज़ लोग भारत में उलझते जा रहे थे और उन्हें इसीसे फ़ुरसत न थी। इसलिए फ़िलीपाइन के सिवा, जिसपर स्पेनियों का कब्ज़ा बना रहा, इन्दोनेशिया के टापू अकेली डच ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में आ गये। चूँकि स्पेनियों को तिजारत की ज़्यादा परवाह न थी, और न वे आगे देश-विजय की ही कोशिश में थे, इसलिए इस इलाके में डचों का कोई मुक़ाबलेवाला न रहा।

भारत में अपनी हमनाम ब्रिटिश कम्पनी की तरह, डच ईस्ट इंडिया कम्पनी भी जितना हो सके धन बटोरने के लिए जम गई। डेढ़-सौ वर्षों तक इस कम्पनी ने इन टापुओं पर राज किया। जनता की बेहतरी की तरफ़ इन लोगों ने ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। उसकी छाती पर सवार होकर उन्होंने जितना भी हो सका रुपया ऐंठा। जब ख़िराज के तौर पर रुपया पैदा करना आसान था, तो व्यापार दूसरे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्जे की चीज़ बन गया और मरने लगा। यह कम्पनी बिलकुल निकम्मी थी। जो डच लोग इसमें नौकरी करने के लिए आते, वे भी उसी नमूने के थे, जिनका कोई उसूल नहीं होता था और जो महज़ तक़दीर-आज़मानेवाले होते थे, जैसे भारत की ब्रिटिश कम्पनी के गुमाश्ते या कारकुन। नेकी से या बदी से धन कमाना उनका ख़ास मतलब था। भारत में देश के साधन बहुत ज़्यादा थे और बहुत-सी बदइन्तज़ामी उनसे ढक जाती थी। इसके अलावा भारत में कुछ क़ाबिल गवर्नरों ने ऊपर का प्रशासन मुस्तैद बना दिया था, हालाँकि नीचे के लोगों को वह कुचलनेवाला था। ख़ैर, तुम्हें याद होगा कि १८५७ के महान् विद्रोह ने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त कर दिया।

डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की हालत दिन-पर-दिन ख़राब होती गई। आख़िरकार, १७९८ ई० में नीदरलैण्ड की सरकार ने ईस्ट इण्डीज़ की हुकूमत ख़ुद सम्हाल ली। कुछ ही दिनों बाद यूरोप में नेपोलियनी युद्धों के कारण, अंग्रेज़ों ने इन टापुओं पर कब्ज़ा कर लिया, क्योंकि हालैण्ड भी नेपोलियन के साम्राज्य का हिस्सा बन गया था। पाँच साल तक वे ब्रिटिश भारत के ही प्रान्त समझे जाते रहे और इस अर्से में वहाँ बहुत-कुछ सुधार जारी किये गए। नेपोलियन का पतन होने पर पूर्वी द्वीप फिर हालैण्ड को वापस दे दिये गए। जिन पाँच वर्षों में जावा का सम्बन्ध भारत की ब्रिटिश सरकार से रहा, उन दिनों टामस स्टैम्फ़र्ड रैफ़ल्स नामी एक क़ाबिल अंग्रेज़ जावा का लेफ़्टिनेण्ट-गवर्नर था। रैफ़ल्स की रिपोर्ट थी कि डचों के उपनिवेशी राज के इतिहास के साथ "दग़ाबाज़ी, रिश्वत, हत्याकाण्ड और क़मीनेपन का एक बहुत ही असाधारण रिश्ता है।" दूसरी कुछ हरकतों के अलावा डच अफ़सरों का एक काम यह भी था कि वे जावा में ग़ुलामों के तौर पर काम करने के लिए सेलीबीज़ से आदमियों को ज़बर्दस्ती पकड़ लाते थे। इस धर-पकड़ के साथ-साथ लूट-पाट और हत्याएँ भी होती थीं।

नीरदलैण्ड की सरकार की यह सीधी हुकूमत भी कम्पनी की हुकूमत से कुछ अच्छी न थी। कई बातों में तो जनता पर और भी ज़्यादा अत्याचार होने लगे। तुम्हें शायद याद होगा कि मैंने बंगाल में उस नील-बागानों की प्रथा के बारे में कुछ बताया था, जिसने काश्तकारों पर बड़ी मुसीबतें ढाई थीं। इसी तरह की प्रथा, बल्कि इससे भी ख़राब, जावा वग़ैरा में जारी की गई। कम्पनी के ज़माने में लोगों को माल देना पड़ता था। लेकिन अब 'काश्तकारी-प्रथा' के मुताबिक़ हर साल कुछ समय के लिए, जो किसानों के काम-काजी वक़्त का लगभग एक-तिहाई या चौथाई हिस्सा माना जाता था, उनसे ज़बर्दस्ती काम कराया जाता था। व्यवहार में तो बहुत करके किसान का लगभग पूरा ही वक़्त ले लिया जाता था। डच सरकार ठेकेदारों के मार्फ़त काम कराती थी, जिनको सरकार की तरफ़ से बिना सूद पर पेशगी रुपया दिया जाता था। ये ठेकेदार मज़दूरों को बेगार में पकड़कर ज़मीन से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खूब फ़ायदा उठाते थे। कहा तो जाता था कि ज़मीन की पैदावार कुछ बँधे हुए हिस्सों में सरकार, ठेकेदार और काश्तकार के बीच बाँट दी जाती थी। बेचारे काश्तकारों का हिस्सा शायद सबसे कम था; मुझे ठीक मालूम नहीं कि कितना होता था। सरकार ने यह भी हुक्म निकाल रक्खा था कि यूरोप में खपनेवाली कुछ चीजें ज़मीन के कुछ भाग में ज़रूर बोई जायँ। ये चीजें चाय, क़हवा, गन्ना, नील, वग़ैरा थीं। जैसा कि बंगाल में नील-बागानों का हाल था, यहाँ भी इन चीज़ों को ज़रूर ही बोना पड़ता था, चाहे दूसरी चीज़ें बोने के मुक़ाबले में मुनाफ़ा कम ही क्यों न होता हो।

डच सरकार खूब मुनाफ़ा उठाती थी; ठेकेदार मौज करते थे; किसान भूखों मरते थे और मुसीबत की ज़िन्दगी बिताते थे। उन्नीसवीं सदी के बीच में एक भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें बड़ी संख्या में लोग मौत के शिकार हुए। तब कहीं जाकर बेचारे किसानों के लिए कुछ करना ज़रूरी समझा गया। धीरे-धीरे उनकी हालत सुधरती गई; लेकिन बेगार की प्रथा १९१६ ई० तक भी चलती रही।

उन्नीसवीं सदी के पिछले वर्षों में डचों ने कुछ शिक्षा के मामले में, और दूसरे भी कुछ सुधार जारी किये। एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन आज़ादी की माँग करने लगा। भारत की तरह यहाँ भी बहुत रुक-रुककर क़दम बढ़ाया गया और ऐसी लचर विधान-सभाएँ क़ायम की गईं, जिनके हाथ में असली सत्ता कुछ भी न थी। क़रीब पाँच वर्ष हुए, डच इन्दोनेशिया में क्रान्ति हुई, जिसे बेरहमी के साथ कुचल दिया गया। लेकिन जावा और दूसरे टापुओं में आज़ादी की जो भावना जाग चुकी है, वह किसी तरह के जुल्मों या अत्याचारों से नहीं मर सकती।

ईस्ट इण्डीज़ आजकल 'नीदरलैण्ड का इंडिया' कहलाते हैं।[1] हर पन्द्रहवें दिन, यूरोप और एशिया के ऊपर होता हुआ हवाई जहाज ठेठ हालैण्ड से जावा के बताविया शहर को जाया करता है।

ईस्ट इण्डीज़ की कहानी की रूपरेखा मैंने खत्म कर दी है और अब मैं तुमको एशिया के भू-भाग पर ले चलना चाहता हूँ। बरमा के बारे में अब कुछ कहना बाक़ी नहीं है। अक्सर यह मुल्क उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सों में बँटा रहा और ये दोनों आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। किसी समय कोई शक्तिशाली बादशाह हो गया तो उसने दोनों को मिला दिया और पड़ौसी स्याम को जीतने की भी हिम्मत कर डाली। फिर उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों के साथ मुठभेड़ें शुरू हो गईं। अपने बल के घमण्ड में बरमा के बादशाह ने असम के ऊपर चढ़ाई करके उसे अपने राज्य में मिला

[1] अब इनका नाम इन्दोनेशिया हो गया है और इन्हें स्वाधीनता प्राप्त हो गई है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया। भारत के अंग्रेज़ों के साथ बरमा का पहला युद्ध १८२४ ई० में हुआ और असम अंग्रेज़ों को मिल गया। अंग्रेज़ों को अब मालूम हो गया कि बरमा की सरकार और सेना दोनों कमज़ोर हैं और वे सारे देश को हड़पने की इच्छा करने लगे। दूसरे और तीसरे युद्धों के लिए बेहूदा बहाने ढूंढ़ निकाले गये और १८८५ ई० तक सारे देश को जीतकर ब्रिटिश भारत के साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। तबसे बरमा की क़िस्मत भारत के साथ जुड़ गई है।[1]

बरमा के दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप में भी अंग्रेज़ों ने अपने पैर फैला दिये। सिंगापुर के टापू पर तो उन्होंने उन्नीसवीं सदी में ही क़ब्ज़ा कर लिया था। मौक़े की जगह पर होने की वजह से सिंगापुर जल्द एक बढ़ता हुआ व्यापारी शहर और सुदूर पूर्व को जानेवाले जहाज़ों के ठहरने का बन्दरगाह बन गया। इस प्रायद्वीप में कुछ ऊपर मलक्का के पुराने बन्दरगाह का महत्व कम हो गया। सिंगापुर से अंग्रेज़ उत्तर की तरफ़ बढ़ने लगे। मलाया प्रायद्वीप में छोटी-छोटी बहुत-सी रियासतें थीं, जिनमें से ज्यादातर स्याम की ताबेदार थीं। इस सदी के अन्त तक ये तमाम रियासतें अंग्रेज़ों की ताबेदारी में आ गईं और मलाया राज्यसंघ (फेडरेटेड मलाया स्टेट्स) में शामिल कर दी गईं। कुछ रियासतों पर स्याम का जो कुछ क़ब्ज़ा था, वह उसे मजबूर होकर इंग्लैण्ड को दे देना पड़ा।

इस तरह स्याम विरोधी शक्तियों से घिरता जा रहा था। पश्चिम और दक्षिण में, बरमा और मलाया में, इंग्लैण्ड की प्रभुता थी। पूर्व की तरफ़ फ़्रान्स चढ़ा आ रहा था और अनाम को हड़प रहा था। अनाम चीन की प्रभुता मानता था, लेकिन यह मानना बेकार था, जबकि चीन ख़ुद ही कठिनाइयों में फँसा हुआ था। तुम्हें याद होगा कि मैंने चीन के बारे में हाल के किसी पत्र में तुम्हें बताया था कि जब फ़्रान्सीसियों ने अनाम पर हमला किया, तो फ़्रान्स और चीन के बीच लड़ाई छिड़ गई। फ़्रान्स की ज़रा रोक-थाम तो हुई, लेकिन कुछ ही दिनों के लिए। उन्नीसवीं सदी के पिछले वर्षों में अनाम और कम्बोदिया को शामिल करके फ़्रान्स ने फ़्रान्सीसी हिंद-चीन नामक एक बड़ा उपनिवेश बना डाला। कम्बोदिया, जहाँ पुराने ज़माने में शानदार अंकोर का साम्राज्य था, स्याम की एक अधीन रियासत था। फ़्रान्स ने स्याम को लड़ाई की धमकी देकर इसके ऊपर अपना राज जमा लिया। ध्यान देने की बात यह है कि इन देशों में, फ़्रान्सीसियों की सारी शुरुआती साज़िशें फ़्रान्सीसी मिशनरियों की मार्फ़त की गई थीं। किसी वजह से एक मिशनरी को मौत की सज़ा दी गई और इसीका हर्जाना वसूल करने के लिए पहला फ़्रान्सीसी हमला १८५७ ई० में हुआ। फ़्रान्सीसी सेना ने दक्षिण में सैगोन के बन्दरगाह पर

---

[1] बरमा अब भारत से अलग एक स्वाधीन देश है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़ब्ज़ा कर लिया और यहींसे फ़ान्सीसियों का क़ब्ज़ा उत्तर की तरफ़ बढ़ता गया।

मुझे दुःख है कि एशिया के इन देशों में साम्राज्यशाही की बढ़ती के वाहियात क़िस्से मैंने कई बार दोहराये हैं। हरेक जगह क़रीब-क़रीब एक-सी चालें चली गईं, और क़रीब-क़रीब हर जगह उन्हें सफलता मिली। एक के बाद दूसरे देश का बयान मैंने किया है, और किसी-न-किसी यूरोपीय शक्ति के अधीन उसे पटककर उसका क़िस्सा ख़त्म किया है। इस कम्बख़्ती का शिकार होने से सिर्फ़ एक देश बच गया। यह था एशिया के दक्षिण-पूर्व का स्याम।

सौभाग्य से स्याम इसलिए बच गया कि वह बरमा में अंग्रेज़ों और हिंद-चीन में फ़ान्सीसियों के बीच में फंसा हुआ था। शायद वह इसलिए बच गया कि ये दो यूरोपीय मुक़ाबलेदार उसके आजू-बाजू मौजूद थे। इसके सौभाग्य की एक वजह यह भी थी कि इसका प्रशासन कुछ समय से काफ़ी अच्छा था, और दूसरे बहुत-से देशों की तरह यहाँ अन्दरूनी कलह नहीं थी। लेकिन अच्छा शासन विदेशियों के हमले रोकने की कोई गारण्टी न थी। बात यह थी कि इंग्लैण्ड तो बरमा में और भारत में उलझा हुआ था और फ़ान्स हिंद-चीन में। उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनों में जब ये दोनों शक्तियाँ स्याम की सीमा तक पहुँचीं, तब जीतकर क़ब्ज़ा करने का ज़माना ही गुज़र चुका था। पूर्व में मुक़ाबला करने की भावना पैदा हो रही थी और उपनिवेशों व अधीन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो रहे थे। कम्बोदिया के मामले पर स्याम और फ़ान्स में युद्ध का ख़तरा था, पर स्याम ने दबकर फ़ान्स से झगड़ा बचा लिया। पश्चिम की ओर पहाड़ों की एक मज़बूत बाड़ बरमा के मालिक अंग्रेज़ों से स्याम की रक्षा कर रही थी।

मैं तुम्हें बता चुका हूं कि गये दिनों में कम-से-कम दो बार बरमा के बादशाहों ने स्याम पर हमला किया और उसे अपने राज्य में भी मिला लिया। आख़िरी हमले में, जो १७६७ ई० में हुआ, स्याम की राजधानी अयुथ्या या अयोध्या (इस भारतीय नाम पर ग़ौर करो) नष्ट कर दी गई। पर थोड़े ही दिन बाद जनता ने विद्रोह करके बरमी लोगों को निकाल बाहर किया और १७८२ ई० में राम-प्रथम नामक राजा से एक नया राजवंश शुरू हुआ। आज ठीक डेढ़ सौ साल बाद भी, यह राजवंश स्याम में राज करता है और शायद सभी राजाओं का नाम 'राम' होता है। इस नये राजवंश के राज में स्याम को अच्छा लेकिन बहुत-कुछ मौरूसी शासन मिला। साथ ही बड़ी बुद्धिमानी से विदेशी शक्तियों से भी अच्छे ताल्लुक़ पैदा करने की कोशिश की गई। विदेशी व्यापार के लिए बन्दरगाह खोल दिये गए, कुछ विदेशी शक्तियों से व्यापारिक सन्धियाँ की गईं, और प्रशासन में कुछ सुधार भी जारी किये गए। बैंकाक नई राजधानी बनाया गया। लेकिन ये सब बातें साम्राज्यशाही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेड़ियों को दूर रखने के लिए काफ़ी न थीं। इंग्लैण्ड ने मलाया में पैर पसार-कर स्याम की भूमि दबा ली। फ़ान्स ने कम्बोदिया और स्याम के दूसरे पूर्वी प्रदेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया। १८९६ ई० में स्याम को लेकर इंग्लैण्ड और फ़ान्स में झड़प होते-होते रह गई। लेकिन, जैसा कि साम्राज्यशाहियों ने क़ायदा बना रक्खा है, इन दोनों ने आपस में समझौता कर लिया कि स्याम के राज्य का जितना हिस्सा बचा हुआ है, उसे अखण्ड रहने दिया जाय। मगर साथ ही उन्होंने इसे तीन "प्रभाव-क्षेत्रों" में भी बाँट लिया। पूर्वी हिस्सा फ़ान्स के दायरे में आया, पश्चिमी अंग्रेजों के दायरे में, और दोनों के बीच में न्यारा क्षेत्र था, जिसमें दोनों अपने दान्त गड़ा सकते थे। इस तरह आडम्बर के साथ स्याम की अखण्डता की गारण्टी कर चुकने पर, कुछ ही वर्षों के बाद फ़ान्स ने पूर्व की तरफ़ कुछ और भूमि दबा ली। और इसके ऐवज़ में इंग्लैण्ड को भी दक्षिण में कुछ मआवज़ा लेना ही पड़ा।

इतना सबकुछ होते हुए भी, स्याम का कुछ हिस्सा यूरोपीय लोगों के चंगुल से बच गया और एशिया के इस हिस्से में इस तरह बचा रहनेवाला यही एक देश है। यूरोप की हमलावरी प्रवृत्ति का ज्वार अब रुक गया है और अब उसे एशिया में ज़्यादा प्रदेश हासिल होने का मौक़ा नहीं रहा। वह समय जल्दी ही आनेवाला है जब यूरोप की शक्तियों को बिस्तर-बोरिया बान्धकर एशिया से कूच कर जाना होगा।

कुछ दिन पहले तक स्याम में निरंकुश राजाशाही थी और कुछ सुधारों के बावजूद भी काफ़ी सामन्तशाही थी। कुछ महीने हुए, वहाँ ख़ून-ख़राबी के बिना राज्यक्रान्ति हुई और मालूम होता है कि ऊपरी मध्यम-वर्ग आगे आ गये। एक क़िस्म की पार्लमेण्ट भी क़ायम हो गई है। राम प्रथम के राजवंश के राजा ने बुद्धिमानी से इस परिवर्तन को मंजूर कर लिया है, जिससे यह राजवंश बना रह गया है। इस समय स्याम में संविधान के मातहत राजशाही शासन है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के एक और देश—फ़िलीपाइन टापुओं पर विचार करना रह गया है। उनका हाल भी मैं इसी पत्र में लिखना चाहता था, लेकिन अब समय ज़्यादा हो गया है और मैं थक गया हूँ, और यह पत्र भी काफ़ी लम्बा हो गया है। १९३२ ई० के इस साल का यह आखिरी पत्र है, जो मैं तुम्हें लिख रहा हूँ। क्योंकि पुराने साल की ज़िन्दगी पूरी हो चुकी है और वह आखिरी साँसें ले रहा है। अबसे तीन घंटे बाद यह साल न रहेगा और गुज़रे हुए ज़माने की एक याद बन जायगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: १२० :

नया साल फिर आया

नया दिन, १९३३

आज नये साल का पहला दिन है। पृथ्वी ने सूर्य की एक और परिक्रमा पूरी कर ली है। छुट्टी या त्यौहार मनाने को यह नहीं रुकती; आकाश में लगातार दौड़ती चली जाती है। इसे ज़रा परवाह नहीं कि उसकी सतह पर रेंगनेवाले उन बेशुमार भुनगों का क्या हो रहा है, जो आपस में लड़ते हैं, और क्या नर और क्या नारियाँ, बेवक़ूफ़ी के अहंकार में अपने-आपको संसार का सार और सारे विश्व की धुरी समझते हैं। पृथ्वी अपनी सन्तान का लिहाज़ नहीं करती, लेकिन हम अपना लिहाज़ न करें, यह नहीं हो सकता। आज नये साल के दिन, सम्भव है, हममें से बहुतेरे लोग अपनी-अपनी जीवन-यात्रा में ज़रा देर सुस्ताकर पुरानी बातें याद करने लग जायँ, और फिर आगे की तरफ़ देखकर उम्मीदें बान्धने की कोशिश करें। इसलिए आज मैं भी बीती बातों को याद कर रहा हूँ। जेल में मुझे नये साल का दिन यह तीसरी बार पड़ रहा है। हाँ, कुछ महीनों के लिए मैं बाहर की दुनिया में ज़रूर रह आया हूँ। इससे भी पीछे जाने पर मुझे याद आता है कि पिछले ग्यारह वर्षों में मैंने नये साल के दिन पाँच बार जेलों में बिताये हैं। पता नहीं, ऐसे कितने नये-पुराने दिन इस जेल में मुझे और देखने को मिलेंगे।

जेल की भाषा में अब मैं बहुत बार का 'आदती' बन गया हूँ और मुझे जेल-जीवन की आदत हो गई है। बाहर के मेरे काम-काजी व हलचलभरे, और बड़ी-बड़ी सभाओं, सार्वजनिक भाषणों व इधर-उधर दौड़-भागवाले जीवन में, और जेल के जीवन में कितना विचित्र अन्तर है! यहाँ की बात जुदा है, हर तरफ़ ख़ामोशी है और कोई हलचल नहीं है। मैं देर-देर तक यों ही बैठा रहता हूँ; और घण्टों चुप रहता हूँ। एक-एक करके दिन और सप्ताह और महीने गुज़रते चले जाते हैं और एक दूसरे में विलीन होते जाते हैं। एक का दूसरे से भेद बतानेवाली कोई चीज़ नहीं। बीता हुआ समय एक धुँधली तसवीर की तरह लगता है, जिसमें कोई भी शक़्ल साफ़ नहीं दीखती। कल की याद करते ही गिरफ़्तारी का दिन याद आ जाता है, क्योंकि बीच का अर्सा बिलकुल कोरा है, जिसमें कोई ऐसी बात ही नहीं जो दिमाग़ पर असर डालती हो। यहाँ का जीवन उस पौधे की तरह है, जो एक ही जगह जमा हो और वहाँ बिना किसी टीका या तर्क-वितर्क के, ख़ामोशी के साथ और बिना हरकत के साथ बढ़ रहा हो। कभी-कभी बाहरी दुनिया की हलचलें जेल के प्राणी को अजीब और चकरानेवाली-सी लगती हैं, वे बहुत दूर की और छायाओं के खेल की तरह हवाई जान पड़ती हैं। इससे हमारे दो तरह के स्वभाव बन जाते हैं—एक सक्रिय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दूसरा निष्क्रिय। जीवन के ढँग दो तरह के हो जाते हैं और डॉ० जेकिल व मि० हाइड[1] की तरह व्यक्तित्व भी दो बन जाते हैं। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन का यह क़िस्सा तुमने पढ़ा है?

समय पाकर आदमी को हर चीज़ सुहाने लगती है—यहाँतक कि जेल का ढर्रा और एकसा-पन भी। आराम शरीर के लिए अच्छा है और शान्ति दिमाग़ के लिए; इससे आदमी विचार करने लगता है। अब शायद तुम समझ जाओगी कि तुम्हें इन पत्रों को लिखने से मुझे क्या फ़ायदा हुआ है। इनकी बातें तुम्हें शायद नीरस, उकतानेवाली और तूल-तवील लगती होंगी। लेकिन इन्होंने मेरे जेल-जीवन को भर दिया है और मुझे ऐसा शग़ल दे दिया है कि जिससे मुझे बहुत आनन्द मिला है। आज से ठीक दो वर्ष पहले नये साल के ही दिन मैंने इनको नैनी-जेल में लिखना शुरू किया था और दुबारा जेल आने पर इन्हें फिर जारी कर दिया। कभी-कभी मैंने हफ़्तों कुछ नहीं लिखा है, कभी-कभी हर रोज़ लिखा है। जब लिखने की धुन सवार होती है तो मैं काग़ज़ क़लम लेकर बैठ जाता हूँ, और दूसरी ही दुनिया में फिरने लगता हूँ। तब तुम मेरी प्रिय साथी होती हो, और जेल व उसके सारे कामों को मैं भूल जाता हूँ। इसलिए ये पत्र मेरे लिए ऐसे बन गये हैं मानो मैं जेल से निकलकर बाहर आ गया हूँ।

आज जो पत्र मैं तुम्हें लिख रहा हूँ, उसकी संख्या १२० है, और संख्या डालने का यह सिलसिला मैंने सिर्फ़ नौ महीने पहले बरेली-जेल में शुरू किया था। मुझे हैरत है कि इतना सारा तो मैं लिख चुका हूँ और मैं सोचता हूँ कि जब पत्रों का यह पहाड़ बड़े ढेर की तरह तुम्हारे ऊपर गिरेगा तब तुम क्या कहोगी और क्या महसूस करोगी। लेकिन इस तरह मेरा जेल से बाहर निकलना और आना-जाना तुम्हें बुरा नहीं लग सकता। प्यारी बेटी! तुमको देखे मुझे सात महीने से ज़्यादा हो गये हैं। यह समय कितना लम्बा बीता है?

इन पत्रों में कही गई कहानी कुछ ज़्यादा तबीयत खुश करनेवाली नहीं है। इतिहास सुहावना नहीं होता। अपनी ज़बर्दस्त और शेखीभरी प्रगति के बावजूद

---

[1] अंग्रेज़ उपन्यासकार स्टीवेन्सन का एक मशहूर उपन्यास—'Dr. Jekyll and Mr. Hyde'। डॉ० जेकिल एक बहुत ही नेक विद्वान् प्रोफ़ेसर था। विज्ञान के प्रयोग करते समय किसी दवा से उसके शरीर में एक बदमाश मि० हाइड की रूह घुस आई। डॉक्टर को अच्छी दवा हाथ लगी। वह चाहे जब अपना रूप और प्रकृति बदल लेता। होते-होते मि० हाइड की आदत ही पड़ गई और वह बिना दवा के ही डॉ० जेकिल के शरीर में घुस आता। आख़िरकार मि० हाइड से छुटकारा पाना असम्भव समझकर डॉ० जेकिल ने आत्महत्या कर ली।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य अभी तक एक बहुत बुरा और स्वार्थी जीव है। फिर भी उसके स्वार्थीपन, झगड़ालूपन और हैवानियत के लम्बे और दुखदायी इतिहास में शुरू से अब तक प्रगति की प्रकाश-रेखा शायद बराबर दिखाई दे सकती है। मैं ज़रा आशावादी हूँ और सब बातों को आशाभरी नज़र से देखने का आदी हूँ। लेकिन आशावाद का यह अर्थ नहीं है कि हम अपने चारों ओर की बुराइयों से आँखें मूँद लें और इस ख़तरे को भी न देखें कि बिना विचार का आशावाद कहीं खुद ही बहुत-कुछ कुठौर में न चला जाय। क्योंकि दुनिया जैसी अबतक रही है, और जैसी आज भी है, उसमें आशावाद के लिए ज़रा भी गुंजायश नहीं दिखाई देती। आदर्शवादी के लिए और ऐसे व्यक्ति के लिए जो श्रद्धा पर अपने विश्वास नहीं बनाता, इस दुनिया में रहना कठिन है। हर तरह के सवाल यहाँ उठा करते हैं, जिनका कोई सीधा जवाब नहीं मिलता। मन में हर तरह के सन्देह पैदा होते रहते हैं, जो आसानी से नहीं मिटते। दुनिया में इतनी मुसीबत और बेवक़ूफ़ी क्यों है? इसी पुराने प्रश्न ने हमारे देश के राजकुमार सिद्धार्थ को ढाई हज़ार वर्ष पहले परेशान किया था। कथा है कि 'बोध' प्राप्त करके 'बुद्ध' बनने से पहले यह प्रश्न बार-बार उनके दिल में उठता रहता था। कहते हैं, वह अपने-आपसे पूछा करते थे:

"कैसे हो सकता कि ब्रह्म यह जगत बनाये
किन्तु उसे दुख और मुसीबत में रखवाये,
क्योंकि अगर वह सर्वशक्तिमय हो यह करता,
तो वह अच्छा कभी नहीं माना जा सकता
और अगर वह ब्रह्म नहीं है सर्वशक्तिमय,
तो वह ईश्वर कभी नहीं, यह जानो निश्चय?"

हमारे ही देश में आज़ादी की लड़ाई चल रही है; पर हमारे बहुत-से भाई उधर ज़रा भी ध्यान न देकर आपसी बहस और झगड़ों में लगे हुए हैं; वे जनता की भलाई को भूलकर अपने ही पंथ या मज़हबी सम्प्रदाय के लिहाज़ से सोचते हैं। और कुछ लोग, जिन्हें आज़ादी का सपना नहीं दिखाई देता—

"ज़ुल्मियों से मिल गये और हो गये बस शान्त
कर इकट्ठे दूसरों के ताज और सिद्धान्त
और चिथड़े और कुछ टुकड़े मुलम्मेदार
पहनकर फिरने लगे सब लाज शर्म बिसार।"

क़ानून और व्यवस्था के नाम पर अत्याचारी शासन चल रहा है और उसके आगे सिर झुकाने से इन्कार करनेवालों को कुचल डालने की कोशिश कर रहा है। ग़ज़ब तो यह है कि जो चीज़ कमज़ोरों और सताये हुओं का आसरा होनी चाहिए, वही अत्याचारियों के हाथों का हथियार हो रही है! इस पत्र में कई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्धरण आ चुके हैं, लेकिन एक और मैं देना चाहता हूँ, क्योंकि वह मेरे दिल को छूता है और हमारी मौजूदा हालत से मेल खाता हुआ मालूम देता है। यह अठारहवीं सदी के फ़्रान्सीसी विचारक मान्तेस्क्यू की एक किताब से लिया गया है। इस नाम का ज़िक्र मैं शुरू के किसी पत्र में कर भी चुका हूँ।

"जिस तख़्ते ने सहारा देकर डूबते हुए मुसीबत के मारे लोगों को बचाया हो, उसीके ज़रिये अगर उन्हें डुबा दिया जाय, तो क़ानून और न्याय का चाहे जितना रंग चढ़ाने पर भी इससे बढ़कर निर्दयी अत्याचार नहीं हो सकता।"

यह पत्र इतना दुखभरा हो गया है कि नये दिन का पत्र कहलाने लाय नहीं रहा। यह चीज़ बहुत अनुचित है। पर वास्तव में मैं तो उदास नहीं, और हम उदास हों भी क्यों? हमें तो ख़ुशी होनी चाहिए कि हम एक महान् उद्देश्य के लिए जतन कर रहे और लड़ रहे हैं; हमें एक महान् नेता मिल हुआ है, जो एक प्यारा मित्र और भरोसे का रास्ता दिखानेवाला है, और जिसके दर्शन से हमें बल मिलता है और जिसका स्पर्श हमें प्रेरणा देता है। हमें पूरा यक़ीन है कि सफलता हमारा इन्तज़ार कर रही है और कभी-न-कभी हम उसे ज़रूर हासिल कर लेंगे। अगर पार करने के लिए ये रुकावटें न होतीं, और जीतने के लिए ये लड़ाइयाँ न होतीं, तो जीवन नीरस और बेरंग हो जाता।

प्यारी बेटी, तुम जीवन की देहली पर खड़ी हो; तुम्हें तो उदासी व मलाल पैदा करनेवाली बातों से कोई सरोकार ही नहीं होना चाहिए। तुम्हें जीवन का और जो कुछ उसमें आ पड़े, उसका सामना प्रसन्न व शान्त मुद्रा से करना होगा; रास्ते में आनेवाली कठिनाइयों का स्वागत करना होगा ताकि उनपर विजय पाने का आनन्द हासिल करो। बिदा, प्यारी बेटी! हमें आशा रखनी चाहिए कि हमें कामयाबी मिलने में बहुत देर नहीं लगेगी।

: १२१ :

फ़िलीपाइन और संयुक्त राज्य अमेरिका

३ जनवरी, १९३३

वर्ष के नये दिनपर कुछ इधर-उधर की बातों का ज़िक्र करके अब हम अपनी कहानी चालू करते हैं। अब हमें फ़िलीपाइन टापुओं को लेना चाहिए ताकि एशिया के पूर्वी हिस्से की तसवीर पूरी हो जाय। इन टापुओं की तरफ़ ख़ास ध्यान देने की क्या ज़रूरत है? एशिया में व दूसरी जगह और भी बहुत-से टापू हैं, जिनका ज़िक्र भी मैं इन पत्रों के सिलसिले में नहीं कर रहा हूँ। बात यह है

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि हम एशिया में नई साम्राज्यशाही के विकास को, और पुरानी सभ्यताओं पर उसकी प्रतिक्रियाओं को समझने की कोशिश कर रहे हैं। इस अध्ययन के लिए भारत का साम्राज्य एक नमूना है। चीन हमको इस औद्योगिक साम्राज्यशाही के फैलाव का एक जुदा, लेकिन बहुत ही महत्व का पहलू दिखलाता है। इन्दोनेशिया, हिन्दचीन, वग़ैरा से भी हमें बहुत-कुछ सीखने को मिल सकता है। इसी तरह फ़िलीपाइन भी हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है। यह दिलचस्पी और भी ज्यादा इसलिए बढ़ जाती है कि हम यहाँ एक नई शक्ति की यानी संयुक्त राज्य अमेरिका की कारगुज़ारियाँ देखते हैं।

हम देख चुके हैं कि चीन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने दूसरी शक्तियों की तरह हमलावर नीति इख्तियार नहीं की थी। कई मौक़ों पर तो उसने दूसरी साम्राज्यशाही शक्तियों को रोककर चीन की मदद भी की थी। इसकी वजह यह नहीं थी कि उसे साम्राज्यशाही से नफ़रत थी, या चीन से कोई प्रेम था। असल में कुछ ऐसे अन्दरूनी तथ्य थे, जिनके कारण अमेरिका का यूरोप के देशों से मतभेद था। यूरोप के ये देश छोटे-से महाद्वीप में बहुत ही पास-पास सटे हुए थे और इनकी आबादी इतनी घनी थी कि पाँव रखने को भी जगह न थी। इसलिए यहाँ हमेशा लड़ाई-झगड़े और गड़बड़ें होती रहती थीं। उद्योगवाद के आने से इनकी आबादी तेजी से बढ़ी और वे दिन-पर-दिन इतना ज्यादा माल तैयार करने लगे कि उसकी खपत उनके घर में नहीं हो सकती थी। बढ़ती हुई आबादी के लिए खूराक की ज़रूरत हुई, कारखानों के लिए कच्चे माल की, और तैयार माल के लिए बाज़ारों की। इन ज़रूरतों को फ़ौरन पूरा करने की आर्थिक ज़रूरत ने इन देशों को दूर-दूर देशों में जाकर साम्राज्य के लिए आपस में युद्ध करने को मजबूर किया।

ये बातें संयुक्त राज्य अमेरिका पर लागू नहीं होती थीं। इनका देश यूरोप के बराबर ही लम्बा-चौड़ा था, पर आबादी कम थी। यहाँ हर आदमी के लिए काफ़ी गुंजाइश थी। अपने ही देश के लम्बे-चौड़े बंजर इलाकों के विकास में सारा ज़ोर लगाने के इन लोगों को खूब मौके थे। जैसे-जैसे रेलें बनती गईं, ये लोग पश्चिम की तरफ़ बढ़ते चले गये, यहाँतक कि प्रशान्त महासागर के किनारे तक जा पहुँचे। अपने ही देश के इन कामों में अमेरिकावासी इतने मशगूल थे कि उपनिवेश बसाने का न तो उन्हें हौसला था और न फ़ुरसत। वास्तव में एक बार तो, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, उन्हें कैलीफ़ोर्निया के समुद्री किनारे पर काम करने के लिए चीन की सरकार से चीनी मज़दूरों की माँग करनी पड़ी थी। यह माँग पूरी कर दी गई, लेकिन बाद में इसीकी वजह से दोनों देशों के बीच दुश्मनी पैदा हो गई। इस तरह अपने ही देश की चिन्ताओं में फँसे रहने के कारण अमेरिकावाले साम्राज्य की उस दौड़ से अलग रहे, जिसमें यूरोप की सर-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारें लगी हुई थीं। चीन में भी उन्होंने तभी दख़ल दिया जब मजबूरी ही आ पड़ी और उन्हें अन्देशा होने लगा कि दूसरी शक्तियाँ इस देश को आपस में बाँट खायँगी।

हाँ, फ़िलीपाइन टापू सीधे अमेरिका के क़ब्ज़े में आ गये। ये हमें अमेरिका की साम्राज्यशाही की कहानी सुनाते हैं और इस वास्ते हमारे लिए दिलचस्पी रखते हैं। यह ख़याल न करना कि संयुक्त राज्य अमेरिका का साम्राज्य फ़िलीपाइन टापुओं तक ही है। ऊपरी तौर पर तो उसके पास सिर्फ़ यही एक साम्राज्य है। पर दूसरी साम्राज्यशाही शक्तियों के अनुभवों और परेशानियों से फ़ायदा उठाकर उसने पुराने तरीक़ों पर क़लई चढ़ा दी है। अमेरिकावाले किसी देश पर क़ब्ज़ा करने की इल्लत में नहीं पड़ते, जैसा कि अंग्रेज़ों ने भारत पर कर रक्खा है। उनको तो सिर्फ़ मुनाफ़ों से मतलब है, इसलिए वे दूसरे देश की दौलत को हाथ में रखने की तरक़ीबें करते रहते हैं। दौलत पर क़ब्ज़ा हो जाने से देश की जनता को और असल में फिर खुद उस देश को ही साथ में रखना आसान हो जाता है। बस ज़्यादा झगड़े के बिना या सरगर्म राष्ट्रीयता से टकराये बिना, ये लोग देश पर अपना क़ाबू रखते हैं और उसकी दौलत में हिस्सेदार बन जाते हैं। इस चतुर उपाय को आर्थिक साम्राज्यवाद कहते हैं। नक़्शे में इसका पता नहीं चलता। अगर भूगोल की पुस्तक में या ऐटलस में देखो तो देश आज़ाद और स्वाधीन दिखाई देगा। पर अगर पर्दे को हटाकर देखो तो पता लगेगा कि यह किसी दूसरे ही देश के चंगुल में है, या यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि वहाँ के साहूकारों और बड़े-बड़े व्यवसायियों के चंगुल में है। संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ में इसी तरह का साम्राज्य है, जो नज़र में नहीं आता है। इंग्लैण्ड जब किसी देश के लोगों को राज की मशीन सौंप देने का दिखावा करता है तो इसकी तह में उसकी यही कोशिश होती है कि भारत में व दूसरी जगह उसका इसी तरह का नज़र में न आनेवाला लेकिन फिर भी कारगर साम्राज्य बना रहे। यह खतरनाक चीज़ है, और हमें इससे सावधान रहना चाहिए।

ख़ैर, नज़र में न आनेवाले इस आर्थिक साम्राज्य पर ग़ौर करने की अभी ज़रूरत नहीं है; क्योंकि फ़िलीपाइन टापू तो नज़र में आनेवाले साम्राज्य के ही भाग हैं।

फ़िलीपाइन में हमारी दिलचस्पी का एक छोटा और कुछ भावुक सबब और भी है। आजकल फ़िलीपाइन का रूप स्पेनी-अमेरिकी है पर उसकी पुरानी संस्कृति की सारी पीठ भारतीय है। भारतीय संस्कृति सुमात्रा और जावा होती हुई वहाँ पहुँची थी तथा इसने जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, मज़हबी, वग़ैरा हर पहलू पर असर डाला था। प्राचीन भारतीय पुराणों की गाथाएँ, कथाएँ और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य का कुछ हिस्सा वहाँ पहुँचे थे। इन की भाषा में संस्कृत के बहुतेरे शब्द हैं। इनकी कला पर और इनके क़ानूनों और दस्तकारियों पर भारत का असर पड़ा है। यहाँतक कि पोशाक व अलंकारों पर भी भारत की छाप है। स्पेनियों ने अपने तीन सौ साल से ज़्यादा के लम्बे राज में प्राचीन भारतीय संस्कृति के सारे सबूतों को मिटाने की कोशिशें कीं, इससे अब बहुत कम बाक़ी बचा है।

स्पेनियों ने इन टापुओं पर १५६५ ई० में ही क़ब्ज़ा करना शुरू कर दिया था। इस तरह ये टापू एशिया में यूरोपवालों के पाँव जमने की सबसे पहली जगह हैं। इनका शासन पुर्तगाली, डच या ब्रिटिश उपनिवेशों से बिलकुल ही जुदा तरह का था। व्यापार को कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता था। सरकारों का आधार मज़हबी था और अधिकारी ज़्यादातर ईसाई मिशनरी व पादरी हुआ करते थे। इसको 'मिशनरियों का साम्राज्य' कहा गया है। जनता की हालत को सुधारने की कोई कोशिश नहीं की जाती थी। बद-इन्तज़ामी, अत्याचार और टैक्सों के बोझ के साथ-साथ लोगों को ज़बर्दस्ती ईसाई बनाने की कोशिशें भी की जाती थीं। ऐसी हालत में विद्रोहों का होना लाज़िमी था। व्यापार के लिए बहुत-से चीनी लोग भी इन टापुओं में आ बसे थे। ईसाई बनने से इन्कार करने पर उनकी हत्याएँ कर दी गईं। अंग्रेज़ और डच सौदागरों को यहाँ आने की इजाज़त नहीं थी—कुछ तो इसलिए कि वे स्पेनियों के दुश्मन थे, और कुछ इसलिए कि वे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे और इसलिए रोमन-कैथलिक स्पेनियों की नज़रों में काफ़िर थे।

हालतें बिगड़ती गईं, लेकिन एक अच्छा नतीजा भी निकला। इन टापुओं के बिखरे हुए हिस्सों और समूहों में एका हो गया, और उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीय भावना जागने लगी। इसी सदी के बीच में विदेशी व्यापारियों के लिए इन टापुओं के दरवाज़े खुल जाने के सबब से शिक्षा और दूसरे विभागों में कुछ सुधार भी हुए और व्यापार व व्यवसाय की उन्नति हुई। फ़िलीपाइनियों में भी एक मध्यम वर्ग बन गया। स्पेनियों और फ़िलीपाइनियों के बीच आपसी विवाह होने की वजह से बहुत-से फ़िलीपाइनियों में स्पेनी ख़ून था। स्पेन को मातृभूमि के समान माना जाने लगा और स्पेनी विचार फैलने लगे। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई और जैसे-जैसे दमन हुआ, वह क्रान्तिकारी बनती गई। शुरू में तो स्पेन से अलग होने का कोई विचार न था। स्वराज्य की, और स्पेन की कमज़ोर व बेकार पार्लमेण्ट 'कार्नेस' में कुछ प्रतिनिधियों की माँग की गई। यह अनोखी बात है कि किस तरह हर जगह राष्ट्रीय आन्दोलन नर्मी के साथ शुरू होते हैं और लाज़िमी तौर पर गर्म बन जाते हैं और अन्त में अलग होने की व स्वाधीनता की माँग करने लगते हैं। आज़ादी की दबाई हुई माँग, बाद में सूद-दर-सूद के साथ पूरी करनी पड़ती है। बस, फ़िलीपाइन में भी यह माँग बढ़ी; इसे पूरी करने के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय संगठन बनाये गए और गुप्त समितियाँ भी फैलीं। "नौजवान फ़िलीपाइनी दल" ने, जिसका नेता डॉ० जोस रिज़ल था, इस आन्दोलन में बहुत बड़ा भाग लिया। स्पेनी अधिकारियों ने आतंक से आन्दोलन को कुचलने की कोशिश की, क्योंकि मालूम होता है सरकारें सिर्फ़ यही एक तरीक़ा जानती हैं। रिज़ल और बहुत-से दूसरे नेताओं को १८९६ ई० में मौत की सज़ा देकर फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

इससे मानो फूस में चिनगारी पड़ गई। स्पेनी सरकार के ख़िलाफ़ खुली बग़ावत भड़क उठी और फ़िलीपाइनियों ने अपना "स्वाधीनता का घोषणा-पत्र" निकाल दिया। पूरे साल भर लड़ाई चलती रही और स्पेनी लोग बग़ावत को कुचल नहीं सके। तब कुछ ठोस सुधारों के वादे पर लड़ाई रोक दी गई। लेकिन स्पेन ने कुछ नहीं किया, और १८९८ ई० में बग़ावत फिर से भड़क उठी।

इसी बीच किसी दूसरे मामले पर अमेरिका की सरकार का स्पेन से झगड़ा हो गया और दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ गया। अप्रैल, १८९८ ई० में, अमेरिका के जंगी बेड़े ने फ़िलीपाइन पर हमला कर दिया। बाग़ी फ़िलीपाइन नेताओं को पूरी आशा थी कि महान् अमेरिकी गणराज्य उनकी आज़ादी की हिमायत करेगा। इसलिए युद्ध में उन्होंने अमेरिकावालों की मदद की। उन्होंने अपनी स्वाधीनता की फिर घोषणा कर दी और एक गणराज्यी सरकार संगठित करली। सितम्बर, १८९८ ई० में, फ़िलीपाइनी कांग्रेस बुलाई गई और नवम्बर के अन्त तक नया संविधान बना लिया गया। लेकिन इधर जब कांग्रेस में नये संविधान पर बहस हो रही थी, तब उधर अमेरिका स्पेन को हरा रहा था। स्पेन कमज़ोर था, इसलिए साल का अन्त होते-होते उसने हार मान ली और युद्ध समाप्त हो गया। सन्धि की शर्तों के मुताबिक स्पेन ने फ़िलीपाइन टापू अमेरिका के हवाले कर दिये। यह उदार भेंट देने में उसे लगता ही क्या था; क्योंकि फ़िलीपाइनी बाग़ियों ने स्पेनी सत्ता का तो पहले ही अन्त कर दिया था।

अब संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा करने की कार्रवाई की। फ़िलीपाइनियों ने इसका विरोध किया और बतलाया कि टापुओं को दूसरे को सौंपने का स्पेन को न तो कोई मतलब था और न कोई अधिकार ही, क्योंकि उस वक्त स्पेन के पास सौंपने के लिए था ही क्या। लेकिन यह विरोध बेकार गया, और जब वे अपनी नई जीती हुई आज़ादी के लिए अपनेको बधाई दे ही रहे थे कि उन्हें स्पेन से कहीं ज़्यादा ज़बर्दस्त सरकार से दुबारा लड़ाई छेड़नी पड़ी। साढ़े तीन वर्ष तक ये वीरता से लड़ते रहे, कुछ महीनों तक तो संगठित सरकार के रूप में और इसके बाद युद्ध के छापा-मार तरीक़े से।

अन्त में विद्रोह दबा दिया गया और अमेरिकी राज कायम हुआ। बहुत-से चौमुखी सुधार किये गए, ख़ासकर शिक्षा में, लेकिन स्वाधीनता की माँग जारी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रही। १९१६ ई० में संयुक्त राज्य की कांग्रेस ने 'जोन्स-बिल' नामक एक बिल पास करके एक चुनी हुई विधान-सभा को कुछ अधिकार सौंप दिये। लेकिन अमेरिकी गवर्नर-जनरल को दखल देने का हक़ रहा, और अक़्सर वह इस हक़ को काम में भी लाता रहा।

संयुक्त राज्य के ख़िलाफ़ तो फ़िलीपाइन में बलवे नहीं हुए; पर फ़िलीपाइनियों को अपने मौजूदा नसीब पर तसल्ली नहीं है और स्वाधीनता के लिए उनकी बेचैनी व माँग बराबर चल रही हैं। अमेरिकी लोग सच्चे साम्राज्यशाही ढँग से उन्हें अक़्सर भरोसा दिलाते रहते हैं कि वे तो फ़िलीपाइनियों के ही फ़ायदे के लिए वहाँ बने हुए हैं, और जैसे ही वे अपना काम-काज सम्भालने के क़ाबिल हो जायँगे वैसे ही वे इन टापुओं को छोड़कर चले जायँगे। १९१६ ई० के जोन्स बिल में भी कहा गया था कि "अमेरिका के लोगों का हमेशा से यही उद्देश्य रहा है, और अब भी है, कि फ़िलीपाइन में मज़बूत सरकार क़ायम होने की सूरत पैदा होते ही फ़िलीपाइन टापुओं पर से अपना राज हटालें और उनकी स्वाधीनता क़बूल करलें।" फिर भी, अमेरिका में बहुत-से लोग मौजूद हैं, जो फ़िलीपाइन की स्वाधीनता का खुल्लम-खुल्ला विरोध करते हैं।

मैं यह लिख ही रहा हूँ कि अख़बारों में ख़बर आ रही है कि अमेरिका की कांग्रेस ने एक प्रस्ताव या ऐसी ही कोई घोषणा पास की है कि फ़िलीपाइन को दस साल में स्वाधीनता दे दी जायगी।[1]

फ़िलीपाइन में संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ आर्थिक स्वार्थ हैं, जिनकी रक्षा की उसे फ़िक्र है। रबड़-बागानों की खेती में उसका ख़ास स्वार्थ है, क्योंकि यह एक ऐसी निहायत ज़रूरी चीज़ है, जो उसके यहाँ पैदा नहीं होती। लेकिन मेरे ख़याल से इन टापुओं पर क़ब्ज़ा रखने का असली सबब है जापान का डर। जापान फ़िलीपाइन के बिलकुल नज़दीक है, और जापान में बढ़ती हुई आबादी की बाढ़ आ रही है। यह बिलकुल सम्भव है कि जापानी सरकार की लालचभरी नज़र इन टापुओं पर पड़ रही हो। अमेरिका और जापान की सरकारों के बीच काफ़ी लाग-डाँट है। इसलिए फ़िलीपाइन के भविष्य का सवाल प्रशान्त महासागर की शक्तियों और उनके आपसी सम्बन्धों के बड़े सवाल का एक टुकड़ा है।

---

[1] अमेरिका ने १९४६ ई० में फ़िलीपाइन को स्वाधीन कर दिया और अब वह एक गणराज्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: १२२ :

तीन महाद्वीपों का संगम

१६ जनवरी, १९३३

नये साल के दिन की मेरी कामनाओं में से एक तो इतनी जल्द पूरी भी हो गई कि एक पखवाड़े पहले पत्र लिखते वक़्त मुझे उनका गुमान भी न था। इतनी लम्बी बाट जोहने के बाद आख़िर हमारी मुलाक़ात हुई और मैंने तुम्हें फिर देखा। तुम्हें और दूसरे लोगों को देखने की खुशी और लहर कई दिनों तक मेरे दिल में भरी रही और उसने मेरे ढर्रे में गड़बड़ डाल दी और रोज़ की बातों में मुझे ला-परवाह बना दिया। मुझे छुट्टियों जैसी मौज आ गई है। हमारी मुलाक़ात को चार ही दिन बीते हैं, पर कितना समय गुज़र गया मालूम होता है! मैं तो भविष्य की भी सोचने लग गया हूँ और इस सोच में हूँ कि हमारी अगली मुलाक़ात कब और कहाँ होगी।

खैर, जेल का कोई क़ानून मुझे अपने मन-बहलाव के खेल से नहीं रोक सकता और मैं इन पत्रों का सिलसिला जारी रक्खूंगा।

कुछ समय से मैं तुम्हें उन्नीसवीं सदी का हाल लिखता आ रहा हूँ। पहले तो मैंने तुम्हें इस सदी का सरसरी सिंहावलोकन कराया, जो मोटे तौर पर नेपोलियन के पतन के बाद के सौ वर्ष हैं। उसके बाद हमने कई देशों पर बारीकी से ग़ौर करना शुरू किया। भारत, फिर चीन, और जापान, और सबके बाद भारत के पूर्ववर्ती देशों की हमने अच्छी तरह सैर की। बारीकी के साथ इस सिंहावलोकन में हम अभी तक एशिया के एक हिस्से को ही देख सके हैं। बाक़ी दुनिया अभी बाक़ी है। यह एक लम्बा इतिहास है और इसे सीधा व साफ़ रखना कठिन है। मुझे एक-एक करके देशों और महाद्वीपों को लेना है और उनका अलग-अलग बयान करना है। अलग-अलग इलाकों के लिए मुझे बार-बार पीछे का हाल कहने में बार-बार उसी काल में लौटना पड़ता है और एक ही ज़माने का हाल लिखना पड़ता है। इसलिए कुछ उलझन हो जाना लाज़िमी है। लेकिन तुम्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जुदा-जुदा देशों में उन्नीसवीं सदी की ये सारी घटनाएँ समकालीन थीं, यानी बहुत करके एक ही समय में हुईं। उन्होंने एक दूसरी पर असर डाला और एक की दूसरी पर प्रतिक्रिया भी होती रही। इसीलिए, किसी देश के इतिहास को अलग लेकर अध्ययन करने में धोखा हो सकता है। कुल दुनिया के इतिहास से ही हमें उन घटनाओं और ताक़तों के महत्व का ठीक अंदाज़ा लग सकता है, जिन्होंने अतीत को रूप दिया और उसे वर्तमान बनाया। ये पत्र इस तरह का इतिहास पेश करने का दावा नहीं करते। यह काम मेरी ताक़त से बाहर है और इस विषय पर किताबों की भी कमी नहीं है। इन पत्रों में मैंने सिर्फ़ यह कोशिश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

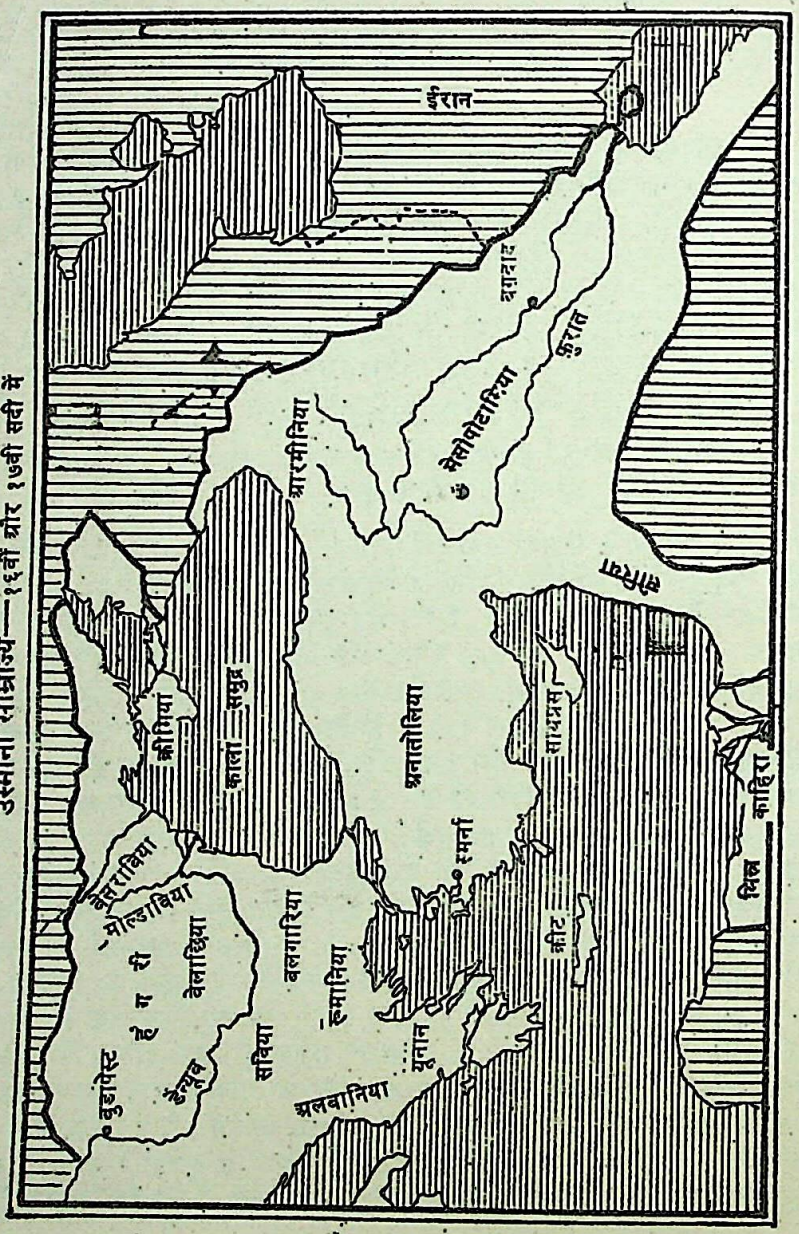

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की है कि संसार के इतिहास में तुम्हारी रुचि को जगादूँ, तुम्हें उसके कुछ पहलुओं की झाँकी करादूँ और शुरू से लगाकर आजतक मनुष्य-जाति की जो हलचलें रही हैं, उनका धागा तुम्हारे हाथ में दे दूँ। पता नहीं कि मैं कहाँतक सफल हो सकूँगा। कहीं ऐसा न हो कि मेरी मेहनत का नतीजा तुम्हारे सामने एक गड़बड़-झाला रख दे, जो तुम्हें सही फ़ैसले पर पहुँचने में मदद देने के बजाय उलटा उलझन में डाल दे।

यूरोप उन्नीसवीं सदी को आगे धकेलनेवाली ताक़त था। वहाँ राष्ट्रीयता का बोलबाला था, और उद्योगवाद वहाँ से दुनिया के दूर-दूर कोनों में फैलकर अक्सर साम्राज्यशाही का रूप ले रहा था। इस सदी पर हमने शुरू में जो सरसरी निगाह डाली थी, उसमें हम यह देख चुके हैं और हमने भारत और पूर्वी एशिया में साम्राज्यशाही के नतीजों को ज़रा बारीकी से सिलसिलेवार समझा है। अब फिर नज़दीक से देखने के लिए यूरोप की तरफ़ चलने से पहले मैं तुमको ज़रा पश्चिमी एशिया की भी सैर करा देना चाहता हूँ। इस भू-भाग को मैंने बहुत अर्से से छोड़ रक्खा है, जिसका खास सबब यह है कि इसके बाद के इतिहास की मुझे कुछ ज्यादा जानकारी नहीं है।

पूर्वी एशिया व भारत से पश्चिमी एशिया बहुत अलग तरह का है। बहुत ज़माना हुआ तब तो मध्य-एशिया और पूर्व की बहुत-सी क़ौमों और कबीलों ने यहाँ आकर हमले किये थे। खुद तुर्क लोग इसी तरह आये थे। ईसवी सन से पहले बौद्ध-धर्म भी ठेठ एशिया कोचक तक जा पहुँचा था, लेकिन वह वहाँ जड़ जमा सका हो तो ऐसा नहीं लगता। गुज़रे ज़माने में पश्चिमी एशिया की आँखें एशिया या पूर्व की बनिस्बत यूरोप की तरफ़ ही ज्यादा लगी रहीं। एक तरह से यह यूरोप की तरफ़ एशिया का झरोखा रहा है। एशिया के जुदा-जुदा भागों में इस्लाम के फैलने से भी पश्चिमी एशिया के नज़रिये में कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ा।

भारत, चीन और दूसरे पड़ौसी देशों ने यूरोप की तरफ़ इस तरह कभी नहीं देखा। वे एशियापन में ही लिपट रहे। भारत और चीन के बीच नस्ल, नज़रिये व संस्कृति का बड़ा भारी फ़र्क़ है। चीन कभी मज़हब का गुलाम नहीं रहा, और वहाँ पुजारियों-पुरोहितों की प्रथा नहीं रही। भारत ने सदा से अपने धर्म पर अभिमान किया है। उसके समाज पर पण्डे-पुजारी लदे रहे हैं, हालाँकि बुद्ध ने उसकी छाती पर बैठे इस बोझ से छुड़ाने के जतन भी किये। भारत और चीन में और भी बहुत-से फ़र्क़ हैं; फिर भी भारत और पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच अजीब एकता है। इस एकता का कारण बुद्ध-गाथाओं की कड़ी है, जिसने इन देशों के निवासियों को जोड़ रक्खा है और जिसने कला व साहित्य, संगीत व गीतों में एक-सी बन्दिश गूँथ दी है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम के साथ भारत में कुछ पश्चिमी-एशियापन आगया। यह एक जुदा संस्कृति थी; जीवन का अलग ही नज़रिया था। लेकिन भारत में पश्चिमी-एशियापन सीधा या अपने क़ुदरती रूप में नहीं आया, जैसाकि अरबवाले भारत को विजय करते तो होता। वह आया, लेकिन बहुत दिन बाद, और वह भी मध्य-एशियाई नस्लों की मार्फ़त, जो उसकी सही प्रतिनिधि नहीं थीं। तो भी इस्लाम ने भारत को पश्चिमी एशिया से जोड़ दिया, और इस तरह भारत दो महान् संस्कृतियों के मिलने की जगह बन गया। इस्लाम चीन में भी पहुंचा और वहाँ बहुत सारे लोगों ने इसे अपना लिया, पर इसने चीन की पुरानी संस्कृति को कभी चुनौती नहीं दी। भारत में यह चुनौती इसलिए दी गई थी कि इस्लाम बहुत अर्से तक राज करनेवाले वर्ग का मज़हब था। इस तरह भारत वह देश हो गया जहाँ दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के मुक़ाबले में खड़ी हुईं। मैं तुमको उन तमाम कोशिशों का हाल लिख ही चुका हूँ, जो इस कठिन समस्या को हल करने के लिए समन्वय की तलाश में की गईं। इन कोशिशों में बहुत कुछ कामयाबी हासिल हो रही थी कि ब्रिटिश हुक़ूमत के रूप में एक नया ख़तरा और एक नई रुकावट आ मौजूद हुई। आज इन दोनों पुरानी संस्कृतियों ने अपना पुराना रूप खो दिया है। राष्ट्रीयता और उद्योगीकरण ने दुनिया को बदल दिया है, और जिस हद तक नई आर्थिक हालतों में ठीक बैठ सकें, उसी हद तक पुरानी संस्कृतियाँ जीवित रह सकती हैं। उनके खोखले ख़ोल बच रहे हैं, असली रूप जाते रहे हैं। ख़ुद इस्लाम की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। चीन और सुदूरपूर्व बराबर उथल-पुथल की हालत में हैं। भारत में हम ख़ुद देख सकते हैं कि क्या हो रहा है।

पश्चिमी एशिया के बारे में लिखे इतने दिन हो गये कि अब सिलसिले को पकड़ना मुश्किल-सा हो रहा है। तुम्हें याद होगा कि मैंने बग़दाद के महान् अरब साम्राज्य का हाल बताया था कि किस तरह तुर्कों के (ये तुर्क सेलजूक तुर्क थे. उस्मानी नहीं) हाथों इसकी मिट्टी पलीद हुई और अन्त में चंगेज़ख़ाँ के मंगोलों ने किस तरह इसे बिलकुल नष्ट कर दिया। मंगोलों ने ख्वार्ज़म के साम्राज्य का भी अन्त कर दिया, जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था और जिसमें ईरान भी शामिल था। इसके बाद तैमूरलंग आया और कुछ दिन की सैनिक सफलताओं और हत्याकाण्डों के बाद ग़ायब हो गया। लेकिन पश्चिम की तरफ़ एक नया साम्राज्य उठ खड़ा हुआ, जो तैमूर से हारने के बावजूद फैलता जा रहा था। यह साम्राज्य उस्मानी तुर्कों का था, जिन्होंने ईरान के पश्चिम में एशिया पर और मिस्र व दक्षिण-पूर्वी यूरोप के ख़ास बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया था। कई पीढ़ियों तक यूरोप पर इनका ख़तरा बना रहा और यूरोप के मज़हबी व अन्धविश्वासी लोगों को, जो मध्य-युगों से बाहर निकल ही रहे थे, ये तुर्क पापियों को सज़ा देने के लिए "ख़ुदा का क़हर" मालूम दिये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस्मानी राज के अधीन पश्चिमी एशिया इतिहास से ग़ायब हो जाता है और दुनिया की बड़ी जीवनधारा से कटकर रुके हुए पानी की खाड़ी बन जाता है। कई सदियों तक, बल्कि हज़ारों वर्षों तक, यह यूरोप और एशिया के बीच राजमार्ग था और एक महाद्वीप से दूसरे को माल ले जानेवाले अनगिनत क़ाफ़िले इस हिस्से के शहरों और रेगिस्तानों को लांघा करते थे। पर तुर्कों ने व्यापार को बढ़ावा न दिया और अगर वे देना भी चाहते तो एक नये कारण के सामने लाचार थे। यह कारण था यूरोप और एशिया के बीच समुद्री-रास्तों का विकास। समुद्र अब नया राजमार्ग बन गया और जहाज़ों ने रेगिस्तान के ऊँटों की जगह ले ली। इस परिवर्तन के सबब से दुनिया में पश्चिमी एशिया का महत्व बहुत घट गया। वह अब विलग जीवन बिताने लगा। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में स्वेज़ नहर खुल जाने से समुद्री रास्ते का महत्व और भी ज्यादा हो गया। यह नहर पूर्व और पश्चिम के बीच, इन दोनों संसारों को एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक लाने-वाला सबसे बड़ा राजमार्ग बन गई।

अब बीसवीं सदी में हमारे देखते-ही-देखते एक ओर महान् परिवर्तन हो रहा है। जल और थल की पुरानी होड़ में अब थल फिर जीत रहा है और समुद्र को दुनिया के बड़े राजमार्ग की जगह से हटा रहा है। मोटरों के आविष्कार से बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है और हवाई-जहाज़ों ने इसे और भी बढ़ा दिया है। व्यापार के प्राचीन मार्ग, जो इतने दिनों से सूने पड़े थे,अब फिर आवा-जाई से भर रहे हैं। हाँ, आराम की चाल चलनेवाले ऊँटों की जगह अब रेगिस्तान में मोटरें दौड़ती हैं और सिर पर हवाई जहाज़ उड़ते हैं।

उस्मानी साम्राज्य ने तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ़्रीका और यूरोप को जोड़ दिया था। पर उन्नीसवीं सदी के बहुत पहले से ही यह साम्राज्य कमज़ोर पड़ गया था और इस सदी ने इसे तीन-तेरह होते भी देख लिया। "ख़ुदा का क़हर" अब "यूरोप का मरीज़" हो गया। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इसका अन्त ही कर दिया। और इसकी राख में से नवीन तुर्की का उदय हुआ है, जो अपने ऊपर भरोसा रखनेवाला, मज़बूत और प्रगतिशील है। इसके अलावा और भी कई राज्य पैदा हो गये हैं।

मैं लिख चुका हूँ कि पश्चिमी एशिया 'यूरोप की तरफ़ एशिया का झरोखा' है। यह भूमध्य सागर से घिरा हुआ है, जिसने एशिया, यूरोप और अफ़्रीका को एक-दूसरे से अलग भी किया है और जोड़ा भी है। पुराने ज़माने में तो यह जोड़ने-वाली कड़ी बहुत मज़बूत रही है और भूमध्य सागर के किनारे के देशों में बहुत-सी बातें एक-सी चली आई हैं। यूरोप की सभ्यता भूमध्य-सागर के प्रदेश में ही शुरू हुई थी। पुराने यूनान के उपनिवेश इन्हीं तीनों महाद्वीपों के समुद्री-किनारों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर बिखरे हुए थे। रोमन साम्राज्य इसीके चारों ओर फैला था। भूमध्य-सागर के आस-पास ही ईसाइयत का बचपन गुज़रा है। अरब लोग अपनी संस्कृति इसी-के पूर्वी तट से सिसिली को, और फिर अफ़्रीका के तट के ठेठ पार पश्चिम में स्पेन तक, ले गये और वहाँ सात सौ वर्ष तक जमे रहे।

अब हमें मालूम हो गया कि भूमध्य-सागर के तटवाले एशिया के देशों का दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ़्रीका से कैसा गहरा रिश्ता है। इसलिए पश्चिमी एशिया पुराने ज़माने में एशिया और दूसरे दोनों महाद्वीपों को जोड़नेवाली साफ़ कड़ी बन जाता है। लेकिन इस तरह की कड़ियों की अगर तलाश की जाय तो दुनिया भर में आसानी से मिल जायँगी। तंग राष्ट्रीयता के सबब से हम संसार की एकता और जुदा-जुदा देशों के समान हितों की बनिस्बत अलग-अलग देशों का ज़्यादा विचार करने लगे हैं।

: १२३ :

पीछे की तरफ़ एक निगाह

१९ जनवरी, १९३३

हाल ही में मैंने दो पुस्तकें पढ़ी हैं, जो मुझे बहुत पसन्द आई है। मेरी इच्छा थी मेरे साथ तुम भी इन पुस्तकों को पढ़तीं। ये दोनों पुस्तकें पेरिस के 'म्यूज़ी गिमे' के संचालक रेनी ग्राउज़े नामक फ़्रान्सीसी की लिखी हुई हैं। क्या तुमने पूर्वी कला का और खासकर बौद्ध-कला का यह दिलक़श अजायबघर देखा है? मुझे याद नहीं पड़ता कि तुम मेरे साथ वहाँ गई थीं। ग्राउज़े ने चार जिल्दों में पूर्वी यानी एशियाई सभ्यता पर निगाह डाली है और भारत, मध्य-पूर्व (यानी पश्चिमी एशिया और ईरान), चीन व जापान की सभ्यताओं का वर्णन एक-एक जिल्द में अलग-अलग किया है। कला-रसिक होने की वजह से उसने यह पुस्तक इस बात को ध्यान में रखकर लिखी है कि कला की तरह-तरह की हलचलों का विकास कैसे हुआ और इसमें बहुत-सी सुन्दर तसवीरें भी दी हैं। इस तरह इतिहास सीखना, बादशाहों के युद्धों, लड़ाइयों व साज़िशों का हाल जानने से बहुत बेहतर और दिलचस्प होता है।

अभी तक मैंने ग्राउज़े की पुस्तक की वे दो जिल्दें पढ़ी हैं, जिनमें भारत का और मध्य-पूर्व का हाल है और इन्हें पढ़कर मेरा मन बहुत प्रसन्न हुआ है। शान-दार इमारतें और सुन्दर मूर्त्तियाँ और अद्भुत दीवार-चित्रों व दूसरे चित्रों की तसवीरों ने मुझे देहरादून-जेल से बहुत दूर, दूर-दूर के देशों की और बीते हुए ज़माने की याद दिला दी है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें उत्तर-पश्चिम भारत[1] में सिन्ध घाटी के मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा का हाल लिखा था, जो पाँच हज़ार वर्ष पहले की प्राचीन सभ्यता के खण्डहर हैं। बीते हुए युग के उन दिनों में जब मोहन-जो-दड़ो में लोग रहते थे और काम करते और दिल बहलाते थे, तब सभ्यता के और भी कई केन्द्र थे। हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है; वह एशिया और मिस्र के जुदा-जुदा इलाकों में खोज निकाले गए कुछ खण्डहरों तक ही है। अगर काफ़ी मेहनत के साथ और काफ़ी विस्तार में खुदाई की जाय तो ऐसे और भी बहुत खण्डहर मिल सकते हैं। लेकिन अब भी हम जानते हैं कि मिस्र के नील-काँठे में, खाल्दिया (शाम) में जहाँ इलाम राज्य की राजधानी सूसा थी, पूर्वी ईरान के पर्सीपोलिस में, मध्य एशिया के तुर्किस्तान में, और चीन की ह्वांग-हो या पीली नदी के किनारों पर उन दिनों एक ऊँचे दर्जे की सभ्यता थी।

यह वह ज़माना था जब ताम्बे का इस्तेमाल शुरू हुआ था और चिकने पत्थर का युग बीत रहा था। ऐसा मालूम होता है कि चीन से लगाकर मिस्र तक के सारे लम्बे-चौड़े इलाके विकास के एक ही दर्जे तक पहुँच चुके थे। वास्तव में यह देखकर अचम्भा होता है कि एशिया के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई एक-सी सभ्यता के कुछ सबूत मिले हैं, जो बतलाते हैं कि सभ्यता के ये जुदा-जुदा केन्द्र एक दूसरे से बिलग नहीं थे, बल्कि एक का दूसरे से सम्पर्क था। खेती खूब होती थी। मवेशी पाले जाते थे और कुछ व्यापार भी होता था। लेखन-कला भी प्रकट हो चुकी थी, लेकिन ये पुरानी चित्र-लिपियाँ अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी हैं। एक दूसरे से बहुत दूर-दूर के इलाकों में एक ही तरह के औज़ार पाये गए हैं और कला की चीज़ों में भी विचित्र समानता है। नक्क़ाशी किये हुए मिट्टी के बर्तन और तरह-तरह के गुल-बूटोंवाले सुन्दर फूलदान ख़ास तौर पर ध्यान खींचते हैं। मिट्टी के ये बर्तन इतने ज़्यादा पाये गए हैं कि इस तमाम काल का ही नाम 'नक्क़ाशीदार मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता' पड़ गया है। उस ज़माने में सोने-चाँदी के ज़ेवर, सेलखड़ी और संगमरमर के बर्तन और रुई के कपड़े तक बनते थे। मिस्र से लगाकर सिन्ध नदी की घाटी और चीन तक की इस प्राचीन सभ्यता के हरेक केन्द्र में अपनी ख़ासियत थी और हरेक का अपना ही अलग ढँग था, लेकिन फिर भी इन सबके अन्दर एक-सी व जुड़ी हुई सभ्यता का सिलसिला दिखाई देता है।

यह मोटे तौर पर पाँच हज़ार वर्ष पहले की बात है। लेकिन ज़ाहिर है कि ऐसी सभ्यता ने किसी पहली सभ्यता से ही उन्नति की होगी, और इसके विकास

---

[1] अब यह भाग पाकिस्तान में है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हज़ारों वर्ष लगे होंगे। नील-काँठे में और ख़ाल्दिया में इसकी शुरुआत और भी दो हज़ार वर्ष पहले खोजी जा सकती है। दूसरे केन्द्र भी शायद इतने ही पुराने हैं।

ईसा से तीन हज़ार वर्ष पहले के बीते ताम्र-युग की, यानी मोहन-जो-दड़ो काल की, इस एक-सी व चारों ओर फैली हुई सभ्यता से चार बड़ी-बड़ी पूर्वी सभ्यताएँ अलग-अलग दिशाओं में निकलीं, अलग-अलग तरह की बनीं और अलग-अलग रूपों में उनका विकास हुआ। ये चारों मिस्री, इराक़ी, भारतीय और चीनी सभ्याताएँ थीं। इसी पिछले काल में मिस्र में महान् पिरामिड[1] और गीज़ा का महान् स्फिक्स[2] बने। इसके बाद मिस्र में थीबन-काल आया, जब ईसा से लगभग दो हज़ार वर्ष पहले थीबन-साम्राज्य फूला-फला और अद्भुत मूर्त्तियाँ व दीवार-चित्र बनाये गए। कला के दुबारा पनपने का यह एक महान् काल था। इसी समय के आस-पास लुक्सर का विशाल मन्दिर बना। तूतांख़ामन एक थीबी फ़रऊन[3] था, जिसका नाम तो, मालूम होता है, लोगों ने सुन रक्खा है पर उसके बारे में और कुछ जानकारी उन्हें नहीं है।

ख़ाल्दिया में सुमेर व अक्कद के दो प्रदेशों में शक्तिशाली संगठित राज्य बने। ख़ाल्दिया का उर शहर मोहन-जो-दड़ो के समय में ही कला की नफ़ीस चीज़ें बनाने लगा था। क़रीब सात सौ वर्षों की सरदारी के बाद उर पामाल कर दिया गया। बाबुल (बाबीलन) के लोगों ने, जो सामी (यानी अरबों या यहूदियों के समान) क़ौम के थे, सीरिया से आकर नई हुकूमत क़ायम की। इस नये साम्राज्य

---

[1] पिरामिड—चौकोर शंकु के आकार के विशाल स्तूप जिनमें फ़रऊनों को दफ़नाया गया है। मिस्र में लगभग ४० पिरामिड हैं जो अहराम कहलाते हैं। सबसे बड़ा पिरमिड कूफ़ू नामक फ़रऊन का बनवाया हुआ है। इसीमें बाद में उसका शव रक्खा गया था। इसका आधार ७५६ फुट लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है तथा इसकी ऊँचाई ४८१ फुट है। पिरामिडों में पत्थर के बहुत बड़े-बड़े टुकड़े जमे हुए हैं। कूफ़ू का पिरामिड संसार का एक आश्चर्य माना जाता है। इसके भीतर कई बड़े-बड़े कमरे हैं।

[2] स्फिक्स—पत्थर की विशालकाय मूर्त्ति जिसका सिर तो स्त्री का-सा है, धड़ सिंह का है, जिसपर पक्षियों के-से पर हैं तथा पूँछ साँप की-सी है। यह मिस्र में पिरामिडों के ही पास है।

[3] ईसा से पूर्व छठी-सातवीं सदी में मिस्र के बादशाह फ़रऊन कहलाते थे। तूतांख़ामन अन्तिम फ़रऊनों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी क़ब्र में इसकी मोमियाई निकली है जो सोने के सन्दूक में बन्द थी। क़ब्र में सोने-चाँदी, हाथीदान्त, जवाहरात की अनेक बहुमूल्य चीज़ें भी मिली हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का केन्द्र अब बाबुल का शहर हो गया, जिसका हवाला बाइबिल में बार-बार आता है। इस ज़माने में भी साहित्य दुबारा पनपा और महाकाव्य बनाये व गाये जाते थे। ऐसा माना जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति व जल-प्रलय का वर्णन करनेवाले इन महाकाव्यों की कथाओं के सहारे पर ही बाइबिल के शुरू के अध्याय रचे गये हैं।

बाबुल का भी पतन हुआ और उसके कई सौ वर्षों बाद (लगभग १,००० वर्ष ईसा से पूर्व और उसके बाद) असीरिया के लोग मैदान में आये और उन्होंने निनेवा को राजधानी बनाकर एक नया साम्राज्य क़ायम किया। ये बड़े अजीब लोग थे। ये परले सिरे के हैवान व ज़ालिम थे। इनकी सारी शासन-प्रणाली आतंकवाद पर खड़ी थी और इन्होंने हत्याकाण्डों व तबाहियों के सहारे सारे मध्य-पूर्व पर एक महान् साम्राज्य तैयार किया। ये लोग उस ज़माने के साम्राज्यशाही लोग थे। लेकिन ये लोग कई बातों में बहुत ही सुसंस्कृत भी थे। निनेवा में एक बहुत बड़ा पुस्तकालय जमा किया गया था, जिसमें उस ज़माने के ज्ञान के हर विभाग की पुस्तकें थीं। पर यह बताने की ज़रूरत नहीं कि यह पुस्तकालय काग़ज़ी नहीं था और न इसमें आजकल की पुस्तकों जैसी कोई चीज़ थी। उस ज़माने की पुस्तकें मिट्टी के साँचों पर लिखी जाती थीं। निनेवा के पुराने पुस्तकालय के हज़ारों साँचे आजकल लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर में रक्खे हुए हैं। कई तो बहुत ही दिल दहलानेवाले हैं; बादशाह ने बड़ी बोलती भाषा में लिखा है कि उसने दुश्मनों पर कैसे-कैसे ज़ुल्म किये और उनमें कैसा मज़ा लिया।

भारत में आर्य लोग मोहन-जो-दड़ो काल के बाद आये। अबतक उनके शुरू के दिनों के कोई खण्डहर या मूर्तियाँ नहीं मिली हैं। हाँ, उनकी सबसे बड़ी यादगारें उनके पुराने ग्रन्थ—वेद वग़ैरा—हैं, जिनसे हमें भारत के मैदान में उतरनेवाले इन आनन्दी सूरमाओं के मन का भीतरी हाल मालूम होता है। इन ग्रन्थों में प्रकृति की बहुत ही ज़ोरदार कविता भरी है; देवता भी प्रकृति के देवता हैं। यह लाज़िमी था कि जब कला का विकास हुआ तो प्रकृति का प्रेम उसमें बहुत ज़्यादा हिस्सा लेता। भोपाल के पास सांची के फाटक अबतक पाई गई कला की बची-खुची निशानियों में सबसे पुराने गिने जाते हैं। उनका समय शुरू का बौद्धकाल है। इन फाटकों के ऊपर फूल-पत्तों व जानवरों की शक़्लों की सुन्दर नक्क़ाशी से हमें इनके बनानेवाले कलाकारों के प्रकृति-प्रेम का और प्रकृति की परख का पता लगता है।

इसके बाद उत्तर-पश्चिम की ओर से यूनानी असर आया, क्योंकि यह तो तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद यूनानी साम्राज्य ठेठ भारत की सरहद तक आ गया था। फिर कुषाण-वंश का सरहदी साम्राज्य आया और इसपर भी यूनानी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असर था। बुद्ध मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। वह अपने-आपको देवता नहीं कहते थे, न अपनी पूजा ही कराना चाहते थे। उनका उद्देश्य उन बुराइयों से समाज का पिण्ड छुड़ाना था, जो पोपलीला के ज़रिये उसमें घुस आई थीं। वह गिरे हुओं और दीन-दुखियों को उठाने की कोशिश करनेवाले सुधारक थे। बनारस के पास सारनाथ या इसिपत्तन में उनका जो प्रथम प्रवचन हुआ, उसमें उन्होंने कहा था: "मैं अज्ञानियों को ज्ञान से तृप्त करने आया हूँ... जबतक कोई मनुष्य प्राणियों के हित के लिए अपनेको खपा न दे, त्यागे हुओं को तसल्ली न दे, तबतक वह पूर्ण नहीं हो सकता।... मेरा मत करुणा का मत है; इसी कारण संसार के सुखी मनुष्य उसे कठिन समझते हैं। निर्वाण का मार्ग सबके लिए खुला हुआ है। ब्राह्मण भी उसी तरह स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ जैसे कि चाण्डाल, जिसके लिए कि उसने मोक्ष का द्वारा बन्द कर रक्खा है। जिस प्रकार हाथी नरकुलों की झोंपड़ी को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार तुम भी अपने विकारों का नाश कर दो।...पापों से रक्षा का एकमात्र उपाय आर्यसत्य है।" इस तरह बुद्ध ने सदाचार का और जीवन के अष्टांगिक मार्ग[1] का उपदेश किया। लेकिन गुरु के उपदेशों का छिपा हुआ अर्थ न समझनेवाले मूर्ख शिष्यों का जैसा क़ायदा होता है, उसी तरह बुद्ध के अनुयायियों ने उनके बताये हुए आचार-व्यवहार के ऊपरी नियमों का तो पालन किया, मगर उनका भीतरी मर्म नहीं समझा। उनके उपदेशों पर चलने के बजाय वे उनकी पूजा करने लगे। फिर भी बुद्ध की कोई मूर्तियाँ नहीं बनीं, न पूजा की कोई प्रतिमाएँ बनाई गईं।

इसके बाद यूनान व दूसरे यूनानी देशों के विचार यहाँ भी आने लगे। इन देशों में देवताओं की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ बनाई जाती थीं और पूजी जाती थीं। भारत के उत्तर-पश्चिम में गान्धार देश में यह असर सबसे ज़्यादा था। वहाँ 'शिशु-बुद्ध' की मूर्तियाँ बनने लगीं। यह उनके अपने छोटे और प्यारे देवता कामदेव या आगे होनेवाले शिशु ईसा की तरह का था। इस तरह बौद्ध-धर्म में मूर्तिपूजा की शुरुआत हुई और यहाँतक बढ़ी कि हरेक बौद्ध-मन्दिर में बुद्ध की मूर्ति दिखाई देने लगी।

ईरान का असर भी भारतीय कला पर पड़ा। बौद्ध जातकों और हिन्दुओं की अनगिनती पौराणिक कथाओं से भारत के कलाकारों को बेशुमार मसाला मिल गया। पत्थरों पर खुदी हुईं या रंगों से खींची गईं इन जातक-कथाओं व पुरानी गाथाओं को तुम आन्ध्र में, अमरावती में, बम्बई के पास एलिफ़ेण्टा की गुफ़ाओं

---

[1] 'आर्यसत्य' और 'अष्टांगिक मार्ग' बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित 'बुद्धवाणी' में इनका अच्छा परिचय दिया हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में, और वेरुळ (एलोरा) व अजन्टा में देख सकती हो। सैर के लिए ये अनोखी जगहें हैं और मैं चाहता हूँ कि भारत का हरेक लड़का और लड़की इन जगहों में से कम-से-कम कुछको तो ज़रूर देखे।

भारत की पौराणिक कथाएँ समुद्र को लाँघकर भारत के पूर्ववर्ती देशों में भी जा पहुँची। जावा के बोरोबुदुर में सारी-की-सारी जातक-कथा पत्थर की दीवारों पर सिलसिलेवार खुदी हुई है। अंकोरवाट के खण्डहरों में बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ मौजूद हैं, जिनको देखकर हमें आठ सौ वर्ष पहले के ज़माने की याद हो आती है, जबकि पूर्वी एशिया में यह नगर 'शानदार अंकोर' के नाम से मशहूर था। इन मूर्तियों की मुख-मुद्राएँ कोमल और सजीव हैं और उनपर एक विचित्र व पकड़ में न आनेवाली मुस्कराहट छाई हुई है, जो 'अंकोर की मुस्कराहट' कहलाने लगी है। वहाँ की नस्लों का पुराना खून बदल गया है, लेकिन यह मुस्कराहट वैसी ही बनी हुई है और हमेशा नई लगती है।

कला अपने ज़माने की ज़िन्दगी व सभ्यता का सच्चा दर्पण होती है। जब भारतीय सभ्यता ज़िन्दगी से भर-पूर थी, तब यहाँ सुन्दर वस्तुओं की रचना हुई, कलाएँ लहलहाईं और उनकी गूँज दूर-दूर के देशों तक जा पहुँची। लेकिन, जैसा कि तुम्हें मालूम है, बाद में सड़न व गलन पैदा हुई और जैसे-जैसे देश टूक-टूक होता गया, कलाएँ भी गिरती गईं। उनकी जीवट व जान जाती रही और उन-पर ज़रूरत से ज़्यादा बारीकियाँ लाद दी गईं—यहाँतक कि वे भोंडेपन की हद पर पहुँच गईं। मुसलमानों के आने से एक झटका लगा, और इस नये असर ने फ़ालतू सजावट के गिरे हुए रूप को भारतीय कला से निकाल दिया। ज़मीन तो पुराने आदर्श की ही रही, पर उसे बड़ी सादगी और ख़ूबी के साथ अरब और ईरान का नया जामा पहना दिया गया। पुराने ज़माने में भारत के हज़ारों राज-मिस्त्री मध्य-एशिया गये थे। अब पश्चिम-एशिया के वास्तुकार और चित्रकार भारत आये। ईरान और मध्य-एशिया में कला ज़ोरदार तरीक़े से दुबारा पनपने लगी थी; क़ुस्तुन्तुनिया में बड़े-बड़े वास्तुकारों के हाथों बड़ी-बड़ी आलीशान इमारतें बन रही थीं। इटली में भी यही रिनेसाँ के शुरू का काल था, जबकि वहाँ भी महान् कलाकारों के एक तारा-मंडल ने सुन्दर चित्रों और मूर्तियों की रचना की थी।

सीनन उस ज़माने का मशहूर तुर्की मेमार था और बाबर ने उसीके चहेते शागिर्द यूसुफ़ को यहाँ बुलवाया। ईरान का महान् चित्रकार बिहज़ाद था। उसके कई शागिर्दों को बुलाकर अकबर ने अपना दरबारी चित्रकार बनाया। वास्तुकला और चित्रकला दोनों पर ही ईरानी असर छाया हुआ नज़र आने लगा। मुग़ल-भारत की इस भारतीय-मुस्लिम कला की कुछ आलीशान इमारतों का ज़िक्र मैंने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी पिछले पत्र में किया है। इनमें से कितनी ही तो तुमने देखी भी हैं। इस भारतीय-ईरानी कला की सबसे ऊँची सिद्धि ताजमहल है। बहुत-से बड़े-बड़े कलाकारों की मदद से यह बना। कहते हैं कि सबसे बड़ा मेमार उस्ताद ईसा नामक कोई तुर्क या ईरानी था और उसकी मदद के लिए कई भारतीय मेमार थे। ख़याल किया जाता है कि कुछ यूरोपीय कलाकारों ने, खासकर एक इटालवी ने, भीतर की सजावट का काम किया। इतने सारे अलग-अलग व बड़े-बड़े कलाकारों के काम करने पर भी, इस इमारत में कोई खटकनेवाली या आपस में मेल न रखनेवाली कोई चीज़ें नहीं हैं। तमाम जुदा-जुदा असर आपस में घुल-मिलकर अद्भुत संगति पैदा कर रहे हैं। ताजमहल में हज़ारों ही आदमियों ने काम किया है। लेकिन इस पर ईरानी व भारतीय, दो असरों की सबसे ज्यादा छाप है। इसीलिए ग्राउज़े ने कहा है कि "ईरान की आत्मा ने भारत के शरीर में अवतार लिया है।"

: १२४ :

ईरान की अटूट पुरानी परम्पराएँ

२० जनवरी, १९३३

आओ, अब ईरान की तरफ़ चलें, जिसके बारे में कहा जाता है कि इसकी आत्मा भारत में आई और ताजमहल को अपने लिए उचित शरीर पाकर उसमें पैठ गई। ईरानी कला की परम्परा भी निराली है। यह परम्परा ठेठ असीरियाइयों के ज़माने से, दो हज़ार वर्षों से भी ज्यादा समय से, बराबर चली आ रही है। राज्यों और राजवंशों और मज़हबों में तब्दीलियाँ हुई हैं, देश पर विदेशी हुकूमत भी रही है और अपने शाहों की भी, इसलाम ने भी आकर बहुत-कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये हैं, लेकिन यह परम्परा बराबर बनी रही है। हाँ, युगों के दौरान में यह बदली है और इसका विकास भी हुआ है। परम्परा के इस तरह क़ायम रहने का सबब ईरानी कला का ईरान की धरती व नज्ज़ारों के साथ ताल्लुक़ होना बताया जाता है।

पिछले पत्र में मैंने निनेवा के असीरियाई साम्राज्य का ज़िक्र किया है। इस साम्राज्य में ईरान भी शामिल था। ईसा से पाँच-छै सौ साल पहले ईरानियों ने, जो आर्य थे, निनेवा पर क़ब्ज़ा करके असीरियाई साम्राज्य का अन्त कर दिया। फिर इन ईरानी-आर्यों ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक अपने लिए बड़ा साम्राज्य बना लिया। प्राचीन संसार पर उनका दबदबा था और यूनानी इतिहास में उनके शासक के लिए 'शहंशाह' शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन 'शहंशाहों' में से कुछके नाम कुरु, दारा और ज़रक्स (क्षयार्श) हैं। तुम्हें याद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा कि दारा और ज़रक्स ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिक़स्त खाई। यह राजवंश हकामनी राजवंश कहलाता था और इसने २२० वर्षों तक एक बड़े साम्राज्य पर राज किया। अन्त में मक़दूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका अन्त कर दिया।

असीरियाइयों और बाबुलियों के बाद ईरानियों के आने से जनता को बड़ी राहत मिली होगी। ये बड़े सभ्य और उदार शासक थे। इन्होंने सब मज़हबों और संस्कृतियों को पनपने दिया। इनके लम्बे-चौड़े साम्राज्य की शासन-व्यवस्था बहुत बढ़िया थी। आवा जाई की सहूलियत के लिए अच्छी सड़कों का तमाम देश में जाल-सा बिछा हुआ था। इन ईरानी-आर्यों का भारत में आनेवाले भारतीय आर्यों से नज़दीकी रिश्ता था। इनका मज़हब, यानी ज़रथुस्त का मज़हब, शुरू के वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। साफ़ नज़र आता है कि दोनों का मूल आर्यों के आदिम वासस्थान में एक ही होगा, चाहे वह स्थान कहीं भी हो।

हकामनी बादशाह इमारतें बनवाने के बड़े शौक़ीन थे। अपनी राजधानी पर्सीपोलिस में उन्होंने मन्दिर नहीं बनवाये, बल्कि ख़ूब बड़े-बड़े महल बनवाये थे, जिनमें बहुत खम्भोंवाले बड़े-बड़े सभा-भवन थे। इन विशाल इमारतों का कुछ अन्दाज़ा इनके खण्डहरों से लगाया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि हकामनी कला का सम्पर्क मौर्यकाल की भारतीय कला के साथ रहा। उसने इसपर अपना असर भी डाला।

सिकन्दर ने शाहंशाह दारा को हराकर हकामनी राजवंश का अन्त कर दिया। उसके बाद सिकन्दर के सेनापति सेलेउक और उसके वारिसों के अधीन कुछ दिनों तक यूनानियों का राज रहा और फिर आधे-विदेशी शासकों के अधीन यूनानी असर का काफ़ी लम्बा ज़माना रहा। इसी ज़माने में भारत की सीमा पर बैठे हुए और दक्षिण में बनारस तक व उत्तर में मध्य-एशिया तक अपने पैर फैलाये हुए कुषाणों पर भी यूनानी असर था। भारत के पश्चिम का तमाम एशिया, सिकन्दर से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक, यानी पाँच सौ वर्षों से भी ज्यादा तक, यूनानी असर में रहा। यह असर ज्यादातर कला से ताल्लुक़ रखता था। इसने ईरान के मज़हब के साथ कोई छेड़-छाड़ नहीं की और वहाँ ज़रथुस्त मज़हब ही चलता रहा।

तीसरी सदी में ईरान में राष्ट्रीय जीवन फिर से उठा और एक नया राज-वंश सत्ताधारी हुआ। यह सासानी राजवंश था, जो सरगर्म राष्ट्रवादी था और पुराने हकामनी बादशाहों का गद्दीधारी होने का दावा करता था। जैसा कि अक्सर सरगर्म राष्ट्रवाद का क़ायदा होता है, यह बहुत तंग और कट्टर था। उसे सरगर्म इसलिए बनाना पड़ा कि वह पश्चिम में रोम साम्राज्य व क़ुस्तुन्तुनिया के बिज़ैन्तीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य, और पूर्व में चढ़े चले आनेवाले तुर्की क़बीलों, के बीच फँसा हुआ था। फिर भी यह राजवंश चार सौ वर्षों से ज्यादा, यानी इस्लाम के ठेठ आने तक, किसी तरह चलता ही रहा। सासानियों के राज में ज़रथुस्तों का पुजारी-वर्ग बहुत ताक़तवर था। राज्य की बागडोर इन्हींके हाथों में थी और वे कोई विरोध बर्दाश्त नहीं करते थे। कहा जाता है कि इसी ज़माने में उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता का आख़िरी पाठ तैयार हुआ।

इस काल में भारत में गुप्त साम्राज्य फूल-फल रहा था। यह भी कुषाण व बौद्ध कालों के बाद होनेवाली राष्ट्रीय चेतना थी। साहित्य और कला में नया उभार आया और कालिदास सरीखे कई महान् संस्कृत लेखक इसी समय हुए। इस बात के बहुत संकेत मिलते हैं कि ईरान की सासानी-कला का भारत की गप्त-कला के साथ सम्पर्क था। आज सासानी ज़माने की चित्रकारियाँ या मूर्तियाँ बाक़ी नहीं हैं। पर जो भी मिली हैं, उनमें जान व हरकत भरी हुई हैं। उनमें बने हुए जानवर अजन्टा के भित्ति-चित्रों के जानवरों से बहुत मिलते-जुलते हैं। मालूम होता है कि सासानी-कला का असर ठेठ चीन और गोबी रेगिस्तान तक फैला हुआ था।

अपने लम्बे राज के आख़िरी दिनों में सासानी कमज़ोर पड़ गये और ईरान का रंग-ढंग बिगड़ गया। बिज़ैन्तीन साम्राज्य के साथ लम्बे युद्धों में फँसे रहने से दोनों ही बिलकुल पस्त हो गये। अपने नये मज़हब के जोश से भरी हुई अरबी फ़ौजों के लिए अब ईरान को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवीं सदी के बीच में, पैग़म्बर की मृत्यु के दस वर्षों के अन्दर, ईरान ख़लीफ़ा की हुकूमत में आ गया। जैसे-जैसे अरब फ़ौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफ़्रीका की तरफ़ फैलती गईं, वे अपने साथ सिर्फ़ एक नया मज़हब ही नहीं बल्कि एक नई और बढ़ती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, शाम, मिस्र, सब अरबी संस्कृति में रम गये। अरबी भाषा उनकी भाषा हो गई। यहाँतक कि उनकी नस्ल भी अरबी नस्ल में मिल गई। बग़दाद, क़ाहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के बड़े-बड़े केन्द्र बन गये और इस नई सभ्यता के असर से वहाँ बहुत-सी आलीशान इमारतें बनीं। आज भी ये देश अरबी देश कहलाते हैं और हालाँकि एक-दूसरे से अलग हैं, फिर भी एकता के सपने देखा करते हैं।[1]

इसी तरह अरबों ने ईरान को भी जीता, पर वे इस देश के निवासियों को मिस्र या सीरिया की तरह न तो मिला सके और न हज़म कर सके। पुरानी आर्य नस्ल की ईरानी नस्ल सामी अरबों से बहुत दूर की थी। उसकी भाषा भी आर्य भाषा थी। इसलिए यह नस्ल जुदा रही और उनकी भाषा भी फूलती-फलती रही। तेज़ी से फैलनेवाले इस्लाम ने ज़रथुस्त मज़हब की जगह ले ली और इसे अन्त में

[1] अरब देशों के समान हितों की रक्षा के लिए अरब लीग की स्थापना हो चुकी है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में आकर आसरा लेना पड़ा। लेकिन ईरानियों ने इस्लाम में भी अपना ही ढंग बनाये रक्खा। इस भेद की वजह से इस्लाम में दो फ़िरक़े पैदा हो गये—शिया और सुन्नी। ईरान बहुत करके शिया देश हो गया और आज भी है। बाक़ी इस्लामी दुनिया ज़्यादातर सुन्नी है।

हालांकि अरबी सभ्यता ईरान को हज़म न कर सकी, तो भी उसका उस पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। वहाँ भी, भारत की तरह, इस्लाम ने कला की हलचलों को नया जीवन दिया। ईरानी स्वभावों का भी अरबी कला और संस्कृति पर इतना ही असर पड़ा। रेगिस्तान की सीधी-सादी औलाद के घरों में ईरानी ऐश-आराम घुस गया और अरब के ख़लीफ़ा का दरबार दूसरे शाही दरबारों की तरह तड़क-भड़कदार और शानदार बन गया। शहंशाही बग़दाद उस समय की दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया। इसके उत्तर में दजला नदी के किनारे समारा में ख़लीफ़ाओं ने अपने वास्ते बड़े-बड़े मस्जिद और महल बनवाये, जिनके खण्डहर अभी तक मौजूद हैं। मस्जिद में बड़े-बड़े कमरे और फ़व्वारोंदार आँगन थे। महल आयताकार था, जिसकी लम्बाई एक किलोमीटर से भी ज़्यादा थी।

नवीं सदी में बग़दाद का साम्राज्य टूक-टूक होकर कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। ईरान स्वाधीन हो गया। पूर्व की तरफ़ तुर्की क़बीलों ने कई राज्य क़ायम कर लिये और अन्त में ख़ुद ईरान पर क़ब्ज़ा करके वे बग़दाद के नाम मात्र ख़लीफ़ा पर भी हावी हो गये। ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गज़नवी का उदय हुआ, जिसने भारत पर छापा मारा, ख़लीफ़ा को दहला दिया और अपने लिए एक थोड़ी ज़िन्दगीवाला साम्राज्य भी बना लिया, जिसको सेलजूक नामी एक दूसरे तुर्की क़बीले ने ख़त्म कर दिया। सेलजूकों ने बहुत वर्षों तक और सफलता के साथ ईसाई जिहादियों से टक्कर ली और युद्ध किया, और इनका साम्राज्य डेढ़ सौ वर्ष रहा। बारहवीं सदी के अन्त में एक और ही तुर्की क़बीले ने सेलजूकों को ईरान से निकाल बाहर किया और ख़ारज़म या ख़ीवा की सल्तनत क़ायम की। लेकिन इसकी ज़िन्दगी भी थोड़े ही दिन की रही, क्योंकि ख़ारज़म के शाह के हाथों अपने राजदूत के अपमान पर चंगेज़ख़ाँ को इतना ग़ुस्सा आया कि वह अपने मंगोलों को लेकर चढ़ आया, और उसने इस देश को व इसके निवासियों को कुचल डाला।

इस छोटे-से पैरा में मैंने तुम्हें कितने ही परिवर्तनों और कितने ही साम्राज्यों का हाल लिख दिया है और तुम काफ़ी चकरा गई होगी। मैंने इन राजवंशों और नस्लों के चढ़ाव-उतार का ज़िक्र तुम्हारे दिमाग़ पर बोझ डालने के लिए नहीं किया है, बल्कि यह ज़ोर देने के लिए किया है कि किस तरह इन सबके बावजूद ईरान का जीवन और उसकी कला की परम्परा अटूट बनी रही। पूर्व से एक के बाद एक तुर्की क़बीले आये और बुख़ारा से इराक़ तक फैली हुई मिली-जुली ईरानी-अरबी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसंधान केन्द्र
तिथि 6-8-...
पु०सं० 3033
भारतीय विद्या भवन
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभ्यता के आगे सिर झुकाते गये। जो तुर्क ईरान से दूर एशिया-कोचक पहुँच पाये, उन्होंने अपना ढंग क़ायम रक्खा और अरबी संस्कृति को नहीं अपनाया। एशिया-कोचक को तो उन्होंने अपने वतन तुर्किस्तान का ही एक हिस्सा-सा बना लिया। मगर ईरान व उसके आस-पास के देशों में पुरानी ईरानी संस्कृति का ही ऐसा ज़ोर था कि इन तुर्कों को उसे अपनाना पड़ा और अपने-आपको उसके अनुसार ढालना पड़ा। ईरान पर हुकूमत करनेवाले इन सभी तुर्की राजवंशों के समय में ईरानी कला व साहित्य फूलते-फलते रहे। मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें फ़ारसी के कवि फ़िरदौसी का हाल लिख चुका हूँ, जो सुलतान महमूद गज़नवी के समय में हुआ था। महमूद के कहने पर उसने ईरान का राष्ट्रीय महाकाव्य 'शाहनामा' लिखा था। इस पुस्तक में बयान की गई घटनाएँ इस्लामी ज़माने से पहले की हैं और इसका महान् नायक रुस्तम है। इससे ज़ाहिर होता है कि पुराने राष्ट्रीय और परम्परावाले अतीत के साथ ईरान के साहित्य और कला का कैसा गहरा और अटूट नाता था। ईरानी चित्रों व सुन्दर लघु-चित्रों के ज्यादातर विषय शाहनामा की कहानियों से लिये गए हैं।

फ़िरदौसी का जन्म ९३२ ई० में हुआ और मृत्यु १०३२ ई० में हुई, यानी वह उस समय हुआ जब सदी बदली और ईसा के बाद 'हज़ार वर्ष का युग' भी पूरा हो गया। उसके कुछ ही दिन बाद ईरान में नैशापुर का रहनेवाला ज्योतिषी-शायर उमर ख़य्याम हुआ, जिसका नाम अंग्रेज़ी में उतना ही मशहूर है जितना फ़ारसी में। और उमर ख़य्याम के बाद शीराज़ का शेख़ सादी हुआ, जो फ़ारसी कवीश्वरों में गिना जाता है और जिसकी गुलिस्ताँ व बोस्ताँ पीढ़ियों से भारत के मकतबों में पढ़नेवाले लड़कों को रटनी पड़ती थीं।

मैंने महापुरुषों के कुछेक नामों का ही ज़िक्र किया है। नामों की लम्बी सूचियाँ मैं नहीं देना चाहता। लेकिन मैं चाहता हूँ कि तुम यह ज़रूर महसूस करो कि इन सदियों भर में ईरान से लगाकर मध्य-एशिया में अक्षु-पार-प्रदेश[1] तक ईरानी कला व संस्कृति का दीपक लगातार बड़ी तेज़ रोशनी से जलता रहा। अक्षु-पार-प्रदेश के बलख और बुखारा जैसे बड़े नगर कला व साहित्य की हलचलों के केन्द्र हो गये और ईरान के शहरों की होड़ करने लगे। बुखारा में ही दसवीं सदी के अन्त में मशहूर अरबी दार्शनिक इनसिना का जन्म हुआ था। दो सौ वर्ष बाद बलख में जलालुद्दीन रूमी नामक एक और फ़ारसी शायर पैदा हुआ। यह बड़ा रहस्यवादी माना जाता है और इसीने रक़्क़ास (नाचनेवाले) दरवेशों का पन्थ चलाया था।

इस तरह युद्धों, लड़ाई-झगड़ों और राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद ईरानी-

[1] Transoxiana.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरबी कला और संस्कृति की परम्परा जानदार बनी रही और साहित्य, चित्र-कला व इमारती कारीगरी के कमाल पैदा करती रही। उसके बाद तबाही आई। तेरहवीं सदी में (१२२० ई० के क़रीब) चंगेज़ख़ाँ झपाटे के साथ आ पहुँचा और ख़ारज़म और ईरान को नष्ट कर गया। कुछ साल बाद हलाकू ने बग़दाद को नष्ट कर दिया, और ऊँची संस्कृति के जमा किये हुए फलों का सफ़ाया हो गया। किसी पिछले पत्र में मैं लिख चुका हूँ कि किस तरह मंगोलों ने मध्य-एशिया को वीरान बना डाला, किस तरह वहाँ के बड़े-बड़े शहर ख़ाली हो गये और उनमें मनुष्य-जीवन का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया इस आफ़त के बाद कभी पूरी तरह नहीं पनप सका। ताज्जुब तो यही है कि जिस हद तक वह पनपा उतना भी कैसे पनपा! तुम्हें याद होगा कि चंगेज़ख़ाँ के मरने के बाद उसका बड़ा साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया था। ईरान और इसके आसपास का उसका भाग हलाकू के हिस्से में आया। जी भरकर सत्या-नाश करने के बाद हलाकू एक अमन-पसन्द और उदार शासक बनकर बैठ गया और उसने इलख़ान-राजवंश चलाया। ये इलख़ान कुछ अर्से तक तो मंगोलों का पुराना आसमानी मज़हब ही मानते रहे; बाद में मुसलमान बन गये। इस्लाम क़बूल करने के पहले और बाद में भी, वे दूसरे मज़हबों की तरफ़ पूरी तरह उदार थे। चीन में उनके भाईबन्द, यानी चीन का ख़ान महान् और उसका परिवार, बौद्ध थे। इनके साथ इलख़ानों के बड़े गहरे ताल्लुक़ थे। यहाँतक कि दुलहिनें भी वे ठेठ चीन से मँगवाया करते थे।

ईरान और चीन के मंगोलों की दोनों शाखाओं के बीच इन रिश्तों का कला पर काफ़ी असर पड़ा। धीरे-धीरे चीनी असर ईरान में आ पहुँचा और वहाँ की चित्रकला में अरबी, ईरानी व चीनी असरों का एक विचित्र मेल दिखाई देता है। लेकिन फिर भी, तमाम आफ़तों के बावजूद, ईरानी तत्व ज़ोरदार बना रहा। चौदहवीं सदी के बीच ईरान ने एक और शायर पैदा किया। यह था हाफ़िज़ जो आज तक भारत में भी लोकप्रिय है।

मंगोल इलख़ानों का राज ज्यादा दिन न टिका। उनके रहे-सहे निशानों को अक्षु-पार-प्रदेश के समरक़न्द के एक बड़े सूरमा तैमूर ने नष्ट कर दिया। यह ख़ूँख्वार और महा ज़ालिम वहशी भी, जिसका हाल मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, कलाओं का अच्छा रसिक था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। मालूम होता है कि इसका सारा कला-प्रेम दिल्ली, शीराज़, बग़दाद और दमिश्क़ के बड़े शहरों को उजाड़ने में और लूट के माल से अपनी राजधानी समरक़न्द को सजाने में ही था। लेकिन समरक़न्द की सबसे अद्भुत और आलीशान इमारत तैमूर का मक़बरा 'गोरे-अमीर' है। यह मक़बरा है भी इसके अनुकूल ही, क्योंकि इसकी शानदार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप-रेखा में तैमूर की रौबदार सूरत की, मज़बूती की और खूँख्वार स्वभाव की कुछ झलक है।

तैमूर ने जो विशाल प्रदेश जीते थे, वे उसके मरने के बाद एक-एक करके जाते रहे, लेकिन उसकी तुलना में एक छोटी-सी रियासत, जिसमें अक्षु-पार-प्रदेश और ईरान भी शामिल थे, उसके गद्दीनशीनों के पल्ले पड़ी। पूरे एक सौ वर्षों तक, यानी पन्द्रहवीं सदीभर, इन लोगों का, जिन्हें 'तैमूरिया' कहते थे, ईरान, बुखारा और हिरात पर क़ब्ज़ा रहा। और अजीब बात यह है कि एक ज़ालिम विजेता के ये वंशधर अपनी उदारता, मानवता और कला-प्रेम के लिए मशहूर हुए। तैमूर का ही पुत्र शाहरुख इनमें सबसे महान् हुआ है। उसने अपनी राजधानी हिरात में एक आलीशान पुस्तकालय स्थापित किया, जिसके कारण वहाँ साहित्य-प्रेमियों की भीड़ खिचकर आती रहती थी।

सौ वर्षों का यह तैमूरी-काल कला व साहित्य की हलचलों के लिए इतना मशहूर है कि इसको 'तैमूरी पुनर्जागरण' कहते हैं। ईरानी साहित्य का खूब विकास हुआ और बहुत-सी सुन्दर तसवीरें बनाई गईं। महान् चित्रकार बिहज़ाद चित्रकला की एक नई क़लम का पेशवा था। एक दिलचस्प बात यह हुई कि फ़ारसी के साथ-साथ तुर्की साहित्य का भी तैमूरी-साहित्य-गोष्ठियों में विकास हुआ। तुम्हें याद दिला दूँ कि इटली के 'रिनेसाँ' का भी यही ज़माना था।

तैमूरिये तुर्क थे और उन्होंने ईरानी संस्कृति को बहुत-कुछ अपना लिया था। तुर्कों और मंगोलों की प्रभुता होते हुए भी ईरान ने अपने विजेताओं पर अपनी ही संस्कृति की छाप बैठा दी थी। साथ ही ईरान राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए भी लड़ता रहा। धीरे-धीरे तैमूरिये दिन-पर-दिन पूर्व की ओर खदेड़ दिये गए, यहाँ-तक कि उनकी रियासत अक्षु-पार-प्रदेश के चारों ओर सिकुड़ती गई। सोलहवीं सदी के शुरू में ईरानी राष्ट्रीयता की विजय हुई और तैमूरिये हमेशा के लिए ईरान से निकाल बाहर किये गए। सफ़ावी नामक एक राष्ट्रीय राजवंश ईरान के तख्त पर बैठा। इसी राजवंश के दूसरे बादशाह तहमास्प प्रथम ने, शेरशाह के डर से भारत छोड़कर भागे हुए हुमायूं को शरण दी थी।

सफ़ावी-काल १५०२ से १७२२ ई० तक, यानी दो सौ वर्ष रहा। इसे ईरानी कला का सुनहला युग कहा जाता है। राजधानी इस्पहान आलीशान इमारतों से भर गया और कला का नामी केन्द्र बन गया, जो चित्रकारी के लिए खास तौर पर मशहूर था। शाह अब्बास, जिसने १५८७ से १६२९ ई० तक राज किया, इस वंश का नामी बादशाह हुआ है और ईरान के सबसे महान् शासकों में गिना जाता है। उसको एक तरफ़ से उज़बकों ने और दूसरी तरफ़ से उस्मानी तुर्कों ने आ दबाया। उसने दोनों को मार भगाया, एक मज़बूत राज्य क़ायम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3033

किया, पश्चिम के और दूसरे दूर-दूर के राज्यों से सम्बन्ध जोड़े, और अपनी राजधानी को सुन्दर बनाने के काम में जुट गया। इस्पहान में शाह अब्बास की नगर-योजना 'ऊँचे दर्जे की सफ़ाई और रुचि का कमाल' मानी जाती है। जो इमारतें बनाई गईं, उनमें सिर्फ़ रूप-सौन्दर्य और नफ़ीस सजावट ही नहीं थे, बल्कि वे ऐसी मनोहर जगहों में खड़ी की गई थीं कि उनका प्रभाव दुगना हो जाता था। जिन यूरोपीय यात्रियों ने उस समय ईरान को देखा था, उन्होंने इनकी तारीफ़ों के पुल बाँध दिये हैं।

ईरानी कला के इस सुनहले युग में इमारती-कला, साहित्य, चित्रकारी (भित्ति-चित्रों तथा छोटे चित्रों, दोनों की), सुन्दर क़ालीनें, चमकदार मिट्टी के बर्तनों का और पच्चीकारी का नफ़ीस काम, सब फूले-फले। कुछ भित्ति-चित्रों और छोटे-छोटे चित्रों में अद्भुत लावण्य है। कला राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं मानती और न उसे मानना ही चाहिए, और सोलहवीं व सत्रहवीं सदियों की इस ईरानी कला को समृद्ध बनाने में बहुत-से प्रभावों का हाथ रहा होगा। कहते हैं, इटली का प्रभाव तो ज़ाहिर है। पर इन सबके पीछे ईरान की पुरानी कला-परम्परा है, जो दो हज़ार वर्षों से अटूट चली आ रही थी। ईरानी संस्कृति का दायरा सिर्फ़ ईरान की हद के भीतर ही न था। वह पश्चिम में तुर्की से लगाकर पूर्व में भारत तक के लम्बे-चौड़े इलाके में फैली। भारत के मुग़ल दरबारों में फ़ारसी भाषा संस्कृति की भाषा मानी जाती थी। और आमतौर पर पश्चिमी एशिया में भी इसकी वही हैसियत थी जो यूरोप में फ़्रान्सीसी भाषा की थी। ईरानी कला की पुरानी भावना आगरे के ताजमहल में अपनी अमर निशानी छोड़ गई है। बहुत-कुछ इसी तरह इस कला ने पश्चिम में क़ुस्तुन्तुनिया तक उस्मानी इमारती-कला पर भी अपनी छाप डाली है। वहाँ इस ईरानी प्रभाव की छापवाली बहुतेरी नामी इमारतें बनीं।

ईरान के सफ़ावी बहुत-कुछ भारत के महान् मुग़लों के ज़माने में ही हुए थे। भारत का पहला मुग़ल बादशाह बाबर समरक़न्द का एक तैमूरिया शहज़ादा था। जैसे-जैसे ईरानियों की ताक़त बढ़ती गई, वे तैमूरियों को पीछे हटाते गये। होते-होते अक्षु-पार-प्रदेश और अफ़ग़ानिस्तान के सिर्फ़ कुछ ही हिस्से तैमूरिये शहज़ादों के हाथ में रह गये। इन छुट-पुट शहज़ादों से बाबर को बारह साल की उम्र से ही लड़ना पड़ा था। वह सफल हुआ और पहले काबुल का शासक बनकर फिर भारत में आया। उस ज़माने की ऊँची तैमूरिया संस्कृति का अन्दाज़ा बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके याद-नामे के कुछ टुकड़े मैं एक पिछले पत्र में दे चुका हूँ। सफ़ावी शासकों में सबसे महान् शाह अब्बास था, जो अकबर व जहाँगीर के ज़माने में हुआ। इन दोनों देशों में बराबर बड़ा गहरा ताल्लुक़ रहा होगा। अफ़ग़ानिस्तान भारतीय मुग़ल साम्राज्य का एक हिस्सा था, इसलिए बहुत अर्से तक दोनों की सरहद एक ही थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

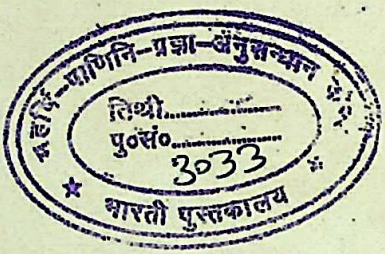

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक की अन्य पुस्तकें

कुछ पुरानी चिट्ठियां

इस किताब में कई तरह की मिली-जुली चिट्ठियां इकट्ठी की गई हैं। ये सभी चिट्ठियां बहुत थोड़ी को छोड़कर, हिन्दुस्तान की आजादी के पहले की लिखी हुई हैं और इनमें खासतौर पर हमारे देश की समस्याओं और उन्होंने हम पर किस तरह असर डाला, इसका जिक्र है। इनको पढ़ने पर पुरानी बातें उभर आती हैं और भूली हुई यादें दिमाग में आ जाती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक अनोखी है और प्रत्येक देश-प्रेमी को अपने पास अवश्य रखनी चाहिए।

हिन्दुस्तान की कहानी

इस पुस्तक को लेखक ने ९ अगस्त, १९४२ से १५ जून, १९४५ की अपनी जेल-अवधि में अहमदनगर किले में लिखा था। इसमें भारत का ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अध्ययन किया गया है। कोई भी पहलू लेखक की पैनी आंखों से नहीं छूट पाया है। हिन्दुस्तान और उसकी समस्याओं के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है।

मेरी कहानी

नेहरूजी ने यह पुस्तक सन् १९३४-३५ के अपने कारावास के दिनों में लिखी थी। इसमें उन्होंने अपने मानसिक विकास को अंकित करने की कोशिश की है। साथ ही अपने समकालीन व्यक्तियों और समुदायों का विश्लेषण भी किया है। एक प्रकार से यह एक जागरूक नेता और कर्मठ देश-सेवक का विवेचनात्मक मनोमंथन है। अपने को निमित्त बनाकर उन्होंने भारत के घटनापूर्ण इतिहास का दिग्दर्शन कराया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.